ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

पञ्चम भाग

आर्य्यसिद्धान्त नामक मासिकपत्र जो

पं० भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित होती है प्रथमवार

का छपा चुक जाने से द्वितीयवार

सरस्वतीयन्त्रालय-इटावा में

बाबू पूर्णसिंह वर्मा के प्रबन्ध से छपा

१ । ११ । १८९६ ई०

द्वितीयवार ५०० मूल्य ॥)

विषयसूचीपत्रम् ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ | अङ्क १

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

भाग ४ के अङ्क १२ से आगे सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर ॥

यह भी लिखना ठीक नहीं है कि "स्वामी दयानन्द जी ने महाभारत और वाल्मीकीयरामायण को प्रामाणिक मान लिया है" क्योंकि जो कहे उस ने स्वामी जी का सिद्धान्त ही नहीं जाना। स्वामी जी ने वेद को ही ठीक प्रमाण माना है। वेद में जिस का मूल न हो वा वेद से विरुद्ध जिन ग्रन्थों में लेख हो वे सभी अमान्य हैं। महाभारत तथा वाल्मीकीयरामायण में सैकड़ों ऐसी २ असम्भव मिथ्या बातें भरी हैं जो साक्षात् वेद से विरुद्ध हैं। इस लिये एक वेद सर्वोपरि निर्भ्रान्त माननीय है। अन्य ग्रन्थ जो २ वेद के अनुकूल हों वे भी मान्य हैं यही मुख्यकर सिद्धान्त है ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारे सप्तमपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

अब पं० हरिशङ्करलाल जी के पाण्डित्य की और भी परीक्षा देखिये। अष्टम परिच्छेद के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की है कि अब सम्पूर्ण वेद के वाक्यों से प्रतिमापूजन का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी प्रतिज्ञा करके षड्विंशब्राह्मण का प्रमाण देते हैं। विचारशील सज्जनों को ध्यान देना चाहिये कि वेदवाक्यों से

प्रतिमापूजन की प्रतिज्ञा करके षड्विंशब्राह्मण का प्रमाण देना कैसा असम्बद्ध प्रलाप है ? । षड्विंशब्राह्मण कोई वेद नहीं है यदि वेद होता तो किसी ऋग् यजु आदि वेद के नाम से प्रसिद्ध होता । यदि उक्त पं० इन ब्राह्मणों को वेद मानते हैं इस कारण उन का प्रमाण अन्य लोगों अर्थात् उन के विपक्षियों को मान्य हो तो इन का भी प्रमाण व्यर्थ है क्योंकि पूर्व जो पुराणादि के प्रमाण देकर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करी है वहां भी उन को पुराण, वेद के तुल्य मान्य हैं हों। क्योंकि इतिहास पुराण को वे लोग पांचवां वेद मानते हैं । अर्थात् यह विरुद्ध है । किन्तु सब विद्वान् लोगों की शैली यह है वा होनी चाहिये कि अपने प्रतिपक्षी को निग्रहस्थान में लाने के लिये दोनों पक्ष को मान्यपुस्तक वा विषय का प्रमाण दिया जावे । अथवा प्रतिपक्षी के मान्यपुस्तक का प्रमाण दिया जावे । यह कदापि ठीक नहीं कि हम जिस को ठीक मानते हों और प्रतिपक्षी न मानता हो उस का प्रमाण प्रतिपक्षी को हराने के लिये देवें । इसी के अनुसार पं० हरिशङ्करलाल जी को उचित था कि ऋगादि नाम से प्रसिद्ध मूल वेदमन्त्र संहिताओं का प्रमाण देते जो दोनों पक्ष वालों को मन्तव्य है । यदि वेद में कोई ऐसा प्रमाण मिल जावे कि पाषाणादि मूर्त्ति बना कर परमेश्वर के स्थान में पूजनी चाहिये और उस के पूजन से अमुक २ फल की प्राप्ति होगी तो अपने प्रतिपक्षी आर्य लोगों को भी वे हरा सकते हैं । सो तो आज तक न ऐसा कोई प्रमाण मिला और न मिल सकता है । और जब षड्विंशादि ब्राह्मण का वेद होना साध्य कोटि में है । तो साध्य पक्ष को प्रमाण कोटि में लाना साध्यसमहेत्वाभास–निग्रहस्थान वा पराजयप्राप्ति होती है। इसी के अनुसार पं० हरि० जी का कथन पराजय कोटि में पहुंच गया। क्योंकि हम आर्य लोग षड्विंशादि ब्राह्मणों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं । अर्थात् वेद न होने पर भी वे ग्रन्थ वेदानुकूल प्रामाणिक नहीं हैं । तथा एक वार्त्ता यह भी है कि वहां भी पत्थर की मूर्त्ति बना कर पूजनी चाहिये ऐसी आज्ञा नहीं लिखी किन्तु यह लिखा है कि "देवताओं के स्थान कांपते, देवता की प्रतिमा हँसतीं, रोतीं गातीं नाचतीं, फूटतीं और आंखें खोलती हैं इत्यादि" इस कथन से मूर्त्तिपूजा करनी चाहिये यह कैसे निकल पड़ा ? । अर्थात् उस प्रकरण में भी ऐसा कोई वाक्य नहीं जिस से मूर्त्तिपूजा का विधान सिद्ध हो । किन्तु सिद्धानुवाद का वर्णन है सो भी असम्भव वा असङ्गत सिद्धानुवाद है । इस लिये ऐसे का प्रमाण देने से प्रमाणदाता की अल्पज्ञता

वा अज्ञानता प्रतीत होती है। इसी प्रकार अथर्वोपनिषदादि नवीन कल्पित पुस्तकों को वेद मान कर प्रमाण देना भी निर्मूल वा प्रामादिक जान लेना चाहिये। इस पर विशेष लिखना निष्प्रयोजन है॥

मैत्रायणीय शाखा भी वेद नहीं जब तक मूल वेद में प्रमाण न दिखाया जावे तब तक ऐसे पुस्तकों के प्रमाण से मूर्त्तिपूजा की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। यदि वे कहें कि हम लोग मैत्रायणीय शाखा को वेद मानते हैं तो वह तुम्हारा मानना साध्यपक्ष में है। और साध्य का प्रमाण देना प्रमाणदाता की पराजयप्राप्ति को प्रकट करता है। ऋग्वेद के अष्टमाष्टक में (यत्र गङ्गा च०) (यत्र देवो जगन्नाथो०) ऐसे मन्त्र कोई नहीं हैं यह लेख ऋग्वेद के आठो अष्टक में से किसी मन्त्र में निकाल देना उन का काम है। यदि न निकाल सकें तो मान लेवें कि हम ने भूल से लिखा ऋग्वेद में ऐसा नहीं है। यदि है तो ठीक२ अष्टक अध्याय वर्ग मन्त्र का पता देवें। और सज्जनों को वा पाठक जनों को उचित है कि उक्त प० जी से ऋग्वेद के उक्त मन्त्रों का पता ठीक २ पूछें और पूछ कर लिखें तो अच्छा होगा। और इस से किसी पक्ष का बलाबल मध्यस्थ जिज्ञासुओं को भी ज्ञात हो जाय गा। यदि पं० हरिशङ्करलाल जी ने कुछ विचार समझ के लिखा होगा तो तत्काल पता देंगे कि ऋग्वेद के अमुक २ ठिकाने पर देखो। और जो लोगों को बञ्चित करनेमात्र के लिये लिख दिया होगा तो अनेक प्रकार की टाला टूली करेंगे। इस लिये इन मन्त्रों का पता अवश्य मांगना चाहिये। यदि कदाचित् ये मन्त्र वा इन का आशय वेद में होता तो भी मूर्त्तिपूजा की आज्ञा और उस से मनुष्य की मुक्ति कदापि सिद्ध नहीं हो सकती थी किन्तु "ऐसे २ प्रसङ्ग वा स्थल में मेरा मरण न हो किन्तु मैं बना रह के सुख भोगूं"। इस कथन से मूर्त्तिपूजा की आज्ञा वैसे भी नहीं आ सकती थी। आगे रामतापनी गोपालतापनी आदि नवीन कल्पित वेदविरुद्ध उपनिषदाभासों का उत्तर देना कुछ आवश्यक नहीं क्योंकि वे पुस्तक शिष्ट लोगों के मन्तव्य से बाहर हैं। स्वयं प्रमाण योग्य नहीं हैं। आगे-

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"

इस वचन को भेड़ियाधसान के अनुसार लिख मारा है। वास्तव में यह पद्य महाभारत के वनपर्व यक्ष युधिष्ठिर के संवाद का है और वहां पाठ ऐसा नहीं किन्तु-

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"

ऐसा पाठ है कहीं २ "श्रुतयो विभिन्नाः" के स्थान में "स्मृतियो विभिन्नाः" भी पाठान्तर मिलता है परन्तु प्रारम्भ का पाठ सर्वथा कल्पित है। इस प्रमाण के लिखने से पं० हरिशङ्करलाल जी का अभिप्राय स्पष्ट सिद्ध होता है कि यद्यपि वेद और धर्मशास्त्रों में मूर्त्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता तो भी सदाचार के अनुसार मानना चाहिये क्योंकि पहिले से अनेक शिष्ट सज्जनों ने इस को कर्त्तव्य माना है। जब ऐसा है तो शास्त्रीय प्रमाण से सिद्ध हो सकने की आशा तो इन पौराणिक महाशयों को छोड़ देनी चाहिये और यह बात पं० हरिशङ्कर जी ने विचार के ही लिखी है क्योंकि श्रीमद्भागवतादि में "प्रतिमाऽष्टविधास्मृता" इत्यादि प्रतिमापूजन का कुछ २ उपदेश तथा—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके"

इत्यादि वाक्यों से प्रतिमापूजन का खण्डन श्रीमद्भागवत में स्पष्ट लिखा है जब कोई भागवत से प्रतिमापूजन करने का प्रमाण देवे तो उसी पुस्तक से प्रतिपक्षी खण्डन भी कर सकता है। ऐसी दशा देख कर पं० हरिशङ्करलाल जी स्वयं प्रमाण देने से खिसक गये और सदाचार का आश्रय लिया सो वहां भी "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" के तुल्य इन का उपाय निष्फल रहा। अर्थात् सदाचार से भी प्रतिमापूजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि राजा रामचन्द्रादि सज्जनों का आचार सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है सो उन के इतिहास में भी नहीं लिखा कि वे पाषाणादि से बनी हुई मूर्त्तियों का पूजन कभी २ वा नित्य नियम से करते रहे हों। और अब भी प्रायः श्रेष्ठ सज्जन लोग कि जिन की दृष्टि ऊपर के स्थलों में प्रविष्ट हुई वे कदापि पाषाणादि का पूजन नहीं करते। और

प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥

इस चाणक्य के कथनानुसार सज्जन वा श्रेष्ठ वे ही लोग हो सकते हैं कि जो प्रतिमापूजन नहीं करते क्योंकि स्वल्पबुद्धि लोग सज्जन नहीं होते और सज्जनों का ही आचार प्रमाण पक्ष में लिया जाता है इस कारण भी मूर्त्तिपूजन सदाचार के अनुकूल नहीं मानना चाहिये ॥

अब आगे मूल वेद संहिताओं के भी प्रमाण कुछ पं० हरिशङ्करलाल जी ने दिये हैं। पर यह कुछ ध्यान नहीं दिया कि ये कैसे वाक्य हैं। अर्थात् वेदादि शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं। विधि, अर्थवाद और अनुवाद जिन में विधि वाक्य ही मुख्य माने जाते हैं। विधि नाम आज्ञा का है कि ऐसा करो वा न करो। विधिवाक्य के आश्रय ही अर्थवाद और अनुवाद रहते हैं। सो यहां भी जब वेद से कोई विधिवाक्य मिले कि परमात्मा के स्थान में पाषाणादि धातुओं की मूर्त्ति बना कर पूजनी चाहिये। ऐसा वचन वेद से कोई त्रिकाल में भी नहीं निकाल सकता। "सहस्रस्य प्रतिमासि" इस वाक्य में उपासनीय पद पं० हरि० जी ने अपना मनमाना जोड़ लिया है यदि अपनी ओर से उस में कोई पद न लगाया जाय केवल उन्हीं अक्षरों मात्र का अर्थ कर लेवें तो यही अर्थ होगा कि तू सहस्र का प्रतिमा है। यह एक प्रकार का सिद्धानुवाद हो सकता है किन्तु विधि नहीं है। रहा प्रतिमा शब्द का अर्थ सो हम पहिले लिख चुके हैं कि प्रकरणानुसार प्रतिमाशब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु सब अर्थों में तुल्यतावाचक होना प्रधान अर्थ है। क्योंकि अधिक प्रकरणों में यही अर्थ लिया जाता है जब इसी वेद के एक स्थल में कहा गया कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" उस परमात्मा की कोई प्रतिमा वा सदृशता नहीं कि वह ऐसा है पर ऐसा कहने से यह शङ्का रह सकती है कि जब संसार के पदार्थ उस की इयत्ता नहीं दिखा सकते तो वह भी इन प्रत्यक्ष वस्तुओं की क्या इयत्ता नहीं कर सकता? इस लिये कहा गया कि तू "सहस्रस्य प्रतिमासि" असंख्य जगत् के पदार्थों की इयत्ता तोल करने वाला है यही इस मन्त्र का तात्पर्य है। मैंने इस मन्त्र पर महीधरभाष्य को मँगा कर देखा तो महीधर के अर्थ से पं० हरिशङ्कर जी का अर्थ सर्वथा विरुद्ध है। यद्यपि हम लोग महीधरकृत वेदार्थ को यथार्थ नहीं मानते तो भी पं० हरि० जी का अर्थ उस दशा में अन्य लोग मानेंगे कि जब वे महीधरकृत अर्थ का ठीक २ खण्डन करके दिखा दें। सब पौराणिक पं० महीधरकृत अर्थ को प्रामाणिक मानते हैं उस में "असि" क्रिया का कर्त्ता अग्नि और प्रतिमा का अर्थ प्रतिनिधि लगाया है अर्थात् "सहस्रस्य प्रतिमासि" इस वाक्य का अर्थ महीधर ने लिखा है कि "हे अग्ने तू हजार ईंटों का प्रतिनिधि है" और पं० हरि जी ने लिखा है कि "हे परमेश्वर आप हजार मनुष्यों को प्रतिमारूप से उपासना करने योग्य हो" पाठक लोगों को ध्यान देने

से स्वयमेव इन लोगों का आशय प्रकट हो जायगा । पं० हरिशङ्करलाल जी ने जब हज़ार मनुष्यों को प्रतिमारूप से उपासना करने का प्रकार वा प्रमाण निकाला तो हज़ार से ऊपर अधिक रहे मनुष्यों को किस रूप से उपासना करनी चाहिये ? । और वे हज़ार मनुष्य कौन हैं ? । क्या किसी एक समुदाय में नियत है ? । इत्यादि बातें पं० हरि० जी से पूछनी चाहिये इत्यादि प्रकार वेद का प्रमाण देना पं० हरि० जी का साहस आहोपुरुषिका मात्र है वास्तविक नहीं । यदि हो तो सिद्ध करें वा करावें ॥

आगे ऋग्वेद के एक मन्त्र का प्रमाण दिया है जिस का तात्पर्य भी यह है कि "कासीत्प्रतिमा" प्रतिमा कौन थी ? क्या इस प्रश्नवाक्य से कोई विचारशील पाषाणादि तुल्य मूर्त्तिपूजन की आज्ञा निकाल सकता वा मान सकता है ? कदापि नहीं । अर्थात् यह भी विधिवाक्य नहीं है किन्तु यह भी एक प्रकार का सिद्धानुवाद है । ऐसे वाक्य प्रतिमापूजन के प्रमाण में कदापि नहीं लिये जा सकते हैं । तथा सायणाचार्य्य वा महीधर आदि ने भी ऐसे २ मन्त्रों से प्रतिमापूजन की आज्ञा नहीं निकाली क्योंकि वे लोग इन की अपेक्षा कुछ विवेकी थे वे जानते थे कि वेद में मूर्त्तिपूजा की आज्ञा नहीं है यदि होती तो इन के समान वे लोग भी अर्थ लिख मारते । इस से सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिपूजाकी आज्ञा के विषय में आज तक पं० हरि० जी को कोई विधिवाक्य नहीं मिला किन्तु प्रतिमाशब्द जिन में पाया ऐसे दो एक वाक्य साधारण मनुष्यों की बुद्धि को वञ्चित करने के लिये लिख मारे हैं जिस को प्रमाण बुद्धि से विद्वान् लोग कदापि स्वीकार नहीं कर सकते ॥

आगे यजुर्वेदस्थ "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टा पूर्त्ते०" मन्त्र में आये पूर्त्त शब्द से मूर्त्तिपूजा का प्रमाण निकालने का उद्योग पं० हरि० जी ने किया है सो इस का सारांश सिद्धान्त में पहिले आ० सि० के अङ्कों में लिख चुका हूं कि "अनेक प्रकार के लौकिक सर्वसाधारण के उपकारार्थ किये सर्वोपयोगी कामों का नाम पूर्त्त है जिन का उदाहरण स्मृतियों में लिखा है कि—

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥

इस में जो "देवतायतनानि" पद है इस को पं० हरि० जी ने बदल कर "देवतामन्दिराणि" मनमाना पाठ बनाया है इस चालाकी से उन्हों ने अपने पक्ष की कुछ सिद्धि समझी हो गी परन्तु यह उन का परिश्रम वृथा है क्योंकि जो अभिप्राय देवतायतन का है वही देवतामन्दिर का भी है मन्दिर शब्द के बदलने से पिङ्गल नाम छन्दःशास्त्र के अनुसार श्लोक भी ठीक नहीं रहता अर्थात् "देवतायतनानि च" सुगम और मन्दिर शब्द से उच्चारण की मर्यादा बिगड़ जाती है। अस्तु कोई हो जब यह सिद्ध हो चुका कि देव वा देवता पद पाषाणादि की बनी मूर्त्ति का वाचक किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता तो अधिक विचार बढ़ाना व्यर्थ है पूर्त्ति शब्द से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ ॥

आगे यजुर्वेद अ० २ मन्त्र १८ का प्रमाण दिया है कि "संस्रवभागास्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः०" इस मन्त्र के लिखने से पं० हरि० जी का तात्पर्य यह है कि संस्कृत में प्रस्तर नाम पत्थर का है और प्रस्तर में ठहरने वा बैठने वाले "प्रस्तरेष्ठाः" देवता लोग कहाते हैं। यहां पं० जी ने महीधर के भाष्य को भी कुछ अपने अनुकूल जान कर लिखा है परन्तु यह उन का भ्रममात्र है। पत्थर पर बैठने वाले देव ऐसा कहने से कोई भी विद्वान् वा विचारशील पत्थर की मूर्त्तियों के पूजने का विधान नहीं सिद्ध कर वा मान सकता। पाषाण पर बैठने वाले कौन देव हैं क्या किसी ने पत्थर पर बैठे देवता देखे हैं ?। यदि नहीं देखे तो क्या प्रमाण है ?। और हमारे पक्ष में तो कुछ सङ्कल्पविकल्प नहीं। हम लोग श्रेष्ठ अध्यापन वा उपदेशादि वाचिक पुण्य करने में प्रवृत्त विद्वान् लोगों को देव मानते हैं उन में जो पत्थर की चौकी पर बैठें वे "प्रस्तरेष्ठाः" कहावें गे। परन्तु यह शब्द इन लोगों के मत में ठीक नहीं घट सकता क्योंकि जिन मूर्त्तियों की ये लोग पूजा करते हैं उन पर देवताओं के बठने की सिद्धि होना दुर्लभ है। और पत्थर पर बैठने वाले कहने से अन्य काष्ठ वा पीतल आदि धातुओं की मूर्त्तियों पर देवताओं के बैठने का निषेध आता है तो क्या पत्थर से भिन्न मूर्त्तियों की पूजा नहीं करनी चाहिये ?। इत्यादि अनेक दोष इन पौराणिक लोगों के मन्तव्य में आते हैं ॥

आगे यजुर्वेद अ० १६ मन्त्र ४३ " नमः किंशिलाय च " इत्यादि का प्रमाण लिखा है। यद्यपि इस पूर्वोक्त प्रमाण में अनेक पद हैं परन्तु पं० हरिशङ्करलाल शास्त्री जी का " किंशिलाय च नमः " वाक्य पर विशेष बल इस लिये

जान पड़ता है कि उन को सब से अधिक पत्थर की पूजा सिद्ध करना अभीष्ट है। इसी कारण इन लोगों की बुद्धि भी धर्मसम्बन्धी विचार की ओर से वैसी ही कठोर पड़ गयी जैसा कि पत्थर है। यदि इस अध्याय के सब वाक्यों का यही आशय हो कि जिन २ पदों के साथ नमः शब्द का सम्बन्ध दिखाया है उन के वाच्यार्थ—कुत्ता, साधारण ठग, विशेष ठग, चोरों के सर्दार आदि बड़े २ चोर, बिल्ली, मूषा, सूकर, चीटा, चीटी, आदि अनेक घृणित वा निकृष्ट जीवों वा जड़ों की पूजा वा उन को नमस्कार नित्य करना चाहिये तो स्वयं पं० हरिशङ्करलाल जी तथा अपने सहयोगियों से कुत्ता सुअर आदि की पूजा वा जहां २ वे मिलें उन को नमस्कार क्यों नहीं करते कराते ? कि हे कुत्ता वा सुअर तुझ को नमस्कार है तू हमारा पूज्य है। ऐसा करने को जब स्वयं नहीं प्रवृत्त होते और जब कुछ अपनी हानि करे तो दण्ड से कुत्ते की पूजा करने को प्रवृत्त होते होंगे। इस से सिद्ध हुआ कि पं० हरि० जी कुत्ते सुअर आदि को पूज्य नहीं मानते होंगे यदि मानें गे तो जब २ कुत्ता सुअर आदि मिलें तब २ उन को नमस्कार करना चाहिये यदि नहीं करते तो वे पूज्य नहीं। ऐसी दशा में यह सिद्ध हुआ कि इस अध्याय में जिन के साथ नमः शब्द का प्रयोग है वे सब पूज्य वा नमस्कार करने योग्य नहीं हैं। और यदि हैं तो पाठक लोगों को विचार कर पं० हरि० जी से ही पूछना चाहिये। मेरे अनुमान में कोई पौराणिक कुत्ता सुअर आदि घृणित दुष्ट जन्तुओं को अपना पूज्य न मानेगा। इस कारण इस अध्याय के वाक्यों से मूर्त्तिपूजा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। अब रहा यह कि इन मन्त्रों का क्या अर्थ है सो हमारे पक्ष में ऐसे कोई दोष नहीं आते किन्तु ठीक २ लग जाता है सब बुद्धिमान् निस्सन्देह मान लेते हैं। अर्थात् निघण्टु जो वेद का ही निराला कोष है उस में नमः शब्द का पाठ अन्न और वज्र के नामों में आया है और तीसरा नमना अर्थ तो लोक में प्रसिद्ध ही है इन में से जो २ अर्थ जिस २ वाक्य में सङ्घटित होता है वहां वैसा लगा लेना चाहिये। जैसे चोर डाकुओं के साथ नमः आवे तो वज्र—नाम शस्त्रास्त्र से उन को मारो। जहां क्षुद्र जन्तुओं, चीटी आदि के साथ नमः आवे वहां उन को अन्न देना चाहिये। जहां श्रेष्ठों के साथ आवे वहां उन का सत्कार जानो। तथा अनेक लोग यह भी शङ्का करते हैं कि जब नमः शब्द के कई अर्थ होंगे तो उन के योग में चतुर्थी विभक्ति कैसे होगी ?।

अज्ञानतिमिरभास्कर का उत्तर भाग ४ अं० १२ पृ० ८४ से आगे

दशहरा में भैंसे बकरे आदि के कटने और वामी लोगों के मतसम्बन्धी अनेक दुष्ट कर्मों के भारतवर्ष में प्रचरित होने में ब्राह्मण लोग भी कारण हैं परन्तु यह ब्राह्मण समुदायमात्र पर दोष नहीं आ सकता। अर्थात् इस देश में हिंसादि अधर्म और उन के चलाने वाले ब्राह्मणादि दोनों ही बुरे हैं और इस अंश में आत्माराम जैन और हम लोगों की एकानुमति है केवल भेद वा विरोध इतना है कि ये आत्मारामादि जैन लोग ब्राह्मण समुदायमात्र को दोषी ठहराते हैं सो इन का अन्याय वा पक्षपात है क्योंकि किसी समुदाय में सब मनुष्य दुष्ट वा अधर्मी नहीं हो सकते। परन्तु इतने से ये जैन लोग भी सब धर्मात्मा वा शुद्ध नहीं हो सकते अर्थात् हम भी यदि सभी जैनों को दोषी वा पक्षपाती ठहरावें तो हमारा दोष होगा। परन्तु जैन मत का उद्देश्य ठीक २ शुद्ध नहीं यह बात हम स्पष्ट कह सकते और सिद्ध कर सकते हैं। हां जैन मत में एक अहिंसाधर्म की विशेषता है सो वेदानुकूल है। उस में भी अति हो जाना बुरा, हानिकारक है क्योंकि यदि राजादि चोर, दुष्ट वा हिंसक आदि को न मारें तो राज्यादि व्यवहार भी नहीं चल सकता। तथा अपने ऊपर काटने को आते हुए सर्पादि को अवश्य मार डालना चाहिये। इत्यादि हिंसा अधर्म नहीं है॥

नास्तिक—आगे ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यकनामक वेद में तन्त्र और पुराणों के समान राजा के सब शत्रुओं के मारने और भगाने के लिये यज्ञ वा प्रयोग करने आदि हिंसा के अनेक विधान हैं॥

आस्तिक—यहां हमने आत्माराम जी का आशय मात्र लिखा है किन्तु ठीक२ पाठ लिखने से बढ़ता था। और आत्माराम जी ने ब्राह्मण तथा आरण्यक का पाठ भी प्रमाण में रक्खा है। हम यह पहिले ही लिख चुके हैं कि तैत्तिरीय-ब्राह्मण वा तैत्तिरीय आरण्यक आदि वेद नहीं किन्तु वेदों के प्राचीन व्याख्यान हैं उन में भी अनेक प्रकार की लीला स्वार्थी लोगों ने भरदी है। इस लिये ब्राह्मण आरण्यक को वेद मान कर प्रमाण देना जैनी महाशय की भूल है। जब वे पुस्तक वेद ही नहीं तो विशेष उत्तर देने की अपेक्षा भी हम को नहीं है परन्तु इतने से पाठक महाशयों को यह भी न समझ लेना चाहिये कि उन पुस्तकों में सब ऊटपटांग ही भरा है किन्तु अधिकांश उन में अच्छी वेदानुकूल

वाक्य हैं और कहीं २ लोगों ने मिला भी दिया है । शत्रु को मारने के लिये प्रायः उपाय लिखे हैं उन को लोगों ने ठीक २ न समझ कर तन्त्रों के समान प्रयोग समझ लिया । यह समझने वालों का दोष है किन्तु पुस्तकों का दोष नहीं

नास्तिक—कितनेक कहते हैं, ईश्वर मनुष्यों को कहता तुम इस रीति से मेरी प्रार्थना करो, यह कहना झूठ है, क्योंकि वेदों में किसी जगें भी नहीं लिखा है कि ईश्वर मनुष्यों को कहता है कि तुम ऐसे प्रार्थना करो ॥

आस्तिक—इस लेख का सङ्केत आर्यसमाजस्थ लोगों की ओर है । और आगे स्पष्ट ही स्वामी दयानन्दसरस्वती जी का नाम भी लिखा है। अब विचार का स्थान है कि जब वेद ईश्वर की ओर से ठहर जावे कि उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा की अनादि विद्या है और प्रत्येक कल्प के आरम्भ में वह मनुष्यों को उपदेश कर देता है कि जिस के अनुसार आचरण करने से मनुष्यों का कल्याण होवे तो फिर क्या सन्देह रहा कि वह परमेश्वर कहता है कि तुम ऐसे मेरी प्रार्थना करो। अर्थात् जब वेद के सैकड़ों मन्त्रों में साक्षात् निराकार ईश्वर की प्रार्थना है और वेद ईश्वर की ओर से है तो स्पष्ट सिद्ध हो गया कि ईश्वर हम लोगों को उपदेश करता है कि तुम लोग मेरी इस प्रकार प्रार्थना करो । जब कोई गुरु अपने शिष्य से कहता है कि "वद गुरवे नमः" तो इस वाक्य में वद क्रिया को बुलवाने की कुछ आवश्यकता नहीं है । तथा जब गुरु के साथ जैसे २ विनयपूर्वक वर्त्ताव आदि करना योग्य समझा जाता है वैसा २ शिष्य को बता दिया उस के साथ ऐसे वाक्य "तुम अपने गुरु के साथ ऐसा २ व्यवहार करो" का उपदेश करना वा पुस्तक में लिखना आवश्यक नहीं होता । देखो ! मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के जिन २ प्रसङ्गों में गुरु आदि के साथ शिष्य को जैसा २ व्यवहार करना चाहिये वैसा लिख दिया गया किन्तु "शिष्य गुरु से ऐसा कहे" यह वाक्य नहीं लिखा परन्तु इस के विना उस की कोई विशेष हानि भी नहीं समझी जाती और न किसी को शङ्का होती है । इसी प्रकार यहां वेद में भी जब ईश्वर की ओर से मनुष्यों के लिये उपदेश का होना सिद्ध हो गया तो फिर कुछ आवश्यकता नहीं कि वैसा वाक्य लिखा जावे । और जो वेदभाष्य कर्त्ता स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने लिखा है कि "ईश्वर मनुष्यों को कहता है कि तुम ऐसे प्रार्थना करो" यह किसी मन्त्र

का अर्थ नहीं है और न इस वाक्य को किसी का अर्थ मान कर स्वामी जी ने लिखा किन्तु यह वाक्य सर्वथा वेदविमुख सर्वसाधारण मनुष्यों को समझाने के लिये अपनी ओर से लिखा गया है । अब इस विषय पर विशेष लिखना कुछ आवश्यक नहीं क्योंकि बुद्धिमान् लोग जो २ इस विषय पर ध्यान देंगे वे तत्त्व बात को समझ सकते हैं । हां केवल इस विषय पर विचार हो सकता है कि वेद किस की ओर से हैं । सो जैन लोग जब किसी अनादि सिद्ध अजर अमर अभय नित्य पवित्र परमेश्वर को ही नहीं मानते तो वेद को ईश्वर की ओर से कैसे मान सकते हैं ? और जब वेद को मनुष्यों की ओर से मानते हैं तब काशी आदि के पण्डितों और स्वामी दयानन्दसरस्वती जी का विरोध दिखाना भी व्यर्थ है । क्योंकि यह कहना तब बन सकता था कि जो पौराणिक लोगों के कथनानुसार आत्माराम जैन वेद को मानते होते । जब वेद को वे किसी प्रकार नहीं मानते तो इन का दोष देना सर्वथा विरुद्ध है । इत्यादि प्रकार इन का लेख पूर्वापर असङ्गत वा असम्बद्ध है ॥

नास्तिक—जिस ने जो मन में माना सो अर्थ बना लिया यह शास्त्र वेदादि परमेश्वर के बनाये क्योंकर माने जा सकते हैं ? । शुक्ल यजुर्वेद याज्ञवल्क्य ने बनाया है । जब वेद ही ईश्वरोक्त नहीं तो शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण क्योंकर मान्य होवे । इत्यादि ॥

आस्तिक—यदि वेद के किसी अर्थ को जो महीधरादि ने किया है कि जिस अर्थ से वेद में बड़ा धब्बा लगता है उस को जैन लोग अच्छा मानते हैं और जिस अर्थ से वेद में कोई बुराई नहीं रहती वह मन माना बनावटी है तो इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जैन लोगों को वेद की बुराई तथा सर्वोपरि ब्राह्मणों की निन्दा करना इष्ट है । इस का हेतु हम पहिले लिख चुके हैं कि ब्राह्मणों के साथ इन की शत्रुता है और वेद ब्राह्मणों का शस्त्र है इस कारण ये लोग वेद और ब्राह्मणों के नाम से जलते हैं । इस बात को सिद्ध करने के लिये जैनों के पास कोई साधन वा प्रमाण नहीं है कि जिस भाष्य से वेद की तुच्छता हो वही ठीक है और जिस से वेद की निर्दोषता निकले वह बनावटी है हमारी समझ में जब दोनों साध्य कोटि में आसकते हैं तो वहां वही ठीक होगा कि जिस भाष्य से मूल निर्दोष हो जावे । क्योंकि जब जैन लोगों ने निकृष्ट भाष्यों को प्रामाणिक माना तो निकृष्ट का मानने वाला क्या

खण्डन हो सकता है ? । पर हम लोग वेद के निर्दोष भाष्य को मानते हैं तो हमारा मन्तव्य भी निर्दोष हुआ । यहां जैन लोगों से पूछना चाहिये कि वेद में तुम लोग किस का खण्डन करते हो ? क्या वेद शब्द का वा उस के वाच्य का अथवा दोनों का ? । यदि वेद शब्द का खण्डन करो तो शब्द के होने पर वा न होने पर किस दशा में खण्डन है ? । यदि होने पर कहो तो जो वस्तु विद्यमान है जिस का भाव है उस का अभाव कोई नहीं कर सकता । जैसे पृथिवी एक विद्यमान पदार्थ है उस का अभाव कोई नहीं कर सकता । इस प्रकार भाव का अभाव नहीं हो सकता । और न होने पर तो खण्डन ही नहीं हो सकता जब वेद कोई शब्द ही नहीं है तो खण्डन किस का होगा । और जब स्वयं वेद शब्द का उच्चारण करते हो तो निषेध करना " वदतो व्याघात " क्यों नहीं हुआ ? । यदि वाच्य का खण्डन करते हो तो जिस का वाचक वेद शब्द है उस का वाच्य न हो यह वही कह सकता है जो इस का दृष्टान्त दे सके कि लोक में अमुक २ शब्द हैं परन्तु उन के वाच्यार्थ कोई नहीं हैं । जब लोक में इस का कोई दृष्टान्त नहीं तो यह पक्ष भी असङ्गत है । यदि कोई बन्ध्यापुत्र वा शशशृङ्गादि का दृष्टान्त देवे तो यह उस की भूल है क्योंकि बन्ध्या, पुत्र, शश, शृङ्ग इत्यादि सभी शब्दों के वाच्य हैं कोई शब्द वाच्य के विना नहीं है । बन्ध्या एक स्त्री का नाम है जिस के सन्तति न हो । पुत्र भी लोक में होते ही हैं । शश भी प्रसिद्ध जन्तु है । शृङ्ग भी अनेक पश्वादि के विद्यमान ही हैं केवल बन्ध्या और पुत्र तथा शश और शृङ्ग इन का सम्बन्ध ठीक नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध है क्योंकि जिस के पुत्र न हो वह बन्ध्या है इस कारण बन्ध्या का पुत्र ऐसा कथन ही असङ्गत है । इसी प्रकार शश शृङ्गादिक भी जानो । और यदि वाच्य वाचक दोनों का खण्डन करो तो वही प्रश्न होगा कि वे दोनों विद्यमान हैं तो खण्डन हो नहीं सकता पृथिव्यादिवत् और यदि नहीं तो खण्डन किस का ? । यदि कहें कि हम वेदों का खण्डन नहीं करते किन्तु उन की बुराई खोलते हैं तब भी वही प्रश्न खड़ा है कि यदि बुराई है तब तो है ही तुम खोलते ही क्या हो क्योंकि बुराई कभी छिपती नहीं और नहीं है तो खोल भी नहीं सकते । इत्यादि ॥०

तथा शुक्ल यजुर्वेद याज्ञवल्क्य ऋषि का बनाया नहीं है । एक कहानी इन लोगों ने सुनली उसी से गाने लगे कि यजुर्वेद याज्ञवल्क्य का बनाया है ।

यज्ञोपवीतविषयक प्रश्न ॥

आर्यपुरुषों में यज्ञोपवीत एक बड़ा भारी संस्कार है परन्तु यह नहीं मालूम कि इस संस्कार का प्रयोजन क्या है। और २ संस्कारों का तो प्रयोजन भी कुछ न कुछ विदित होता ही है परन्तु इस यज्ञोपवीत का कुछ कारण नहीं प्रकट होता कि क्यों इस को मलमूत्र त्याग के समय कान में लपेट लेते हैं और सिवाय मलमूत्र त्यागने समय के और कोई समय कुछ काम नहीं पड़ता और छःगजे चौवे और तीन ही लड़ों का क्यों बनाया जाता है और शूद्र को क्यों इस के धारण करने का अधिकार नहीं है। इत्यादि २ ॥

उत्तर—यह प्रश्न शिवचरणलाल जी सारस्वत कालपी ने भेजा था तथा ऐसे २ कई मनुष्यों के कई स्थलों से इसी आशय के प्रश्न मेरे पास आयेथे सो अवकाश न मिलने और कई विशेष विचार कर्त्तव्य होने से अब तक उन के उत्तर नहीं छपाये थे। यद्यपि उत्तरदेने के लिये जो २ साधन अपेक्षित थे उन का सञ्चय अब भी नहीं हो गया और कई कारणों से पूरा संचय होना कष्टसाध्य भी है। इसी कारण जैसा उत्तर होना चाहिये उस का होना कम सम्भव है। तथापि " अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः" न करने से थोड़ा भी करना अच्छा है इस न्याय के अनुसार इस विषय के उत्तर देने का प्रारम्भ किया। इस की पूरी सामग्री न मिलने से ही इस का उत्तर बहुत विस्तार से नहीं दिया जायगा किन्तु कुछ सङ्क्षेप से ही लिखूं गा। अब आशा है कि पाठकजन ध्यानपूर्वक इस विषय को देखें गे। यह बात बहुत ठीक है कि आर्यपुरुषों में यह यज्ञोपवीतसंस्कार सब के ऊपर है वेदादि शास्त्रों में सर्वोपरि प्रशंसा इसी संस्कार की है और सामान्य प्रकार से सब की है। मनु० अ० २। श्लो० १६९—१७३ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १ ॥

माता के आगे उदर से पृथिवी पर गिरना पहिला जन्म कहाता है। द्वितीय जन्म अर्थात् प्रसिद्ध मौञ्जिबन्धन अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार में होता है। क्योंकि ब्राह्मणादि तीन वर्ण द्विजाति वा श्रेष्ठ इसी लिये कहाते हैं कि वे लोग वेद को पढ़ते और वेद में कहे अनुसार सन्ध्या अग्निहोत्रादि अपने

तथा सब के उपकारी धर्मयुक्त कामों को करते हैं और उन कामों के करने का आरम्भ यज्ञोपवीत संस्कार से ही होता है । जैसे मान लीजिये कि कोई राजकुमार अपने पिता की गद्दी पर जिस दिन बैठता है उसी राज्याभिषेक के दिन से उस की विशेष प्रतिष्ठा करते और अधिकारी मानते हैं और मानना भी चाहिये क्योंकि यद्यपि उस राजपुरुष को आगे जैसे २ राज्यसम्बन्धी प्रशस्त काम करने उचित होंगे जिन से उस की और भी विशेष प्रशंसा होगी वैसे काम अभी नहीं कर लिये तथापि उन सब कामों की भाविनी आशा से उस को राजा बनाया गया और सर्वोत्तम प्रतिष्ठा दी गयी और देनी चाहिये भी थी । इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बालकों को अपने २ पिता के वर्ण का अधिकार वा इन के अभिषेक करने का प्रथम दिन यज्ञोपवीत संस्कार है इसी दिन से वे लोग ब्राह्मणादि वा द्विज कहाने योग्य होते हैं । उस से पहिले जो धर्मशास्त्रों में कहीं २ ब्राह्मणादि के बालकों के ब्राह्मणादि नाम से नामकरणादि संस्कार कहे हैं वहां भाविनीसंज्ञा माननी चाहिये कि यह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होने वाला है । कदाचित् कोई कहे कि आगे संस्कार होने पर भी यदि अपने अधिकार के अनुकूल कर्मों को छोड़ कर विरुद्ध नीच कर्म करे गा तो ब्राह्मणादि कैसे होगा तो इसी प्रकार राजा भी अपने राज्याधिकार से भ्रष्ट हो सकता है । और भाविनी संज्ञा को नियामक माना जावे कि यह ऐसा ही होगा तो दोष आ सकता है तथा यदि बुरे कर्मों के आचरण से पीछे गिर जायगा तो पहिले यज्ञोपवीत के समय एक बार तो ब्राह्मणादि नामक हो चुके गा । तथा पिता के नाम से भी उस की प्रतिष्ठार्थ ब्राह्मणादि नाम का व्यवहार उस के साथ हो सकता है । इस का आशय यह है कि जैसे एक बड़ा उत्सव सन्तान के उत्पन्न होते समय होता और सब को प्रकट हो जाता है कि अमुक के घर में पुत्र हुआ इसी प्रकार पिता के जातीय अधिकार ब्राह्मणादि पद वा द्विज पद को प्राप्त होने का बड़ा उत्सव यज्ञोपवीत है कि जैसे राजकुमार का अभिषेक होता है उस का वैसा ही बड़ा उत्सव है । और वास्तव में एक तो संसार में उत्पन्न होना द्वितीय योग्यता प्राप्ति वा अधिकार पाना ये हो दो काम मनुष्य के जन्म के हैं । जन्म भी एक प्रकटता है पहिली प्रकटता माता के पेट से निकलना और द्वितीय गुणी होना तथा तीसरा जन्म यज्ञदीक्षा में होता है कि ज्योतिष्टोमादि वैदिक बृहत्यज्ञादि के करा

सकने की योग्यता हो जाने से यज्ञादि कार्यों के कराने के लिये अधिकार मिलना अर्थात् विद्वानों की सभा में मान्य के साथ दीक्षित वा अग्निष्टोमी वाजपेयी आदि पद मिलना कि जिस से वेदवेत्ता होने की पुष्टता हो जाती है। यह तीन दशा मनुष्य का जन्म समय कहाती हैं ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ २ ॥

इस से पूर्व श्लोक में रूपकालङ्कार दृष्टि से यज्ञोपवीतसंस्कार को द्वितीय जन्म ठहराया था परन्तु माता पिता के विना जन्म हो नहीं सकता इस कारण यज्ञोपवीतसंस्कार में पिता माता की कल्पना दिखाते हैं कि उस समय इस मनुष्य को [“ब्रह्मणि जन्म ब्रह्मजन्म” ब्रह्मनाम वेद में जन्म होना यज्ञोपवीत नामक है] माता सावित्री अर्थात् माता के तुल्य रक्षक गायत्री मन्त्रानुसार आचरण करना है और पिता के समान रक्षा और प्रेम करने वाला गुरु है। अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में जन्मदाता माता पिता छूट जाते हैं किन्तु उन के स्थान में गायत्री द्वारा परमेश्वर की उपासना माता और विद्यादाता गुरु पिता माना जाता है। और मानना भी चाहिये ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
नह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ३ ॥

वेद का दाता अर्थात् पढ़ाने वाला होने से आचार्य को पिता कहते हैं। जब तक यज्ञोपवीतसंस्कार नहीं होता तब तक इस बालक को सन्ध्योपासनादि कुछ भी कर्त्तव्य कर्म नहीं सौंपा जाता और न सौंपना चाहिये ॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ ४ ॥

यज्ञोपवीत होने से पहिले बालक को वेद न पढ़ावे क्योंकि जब तक यज्ञोपवीतसंस्कार नहीं होता तब तक वह ब्राह्मणादि का बालक भी शूद्र के तुल्य ही है अर्थात् समझने की योग्यता नहीं रखता और शूद्र को वेद का पढ़ाना इसी कारण निषिद्ध है कि वह अधिकावस्था में भी समझने की योग्यता नहीं रखता अर्थात् जिस को धारणावती बुद्धि नहीं वह भी शूद्र है ॥ ४ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

जब इन ब्राह्मणादि के बालक का उपनयनसंस्कार हो जाता है तभी शास्त्र की आज्ञानुसार व्रत का उपदेश होना अभीष्ट है किन्तु उपनयन से पहिले नहीं चाहिये । तथा वेद को विधिपूर्वक क्रम से पढ़ना भी यज्ञोपवीत के पश्चात् होना ही इष्ट है । इत्यादि ॥ ५ ॥

अब पाठक महाशयों को इस लेख से यह तो विदित हो ही जायगा कि यज्ञोपवीतसंस्कार एक जन्म होने के तुल्य द्वितीय जन्म है इस कारण यह संस्कार सब से ऊपर प्रशंसा योग्य प्राचीन काल से आर्य लोगों ने माना है । अब " इस संस्कार का प्रयोजन क्या है " इस प्रश्न का उत्तर भी किसी प्रकार आ गया तथापि और सुनिये । इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि जब यज्ञोपवीतसंस्कार अतिश्रेष्ठ है तो उस का फल वा प्रयोजन भी वैसा ही अतिश्रेष्ठ होगा । और फल वा प्रयोजन के विशेष प्रशस्त न होने से उस कार्य की भी विशेष प्रशंसा नहीं हो सकती । और यज्ञोपवीतसंस्कार का जो बड़ा वा अतिश्रेष्ठ फल है वह किसी से छिपा भी नहीं अर्थात् प्रायः विचारशील कह सकेंगे कि मनुष्य का संसार परमार्थ दोनों के सुधर जाने का एक बड़ा कारण इस संस्कार का ठीक २ पूरा होना ही है । यज्ञोपवीतसंस्कार का केवल इतना ही अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि किसी प्रकार कितने ही इष्टमित्रादि मनुष्यों को इकट्ठा कर के गले में तीन धागे का सूत बट कर डाल लेना ही संस्कार है । हां ! जो इतना ही संस्कार समझता है उस को तो कुछ भी प्रयोजन कोई नहीं बता सकता क्योंकि ऐसे तो जो चाहे दश बीश आदमी जोड़ कर जनेऊ पहन लेवे और जैसे चाहे वैसे काम करे तो वस्तुतः निष्फल वा निष्प्रयोजन है । परन्तु जो जानता है कि व्रतबन्ध उपनयनादि इसी संस्कार के नाम हैं व्रत नाम अनेक प्रकार के नियम पालन करने का बन्धन करना । उपनाम गुरु के समीप शिष्य के रहने का नियम हो जाना कि अब यहां रह कर नियमानुसार वेदादि शास्त्र पढ़ेगा जब तक कि समावर्त्तनसंस्कार न हो । यज्ञोपवीत धारण करने के लिये जो संस्कार किया जाता है इस लिये यज्ञोपवीतसंस्कार कहते हैं । वेदारम्भसंस्कार इसी का अवान्तर भेद है क्योंकि

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ } तारीख १५ अक्तूबर कार्त्तिक संवत् १९४८ { अङ्क २

यत्र॑ ब्रह्मविदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क से आगे यज्ञोपवीतविषयक विचार ॥

व्रतबन्ध और उपनयन शब्दों से दोनों का अर्थ आजाता है । अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्त्तव्य नियमों का उपदेश वेदारम्भ में ही किया जाता है । इस यज्ञोपवीतसंस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य्य आश्रम में दो बातें मुख्य हैं एक तो जो २ नियम ब्रह्मचारी के लिये लिखे गये उन का सेवन करना अर्थात् कर्त्तव्य का यथासमय ग्रहण और निषिद्ध का त्याग रखना तथा द्वितीय नियमानुकूल वेदादिशास्त्र को पढ़ना इसी दो प्रकार के कर्त्तव्य से मनुष्य को सब प्रकार का सुख प्राप्त हो सकता है । और संसार में सब प्राणीमात्र का सर्वोपरि प्रयोजन वा अभीष्ट भी यही है कि दुःखों से बच कर सुखों को प्राप्त होना । सो अनेक प्रकार के दुःख ऐसे हैं जिन से धनादि वा राज्यादि के होने पर भी नहीं बच सकता किन्तु एक विद्या के ही आश्रय से वैसे दुःखों से बच कर अलभ्य आश्चर्यरूप सुखों को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्मचर्य आश्रम में पथ्य भोजन वा अष्टविध मैथुन के परित्याग से वीर्य की ठीक २ रक्षा करके मनुष्य की शारीरिक बलादि की उन्नति होती है । जिस से शारीरिक रोगादि वा अकालमृत्यु से बच कर शारीरिक सुख जन्मभर भोगता है । द्वितीय विद्या का यथोचित ठीक २

संस्कार हृदय में हो जाने से मानस और वाचिक दुःख वा बुराइयों से बच कर दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त हो जाता है। इसी से जन्मान्तर में सुख पा सकता है यही इस संस्कार का सर्वोपरि बड़ा प्रयोजन है ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥६॥ म० अ० २

विद्वान् पुरुषों को उचित है कि संसारी सुख के उपजाने वाले वेदोक्त कर्मों के आचरण द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के शरीरों के जन्म जन्मान्तर में शुद्धिकारक गर्भाधानादि संस्कार करने चाहिये। अर्थात् इन गर्भाधानादि संस्कारों से वर्त्तमान और आगामी जन्म के लिये जीवात्मा की शुद्धि होती है। इसी पर कुछ विशेष भी दिखाते हैं ॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥७॥

गर्भावस्था में गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन ये तीन संस्कार कहे हैं तथा जातकर्म, चूड़ाकरण और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में जो होम तथा अन्य पवित्रता विधायक घी मधु आदि वस्तुओं का मन्त्रपूर्वक खिलाना आदि कर्म किया जाता है जिस से बीज सम्बन्धी और गर्भ में रहने से उत्पन्न हुए अनेक दोषों की निवृत्ति होती है यह भी सब संस्कारों का सामान्य कर एक बड़ा प्रयोजन प्रतीत होता है ॥

इस में कोई मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि एक बालक ऐसा हो जिस का कोई संस्कार न किया जाय तथा एक ऐसा हो जिस के गर्भाधानादि सब संस्कार किये गये हों उन दोनों में प्रसिद्ध चिह्न क्या होगा जिस से सर्वसाधारण को विश्वास हो जावे कि यह सन्तान संस्कारों के ठीक २ होने से सुधर गया और द्वितीय वैसा न हुआ। इस का उत्तर यह है कि धर्मशास्त्रकारों ने संस्कार जिस २ उद्देश से रक्खे हैं उसी रीति से सब ठीक २ किये जावें तो वास्तव में संस्कारी बालक स्पष्ट विलक्षण होगा। और यह तो प्रसिद्ध है कि जिस का यज्ञोपवीत के पश्चात् वेदारम्भसंस्कार ठीक २ हो चुकेगा वह ठीक २ शिक्षित विद्वान् होगा और विद्वान् अविद्वान् का भेद बहुत प्रकट है। अर्थात्

सन्तान के सुधार से सम्बन्ध रखने वाली जितनी बातें हैं उन सब का संस्कारों के साथ पूरा २ सम्बन्ध है। जब धर्मशास्त्रकारों ने त्रेताग्निसंग्रहनामक वानप्रस्थ आश्रम के आरम्भ को भी एक संस्कार माना है तो इसी से पाठक लोग समझ लेंगे कि इन संस्कारों के जन्म से मरणपर्यन्त करने की आज्ञा देने का स्पष्ट अभिप्राय यही है कि संसारी और परमार्थसम्बन्धी मोक्ष पर्यन्त सुख की प्राप्तिरूप फल इन्हीं सब संस्कारों के ठीक २ सेवने से प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त में किसी प्रकार विकल्प नहीं किन्तु वेदादि सब शास्त्रों का यही अबाध्य सिद्धान्त है। यद्यपि इन संस्कारों के प्रयोजन दिखाने के लिये बहुत विस्तार पूर्वक लिखने की आवश्यकता है। तथापि मुख्य प्रयोजन सिद्धान्तरूप लिख दिया गया आगे व्याख्या बढ़ाने का अन्त भी नहीं है इस कारण इस को यहीं समाप्त करते हैं॥

अब आगे यज्ञोपवीत शब्द पर थोड़ा सा लिखना चाहिये। इस से भी इस संस्कार का कुछ प्रयोजन प्रतीत होगा—

यज्ञोपवीतमित्यत्र यज्ञ—उपवीतं चेति द्वौ शब्दौ तयोः समासः—यज्ञेन संस्कृतं यज्ञसंस्कृतं यज्ञसंस्कृतञ्च तदुपवीतं नवसूत्रात्मकं चिह्नं यज्ञोपवीतम्। अत्रोत्तरपदलोपः शाकपार्थिवादिवत्। यद्वोप—गुरोः समीपं वीयते गम्यते येन साकं तदुपवीतं यज्ञार्थमुपवीतं यज्ञोपवीतम्। अर्थात् येनैतत् सूत्रं ध्रियते स पञ्चमहायज्ञानामनुष्ठाता स्यात्। यज्ञानुष्ठातॄणां चिह्नमेतत्। अनेनैव चिह्नेन यज्ञाधिकारित्वं सूच्यते। अर्थात् त्रैवर्णिकानामार्याणां प्रशंसासूचकमेतच्चिह्नम्। यैरेतद् ध्रियते त एव प्रशस्ता आर्या ब्राह्मणादयः। शूद्रोऽपि चेद्धरेत् सोऽपि किं तेन चिह्नेन द्विजो भविष्यति?। अस्येदमुत्तरं बोध्यम्—यथा परीक्षायामुत्तीर्णेभ्य एव प्रशंसापत्रं प्रतिष्ठासूचकं किमपि चिह्नं वा प्रदीयते न तु सर्वेभ्य एवमत्रापि ज्ञेयम्। बालेभ्यश्च तादृशभावाय

तद्दीयते न तु ते तच्चिह्नेन लोके किमपि स्वकार्यं साधयन्ति किन्तु ब्रह्मचर्याश्रमे साध्यकोटौ प्रविष्टा योग्यतामुत्पादयन्ति। यैश्च चिह्नेन स्वकार्यं लोके साध्यते तेभ्यश्च परीक्षोत्तीर्णावस्थायामेव तच्चिह्नं नियुज्यते। यद्यपि लिङ्गं धर्मस्य कारणं नास्ति तथापि सर्वसाधारणबोधाय योग्यतायास्तारतम्यसूचकं किमपि बाह्यं लिङ्गमवश्यं नियोज्यम्। सनातनी चेयं परिपाटी। पूर्वजैश्चैवं कृतं साम्प्रतं धीमद्भिः क्रियते भाविनश्च करिष्यन्ति। इत्थमेतच्चिह्नधारणं सुप्रयोजनमस्ति ॥

भा०—यज्ञोपवीत शब्द में यज्ञ और उपवीत दो शब्दों का समास हुआ है। यज्ञनाम पञ्चमहायज्ञ वा संस्कारसम्बन्धी होम के सम्बन्ध से पवित्र किया उपवीत जनेऊ यज्ञोपवीत कहाता है। यज्ञ शब्द के अनेक अर्थ हैं। इसी कारण उन सब के साथ यज्ञ शब्द की आवृत्ति करने का प्रचार विद्वानों में हो गया है। जैसे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, जपयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, दानयज्ञ, योगयज्ञ इत्यादि अनेक यज्ञ कहाते हैं उन सब यज्ञों के लिये पवित्र किया जो चिह्न नव सूत्र का पहनाया जाता है उस को यज्ञोपवीत कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष इस चिह्न को धारण करता है वह पञ्चमहायज्ञादि का सेवन करने वाला हो। इस से यज्ञ करने वालों का यह चिह्न है। जो लोग इस चिह्न को धारण करते हैं उन से सूचित होता है कि ये यज्ञ करने की योग्यता और शक्ति रखते हैं इस से ये यज्ञ के अधिकारी हैं। तीन वर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जो मुख्य कर आर्य कहाते हैं उन का यह प्रशंसा सूचक चिह्न है कि ये प्रशंसा वा प्रतिष्ठा करने योग्य हैं। अर्थात् राज्य वा श्रेष्ठमण्डली की सम्मति के अनुसार प्रशंसा योग्य होने से ब्राह्मणादि को ही यह चिह्न पहले दिया जाता था इस से जो लोग उस को धारण करते थे वे ही प्रशस्त समझे जाते थे। यद्यपि वर्त्तमानकाल में यह परम्परा बिगड़ गयी है तथापि उस के सुधारने का उपाय करना चाहिये किन्तु गिरती दशा को और भी गिराते जाना कदापि उचित नहीं है। कोई शङ्का करे कि यदि शूद्र भी यज्ञोपवीत धारण करे तो क्या उस चिह्न से द्विज माना जायगा

वा हो जायगा ? । इस का उत्तर यह है कि यज्ञोपवीत पहन लेने मात्र से वह शूद्र द्विज नहीं हो सकता । यदि छलादि से पहन लेगा तो चोर वा वञ्चक माना जायगा । यदि शूद्र मनुष्य द्विज बनने की योग्यता का उपार्जन कर लेवे तब विद्वानों की सभा से यज्ञोपवीत प्राप्त करे तो अवश्य द्विज हो सकेगा । अन्यथा नहीं जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) हुए लोगों को ही प्रशंसापत्र (सार्टीफिकट) अथवा प्रतिष्ठासूचक कोई चिह्न (तग़मा) दिया जाता है किन्तु सब को नहीं इसी प्रकार यहां भी होना चाहिये और उपनयन संस्कार के आरम्भ में ब्राह्मणादि के बालकों में यद्यपि योग्यता पहिले उत्पन्न नहीं हो चुकती तथापि उन को योग्य बनाने की आशा से तथा माता पिता के सम्बन्ध से मिलने वाली प्रतिष्ठा को जताने के लिये यज्ञोपवीत चिह्न दिया जाता है अर्थात् वे बालब्रह्मचारी लोक में उस चिन्ह से अपना कोई काम सिद्ध नहीं करते किन्तु साध्य कोटिरूप ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट हुए योग्यता का सञ्चय करते हैं । और जो लोग यज्ञोपवीत चिह्न से लोक में अपना कार्य सिद्ध करते हैं । उन के लिये परीक्षा से उत्तीर्ण होने की दशा में ही वह चिह्न नियत किया जाता था और करना चाहिये । यद्यपि यज्ञोपवीतादि चिह्न धर्म का कारण नहीं है कि उस के धारण करने से मनुष्य धर्मात्मा हो जावे अथवा जो कोई उस चिह्न को धारण कर लेवे उस को वे कर्म बलात्कार करने पड़ें कि जो यज्ञोपवीत धारण करने वाले को करने चाहिये । तथापि इस का अभिप्राय यह नहीं है कि उस चिन्ह का धारण करना छोड़ देवें किन्तु धर्म का कारण न मान कर धर्म का उपयोगी सहायक अवश्य मानें कि चिह्न धारण करने वाले को उस अधिकार के अनुसार लोक लज्जादि से भी कुछ अच्छे काम अवश्य करने पड़ते हैं । और सर्वसाधारण मनुष्यों को योग्यता के न्यूनाधिक होने का बोध कराने के लिये बाहिरी यज्ञोपवीतादि चिह्न अवश्य धारण कराये जावें । और यह परिपाटी सनातनकाल से चली आती है--पूर्वज लोगों ने ऐसा किया, वर्त्तमान में भी विद्वान् लोगों में यह चाल है कि प्रतिष्ठासूचक चिह्न धारण कराते हैं और आगे होने वाले भी ऐसा करेंगे । इस कारण उक्त प्रकार से इस चिह्न के धारण करने में बड़ा प्रयोजन है ॥

अब एक प्रश्न यह है कि यज्ञोपवीत बनाने की क्रिया और सामग्री का प्रमाण क्या है ? कि किस वस्तु का और किस प्रकार बनाना चाहिये । इस पर मनु० अ० २ । ४४ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥

कपास के सूत का ब्राह्मण का जनेऊ बनाना चाहिये शण के सूतों का क्षत्रिय के लिये और भेड़ के सूत-ऊन का वैश्य के लिये बनावे । इस भेद के दिखाने का कारण यह है कि जिस से वर्णभेद प्रतीत हो और क्षत्रियों के आधीन बल सम्बन्धी काम होने से उन का जनेऊ अधिक पुष्ट होना चाहिये इस कारण शण का रक्खा गया । किन्हीं २ लोगों का यह भी विचार है कि सब के लिये कपास का ही रक्खा जावे । अर्थात् तीनों वर्ण यदि कपास का ही पहिनें तो कुछ बुराई नहीं है । उस यज्ञोपवीत के तीन धागा एकत्र कर के पहिले ऊपर को ऐंठना चाहिये पीछे त्रिगुण कर नीचे को ऐंठ कर नवतार का बना के सिद्ध करे ॥

इसी विषय पर मदनपारिजात नामक पुस्तक में देवल के वचन हैं—

कार्पासक्षौमगोवालशणवल्वतृणादिकम् ।
यथासम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥ १ ॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहिताङ्गुलिमूलके ।
आवर्त्य षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः ॥ २ ॥
अब्लिङ्गकैश्च मन्त्रैस्तत्प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
अप्रदक्षिणमावृत्य सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् ॥ ३ ॥
ततः प्रदक्षिणावर्त्तं समं स्यान्नवसूत्रकम् ।
त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा ब्रह्मविष्णवीश्वरान्नमेत् ॥ ४ ॥

कपास का सूत, रेशम, गोवाल अर्थात् गौकी पूंछ के बाल, शण, ऊन और वल्व तृण इत्यादि जो मिल जावे उसी का यज्ञोपवीत बना कर पहने । अर्थात् जहां तक कपास का सूत मिल सके वहां तक अन्य का न पहने । किन्तु कपास के सूत न मिलने की दशा में रेशम आदि का पहने । परन्तु क्षत्रिय के लिये जो शण का विधान कर चुके हैं उस का इस से खण्डन नहीं समझ लेना चाहिये । तात्पर्य यह है कि सूत न मिलने पर यज्ञोपवीत न धारण

करना ठीक नहीं किन्तु किसी प्रकार की घास ऊन शण वा रेशम का अवश्य धारण करना चाहिये ॥ १ ॥ शरीर से शुद्ध हुआ मनुष्य पवित्र स्थान में अपने हाथ की चारो अँगुलियों को इकट्ठी करके उन के मूल जड़ में सूत को तिगुना कर विचार के साथ छयानवे वार लपेट कर ॥ २ ॥ अप् शब्द जिन में आता है ऐसे (आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन) इत्यादि मन्त्रों के साथ जल से धो कर उस तीन लर के सूत को प्रथम ऊपर को ऐंठ कर सावित्री मन्त्र (तत्सवितुर्व०) से पुनः उस को तिगुणा करे ॥ ३ ॥ पीछे उन तीनों लरों को ऐंठ कर एकतार सम नव सूत्र का करे फिर उस की तीन लरों में एक दृढ़ गांठ लगा कर उत्पत्ति स्थिति लयकर्त्ता ईश्वर को प्रणाम करे ॥ ४ ॥

आगे भृगु के धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

वामावर्त्तवलितं त्रिगुणं कृत्वा दक्षिणावर्त्तवलितं त्रिगुणं कार्यं स एकस्तन्तुः । एवं त्रितन्तुकमित्यर्थः ॥

भा०—पहिले बांई ओर को तिगुना ऐंठ कर दाहिनी ओर को तिगुना कर ऐंठना चाहिये ऐसा करने से नौ सूत का एक सूत बन जाता है वैसे नौ २ के तीन सूत एक यज्ञोपवीत में अवश्य रहने चाहिये ॥

आगे छन्दोगपरिशिष्ट में भी यही लिखा है कि—

त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥
ऊर्ध्ववृतं दक्षिणं करमूर्ध्वं कृत्वा वलितमित्यर्थः ।
एवं वामकरमधः कृत्वा वलितमधोवृतं बोध्यम् ॥

भा०—तिगुना कर पहिले ऊपर को ऐंठे अर्थात् दोनों हाथ मिला कर ऐंठने से दहिने हाथ की ऊपर को जिस प्रकार गति हो वह ऊपर को ऐंठना है । पीछे ऊपर को ऐंठे हुए सूत को तिगुना कर नीचे को ऐंठे अर्थात् दोनों हाथ मिला कर ऐंठने से जिस प्रकार वायां हाथ नीचे को आवे वह नीचे को ऐंठना है । पीछे उस नौ सूत वाले एक डोरे को तिगुना कर एक गांठ लगावे ॥ आगे कात्यायन स्मृति में लिखा है कि—

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम् ॥

पीछे पीठ पर और आगे नाभी पर हो कर कटिभाग तक पहुंच जावे ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये किन्तु अतिलम्बा वा अतिछोटा नहीं ।

आगे मदनपारिजात पुस्तक में और भी देवल का वचन है—

उपवीतं वटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृते ।
एकमेव यतीनां स्यादिति शास्त्रस्य निश्चयः ॥
यज्ञोपवीतमिति वा व्याहृत्या वाऽपि धारयेत् ।
हेमाद्रौ चोक्तम्—यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्रालाभे तदिष्यते ॥

भा०—बटु नाम ब्रह्मचारी को एक जनेऊ पहरना चाहिये तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ दो २ यज्ञोपवीत धारण करें । संन्यासी को एक जनेऊ धारण करना चाहिये यह शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है ॥

जब नवीन जनेऊ धारण करे तो "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं० । वा—तत्सवितुर्वरेण्यम्० " मन्त्रों को पढ़ कर पहने ॥ दो जनेऊ सब को श्रौत वा स्मार्त्त कर्मों के करने में धारण करने चाहिये ॥

अब इन पूर्वोक्त प्रमाणों से जिन लोगों को केवल ग्रन्थों के प्रमाणों की अपेक्षा है उन का तो सन्तोष हो जायगा परन्तु अधिकांश लोग आज कल कारणवाद की अपेक्षा रखते हैं उन के लिये कुछ युक्तियां आगे लिखेंगे । अब एक बात और शेष है कि प्रस्राव (पेशाब) करते समय यज्ञोपवीत कान में क्यों चढ़ालेना चाहिये इस लिये याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में लिखा है—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

भा०—दिन में और दोनों सन्ध्याओं के समय उत्तर को मुख कर के और रात्रि हो तो दक्षिण को मुख कर के ब्रह्मसूत्र नाम जनेऊ को कान पर चढ़ा के मलमूत्र का त्याग करे । इस में भी कारणवाद की अपेक्षा है कि क्यों कान पर चढ़ाया जावे ? । इस का उत्तर यह है कि यज्ञोपवीत एक उत्तम कार्यों के

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर गत अङ्क पृ० ८ से आगे ॥

तथा यहां प्रकृत में भी " किं शिलाय च " छोटी २ शिलाओं में रहने वाले जन्तुओं को भी अन्न देना चाहिये । इत्यादि यथोचित अर्थ घट सकता है । किन्तु इन मन्त्रों में मूर्त्तिपूजा का नाम नहीं है ॥

आगे पं० हरि० जी स्वयमेव शङ्का करते हैं कि " यजुर्वेदसंहिता अ० ३२ मन्त्र ३ में जब परमेश्वर की प्रतिमा होने का निषेध प्रतीत होता है तो फिर प्रतिमापूजन स्थापन कैसे हो सकता है? इस का उत्तर यह है कि उस में परमेश्वर की प्रतिमा का निषेध नहीं है । किन्तु उस पुरुष की प्रतिमा वा उपमान अर्थात् तुल्य कोई भी वस्तु नहीं है" इत्यादि कथन पर विचारशील लोग ध्यान देंगे तो स्पष्ट विदित हो जायगा कि उक्त कथन ठीक २ वदतो व्याघात है । अर्थात् अपने पग में आप ही कुल्हाड़ी मारना है । जब परमेश्वर के तुल्य कोई वस्तु जगत् में नहीं है तो जिस को तुम प्रतिमा मानते हो वह भी एक वस्तु है और परमेश्वर के तुल्य न ठहरी तो किस के तुल्य उस को बनाते, मानते हो ? । हमारे अनुमान में तो प्रतिमा पूजने वालों का यही आशय है कि परमेश्वर के तुल्य मूर्त्तियां बनाते हैं कि वह ऐसा है । और ऐसा न मानें तो प्रतिमाशब्द के दो अर्थ परस्पर विरुद्ध कल्पना करने चाहिये कि जिन मन्त्रों में प्रतिमाशब्द से परमेश्वर की प्रतिमा का पूजन सिद्ध करते हैं वहां उस का सदृश अर्थ है वा अमुक अर्थ है । और जिस मन्त्र में परमेश्वर की प्रतिमा होने का निषेध किया है वहां प्रतिमाशब्द का अर्थ अन्य है । और प्रतिमाशब्द के दो अर्थों की कल्पना व्याकरण वा कोष के प्रमाण से सिद्ध करना पं० हरि० जी का काम है किन्तु यह भार हम पर नहीं है क्योंकि हम प्रतिमाशब्द के दो अर्थ करने की प्रतिज्ञा नहीं करते । पं० हरि० जी इतना कह देने से छुटकारा नहीं पा सकते कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" मन्त्र में प्रतिमाशब्द का वह अर्थ नहीं है कि जो " सहस्रस्य प्रतिमासि " मन्त्र में है । प्रतिज्ञा करने वाले पर भार होता है कि वह अपनी प्रतिज्ञा को प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध करे कि इस २ प्रकार प्रतिमाशब्द के दो अर्थ हैं और उन में परस्पर विरोध नहीं । परन्तु पं० हरि० जी ने कुछ भी सिद्ध नहीं किया ॥

आगे " नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमः " इस मन्त्र में साकार मूर्त्ति का प्रतिपादन किया बतलाते हैं और अर्थ यह दिखाते हैं कि

सोने के आभूषणरूप जिस की भुजा हो वह हिरण्यबाहु परमेश्वर है । विचारशील लोगों को ध्यान देने का अवसर है कि सुवर्ण का आभूषण पहरने से ईश्वर की क्या प्रतिष्ठा हुई ? यह तो साधारण राजा रईस कर सकते हैं किन्तु एक भुजा क्या है ? शरीर के शरीर सुवर्ण के बन सकते हैं । यदि सुवर्ण के आभूषण से युक्त बाहु होने से परमेश्वर का महत्त्व हो तो जिस का सब ही शरीर सोने का बना दिया जाय वह उस से बड़ा परमेश्वर होगा और इस मन्त्र का अर्थ ठीक भी उक्त पं० हरि० जी से नहीं हुआ क्योंकि हिरण्यबाहु शब्द में जिस प्रकार का बहुव्रीहि समास होना चाहिये वैसा नहीं किया ॥

"हिरण्यमाभरणरूपं बाह्वोर्यस्येति महीधरः ।
हिरण्यमाभरणरूपं बाहुर्यस्येति हरिः" ॥

अर्थात् जिस की भुजाओं में आभूषणरूप सुवर्ण हो यह महीधर का और आभूषणरूप सोना जिस की भुजा हो यह पं० हरि० जी का कथन है विचारशील लोग ध्यान देंगे तो स्पष्ट विदित हो जायगा कि महीधर का अर्थ शब्द के अनुकूल है और इसी प्रकार समास करके हम लोग भी अर्थ करेंगे । परन्तु उक्त पं० जी का अर्थ असम्बद्ध है । यदि कहें कि किसी प्रतिमा में सोने की भुजा लगी हो वहां यह सङ्घटित होगा तो अन्य शरीर पत्थर आदि का क्या होगा ? । इस दशा में उस प्रतिमा की विशेष शोभा कुछ नहीं हो सकती और आज कल भी ऐसी प्रतिमा कोई नहीं बनायी जाती जिस में सुवर्ण की भुजा लगावें और अन्य शरीर पत्थर आदि का बनावें । यदि कहें कि केवल सुवर्ण का सभी शरीर बनाया जाय तो हिरण्यबाहु कहना नहीं बन सकता क्योंकि वहां बाहुमात्र हिरण्य का नहीं है । और ठीक २ बात्तों तो यह है कि महीधर ने भी हिरण्यबाहु पद को सेनानी का विशेषण रक्खा है परन्तु रुद्र शब्द भी साथ में लगाया है । सो अक्षरार्थ में तो सब विचार महीधर का भी ठीक है । केवल तात्पर्य समझने मात्र का भेद है कि रुद्र कौन है ? । सेनानी शब्द का अर्थ भी जग लोक में प्रसिद्ध है कि जिस को सेना का नायक भी कहते हैं । और और वह युद्ध में अनेकों को काटता मारता वा मरवाता रुलाता है इस से उस को रुद्र भी कहते हैं उस के बाहु में हिरण्य सुवर्ण का आभूषण हो ऐसे प्रतिष्ठित सेना के नायक को नमस्कार वा प्रणाम करना चाहिये। यह इस मन्त्र का अर्थ

है। इस के सारांश को हमारे हरि० जी भी समझते होते तो कदापि ऐसा व्यर्थ का लेख न करते और ठीक २ सिद्धान्त मान लेते ॥

आगे यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता अ० १८। मं० १३ ॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

इस मन्त्र पर महीधर ने लिखा है कि --"पत्थर, चिकनी मट्टी, छोटे २ पर्वत, बड़े २ हिमालयादि पहाड़, बालू, वनस्पति, सुवर्ण, लोहा, तांबा, कांसा, सीसा और रांगा ये सब पदार्थ हम लोगों के भिन्न २ कार्य विशेषों में समर्थ अर्थात् यज्ञ के सम्बन्ध से यथायोग्य उपकारी हों" इस महीधर के कथन में हमारी समझ में कोई दोष नहीं किन्तु अक्षरार्थ ठीक किया है रहा विशेष आशय निकालना सो आगे २ सब विचारशील अपनी २ बुद्धि के अनुसार निकाल सकते हैं। इस पर पं० हरि० जी ने चालाकी कर के पत्थर शब्द से मूर्त्तिरूप पत्थर मृत्तिका शब्द से वेदमन्त्रों से शुद्ध किई हुई मूर्त्तिरूप मट्टी अर्थ किया है। परन्तु छोटे बड़े पर्वत बालू और वनस्पति आदि को मूर्त्तिरूप नहीं कहा इस का कारण यह प्रतीत होता है कि पर्वत बालू आदि लोक में मूर्त्तिरूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। सो इस से इत्यादि वस्तुओं को मूर्त्तिरूप ठहराने से हठना उन की भूल है क्योंकि इन के अनुयायी लोग सभी वस्तुओं को पूज्य मानते हैं। अब उक्त पं० हरि० जी से कोई पूंछे कि पाषाण वा अश्मा शब्द के वेद में आने से तुम ने पाषाण की मूर्त्ति जिस की तुम पूजा करते हो उसी का ग्रहण किस प्रमाण से किया? और महीधर ने वैसा अर्थ क्यों नहीं किया?। पाषाण शब्द से स्नान करने वा धोती फींचने की पटिया का कोई अर्थ करे तो उस के अर्थ को बुरा ठहराने के लिये तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?। इत्यादि प्रश्न करे तो उत्तर देना कठिन पड़ेगा ॥

आगे पं० हरि० जी एक बात ऐसी लिखते हैं कि जिस से उन की कही अनेक बातों का खण्डन हो जायगा। तथा अन्य लोग भी ऐसा नहीं मानते।

यथा "यौगिकवेदशब्दार्थात्। स्मृतिपुराणकाव्येतिहासादीनामपि ग्रहणात्तत्र तत्र प्रतिमापूजनं स्पष्टमेवोक्तम्"

इस का आशय यह है कि वेद शब्द के यौगिक होने से स्मृति पुराण काव्य और इतिहासों का नाम भी वेद हो गया और वेदनामक स्मृति आदि में प्रतिमापूजन स्पष्ट ही कहा है इस से प्रतिमापूजन वेदोक्त हो गया। यहां बुद्धिमानों को विशेष ध्यान देने का अवसर है कि इन के अभिप्राय से दो बातें निकलती हैं—एक तो आर्य लोग जिन संहिता मन्त्रभागमात्र को वेद मानते हैं उन में प्रतिमापूजन स्पष्ट नहीं है इस कारण इतिहास पुराणादि को भी वेद मान कर उन में प्रतिमापूजन दिखाया गया। द्वितीय इतिहासादि को भी वेद मानना चाहिये। यहां पहिली बात से तो मन्त्रभागमात्र वेद में मूर्त्तिपूजा का ठीक प्रमाण न मिल सकने की ध्वनि पं० हरि० जी की सिद्ध हुई। अब रहा इतिहासादि का वेदशब्दवाच्य होना सो ये लोग भी ऐसा कदापि नहीं मान सकते। अभी तक तो काशी आदि के अनेक पं० लोग "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" ऐसे ही वाक्यों पर कूदते फांदते रहे। अब तो पं० हरि० जी के मतानुसार सभी वेद हो गया? तो पं० हरि० जी से पूछना चाहिये कि स्मृति पुराण इतिहास काव्य आदि जहां एक ही साथ वेद से भिन्न कर के गिनाये गये हों वहां क्या अर्थ करो गे?। अर्थात् जब वेदशब्द को सामान्यवाचक और स्मृति आदि को विशेषवाचक मान लिया जाय तो "श्रुतिस्मृती उभे मूले" इत्यादि धर्मशास्त्र के वचनों में स्मृति वेद के अन्तर्गत आजाने से पृथक् नहीं गिनायी जा सकती। तथा इन से पहिले पं० हरि० जी ने स्वयमेव स्पष्ट लिखा है कि हम ने शिष्टग्राह्य इतिहास पुराणादि से मूर्त्तिपूजा सिद्ध की अब वेद के प्रमाणों से सिद्ध करते हैं इस कथन से भी वेद और इतिहासादि को पृथक् २ ठहरा चुके अब इतिहासादि को वेद ठहराते हैं तो इन का कहना पूर्वापर विरुद्ध हो गया। यदि वेद शब्द का यौगिक अर्थ किया जाय तो अंग्रेजी फारसी और अरबी आदि भाषाओं में लिखे विषयों से किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता? अर्थात् जिस २ से किसी प्रकार का ज्ञान हो वह २

सत्यार्थविवेक का उत्तर ॥

एक सत्यार्थविवेक पुस्तक मैंने देखा और अनेक मित्रों के अनुरोध से तथा यह भी देख कर कि इस में अच्छी चिड़ियां फँसीं हैं विचार हुआ कि संक्षेप से इस पर कुछ लिखना चाहिये। यद्यपि इस की पण्डिताई आगे २ देखी जायगी तो भी कुछ २ टाटिल से भी प्रतीत हो जायगी। टाटिल में साधुसिंह जी का नाम बहुत बढ़ा कर लिखा गया है अपने हाथ वा अपने मुख अपनी प्रशंसा करने वाले पुरुष जैसे योग्य होते हैं सो भी विचारशील सज्जन लोग जान ही लेंगे। इस के प्रथम प्रकरण में मोक्ष और द्वितीय में धर्म का निरूपण वैदिक प्रमाणों द्वारा किया गया है। यह कैसा उलटा है? पुस्तक बनाने वाले वा अन्य विद्वानों के सिद्धान्त से सर्वथा उलटा है। क्योंकि मोक्ष एक धर्म का फल और और उस का साधन वैदिकधर्म है यह निस्सन्देह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है तो इस दशा में अत्यन्त उचित था कि साधनरूप धर्म का निरूपण पहिले किया जाता और तिस पीछे उस के फलरूप मोक्ष का वर्णन होता। मोक्ष का वर्णन प्रथम हो गया और उस को देख सुन कर जिन का चित्त मोक्ष की ओर झुक जावे उन के लिये फिर धर्म की व्याख्या देखने की रुचि रहना ही कम सम्भव है तो व्यर्थ हुआ। और धर्मरूप साधन के बिना जब साध्य मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती तो उस का वर्णन वृथा हुआ। इस से जान पड़ता है कि साधुसिंह को वास्तव में ग्रन्थकारों की शैली भी ज्ञात नहीं। प्रथम मूल वेदों पर ही ध्यान दीजिये तो यजुर्वेद ३९ अध्याय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म कर्म का वर्णन किया गया पीछे ३९ वें अध्याय से आगे ४० वें अध्याय में मोक्ष का वर्णन किया गया। वहां महीधर टीकाकार ने भी यही लिखा है कि--उनतालीश अध्यायों में कहे कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से जिन के अन्तःकरण शुद्ध हो गये वे ही ज्ञान के अधिकारी हैं उन्हीं के लिये ४० वें अध्याय से मोक्ष वा ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जाता है इस से भी स्पष्ट सिद्ध है कि पहिले ज्ञान का अधिकारी बनाने के लिये कर्त्तव्य धर्म कर्म का उपदेश करना और पीछे ज्ञान वैराग्य और मोक्ष का उपदेश करना चाहिये। इसी उक्त वेद की शैली के अनुसार शतपथब्राह्मण के १३ काण्डों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश और १४ वें काण्ड में विशेष कर ज्ञान

काण्ड कहा गया है । तथा मनुस्मृति के ११ अध्याय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य विधि निषेध का वर्णन है । और अन्त्य के १२ वें अध्याय में—

कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ।

कर्मों के फल की सिद्धि का वर्णन अर्थज्ञान वा मोक्ष का विचार किया गया सो यही विचार प्रायः शिष्टग्रन्थों में मिले गा । इस का प्रयोजन यह भी प्रतीत होता है कि जैसे चौथी अन्त्यावस्था चतुर्थ आश्रम में मनुष्य को परमार्थ विचार की आवश्यकता शास्त्रकारों ने दिखाई है वैसे ही उस विषय को ग्रन्थों के अन्त्य में रक्खा है अर्थात् संसार में रह कर गृहाश्रमादिक में धर्म कर्म का ठीक २ अनुष्ठान करके पीछे मोक्ष में मन लगावे ऐसी आज्ञा प्रायः लिखी है यही आज्ञा सर्वसाधारण के लिये है कहीं २ पूर्वजन्म के प्रबल संस्कारी पुरुषों के लिये यह भी लिख दिया है कि जिस को प्रथम ही पूर्ण वैराग्य हो जाय जिस को विषय सुखभोग की तृष्णा लेशमात्र न हो वह जब चाहे संन्यासी हो जावे ॥

इस सब कथन का प्रयोजन यही है कि मोक्ष का वर्णन साधुसिंह ने सब शिष्ट ग्रन्थकारों की शैली से विरुद्ध किया और इसी कारण ये ज्ञान के अधिकारी भी प्रतीत नहीं होते ॥

जिन महाशयों ने यह पुस्तक (सत्यार्थविवेक) देखा हो वे स्मरण करें वा पास हो तो फिर देख लें उस के टाटिल में (जिस को कस्बा छिवाई ज़िला बुलन्दशहर निवासी सेठ जानकीप्रसादादि धर्मानुरागियों ने स्थान मथुरा "मथुराप्रेस" में मुंशी रामनारायण भार्गव के प्रबन्ध से छपा) यह इबारत ज्यों की त्यों लिखी है इस पर ध्यान देना चाहिये—धर्मानुरागियों ने—यह कर्त्ता की तृतीया लटकती ही रही कहीं उस का सम्बन्ध ही नहीं लगा तब तक मुंशी रामनारायण का प्रबन्ध कूद पड़ा सेठ जी की कुछ भी न चली । यदि सेठ जी को मालूम हुआ कि हम लोगों ने जो धन दिया उस से कोई क्रिया होनी सिद्ध नहीं होती तो हमाराखर्च करना निष्फल हुआ क्योंकि उस इबारत से कुछ भी सिद्ध नहीं होता कि धर्मानुरागियों ने मारा पीटा खाया वा पिया क्या किया ? सेठ लोगों से साधुसिंह जी ने धन अवश्य लिया होगा इस में किञ्चित् भी सन्देह नहीं परन्तु उस से क्या हुआ यह नहीं जान पड़ा सेठ लोग सीधे होते हैं पहिले साधुसिंह ने अपना नाम लम्बा चौड़ा लिखा पीछे

सेठों का भी नाम धर घसीटा । सेठ जी इतने में हीं कृतकृत्य हो गये कि हमारा नाम तो छप गया प्रशंसा तो हो गई धन गया तो गया । पर यह खबर ही नहीं कि साधुसिंह भी चाल कर गये इसी से सेठों को बीच में लटका दिया । यह (प्रथमग्रासे मक्षिकापातः) हुआ इस से विद्वान् लोगों को इन का उदाहरण तो मिल ही जायगा ॥

मेरी प्रार्थना सेठ लोगों से प्रथम यह है कि साधुसिंह ने आप से धन लिया और जो कुछ लगा हो छपाई में दे कर शेष अपने गांठ किया होगा । मैं कुछ नहीं चाहता केवल यह चाहता हूं कि साधुसिंह के पुस्तक पर जो कुछ मैं लिखूं आप लोग निष्पक्ष हो कर देखें और जो चित्त में अच्छा जान पड़े उसे मानें । यदि नागरी भाषा में इतना अभ्यास न हो तो किसी योग्य पुरुष से सुन कर विचार करें । यदि समझने की पूरी योग्यता भी न हो तो किसी धर्मात्मा से पूछें कि यहां दोनों में कौन क्या कहता है और क्या अच्छा वा बुरा है । मेरा अभिप्राय यह है कि आज कल आर्यधर्म का कोई राजा न होने से अनधिकारी अयोग्य हज़ारों मनुष्य अपना नाम और कुछ धनादि का सञ्चय करने के लिये पुस्तकें बनाने लगे हैं । इन पुस्तकों के बनने से बड़ी हानि इस भारत देश की हो रही है और होगी । इन के रोकने का पूरा अधिकार राजा को है । सो अब भी यदि कोई आर्य राजा होता तो ऐसा कदापि नहीं होने पाता । अब रहे अंगरेज इन को धर्म में दखल देने से प्रयोजन ही नहीं ऐसी दशा में सर्व-साधारण देश की तो हानि ही है । परन्तु जिन को कुछ सत्सङ्गादि से उत्तम बुद्धि हो गई वे तो हज़ार हों पुस्तक बनने पर भी भ्रम में पड़ने वाले नहीं । अब मेरी प्रार्थना बुद्धिमानों से यह है कि ऐसा यत्न करें जिस से देश का कुछ सुधार हो और अन्ध परम्परा छूटे । यावत्शक्य बुद्धिमान् लोग उन के बनाये पुस्तक न लेवें और न बिकने देवें कि जो वेदादि शास्त्र की मर्यादा से अभिज्ञ नहीं हों । बुद्धिमान् लोग आपस में सब एकता करें कि जिस से मूर्खता की हानि हो । संसार में वे लोग भी बुद्धिमान् ही समझे जायँगे जो वेदादि के अभिप्राय से जानकार नहीं होने पर उस में प्रवृत्त नहीं होते और विद्वानों के विचारपूर्वक हुए कथन को मानते हैं और मूर्ख वे हैं जिन को स्वयं तो ठीक बोध नहीं शास्त्र के सिद्धान्त पर बुद्धि पहुंचती नहीं नाममात्र पढ़ कर "भवति पचति" मात्र बकने लगे खाली घड़े के तुल्य उछलते हैं और अपने को बड़ा पण्डित

समझते हैं ऐसे लोग वेदादि के प्रमाणाभास लेकर मन माना लेख कर पुस्तक बनाने लगते हैं। उन से बड़ी हानि होती है जो महाशय इन हानिकारकों के तत्त्व को समझ लेंगे वे अवश्य स्वयं बचेंगे और अन्यों को बचावेंगे इस लिये यहां थोड़ी चितौनी लिख दी है। मेरा यह अभिप्राय केवल साधुसिंह से नहीं किन्तु इन से भी बढ़ के और अनेक गौरीशङ्करादि हैं जिन के लिये मेरा सामान्य कथन है ॥

अब इन की भूमिका पर दृष्टि दें तो यही मालूम होता है कि [नकल तो की पर कर न आई] बड़े आश्चर्य की बात है कि भांड़ भी विद्वान् की नकल कर ले! विद्वान् की नकल भांड़ तभी कर सकता है जो कुछ स्वयं भी विद्वान् हो और जितनी उस के विद्वान् होने में कसर होगी उतने अंश में नकल करने पर भी पोल अवश्य खुल जायगी ॥

अब देखिये साधुसिंह ने स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज के सत्यार्थप्रकाश की नकल की है कि एक भूमिका और दूसरी अनुभूमिका बनाई जिस में भूमिका तो किसी अन्य की बनाई है। उस की भाषा शैली साधुसिंह के से अच्छी है इसी लिये पुस्तक के प्रारम्भ में अन्य की बनाई भूमिका रक्खी कि जिस से प्रथम ही देख कर लोगों को पुस्तक अच्छा जान पड़े। सब श्रद्धा करने लगें अर्थात् यह पुस्तक [सत्यार्थविवेक] विषकुम्भ पयोमुख हो गया कि जैसे किसी घड़ा में भीतर विष भरा हो और ऊपर मुख में थोड़ा दूध भर दिया जाय तो उस को दूध भरा घट समझ के सब लोग चाहना करें ॥

इन की अनुभूमिका में एक पद "शरीरक्रान्ति" लिखा है जिस से संस्कृत के बोध की भी परीक्षा हो गयी यद्यपि क्रान्ति वा कान्ति दोनों पद संस्कृत हैं तथापि कान्ति के स्थान में क्रान्ति लिखना महाअज्ञान है कान्ति नाम शोभा और क्रान्ति चलने का वाचक है ॥

अब मैं सर्वसाधारण सज्जन महाशयों को सूचित करता हूं कि मैं इन की प्रत्येक बात पर उत्तर नहीं लिखूंगा किन्तु जो २ वेदादि शास्त्रों से सर्वथा विपरीत वा युक्ति से विरुद्ध होगा उसी पर लिखूंगा। जब कि सर्वसाधारण लोगों से भी ऐसा नहीं हो सकता कि सर्वथा सब के प्रतिकूल कोई लिखे वा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ } तारीख १५ नवम्बर मार्गशीर्ष संवत् १९४८ { अङ्क ३

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

सत्यार्थविवेक का उत्तर गत अङ्क पृ० ३२ से आगे ॥

कहे तो इस दशा में बुद्धिमान् सज्जनों का यही कर्त्तव्य होता है कि जो सर्वतन्त्र सिद्धान्त है वह सब का उपयोगी होने से उपयोगी समझें । इसी प्रकार मैं भी साधुसिंह जी के अच्छे सर्वतन्त्रसिद्धान्तसम्बन्धी लेख पर कुछ नहीं लिखूंगा क्योंकि वह सब किसी का मन्तव्य ही है ॥

साधुसिंह—अब इस में यदि मैं कुछ किसी प्रकार का आक्षेप वाक्य लिखूंगा तो किसी को बुरा सा मालूम होगा ॥

समीक्षक—बुद्धिमान् लोग सोचें कि इस वाक्य का अभिप्राय क्या है ? । अर्थात् नीतिशास्त्र में लिखा है कि—

अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि की ज्वाला वा लपट ऊपर को ही सदा उठती है किन्तु नीचे को मुख कर दिया जाय तो भी अग्नि की झर ऊपर को ही उठेगी नीचे को कदापि न जायगी । क्योंकि पार्थिव अग्नि का कारणरूप बृहत् सूर्याग्नि के साथ आकर्षण सम्बन्ध लगा हुआ है । इसी से अग्नि की ज्वाला ऊपर को जाती है । और—

स्वभावो दुरत्यजो नृणाम् ॥

मनुष्यों का भी स्वभाव छूट जाना दुस्तर है। इसी प्रकार यहां भी साधुसिंह एक साधु हैं इन के प्रायः समुदायों में वर्त्तमान समय की प्रचरित मूर्त्तिपूजा को कोई नहीं मानता और स्वयंसिद्ध पूज्य महात्मा आप ही बनना चाहते हैं। यहां तक कि परमेश्वर को भी अपना उपास्य इष्टदेव न मान कर आप ही ब्रह्म बनते हैं कि जीव कोई वस्तु नहीं हम ब्रह्म हैं हम को पाप पुण्य नहीं लगते हैं। ये लोग धर्माधर्म की भी निन्दा करते हैं। इस लिये भी एक प्रकार के नास्तिक हैं। उन्हीं के अन्तर्गत साधुसिंह जी भी हैं। यद्यपि डिवाई के कई सेठ साहूकारों से स्वार्थसिद्ध होने के लिये मूर्त्तिपूजादि वेदबाह्य विषय का यथा तथा प्रतिपादन किया है तथापि-

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ॥

मनुष्य जो कुछ मन से मानता है अर्थात् जैसा विचार मनुष्य के अन्तःकरण में होता है वैसा ही वाणी द्वारा बाहर शब्द निकलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार साधुसिंह को भी अपनी स्वार्थसम्बन्धिनी बाह्य बनावटी इच्छा के विरुद्ध लिखने पड़ा। अर्थात् साधुसिंह का स्पष्ट आशय यह है कि पाषाणादि की मूर्त्तिपूजा ठीक नहीं न किसी को करनी चाहिये किन्तु साधुओं के दर्शन पूजन का नाम मूर्त्तिपूजा है सो स्पष्ट इस लिये नहीं लिखा कि किसी को बुरा लगेगा। इसी लिये साधुसिंह ने भागवत के दो श्लोक लिख कर फेर २ से इस बात को जताया है और आगे कुछ २ साफ भी लिखा है:—

साधु०—भाव श्रीभगवान् का यह है कि देवदृष्टि से प्रतिमापूजा का मुख्य फल महद्दर्शनादि हैं। अब इसी वार्त्ता को विस्तार करते हैं-

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ १ ॥

अर्थ—जलमय तीर्थ और मृत्तिकामय तथा शिलामय देवता नहीं यह वार्त्ता ठीक नहीं किन्तु जलमय तीर्थ और मृच्छिलामय देवता हैं परन्तु वे बहुत काल में पवित्र करते हैं और साधुजन दर्शनमात्र से ही श्रद्धापूर्वक दृष्ट हुए पवित्र करते हैं ॥

समीक्षक—महात्मा पुरुषों का दर्शन देवबुद्धि से करना चाहिये कि महात्माओं के समीप जावें तब मान लें कि हम देवता की पूजा करने जाते हैं यह साधुसिंह का अभिप्राय है उस को दबा कर लिखा है दबाने का कारण पहिले लिख चुका हूं (नह्यम्मयानि०) इस श्लोक के अर्थ में साधुसिंह ने चतुराई की है अर्थात् श्लोक का अशुद्ध अर्थ किया है। श्लोक में दो नञ् नहीं हैं जिस से निषेध का निषेध हो कर विधि आ जावे। निषेध के निषेध को संस्कृत में प्रतिप्रसव कहते हैं। जिस को थोड़ा भी संस्कृत का बोध होगा वह इस श्लोक के मूल पर अर्थ समझ सकता है कि जलरूप तीर्थ नहीं हैं और मट्टी वा पत्थर के देवता नहीं होते इस लिये बहुत काल में वे मनुष्य को पवित्र करते और साधु लोग दर्शन देते ही पवित्र कर देते हैं। यह श्लोक भी अनुमान से श्रीमद्भागवत का ही है साधुसिंह ने भागवत को सर्व सज्जनों का इष्ट लिखा सो विपरीत है क्योंकि वैष्णवों के यहां ही श्रीमद्भागवत प्रधान माना जाता है और शैव, शाक्तादि लोग देवीभागवत को सर्वोपरि मुख्य प्रतिष्ठित मानते और श्रीमद्भागवत को १८ पुराणों की संख्या से भी बाह्य करते हैं इस से सर्व सज्जनों का इष्ट भागवत को लिखना मिथ्या है। हां! यह कथन वेद पुस्तकों पर चरितार्थ हो सकता है। साधुसिंह का आशय यह जान पड़ता है कि इन के सहायक वैष्णव होंगे उन की प्रसन्नता के लिये लिखा है। और यह श्लोक भागवत का होने से अर्थ पाठ दोनों रीति पर अशुद्ध है। अर्थाशुद्धि यह है कि जब जलमय तीर्थ और मट्टी पाषाणमय देवता ही नहीं तो वे बहुत काल में भी क्योंकर पवित्र कर सकते हैं?। जो जल नहीं उस को कोई जल मान ले तो तीन काल में भी उस से प्यास नहीं जा सकती इस से यदि जलरूप तीर्थ और मट्टीरूप देवता ही नहीं तो वे कभी पवित्र कर ही नहीं सकते दूसरी व्याकरण की अशुद्धि है—

तीर्थानीति नपुंसकलिङ्गम्। देवाइति च पुंल्लिङ्गम्। तदर्थाभिधायिनोः सर्वनाम्नोरेकशेषः। नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति शास्त्रप्रमाणानुसारं नपुंसकं शिष्येत तदा तानीति स्यात्। यदि पक्ष एकवद्भावस्तदा तदिति स्यात् ते इति

केनापि प्रकारेण शुद्धं न भवति । तेनानुमीयते कस्यचिदविदुषो वचनमिदम् । सोऽयं भागवतनिर्मातुर्दोषः ॥

भावार्थः—श्लोक के पूर्वार्द्ध में "तीर्थानि" पद नपुंसक और "देवाः" पुँल्लिङ्ग है उन दोनों का सर्वनाम वाची शब्द से निर्देश करने में (नपुंसक०) सूत्र से नपुंसक का एक शेष होना चाहिये तो (तानि) ऐसा प्रयोग हो उस के होने से छन्द बिगड़े गा । यदि पक्ष में कहा एक वचन करें तो तत् ऐसा हो इस से (ते पुन०) में ते सर्वथा अशुद्ध है किसी प्रकार शुद्ध नहीं ठहर सकता । इस से अनुमान होता है कि किसी अविद्वान् का बनाया यह वचन है और इसी भागवत बनाने वाले का यह दोष है । यह बात प्रसङ्ग से लिखी है किन्तु साधुसिंह के उत्तर का ही यहां प्रकरण है ॥

अब साधुसिंह की और भी पण्डिताई पर पाठक लोग ध्यान दें । वे अपने आन्तर्य पक्ष को अगले प्रमाण से भी सिद्ध करना चाहते हैं । यह भी श्रीमद्भागवत का वचन है ।

साधु०—अब चार भूमिका बांध कर सत्पुरुषों की सेवा कर्त्तव्य बोधन करते हैं एक श्लोक में—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हि चिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥
दशमस्कन्धे ॥

अर्थ—वात पित्त श्लेष्मा रूप तीन धातुजन्य जो यह शरीर है जिस में यथा आत्मबुद्धि होती है वैसे अभिज्ञ जनों में आत्मबुद्धि चाहिये । भाव यह है जैसे सब से विशेष प्रीति शरीर में है इसी प्रकार अभिज्ञजनों में चाहिये इ०

समीक्षक—इस श्लोक का अर्थ भी साधुसिंह ने स्वार्थसिद्धि के लिये विपरीत किया है । इस में उपमावाचक कोई पद नहीं है तो भी साधुसिंह ने ऊटपटांग यथा—जैसे लगाया । यदि नकार को उपमावाचक मान लें तो प्रथम लोक में कहीं नकार का अर्थ उपमावाचक प्रसिद्ध नहीं न कोश वालों ने लिखा वेद में अवश्य न, का अर्थ उपमावाचक आता है उस के लिये निघण्टु निरुक्त में प्रमाण है और कदाचित् न, का यही अर्थ मान भी लिया जाय तो भी

गत अं० २ पृ० २४ से आगे यज्ञोपवीत विषयक विचार ॥

अनुष्ठान का चिह्न है इसी कारण ऊपर के भाग में उस का धारण करना लिखा गया है और नाभी से ऊपर का शरीर पवित्र है " नाभेरूर्ध्वं मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्त्तितः" यह मनु का वाक्य है कि शरीर नाभि से ऊपर अति-पवित्र है। इस दशा में पवित्र शरीर का साथी चिह्न यदि मलमूत्रादि से लग जावे तो ठीक नहीं। अशुद्ध मलमूत्रादि लगे हुए वस्त्र को धारण करना भी जब कोई चित्त से कदापि नहीं चाहता तो यज्ञोपवीत को क्यों चाहेगा। फिर उस के मलमूत्र से सर्वथा बचा रखने की रीति यही सर्वोत्तम जान पड़ती है कि कान में टांग लेना चाहिये। इस पर कोई यह भी कह सकता है कि अन्यत्र ही कहीं लपेट लिया जावे जिस से नीचे न जावे तो भी मलमूत्र में न पड़ेगा। इस का उत्तर यह है कि यदि अन्यत्र लपेटने का नियम किया जावे तो उस में भी वही शङ्का उत्पन्न होगी जो इस समय कान पर टांगने में होती है। अर्थात् जैसे यह तर्क होगा कि कान में ही क्यों टांगें ?। वैसे यह भी कह सकें गे कि अन्यत्र गले आदि में ही क्यों लपेटें ?। यदि नियम न किया जाय किन्तु कहीं ऊपर को चढ़ा लेने की आज्ञा देदी जावे तो यह तर्क होगा कि कुछ नियम तो किया ही नहीं तथा बिना नियम के कोई काम ठीक भी नहीं चलता और गले आदि में लपेटने की जगह कान में लटकाना अधिक सुगम है। गले में लपेटना तब ठीक बन सकता है कि जो माला के समान पहना हुआ रहे। सो वैसा धारण करने की आज्ञा नहीं है। और वैसा करने में परिश्रम भी अधिक पड़ेगा। तथा गले में लपेटने से अधिक कड़ा होने का भी भय है कि कहीं फांद न लग जावे। तथा कान में यज्ञोपवीत टांगने से एक यह भी प्रयोजन है कि जब तक हस्तादि की शुद्धि न करेगा तब तक कान में यज्ञोपवीत लगा रहने से सब को दूर से दीख पड़ेगा और ज्ञात रहेगा कि अमुक ने मलमूत्र त्याग किया और अभीतक शुद्धि नहीं की है इस से कोई वैसा व्यवहार उस के साथ नहीं करेगा जो शुद्ध हाथ पग वाले के साथ में सब को करना चाहिये ॥

मैं अपने विचारानुसार यज्ञोपवीत के विषय में विशेष लिख चुका और विचारशीलों के लिये इतना लेख बहुत है। परन्तु पेशाब करते समय कान में

लपेटने का अवश्य नियम न रहे तो प्रायः मनुष्य उस काम को नहीं कर सकें गे और जब न करें गे तो उस का अशुद्ध होना भी सम्भव है । यदि कोई कहे कि किसी कारण किसी समय पर किसी पुरुष ने कान में न लगा पाया और शीघ्रतादि के कारण प्रस्राव वा मलत्याग कर आया और यज्ञोपवीत नीचे भी नहीं गिरने पाया कि जो उस में मलमूत्र लग गया हो तो ऐसी दशा में लोक चाल के अनुसार अशुद्ध क्यों माना जाता वा क्यों मानना चाहिये ? । इस का उत्तर यह है कि जो वस्तु अशुद्ध नहीं हुआ उस को अशुद्ध तो कदापि नहीं मानना चाहिये अर्थात् ऐसी दशा में यज्ञोपवीत को अशुद्ध समझ लेना ठीक नहीं । और लोक में तो यह चाल है कि यदि कान में न चढ़ावे और अन्य किसी प्रकार कोई ऊपर को चढ़ा लेवे तो भी लोग उस को अशुद्ध मानते हैं और जब तक द्वितीय नया न पहन लेवें तब तक बोलनादि भी कई काम छोड़ देते हैं । यह कुछ पाखण्ड भी बढ़ गया है । अर्थात् अभिप्राय इतना ही है कि यज्ञोपवीत मलमूत्रादि से दूषित न हो जावे इसी कारण इस को मलमूत्र करने से पहिले कान में लटकाने का नियम भी रखना चाहिये और प्रमाद वा बेपरवाही से नियम को कोई न तोड़े यदि भूल से नियम तोड़े और जनेऊ दूषित न भी हो तो भी यही दण्ड वा प्रायश्चित्त है कि वह द्वितीय यज्ञोपवीत धारण करे । ऐसा नियम न रखने से नियम का शिथिल पड़ जाना भी उस काम के न चलने वा न होने का पूर्वरूप है । इस लिये नियम अवश्य चलाना चाहिये । और आपत्काल में जब किसी कारण शीघ्रतादि होने से कान में न चढ़ा पाया तथा मलमूत्र से दूषित भी न हुआ तो ऐसी दशा में यज्ञोपवीत को अशुद्ध भी नहीं मानना चाहिये । मैं क्या कोई कभी पृथिवी भर में इस बात की प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि अमुक प्रश्न का जो उत्तर मैंने दिया वैसा वा इस से अधिक कोई उत्तर नहीं दे सकता । तथा प्रतिज्ञा वा नियम यह भी नहीं हो सकता कि उस विषय पर फिर कोई प्रश्न ही न कर सके क्योंकि जिन विषयों पर सृष्टि के आरम्भ से असंख्य वार प्रश्नोत्तर हो चुके हैं उन पर भी फिर होते जाते हैं । एक ही बात वा विषय पर देशकाल और वस्तु के भेद से नवीन २ प्रश्न और उत्तर हुआ करते हैं । मैंने भी समयानुसारिणी बुद्धि के अनुसार अपना अनुभव लिखा है । और थोड़ा और भी लिखता हूं:—

कोई २ लोग कहते हैं कि:—सदा के लिये एक मैला कुचैला धागा गले में डाले रहने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् जैसे विवाहोत्सव में कंकन का डोरा बांधते और पीछे तोड़ डालते हैं वैसे संस्कार के समय पहनाया जाय और पीछे तोड़ दिया जाय सदा का झमेला व्यर्थ है । यदि बाहरी चिह्न मानो तो तिलक छाप और माला से क्या हानि है क्योंकि वे भी ईसाई मुसलमान आदि से भिन्नता जताने आदि प्रयोजन के लिये हैं । इत्यादि ॥

उत्तर—सदा के लिये तो हमारा शरीर भी नहीं है फिर ऊपरी चिह्न कौन हो सकता है ? । जब हम चार पांच वर्ष के होते हैं तभी से नियम पूर्वक धोती लङ्गोटी वा पाजामादि कई वस्त्र हम को मरणपर्यन्त धारण करने पड़ते हैं । यज्ञोपवीत को तो हम संन्यासी होते समय छोड़ भी सकते हैं परन्तु वस्त्र को सर्वथा नहीं छोड़ सकते क्या सदा के लिये कपड़ा पहनना निष्प्रयोजन नहीं है ? । कदाचित् कोई पुरुष लङ्गोटी आदि भी सब वस्त्र कभी छोड़ देवे तो इस से सामान्य का नियम नहीं छूट सकता । अर्थात् सर्वांश में सामान्य का बाधक कोई विशेष नहीं हो सकता । यदि कोई कहे कि धोती आदि वस्त्र शरीर की रक्षा के लिये पहने जाते हैं । तो यज्ञोपवीत भी कुछ रक्षा कर सकता है अर्थात् चिह्नधारण की लज्जा वा अभिमान भी कई प्रकार की बुराइयों से बचाता है कि ऐसे उत्तमता के सूचक चिह्न को धारण किये हम को कोई बुराई करते देखे गा तो लज्जित होने पड़ेगा। चिह्नधारण से ऐसा अभिमान होता है कि हम ऐसे उत्तम हो कर नीच काम न करें । यद्यपि चिह्न किसी को बलात्कार बुराई से नहीं रोकता पर तो भी कुछ चिह्नधारण की लज्जा करनी ही पड़ती है । और मैले कुचैले रखना तो मनुष्य का दोष है अनेक लोग आलस्यादि के कारण धोती आदि वस्त्रों को भी मैले रखते हैं । जैसे धोती आदि वस्त्रों को शुद्ध और पवित्र निर्मल रखना अच्छा है वैसे यज्ञोपवीत को भी शुद्ध निर्मल रखना चाहिये । मलीन रखना हमारा ही दोष है । विवाह में कङ्कन का डोरा इसी निमित्त बांधा जाता है कि वह इतने दिन में तोड़ डाला जाय । और यज्ञोपवीत पहनते समय भी यही निश्चय हो जाता है कि इस को सदा के लिये तुम धारण करो क्योंकि वेदमतानुयायी वा द्विज समझे जाने का यह चिह्न है । रहा झमेला वा व्यर्थ समझना सो यह तो मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर

वा उन को भी अधिकार है अर्थात् मनुष्य अपनी अल्पज्ञता से विशेष प्रयोजनीय बातों को भी निष्प्रयोजन वा झमेला समझ लेता है। अब तक बहुत से लोग वेद पढ़ने वा वेद के सिद्धान्त को भी निष्प्रयोजन समझते थे और अब भी अनेक लोग भारतवर्षीय लोगों के मत वा सिद्धान्त को व्यर्थ वा झमेला समझते हैं। इस के कारण का ठीक २ खोज किया जाय तो यही प्रतीत होता है कि संस्कृत के प्राचीन वेदादि पुस्तकों को उनका मर्मज्ञान सहित उन लोगों ने नहीं पढ़ा जिन की बुद्धि में यज्ञोपवीतादि चिह्नधारण के विषय में ऐसे क्षुद्र प्रश्न वा कुतर्क उठते हैं। द्वितीय यह भी है कि हम लोगों की बुद्धि में ऐसी दूरदर्शिता वा दीर्घदृष्टि नहीं रही कि जो हम शीघ्र सब बातों का परिणाम जान लें यही न्यूनता हमारे देश वा सामाजिक अवनति का मूल कारण है। इस के कारण अनेक हैं कि जिन की व्याख्या का पार नहीं ॥

तिलक कण्ठी धारण करना भी एक चिह्न है। उन चिह्नों से भिन्न २ पौराणिकमत प्रतीत होते हैं। त्रिपुण्ड्र से शैव मत और उर्ध्वपुण्ड्र से वैष्णव मत जाना जाता है और उन चिह्नों से परस्पर शैव वैष्णवादि का मत भेद फूट और विरोध सदा बढ़ता है जिस से भारतवर्ष की दिन २ अवनति होती जाती है। इसी लिये तिलक कण्ठी आदि चिह्न बुरे वा हानिकारक हैं। सब वस्तुओं में अच्छे बुरे दोनों भेद होते हैं। बुराई वा दुष्ट कर्मों के भी चिह्न होते हैं और भलाई वा सुकर्म-धर्मसम्बन्धी कार्यों के भी चिह्न होते हैं। इसी प्रकार यज्ञोपवीत धर्मसम्बन्धी कामों का चिह्न है। और कण्ठी तिलकादि विरोध के हेतु होने से धर्म विरुद्ध चिह्न हैं। यदि किसी एक प्रकार की कण्ठी का धारण और एक ही प्रकार का तिलक सब वेदमतानुयायियों में इस बुद्धि से चलाया गया होता कि जिस से द्वीपान्तरीय मतों से भिन्न समझनादि प्रयोजन सिद्ध होता तो अवश्य उस को भलाई का चिह्न कह सकते थे सो बात यहां नहीं है। और यज्ञोपवीत एक ऐसा चिह्न है कि जिस से किसी प्रकार का विरोध नहीं सभी शैव वैष्णवादि उस का धारण करते हैं उस को कोई भी बुरा नहीं समझता। इस चिह्न के वेदोक्त होने में यह भी प्रमाण है। जो २ बातें वेदोक्त हैं उन २ में किसी का विरोध नहीं जैसे चार वर्ण चार आश्रम और उन के सामान्य विशेष धर्म कर्म इत्यादि को सभी शैव वैष्णवादि ठीक मानते हैं उन्हीं के अन्तर्गत यज्ञोपवीत चिह्न का धारण करना है अर्थात् वेदोक्त बातों वा आज्ञाओं को

मानना हमारा काम है । और उस से विरुद्ध के छोड़ने की भी हम को आज्ञा दी गयी है इस लिये कण्ठी तिलकादि चिह्नों को धारण नहीं करना चाहिये और ब्राह्मणादि द्विजों को यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिये ॥

और यह शङ्का कोई करे कि " यज्ञोपवीत का धागा बलात्कार किसी से सन्ध्या नहीं कराता और न विद्या पढ़ाता है तथा जो लोग सन्ध्या करें वा विद्या पढ़ें परन्तु यज्ञोपवीत धारण न करें तो यज्ञोपवीत के विना उन के सन्ध्या करना और विद्या पढ़नादि रुकते भी नहीं" तो जिन चिह्नों को वे शङ्का करने वाले लोग निर्विवाद मानेंगे उन के धारण में भी यही शङ्का होगी । अर्थात् आज कल के अंग्रेजी पढ़े हुए लोगों को भी पृथक् २ उस २ काम के अनुसार नवीन कल्पित चिह्न धारण करने पड़ते हैं और उन चमड़े आदि के चिह्नों को भी वे अच्छा समझते हैं और उस में शङ्का नहीं होती । वकील, बारिष्टर, पुलिस आदि को भिन्न २ चिह्न (वर्दी वा तग्मादि नामक) दिये जाते हैं । उन २ बारिष्टर आदि को अपनी २ योग्यता के काम करने चाहिये यदि चिह्न धारण करने पर विरुद्ध काम करें वा अनुकूल न करें तो उन को चिह्न रोक नहीं सकते वा उन के योग्य कामों को वे अपनी इच्छा वा उत्साह के साथ न करें तो बलात्कार चिह्न उन से उचित काम करा नहीं सकते और चिह्नों के धारण किये विना उन के कर्त्तव्य में बाधा भी नहीं पड़ती तो क्या इतने से वे लोग अपने चिह्नों को व्यर्थ समझ लेते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं । और जगत् में कभी किसी प्रकार का चिह्न कोई भी इस अभिप्राय से धारण नहीं करता वा कराता कि यह चिह्न बलात्कार उस काम को करावे गा वा चिह्न न होने पर अमुक काम न हो सके गा । फिर वैसे प्रश्न करना कम समझी की बात क्यों नहीं ? । रहा चिह्न धारण का प्रयोजन सो लोक में प्रसिद्ध है कि उस २ प्रकार के ऊपरी लक्षण से उस २ मनुष्य की योग्यता सर्वसाधारण को ज्ञात होती रहे कि अमुक पुरुष अमुक समुदाय वा योग्यता का है । यदि कोई कहे कि अयोग्य पुरुष भी वैसा चिह्न धारण कर सकता है तो चिह्न से होने वाली पहचान में दोष आया । इस का उत्तर यह है कि यह चिह्न धारण का दोष नहीं । और उस दोष की निवृत्ति का उपाय करना राजादि मनुष्यों का कर्त्तव्य है सो हुआ ही करता है । परन्तु ऐसे साधारण दोषों को देख कर अच्छे २ काम कोई नहीं रोक सकता और न रोकने चाहिये । अर्थात् कोई अयोग्य

चर्मकारादि ब्राह्मणादि के तुल्य पूज्य बनने के लिये यज्ञोपवीतादि चिह्न धारण कर के लोगों को ठगेगा इत्यादि दोषों के कारण द्विज लोग यज्ञोपवीत का धारण करना नहीं छोड़ सकते। ऐसा करें तब तो संसार में ऐसे काम बहुत कम होंगे जिन के होने में किसी प्रकार का दोष वा क्लेश न पड़े। धन के उपार्जन में चोर दस्यु आदि का भय होगा। भोजनादि करने में रोगादि का भय होगा। परन्तु रोगादि के भय से भोजन करने को न कोई छोड़ता तथा न छोड़ेगा। इसी प्रकार चिह्न धारण में दोष आते देख कर यज्ञोपवीतादि को नहीं छोड़ना चाहिये किन्तु उन दोषों को हटाने का वैसा ही उपाय करना चाहिये जैसे रोग की ओषधि करते वा पथ्यरीति से भोजन का सेवन करते हैं।

अब विशेष न बढ़ा कर एक वार्त्ता और लिखना उचित है कि यज्ञोपवीत का सव्य अपसव्य करना क्या है? और किस लिये सव्य अपसव्य का विचार किया गया है? इस का उत्तर यह है कि सव्य नाम वांयां दहिना जनेऊ का धारण करना अर्थात् वांयें कन्धे में डाल कर दहिने बाहू के नीचे से पहनना सव्य कहाता इसी प्रकार से प्रत्येक समय सब लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं। अपसव्य दहिना वांयां धारण करना अर्थात् दहिने कन्धे पर डाल कर वांयें हाथ के नीचे से निकाल देना अपसव्य कहाता है। और केवल कण्ठ में माला के तुल्य धारण करने को निवीत कहते हैं। ये ही यज्ञोपवीत धारण करने के तीन प्रकार हैं इन्हीं तीन प्रकारों से धारण किया जाता है इसी आशय का एक श्लोक मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय में है:—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने॥

इस का अर्थ वही पूर्वोक्त है। अब इस में पहिली बात तो यही है कि जैसे प्रत्येक काम वा वस्तु के अवान्तर भेद वा प्रस्तार वा दशा दिखाने चाहिये कि अमुक काम इस २ प्रकार से हो सकता वा उस के इतने भेद वा प्रस्तार हो सकते हैं। इस प्रकार यथासम्भव प्रायः सभी विद्वान् उस २ वस्तु वा काम के अवान्तर भेद वा अवस्था दिखाते हैं कि जिस से सर्वसाधारण लोग उस की सब दशाओं को जान लेवें। इसी विचार से यज्ञोपवीत धारण के तीन भेद हो सकते हैं जो लिखे अनुसार लोक में भी प्रचरित हैं॥

अब यह बात शेष रही कि विशेष कर पितृकर्मश्राद्धादि में ही क्यों अपसव्य होते हैं ? इस का उत्तर यह है कि यह भी चिह्नधारण करने के सामान्य प्रयोजनों में अवान्तर प्रयोजन है कि जब अपसव्य यज्ञोपवीत को कोई धारण करे हो तब ऊपरी चिह्न से सब कोई जान लेवे कि यह मनुष्य इस समय पितृसम्बन्धी श्राद्धादि कार्य में है । तथा ऋषिकर्म करते समय यज्ञोपवीत कण्ठ में रक्खा जावे । यदि कोई शङ्का करे कि पितृकर्म में सव्य क्यों नहीं रक्खा गया तो जो शङ्का अपसव्य में हुई वही सव्य में हो सकेगी कि अपसव्य क्यों नहीं रक्खा गया ? । तथा अवान्तर भेद भी न रक्खे जावें यह भी ठीक नहीं है । भेद करने का प्रयोजन तो मैंने पूर्व दिखाया ही है । यदि कोई शङ्का करे तो उस को भेद न रखने का प्रयोजन दिखाना चाहिये । इस से उक्त विचार वा पक्ष ठीक है । परन्तु यह कोई कह सकता है कि सव्य अपसव्य का भेद जानने के लिये यज्ञोपवीत वस्त्रों के ऊपर धारण करना चाहिये । सो यह विचार ठीक है इस से कोई विशेष हानि नहीं केवल वस्त्रों के साथ उतारना और बार २ पहनने में काम बढ़ेगा इत्यादि अनेक विवाद और समाधान हैं जिन का अन्त नहीं है । इति ॥

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर गत अङ्क२ पृ० २८ से आगे ॥

सब वेद है तो अंगरेजी आदि से अनेक प्रकार का उत्तम निकृष्ट ज्ञान होता ही है उन का वेद होना कैसे रोको गे ? । जब सभी वेद हैं तो खण्डन मण्डन अब किसी का नहीं हो सकता । यदि कहें कि अच्छी बातें धर्म अर्थ काम मोक्षादि का जिस से ज्ञान हो वह वेद है तो अच्छा सापेक्ष है तुम्हारे ही विचार से जो अच्छा हो वही अच्छा माना जावे यह कब हो सकता है ? । और ज्ञान के हेतु को वेद मानने की दशा में अपने अनुकूल ज्ञान का हेतु किस प्रमाण से सिद्ध करोगे ? । अब हम पं० हरि० जी से कोई पूंछे कि आप ने जो इतिहास पुराणादि को वेद शब्द का वाच्य माना इस में कोई प्रमाण है ? । आज तक ऐसा किसी ने माना और लिखा है ? या आप ही ने मूर्त्तिपूजारूप एक विरुद्ध अनर्थकारी काम को सिद्ध करने के लिये एक मिथ्या बात लिख मारी है ? । तो वैयाकरणखसूचि के समान दशा होगी । अर्थात् यह कोई कभी न सिद्ध कर सकता और न मान सकता है कि इतिहासपुराणादि सब वेद हैं किन्तु सब भिन्न २ माने जाते हैं ॥

यदि वेद शब्द का केवल यौगिकार्थ कर लिया जावे तो धन की प्राप्ति विशेष कर अंगरेजी भाषा के परिश्रम से अधिक होती है इतनी प्राप्ति अन्य किसी भाषा के पढ़ने से नहीं हो सकती तो पं० हरि० जी के मतानुसार अंगरेजी को बड़ा वेद मानना चाहिये ? । इत्यादि अनेक दोष हैं इस लिये इस अंश पर पं० हरि० जी का लिखना सर्वथा विरुद्ध है ॥

इसी प्रकरण में पं० हरि० जी ने इस बात पर भी बल दिया है कि संहितामात्र का नाम वेद नहीं । इस पर अनेक स्मृतियों के अनेक वचन उक्त पं० हरि० जी ने लिख मारे हैं कि जिन को कोई विद्वान् न्यायबुद्धि से देखेगा तो स्पष्ट ही "वदतोव्याघात" सिद्ध हो जायगा अर्थात् जिन पद्यों में वेद, स्मृति और इतिहासादि भिन्न २ नामों से पढ़े हैं उन्हीं से वेदशब्द को सब का वाच्य सिद्ध करना स्पष्ट ही (वदतोव्याघात) अपने कथन को आप ही काटना है । इतिहास पुराणों को हम लोग भी लाक्षणिक अर्थ के अनुसार प्रामाणिक मानते हैं । और यह लाक्षणिकार्थ कुछ हम लोगों का बनावटी नहीं है किन्तु ये पं० हरि० जी आदि भी ऐसा ही मानते हैं—तद्यथा--

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इस का अर्थ भी ऐसा नहीं जिस में किसी का विवाद हो किन्तु जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, वंशों और मन्वन्तरों तथा उन २ वंशों में हुए श्रेष्ठ पुरुषों के आचरणों का वर्णन जिन पुस्तकों में हो वे पुराण कहाते हैं । परन्तु इस उक्त सृष्टि आदि के वर्णन में परस्पर विरोध होगा तो दोनों कदापि सत्य नहीं हो सकेंगे । क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनों में एक ही सत्य ठहरता है । इसी के अनुसार जिन पुस्तकों में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन वेदादि सर्वमान्य श्रेष्ठशास्त्रों के अनुकूल हो वे पुराण निर्विवाद मान्य हो सकते हैं । परन्तु आज कल पं० हरि० आदि लोग जिन को पुराण मानते हैं उन पुस्तकों में उक्त लक्षण ठीक २ नहीं घटता । ये शिवपुराण विष्णुपुराण देवी भागवत आदि एक२ मत की स्तुति और दूसरे मतों की निन्दा वा खण्डन के लिये किन्हीं स्वार्थी लोगों ने बनाये हैं । अर्थात् परस्पर विरुद्ध मतों को प्रचरित करना पुराण के लक्षण में कहीं नहीं लिखा फिर ये लोग ऐसे पुस्तकों को किस लक्षण के अनुसार पुराण मानते हैं ? । हम लोग तो उक्त लक्षण के अनुसार इस समय ब्राह्मण पुस्तकों को पुराण देखते हैं इस कारण उन को पुराण कहते और वे पुराण वेद के अनुकूल होने पर प्रामाणिक हैं । बड़े आश्चर्य की बात है कि ये लोग आप ही जो पुराणों का लक्षण मानते वा कहते हैं उस से ही विरुद्ध पुस्तकों को पुराण मानते हैं । और जो तैत्तिरीयब्राह्मण में (अनन्ता वै वेदाः) लिखा है सो जैसे संहिता पुस्तकों का अन्त है वैसे स्मृति इतिहासादि सब पुस्तकों को वेद मान लिया जावे तो भी अनन्त नहीं हो सकते । यहां पं० हरि० जी से ही पूछना चाहिये कि आप वेदों के पुस्तकों को अनन्त मानते हो तो कहानी वा बारहमासी आदि सहित भी दो चार हजार से अधिक पुस्तकों की संख्या कदापि नहीं निकल सकती । यदि श्लोक वा वाक्यों को अनन्त मानो तो जिन के पुस्तकों की संख्या वा अवधि हो गयी उन के श्लोकादि कदापि अनन्त नहीं हो सकते किन्तु लाखों वा क्रोड़ों हो सकते हैं और संख्या उस से भी आगे दूर तक होती है । इस कारण (अनन्ता वै वेदाः) इस तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्य का

अर्थ पं० हरि० जी नहीं समझे किन्तु उस का अर्थ यह है कि वेद का आशय अनन्त है। वेदों में जो २ विद्या ईश्वर ने रक्खी हैं उन एक २ के विस्तार का भी अन्त नहीं है। जहां तक मनुष्य की बुद्धि चलती है वहां तक विद्यासम्बन्धी विचारों का विस्तार करता जाता है परन्तु उस की अवधि नहीं हो जाती कि इस से आगे विद्या के अंशों को कोई नहीं बढ़ा सकता। वास्तव में यह अर्थ गम्भीराशय होने से विद्वानों को मान्य होगा। और पुस्तकों को कोई भी अनन्त नहीं मानता और न मान सकता है ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारसमीक्षीणेऽष्टमः परिच्छेदः ॥

आगे नवम परिच्छेद में पं० हरि० जी ने अधिक बात कुछ नहीं कहपायी केवल पुराण शब्द पर कुछ व्याकरण वा अन्य ग्रन्थों के आश्रय से लिखा है। सो व्याकरण से तो पुराण शब्द की सिद्धिमात्र हो सकती है। उस से यह कोई नहीं बता सकता कि अमुक २ पुस्तकों का नाम पुराण है फिर आर्यसमाजस्थों को व्याकरणज्ञान से शून्य ठहराना कब सार्थक हुआ ?। क्या जो व्याकरण नहीं जानते वे यदि ब्रह्मवैवर्त्तादि पुस्तकों को आधुनिक मानते हैं तो क्या पं० हरि० जी के अनुयायी सब व्याकरण जानते हैं ?। क्या जो २ महामूर्ख हैं वे भी ब्रह्मवैवर्त्तादि को आधुनिक मानते हैं ?। अर्थात् नहीं, तो यह कहना सर्वथा असंगत है कि व्याकरण न जानने वाले आर्य लोग ब्रह्मवैवर्त्तादि को आधुनिक कहते हैं। यदि पुराण शब्द का विशेषण वाचक होना जैसा कि व्याकरण और निरुक्त से अर्थ निकला है "पुरा नवं भवतीति पुराणम्" पहिले बनते समय जो नवीन हो वह पुराण है वा पुरानाम जो पहिले हो गया वह पुराण है। इसी के अनुसार लोक में पुराण शब्द का अपभ्रंश पुराना है ऐसा पुराण शब्द का अर्थ बनाये हुए ब्रह्मवैवर्त्तादि में नहीं घट सकता किन्तु पूर्व कहे अनुसार ब्राह्मण पुस्तकों को पुराण कह सकते हैं। इस पुराण के विषय पर अभी ऊपर मैं कुछ लिख चुका हूं तथा आर्यसिद्धान्त के प्रथम द्वितीयभाग में महामोहविद्रावण के खण्डनावसर में कुछ विशेष लिखा गया है। इस लिये अब यहां लेख बढ़ाना पिष्टपेषण के तुल्य व्यर्थ होगा। वेदों में पुराणों का नाम प्रथम तो है नहीं और जिन ब्राह्मण वा उपनिषदादि में हो उन का नाम वेद नहीं। और कदाचित् वेद के मूलमन्त्रों में भी कहीं पुराण शब्द आवे तो कुछ आश्चर्य वा दोष नहीं है। क्योंकि पुराण नाम सामान्य कर

पुराने वस्तु का विशेषण है जो २ पुराना होगा उस २ के साथ पुराण शब्द का प्रयोग करेंगे इस से वेद में कोई दोष नहीं है । और "इतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" इस छान्दोग्य के वाक्य का यह आशय है कि द्विजों के पांच सवारों के तुल्य इतिहासपुराण नामक चार ब्राह्मण भी वेद के तुल्य प्रशंसा योग्य हैं । और पांच वेद मानना यह पं० हरि० जी की बहुत बड़ी भूल है क्योंकि वेद शब्द चार संख्या के उपलक्षण में आता है । यदि पांच वेद हों तो पांच संख्या का वाचक भी वेद शब्द होना चाहिये । और पांच वेद कोई विद्वान् नहीं मानता न मानेगा इस से उक्त वाक्य का वही पूर्वोक्त अर्थ ठीक है और लोक में ऐसा बोलने वा लिखने की परिपाटी भी प्रसिद्ध है कि ये तो द्वितीय ईश्वर वा राजा हैं अर्थात् उन के तुल्य प्रशस्त हैं । वैसे यहां भी इतिहास पुराण की प्रशंसा दिखाने के लिये उन को वेद कहा है । आगे पं० हरि० शं० जी ने जितने प्रमाण पुराण वा इतिहास शब्द पर लिखे हैं कि जिन में इतिहास पुराण शब्दमात्र आ गये उन के लिखने में उन को थोड़ा भी विचार नहीं हुआ कि इतिहास पुराण शब्दों के होने का खण्डन ही जब कोई नहीं करता तो उस के लिये इतने कागज़ काले करना व्यर्थ है । यहां विचार तो यह होना चाहिये था कि इतिहास पुराण शब्दों का वाच्यार्थ क्या है ? सो इन के कथन से कुछ भी सिद्ध नहीं हुआ । सब का उत्तर एक वाक्य से हो जाता है कि उन सब प्रमाणों में इतिहास पुराण ब्राह्मण पुस्तकों का नाम है । और पं० हरि- जी ने इतने वचन खोज खाज कर इस लिये लिख मारे हैं कि जिस से हमारी पण्डिताई अधिक प्रसिद्ध हो परन्तु विद्वान् लोगों की शैली गूढ़ विषयों के वास्तविक सिद्धान्त को सरल रीति से दिखाने की है । अधिक असम्बद्ध निष्प्रयोजन कह डालने वा लिख देने मात्र में कुछ पण्डिताई नहीं है । इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारे नवमपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

आगे दशवें परिच्छेद में पं० हरि० जी ने अवतार के विषय में लिखा है कि ब्रह्मवैवर्त्तादि नामक पुराणों से जैसे अवतार माने जाते हैं सो सत्य हैं । इस में प्रथम तो अवतार शब्द को हम आर्य लोग भी अवश्य मानते हो हैं तो उस के वाच्य की और उस शब्द की सत्ता तो सिद्ध ही हो गयी । इस का तो उत्तर देना ही व्यर्थ है । और इतिहासपुराणादि का नाम दिखाने के

समान विष्णु आदि का नाम दिखाना भी निरर्थक है । इस का भी कुछ उत्तर देना व्यर्थ है । अब विचार यह है कि अवतार शब्द का अर्थ क्या है ? तो यही प्रतीत होता है कि जिस को भाषा में उतरना कहते हैं उसी के लिये संस्कृत में अवतार, अवतरण उत्तरण आदि शब्द हैं । सो उतरना दो प्रकार का है । एक तो किसी ऊपर के स्थान छत्त वा पर्वतादि पर चढ़ा हो वहां से उतरना नाम नीचे आना । सो आधुनिक अवतार मानने वाले पौराणिक लोगों का यही आशय है कि हम से ऊपर कहीं आकाश में विष्णु आदि नामक देवता रहते हैं । वहां से उतर कर पृथिवी पर जन्म लेते हैं । और द्वितीय किसी उत्तम दशा वा अधिकार से नीची दशा में आना । यह भी अर्थ इन के पक्ष में घट सकता है परन्तु प्रायः लोग ऐसा नहीं मानते । हमारा अनुमान यही है कि हम इस जगत् को अनादि काल से मानते हैं । और जब मुक्तदशा की भी अवधि अनेक हेतुओं से सिद्ध होती है तो मुक्त जीवात्मा अपनी अवधि तक मुक्तिरूप उत्तमदशा में रह कर संसारस्थ निकृष्ट योनि में जन्म लेते हैं उन का अवतार पहिले लोगों ने कदाचित् इसी आशय से माना हो कि वे उत्तम अधिकार को छोड़ कर उस की अपेक्षा नीचदशारूप मनुष्य योनि में आये । और वे मनुष्ययोनि में आये हुए जीवात्मा मनुष्यों में किसी प्रकार की अद्भुतशक्ति को धारण करने वाले होते हैं इसी कारण सूर्य वा चन्द्रमा के तुल्य उस काल में उन का प्रकाश हो जाता है । और ऐसे मनुष्य जगत् में एक साथ अनेक नहीं होते वा सदा नहीं होते किन्तु जैसे बहुत जन्मों तक अच्छे २ साधनों का सेवन करने से कभी २ किसी २ की मुक्ति होती है वैसे ही क्रम से कभी २ कोई२ जीवात्मा मुक्ति से संसार में आते हैं । उन मनुष्यों के विशेष तेजस्वी होने का मूल कारण यही है कि मुक्ति में उन का स्वरूप सर्वथा निष्कलङ्क रहता है उसी निर्मलता का प्रकाश जन्म होने पर भी उदय होता है तथा योगभ्रष्ट अर्थात् मुक्ति का विशेष साधन करते २ किसी कारण कर्त्तव्य में बाधा पड़ कर मुक्ति को प्राप्त न हुए तो वे भी मनुष्य जन्मान्तर में विशेष तेजस्वी हो जाते हैं । ऐसे तेजस्वी मनुष्यों को लोगों ने अवतार माना होगा ऐसा अनुमान होता है । सो अवतार का अर्थ जगत् में ठीक २ चला आता इतना अन्धेर न फैलता परन्तु अविद्या के बढ़ जाने से मुख्य तात्पर्य छूट कर कुछ का कुछ हो गया अर्थात् उन विशेष तेजस्वी मनुष्यों को लोगों ने परमेश्वर के स्थान में उपास्य इष्ट देव

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ | तारीख १५ दिसंबर पौष संवत् १९४८ | अङ्क ४

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर अङ्क पृ० ४८ से आगे ॥

मान लिया । यदि जन्म लेनामात्र अवतार शब्द का अर्थ माना जाय तो सभी अवतार हैं क्योंकि सभी का जन्म होता है । आकाशादिस्थ अपनी अपेक्षा ऊपर स्वर्गादि से विष्णु आदि देवता नीचे पृथिवी पर उतर कर जन्म लेते हैं यह आधुनिक पौराणिक लोगों का सिद्धान्त है । सो इस में प्रथम तो जिस प्रकार देवयोनि को ये लोग मानते हैं वही साध्य है । कोई लोग देवताओं को सूर्य की किरणों के समान ईश्वर के अंश वा शक्ति मानते हैं सो भी दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि सूर्यादि साकार वस्तु में अंशांशिभाव घट सकता है परन्तु आकाशादि निराकार में नहीं । इसी सन्देह वा दोष को हटाने के लिये आधुनिक वेदान्ती लोग घटाकाश मठाकाश के तुल्य परमेश्वर में कल्पित भेद खड़ा करते हैं और वास्तव में परमेश्वर अखण्ड एकरस नित्य व्यापक मानते हैं । परन्तु वेदान्ती देवता मनुष्यादि सब प्राणियों को घटाकाशादि के तुल्य मानते हैं । इसी रीति पर मानने से मनुष्य और देवतादि में कुछ बड़ा भेद नहीं खड़ा होता जिस से जाति भेद हो जावे । रहा शक्तिभेद सो तो प्रायः मनुष्यों में भी कुछ २ न्यूनाधिक होता ही है । सब मनुष्यों की शक्ति एक सी नहीं होती और पौराणिक लोगों को भी अन्त में आ कर आधुनिक वेदान्तियों

का ही पक्ष लेने पड़ता है। और इस पक्ष में देवता सब कल्पित अर्थात् मिथ्या हैं फिर मिथ्या बात का प्रतिपादन करना और जो देवता योनि वास्तव में कुछ नहीं ठहरती उस का अवतार मानना वन्ध्यापुत्र के विवाह के तुल्य क्यों नहीं हुआ ? यहां तक इतना लेख केवल इस बात पर लिखा है कि ये लोग अवतारशब्द के आनेमात्र से परमात्मा को शरीरधारी मानते हैं सो ठीक नहीं किन्तु अवतारशब्द का अर्थ ऊपर लिखे अनुसार मानना चाहिये और विष्णु आदि परमेश्वर के नाम हैं उन से भी अवतार सिद्ध नहीं हो सकता। हम लोग अवतार और विष्णु आदि शब्दों को बुरा नहीं समझते किन्तु शब्द के अर्थ में केवल विवाद है सो इस में आज कल के प्रचरित पुराण और तदनुकूल कोषादि का प्रमाण अवतारशब्द के अर्थ निर्णय में इस लिये नहीं माना जाता कि वे सब साध्य कोटि में हैं। अर्थात् पुराणादि के अनुसार लोकप्रचार देख कर कोषकारों ने लिखा और पुराणों का जन्म ही मतवाद के झगड़े मता के विरोध फैलाने के लिये हुआ है। पक्के वैष्णव शिव के किसी अवतार को अवतार नहीं मानते और न शैव लोग विष्णु के अवतारों को मानें। ऐसी दशा में किसी का प्रमाण नहीं हो सकता। इस लिये अवतार का अर्थ वही पूर्वोक्त निर्विवाद है और यह प्रचरितार्थ ठीक नहीं है ॥

इस दशम परिच्छेद के प्रारम्भ में पं० हरि० जी ने लिखा है कि अज नाम जन्म न लेने वाले अखण्ड परमेश्वर का अवतार कलियुग में उत्पन्न हुए लोग नहीं मानते और वे लोग (स्वा० दयानन्दादि) अपने शिष्यों को भी अवतार न होने की शिक्षा देते हैं इत्यादि–

इस का उत्तर यह है कि जब आप परमेश्वर को अजन्मा कह चुके फिर उस का अवतार कैसा ? वा जिस का अवतार हुआ वह अजन्मा कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि अवतार का ही नाम जन्म है और पौराणिक लोग राजा रामचन्द्रादि वा श्रीकृष्णचन्द्रादि को संसार में जन्म होने से ही अवतार कहते हैं। सो जो परमेश्वर ने संसार में जन्म लिया तो अजन्मा नहीं रहा और अजन्मा है तो उस का अवतार नहीं कह सकते। इस लिये पूर्वोक्त कथन अपने कहे को आप ही काटनारूप है। द्वितीय कलियुग में उत्पन्न हुए लोग सभी अवतार को नहीं मानते तो पं० हरि० जी क्यों मानते हैं क्या ये

सत्ययुग में उत्पन्न हुए हैं ? और अन्य युगों में उत्पन्न हुए क्या सभी लोग अवतार को मानते थे ? इत्यादि प्रकार इन का लेख सर्वथा अयुक्त वा निर्मूल है ध्यान देने से अन्य भी दोष दीख पड़ेंगे ॥

आगे अवतार न मानने वालों पर प्रश्न करते हैं कि परमेश्वर के अतीन्द्रिय होने से उस में प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं लग सकते तो तुम को उस का ज्ञान ही नहीं हो सकता अर्थात् अवतार मानने पर परमेश्वर प्रत्यक्ष होगा आंखों से देखा जायगा उस को हाथों से पकड़ सकेंगे ॥

उत्तर—इन लोगों को कोई पूछे कि पं० हरि० जी ने वा उन के शिष्यों ने परमेश्वर के कान पूंछ कब और कहां देखे वा पकड़े ? यदि इन लोगों ने प्रत्यक्ष किया हो तो दूसरों को भी दिखावें । यदि कहें कि पहिले अवतार हुए थे तब के लोगों ने देखा होगा हम ने नहीं देखा तो आप को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान भी न होगा फिर अवतार न मानने वालों पर जो दोष लगाते थे वह दोष तुम पर स्वयमेव आ पड़ा । जब सब समय और सब देशों में अवतार बनें रहैं तो सब को प्रत्यक्ष हो सकता है । सो इस समय इन लोगों के कथनानुसार कोई अवतार नहीं है फिर कैसे काम चलेगा ? । और जब वेदादि सब शास्त्रकारों का यही सिद्धान्त है कि परोक्षविषय सभी वेदादि शास्त्ररूप शब्दप्रमाण द्वारा जाने जाते हैं सो उसी के अनुसार परमेश्वर का भी ज्ञान हो सकेगा । वेदान्ती लोग भी ऐसा ही मानते हैं कि "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं व्याख्यास्यामः" इत्यादि वाक्यों का स्पष्ट अर्थ यही है कि पुरुषनाम परमेश्वर उपनिषद् नामक पुस्तकों से जानने योग्य वा प्रतिपाद्य है । शङ्करस्वामी आदि किसी वेदान्ती ने आज तक नहीं लिखा कि अवतार होने से परमेश्वर का ज्ञान होता वा हो सकता है किन्तु सब ने ईश्वर को वेदैकवेद्य [केवल एक वेद से ही जानने योग्य] माना है । जब परमेश्वर के जानने को शब्द प्रमाण सर्वसम्मत है तो फिर सक्त तर्क कदापि उपयोगी नहीं । रहा अवतार सो उस के लिये वेद वा उपनिषदादि शिष्टसम्मत किसी पुस्तक में परमात्मा का शरीरधारण करना नहीं लिखा यह केवल पं० हरि० जी को भ्रम है ॥

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे नमो वृद्धाय च सवृधे च०

य० अ० १६ मन्त्र ३० इत्यादि मन्त्रों से छोटे बड़े बौने आदि परमेश्वर के अवतार मानते हैं। आश्चर्य का स्थान है कि ऊपर के मन्त्र में न तो अवतार शब्द आया न परमेश्वर का कोई नाम है न कुछ प्रकरण है कि ये परमेश्वर के अवतार हैं वा परमेश्वर ह्रस्वादिरूपधारण करता है। तो फिर ऐसे प्रमाण से कोई बुद्धिमान् परमात्मा का अवतार कैसे मान लेगा? हां जिन को वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त ज्ञात नहीं और स्वयं भी कुछ विचार सकने की शक्ति नहीं रखते वे लोग भले ही मान लेवें। मन्त्र का सीधा २ अर्थ यह है कि "बालक, बौने, बड़े, अतिवृद्ध, बढ़े हुए और अपने साथ बढ़ने वाले आदि के लिये नमस्कार सत्कार वा अन्न प्राप्त हो। इस अर्थ से अवतार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं आया। और इस अध्याय में जितने चतुर्थ्यन्त नाम आये हैं उन सब को अवतार माना जावे तो चोर, डाकू, कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदि को भी परमेश्वर मान के नमस्कार करना चाहिये। यदि कहें कि यह तो इष्ट है कि परमेश्वर सर्वरूप होना ही चाहिये क्योंकि पौराणिक लोग मच्छी कच्छुआ सुअर आदि को परमेश्वर का रूप मानते ही हैं। परन्तु आज कल मच्छी कच्छुए आदि को जहां २ मिलें तब २ नमस्कार नहीं करते और इस वेद की आज्ञानुसार करना चाहिये। और जब परमेश्वर को सर्वरूप मानो तो गिनती करना नहीं बन सकता किन्तु ऐसा कह देने से पूरा काम निकल जायगा कि (सर्वरूपाय परमात्मने नमः) सर्वरूपधारण करने वाले परमेश्वर को नमस्कार है। यदि गणना कर कर नमस्कार करते जावें तो एक अध्याय क्या किन्तु चालीशों अध्याय से भी प्रत्येक जीव जन्तु को नमस्कार का कथन पूरा नहीं हो सकता। इत्यादि कारणों से उक्त मन्त्र का अर्थ जो पं० हरि० जी आदि समझते हैं सो ठीक नहीं है किन्तु उस मन्त्र का अभिप्राय यही है कि छोटे बड़े आदि सब का अच्छे प्रकार मनुष्य को सत्कार करना चाहिये॥ आगे

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्॥
समूढमस्य पांसुरे॥ यजु० अ०५ मं० १५॥

इस मन्त्र से पं० हरि० जी वामनावतार सिद्ध करते हैं कि "विष्णु ने वामनावतार धारण कर पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग में अग्नि वायु और सूर्य

सत्यार्थविवेक का उत्तर गत अङ्क पृ० ३६ से आगे ॥

ठीक नहीं बनता क्योंकि जब न, का अर्थ उपमा हो गया तो यह आशय निकला कि जैसे शरीर को आत्मा, स्त्री आदि को अपना, मट्टी पत्थरादि से बनी मूर्त्तियों को पूज्य और गङ्गादि नदियों के जल को तीर्थ मानता है वैसे अभिज्ञजनों को आत्मा, अपना पूज्य और तीर्थ कदाचित् माने तो वही गर्दभ गधा है क्योंकि इस श्लोक में न एक ही है। वह उपमार्थ हो गया तो निषेधार्थ अब हो ही नहीं सकता। इस से शास्त्रमर्यादा के अनुसार साधुसिंह जी के कथन में बड़ा दोष आता है अर्थात् पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन और महात्मा जनों में तीर्थ बुद्धि रखने वाले दोनों ही दूषित ठहरते हैं। इस लिये यह अर्थ विद्वानों के विचार से विपरीत है। और इस का वास्तविक अर्थ यह है कि—

वात पित्त और श्लेष्मा इन तीन धातुओं से जिस की स्थिति है ऐसे जड़ शरीर में आत्मबुद्धि कि यही साढ़े तीन हाथ का मैं हूं। स्त्री पुत्रादि में जिस की स्वत्व बुद्धि कि ये मेरे हैं। भूमि के विकार मट्टी पत्थर लकड़ी सोना चांदी पित्तलादि से बनी मूर्त्तियों वा प्रतिकृतियों में जिस की पूज्य बुद्धि कि ये मेरे पूज्य इष्टदेव हैं और जल में जिस की तीर्थबुद्धि कि अमुक २ स्थल के स्नान दर्शनादि से हम तर जांयगे। और विद्वान् सज्जन सर्वज्ञ धर्मिष्ठों में जिन की पूज्य वा तीर्थ बुद्धि नहीं ऐसे मनुष्य गर्दभ हैं। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य शरीर को आत्मा और स्त्री पुत्रादि को अपना तथा मट्टी पत्थरादि को पूज्य और जल को तीर्थ समझने के साथ ही विद्वानों में भी वैसी बुद्धि रक्खे यह बन नहीं सकता एक मनुष्य परस्पर विरुद्ध दो मार्गों में नहीं चल सकता। क्योंकि जो विद्वानों को पूज्य मानेगा उस को उन के सत्संग से कुछ ज्ञान होना अवश्य सम्भव है जिस को ज्ञान होगा वह अज्ञान से होने वाले शरीर को आत्मा समझने आदि में कदापि नहीं ठहर सकता। और जो विद्वानों के सत्संग से रहित होगा तथा मट्टी पत्थरादि की पूजा में लगा रहेगा उस को ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं। धनी की सेवा कोई धनार्थी करे तो वहां से धनी की प्रसन्नता होने पर धन मिल सकता है और विद्यार्थी विद्वान् की सेवा करे तो उस को वहां से विद्या मिल सकती है। परन्तु यह नहीं हो सकता कि

विद्यार्थी धनी की सेवा करे और धनार्थी विद्वान् की सेवा करे तो उन को विद्या और धन मिल सकें । प्रयोजन यह है कि मनुष्य के कल्याण होने और दुःखों से छूटने का मुख्य कारण ज्ञान है वह मिट्टी पत्थरादि वा जलादि में नहीं क्योंकि वे जड़ हैं और विद्वान् के पास वही बड़ा धन है इस कारण विद्वान् से ज्ञान मिल सकता और मूर्त्तिपूजा वा तीर्थादि से कदापि किसी को ज्ञान नहीं हुआ न हो सकता है ॥

और साधुसिंह जी का यह विचार हो कि अभिज्ञ करके मूर्ख वा विद्वान् साधु संन्यासीमात्र के दर्शन का पुण्य है किन्तु गृहस्थ का नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि लक्कड़दास निरक्षरभट्टाचार्य साधुनामी के दर्शन से पुण्य वा ज्ञान हो तो निर्धन से धन मिलने के समान हुआ सो असम्भव है । विद्वान् लोग ध्यान दें कि भागवत के उक्त श्लोक में स्वार्थसिद्धि के लिये साधुसिंह ने कैसा गड़बड़ किया है ।

मैं ने साधारण तर्क हो सकने योग्य विषय भी छोड़ दिये हैं क्योंकि ऐसे पर भी विशेष लिखने से पुस्तक बहुत बढ़ जाता । अब एक बात साधुसिंह की और देखिये:—विद्वान् लोग ऐसा देख कर अवश्य घृणा करेंगे । श्रीमद्भागवत का ही यह भी श्लोक है—

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम् ।
प्रणमेद् दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥

अर्थ—भगवत् भक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं । जो कि ईश्वर ही स्वयं भगवान् ऐश्वर्य्यसम्पन्न जीवकला कर के चराचर में प्रविष्ट है इस वास्ते श्वान चाण्डाल और गोखर गधापर्य्यन्त सब को भूमि में दण्डवत् प्रणाम करे भगवत् रूप जान कर इत्यादि ॥

समीक्षक—इस का अभिप्राय विद्वान् लोग तो सहज स्वभाव से ही जानते होंगे । पर तो भी सब कोई जान सकें इस लिये लिखता हूं । ईश्वर जीव बन का सब में प्रविष्ट हुआ है इस लिये वैष्णव लोगों को चाहिये कि लकड़ी के समान पृथिवी पर पसर के कुत्ता भंगी मेहतर और गधापर्य्यन्त को नमस्कार किया करें । अर्थात् कुत्ता गधा को भी साक्षात् भगवान् समझें और दण्डवत् प्रणाम करें । इस पर हम को कुछ अधिक लिखना आवश्यक नहीं किन्तु इस श्लोक और ग्रन्थ को प्रामाणिक मानने वाले महाशयों को उचित है कि वे

कुत्ता, चाण्डाल और गधे को जब २ जहां २ मिले दण्डवत् करें परन्तु हमने आज तक ऐसा किसी को करते नहीं देखा । यदि साधुसिंह इस कथन का प्रमाण मानते हैं तो उन को भी ऐसा करना चाहिये और नहीं करते तो प्रमाण भी नहीं मानना सिद्ध है । आज तक जितने मत हैं उन में कोई भी ऐसा आचरण नहीं करता कि कुत्तादि को ईश्वर मान कर दण्डवत् करे । यदि ईश्वर ही जीवरूप से सब प्राणियों में प्रविष्ट है इस कारण सब को नमस्कार करना चाहिये तो वैष्णव लोग अपने मत के विरोधी वा शत्रुओं को भी दण्डवत् प्रणाम क्यों नहीं करते ? । जब एक ही ईश्वर अनेक जीवरूप बन के सब प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हुआ है तो फिर उन में शत्रु मित्र और मत भेद क्यों चला ? इस का कारण क्या है ? इस पर ऐसी अनेक शङ्का हो सकती हैं जिन को लिखना व्यर्थ है ॥

हम प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि सत्यार्थविवेक की प्रत्येक बात पर नहीं लिखेंगे विशेष कर वेदमन्त्रों का प्रमाण देकर किसी पक्ष की सिद्धि की होगी वहां और कुछ २ अन्य विशेष युक्तियों पर वा किसी प्रमाण पर संक्षेप से लिखेंगे । अब इन की भूमिका अनुभूमिका पर और कुछ लिखना आवश्यक नहीं है ॥

आगे पूर्वार्द्ध में साधुसिंह ने मोक्ष के विषय में अनेक उपनिषद् वा योगसूत्रादि के वाक्य प्रमाण में लिखे हैं जिन में अनेक बातें तो सर्वतन्त्रप्रमाणानुकूल हैं उन को लिख कर पोथा बढ़ाना केवल पण्डिताई दिखाने के लिये है उस का कुछ उत्तर देना ही नहीं द्वितीय कहीं २ साधुसिंह जी के लेख में साधारण विरोध है वहां भी लिखना आवश्यक नहीं । इस विषय में दो बातों में अधिक विरोध है—एक तो ये लोग संसार को मिथ्या कल्पित मानते और हम आर्य लोग जगत् को प्रवाह से अनादि मानते हैं । द्वितीय ब्रह्म से भिन्न जीव कुछ नहीं यह इन नवीन वेदान्तियों का मत है और हम लोग ब्रह्म—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को अनादि सिद्ध उपास्य इष्टदेव मानते और अपने को उस का भृत्यवत् सेवक उस से भिन्न मानते हैं । यदि हम परमेश्वर से भिन्न कुछ न हों तो न वह हमारा उपास्य हो सके और न हम सेवक हो सकें इस से एक प्रकार की नास्तिकता और कृतघ्नता आजाती है इत्यादि अनेक दोषों को देख कर शिष्ट विद्वान् लोग परमात्मा और जीवात्मा को भिन्न २

मानते हैं । द्वितीय जब सब जगत् मिथ्या है तो उसी के अन्तर्गत होने से इन साधुसिंहादि का कहना सुनना पुस्तकादि में लिखना और उन का शरीर मन बुद्धि वाणी लेखनी हाथ आदि भी सब मिथ्या हो गया । जब सब को मिथ्या ठहराने वाला स्वयं मिथ्या हो गया तो सब मिथ्या नहीं रहा । जैसे कोई मनुष्य न्यायाधीश के सामने किसी की चोरी करना सिद्ध करने का उद्योग करे और न्यायाधीश को उस के व्याख्यान से उस का मिथ्यावादी होना सिद्ध हो जावे तो जिस को वह चोर ठहराना चाहता था उस को न्यायाधीश कदापि चोर न मानेगा । इस से सिद्ध हुआ कि जगत् को मिथ्या ठहराने वाले का कथन ही मिथ्या हो गया तो जगत् मिथ्या न ठहरा किन्तु सत्य बना रहा । इत्यादि प्रकार इन दोनों विषयों में इन लोगों का कथन सर्वथा युक्ति शून्य है इसी लिये इस पर विशेष कुछ लिखना आवश्यक नहीं है । और इस समय हम लोगों को मुक्ति अभीष्ट भी नहीं न होनी चाहिये न हम मुक्ति के योग्य हैं । क्योंकि जब हम संसारी उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुंच जावें संसार में अपना सब कर्त्तव्य कर चुकें तब मुक्ति के विचार करने योग्य हो सकते हैं । इस लिये हम को अभी पहिले कर्मों में नियमपूर्वक बद्ध होने की चेष्टा करनी चाहिये जब बद्ध हो लें तब मुक्ति चाहें जिस का बन्ध ही नहीं उस की मुक्ति किस से होगी ? जिस ने ग्रहण नहीं किया वह त्याग किस का करेगा ? । इत्यादि विचार से इस विषय पर हम अधिक शङ्का समाधान कुछ नहीं लिखेंगे तथापि साधुसिंह ने उपनिषदादि के वचनों से जहां २ उक्त दो बातों की पुष्टि की होगी वहां २ हम कुछ २ लिखेंगे । जब यह बात सिद्ध हो जायगी कि जीवात्मा परमेश्वर से भिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् वा उपासक है और परमात्मा में अंशांशिभाव नहीं है क्योंकि वह अखण्ड एकरस विभु वा व्यापक कहाता है इस से जीवात्मा जब उस का अंश नहीं तो मुक्तिदशा में मिल भी नहीं सकता फिर इस पर विवाद करना व्यर्थ है कि मुक्ति में कैसे रहता है ? । ये लोग ब्रह्म में जीव का लय हो जाना मानते हैं जैसे कि पानी का बूंद समुद्र में मिल गया ज्योति ज्योति में मिल गया । इत्यादि सो यह सब साकार में घट सकता है किन्तु निराकार ब्रह्म में यह कुछ नहीं घटता । उस में मिल जाना वा उस से पृथक हो जाना ये दोनों ही बातें ठीक नहीं ॥

काशीपुरस्थ एक महाशय के भेजे प्रश्नों के उत्तर ॥

हमारे पास काशीपुर आर्यसमाज के एक महाशय के भेजे चार पांच प्रश्न बहुत दिनों से आये पड़े थे। यद्यपि ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर हम को अपनी प्रतिज्ञानुसार नहीं देना चाहिये क्योंकि यह पहिले प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि साधारण प्रश्नों पर हम कुछ नहीं लिखेंगे किन्तु वेदमन्त्रों में जो शङ्का होंगी उन्हीं पर प्रायः लिखेंगे सो यही सङ्कल्प अब भी दृढ़ होता जाता है। तथापि इन प्रश्नों का उत्तर देना स्वीकार कर लिया था इस लिये यहां संक्षेप से उत्तर देता हूं। आगे कोई महाशय ऐसे प्रश्न मेरे पास न भेजा करें ऐसे प्रश्नों के उत्तरदाता समाजों में अनेक महाशय हैं। और ये प्रश्न कुछ विशेष उपयोगी वा कठिन भी नहीं। इस समय हम को अपने कर्त्तव्य के विषय में प्रश्नोत्तर करने चाहिये कि किस रीति से हमारे देश वा मनुष्यसमुदाय का कल्याण हो सकता है ?। अस्तु जो हो अब हम संक्षेप से प्रश्नों का उत्तर लिखते हैं—

(प्रश्न १) कर्म्मकर्त्ता तथा फलभोक्ता शरीर है वा आत्मा, यदि शरीर है तो आत्मा से भिन्न किसी अन्य ईश्वर के मानने की क्या आवश्यकता है ?। क्योंकि निष्कर्म और साक्षीमात्र परब्रह्म है जब कि शरीर ही कर्त्ता भोक्ता है तो आत्मा स्वयं ही निष्कर्म सिद्ध हुआ, अतएव इस दशा में आत्मा और परमात्मा को भिन्न २ मानना अनुचित है, और यदि आत्मा कर्त्ता भोक्ता है तो जो २ इन्द्रिय नष्ट हो जाते हैं वा जिस सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण भी लय हो जाता है उस दशा में आत्मा उन २ के विषयों का कर्त्ता भोक्ता क्यों नहीं विदित होता ? यदि कहो कि वे विषय उन्हीं इन्द्रियादिकों के धर्म हैं तो इस से आत्मा स्पष्ट अकर्त्ता सिद्ध होता है क्योंकि इन्द्रिय और अन्तःकरण के धर्म्म के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई कर्म विदित नहीं होता जिस को कि आत्मा करे अतएव इस विषय में यथार्थ रीति पर समाधान करना ॥

(उत्तर १) कर्मकर्त्ता वा फलभोक्ता यद्यपि शरीर नहीं माना जाता किन्तु आत्मा माना जाता है और स्पष्ट कर न्यायसूत्र के वात्स्यायनभाष्य में लिखा भी है। अ० १ आह्निक १ सूत्र ९—

तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः, सर्वानुभावी तस्य भोगायतनं शरीरम्। भोगसाधनानीन्द्रियाणि भोक्तव्या इन्द्रियार्था भोगो बुद्धिः ॥

शरीर में जो आत्मा है वह सब का द्रष्टा सब विषयों का भोक्ता सब विषयों का ज्ञाता और सब का अनुभव करने वाला है। उस के भोग करने का स्थान वा आधार शरीर है भोग के साधन इन्द्रिय हैं और भोग के योग्य शब्दादि विषय तथा भोग नाम बुद्धि का है कि जिस समय वा जिस काम में बुद्धि सुख मान रही वा सुखरूप है वही सुखभोग और दुःखभोग जानो। यद्यपि यहां आत्मा को कर्त्ता नहीं कहा केवल सुख दुःख का भोक्ता कहा है पर जो भोक्ता है वही कर्त्ता स्वयमेव सिद्ध हो गया। भोगना भी एक क्रिया है उस भोग का कर्त्ता भोक्ता कहाता है। कर्त्ता एक सामान्य पद है भोक्ता विशेष है। जब आत्मा सामान्य क्रियाओं का कर्त्ता है तो सामान्य फलभोक्ता माना जावेगा और जब विशेष किसी निज कर्म का कर्त्ता कहा जावेगा तब विशेष फल का भोक्ता होगा। इस पूर्वोक्त प्रमाण से आत्मा का कर्त्ता भोक्ता होना सिद्ध हुआ। और कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली में भी स्पष्ट लिखा है कि—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

अर्थात् मन को वश में करने वाले विद्वान् लोग शरीर इन्द्रिय और मन करके युक्त जीवात्मा को शुभाशुभ कर्मफलों का भोक्ता है ऐसा कहते हैं। इस से भी आत्मा का भोक्ता होना सिद्ध हो गया। परन्तु जैसे लोक में अनेक वस्तुओं के संयोग से होने वाले काम को एक नहीं कर सकता—अर्थात् प्रत्येक काम के सिद्ध होने वा करने में कर्त्ता, कर्म, करण सम्प्रदान और अधिकरण आदि कई कारक मिल के कार्यसिद्ध करते हैं इसी लिये उन सब का नाम कारक पड़ता है वे सब उस के एक २ अंग को सिद्ध करने वाले होते हैं—रोटी करते समय पकाने वाला स्वतन्त्र होने से कर्त्ता कहाता वह न हो वा न करे तो रोटी नहीं हो सकती। दाल आटा चावल आदि कर्म हैं वे न हों तो किस को पकावे? अग्नि वा काष्ठ आदि साधन हैं उन के विना किस से पकावे? बटलोई आदि आधार है उस के विना किस में पकावे? क्षुधा की निवृत्ति करना प्रयोजन है वह न हो तो किस लिये पकावे?। तथा अनेक टुकड़े मिल के गाड़ी चलती है उस में एक २ बड़े हिस्से के न होने पर गाड़ी नहीं चल सकती परन्तु वहां भी पकाने और गाड़ी का चलाने वाला ही स्वतन्त्र होने से मुख्य कर्त्ता माना जाता है वह चाहे तो अन्य सामान्य साधनों के

न होने पर भी कार्य कर सकता और वह न चाहे तो सब अङ्गों के ठीक होने पर भी काम नहीं हो सकता। परन्तु मुख्य सामग्री के बिना एक कर्त्ता भी कुछ नहीं कर सकता इसी विचार से वात्स्यायनभाष्यरूप न्याय में स्पष्ट लिखा है कि—

"नाशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति"

शरीर रहित जीवात्मा को किसी प्रकार का सुख दुःख भोग नहीं होता। इसी कारण शुभ अशुभ कर्मों का सुख दुःखरूप फलभोगने के लिये वार २ शरीर धारण करता है। इस सामान्य विचार से सिद्ध होगया कि आत्मा कर्त्ता भोक्ता है। अब यह शङ्का तुच्छ है कि इन्द्रियों के नष्ट होने वा सुषुप्ति समाधि आदि दशा में आत्मा को भोग क्यों नहीं होता इस का उत्तर यही है कि अग्नि के विना रसोइया रोटी क्यों नहीं पका लेता? । और अग्नि के बिना रोटी नहीं पका सकता तो उस पाचक को कोई अकर्त्ता अभोक्ता नहीं ठहरा सकता ॥

अब इस अंश पर एक और विचार यह है कि कोई २ सांख्यादि शास्त्र के कर्त्ता वा ज्ञाता विद्वान् लोग आत्मा को अकर्त्ता अभोक्ता भी मानते हैं जैसे भगवद्गीता के तृतीयाध्याय में भी लिखा है कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ १ ॥
प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम्।
प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥

इत्यादि इसी आशय के अनेक वचन मिलते हैं। सो यह बात भी केवल कल्पनामात्र नहीं है किन्तु इस अभिप्राय के सांख्य सूत्र भी प्रकट मिलते हैं। यदि इस का अधिक विवेचन किया जाय तो सूक्ष्मता बढ़ जाने से अधिक लेख करने पड़े और सर्वसाधारण को समझना कठिन हो जावे। इस लिये संक्षेप और सुगमता से इस का अभिप्राय यह है कि व्याकरण में जैसे प्रयोजक कर्त्ता की अपेक्षा प्रयोज्य कर्त्ता पराधीन माना जाता है। प्रयोज्य कर्त्ता में क्रिया रहती और प्रयोज्य कर्त्ता ही कर्म करता है और प्रयोजक केवल प्रेरणामात्र करता है कर्म वा क्रिया कुछ नहीं करता तथापि वह मुख्य वा प्रधान कर्त्ता माना जाता है। प्रयोज्य प्रयोजक सम्बन्ध जड़ २ में चेतन २ में और जड़ चेतन में भी परस्पर रहता है। वायु की प्रेरणा से अग्नि जलता है यहां जड़ अग्नि

का प्रयोजक जड़ वायु है। चैत्र को मैत्र भेजता है यहां चेतन का प्रयोजक चेतन। सूर्य की वा शब्द की प्रेरणा से जागता है यहां चेतन का प्रयोजक जड़ है और देवदत्त लकड़ी को चलाता है यहां जड़ का प्रयोजक चेतन है। इसी प्रकार यहां भी अभेद विचार में तो जड़ चेतन वा प्रकृति पुरुष का संयोग चेतनता विशिष्ट शरीर ही सब काम कर रहा है! जब भेद पूर्वक विचार किया जाय तो हाथ पांव आदि शरीर के अवयव सब काम प्रत्यक्ष में करते हैं परन्तु चेतन आत्मा काम कराता और वही सुख दुःख वा हानि लाभ का भागी होता है। केवल शरीर वा प्रकृति भी ज्ञानपूर्वक काम नहीं करती ऐसा हो तो मुर्दा शरीर भी काम करे। केवल आत्मा भी काम नहीं कर सकता ऐसा हो तो शरीरधारण किये बिना केवल आत्मा काम करे। सो प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है और इस पक्ष में शरीरधारण करना निरर्थक हो जावे इस से सिद्ध हुआ कि जड़ चेतन का समुदाय ही कर्त्ता भोक्ता है क्रिया स्थूल में रहती है। ज्ञानपूर्वक हाथ पांव आदि को चलता देख कर हम जानते हैं कि यह कर्म करता है इस से प्रत्यक्ष में हाथ पांव काम करते हैं। ऊपर को फेंकना नीचे को फेंकना, सिकोड़ना, पसारना वा चलना फिरना यह पांच प्रकार की क्रिया मुख्य है इस का करने वाला शरीर है परन्तु शरीर के प्रयोज्य वा गौण होने से अनेक लोगों ने उस को कर्त्ता नहीं माना। और शरीर ही में क्रिया होने से तथा आत्मा के अदृश्य होने से बहुतों ने शरीर को ही प्रत्यक्षकर्त्ता माना है। और प्रत्यक्ष में जड़ चेतन का समुदाय ही कर्त्ता है सो जीवात्मा प्रयोजक और अधिष्ठाता होने से तथा फल वा परिणाम का स्वामी होने से कर्त्ता भोक्ता कहाता है यह ठीक है और उक्त प्रकार शरीर का कर्त्ता होना भी ठीक है केवल बुद्धि के ठीक न होने से हम लोगों को भ्रम होता है इस प्रश्न पर लेख बढ़ाया जावे तो सांख्यादि शास्त्रों का बहुत विस्तार लिखने पड़े इस लिये अब समाप्त करते हैं ॥

(प्रश्न२)--सद्ग्रन्थों में मुमुक्षु के लिये विशेष कर निष्काम कर्मों के करने का विधान पाया जाता है इस का क्या कारण है, यदि इस अभिप्राय से हो कि सकाम कर्म प्रारब्धरूप हो कर पुनः जन्मदाता होते हैं और निष्काम नहीं, तो ऐसा मानने पर प्रथम तो मोक्ष से अपुनरावृत्ति सिद्ध होती है दूसरे निष्कामता से व्यभिचारादिक कर्म किये जांय तो फल होगा वा नहीं? इस लिये सकाम कर्म ही किये जांय तो क्या हानि है जो कहो कि निष्काम कर्म करने

से यह प्रयोजन है कि अन्तःकरण कर्मों की वासना से छूट कर शुद्ध हो जायगा तो यहां फिर वही प्रश्न हो सकता है कि मुक्ति के पश्चात् जब कि कर्मवासना भी क्षय हो गई तो जन्म किस के अनुसार होगा ? ॥

(उत्तर २) मुमुक्षु के लिये शास्त्रों में निष्काम कर्म इस लिये दिखाये गये हैं कि वह ठीक २ पक्का मुमुक्षु बन जावे अर्थात् मुक्ति का पूर्ण अधिकारी हो जावे। जब तक उस के चित्त में किसी प्रकार की संसारी लौकिक सुख भोगने की वासना लगी रहेगी तब तक न तो वह पूरा अधिकारी है और न जन्ममरण के प्रवाह से निकल कर उस की मुक्ति हो सके इस लिये उस को निष्काम कर्म करना चाहिये चित्त की वासना ही मनुष्य को जन्मधारण करा के वैसे २ फल भुगाती है। सकाम कर्म करने वाला कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। रही अपुनरावृत्ति कि फिर सदा के लिये मुक्ति माननी पड़ेगी सो यदि मुक्ति को कर्मों का फल न मानें और स्वामी शङ्कराचार्यादि के समान जीव ब्रह्म की वास्तविक एकता मानें तो यह दोष आ सकता है। और जब मुक्ति को कर्मों का फल मानते हैं तो मनुष्य के कर्म अनवधिक (बेहद्द) नहीं हो सकते जिस से अपुनरावृत्ति सिद्ध हो। सकाम का अभिप्राय यह है कि संसारी धन पुत्र स्त्री मित्रादि के सम्बन्ध से होने वाले सुखभोग की वासना बनी रहे वह सकाम कर्म और जिस में वैसी वासना न रहे वह निष्काम है। मुक्ति की इच्छा तो उस को अवश्य माननी पड़ती है तभी वह मुमक्षु कहाता है। परन्तु सुखभोग की उत्कण्ठा वहां भी अपेक्षित नहीं इस पर वात्स्यायनभाष्य में अ० १ आह्निक १ सू० २२ पर लिखा है कि-

नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्। यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेन्नाधिगन्तुमर्हतीति बन्धसमाज्ञातो हि रागः। इत्यादि ॥

भावार्थः-अभिप्राय यह है कि जिस को संसारी थोड़े काल के लिये मिलने वाले सुख की अपेक्षा मुक्ति में नित्य सुख भोगने की उत्कण्ठा बनी है उस की मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उत्कण्ठा प्रीति स्नेह वा चिकनाई ही बन्धन का हेतु है। जैसे चिकनी मट्टी का ही पिण्ड बन सकता है वही मट्टी स्नेहयुक्त

होने से घटादि के बनाने में कूटी पीटी जाती है। और बालू मट्टी में चिकनायी वा स्नेह नहीं होता इसी से वह बन्धन में नहीं आती उस का पिण्ड भी नहीं बनता उस में सदा मुक्ति वा छूटना विद्यमान है। तिलादि वस्तु जिन में चिकनाहट अधिक है वे उसी स्नेह के कारण पेरे जाते हैं। वैसे ही जिस पुरुष की किसी विषयसुखभोगादि में प्रीति लगी है वही बन्धन का अर्थात् मुक्ति न होने का कारण है। मोक्ष में मुझ को नित्य सुख प्राप्त होगा इस प्रकार की इच्छा वा उत्कण्ठा से जो पुरुष मुक्ति के लिये उपाय करता है वह मोक्ष को प्राप्त होने योग्य नहीं है क्योंकि राग का बना रहना ही बन्धन का मूल है और बन्धन के बने रहते कोई मुक्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिस को नित्य सुखभोगने की उत्कण्ठा नहीं रही सर्वथा नष्ट हो गयी उस की मुक्ति होने में बाधा नहीं होगी। इस दशा में मुक्त पुरुष को जो कुछ सुख प्राप्त हो वा न हो दोनों पक्ष में मोक्ष होने का विकल्प नहीं है। प्रयोजन यह है कि मुक्तिनाम छूटने वा पृथक् होने वा सब से उदासीन होने का है सो जब तक रागादि बन्धन बना रहेगा तब तक मुक्त कोई नहीं कहा जा सकता। बन्धन और मुक्ति दोनों शब्द का अर्थ भिन्न २ है। यदि मनुष्य सकाम कर्म करेगा तो बन्धनरूप राग उस में सिद्ध हो गया फिर उस का जन्ममरण के प्रवाह से छूटना दुस्तर है॥

रहा व्यभिचारादि कर्म सो निष्काम मनुष्य से हो ही नहीं सकता अर्थात् मैथुन की इच्छा जब तक मन से उत्पन्न नहीं होती तब तक वह काम केवल शरीर से कदापि नहीं हो सकता। परन्तु सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्म किसी फल प्राप्ति की इच्छा न रख के केवल ईश्वर की आज्ञापालन करने मात्र की इच्छा से हो सकते हैं। जब मनुष्य मुक्ति की इच्छा से परमार्थ की ओर झुकता है तभी उस को व्यभिचारादि सब काम छोड़ देने पड़ते हैं। जब तक व्यभिचारादि काम नहीं छूटते तब तक वह मुक्ति का विचार भी नहीं कर सकता। इन दोनों में दिन रात कासा विरोध है। जिस घर में दीपक जल गया वहां फिर अन्धकार का प्रवेश नहीं हो सकता व्यभिचारादि में फँसे रहना रात्रि के तुल्य अन्धकार है जब तक मनुष्य उस अन्धकार में पड़ा रहता है तब तक उस को मुक्ति वा ईश्वर ज्ञान के उपाय करने का स्वप्न भी नहीं होता। इसी के अनुसार कठोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जिस को बुरे आचरण व्यभिचारादि से घृणा नहीं हुई जो विषयभोग की लम्पटता से शान्त नहीं हुआ जिस के सन्देह नहीं मिटे जिस के मन में

सन्तोष नहीं आया किन्तु केवल तर्क वितर्क करना जानता है वह परमेश्वर की ओर वा मुक्ति की ओर झुकने योग्य नहीं है। इत्यादि कथन से सिद्ध है कि मुमुक्षु पुरुष कदापि व्यभिचारादि बुरे कर्म नहीं कर सकता और यदि करता है तो कदापि मुमुक्षु कहा वा माना नहीं जा सकता। मुक्ति होते समय मनुष्य की कर्मवासना ऐसी सूक्ष्म रह जाती है जिस को न रहना ही कह सकते हैं। परन्तु प्रतिपक्षी के न रहने पर वही दबी रहने वाली वासना उघड़ सकती है। और मुक्तिदशा में वह कुछ हानि नहीं पहुंचा सकती॥

(प्रश्न ३)–प्रलय होता है वा नहीं यदि होता है तो क्या सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं और आकाश की क्या दशा होती है क्योंकि अवकाश से भिन्न अन्य आकाश कोई विदित नहीं होता जब कि इस का भी प्रलय हो जाय गा तो अदृश्य वस्तु किस में स्थिर रहेंगे तथा प्रलय के होने में युक्ति प्रमाण क्या है॥?

(उत्तर ३)–प्रलय अवश्य होता है और प्रलयनाम नाश का है। जो मनुष्य किसी वस्तु की उत्पत्ति मानता है उस को उस का प्रलय अवश्य मानना पड़ेगा। संसार में जो पदार्थ उत्पत्ति धर्म वाले दीखते हैं वे स्वयं प्रलय सिद्ध कर रहे हैं। प्रलय का प्रत्यक्ष दृष्टान्त रात्रि है और दिन रचना का दृष्टान्त है। इसी विचार से ग्रन्थकारों ने रचना हो कर सृष्टि की विद्यमान दशा का नाम ब्राह्मदिन और प्रलय का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। जैसे रात्रि में अन्धकार छा जाता और अपने २ कर्मों से सब निवृत्त हो कर सो जाते हैं वैसे प्रलय में सूर्यादि प्रकाशक कार्य वस्तुओं के न रहने से अन्धकाररूप सब हो जाता है द्रष्टा और दृश्य कोई नहीं रहता। प्रलय के होने में युक्ति तो पूर्व कह दी कि जो पदार्थ कभी उत्पन्न हुआ है वह अवश्य नष्ट होगा। और प्रलय के होने में प्रमाण भी अनेक हैं देखो ऋग्वेद में ही लिखा है कि–

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

इस का आशय यह है कि प्रलय के समय प्रसिद्ध में वा छुपा छिपा कोई भी स्थूल वस्तु नहीं रहता। धूली वा कोहरा के तुल्य भी नहीं रहता किन्तु सब अन्धकाररूप हो जाता है। इत्यादि सहस्रों प्रमाण वेदादिशास्त्रों के विद्यमान हैं जिन से प्रलय होना सिद्ध है। परन्तु प्रलय में कई अवान्तर भेद हैं। कोई २ बीच के प्रलय ऐसे होते हैं जिन में सब दृश्य पदार्थों का अभाव नहीं होता। कभी मनुष्यों वा प्राणीमात्र का ही विशेष दुर्भिक्षादि द्वारा प्रलय होता है। कभी पृथिवी तक, कभी जल तक, कभी अग्नि तक और कभी वायु

तक वा आकाश तक प्रलय माना जाता है। जब २ जिस २ तत्त्व तक प्रलय होता है उस के पीछे वहीं से फिर सृष्टि का आरम्भ होता है। जिस को महाप्रलय कहते हैं उस में सब का प्रलय हो जाता है और चतुर्युगी वा मन्वन्तरादि के आदि अन्त में सन्ध्यासन्ध्यांश नाम से जो छोटे २ प्रलय होते हैं उन में सब दृश्यपदार्थों का प्रलय नहीं होता। इस का विशेष व्याख्यान हम आर्यसिद्धान्त के प्रथम भाग में लिख चुके हैं इस लिये उस का यहां लिखना पिष्टपेषण के तुल्य होगा। और मानवधर्मशास्त्र के उपोद्घातप्रकरण में आकाश की उत्पत्ति विषय पर भी लिखा गया है उस का सारांश यही है कि आकाशशब्द केवल पोलमात्र का वाचक नहीं किन्तु पांच तत्त्वों में से एक तत्त्व है जिस का गुण शब्द है और जो प्रकाश का आधार है। आङ्पूर्वक काशृदीप्तौ। धातु से आकाशशब्द बनता है इस से शब्दगुण वाले प्रकाश के आधार द्रव्य का नाम आकाश है, प्रलयावस्था में जो पोल रहता है उस में प्रकाश और शब्द गुण दोनों ही नहीं होते इस कारण उस का नाम आकाश नहीं रक्खा जाता। उस की रचना यही है कि स्थूल की रचना के लिये अवकाश को नियत करना और रूपान्तर वा गुणान्तर युक्त करना यही रचना है और पोलमात्र का प्रलय कभी नहीं हो सकता किन्तु उसी शून्यरूप में सब का प्रलय होता है ॥

(प्रश्न ४)—मनुष्य किस निमित्त उत्पन्न हुआ है अर्थात् वास्तव में इस का कर्त्तव्य क्या है कि जिस के अनुकूल यह आचरण करे।

(उत्तर ४)—मनुष्य संसार में शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये उत्पन्न हुआ है। कर्म अनादिकाल के प्रवाह से चले आते हैं और वैसे ही यह बराबर जन्म लेता जाता है। और वास्तव में इस मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म है जिस का व्याख्यान मैं आर्यसिद्धान्त के चतुर्थ भाग के ८। ९। १० अङ्कों में लिख चुका हूं तथा अन्यत्र भी समयानुसार धर्म की व्याख्या लिखी गयी है ॥

(प्रश्न५)—बन्ध मोक्ष स्वाभाविक हैं वा नैमित्तिक और ये किस को होते हैं।

(उत्तर ५)—बन्ध और मोक्ष स्वाभाविक नहीं किन्तु नैमित्तिक हैं। परन्तु परमेश्वर स्वभाव से ही मुक्त है बद्ध किसी देश वा काल में नहीं होता और जीवात्मा कर्मों के निमित्त से बद्ध और मुक्त होता रहता है। जब बन्धन के कर्म करता है तब बद्ध होता और जब मुक्ति के कर्म करता तब मुक्त हो जाता है। इस लिये जीवात्मा का बद्ध और मुक्त होना नैमित्तिक है। यदि स्वभाव से बद्ध मानें तो मुक्ति कदापि नहीं हो सकती और निमित्त से बद्ध है तो हो सकती है और स्वभाव से मुक्त मानें तो मुक्ति का मार्ग बतलाने वाले वेदादि शास्त्र सब व्यर्थ होते हैं इस लिये पूर्वोक्त ही पक्ष ठीक सिद्धान्त है ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ | तारीख १५ जनवरी माघ संवत् १९४८ | अङ्क ५

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

आरावृत्तान्त ॥

विदित हो कि ता० १२ जुलाई को श्रीयुत पं० तुलसीराम शर्म्मा कुचेसर से इस नगर में पधारे और आकर १३, १४, १५ और १६ ता० को अनेक विषयों पर व्याख्यान दिये किन्तु तारीख १६ के व्याख्यान में पं० हीरानन्द जी आदि कतिपय पौराणिक पण्डित भी कुछ शङ्का समाधान वा प्रश्नोत्तर आदि की इच्छा से आये परन्तु पं० तुलसीराम शर्म्मा के व्याख्यान को सुन भीतर ही कुछ समझ कर स्वयं मौन साध कर बा० रामानन्द जी को भाषा द्वारा कुछ कथन करने को सन्नद्ध किया बाबू साहब कहने लगे कि देखो भाई वेदों में बहुत मन्त्र मूर्त्तिपूजाप्रतिपादक हैं परन्तु हम उन को सभा में नहीं पढ़ते क्योंकि हम संस्कृत नहीं जानते और विना इस के उच्चारण अशुद्धोच्चारण में दोषापत्ति है इत्यादि बहुत कुछ कहा जब कि इस के पश्चात् पं० तुलसीराम जी उत्तर देने को खड़े हुए तो पौराणिकों ने हल्ला मचाया और उत्तर विना सुने खड़े होने लगे और संस्कृतज्ञ पं० ने कुछ संस्कृत में प्रश्नोत्तर का साहस न किया लाचार सभा विसर्जन हुई ॥

अगले दिन लोगों ने बहुत कोलाहल मचाया कि शास्त्रार्थ करेंगे परन्तु करें तो भारत के सूधे दिन ही न आजायँ । जब हरिद्वार में ही न किया

जहां बड़े २ पण्डित आये थे तौ यहां वाले क्या करेंगे अस्तु पौराणिकों ने भय के मारे प्रथम जांच के लिये एक पं० को जो यहां के न थे किन्तु ग्रामान्तर के थे पं० तुलसीराम शर्मा के पास भेजा उन पण्डित जी का नाम पीछे विदित हुआ कि वह वैष्णवसम्प्रदाय के अधीत शेखरान्त पं० देवकीनन्दन थे और आते हो बोले कि:—

("लशक्वतद्धिते" इत्यत्र शकारोपादानं किमर्थं सामर्थ्यश्चेदुच्यताम्) ॥ पं० तुल० ने उत्तर दिया कि:—

"यद्यपि भवादृशाय लिङ्गज्ञानाऽनभिज्ञाय "सामर्थ्य" मिति नपुंसके वक्तव्ये सामर्थ्यश्चेदिति पुँलिङ्गतया भाषमाणायेमां लघ्वीं शङ्कां कुर्वाणाय नोत्सहे प्रत्युत्तरयितुं यतः सुबोधेनैव शास्त्रार्थयितव्यं नाऽबोधेनेति तथापि अधीतशेखरान्तत्वस्य मानं माभूदिति कृत्वा प्रत्युत्तरयामि—सुगमेयं शङ्का समाधानं चापि तथाहि "लशक्वतद्धिते" इत्यत्र शकारोपादानं हि करिष्यमाणादि पदेषु जशःशीत्यादि शिदादेशेषु च इत्सञ्ज्ञार्थमन्यथेत्सञ्ज्ञा कथं बोभूयादिति ॥

ऐसा उत्तर पाकर पं० देव० जी व्याकरण से निकल कर न्याय में चले तब पं० तुलसीराम जी ने पूछा कि यदि आप का नवीन न्याय पठित है तो अवच्छेदक अथवा अवच्छिन्न शब्द का तात्पर्य कहिये, जब इन शब्दों पर पं० देव० जी ने बोलना पसन्द न किया तब पं० तुलसीराम जी ने कहा कि यदि आप को गोतमकृत सूत्रों में (न्याय में) कुछ पूछना हो तौ पूछिये, पं० देवकीनं० ने गोतमसूत्र में तौ कुछ न पूछा परन्तु भागवत के दशमस्कन्ध का श्लोक (ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये आदि) पढ़ कर बोले देखो श्रुति में लिखा है कि निर्गुणोपासना नहीं कर सकते इस लिये सगुणोपासना कर्त्तव्य है । पं० तुल० ने कहा कि जो श्रुति आप बोलते हैं वह तौ हमारे याद है कि भागवत के दशमस्कन्ध का श्लोक है तौ भला कभी श्रुति हो सक्ता है—तथा आप के पक्ष की पुष्टि इस के अर्थ से नहीं होती, ईश्वर अपने सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों से सगुण तथा जरा, मरण, शोक, जन्म, दुःख आदि से रहित होने से निर्गुण भी

कहाता है. पं० देव० बोले कि जब शरीरी नहीं तो सगुण कैसे होगा। पं० तुल० ने उत्तर दिया कि जैसे आकाश शब्दगुणविशिष्ट है परन्तु शरीरी नहीं ऐसे ही जानो पं० देव० बोले कि आकाश के भी होने में अनुमान है क्योंकि वह सगुण है पं० तुल० ने उत्तर दिया कि धन्य हो अनुमान आप के कथनमात्र से है अथवा किसी हेतु से आप की वही प्रतिज्ञा है और हेतु भी वही है आप क्यों न्यायशास्त्र की धूल करते हैं इस पर पं० देव० उठ खड़े हुये और पौराणिकमण्डली में जाकर कहा कि जब तक कोई काशी आदि से न आवे तब तक यहां का कोई वैयाकरण अथवा नैयायिक उस आर्य्यपण्डित से शास्त्रार्थ नहीं कर सक्ता इति—

अब हम उन पत्रों को अविकल अक्षर २ नीचे लिखते हैं और पीछे उन पत्रों का आशय भाषा में लिखेंगे प्रथम ज्यों के त्यों पत्र प्रकाशित करेंगे जो २ पत्र आरा के सब पण्डितों ने मिल कर पं० हीरानन्द जी की ओट में हो कर भेजे और जो २ उत्तर आर्य्यसमाज की ओर से पं० तुलसीराम शर्म्मा कुनेसर ने भेजे थे, आशा है कि पाठकगण पत्रों को पढ़ कर जय पराजय वा सत्याऽसत्य का निर्णय करेंगे तद्यथा—

(पत्र १ पौराणिक पक्ष का) (ता० १८ । ७ । ९१)

इदानीन्तनकाले ये केचित्परमेश्वरादिमूर्त्तिपूजनवहिर्मुखा वस्तुतस्त्वनार्य्याष्किन्त्वार्य्यमानिनस्तेषां श्रुतिस्मृतिविरुद्धां प्रज्ञां धिग्धिगिति मन्यामहे यतो वेदविहितो धर्म्मस्तद्विरुद्धोऽधर्म्मस्तथा च वेदस्य पुरुषोत्तमस्य निश्वासतो जनिर्ज्ञायते तथा च पुरुषोत्तमस्य नाभिपङ्कजाद्ब्रह्मणोऽपि जनिश्श्रूयते तेनैव परमेश्वरेण ब्रह्मा वेदाँल्लब्धवान् तथा च श्रुतिः यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै इत्याद्याश्श्रुतय ईश्वरम्मूर्त्तिमत्त्वम्प्रतिपादयन्ति तथा च स्मृतिरपि प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदीत्यादि तथान्या श्रुतिरेकोऽहं बहुस्यामित्यादि कथनेऽहङ्कारस्य निष्ठा मूर्त्तिमत्त्वे घटेत नत्वमू-

र्त्तिमत्त्वे तथा च स्मृतिरपि एक एव हि विश्वात्मा भूतेभूते ऽव्यवस्थितः। एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। तथान्या श्रुतिः—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीतेत्यादि कथने मुखस्य निष्ठा मूर्त्तिमत्त्वे घटेत नत्वमूर्त्तिमत्त्वे। तथा च सहस्रशीर्षा पुरुषस्सहस्राक्षस्सहस्रपादित्याद्युपनिषद्वाक्यैर्मूर्त्तिमत्त्वमायाति। अग्रे किम्बहुनालापेन वेदस्य षडङ्गत्वात्षट् शास्त्राण्यपि वेदाङ्गानि प्रसिद्धानि तेष्वपि मूर्त्तिपूजादिलक्षणं द्रष्टव्यमिति। अग्रे ये नास्तिका अनार्य्या आर्य्यमानिनो धूर्त्ताः परवञ्चनपरास्ते नियतदिवसे विद्वत्सभायां स्वबलपौरुषं दर्शयन्तु। एतदर्थमिदानीम्विज्ञापनपत्रं रचितमित्यलम्॥

(नकल) सम्मतिरत्र हीरापण्डितशर्म्मणः १

(नोट)—यद्यपि हम नहीं चाहते कि पत्रों की अशुद्धियों पर कुछ बाद लिखें परन्तु दिग्दर्शनमात्र उन का वैयाकरणत्व देखिये कि—वस्तुतस्त्वनार्य्याष्किन्त्वार्य्य० यहां मूर्धन्य षकारादेश तथा—श्रयते यहां ह्रस्व उकार तथा—परमेश्वरेण ब्रह्मा० यहां अपादान में तृतीया—यथा—ईश्वरस्मूर्त्तिमत्त्वं० यहां ईश्वरशब्द से द्वितीया (षष्ठ्यर्थे) तथा—मुखमासीतेत्यादि में आसीत् के स्थान में मस्वर आसीत—तथा अनुस्वार को परसवर्ण भी अनेक स्थलों में चिन्त्य है और हां (यो ब्रह्माणं०) इस उपनिषद् को श्रुति कहते हैं तथा (सहस्रशी०) इस यजुर्वेद को उपनिषद् लिखते हैं। पाठक! क्या इन लोगों ने वेदों का दर्शन भी किया है? अब वेदों में से मूर्त्तिपूजा निकालने का साहस करते हैं जिन को इतनी खबर नहीं कि (सहस्र०) वेद को उपनि० बतलाते हैं॥

(पत्र २ आर्य्यसमाजी की ओर से उत्तर ता० १९। ७। ९१)

ओ३म् आरा १९। ७। ९१

ये केचनेह जगति सच्चिदानन्दादिलक्षणलक्षितं परमात्मानं वेदविरुद्धान्स्वकपोलकल्पितेतिहासपुराणाभासान् वेदानुकूलान्म-

न्यमाना मूर्त्तिमन्तं मन्यन्ते तेषां तत्तद्ग्रन्थानुसृतपाषण्डमतध्वं-सनाय तत्प्रेषितपत्रस्याद उत्तरमाविष्क्रियते-यद्भवद्भिः प्रमाणभूतां कामपि श्रुतिं स्मृतिं वाऽविन्यस्यैवालेखि "वेदस्य पुरुषोत्तमस्य निःश्वासतो जनिर्ज्ञायते तथा च पुरुषोत्तमस्य नाभिपङ्कजाद् ब्रह्मणोऽपि जनिश्श्रूयत" इति या चाऽग्रे "यो ब्रह्माणं विदधाती" त्याद्युपनिषदुल्लिखिता सा तु न श्रीमतां पक्षपोषणक्षमा,यतस्तस्यां ब्रह्मापुरुषोत्तमस्य नाभिपङ्कजादुत्पन्न इत्यक्षरमात्रमपि न दृश्य-तेऽत एवान्यद्भुक्तमन्यद्वान्तमितिवदेव भवद्भाषणमुपेक्ष्यते । अग्रेऽ-पि च "प्रचोदिते" त्यादि भागवतस्थश्लोकार्थोनैनमभिप्रायं पुष्यति तस्यापि तदर्थपरत्वाभावादिति । अहंकारस्य निष्ठा मूर्त्तिसत्त्वे घटे तेत्यत्रापि प्रमाणाभाव एव ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्यादावपि निराकारत्वप्रतिपादकमन्त्रविरोधात् न भवदभिप्रेतार्थस्साधुर्मुखा-दासीदित्यदर्शनाच्च । एवमेव सहस्रशीर्षेत्यत्रापि तन्मन्त्रपरार्धे सभूमिंसर्वतस्स्पृत्वेत्यादितो विरोधापत्तेरियत्तावतः सर्वभूमिस्प-र्शनाशक्यत्वात् । अग्रे याः कुवाचोऽपशब्दाश्च ये विन्यस्ताः खलु भवद्भिर्न तत्तदुत्तरयितुमुत्सहामहे यतो-ददतु ददतु गालीर्गालि-मन्तो भवन्तो वयमिह तदभावान्नैव दातुं समर्थाः । जगति विदि-तमेतद्दीयते विद्यमानं नहि शशकविषाणं कोपि कस्मै ददातीति । अथ च परस्परमाभिमुख्येन शास्त्रार्थेयिषा चेत्तर्हि नियमान्स्थानं प्रबन्धकर्त्तारञ्च प्राप्ताधिकारं राजपुरुषं "मजिस्ट्रेट" इत्यभिधं स्व-प्रबन्धेनैव नियोजयतां वयं केवलं शास्त्रार्थं करिष्यामो नान्यत्प्र-बन्धकर्त्तृनियोजनादि-इति शम्-

(नकल) ह० तुलसीराम शर्म्मणः

(पत्र ३ पौराणिकों का ता० २०)

राम०

श्रीमते रामानुजाय नमः

भावत्ककरविरचितपत्रं न सुशोभनं यस्मिन्नेवं लिखित्वाप्रेपितन्तदुच्यते तेषान्तत्तद्ग्रन्थानुसृतपाषाण्डमतध्वंसनाय तत्प्रेषितपत्रस्यादउत्तरमाविष्क्रियते इति त्वदीयपत्रे या संस्कृतावली सा अशुद्धतरा तदुच्यते पातञ्जलिना पाषाण्डेति पदं क्वलिखितन्तद्दर्शय मन्मानसे वितथम्प्रतिभाति.भवान्भाष्यार्थविदुषाम्मन्यसे स्वं शिरोमणिम् । अतो निर्भयमापन्नो दूरदेशं समागतस्तन्न मन्तव्यम् । यतस्त्वत्सदृशो जन एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयीभवेदिति लोकप्रसिद्धम् । विचारदृष्ट्या भवानेव पाषण्डपथाश्रितो न तु वयन्तथा च भवता यल्लिखितम्पत्रे यो ब्रह्माणं विदधातीत्याद्युपनिषदुल्लिखिता सा तु न श्रीमतां पक्षपोषणक्षमा मत्प्रार्थनया मत्पूर्वप्रेषितपत्रम्पुनर्दृष्टव्यम् । यो ब्रह्माणम्विदधाति पूर्वमित्यत्र श्रुतावुपनिषत्पदन्नालेखि किन्तु सहस्रशीर्षेत्यादिविषये ह्युपनिषत्पदंम्व्यलेखि तथा च कप्यास पुण्डरीकाक्षेण त्वया सम्यङ्नादर्शि इति मन्मनो मन्यते तथा च भवता पत्रे यल्लिखितं ब्रह्मा पुरूषोत्तमस्य नाभिपङ्कजादुत्पन्न इत्यक्षरमात्रमपि न दृश्यते तत्सत्यं तत्र हेतुस्साक्षात्त्वमेव वेदावतारोऽसि तथापि स्वनिष्ठाज्ज्ञानजन्यपदार्थं न वेत्सि यथा कश्चिन्नादर्शम्विना स्वशरीरस्थमपि नेत्रं न पश्यति तद्वत्त्वानमीयते । अथ च यत्र कुत्रापि श्रुतावजशब्दस्य पाठो दृश्यते तस्यायमर्थो ज्ञातव्य आद्वासुदेवाज्जायते इत्यजो ब्रह्मा अकारो वासुदेवश्चेत्यभिधानात्

कुत्रचिदजशब्देन परमेश्वरस्य बोधो जायते तथा च अन्यदुक्त-मन्यद्वान्तमिति वृत्त्वं त्वयि समक्षं घटते नत्वस्मदादिषु तथा मन्त्रशब्दस्य पाठो वेदविहितस्तत्र वेदस्यैव प्रामाण्यता वेदनिष्ठ-मन्त्रस्याप्रामाण्यता इत्यत्र किम्प्रमाणङ्का श्रुतिर्वदति तद्विचा-र्यारम्प्रेषणीयम् । तथा च

मुखेन मन्यसे वेदं हृदि तस्यैव खण्डनम् । अतस्त्वायम-नुस्मृत्य भजस्व रघुनन्दम् ॥ १ ॥ नोचेद्यमभटास्त्वां वै ताडयि-ष्यन्त्यसंशयः । ततो लज्जाम्परित्यज्य भजस्व रघुनन्दनम् ॥२॥ लोकस्य लज्जया किं स्याद्यतोऽधर्म्मः प्रणश्यति । इति मत्वा सुदुर्बुद्धे भजस्व रघुनन्दनम् ॥३॥ उदरम्भरणार्थाय धर्म्मन्त्यजसि वै मृषा । इति ज्ञात्वा स्थिरीभूत्वा भजस्व रघुनन्दनम् ॥४॥ पत्रस्य लेखने श्रद्धा यदि स्यात्तव मानसे । तदा नेत्रद्वयं रामात्प्रार्थनीयं पुनःपुनः ॥५॥ यैराहुतो भवानत्र धर्म्ममूर्त्तिस्सनातनः । ते सभां कर्त्तुमुद्युक्ता भवन्त्विह सुमेधसः ॥ ६ ॥ इत्यलम्—

(नकल द०) पाषण्डमतोच्छेदकविद्वद्वरहीरानन्दपण्डित शर्म्मणः सम्मतिः ।

(नोट) सिवाय बहुत से कुवाच्यों के जिन के नीचे रेखा—है अर्थात् असंशयः तथा आहुतः ये दो पद चिन्त्य हैं ॥ इस पत्र में उत्तर का लेश नहीं वृथा गालिप्रदान है ॥

(पत्र ४ आर्य्यसमाज की ओर से)   (उत्तर ता० २१)

भो भोः पौराणिकाः !

यदुक्तमस्मान्प्रति भवान्भाष्यार्थविदुषांशिरोमणिरित्यादित-स्तथास्तु—परमस्माभिः कृतानां प्रतिवादानामुत्तराण्यददाना भ-वन्तो निरुत्तरीभूताः परास्ता इत्यसंशयं विदुषाम् ।

(श्लोकाः)

अधीतशेखरान्ताश्चेच्छास्त्रार्थायैव नोद्यताः । व्याकरणस्याऽनभिज्ञानां का कथास्ति भवादृशाम् ॥१॥ प्रतिवादः कृतो यासामुक्तीनां भवतां मया । न ता उद्धृत्य गर्जन्ति मृषा निर्लज्जतां गताः ॥२॥ अशुद्धानि तु वर्त्तन्ते भवच्छन्दपदानि च । परन्तूपेक्षणं दृष्ट्वा मृषा यूयं प्रगर्विताः ॥३॥ श्रुयतेश्रूयतेयत्रासीतेत्यासीदिति स्थितौ । भवदीयेतिभावत्कपदादीन्यशुभानि हि ॥४॥ स्पष्टा यमभटा यूयं प्रत्यक्षा दृष्टिगोचराः । साधुभिर्मौनमास्थेयं ताडकेषु भवत्सु वै ॥५॥ परन्तु ये नरावरा भवादृशाः सुपण्डिताः । समीक्ष्यते न तैर्नरैर्वरैः स्वकार्य्यसाधने ॥६॥ पाण्डित्यं भवतां प्रशंस्यमनिशं ज्ञातं मया तत्त्वतो, यैरत्यन्तकुवाच्यवर्षणपरैर्लज्जोज्झ्यते दूरतः । नेदानीं वयमुत्सहामह इति व्यर्थं भवद्भाषणम्, आश्चर्य्यन्त्विदमेव मन्मनसि यद्विद्वज्जना ईदृशाः ॥ ७ ॥

(नकल) सम्मतिरत्र तुलसीरामशर्म्मणः

(पत्र ५ पौरा० का)

श्री सच्चिदानन्दविग्रहो रामः

शं सन्तनोतुतराम्

भवदीयेतिभावत्कपदं सिद्ध्यति तद्धिते । तद्ज्ञानार्थं गुरोः पादपङ्कजं समुपैहि भोः ॥१॥ एतावच्चेन्न जानासि का कथा भाष्यदर्शने । अतस्तिरस्कृतो विद्वद्भिःप्रशेखरश्रीदयालुभिः ॥२॥ यद्यशुद्धतरं दृष्टं पदम्पत्रविनिर्मितम् । प्रमाणन्तव वक्तव्यङ्कपोलकथनन्विना ॥३॥ येनयेन च सूत्रेण यत्पदन्नैव सिद्ध्यति । तद्दूषणं च दातव्यङ्कपोलकथनन्विना ॥ ४ ॥ करप्रोत्साहितो बालो बालोमातुरग्रे प्रनृत्यति । तथानार्य्यसभामध्ये गात्रं धुन्वन्प्रनृत्यसि ॥ ५ ॥ अङ्गीकृतं स्ववक्त्रेण स्वंजयं मत्पराभवम् । नोचेद्धाटिका मात्रन्नैव दास्यन्त्यनार्य्यकाः ॥६॥ वेदो निष्ठा समज्यायां हृदि पैगम्बरे दृढा । ज्ञायते तव चास्माभिः क्रुधा नः किङ्करिष्यसि ॥ ७ ॥

वने जालं मक्षिकस्य व्याधो गृह्णाति पक्षिणः । तथा त्वामभिजानीमः कागरूपं समागतम् ॥ ८ ॥ काकः काकस्य जानाति वाचं हृद्यां मनोहराम् । काकवागन-भिज्ञश्चेद्हमत्र किमद्भुतम् ॥९॥ पञ्चाननस्य का कीर्त्तिर्गोजारस्य निपातने । दुर्योऽवलङ्घी प्रसिद्धमज्ञाः सुधा विदन्ति वै ॥ १० ॥

(नकल) सम्मतिरत्र दुर्जनमुखध्वंसकहीरानन्दशर्म्मणः

ओ३म्

अब समस्त पत्रों का आशय भाषा में संक्षेप से लिखते हैं

(पत्र १ पौराणिक पक्ष का)

श्रीशो विजयतेतराम् ॥

आज कल जो लोक कि परमेश्वरादि मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध हैं वे वास्तव में अनार्य्य हैं किन्तु अपने को आर्य्य मानते हैं । हम उन को श्रुतिस्मृति— विरुद्ध बुद्धि को धिक्कार मानते हैं । धर्माऽधर्म का ज्ञान वेद से होता है और वेद परमेश्वर के श्वास से उत्पन्न हुए और ईश्वर की नाभि से ब्रह्मा हुए उसी से ब्रह्मा ने वेद पाये । (यो ब्रह्माणं विदधा०) इत्यादि श्रुतियां (वास्तव में श्रुति नहीं हैं उपनिषद् हैं) ईश्वर को मूर्त्तिप्रतिपादन करती हैं । ऐसे ही (एकोऽहं बहु स्याम्) इत्यादि श्रुति वाक्यों में अहंकार मूर्त्त में घट सक्ता है न कि अमूर्त्त में । तथा (एक एव हि वि०) यह स्मृति भी यही सिद्ध करती है । तथा (ब्राह्मणोऽस्य मुख०) इत्यादि श्रुति वाक्य में मुख की निष्ठा, मूर्त्त में हो सक्ती है न कि अमूर्त्त में । तथा (सहस्रशीर्षा०) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से [वाह २ ऊपर उपनि० को तो श्रुति लिखा अब श्रुति को उपनि० कहते हैं विदित होता है कि पं० जी ने वेदों का दर्शन भी नहीं किया अर्थ सहित पठित होना और तदनुसार शास्त्रार्थ करना तो दूसरी बात है ऐसे हो वेदवेत्ता वेदों से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का उद्योग करते हैं] भी मूर्त्ति होना सिद्ध है । कहां तक लिखें वेदों के अङ्ग छः शास्त्रों में भी मूर्त्तिपूजादि लक्षण देखना चाहिये ॥ आगे जो नास्तिक, आर्य्यमानी, अनार्य्य और दूसरों के बहकाने वा ठगने वाले हैं वे नियत दिवस में सभा में आ कर अपनी शक्ति दिखावें इस लिये यह विज्ञापन लिखा है । इति—

(सम्मतिरत्र हीरापण्डितशर्म्मणः)

(पत्र २ उत्तर आर्य्य०)

जो लोग कि वेदविरुद्ध, अपने रचित, इतिहास वा पुराणाभासों को वेदानुकूल मानते हुए, सच्चिदानन्दादि लक्षणों वाले ईश्वर को मूर्त्तिमान् मानते हैं

उन के उन २ ग्रन्थों से प्रचरित पाषण्डमत के खण्डनार्थ उन के भेजे पत्र का उत्तर दिया जाता है—आपने ईश्वर के श्वास से वेद और नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति लिखी परन्तु इस में कोई श्रुति स्मृति का प्रमाण नहीं लिखा और (यो ब्रह्माणं वि०) इस [श्रुति नहीं है किन्तु उपनिषद् है०] से भी आप का पक्ष सिद्ध नहीं होता क्योंकि नाभि से उत्पत्ति का अक्षरमात्र भी उस में नहीं आया, इस लिये महाभाष्य के इस उपहास के योग्य आप का लेख है कि—"अन्यद्दुक्तमन्यद्धान्तम्" प्रतिज्ञा कुछ और प्रमाण कुछ ! ! ! खैर उपनिषद् को तो श्रुति कहा हो था आगे भागवत के आधे श्लोक को स्मृति कहा है उस श्लोक का भी यह अर्थ नहीं कि नभि से ब्रह्मा हुए किन्तु नाभि शब्द तक उस में भी नहीं आया । यह जो लिखा कि अहंकार मूर्त्त में ही रहता है इस में भी कोई प्रमाण (न्याय आदि का) नहीं दिया । (ब्राह्मणोऽस्य मुख०) इस का भी यह अर्थ नहीं कि ब्राह्मण मुख से हुए क्योंकि (मुखात्) ऐसे पद वहां नहीं यदि किसी क्लिष्टकल्पना से यह अर्थ किया भी जायगा तो—

निराकारप्रतिपादक वेदों के अन्य मन्त्रों से परस्पर विरोध आवेगा । (सहस्त्रशीर्षा०) इस का भी यदि आप का अर्थ माना जावे तो "सभूमिं सर्व०" इसी उसी मन्त्र के उत्तरार्ध से विरोध आवेगा क्योंकि जो परिमित है वह व्यापक नहीं हो सक्ता और जब कि उत्तरार्द्ध मन्त्र में व्यापकत्व है तो पूर्वार्ध में परिमितत्व कैसे ठीक होगा वेदों के अर्थ समझने को बुद्धि चाहिये कि कहीं परस्पर विरोधादि दोष न आजाय ॥ और अशुद्धियों (जिन का कुछ वर्णन संस्कृत लेख के नोट पर लिखा है) तथा गालियों का (अनार्य धूर्त्त ठग इत्यादि का) उत्तर तो हम क्षमा करके नहीं देते क्योंकि नीति (ददतु०) में लिखा है कि जो जिस के पास होता है सो ही देता है शशशृङ्ग तो कोई किसी को नहीं देता, इस लिये आप गालियां दें परन्तु हमारे पास तो शास्त्रीय प्रमाण वा युक्ति के अतिरिक्त गालि एक भी नहीं, दें कहां से ? ॥ यदि सन्मुख हो कर शास्त्रार्थ की इच्छा हो तो नियम, स्थान और प्राप्ताधिकार राजपुरुष मजिस्ट्रेट को प्रबन्धकर्त्ता नियत कीजिये हम केवल शास्त्रार्थ करेंगे इति—

ह० तुलसीरामशर्म्मणः

(पत्र पौराणिक पक्ष का ३ आशय सं०)

तुम्हारी चिट्ठी ठीक नहीं क्योंकि (पाषण्ड०) यह संस्कृतावली अशुद्ध

है बताओ पातञ्जलि ने भाष्य में पाषाखण्ड शब्द कहां लिखा है ? (१)

आप अपने को भाष्यवेत्ताओं का शिरोमणि समझ कर दूर देश में आ कर निर्भय हो गया है ऐसा मत मान । तुझसा मनुष्य एक लज्जा को उतार कर त्रिलोकविजयी हो जावे । विचारदृष्टि से तो आप का ही पाषण्डमत है न कि हमारा । और आपने जो " यो ब्रह्माणं० " इस को उपनिषद् लिखा है सो हमारा पत्र फिर देखो कि हमने "यो ब्रह्मा०" को श्रुति और "सहस्रशीर्षा०" को उपनिषद् लिखा है (२) तुझ कप्यास पुण्डरीकाक्ष ने अच्छे प्रकार नहीं देखा । यह जो लिखा कि ब्रह्मा के, नाभि से उत्पन्न होने को एक अक्षरमात्र से भी " श्रुति " का आशय नहीं, सो ठीक है । उस में कारण तू ही साक्षात् वेदों का अवतार है तो भी अपने ज्ञानजन्य पदार्थ को नहीं जानता जैसे कोई नहीं (३) अपने में के शरीरस्थ नेत्र को भी नहीं देखता ऐसे ही आप का हाल है । श्रुतियों में जहां तक ब्रह्मा को "अज" कहा है जिस का अर्थ यह है कि " अ " अर्थात् वासुदेव से जो उत्पन्न हुआ सो " अज " अर्थात् ब्रह्मा एकाक्षर कोश के प्रमाण से (४) कहीं २ अजशब्द ईश्वरवाचक भी है । महाभाष्य का उपहास तुझ पर घटता है हम पर नहीं । मन्त्र का पाठ तो वेद

नोट (१)–वाह जी वाह ! ! आप तो "पतञ्जलि" को "पातञ्जलि" लिखना अशुद्ध नहीं समझते और यदि हमारे पत्र में "पाषण्ड" का "पाषाण्ड" अर्थात् लेख भ्रम से एक रेखा अधिक खिंच गई तो ऐसे कूदे ओहो ! बड़ी अशुद्धि निकाली परन्तु महात्मा जी ! अपने पत्रों की बड़ी २ स्थूल व्याकरण की अशुद्धियां जिन को हमने संस्कृत पत्रों के नोट में लिखा है समाधान तो करना था ! ! ! ॥

नोट (२)–धन्य हो ! अपनी भूल को फिर से दृढ़ करते हो कि हां हमने "यो ब्रह्माणं०" इस उपनिषद् को श्रुति तथा "सहस्रशीर्षा०„ इस यजुर्वेद के मन्त्र को उपनिषद् लिखा था । भला पाठकगण ! क्या आप को विश्वास होता है कि इन लोगों ने कभी वेदों का दर्शन किया है तिस पर आर्यों से शास्त्रार्थ !!!

नोट–(३) दो वार "नहीं" !!–

नोट–(४) पहिले तो उपनिषद् को श्रुति लिखा खैर उस से भी ईश्वर की नाभि का नाम निकला फिर जहां " अज „ शब्द ब्रह्मा का वाचक बतलाया

ही का फिर वेद को मानना और उस के मन्त्र को न मानना इस में कौन श्रुति प्रमाण है । (१) सो विचार कर पत्र भेजना ॥ श्लोकार्थः—तू केवल मुख से वेद को मानता है परन्तु हृदय में उसी का खण्डन करता है इस से अपने पाप को स्मरण करके राम को भज ॥ १ ॥ नहीं तो यमदूत तुझे निस्सन्देह ताड़ैं गे इस से लज्जा छोड़ राम को भज ॥ २ ॥ लोकलज्जा से क्या जिस से धर्म का नाश होता है । हे सुदुर्बुद्धे ! ऐसा समझ कर राम को भज ॥ ३ ॥ तू वृथा पेट के कारण धर्म छोड़ता है । स्थिर हो कर राम को भज ॥ ४ ॥ यदि तेरे मन में पत्र लिखने की है तो राम से बार २ दो नेत्र मांग ॥ ५ ॥ जिन्हों ने तुझे सनातनधर्ममूर्त्ति को यहां बुलाया है वे सभा को उद्यत होवैं ॥ ६ ॥ इत्यलम्—

(पत्र ४ आर्य्यसमाज का)

भो भोः पौराणिकाः

आप ने जो हम को भाष्यवेत्ताओं का शिरोमणि० इत्यादि लिखा सो ऐसे ही सही परन्तु हमने आप के जिन पक्षों का खण्डन किया था उन में से एक का भी समाधान (सिवाय गालिप्रदान के) आप ने नहीं किया, तब विद्वान् लोगों में तो निस्सन्देह आप निरुत्तर होकर परास्त हो गये ॥

(श्लोकार्थ)

जब कि शेखरान्त व्याकरण पढ़े पण्डित ही शास्त्रार्थ को उद्यत नहीं हुए, तो आप से व्याकरण वेत्ताओं की तो कथा ही क्या है ॥ १ ॥ आप की जिन उक्तियों का मैंने खण्डन किया था, बिना ही उन का समाधान किये आप गर्जते हैं तो कहिये लज्जा से दूर हैं वा नहीं ? ॥२॥ आप के पत्रों के पद तो अशुद्ध हैं ही परन्तु (हमारी ओर से) उपेक्षा देख कर आप को गर्व हो गया ? ॥३॥ अयते, आसीत और भावत्क आदि पद अशुद्ध हैं किन्तु अयते, आसीत् और भवदीय इत्यादि चाहिये ॥ ४ ॥ (यह जो लिखा कि यमदूत तुझे ताड़ना करें गे) सो ताड़ना करने को तो आप लोग प्रत्यक्ष ही हैं कि जिन के सामने सत्पुरुषों को मौन ही श्रेष्ठ है ॥५॥ परन्तु जो महात्मा आप के समान पण्डित हैं वे स्वार्थसाधन में तत्पर हैं और नहीं देखते ॥ ६ ॥ आप का पाण्डित्य जो

जिसपर एकाक्षर कोश के प्रमाण से सिद्ध किया तब भी ईश्वर की नाभि का वर्णन "अज" शब्द में नहीं आया। पाठकगण ! अब इस से अधिक परास्त होना किसे कहते हैं ? ॥

नोट—(१) यह गीत ही निराला है पाठकगण ! हमने कब कहा है कि हम वेद के मन्त्र को नहीं मानते हमारे पत्र पढ़कर देखलो ? ॥

रात्रि दिन प्रशंसा करने योग्य है मैंने अच्छे प्रकार जान लिया जो कि आप ने अत्यन्त गालिवर्षा में तत्पर हो कर लज्जा को दूर छोड़ दिया है । अब आप के साथ भाषण करना व्यर्थ है किन्तु आश्चर्य यह है कि पण्डितों की यह दशा है (मूर्खों का तौ कहना ही क्या है) ॥७॥ (तुलसीराम शर्मा)

(पत्र सं० ५ पौराणिकों का) श्री सच्चिदानन्दविग्रहो रामः

शं सन्तनोतुतराम् ॥

(श्लोकार्थः)—भवदीय के स्थान में भावत्क पद, तद्धित में सिद्ध होता है, उस के समझने को गुरुचरणों में जा ॥१॥ जब इतना ही नहीं जानता तौ भाष्य क्या देखा होगा इस लिये शेवरत्न दयालु पण्डितों ने तिरस्कार किया ॥ २ ॥ यदि हमारे पत्र में अशुद्ध पद देखे हैं तौ कपोलकथन को छोड़ कर उस में प्रमाण देना चाहिये ॥ ३ ॥ जिस २ सूत्र से जो २ पद सिद्ध नहीं होता, उस २ का दूषण देना कपोलकथन को छोड़ कर ॥ ४ ॥ जैसे माता हाथ बजाती है और बालक नाचता है वैसे तू अनार्यों की सभा में शरीर धुन कर नाचता है ॥ ५ ॥ अपने मुख से अपना जय और मेरा पराजय मान लिया । नहीं तौ "अनार्य" लोग एक कौड़ी नहीं देंगे ॥६॥ सभा में वेद पर और मन में पैग़म्बर पर तेरी दृढ़ निष्ठा को हम जानते हैं क्रोध से हमारा क्या करेगा ॥ ७ ॥ बन में जाल फैला कर व्याध, पक्षियों को पकड़ता है । ऐसे ही काकरूपी तुझ को आया हुआ हम जानते हैं ॥८॥ काक की मनोहर वाणी को काक ही जानता है । यदि मैं काकभाषा को न समझूं तौ क्या आश्चर्य है ॥ ९ ॥ बिल्ली को गिराने में सिंह की क्या कीर्त्ति है । दोनों का बल सब को विदित है ॥ १० ॥

(सम्मतिरत्र दुर्जनमुखध्वंसकहीरानन्दशर्मणः)

इस पत्र को पाठकगण विचारें कि जिन २ पदों को हमारे पं० जी ने अशुद्ध ठहराया था उन पर सिद्धि के सूत्र वे लिखें वा हम, सफ़ाई के गवाह तो मुद्दई से कहीं नहीं मांगे जाते ! --

आप के तौ अशुद्ध और प्रमाण हम दें धन्य हो ! ! !

इस पत्र को ले कर "शास्त्रार्थैकमेद्दी" आ० स० आरा ने विचार किया कि शास्त्रार्थ तौ वास्तव में हो चुका अब गाली गलौज का उत्तर हमारे पास क्या है अतएव पं० तुलसीराम शर्म्मा के कुबेसर से बुलाने का प्रयोजन यथासम्भव सिद्ध हो गया अब पं० जी को दानापुर भी हो आना चाहिये, यह भी

विचारा गया कि कदाचित् पौराणिक लोग पं० जी के चले जाने पर चेतें तो अच्छा हो—महाशय ! ऐसा ही हुआ कि—

पं० जी दानापुर पहुंचे और पौराणिक लोग " गेहेशूर " की भांति चट सभा कर कहने लगे कि आर्य्य पं० भाग गया ॥

महाशयो ! हम तो यही चाहते थे कि किसी प्रकार ये चेतें—सो पं० तुलसी० दानापुर से फिर आये और हमने नोटिस दिया कि—

विज्ञापन ॥

आ० स० आरा— २७ । ७ । ९१

विदित हो कि पं० तुलसीराम स्वामी के दानापुर चले जाने पर पौराणिकों ने जो हल्ला मचाया था कि पं० जी भाग गये, यद्यपि पं० जी १० दिन तक रहे और किसी ने चूं नहीं की—किन्तु यह सुन कर पं० जी फिर आये हैं अब यदि आज सायङ्काल तक दो आदमी आ कर शास्त्रार्थ के नियम स्थिर न करेंगे तो पं० जी अधिक न ठहरेंगे और पौराणिक पराजय समझे जायँगे इति—

ब्रह्मानन्द मन्त्री

इस नोटिस पर रात्रि को दो तीन पुरुष आये और नियमों में बहुत देर तक वादानुवाद रहा अन्त को बाबू रामानन्द जी धर्मसभा के बोले कि यदि तुम न्यायशास्त्र को मानो तो हम अपने दक्षिणी आचारी जी को बुला वें, तुलसीराम जी ने कहा कि हां युक्तिविषय में न्याय मानेंगे परन्तु आप के पं० दो दिन में आ जायँ तो मैं ठहरा रहूं क्योंकि मुझे कुचेसर से २१ दिन तथा आरा में आये १६ दिन हुये मैं १२ ता० को यहां आया था आज २७ है मैं बहुत दिन नहीं ठहर सक्ता बा० रामानन्द ने कहा, दो दिन में तो नहीं परन्तु आयँगे अवश्य. पं० तुलसीराम ने कहा अच्छा मैं लखनौ में १० दिन ठहरूंगा यदि इन १० दिनों में आप अपने पं० के आने का समाचार देंगे तो मैं तुरन्त उपस्थित हूंगा—तत्पश्चात् पं० तुलसी० लखनौ में १० दिन रहे और दो पत्र बा० भगवत्सहाय जी के नाम भेजे कि बा० रामानन्द जी के गुरू आये या नहीं ? परन्तु उत्तर न पाकर पं० जी कुचेसर चले गये पौराणिक पं० जिन का बा० रामानन्द ने वादा किया था आज तक शास्त्रार्थ करते हैं !!! ।

यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥

सम्पादकीयविचार ॥

हमारे पाठक महाशय कदाचित् कहें कि ऐसे शास्त्रार्थ आर्यसिद्धान्त में छपाने से कुछ विशेष उपकार नहीं किन्तु लेख पूरा करना है सो यह शङ्का तो तन २ शास्त्रार्थों के पृथक् २ छपने पर भी हो सकती है और प्रायः जो २ शास्त्रार्थ होते हैं वे छपाये भी जाते हैं और अनेक लोग उन को मूल्य से ले लेकर देखते भी हैं मेरी समझ में उन छपाने और लेने वालों का मुख्य अभिप्राय यही है कि भिन्न २ स्थलों में भिन्न २ पण्डितों द्वारा जो शास्त्रार्थ होते हैं उन सब से उन २ आर्यपण्डितों और पौराणिकपण्डितों की बुद्धि का परिचय मिल जावे और अनेक प्रकार की युक्तियां जो २ दोनों पक्ष के लोग वेद के सिद्धान्त और पौराणिकसिद्धान्त की पुष्टि के लिये सदा नवीन २ दिया करते हैं वे सर्वसाधारण को प्रकट होती रहैं जिस से दोनों पक्ष का बलाबल जानने की शक्ति बढ़े और वैदिकसिद्धान्त की प्रतिदिन चर्चा बढ़ती जावे। इसी प्रकार सदा अनेक शास्त्रार्थ के देखने से अनेक पाठक लोगों को (जिन को कुछ संस्कृत में प्रवेश है) शास्त्रार्थ करने की शक्ति हो सकती है। क्योंकि समाचार पत्रों के नियमपूर्वक पढ़ने देखने वा कुछ २ लिखने वालों में से भी कई की सम्पादकीय शक्ति बढ़ जाती है। तथा एक किसी नगर विशेष में हुए शास्त्रार्थ को सर्वसाधारण लोग छापने द्वारा ही जान सकते हैं। इत्यादि प्रयोजनों से शास्त्रार्थों को पृथक् छापते हैं वही प्रयोजन यहां छाप देने से भी समझ लेना चाहिये। रहा इस शास्त्रार्थ का सारांश निकालना सो कुछ कठिन नहीं है इन दोनों पक्ष के लेखों को देख कर स्वयमेव बलाबल समझ में आ सकेगा।

अब हम को सामान्यांश पर कुछ लिखना चाहिये। यह बात सब बुद्धिमानों को अच्छे प्रकार प्रकट है कि धर्मसम्बन्धी विषयों पर प्रायः इस समय शास्त्रार्थ वा आन्दोलन हुआ करते हैं इस से सिद्ध है कि धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त सन्देह कोटि में आ गया है। यदि कहा जाय कि सभी को सन्देह है तो ठीक नहीं पर जिन को धर्मादि विषयों पर शङ्का नहीं हैं उन को भी सर्वसाधारण को निश्चय कराने के लिये वादविवाद करना चाहिये वा करने पड़ता है। आज कल अनेक वैतण्डिक लोग जहां तहां सीधे साधे वेदमतानुयायी लोगों से शङ्का वा प्रश्न करने लगते अर्थात् उन के शिर पर एक ऐसा बोझा एक साथ

अपनी स्वाभाविक चालाकी से पटक देते हैं कि जिस से उस की बुद्धि और भी दब जावे और वे घबरा कर कुछ उत्तर न दे सकें पर यह शास्त्रार्थ वा प्रश्नोत्तर की चाल वा रीति ठीक नहीं है। [शास्त्रार्थशब्द का लोकप्रसिद्ध लाक्षणिक अर्थ यही है कि धर्म वा धर्म के सहकारी विषयों में शङ्का समाधान करना] किन्तु शास्त्रार्थशब्द का दूसरा पर्यायवाचकशब्द वाद है और वाद में पहिले से ही दोनों पक्ष खड़े किये जाते हैं। वादी प्रतिवादी दोनों अपने २ पक्ष के दोषों को हटाते और दूसरे के पक्ष में दोषारोपण करने के साथ ही अपने २ पक्ष की पुष्टि भी करते जाते हैं। और जब तक दोनों पक्ष बराबर खड़े न हों तब तक उस को वाद वा शास्त्रार्थ नहीं कहना चाहिये। किन्तु जहां एक चालाक मनुष्य दूसरे से प्रश्नमात्र करना चाहता है और अपना पक्ष वा सिद्धान्त कुछ नहीं बतलाता यदि कोई कहे कि तुम कैसा मानते हो तब कहता है कि मैं तो जिज्ञासु हूं मुझे तो अभी सब में सन्देह है मुझ को आप समझा दीजिये। परन्तु जिस बात को कोई समझाने लगे उस में कुतर्क बराबर करता जावे तो यही वैतण्डिक है अर्थात् वैतण्डिक का लक्षण यही है कि जो अपना पक्ष वा सिद्धान्त कुछ न बतावे [कि मैं अपना सिद्धान्त बता दूंगा तो उस में कोई दोषारोपण करेगा तब मुझे भी उत्तर देने का भार लेने पड़ेगा ऐसे विचार से अपने पक्ष को छिपाकर] दूसरे के पक्ष का खण्डन करता जावे। इसीको छलवादी भी कह सकते हैं। ऐसे मनुष्य को वितण्डादि से ही सीधा करना चाहिये। ऐसों के लिये धर्मात्मतापूर्वक किया वाद उपकारी नहीं हो सकता। नीती में लिखा है कि—

"पादलग्नं करस्थेन कण्टकेनैव कण्टकम्" ॥

पांव में लगे कांटे को हाथ में लिये कांटे से निकाल कर दूर करे। अर्थात् ऐसा वैतण्डिक जो कुछ प्रश्न करे उस प्रश्न में ही प्रश्न खड़ा करके बीच में लटका रक्खे। यदि कोई वास्तविक जिज्ञासु बन कर धर्मात्मता से पूंछे तो उस को धर्मपूर्वक सत्य २ उत्तर देना चाहिये। और वैतण्डिक प्रश्न करे तो उस से कहना चाहिये कि इस अंश में आप का क्या सिद्धान्त है? आप अपना सिद्धान्त बता दीजिये तब हम उत्तर देवें। अर्थात् जैसे ईसाई प्रश्न करें कि वेद के अमुक मन्त्र का अर्थ अमुक भाष्यकार ने ऐसा किया है उस में यह दोष आता है तो उन को यह उत्तर देना चाहिये कि उस मंत्र का आप सत्य अर्थ कौन मानते हो और वह कैसे सत्य है? यदि कोई सत्य नहीं तो तुम्हारा प्रश्न व्यर्थ है इत्यादि प्रकार से वैतण्डिक से बर्तना चाहिये ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ | तारीख १५ फरवरी फाल्गुन संवत् १९५८ | अङ्क ६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

सत्यार्थविवेक का उत्तर भाग ५ अं० ४ पृ० ५६ के आगे से ॥

स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में जब स्पष्ट लिख दिया है कि जो मनुष्य दुःख से छूटना चाहता है वह सब प्रकार के दुःखों से छूट कर ब्रह्म में रहता और सुख को प्राप्त होता है यही मुक्ति है तो राग द्वेषादि वा अविद्याजन्य दुःख उस में नहीं आ सकते फिर इस पर अधिक जंगजाल लिखना व्यर्थ है। रहे बल पराक्रमादि गुण सो जीवात्मा की संसारस्थदशा में दिखाये हैं। उन का शुद्धांश मुक्ति में रह जाता और दुःख का हेतु मलिनांश पहिले ही छूट चुकता है तभी मुक्ति होती है फिर कुछ दोष न आवेगा। लोक में भी क्रिया वा कर्मशब्द हाथों से होने वाले विशेष कर्म में रूढ है। जब मनुष्य कुछ काम हाथों से करता है तब कहते हैं कि कुछ कर्म कर रहा है और हाथ बांध कर बैठ रहने पर कहते हैं कि अब कुछ नहीं करता हाथ बांधे बैठा है। पर बैठना, श्वास लेना, देखना आदि अनेक क्रिया उस में विद्यमान हैं। इसी प्रकार सामान्यगति भी क्रिया नहीं ली जाती। इत्यादि प्रकार से अक्षरों पर व्यर्थ के कुतर्क करना बुद्धिमानों की कोटि से बाहर है इस लिये हम भी ऐसी बातों का बार २ समाधान नहीं लिखेंगे ॥

आगे बहुतसा जगड्वाल साधुसिंह ने लिखा है जिस में एक बात यह भी है कि–

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥२॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥
अ० ४ पा० ४ सू० १०।११।१२ ॥

इन वेदान्तदर्शन के सूत्रों से स्वामी दयानन्द जी ने मुक्त की दशा का वर्णन लिखा है कि मुक्ति में कोई लोग इन्द्रियों का अभाव और कोई सूक्ष्म इन्द्रियशक्ति की विद्यमानता मानते हैं तथा कोई २ भाव और अभाव दोनों मानते हैं इत्यादि उन का अभिप्राय है। इस पर साधुसिंह कहते हैं कि उक्त सूत्रों से ब्रह्मलोक में जाने वाले उपासक के स्थूल शरीर के रहने न रहने का विचार है अर्थात् व्यास के मत में स्थूल शरीर नहीं रहता जैमिनि के मत में रहता है और बादरायण के मत से स्थूल रहता भी और नहीं भी रहता अर्थात् उस की इच्छा पर निर्भर है। यह साधुसिंह का आशय है ॥

अब इस पर विचार करना चाहिये कि ठीक क्या है ?। इन व्यासरचित वेदान्तसूत्रों में तो ऐसा कोई पद नहीं जिस से यह सिद्ध हो कि ब्रह्मलोक के जाने वाले उपासक के लिये स्थूल शरीरसहित वा उस से रहित हो कर जाने का विचार है। द्वितीय शङ्करभाष्य में भी ब्रह्मलोक और स्थूल शरीर का नाम नहीं फिर कहां से इन को ऐसा अनुभव हुआ ?। अनुमान होता है कि साधुसिंह ब्रह्मलोक प्राप्ति और मुक्त होने में कुछ भेद मानते हैं। यदि ऐसा है तो यह उन की बड़ी भूल है क्योंकि शङ्कराचार्य जी ने ब्रह्मलोकप्राप्ति और मुक्ति में अर्थान्तर नहीं रक्खा। "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले" इस मुण्डक के वाक्य में "ब्रह्मैव लोको लोकनीयः सूक्ष्मबुद्ध्या द्रष्टुं योग्यो ब्रह्मलोकः" ऐसा समास किया है जिस से ब्रह्मलोक प्राप्ति का नाम ही मुक्ति सिद्ध होता है। और कदाचित् शङ्कराचार्य जी लिखते भी तो जब मूल में नहीं उस की कल्पना मूलविरुद्ध होगी। और न्यायसूत्र के वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है कि "अभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति" अजर अमर मृत्युरहित कल्याण-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति ही अपवर्ग वा मुक्ति है। द्वितीय शरीर का विशेषण स्थूल पद लगाना यह भी मनमाना है। यह भौतिक शरीर पृथिवी से ऊपर

थोड़ी ही दूर आकाश में जा सकता है । इस के लिये आज कल लोगों ने इस की अवधि भी नियत करली है कि कोश दो कोश से अधिक ऊपर कोई नहीं जा सकता आगे जाते ही प्राण निकल जाते हैं । इत्यादि अनेक कारणों से सिद्ध होता है कि कोई प्राणी स्थूल शरीर सहित एक लोक से दूसरे में नहीं जा सकता । इस से ब्रह्मलोक में स्थूल शरीर सहित जाना मानना अज्ञान है । किन्तु सूक्ष्म शरीर का भावाभाव मानना बन सकता है और ऐसा ही सिद्धान्त स्वामी जी ने भी माना है ॥

आगे जीवात्मा के स्वरूप विषय में कपोलकल्पित एक संस्कृतवाक्य साधुसिंह ने और भी लिखा है कि—

जीवो अनित्यः परिणामित्वात् दुग्धवत् यत्रयत्र परिणामित्वं तत्र अनित्यत्वं यथा दुग्धे ॥

इस में कोई २ ऐसी अशुद्धि हैं जिन को लघुकौमुदी मात्र व्याकरण पढ़ा विद्यार्थी भी जान सकता है । जीवो आगे अनित्यः ऐसी संहिता नहीं रह सकती किन्तु अकार को पूर्वरूप हो कर सन्धि हो जायगा । जीवोऽनित्यः इत्यादि इस से भी पाठकों को साधुसिंह के बोध का अनुमान हो जायगा कि व्याकरण में कहां तक प्रवेश है । द्वितीय यह संस्कृत न्यायाभास (देखने में पञ्चावयव न्याय के तुल्य वास्तव में मिथ्या) इस लिये है कि यह सिद्धान्त सब शास्त्रों से विरुद्ध है । देखो मूल उपनिषदों में ही स्पष्ट लिखा है जिस में कुछ बनावटी अर्थ भी नहीं हो सकता । यथा कठोपनिषदि—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ॥

यहां अज नित्य और शाश्वत आदि विशेषण स्पष्ट ही जीवात्मा के हैं और यही शङ्करस्वामी का भी आशय है । भगवद्गीता में (नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि) इत्यादि अनेक श्लोकों से जीवात्मा को नित्य सिद्ध किया है । तथा महाभारत उद्योगपर्व में और भी स्पष्ट लिखा है कि—

धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।

यहां जीव को स्पष्ट ही नित्य कहा है फिर इन के निष्प्रमाण कल्पित संस्कृत का प्रमाण कौन मानेगा ? । यह नास्तिकों का पक्ष वा मत है कि जीव

अनित्य अर्थात् शरीर के साथ उत्पन्न होता और साथ ही नष्ट भी हो जाता है इस पक्ष में पुनर्जन्म भी नहीं मानना बनता और इन्हीं लोगों के मत में न्यायशास्त्रोक्त यह दोष—“कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः” भी आता है कि जो मरते समय तक अच्छे बुरे कर्म किये थे जिन का फल मरणावधि नहीं भोग पाया वे तो छूट गये वा उस मनुष्य का परिश्रम व्यर्थ गया इसी को शास्त्रकार कृतहान कहते हैं । और जन्म से ही किसी को राज्यादि ऐश्वर्य का सुख तथा किन्हीं को महादरिद्रतादि का दुःख भोगने को मिलता है यह अच्छा वा बुरा फल विना ही कर्म किये क्यों प्राप्त हो गया ? इसी को अकृताभ्यागम दोष कहते हैं सो यह जीवात्मा को अनित्य मानने वाले नास्तिकों के मत में बड़ा दोष है इस का निवारण करना बहुत कठिन है । यह नास्तिकता का दोष साधुसिंह पर आता है और द्वितीय इस वाक्य में उदाहरण वा दृष्टान्त दूध का दिया है कि जैसे दूध परिणामी अर्थात् रूपान्तर बनने वाला है कि दूध से दही बन जाता वा खाये पिये आहार से दूध बन जाता है इस कारण आदि अन्त वाला है दूध पहिले नहीं था वा घासादिरूप में था और पीछे दूधरूप बन गया तथा पीछे भी दही आदिरूप हो गया अपने रूप में बहुत कम समय तक रहता है इस लिये परिणामी है । इस प्रकार जीवात्मा का परिणाम दिखाना चाहिये था कि किस वस्तु से जीवात्मा बना और पीछे किस रूप में बन गया । मेरे विचार में साधुसिंह कदापि सिद्ध नहीं कर सकते कि जीवात्मा अमुक वस्तु से बना और पीछे अमुकरूप बन जाता है । ऐसे वाक्य तो सब कोई लिख वा बना सकता है परन्तु उस का समूल वा प्रमाणानुकूल होना और युक्तियुक्त होना प्रशंसा का हेतु होता है और ऊटपटांग लिख देना पण्डिताई में धब्बा लगाता है सो ऊपर लिखा वाक्य प्रमाण और युक्ति दोनों से विरुद्ध होने के कारण उन की पण्डिताई को कलङ्कित करता है । इस लिये यदि लिख देते कि—

जीवो नित्यः, अच्छेद्यत्वादिगुणयोगात्, आकाशवत्, यत्रयत्राकाशपरमाण्वादावच्छेद्यत्वं तत्रतत्र नित्यत्वम्, यथाच्छेद्यत्वादिगुणयोगादाकाशादयो नित्यास्तथातद्गुणयोगज्जीवोऽपि तस्मादच्छेद्यत्वादिगुणयोगान्नित्यो जीव इति न्यायः ॥

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर भाग ५ अं० ४ पृ० ५२ से आगे ॥

रूप से तीन पग धरे " विचारशील पाठकगण इस अर्थ पर ध्यान देंगे तो स्वयमेव उन को ऊटपटांग दीख पड़ेगा। प्रथम तो मन्त्र में ऐसा कोई पद वा वाक्य नहीं है कि जिस का अर्थ या आशय ऐसा निकले कि " विष्णु ने वामनावतार धारण कर " द्वितीय जब वामनावतार हुआ तो बौना नाम बहुत छोटे का है और वैसा ही लेख पुराणों में भी लिखा है। इस से बौने के पग साधारण मनुष्य से भी छोटे होते हैं फिर तीन लोक में पग कहां से फैल गये ? यदि अग्नि वायु और सूर्य नामक तीन पग उस के माने गये फिर वामन क्यों कर हुआ। वामनावतार यदि मनुष्य की आकृति में था तो उस के पग भी मनुष्य के से ही होंगे और जिस के अग्नि आदि पग हों वह वामन नहीं हो सकता यह एक हँसी कीसी बात परस्पर विरुद्ध है। जहां तक अनुमान होता है तो पं० हरि० जी का लेख पुराणों के अनुकूल भी नहीं क्योंकि पुराणों में अग्नि वायु और सूर्यरूप तीन पग नहीं लिखे किन्तु निरुक्त में जहां इस अंश का विचार है वहां वामनावतार का नाम ही नहीं। अवतार होने का अभिप्राय पौराणिक लोग भी यही मानते हैं कि मनुष्यादि किसी योनि का शरीर परमेश्वर ने धारण किया वा विष्णु शिवादि नामकों ने शरीरधारण किया सो अब यह वार्त्ता पं० हरि० जी से पूछना चाहिये कि अवतार लेते समय वामन जी का शरीर कैसा था ? और पग मनुष्य के से थे वा किसी अन्य के से ?। अग्नि वायु सूर्य वामन जी से पहिले थे वा नहीं ? यदि पहिले भी थे तो अग्नि आदि रूप से वामन जी ने पग धरे यह एक असम्भव बात है। पग धरने से जो चिह्न होगये वे अग्नि आदि हुए वा उन के पग ही अग्नि आदि रूप रहे ?। इत्यादि अनेक शङ्का इन के असम्भव अर्थ पर हो जाती हैं। इस लिये इन का प्रमाण बुद्धिमानों को त्याज्य है। और उस मन्त्र का मुख्यार्थ यह है कि—

विष्णुर्व्यापक ईश्वर इदं जगत् त्रेधा-त्रिप्रकारेण निर्मितवान् प्रकृतेस्त्रिविभागांशकल्पनया विदधाति। अस्य जगतः पांसुरे सूक्ष्मावयवेषु समूढं सम्यक् प्राप्तं पदं स्वस्याधिकारं निदधे स्थापितवान्। अग्निवायुसूर्यरूपेण स्वस्याधिकारं विज्ञापितवान्।

अर्थात् विष्णुनाम व्यापक परमेश्वर ने इस प्रत्यक्ष विद्यमान जगत् को तीन प्रकार से अर्थात् प्रकृति नामक जगत् के कारण को उत्तम मध्यम निकृष्ट या ऊपर नीचे बीच में जन्म, स्थान और धाम तीन ही रूप से विक्रम के साथ बनाया। इस जगत् के सूक्ष्म अवयवों में सम्यक् प्राप्त अपने अधिकार को अग्नि वायु और सूर्यरूप तीन चिह्नों से जताया वा स्थापित किया। अग्नि आदि अद्भुत वस्तुओं के बनाने और उन को नियम में चलाने से परमेश्वर की सत्ता का पूर्ण अनुमान हो जाता है। इत्यादि प्रकार इस मन्त्र के अर्थ का विशेष विस्तार भी हो सकता है तथापि संक्षेप से लिखा है॥

आगे पं० हरि० जी और भी यजुर्वेद का मन्त्र प्रमाण में लिखते हैं कि—

विष्णवे स्वाहा। विष्णवे निभूयाय स्वाहा। विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥ यजुर्वेद अ० २२ मन्त्र २० ॥

अर्थः—पृथिवी पर मच्छी राम और कृष्णादि अवतारों को धारण कर पृथिवी की रक्षा करता शिपिनामक पशु वा प्राणियों में प्रविष्ट रहने वाला व्याप्त विष्णु के लिये स्वाहा अर्थात् आहुति दी हुई प्राप्त हो॥

उत्तर-संस्कृत विना पढ़े लोग भी ध्यान देंगे तो जान सकते हैं कि उक्त मन्त्र में मच्छी और राम कृष्णादि का नाम निशान भी नहीं है फिर इस पर हम क्या उत्तर लिखें ऐसे तो प० हरि सभी मन्त्रों से अवतार सिद्ध कर सकते हैं उन को चाहिये था कि जिन मन्त्रों से अवतार सिद्ध करते उन के अर्थ में कुछ युक्ति प्रमाण भी खर्च करते। सो कुछ नहीं किया वैसे ही केवल ऊटपटांग लेख लिख दिये॥

आगे यजुर्वेद अ० १६ मन्त्र २५ का प्रमाण दिया है॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥

अर्थः—विषयलम्पट वा बुद्धिमान् और उन के पालक और जिन का विकृत (नग्न, मुण्ड और जटिलादि) रूप है तथा जिन के अनेकरूप हैं अर्थात् हयग्रीव वाराह आदि हैं इन सब को नमस्कार है ॥

उत्तर—यह भी प्रमाण पूर्व के तुल्य ही है । अर्थात् इस में भी हयग्रीव और वाराह आदि का नाम भी नहीं है । यह केवल मूर्खों को बहकाने के लिये मिथ्याकल्पना की है । गणपति नाम लोक में चौधरी वा हेड का है सो गौण और मुख्य दोनों को नमस्कार करना ही चाहिये । वा नमः शब्द का अर्थ निघण्टु में लिखे अनुसार अन्न भी है सो गौण वा मुख्य सब को अन्न देने की आज्ञा भी है । यदि कोई पं० हरि० जी से पूछे कि उक्त मन्त्र में हयग्रीव और वाराहादि किस पद का अर्थ है? इस लिये व्याकरण वा कोष के प्रमाण से सिद्ध करो तो चुप ही साधना पड़ेगा । विश्वरूप यहां ईश्वर का विशेषण होता तो बहुवचन न करते विश्वरूप बहुत नहीं होते किन्तु जो सर्वरूप है वह एक ही हो सकता है जैसे कि आकाश सब में सर्वरूप और व्यापक होने से सब से पृथक् एक ही वस्तु है वैसे परमात्मा विश्वरूप एक ही है फिर विश्वरूप बहुत ईश्वर नहीं तो उक्त प्रमाण देना भी सर्वथा निरर्थक है ॥

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामम् ॥

यजुः अ० ३० मं० १० ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य से पं० हरि० ने वामन पद को आया देख कर वामनावतार सिद्ध करने की चेष्टा की है परन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि जिस महीधर की टीका को प्रायः पौराणिकमात्र लोग सर्वोपरि प्रामाणिक मानते और कहते हैं कि (टीका तु माहीधरी) यजुर्वेद पर टीका तो महीधर की ही है अर्थात् इस से बढ़ के कोई टीका नहीं तो महीधर ने क्या अर्थ किया है?। यह अवश्य ही देखना था उचित तो यह है कि अपने विरोधियों की टीका भी अवश्य देखना चाहिये । यदि विरोधी की टीका को कोई न भी देखे तो अनुकूल की अवश्य देखनी उचित है । सो पं० हरि० जी ने महीधर अपने अनुयायी के भाष्य को भी न देख कर केवल वामन शब्द के आजाने से सहसा लिख दिया और मान बैठे कि वामनावतार सिद्ध हो गया । क्या विद्वानों के लिये यह थोड़ी लज्जा का काम है?। महीधर इस तीसवें अध्याय के (ब्रह्मणे ब्राह्मणम्०)

५ वें मन्त्र से ही ब्राह्मणादि मनुष्यों और अन्य पशुओं आदि प्राणियों को यज्ञ में मार २ चढ़ाने के लिये गिनाता गया है। और यहां अभिप्राय महीधर का यहां भी है कि प्रमुद्नामक देवता के लिये वामन बौने मनुष्य को काट कर यज्ञ में चढ़ा दो यह महीधर का अर्थ है और पं० हरि० जी ने वामन शब्द से वामनावतार ही को धर घसीटा। अब हम किस को सत्य मानें?। पं० हरि० जी ने वामनावतार की सिद्धि में कोई युक्ति वा प्रमाण भी नहीं दिया कि इस २ रीति से वामनावतार का अर्थ होना ठीक है और न महीधर के भाष्य का खण्डन ही किया इस लिये इस अंश पर इन का कहना सर्वथा निर्बल है ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

यजुः अ० ३२ मं० ४ ॥

इस मन्त्र के अर्थ में भी हरि० जी ने कुछ पण्डितार्यी नहीं की केवल जात और जनिष्यमाण पदों को देख कर अवतार होना मान लिया है। यदि इस का यही अर्थ हो कि जो लोग प्रसिद्धि में समझते हैं तो आधुनिक वेदान्तियों का पक्ष सिद्ध हो सकता है कि परमेश्वर स्वयं जगत्रूप बन गया और बने गा तथा उसी ने मनुष्यादि जीव जन्तुओं के शरीरधारण कर रक्खे हैं अर्थात् वही सब जड़ चेतनरूप बन रहा है। इस अर्थ से भी अवतार उड़ जाते हैं क्योंकि जब सभी ईश्वररूप हो गये तो अवतार किस का रहा?। अवतारों को ये लोग विशेषरूप में मानते थे किन्तु मनुष्यमात्र वा प्राणीमात्र को अवतार नहीं मानते थे ऐसा मानें तो मानने वाला स्वयं भी अवतार हो जावे फिर मानने वाला कोई न रहे इस लिये इस पक्ष में अवतार मानना ठीक नहीं। और मुख्य कारण तो यह पक्ष ही ठीक नहीं बनता परमेश्वर चेतनस्वरूप निराकार निर्विकार निष्पाप और सदा पवित्र स्वरूप है यह सिद्धान्त सब का है सो बिगड़ेगा और विना कारण जब कुछ नहीं होता तो निष्कलङ्क और सदा निर्भ्रान्त को कलङ्क और भ्रान्ति कैसे लग गयी अर्थात्

अथ वेदार्थविचारः ॥

आर्यसिद्धान्त के सब ग्राहक महाशयों को ज्ञात ही है कि यद्यपि प्रारम्भ से इस पत्र में वैदिकसिद्धान्त को सब प्रकार पुष्ट करने के लिये ही प्रायः लेख किये जाते हैं और वैदिकसिद्धान्त का नाम ही वास्तव में आर्यसिद्धान्त है ऐसा न करता तो आर्यसिद्धान्त स्वयमेव अपने कर्त्तव्य से च्युत माना जाता तथापि अब वैदिकसिद्धान्त को साक्षात् पुष्ट करने के लिये और भी कुछ विशेष विचार हुआ है । अर्थात् अब तक व्यतिरेक से वैदिकसिद्धान्त की पुष्टि अधिक कर की गयी कि जो २ लोग वेदोक्तसिद्धान्त से विरुद्ध लिखा करते थे उन के खण्डन द्वारा वेदमत की पुष्टि अधिकांश में की गयी है [विरोधी के हटाने को ही व्यतिरेक कहते हैं और विरोधी के हटाये विना किसी पक्ष की कभी पुष्टि होती नहीं इसी लिये सब विचारशील वा विद्वान् पुरुषों को सब अंशों में प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से सदा उपाय करने पड़ते हैं । जैसे शरीर को स्वस्थ और सुखी रखने के लिये इष्ट के विरोधी रोगों को ओषधि वा विरेचन द्वारा हटाना व्यतिरेक और दुग्ध घृतादि पोषक वस्तुओं के सेवनादि से शरीर को पुष्ट करना अन्वय का उपाय है परन्तु दोनों प्रकार के उपायों से एक ही इष्ट की सिद्धि होती है] अब यह विचार हुआ कि अन्वय को प्रधान और व्यतिरेकसम्बन्धी उपाय को गौण रख कर वैदिकसिद्धान्त की पुष्टि करनी चाहिये अर्थात् किसी एक वेद के प्रकरण का नियमानुसार साक्षात् अर्थ संस्कृत और नागरी भाषा में लिखा जाया करे जिस से वेद का सिद्धान्त और गम्भीराशय सब पाठक जनों को मालूम होता रहे और सायणाचार्यादि भाष्यकारों का विपरीत आशय कि जिस से वेद की तुच्छता प्रतीत होती हो उस का व्यतिरेक द्वारा निषेध वा खण्डन भी होता जायगा । परन्तु सायण के भाष्य का आशयमात्र नागरीभाषा में संक्षेप से लिखा जायगा किन्तु उन का संस्कृत हम नहीं रक्खेंगे । अभी ऋग्वेद के मण्डल १० का हम प्रारम्भ से अर्थ लिखेंगे इस के पूरे होने पश्चात् अन्य किसी प्रकरण का प्रारम्भ किया जायगा ॥

पहिले समय में जब वेद के पठनपाठन का आबालवृद्ध तक प्रचार था तब वेद के सिद्धान्त और अभिप्राय को इस प्रकार अनेक भाषाओं में विस्ता-

रपूर्वक तर्कवितर्क से लिखने की आवश्यकता इस लिये नहीं पड़ती थी कि उस समय संस्कृत के पढ़ने का प्रचार विशेष था संस्कृत से ही सब व्यापार भाषा के समान होते थे उस समय वेदोक्त धर्म कर्म के करने वाले ही प्रायः लोग होते थे तो वेद का सिद्धान्त उन सभी को ज्ञात रहता था। और एक बात यह भी है कि जब तक किसी विषय पर कोई प्रतिकूल तर्क करने वाला खड़ा नहीं होता तब तक वैसे कुतर्कों के उत्तर वा खण्डन करने की भी आवश्यकता नहीं होती इसी के अनुसार पहिले कोई वेद का विरोधी मत नहीं था। परन्तु अब वैसा समय नहीं रहा किन्तु अब संस्कृत विद्यासम्बन्धी धर्म कर्म का सेवन और धर्मानुकूल चलना इत्यादि सभी बातें नष्ट हो गयीं अब कोई भी वेद के सिद्धान्त को पूरा २ जानता हो यह कम सम्भव है और वेद के विरोधी मत वा नास्तिक मत भी अनेक खड़े हो गये। इस लिये वैदिकसिद्धान्त की अनेक प्रयोजनों से पुष्टि और प्रचार करने का उद्योग करने पड़ा। अब हम को ईश्वराज्ञारूप वेद के गम्भीर पवित्र आशय को जगत् भर में सब भाषाओं के द्वारा फैलाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि वेद का आशय लेकर न्यायादि पहिले भी ऋषि लोगों ने बनाये तथा व्याख्यानरूप से ब्राह्मणग्रन्थों का निर्माण किया और उस समय वैसे ही पुस्तकों की आवश्यकता भी थी तथापि अब उस समय की अपेक्षा और भी अधिक सरलभाषा में वेद का विस्तार करना आवश्यक है। जब से इस देश में ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का यथावत् न सेवन करके ब्राह्मणादि वर्णों ने वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना छोड़ा तभी से सब के हृदयों में अविद्यान्धकार छाता गया और वेदादिशास्त्रों के शुद्ध गम्भीराशय भी लुप्त होते आये। अन्त में होते २ यहां तक हो गया कि वेद के मन्त्रों का अर्थ कोई नहीं जान सकता था वेद के मन्त्रार्थ जानने के लिये नहीं हैं किन्तु उन का जिस कार्य में विनियोग हो वहां बोल लेना और हाथ हिला कर पाठ कर लेना इसी में पुण्य है। अभी कुछ काल से वेद पढ़ने वाले ऐसा ही कहने लगे थे और वर्त्ताव भी अधिक कर ऐसा ही करते थे तथा अब तक ऐसा ही प्रचार साधारण लौकिक लोगों में चला जाता है। परन्तु अभी थोड़े दिन से एक महात्मा स्वामी दयानन्दसरस्वती जी हुए उन्हों ने इस अन्धकार को मेटने के लिये शक्तिभर बहुत प्रबल उद्योग किया धायु का प्रवाह लौटा है। उन्हों ने स्वयमेव वेदों पर भाष्य करना प्रारम्भ किया और

देहान्त होने पर्यन्त जहां तक हो सका करते रहे । तब से वेदों पर लिखने वाले अनेक खड़े हो गये हैं परन्तु वे लोग वैसों में से ही हैं जिन्हों ने वेद के अर्थ को तिलाञ्जलि दे रक्खी थी अथवा कोई २ ऐसे भी खड़े हुए हैं जो वेद के पूर्ण शत्रु हैं तो इसी से विचार लेना चाहिये कि वे लोग वेदार्थ कैसा करेंगे । वेद का शब्दार्थमात्र जानना कुछ बहुत कठिन नहीं है किन्तु उस का सिद्धान्त वा भावार्थ जानने में कुछ विशेष संस्कारिणी बुद्धि होना आवश्यक है तथा अक्षरार्थ ज्ञान लेनेमात्र से कुछ विशेष उपकार भी नहीं जैसा कि तात्पर्य जानने वाला कार्यसिद्ध कर सकता है वैसा अन्य कोई अपना वा अन्य का प्रयोजन नहीं निकाल सकता । वेद वा कोई वस्तु वा ग्रन्थ हो अर्थ जानना सभी का आवश्यक है क्योंकि अर्थ नाम प्रयोजन का है । जिस का प्रयोजन ही ज्ञात नहीं उस कार्य में प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है इस लिये उस का अर्थ ज्ञात करना बहुत आवश्यक है । जब से लोग विद्या वा धर्म के सेवन से रहित हुए तभी से वेद का अर्थज्ञान सर्वथा नहीं छोड़ दिया था किन्तु कुछ काल पीछे लोगों को वेदार्थ जानने में अनेक विध अज्ञान उत्पन्न होने लगा यहां तक कि झूठी कथाओं का मूल वेद को मान कर पुराण बनाये और वैसे ही कथा युक्त भाष्य वेदों पर बना दिये जिस से अच्छे २ विचारशील लोग वेदों को तुच्छदृष्टि से देखने लगे इत्यादि प्रकार वेदार्थ न जानने से अनेक बुराई फैल गयी और आर्ष प्राचीन पुस्तकों में जो वेदों का मण्डन लिखा है सो भी अर्थज्ञान बुद्धि से ही जानो । अर्थ बुद्धि से ही धर्म का मूल वेद हो सकता है किन्तु पाठ से नहीं । इस लिये हम को भी वेद के अर्थ और तात्पर्य का प्रचार करना परम इष्ट वा कर्त्तव्य है क्योंकि हमारे नियम उद्देश में लिखा है कि "वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" मैं इस बात की प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि वेद जैसे गम्भीर ईश्वरीय विद्या का अभिप्राय ठीक २ लिख कर प्रकट कर सकूंगा तो भी यह कह सकता हूं कि जो कुछ लिखूंगा वह मूल से विरुद्ध न होगा । अभी ऋग्वेद के १० दशम मण्डल का अर्थ प्रारम्भ से लिखूंगा । प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में उपक्रमणिका का पाठ लिखा जाता है उस का अभिप्राय एक बार लिख देने से सर्वत्र जान लेना चाहिये कि ऋषि आदि के लिखने का यह प्रयोजन है सो आगे लिखा है ॥

अथास्मिन् दशममण्डले बृहन्निति सप्तर्चस्य प्रथमसूक्तस्य त्रितआप्त्य ऋषिः। मण्डलादिपरिभाषयाऽग्निर्देवता। अनादेशपरिभाषया त्रिष्टुप्छन्दः सामान्येनायमुपक्रमणिकास्थः पाठः ॥

यह ऊपर लिखा पाठ सब ऋग्वेद की उपक्रमणिका का अनुवाद है सब वेदों की उपक्रमणिका पृथक् २ होती हैं। उन का अभिप्राय सामान्य कर यही है कि एक प्रकार का भावार्थ मन्त्रों का दिखा दिया है कि इन २ मन्त्रों में इस २ प्रकार का वर्णन है। ऋषि लिखने का प्रयोजन यह है कि जब २ वेद लुप्तप्राय वा मन्दप्रचार हो जाते हैं तब २ जिन २ ऋषियों के द्वारा उन का आशय प्रचरित हुआ उन का नाम उन २ मन्त्रों वा सूक्तों के साथ इस लिये लगा देते हैं कि जिस से उन के महत् कार्य की प्रशंसा जगत् में चली जावे जिस से अन्य लोगों को भी ऐसे श्रेष्ठ कर्म करने का उत्साह बढ़े। प्रत्येक मन्त्र वा सूक्त के साथ देवता लिखने का प्रयोजन यह है कि जिस सूक्त वा मन्त्र का जो देवता लिखा जाता है उसी पद के वाच्यार्थ का वर्णन उस सूक्त वा मन्त्र में होता है अर्थात् जिस का जो देवता है उसी का व्याख्यान उस में जान लेना चाहिये ॥

जैसे (तत्सवितु०) मन्त्र का देवता सविता है अर्थात् सविता पदवाच्य का वर्णन उस मन्त्र में है। इसी प्रकार देवता जान लेने से उस मन्त्र वा सूक्त का सारांश जान लिया जाता है। और छन्द लिख देने से उस मन्त्र वा सूक्त की पादव्यवस्था जान लेने से उच्चारण ठीक २ हो सक्ता है। जहां ठहरना वा न ठहरना चाहिये वहां वैसा करता है। और पादव्यवस्था के अनुसार ही वाक्यव्यवस्था बनती है जिस से अर्थ का बोध सुगमता से होता है। अब मन्त्रार्थ का प्रारम्भ किया जाता है:—

अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात्। अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥ १ ॥

अग्रे। बृहन्। उषसाम्। ऊर्ध्वः। अस्थात्। निर्जगन्वान्। तमसः। ज्योतिषा। आ अगात्। अग्निः। भानुना। रुशता। सुऽअङ्गः। आ। जातः। विश्वा। सद्मानि। अप्राः ॥ १ ॥

अ०—(उषसाम्) ब्राह्ममुहूर्ते प्रातर्जायमानप्रकाशानाम् (ऊर्ध्वः) उपरिष्टात् परस्ताद्वावस्थितः सूर्यरूपः (बृहन्) वर्धमानस्तेजोराशिरग्निः (अग्रे) प्रकाशदानेन सर्वेषां समक्षे (अस्थात्) तिष्ठति (तमसः) रात्रेः । तम इति निघण्टौ रात्रिनामास्ति (निर्जगन्वान्) निर्गमयिता वर्जको दूरीकर्त्ता (ज्योतिषा) दर्शनीयेन नव्येन स्वीयतेजसा साकम् (आ,अगात्) आगच्छति दृष्टिपथमायाति (स्वङ्गः) शोभनकिरणावयवः (अग्निः) सूर्योऽग्निः (रुशता) तीव्रेण छेदकेन दाहरूपत्वात्पीडकेन हिंसकेन (भानुना) किरणसमूहेन सार्द्धम् (जातः) प्रकटः प्रसिद्धिं प्राप्तः सन् (विश्वा,सद्मानि) सर्वान् लोकान् सर्वाणि गृहाणि वा (आ,अप्राः) स्वस्वाभीष्टकार्येषु योजनेन पूरयति सुखसम्पन्नानि करोति सर्वेषां मनोभिलषितकामानां प्रापणहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥

भा०—सूर्यरूपोऽग्निरेव सर्वस्य कार्यसाधकोऽस्ति । अनिष्टं यत्तमोगुणं सर्वस्य हृदि निद्रादिरूपेणावस्थितं बाह्यं च तमः प्रातरेव निवारयति तेन शीतादिच्छेदनद्वारा सर्वेषां प्राणिनां पूर्णं सुखमुत्पद्यते । यदि सूर्यस्योदयास्तौ न स्यातां तदा प्राणिनां व्यवहारसिद्ध्यावसत्यां सुखमपि नोपलब्धं भवेत् ॥१॥

भाषार्थः—(उषसाम्) प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उत्पन्न वा प्रकट हुए प्रकाशों से (ऊर्ध्वः) ऊपरी भाग वा परभाग में अवस्थित सूर्यरूप (बृहन्) बढ़ता तेजःस्वरूप अग्नि (अग्रे) प्रकाश देने रूप से सब के सामने (अस्थात्) स्थित रहता है (तमसः) रात्रि को (निर्जगन्वान्) निकालने वा दूर करने वाला सूर्यरूप अग्नि (ज्योतिषा) देखने योग्य अपने नवीन तेज के साथ (आ, अगात्) देखने में आता वा प्रत्यक्ष होता है (स्वङ्गः) सुन्दर किरणनामक अवयवों वाला (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (रुशता) तीव्र छेदक वा पीड़ा देने वाले हिंसक तपाने वाले (भानुना) किरण समूह के साथ (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ

सूर्यरूप अग्नि (विश्वा, सद्मानि) सब लोकों वा सब घरों को (आ, अप्राः) सब को अपने २ अभीष्ट कार्यों में युक्त कराने द्वारा सुखयुक्त करता अर्थात् सब के मन की कामना पूरी होने में हेतु होता है ॥

भा०—सूर्यरूप अग्नि ही सब का कार्य सिद्ध करने वाला है। सब के हृदय में निद्रादिरूप से अवस्थित जो अनिष्ट तमोगुण उस को और बाहिरी अन्धकार को प्रातःकाल ही निवृत्त कर देता है। इस से शीत आदि को हटाने द्वारा सब प्राणियों को पूर्ण सुख उत्पन्न होता है। यदि सूर्य के उदय अस्त न होवें तो प्राणियों के व्यवहार की सिद्धि न होने से सुख भी प्राप्त न हो ॥१५

अब प्रथम मन्त्र पर सायणाचार्य जी का संक्षिप्त अनुवाद—

यह बड़ा अग्नि प्रातःकाल में ज्वालारूप से ऊपर को जलता हुआ अवस्थित है। वह अग्नि रात्रि में से निकला अपने तेज से प्रसिद्ध होता हुआ अर्थात् गार्हपत्य से विहार करता हुआ आहवनीय के प्रति आता है। इस के पश्चात् सुन्दर लपटों वाला कर्म के लिये उत्पन्न हुआ यह अग्नि दर्शनीय वा अन्धकार के नाशक तेज से सब लोकों वा यज्ञशालाओं को पूर्ण करता है ॥

इस मन्त्र के अर्थ में कुछ अधिक विरोध नहीं है किन्तु पार्थिव अग्नि का व्याख्यान सायण ने किया और हमने सूर्य का वर्णन किया है। सायण के अर्थ में (अग्रे) और (ऊर्ध्वः) ये दो मन्त्र के पद निरर्थक जान पड़ते हैं। ऊर्ध्व-ज्वलन तो अग्नि का नाम ही है। जो अभिप्राय सायण ने (अग्रे बृहत्तमा-मूर्ध्वो अस्थात्) से निकाला है वही प्रयोजन (बृहन्प्रातरस्थात्) से निकल सकता है। द्वितीय गार्हपत्य से आहवनीय के प्रति आना लिखा यह उलटा है। आ-हवनीय नामक ब्रह्मचर्य से गार्हपत्य की ओर आना बन सकता है इस लिये यह सीधा अर्थ है। उक्त प्रकार से सायण के अर्थ में दो दोष जान पड़ते हैं ॥१॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारु-र्विभृत ओषधीषु। चित्रः शिशून् परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः ॥२॥

सः। जातः। गर्भः। असि। रोदस्योः। अग्ने। चारुः। विऽभृतः। ओष-धीषु। चित्रः। शिशून्। परि। तमांसि। अक्तून्। प्र। मातृऽभ्यः। अधि-कनिक्रदत्। गाः ॥ २ ॥

अ०-(सः,अग्ने) सोऽग्निः सूर्यरूपः (रोदस्योः) आकाशपृथिव्योः (गर्भः) गर्भ इव मध्यस्थः (असि) अस्ति। अत्र प्रत्यक्षमत्या सम्बोधनं मध्यमपुरुषप्रयोगश्च। वेदस्य च शैलीयं यत्प्रत्यक्षे वस्तुनि प्रायेण मध्यमपुरुषयोगः। अतएव व्याकरणे पुरुषव्यत्ययः प्रदर्शितः (ओषधीषु) यवादिषु (विभृतः) किरणप्रवेशैर्व्याप्तः फलपक्वदशायाम् (चारुः) शोभमानः (चित्रः) बहुरङ्गो दर्शनीयः (शिशुः) शातयिता छेदकः। शोऽन्तकर्मणीति धातुनो निष्पन्नः शब्दो यौगिकोऽत्र गृह्यते (तमांसि) सामान्यान्धकाराणि (अक्तून्) रात्रीश्च (परि) परिगमयति सर्वतो दूरीकरोति (मातृभ्यः) सर्वेषां मातृवत्पालिकाभ्य ओषधीभ्योऽर्थात्तासां वृद्ध्यर्थम् (अधि,कनिक्रदत्) आधिक्येन शब्दं कुर्वन् विद्युद्रूपेण मेघे व्याप्तो गर्जन् (प्र,गाः) प्रगच्छति प्रकर्षेण सर्वान् पदार्थान् प्राप्नोति॥

भा०-सूर्यरूपोऽग्निः स्वकिरणैः सर्ववस्तुषु प्रविष्टः सर्वानोषध्यादिपदार्थान् मनुष्यादिप्राणिनो वा स्वस्वसमये परिपक्वान् शोभितान् वा करोति सर्वविधं तमो निवारयति विद्युद्रूपेण वृष्टिं निष्पाद्यौषध्यन्नाद्युत्पत्त्या सर्वजगद्रक्षणहेतुर्भवतीत्याशयः॥ २॥

भाषार्थः-(सः, अग्ने) वह सूर्यरूप अग्नि (रोदस्योः) आकाश और पृथिवी के बीच (गर्भः) गर्भ के तुल्य अन्तर्गत (असि) है [यहां प्रत्यक्ष मान कर अग्नि शब्द में सम्बोधन और उस के साथ मध्यम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है। वेद की तो यह शैली ही है कि जो प्रत्यक्ष वस्तु में बहुधा मध्यम पुरुष का योग होता है। इसी कारण व्याकरण में पुरुषप्रत्यय दिखाया है] (ओषधीषु) जौ आदि ओषधियों में किरणों के प्रवेश द्वारा (विभृतः) व्याप्त (चारुः) फल पकने की दशा वा अवस्था में शोभा को प्राप्त अर्थात् फलादि के पकने पर जो अच्छा रूप प्रकट होता वह भी अग्नि का ही उत्तम रूप है और अग्नि से ही सब वस्तु पकते हैं अग्नि ही सब को पकाता है (चित्रः) बहुत रंग

होने से देखने योग्य (शिशुः) और छेदन भेदन की शक्ति वाला अग्नि (तमांसि) सामान्य अन्धकार और (अक्तून्) रात्रियों को (परि) सब ओर से दूर करता है (मातृभ्यः) सब का माता के तुल्य पालन पोषण करने वाली ओषधियों की वृद्धि के लिये (अधि,कनिक्रदत्) बिजुलीरूप से मेघ में व्याप्त हुआ अग्नि अधिक कर गर्जनारूप शब्द करता हुआ (प्र,गाः) विशेष कर सब पदार्थों को मेघादि के साथ प्राप्त होता है ॥

भा०—सूर्यरूप अग्नि अपने किरणों से सब वस्तुओं में प्रविष्ट हुआ सब ओषधि आदि पदार्थों वा मनुष्यादि प्राणियों को अपने २ समय में पकाता वा शोभायुक्त बनाता है तथा सब प्रकार के अन्धकार को दूर करता और बिजुलीरूप से वर्षा करके ओषधि और अन्नादि की उत्पत्ति से सब जगत् की रक्षा का हेतु होता है ॥ २ ॥

सायणः—हे अग्नि कल्याणरूप उत्पन्न हुआ ओषधियों के विकाररूप अरणीनामक लकड़ियों में विशेष कर मथा गया आहवनीयादिरूप से अनेक प्रकारों को धारण करता हुआ ओषधियों में वर्त्तमान सो तू अग्निरूप वा सूर्यरूप से (रोदस्योः) आकाश पृथिवी का (गर्भः असि) गर्भ नाम मध्यस्थ है और चित्र वर्ण वा चायनीय चयन करने योग्य ओषधियों का बालक अग्नि रात्रि के तुल्य अज्ञानान्धकारयुक्त शत्रुओं का परिभव नाम तिरस्कार करते हो अर्थात् अपने तेज से उन्हें दबाते हो । सो तुम मातारूप ओषधिओं से बार २ शब्द करते हुए प्रकट होते हो ॥

इस मन्त्र में भी ठीक अर्थ न हो सकने से ओषधि शब्द में अरणी की कल्पना सायण को करने पड़ी वैसे ही अक्तु शब्द के अर्थ में भी खींच खांच करनी पड़ी यदि सूर्यरूप अग्नि का वर्णन उक्त प्रकार से करते तो विना खींचा खांची का ठीक अर्थ लग जाता है

विष्णुरित्था परममस्य विद्वान् जातो बृहन्नभिपाति तृतीयम् । आसा यदस्य पयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र ॥ ३ ॥

अथ पुराणाभाससमीक्षणम् ॥

पुराण इवाभासन्ते नूतनतरा अपि सन्तः पुरातना इव प्रतीयन्ते ते पुराणाभासा ग्रन्थास्तेषां समीक्षणं सत्यासत्ययोर्विवेचनं पुराणाभाससमीक्षणम् । यद्वा समीक्षणेन पुराणाभासग्रन्थानां पुराणाभासत्वप्रतिपादनं करिष्य इत्युपक्रमः—

पुराणों के तुल्य जान पड़ने वाले वास्तव में अत्यन्त नवीन ग्रन्थ पुराणाभास कहाते हैं । उन की समीक्षा नाम उन पुस्तकों की भलाई बुराई सत्यासत्य का विवेक प्रारम्भ किया जाता है । अथवा पुराणाभासग्रन्थ वास्तव में पुराण नहीं किन्तु काष्ठ के हाथी के समान पुराण जान पड़ते वा अविद्यादि के प्रभाव से अन्धपरम्परा में फसे लोगों ने माने पुराणों का मिथ्यापन ठहराया जायगा । प्रयोजन यह है कि अब से आर्यसिद्धान्त में एक यह भी विषय रहा करेगा कि जो आज कल पुराण माने जाते हैं उन किस २ में कैसी २ विपरीत बातें वा असम्भव विषय लिखे हैं यह क्रम से विचार हुआ करेगा जिस पुराण को छेड़ा जायगा उस की क्रमशः सब असम्भव बातें दिखाते जावेंगे । पर पहिले थोड़ा सा पुराणविषयक प्रस्ताव दिखाना चाहिये । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पुरातन शब्द के तकार का लोप करदेने वा एक पक्ष में तुट का आगम न करने से अथवा पृषोदरादि के अन्तर्गत मान लेन से पुराण शब्द की सिद्धि हो जावेगी । परन्तु निरुक्तकारों की निरुक्ति यह है कि " पुरा नवं भवतीति पुराणम् " जो पहिले बनते समय नवीन हो उस को पुराण कहते हैं । इस अर्थ के अनुसार यौगिकपक्ष मानें तो घटपटादि सभी पदार्थों का नाम पुराण हो सकता है । इस अतिव्याप्ति दोष का निवारण योगरूढ शब्द मानने से हो जायगा इस समय पुराण मानने वाले अनेक लोग पुराणशब्द का लाक्षणिक अर्थ यह करते हैं कि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

जिन में सर्ग नाम जगत् की उत्पत्ति प्रतिसर्ग नाम प्रलय, सृष्टि के आरम्भ से हुए मनुष्यों के वंश वा कुलों का वर्णन मन्वन्तरों को व्याख्या। और वंशों

में पीछे २ होते आये मनुष्यों के चरित्र वा वर्त्ताव का व्याख्यान करना कि अमुक २ ने ऐसे २ काम किये । विचारदृष्टि से देखें तो यह लक्षण तो अच्छा है इसी के अनुसार परस्पर अविरुद्ध वर्णन होता तो पुराण मान्य हो सकते थे सो नहीं दीखता । प्रथम तो मुख्य कर सब में नियम से सर्गादि का वर्णन है ही नहीं और जो कुछ है भी वह वेद वा धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त से विरुद्ध तथा परस्पर विरुद्ध और असम्भवादि दोषों से भरा पूरा है इसी कारण इन को पुराणाभास कहा वा माना है कि जिन में वस्तुतः पुराण के लक्षण नहीं घटते किन्तु नाममात्र भासित होता है वे पुराणाभास हैं । और द्वितीय लक्षण से मतमतान्तरों के झगड़े भी इन्हीं से निकलते हैं इस लिये इन का पुराण होना ठीक नहीं बनता । और ऐसी ही विरुद्ध बातें आगे २ दिखायी जावेंगी ॥

पुराण के सामान्यलक्षणविषय में श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्ध तथा सातवें अध्याय में लिखा है ।

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च ।
वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ १ ॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया ॥ २ ॥

अर्थः–पुराण के दो भेद हैं एक अल्पपुराण और दूसरे महापुराण, जिन में पूर्वोक्त पुराण के पांच लक्षण घटते हों वह अल्पपुराण और जिस में आगे कहे दश लक्षण घटें वे महापुराण कहाते हैं । प्रकृति से लेकर इन्द्रियों और उन के विषयों पर्यन्त की रचना को सर्ग, द्वितीय बीज से बीज बनने के तुल्य कार्य सृष्टि के प्रवाह का वर्णन विसर्ग कहाता तृतीय जड़ वा चेतन से अथवा दोनों से प्राणियों की भोजनादि जीविका के निर्वाह का वर्णन करना वृत्ति कहाती चौथी तिर्यक् मच्छी कच्छपादि, मनुष्य, ऋषि और देवताओं में अव-तार धारण कर वेदविरोधी दैत्यों को परमेश्वर मार कर युग २ में संसार की रक्षा करता इस का वर्णन रक्षा कहाता, पांचवां मनु, देवता, मनु के पुत्र, इन्द्र ऋषि और अंशावतार यह छः प्रकार का मन्वन्तर कहाता है, छठा ब्रह्मा से उत्पन्न हुए शुद्ध राजाओं की तीनों काल में कुलपरम्परा दिखाना वंश, सात-वां उन वंशों में हुए विशेष पुरुषों का वर्णन करना वंश्यानुचरित कहाता,

आठवां नैमित्तिक-जो अकस्मात् किसी निमित्त से खड़ा हो गया हो द्वितीय स्वाभाविक तृतीय नित्य और चौथा अत्यन्त यह चार प्रकार का प्रलय संस्था कहाता है, नववां सृष्टि के आरम्भ से अविद्या के वश होकर कर्म कराने वाला जीव का हेतु अर्थात् बन्धन का वर्णन हेतु कहाता और दशवां साङ्गोपाङ्ग मुक्ति का व्याख्यान अपाश्रय कहाता है। ऐसे लक्षणों वाले सब छोटे बड़े अठारह पुराण कहाते हैं॥

ये लक्षण भागवत वाले के बनाये हैं। सब कोई अपनी २ इच्छा के अनुसार लक्षण बनाते हैं। लक्षण कर देने मात्र से किसी वस्तु का प्रमाण वा अप्रमाण होना नहीं कह सकते अर्थात् सत्य और मिथ्या ठहराने के लिये भिन्न ही विचार वा साधन हुआ करते हैं। पुराण लक्षण में ऊपर जो वृत्ति नामक तीसरा लक्षण लिखा वह धर्मशास्त्र का विषय है कि किस को कैसी जीविका करनी उचित वा अनुचित है। रहा भक्ष्याभक्ष्य के विषय में सिद्धानुवाद सो कुछ विशेष उपयोगी नहीं। चौथा लक्षण अवतारों द्वारा जगत् की रक्षा कही सो जब ईश्वर का अवतार होना ही साध्यकोटि में है वा वेद से विरुद्ध है। वेद में स्पष्ट लिखा है कि वह सदा अज निराकार निर्विकार सब प्रकार के शरीर से रहित अकाय है तो अवतार कहने वाले पौराणिक वेदविरोधी क्यों नहीं हुए? वंश्यानुचरित में वंश भी आ जाता है। मन्वन्तर पर साधारण कथन होना चाहिये जैसा मानवधर्मशास्त्र के प्रथमाध्याय में लिखा है तथा बन्धन और मुक्ति का वर्णन वेदान्तशास्त्र का विषय है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जैसे कोई अन्य का धन लेकर धनाढ्य बनना चाहे वैसे इन पौराणिकों ने अन्य शास्त्रों के विषय कुछ लेकर और उन में अपनी ऊटपटाङ्ग गपशप मिला कर सब विद्याओं का भण्डार पुराणों को मानना चाहा है सो यह परस्पर विरुद्ध है अर्थात् कुछ २ अन्य शास्त्रों के विषय इन्होंने लिखे हैं पर लिख नहीं आये इस से उन २ शास्त्रों के साथ विरोध हो गया। इसी कारण विद्वान् लोगों ने इन पुराणों को नीच समझ के छोड़ दिया। और पहिले कहे पांच लक्षण भी इन नवीन पुराणों में नहीं घट सकते अर्थात् सृष्टि आदि के वर्णन में भी वेदादि सत्यशास्त्रों से विरुद्ध वा असम्भव लेख हैं इस कारण इन का सत्य ठहरना दुस्तर है॥

अब इन की संख्या के विषय में श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२ अ० ७ के श्लोक हैं कि-

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसञ्ज्ञितम् ॥ १ ॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहमात्स्यकौर्म्यं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥ २ ॥

ब्रह्मपुराण १ पद्म० २ विष्णुपु० ३ शिवपु० ४ लिङ्गपु० ५ गरुड़पु० ६ नारदपु० ७ भागवत ८ अग्निपु० ९ स्कन्दपु० १० भविष्यपु० ११ ब्रह्मवैवर्त्तपु० १२ मार्कण्डेयपु० १३ वामनपु० १४ वाराहपु० १५ मत्स्यपु० १६ कूर्मपु० १६ और ब्रह्माण्डपुराण १८ ये अठारह पुराण कहाते हैं । इन से भिन्न अन्य भी बन गये हैं उन का नाम लोगों ने उपपुराण रक्खा है क्योंकि वे भी इन्हीं के अनुगामी हैं । जैसे मन्त्री का सहकारी उपमन्त्री कहाता वैसे यहां भी जानो । इन पुराणों में मुख्य कर शैव और वैष्णव दो ही बड़े विपक्ष हैं। यद्यपि तीसरे चौथे देवताओं को भी कहीं २ पौराणिकों ने दिल्ली के पांच सवारों में गिनाया है तथापि उन में से किसी को शिव के साथ और किन्हीं को विष्णु के साथ मिला दिया है । जैसे स्कन्द गणेश और देवी आदि सब स्त्रीपुत्रादिरूप हो कर शिव जी से मिल जाते और गरुड़ादि वाहनादिरूप हो कर विष्णु से मिल जाते हैं। अन्यों की अपेक्षा देवी का सामर्थ्य स्वतन्त्र और प्रबल रक्खा है । वैष्णवों के पुराण दो हिस्सा से भी अधिक हैं जिन में केवल विष्णु के अवतार और उन के महत्त्व का वर्णन है और तृतीयांश से भी कम शिवसम्बन्धी पुराण हैं । भागवत दो हैं एक देवीभागवत और दूसरा श्रीमद्भागवत, लोक में केवल भागवत बोलने का भी प्रचार है और सर्वसाधारण लोग केवल भागवत कहने से वैष्णवों के श्रीमद्भागवत को ही समझते हैं । इस का कारण यह है कि लोक में वैष्णवों के मत का प्रचार विशेष होने और श्रीमद्भागवत का प्रचार अधिक चल जाने से उसी को भागवत समझने लगे प्रसिद्धि किसी कारण से हो पर जिस की अधिक प्रसिद्धि हो जाती है उसी को सामान्य नाम से भी ग्रहण करने लगते हैं यह लोगों की स्वाभाविक परिपाटी है । अठारह पुराणों की संख्या में सामान्यकर भागवत शब्द कहा है यहां किस का ग्रहण होना चाहिये ? । इस में वैष्णवों का तो यह सिद्धान्त है कि हमारा ही भागवत अठारह पुराणों में संख्यात है और शैव तथा शाक्त लोग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ } तारीख १५ मार्च चैत्र संवत् १९४९ { अङ्क ७।८

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे ॥

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर गत अं० ६ पृ० ८८ से आगे ॥

भ्रान्ति वा कलङ्कित होना जीवात्मा के काम हैं परमात्मा के नहीं " स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति तस्याविद्यादिक्लेशैः साकं सम्बन्धो न भूतो न भावी " वह परमात्मा सदा मुक्त और अनन्तशक्ति वाला है उस का अविद्यादि क्लेशों के साथ न सम्बन्ध वा मेल हुआ और न होगा । इस कारण उस मन्त्र का नूतन वेदान्तियों के अनुकुल अर्थ करना भी ठीक नहीं और वैसा अर्थ बन भी नहीं सकता इस लिये इस मन्त्र का अर्थ—

हे जना मनुष्या एषः पूर्वोक्तो देवो द्योतनशीलः परमात्मा पूर्वः पूर्वं सर्गारम्भे सर्वाः प्रदिशोऽनु प्रत्येकस्मिन् प्रदेशे जातः प्रादुर्बभूव सृष्टिकरणोद्योगवानासीत् । इदमेव तस्येक्षणमिदमेव तपः । क्वचिदुच्यते सर्गारम्भे स ऐक्षत क्वाप्युच्यते स तपोऽतप्यत । उ अपि स देवोऽस्य सर्वस्यान्तर्मध्ये गर्भ इवादृश्यस्तिष्ठति । स एव यः प्रलयावस्थायामपि सर्वस्मिन् व्याप्तस्तिष्ठति सर्गारम्भे

स्वयं प्रकटो भवत्यतएव तस्य स्वयम्भूरित्यपि नामास्ति । स जनिष्यमाणो भाविसर्गेष्वपि तथैव प्रादुर्भूय जगद्रचयिष्यति । सर्वतोमुखः सर्वदिक्षु स्वव्याप्त्या सर्वान् साक्षित्वेन पश्यन् प्रत्यङ् हृद्देशे तिष्ठति । यद्यपि बाह्याभ्यन्तरं सर्वत्र व्याप्तरूपेण तिष्ठति तथापि दर्पणे रूपमिव हृद्येवोपलभ्यत इति प्रत्यङ् स्थितिकथनस्याशयः ॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो यह पूर्वोक्त देव नाम सब को सचेत करने वाला परमात्मा पहिले सृष्टि के आरम्भ में सब प्रदिशा वा प्रत्येक छोटे २ भी अवकाश में प्रकट हुआ अर्थात् संसार की रचना के लिये तत्पर हुआ यही उस का तप और यही उसका ईक्षण वा आलोचना है । इसी कारण सृष्टि की रचना से पहिले कहीं कहते हैं कि उस ने ईक्षण किया कहीं कहते उस ने तप किया । और वह देव परमात्मा इस सब जगत् के भीतर गर्भ के तुल्य अदृश्य हो कर ठहरा है जो प्रलयावस्था में भी सब में व्याप्त हुआ स्थिर है वही सृष्टि के आरम्भ में स्वयंप्रकट होता है इसी कारण उस का स्वयम्भू यह भी नाम है । वह आगे होने वाले कल्पों में भी वैसा ही प्रकट होकर जगत् को रचेगा । वह सब का साक्षी होकर अपनी व्याप्ति से सब दिशाओं में सब को देखता हुआ सब के भीतर हृदय में अवस्थित रहता है यद्यपि वह परमात्मा बाहर भीतर सब स्थलों में व्याप्तरूप से स्थित है तो भी दर्पण में मुख दीखने के तुल्य शुद्ध हृदय में ही प्राप्त होता है यह भीतर स्थिति दिखाने का अभिप्राय है । इस मन्त्र का यदि ऐसा अभिप्राय इन को ज्ञात होता वा मन्त्रार्थ समझने की योग्यता होती तो वैसा असम्बद्ध अर्थ कदापि नहीं लिखते ॥

आगे कहते हैं कि "तैत्तिरीयोपनिषद् के पञ्चमाध्याय में नृसिंहावतारस्पष्ट लिखा है—यथाः—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि ।
तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात् ॥

यह महामिथ्या कथन है किन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् में न तो पांच अध्याय हैं और न तैत्तिरीय उपनिषद् में कहीं पर भी ऐसा पाठ है तैत्तिरीय आरण्यक में अवश्य यह पाठ है सो किसी वेद में उस की गणना नहीं वह वेद से विरुद्ध है इस लिये अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

आगे स्मृति वा भगवद्गीतादि के वाक्यों से अवतारादि की सिद्धि दिखायी सो यह उत्तर देने योग्य बात नहीं हमारी प्रतिज्ञा केवल वेद पर मुख्य विचार करने की है। इस लिये इन के प्रमाणाभासों वा पौराणिक अनाप्त वाक्यों पर हम वार २ कुछ न लिखेंगे ॥

उक्त दशम परिच्छेद में पं० हरि० जी ने (यस्यात्मबुद्धिः०) श्लोक पर विशेष कर लिखा है कि जो अभिज्ञ महात्मा जनों में आत्मबुद्धि, स्वत्व और पूज्य बुद्धि नहीं करता उस की निन्दा की है किन्तु प्रतिमापूजनादि के निषेध में तात्पर्य नहीं सो यह विचार पौराणिकसिद्धान्त तथा वेदान्त से भी विरुद्ध है। क्योंकि जो ऐसा मानेगा उस को अपने त्रिधातुक शरीर में और महात्माओं में आत्मबुद्धि करनी चाहिये। इत्यादि प्रकार जब प्रतिमापूजन का निषेध न होगा तो विधि होगा और विधान मानने पर शरीर को आत्मा समझने का भी विधान आवेगा और इन पण्डित लोगों से यदि कोई कह लाना चाहे कि तुम शरीर को आत्मा मानते हो तो अवश्य हिचकिचावेंगे। इत्यादि बातें इन की सर्वथा निर्मूल हैं। इति १० परिच्छेदः ॥

अब ग्यारहवें परिच्छेद और १२ वें में जो विद्या का विषय विद्याभ्यास तथा काल की महिमा इन्हों ने दिखायी है सो यह कोई ऐसा विषय नहीं जिस के साथ में साक्षात् वेदमत का विरोध पड़े। रहा इन का लेख जो सिद्धान्त के साथ मेल नहीं बनता वा तुच्छत्वादि दोषों से दूषित है सो लेखक की अयोग्यता है किन्तु विद्याविषयादि का दोष नहीं इस लिये यद्यपि इस पर हम को कुछ नहीं लिखना चाहिये पर तो भी हम कुछ २ लिखेंगे। पहिले २ इन्हों ने १४ विद्याओं के ऊपर लेख चलाया इस में पुराणों का व्याख्यान अधिक है सो इस का उत्तर तो हमारे पुराणाभास समीक्षाप्रकरण में आ ही जायगा। धर्मशास्त्र पर इन पं० हरि० जी ने बहुत गाथा लिखी है। अर्थात् पुराण उपपुराण तो अठारह २ मानने से छत्तीश से अधिक मानने का इन को अव-

काश नहीं मिला परन्तु धर्मशास्त्र की संख्या का पता न देख कर इस में सैकड़ों लक्ष संख्या तन्त्र मन्त्रादि की गिना डाली है । स्मृति वा धर्मशास्त्र के नाम से अनेक पुस्तक बने हैं वे प्रायः अच्छे २ प्रसिद्ध नामी पुरुषों के नाम से स्वार्थी लोगों ने बनाये हैं तथा तन्त्र और मन्त्र ग्रन्थ तो सर्वथा भ्रष्ट महानीचों ने बनाये और महादेव जी एक श्रेष्ठ मान्य पुरुष का नाम रख दिया है । रहा वेद सो उस में भी इन पं० हरि० जी ने अनेक मनमाने ब्राह्मणादि ग्रन्थ मिलाये हैं । इस पर सत्यासत्य का विवेचन हम ने पहिले से अनेक स्थलों में अनेक वार किया और यथावसर आगे २ करेंगे पर सिद्धान्तपक्ष यही है कि मूल चार संहिताओं का ही नाम वेद है । यहां तक सद्धर्मदूषणोद्धार के विषयों पर संक्षेप से कुछ २ लिखा जिस में विवाद था । अब आगे विशेष लिखने की कुछ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इन ११।१२ परिच्छेदों में कुछ २ तो पिष्टपेषण के तुल्य पुनरुक्त लेख है और कुछ व्यर्थ भी है सो इस को हम पं० हरि० जी का बड़ा दोष इस लिये नहीं कह सकते कि हमारे यहां की शिक्षाप्रणाली ही बिगड़ी है । मनुष्यों को सदा ही देखे सुने के अनुसार हृदय में संस्कार होता है और वैसी ही वासना होती और वासना के अनुसार कार्यों में उस की प्रवृत्ति वा निवृत्ति होती है । हम अन्त्य में पं० हरिशङ्कर जी और उन के अनुयायी शिष्यादि को सम्मति देते हैं कि आपस के सर्वतन्त्रसिद्धान्त को निर्विवाद मानकर उस के प्रचार का अधिक उद्योग करें और वेदविरोधी द्वीपान्तरस्थ वा नास्तिकमतों से वेद की रक्षा इस रीति से करने की शिक्षा फैलावें कि इस समय जैसा देश काल का प्रवाह चल रहा है । अर्थात् पुराणादि की जो बातें असम्भव वा तुच्छ हैं उन का खण्डन केवल आर्यसमाज ही करता हो सो नहीं किन्तु छोटे २ बालक तक उन विषयों को अब तुच्छ और असम्भव समझ गये । इस लिये बिगड़े मार्ग को छोड़ कर अब ठीक मार्ग की ओर ध्यान देना चाहिये । हम को पूरा विश्वास है कि पं० हरि० जी ने यह पुस्तक सद्धर्मदूषणोद्धार केवल धर्मबुद्धि से नहीं बनाया किन्तु मुज़फ्फरनगर के एक रईस से कुछ धन लेकर किराये के तोर पर बना दिया है । हम लोगों को धर्म पर ठीक दृढ़ स्थित रहना चाहिये ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारसमीक्षणं समाप्तम् ॥

सत्यार्थविवेक का उत्तर गत अं० पृष्ठ ८४ से आगे ॥

जीव नित्य है अच्छेद्य अभेद्य आदि गुणों वाला होने से आकाश के तुल्य जिस २ आकाश और परमाणु आदि में अच्छेद्य होना गुण है वहां २ नित्यत्व है अर्थात् जैसे अच्छेद्यत्व आदि गुणों का योग होने से आकाशादि नित्य हैं वैसे उन्हीं गुणों के योग से जीव भी, इस कारण अच्छेद्य आदि गुणों से जीव नित्य है। यह न्याय पूर्वोक्त प्रमाण और युक्ति के अनुकूल है। इस को वेद-मतानुयायी सब ही लोग ऐसा मानते हैं अर्थात् पौराणिक लोग भी जीव को अनित्य नहीं मानते इसी कारण वे सब आस्तिक माने जाते हैं इस से यह साधुसिंह का मत सब से विरुद्ध है कोई ऐसा नहीं मानता ॥

इस प्रसङ्ग में साधुसिंह ने स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण के ऊपर बहुत बखेड़ा लिखा है। यह भी इन की योग्यता प्रकट करता है इस में इन का मुख्य आशय यह है कि जब स्वामीदयानन्द जी वेद से भिन्न किसी पुस्तक को स्वतःप्रमाण नहीं मानते तो किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण उन को न देना चाहिये और देवें भी तो उस का मूल वेद से दिखा कर साक्षिमात्र अन्य ग्रन्थ को रक्खें तो अन्य पुस्तकों का परतःप्रमाण मानना और वेद का स्वतःप्रमाण मानना बन सकता है। इस का उत्तर यह है कि—प्रथम तो स्वतःप्रमाण वा परतः-प्रमाण मानने का अभिप्राय साधुसिंह ने जाना नहीं और यदि जाना भी हो तो जान कर कुतर्क किया होगा। यह सिद्धान्त कुछ मन गढ़न्त का नहीं है कि वेद ही स्वतःप्रमाण वा स्वतन्त्र है और अन्य सब ग्रन्थ वेदानुकूलता से प्रमाण हैं अर्थात् वेद और अन्यग्रन्थों में जब विवाद पड़ जावे तब एक ही विषय में परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त हों तो किस की बात ठीक मानी जावे? इस पर पूर्वमीमांसाकारों ने श्रुतिप्राबल्याधिकरण में वेदविरुद्ध स्मृति का स्पष्ट त्याग लिखा है। तथा वात्स्यायन ऋषि ने भी न्यायभाष्य में लिखा है कि "अनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः" अर्थात् वेद से भिन्न वाक्यों को प्रमाण में स्वतन्त्रता नहीं बन सकती। इत्यादि प्रमाणों के अनुसार जब ऋषियों ने भी वेद को स्वतः-प्रमाण जाना तो साधुसिंह को भी यही सिद्धान्त मानने पड़ेगा क्योंकि वे भी वैदिकसम्प्रदाय के अन्तर्गत अपने को मानते हैं यदि वे ऋषियों के सिद्धान्त को न मानें तो उन को अपना नवीन मत बतलाना पड़ेगा। यदि इस

सिद्धान्त को मानेंगे कि वेद स्वतःप्रमाण है तो वही शङ्का साधुसिंह के भी शिर पड़ेगी कि जो दूसरों पर तर्क करते थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन को अपने ही घर का हाल नहीं मालूम वे दूसरों का खण्डन मण्डन क्या करेंगे ! । और जब अपने पूर्वज अन्य ऋषियों का भी यही सिद्धान्त है कि वेद स्वतः-प्रमाण हैं तो यह तर्क उन्हीं पर आ सकता है कि उन्हों ने न्यायादि पुस्तक बिना वेद का मन्त्र लिखें क्यों लिखे ? । अर्थात् यह बड़ी अल्पबुद्धि वा अ-ज्ञानता है कि वेद के स्वतःप्रमाण मानने वाला कुछ न लिखे वा कहे यदि कहे तो वेद को पहिले रख लेवे । अर्थात् इस का प्रयोजन यह नहीं है कि सूर्यस्वतःप्रमाण है तो हम सूर्य के विना कान से भी कुछ न सुन सकें वा हाथ से कोई काम न कर सकें । यदि कोई राजा स्वतन्त्र है तो क्या प्रजा का मनुष्य कुछ काम ही न करे किन्तु प्रयोजन यह है कि सूर्य वा राजा की स्वतन्त्रता से किसी अन्य का विवाद हो जावे वा विरोध दीख पड़े तो सूर्य और राजा की स्वाधीनता ठहरायी जायगी और अन्य की नहीं । जो बात जिस अवसर के लिये कही जाती है उस का वहीं सफल होना बन सकता है सब वस्तु वा सब बातें सब देश कालों में सार्थक नहीं होतीं इसी प्रकार स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण का विचार जिस अवसर के लिये है वहीं उस की उपयोगिता है । जब वेद को हम स्वतःप्रमाण मानते हैं तो हमारे ऊपर कोई यह भी तर्क कर सकेगा कि तुम भोजन पकाने वा जीमने से पहिले वेद का प्रमाण पकाने और जीमने का दो तो ठीक है विचार का स्थान है कि ऐसे तर्कों का कहीं अवधि है ? । हम साधुसिंह को ही पूछते हैं कि आप अपनी इच्छा के अनुसार वा पूर्वज ऋषियों की शैली पर चल कर किन्हीं पुस्तकों को स्वतः प्रमाण मानो हीगे तो वही दोष आप पर भी आवेगा कि सत्यार्थविवेक के अक्षर २ लिखने से पूर्व उस स्वतःप्रमाण का उल्लेख करते । यदि कहें कि हम सभी को परतःप्रमाण मानेंगे तो यह असम्भव है । परतःप्रमाण का अर्थ ही यह है कि किसी अन्य के आश्रय से प्रमाण माना जावे तो सब पर-तःप्रमाण हो ही नहीं सकते । जिस के आश्रय से परतःप्रमाण मानोगे वही तुम्हारे परतःप्रमाण की अपेक्षा स्वतःप्रमाण सिद्ध हो जायगा क्योंकि परतःप्र-माण और स्वतःप्रमाण ये दोनों सापेक्ष पद हैं । यदि दोनों को न मानो तो सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि सब मान्य विषयों को वह एक बुद्धि से नहीं मान

सकता। उस की बुद्धि में अवश्य न्यूनाधिकता रहती है जिस को वह अपने इष्टसाधन में अधिक उपयोगी समझता है वही विषय जानो स्वतःप्रमाण की कोटि में है और अन्य साधारण परतःप्रमाण में माना जायगा। इस प्रकार जब साधुसिंह को भी यह मानने पड़ा तो उस के दोष गुण के भागी वे स्वयं भी हुए फिर ऐसा दोष अन्य के मत में देना सर्वथा भूल है ॥

आगे श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश पुस्तक में जीवात्मा के लक्षण पर।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥

अध्याय १ आह्निक १ सूत्र १० ॥

यह सूत्र लिखा है कि इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लिङ्ग—चिह्न अर्थात् लक्षण हैं इन्हीं लक्षण वा चिह्नों से आत्मा जाना जाता है कि यहां इच्छादि गुण विद्यमान हैं इस कारण जीवात्मा है किन्तु जीवात्मा के निकल जाने पर मृत शरीर में इच्छादि गुण नहीं रहते। परन्तु इस पर साधुसिंह पृष्ठ २८ में लिखते हैं कि " यह आत्मा का स्वरूप लक्षण है सुखादि का आश्रय आत्मा है यह स्वरूप लक्षण आत्मा का नहीं इत्यादि " विचारशील साक्षर लोगों को ध्यान देने योग्य वार्त्ता है कि न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य जो एक प्राचीन आर्षपुस्तक है उस में भी अपने आधुनिकवेदान्त की साधुलीला का प्रवेश करके सीधे साधे लोगों को वञ्चित करना चाहते हैं। साक्षात् प्रसिद्ध में जो आत्मा के लक्षण का सूत्र है उस को छिपाना चाहते हैं। साधुसिंह से जब कोई पूछेगा कि न्यायदर्शन में आत्मा के लक्षण का कौनसा सूत्र है तब क्या यह उत्तर देंगे कि (आत्मशरीरेन्द्रियार्थ०) सूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य ही आत्मा का लक्षणद्योतक है। क्या यह उत्तर (आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे) आम पूछे कचनार बताये के तुल्य ऊटपटांग न होगा ?। यदि कहें कि गोतम ने आत्मा का लक्षण ही नहीं किया तो अन्य प्रमेयों का भी लक्षण न किया होगा। वात्स्यायनभाष्यकार ने सूत्रकार की शैली स्पष्ट ही द्वितीय सूत्र पर लिख दी है ॥

"त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः। उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति, तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः, तत्रोद्दिष्टस्या

तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा, तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षण-मुच्यते यथा प्रमाणानां प्रमेयस्य च " ॥

कि इस न्यायसूत्रनामक न्यायशास्त्र की तीन प्रकार की शैली है । १ उद्देश २ लक्षण और ३ परीक्षा उन में से नाम लेकर पदार्थमात्र को कह जाना अर्थात् केवल पदार्थों का नाम गिना देना उद्देश, और जिस को गिना चुके हैं उस के वास्तविकस्वरूप दिखाने वा जनाने वाला धर्म वा गुण लक्षण कहाता है । और जैसा लक्षण जिस का किया गया वह ठीक है वा नहीं इत्यादि प्रकार प्रमाणों से निश्चय करना परीक्षा है । उस में कहीं तो ऐसा क्रम है कि उद्देश किये पदार्थ के भेदों का पहिले विभाग करना और पीछे उसी क्रम से उन का लक्षण करना जैसे प्रमाण और प्रमेयों का पहिले विभाग और पीछे विभाग किये क्रमानुसार एक २ सूत्र से एक २ का लक्षण किया है और कहीं पहिले लक्षण करके तब पीछे विभाग किया है । इस कथन से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि (आत्म-शरीरेन्द्रियार्थ०) सूत्र प्रमेय का विभाग करने वाला और (इच्छाद्वेष०) इत्यादि क्रम से आत्मादि के लक्षण विधायक सूत्र हैं । तथा यह तो वात्स्यायन का प्र-माण रहा कि जिस से (इच्छाद्वेषादि०) सूत्र से आत्मा का लक्षण सिद्ध हो गया अब और भी ध्यान दीजिये कि इसी दशवें सूत्र की उत्थानिका न्यायसूत्रवृत्ति-कार विश्वनाथ पण्डित ने क्या लिखी है ? "तत्र प्रथमोद्दिष्टमात्मानं लक्षयति" इस से स्पष्ट ही प्रतीत है कि आत्मा का लक्षण वा स्वरूप दिखाया है । फिर साधुसिंह को पूछना चाहिये कि (इच्छाद्वेष०) सूत्र आत्मा का लक्षण नहीं तो क्या है ?। अर्थात् पूर्वोक्त उद्देश लक्षण और परीक्षा इन में से किस बात का प्रतिपादक है ? । तो लज्जित हो कर मानने पड़ेगा कि उक्त इच्छादि सूत्र से अवश्य आत्मा का लक्षण किया है ॥

अब शेष विचारणीय यह है कि मुक्ति में रागद्वेषादि रहते हैं वा नहीं ? साधुसिंह लिखते हैं कि " वादी मुक्त में राग द्वेषादि बतलाता है " सज्जन लोगों को अत्यन्त उचित है कि साधुसिंह से उपरोक्त वाक्य का अवश्य पता पूछें कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने ऐसा कहां लिखा है ? । स्वामी जी ने ऐसा कहीं नहीं लिखा यह साधुसिंह जी की बड़ी भारी भूल है कि विना ही

वेदार्थविचार गत अङ्क पृ० ९६ के आगे से ॥

विष्णुः । इत्था । परमम् । अस्य । विद्वान् । जातः । बृहन् । अभि । पाति । तृतीयम् । आसा । यत् । अस्य । पयः । अकृत । स्वम् । सऽचेतसः । अभि । अर्चन्ति । अत्र ॥ ३ ॥

अ०-(अस्य) पूर्वोक्तस्य सूर्याग्नेः (परमम्) प्रकृष्टं सर्वोत्तमं गुणम् (विद्वान्) जानन् (जातः) सर्वज्ञत्वेन प्रसिद्धः (बृहन्) महान् (विष्णुः) सर्वस्मिन् व्याप्य सर्वस्य रक्षकः पालकः परमात्मा (तृतीयम्) अग्निवायुसूर्या इति गणनया तृतीयं देवं सूर्यम् (इत्था) इत्यनेन प्रकारेण (अभिपाति) सर्वतः पाति रक्षति येन (सचेतसः) विचारशीला ब्राह्मणाद्यो यजमानाः (अस्य) सूर्याग्नेः (आसा) आस्येन मुखेन द्वारेण (यत्,पयः) यन्मेघजलम् (अकृत) कुर्वन्ति यज्ञानुष्ठानेन वर्षयन्ति तेनोदकेन (अत्र) जगति (स्वम्) स्वकीयं सर्वं बन्धुवर्गम् (अभ्यर्चन्ति, सर्वतः सत्कुर्वन्ति ॥

भा०-सूर्यादौ कार्ये जगति ये ये महान्तो गुणाः सन्ति तान् परमेश्वर एव याथातथ्येन विज्ञाय सर्वप्राणिनामुपकारं कारयति। यज्ञानुष्ठातारश्च हुतं हव्यं सूर्यं प्रापय्य तेजसो वर्द्धनेन सूर्यद्वारा वृष्टिं कारयित्वा जगदुपकारहेतवो भवन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थः-(अस्य) इस पूर्वोक्त सूर्यरूप अग्नि के (परमम्) सर्वोत्तम गुण को (विद्वान्) जानता हुआ (जातः) सर्वज्ञ होने से प्रसिद्ध हुआ (बृहन्) सब से बड़ा (विष्णुः) सब में व्याप्त हो कर सब का रक्षक परमात्मा (तृतीयम्) अग्नि वायु सूर्य इस प्रकार की गणना से तीसरे सर्वोत्तम सूर्य की (इत्था) इस प्रकार (अभिपाति) सब ओर से रक्षा करता है कि जिस से (सचेतसः) विचारशील ब्राह्मणादि विद्वान् यज्ञकर्त्ता लोग (अस्य) इस सूर्याग्नि के (आसा) मुखनाम द्वारा (यत्, पयः) जिस मेघ के जल को यज्ञ के सेवन से (अकृत) वर्षा कराते

हैं उस जल से (अत्र) इस जगत् में (स्वम्) अपने सब बन्धुवर्ग का (अभ्यर्चन्ति) सब ओर से सत्कार करते हैं ॥

भा०—सूर्य आदि कार्य जगत् में जो २ बड़े २ प्रशस्त गुण हैं उन को परमेश्वर ही यथार्थ जान कर उन से सब प्राणियों का उपकार कराता है । और यज्ञ का सेवन करने वाले होमे हुए वस्तु के सूक्ष्मांश को सूर्य के निकट पहुंचा कर तेज बढ़ने से सूर्य द्वारा वर्षा कराकर जगत् के उपकार के हेतु होते हैं ॥

सायणः—जानने वाला प्रकट हुआ बड़ा होने से व्यापनशील ज्ञानादि गुणयुक्त अग्नि इस मेरे तीसरे पुत्रादि की वा मेरी रक्षा करता है । और यजमान लोग इस अग्नि के सम्बन्धी जल को उस के मुख से जब चाहते वा उत्पन्न करते हैं अर्थात् अग्नि में होम कर यज्ञद्वारा वर्षा जल को चाहते हैं । तब इस लोक में स्थित स्तुति कर्त्ता लोग एक चित्त वाले हो कर इस अग्नि की सब ओर से पूजा वा स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

सायणाचार्य के इस अर्थ में बड़ा दोष यह है कि विष्णु और विद्वान् आदि शब्द इस भौतिक जड़ अग्नि के विशेषण किये हैं सो ठीक नहीं क्योंकि ऐसे शब्द चेतन के लिये कहने वा मानने उचित होते हैं जैसा कि मैंने ऊपर अर्थ लिखा है ॥

अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः । ता ईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता ॥ ४ ॥

अतः । ऊं इति । त्वा । पितुऽभृतः । जनित्रीः । अन्नऽवृधम् । प्रति । चरन्ति । अन्नैः । ताः । ईम् । प्रति । एषि । पुनः । अन्यऽरूपाः । असि । त्वम् । विक्षु । मानुषीषु । होता ॥ ४ ॥

अ० -(अतः, उ) अतएव (पितुभृतः) अन्नस्य प्राणिनां जीवनहेतोः फलरूपस्य धारणकर्त्र्यो यद्वा पितुनान्नेन सर्वस्य प्राणिजातस्य पोषिकाः (जनित्रीः) प्राणिमात्रस्य प्रादुर्भाविका

उत्पत्तिहेतव ओषधयः (अन्नावृधम्) स्वस्योदयास्ताभ्यां फल-रूपमन्नं वर्द्धयन्तम् (त्वा) तं सूर्यरूपमग्निम् (अन्नैः) हेतुभूतैः (प्रतिचरन्ति) प्रतिगच्छन्ति स्वरसार्पणेनाभिमुखं प्राप्नुवन्ति (अन्यरूपाः) गततेजस्काः सूक्ष्मावयवाः (ताः) ओषधीः (ईम्,प्रत्येषि) अवश्यं प्रतिगच्छति किरणद्वारा ताः प्राप्य सूर्याग्निर्वर्द्धयति । एवम् (त्वम्) स सूर्याग्निः (मानुषीषु, विक्षु) मनुष्यसम्बन्धि-प्राणिमात्रेषु (होता) पृथिवीवेद्यां वृष्टिरूपस्य होमस्य कर्त्ता (असि) अस्ति ॥

भा०—ग्रीष्मादिकाले वृक्षवनस्पत्योषध्यादयः पदार्थाः स्वस्व-रसान्सूर्याय समर्पयन्ति । सूर्यश्च स्वरश्मिद्वारा सर्वतो रसमाकृष्य पुनर्वृष्टिद्वारा तदेव जलरूपं रसं वृक्षादिभ्यो बाहुल्येन समर्पयति । तेन च परस्परदानादानेन मनुष्याणां तत्सम्बन्धि-नामन्यप्राणिनां च महत् सुखं सम्पद्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अतः, उ) इसी पूर्वोक्त कारण से (पितुभृतः) प्राणियों के जीवनहेतु फलरूप अन्न का धारण करने अथवा पितुनाम अन्न से सब प्राणी-मात्र का पोषण करने वाली (जनित्रीः) सब प्राणियों की उत्पत्ति की हेतुरूप ओषधियां (अन्नावृद्धम्) अपने उदय और अस्त के द्वारा फलरूप अन्न को बढ़ाते हुए (त्वा) उस सूर्यरूप अग्नि को (अन्नैः) अन्नरूप कारणों से (प्रतिचरन्ति) अपना रस किरणों द्वारा सूर्य के अर्पण करके प्राप्त होती हैं । सूर्यरूप अग्नि (अन्यरूपाः) निस्तेज वा छोटे २ पत्ते आदि अवयवों वाली (ताः) उन ओष-धियों को (ईम्,प्रत्येषि) किरणों के द्वारा प्राप्त हो कर बढ़ाता है । इस प्रकार (त्वम्) वह सूर्य्यरूप अग्नि (मानुषीषु,विक्षु) मनुष्यसम्बन्धी प्राणीमात्र के बीच (होता) पृथिवीरूप वेदी में वर्षारूप होम का करने वाला (असि) है ॥

भा०—ग्रीष्म आदि ऋतु में वृक्ष वनस्पति और ओषधि आदि पदार्थ अपने २ रसों को सूर्य के लिये समर्पण करते हैं और सूर्य्य अपने किरणों द्वारा

सब स्थानों वा पदार्थों से रस खींच कर उसी जलरूप रस को वर्षा द्वारा वृक्षादि के लिये अधिक कर समर्पण करता है और इस आपस के देन लेन रूप व्यवहार से मनुष्यों तथा अन्य सब प्राणियों का बड़ा सुख सिद्ध होता है ॥४॥

सायणः—हे अग्नि इसी कारण अन्न से सब जगत् को धारण वा पोषण करने वाली सब की उत्पत्ति की हेतु ओषधियां अन्न के बढ़ाने वाले तुम को अन्नरूप हेतुओं से सेवन करती वा सब प्रकार प्राप्त होती हैं। तिस पीछे तुम उन ओषधियों को प्राप्त होते हो । फिर अन्य जीर्णरूप ओषधियों को दावानल नामक तुम अग्नि प्राप्त होते हो । और मनुष्यजाति सम्बन्धी प्रजाओं में वा अग्निहोत्रादि कर्म में प्रवृत्त होने वाली मनुष्यजातिरूप प्रजाओं में तुम देवताओं को बुलाने वाले वा होम को सिद्ध करने वाले हो ॥ ४ ॥

इस में भी अग्नि को चेतन मान के चेतन के समान जो व्यवहार किया है यही सायणभाष्य में दोष है ॥

होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्यज्ञस्य केतुं रुशन्तम् । प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्वग्निमतिथिं जनानाम् ॥ ५ ॥

होतारम् । चित्रऽरथम् । अध्वरस्य । यज्ञस्यऽयज्ञस्य । केतुम् । रुशन्तम् । प्रतिऽअर्धिम् । देवस्यऽदेवस्य । मह्ना । श्रिया । तु । अग्निम् । अतिथिम् । जनानाम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अध्वरस्य) यज्ञस्य होतारं कर्त्तारम् (यज्ञस्ययज्ञस्य) सर्वेषां यज्ञानाम् (केतुम्) पताकास्थानीयम्—अर्थात् तादृशमृत्विजं दृष्ट्वा प्रायशो जनाः सामान्ययज्ञस्य केतुं प्रतियन्ति (रुशन्तम्) रूपवन्तम् (मह्ना) महत्त्वेन (देवस्यदेवस्य) सर्वेषां विदुषां मध्ये (प्रत्यर्द्धिम्) प्रतीत्या पूज्यमानम् (श्रिया,तु) ब्रह्मवर्चसतेजसा च (अग्निम्) अग्निवत्तेजस्विनम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (अतिथिम्) सत्कारार्हम् (चित्ररथम्) चित्रीकृतं

रथमारुह्यागतम्। एवम्भूतं विद्वज्जनं वयं सदा पूजयेमेति मती-रक्षणीया ॥५॥

भा०-अग्निहोत्रादौ वैदिककर्मणि तत्परः शुभगुणैर्धर्माचरणैश्च प्राप्तप्रतिष्ठो वेदादिशास्त्रपारगो महाविद्वान् तेजस्वी जनो मनुष्यैरतिथिसत्कारे स्वीकार्य्यः ॥५॥

भाषार्थः-(अध्वरस्य) यज्ञ का (होतारम्) सेवन करने वाला (यज्ञस्ययज्ञस्य) सब अग्निष्टोमादि बड़े २ यज्ञों का (केतुम्) पताका स्थानी [अर्थात् ऐसे ऋत्विज् को देख कर प्रायः मनुष्य यज्ञ का झण्डा समझते वा मानते हैं] (रुशन्तम्) सुरूपवान् (मह्ना) बड़प्पन से (देवस्यदेवस्य) सब विद्वानों के बीच (प्रत्यर्द्धिम्) प्रतीति के साथ पूजा को प्राप्त होने वाला (तु) और (श्रिया) ब्रह्मचर्य की तेजरूप शोभा से (अग्निम्) अग्नि के तुल्य तेजस्वी (जनानाम्) मनुष्यों को सत्कार करने योग्य (चित्ररथम्) चित्रविचित्र रथ पर चढ़ के आने वाला है ऐसे विद्वान् मनुष्य की हम लोग सदा सेवा करें ऐसी बुद्धि सब मनुष्यों को रखनी चाहिये ॥

भा०—अग्निहोत्रादि वेदोक्त कर्मों में तत्पर शुभगुणों और धर्मसम्बन्धी आचरणों से प्रतिष्ठा को प्राप्त वेदादि शास्त्रों को अच्छे प्रकार पढ़ने जानने वाले महाविद्वान् तेजस्वी पुरुष का मनुष्यों को अतिथि सत्कार में स्वीकार करना चाहिये ॥५॥

सायणः-यज्ञ के होता नामी ऋत्विज् अथवा देवताओं को बुलाने तथा अनेक रूपयुक्त रथों वाले राक्षसों से न नष्ट किये गये सब यज्ञ के जताने वाले वा पताका स्थानी श्वेत वर्ण बड़प्पन से सब देवताओं के अधिष्ठाता इन्द्र के प्रति प्रकट होने वाले ऐसे यजमानों को अतिथि के तुल्य पूज्य अग्नि की हम लोग लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये शीघ्र स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

यहां अतिथि के तुल्य अग्नि की पूजा कहना ठीक नहीं बनता क्योंकि अच्छे २ अन्न वा जलादि से अतिथि का सत्कार किया जाता है। उस प्रकार अग्नि का सत्कार करें तो जल के योग से अग्नि का नाश ही हो जावे इत्यादि दोष सायण के अर्थ में आता है ॥

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः। अरुषो जातः पद इडायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान् ॥६॥

सः। तु। वस्त्राणि। अध। पेशनानि। वसानः। अग्निः। नाभा। पृथिव्याः। अरुषः। जातः। पदे। इडायाः। पुरःहितः। राजन्। यक्षि। इह। देवान् ॥ ६ ॥

अ०—हे (राजन्) विद्यादिशुभगुणैर्बाह्यवस्त्रादिस्थपवित्रतया च शोभमान विद्वन्नतिथे ! (सः,तु) स एव त्वम् (वस्त्राणि) शुद्धवसनानि (अध) अथ (पेशनानि) सुरूपवन्ति भूषणानि च (वसानः) धारयन् (पृथिव्याः,नाभा) भूमेर्मध्ये (जातः) प्रसिद्धिं प्राप्त (इडायाः, पदे) यज्ञालये। इडाया अन्नस्य प्राप्तिहेतुके यज्ञ इत्यर्थयोगाद्यज्ञस्य ग्रहणमत्रास्ति (पुरोहितः) यजमानेन पुरोऽग्रे पूज्यस्थाने हितः स्थापितः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (अरुषः) अत एव रोचनः शोभमानः सन् (इह) अस्मिन् जगति (देवान्) अध्यापनोपदेशनरूपे वाक्कर्मणि प्रवृत्तान् विद्यावतः सुपात्रान् जनान् (यक्षि) यज पूजय ॥

भा०—यज्ञादिवैदिककर्मणि विद्वत्पुरुषैर्विदुषामेव सत्कारः कार्यो नत्वपात्राणामविदुषाम्। येन विद्याधर्मादिशुभगुणानामेव वृद्धिः स्यात् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—हे (राजन्) विद्यादि शुभगुणों और वस्त्रादिकों की बाहरी पवित्रता से शोभा को प्राप्त विद्वन् अतिथे ! (सः,तु) वही पूर्वोक्त आप (वस्त्राणि) शुद्ध वस्त्रों (अध) और (पेशनानि) अच्छे २ रूप वाले भूषणों को (वसानः) धारण किये हुए (पृथिव्याः,नाभा) पृथिवी के बीच (जातः) प्रसिद्ध

को प्राप्त (इडायाः,पदे) वर्षादि द्वारा अन्न प्राप्तिके हेतु यज्ञ स्थान में (पुरो-हितः) यजमान से प्रतिष्ठा को प्राप्त (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी इसीकारण (अरुषः) शोभा को प्राप्त हुए (इह) इस जगत् में (देवान्) पढ़ाने वा उपदेशरूप वाणी के कर्म में प्रवृत्त विद्यावान् सुपात्र मनुष्यों का (यक्षि) सत्कार किया करो ॥

भा०–विद्वान् पुरुषों को उचित है कि यज्ञादि वैदिककर्म में सुपात्र विद्वानों का ही सत्कार करें किन्तु कुपात्रों वा अविद्वानों का नहीं। जिस से विद्यादि शुभगुणों की ही वृद्धि हो, विद्या के कारण सत्कार होगा तो सत्कारादि के लोभ से अन्य अविद्वान् भी विद्याग्रहण की ओर झुकेंगे और अपने सन्तानों को शिक्षित करेंगे ॥ ६ ॥

सायण–हे राजन् जलते हुए अग्नि वस्त्र के तुल्य आच्छादन करने वाले तेजों और उन तेजों के कृष्ण शुक्लादि रूपों अथवा सुवर्ण के तुल्य शोभायमान तेजों को धारण किये हुए पृथिवी की नाभिस्थानी उत्तर वेदि में उत्पन्न हुए रोचकरूप युक्त जो तुम अग्नि इस प्रकार के हो सो पूर्व दिशास्थ आहवनीय के स्थान में स्थापित किये हुए इस यज्ञ में इन्द्रादि देवताओं का पूजन करो ॥६ ॥

इस मन्त्र में वस्त्र शब्द से तेजों का ग्रहण करना और पुरोहितादि शब्दों को भौतिक जड़ अग्नि के विशेषण मानना सायणाचार्य का प्रमाद प्रतीत होता है क्योंकि वस्त्र शब्द का यौगिक अर्थ करने पर भी तेज से आच्छादन किसी वस्तु का नहीं होता किन्तु तेज से उलटा आच्छादन का विरोधी प्रकाश होता है। और तेज के धारण में रूपों का धारण पेशन शब्द से पृथक् कर दिखाना व्यर्थ है क्योंकि तेज के साथ रूप स्वयमेव आजाता तथा द्वितीय पक्ष में पेशन शब्द का सुवर्ण तुल्य अर्थ करना पुनरुक्त भी है। इत्यादि प्रकार सायण का किया अर्थ यथार्थ नहीं प्रतीत होता ॥

आ हि द्यावापृथिवी अग्न उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ। प्र याह्यच्छोशतो यविष्ठाथा वह सहस्येह देवान् ॥ ७ ॥

आ । हि । द्यावापृथिवी इति । अग्ने । उभे इति । सदा । पुत्रः । न । मातरा । ततन्थ । प्र । याहि । अच्छ । उशतः । यविष्ठ । अथ । आ । वह । सहस्य । इह । देवान् ॥ ७ ॥

अ०—हे (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् विद्वन् पुरुष ! त्वम् (पुत्रः, मातरा, न) यथौरसः पुत्रो मातापितरौ सुखेन विस्तृतौ प्रफुल्लितौ करोति तद्वत् (उभे, द्यावापृथिवी) उभयविधानाकाशपृथिवीस्थान् जन्तून् (हि) निश्चयेन (सदा) (आ, ततन्थ) सुखसम्पन्नान् विस्तृतान् प्रफुल्लितान् कुरु । तथा हे (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् शारीरबलसम्पन्न (उशतः) कान्तियुक्तान् ब्रह्मवर्चस्विनो ब्रह्मचारिणः (अच्छ, प्र, याहि) विद्यादिशुभगुणानां वर्द्धनाय शोभनप्रकारेण प्राप्नुहि । (अथ) तदनन्तरम् हे (सहस्य) सहसे बलाय साधो सज्जन (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (देवान्) पूज्यान् श्रेष्ठान् वाक्कर्मणि कुशलान् विद्वज्जनान् (आवह) सत्कारार्थमाह्वय ॥

भा०—विचारशीलेन धर्मात्मना पुरुषेण मातापितृवदन्येषां विद्यावयोवृद्धानामपि सेवाशुश्रूषे कार्ये तपस्विनां महात्मनां विद्यावतां च सदैव सङ्गतिः करणीया येनोत्तरोत्तरं स्वस्य कल्याणमेव स्यात् । एवं सत्येवान्येषामपि कल्याणं कर्त्तुं शक्यते ॥७॥

भावार्थः—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् पुरुष तुम (पुत्रः, न, मातरा) जैसे औरस पुत्र अपने माता पिता को सुख से प्रफुल्लित करता है वैसे (उभे, द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों में रहने वाले प्राणियों को (हि) निश्चय कर (सदा) सब समय में (आ, ततन्थ) सुखयुक्त प्रफुल्लित करो तथा हे (यविष्ठ) शरीरसम्बन्धी बल को प्राप्त अत्यन्त युवा पुरुष ! (उशतः) कान्तियुक्त तेजस्वी ब्रह्मचारी लोगों के समीप (अच्छ, प्र, याहि) विद्यादि शुभगुणों को बढ़ाने के लिये अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये (अथ) इस के अनन्तर हे (सहस्य) बलसम्बन्धी कार्य के लिये विशेष कर प्रवृत्त सज्जन पुरुष (इह) इस

गृहाश्रम में (देवान्) वाणीसम्बन्धी पढ़ाने वा उपदेश करने रूप सत्कर्म के करने में प्रवीण सत्कार योग्य श्रेष्ठ विद्वान् जनों को (आ,वह) सत्कार के लिये बुलाया करो ॥

भा०—विचारशील धर्मात्मा पुरुष को उचित है कि अपने माता पिता के समान विद्या और अवस्था में बड़े महात्माओं की भी सेवा शुश्रूषा करें तथा विद्यावान् तपस्वी महात्माओं की सदा सङ्गति करनी चाहिये जिस से आगे २ अपना कल्याण ही होता जावे । ऐसा होने पर ही अन्यों का भी कल्याण कर सकता है ॥ ७ ॥

सायणः—हे अग्नि जैसे पुत्र वृद्ध माता पिता का धनों से विस्तार करता है वैसे तुम अपने तेजों से स्वर्ग और पृथिवी दोनों का विस्तार करते हो । तथा हे अत्यन्त जवान अग्नि सो तुम कामना रखने वाले यजमानों की ओर दृष्टि रख कर आओ । इस के पश्चात् हे बल के पुत्र अग्नि तुम इस हमारे यज्ञ में इन्द्रादि देवताओं को भेजो ॥

यह अर्थ देखने वालों को वैसे ही ऊटपटांग वा असम्बद्ध प्रतीत हो जायगा । अग्नि के तेजों से पृथिवी वा स्वर्ग का विस्तार क्या होगा ? अग्नि यदि युवा होता है तो बालक और वृद्ध भी होता होगा और इस दशा में अग्नि के जन्म मरण तथा माता पिता भी मानने पड़ेंगे इत्यादि अनेक दोष सायण के अर्थ में प्रतीत होते हैं ॥

इति दशममण्डले प्रथमं सूक्तं समाप्तम् ॥

पिप्रीहीति सप्तर्चस्य द्वितीयसूक्तस्याप्त्यस्त्रित ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ विद्वाँ ऋतूँ-ऋतुपते यजेह । ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वं होतृणामस्यायजिष्ठः ॥१॥

पिप्रीहि । देवान् । उशतः । यविष्ठ । विद्वान् । ऋतून् । ऋतुऽपते । यज । इह । ये । दैव्याः । ऋत्विजः । तेभिः । अग्ने । त्वम् । होतॄणाम् । असि । आऽयजिष्ठः ॥ १ ॥

अ०—हे (यविष्ठ) अतिशयेन युवन् धार्मिक जन त्वम् (उशतः,देवान्) कामनायुक्तान् विद्वज्जनान् (पिप्रीहि) भोजनादिसत्कारसाधनेन तृप्तान् कुरु तथाहि (ऋतुपते) ऋतुषु यज्ञनियमानां पालक (ऋतून्) ऋतुरूपकालस्य महिमानम् (विद्वान्) जानन् (इह) एषु ऋतुषु (यज) परमात्मनः स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरस्सरं यज्ञं विधेहि। हे (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् ब्रह्मचारिन् यतः (त्वम्) (होतृणाम्) यज्ञानुष्ठातॄणां मध्ये (आयजिष्ठः) अतिशयेन यष्टा (असि) तस्मात् (ये,दैव्याः) देवानां विदुषां सम्बन्धिनः (ऋत्विजः) ऋतावृतौ यज्ञानामग्निहोत्रादीनामनुष्ठातारः सन्ति (तेभिः) तैः सह सर्वदा यज्ञं कुरु नतु मूर्खैः सार्द्धमित्याशयः॥

भा०—यज्ञादिवैदिककर्मणो माहात्म्यं जानता यज्ञकर्मणि कुशलेन सता श्रीमता पुरुषेण स्वस्य निर्वाहाय धनं काङ्क्षद्भिर्गृहस्थैर्विद्वत्पुरुषैरेव सार्द्धं यज्ञादिकं कर्त्तव्यम्। एवं सत्येव यज्ञादिकर्माणि सम्यक् यथाविधि कर्त्तुं शक्यन्ते। विदुषां सत्कारेण च विद्याधर्मादीनामुन्नतिः सम्भवति ॥ १ ॥

भाषार्थः—हे (यविष्ठ) अत्यन्त युवावस्था को प्राप्त धार्मिक पुरुष तुम (उशतः देवान्) धनादि की कामना रखने वाले विद्वान् जनों को भोजनादि सत्कार की सामग्री से तृप्त करो तथा हे (ऋतुपते) प्रत्येक ऋतुओं में यज्ञ के नियमों का पालन करने वाले पुरुष (ऋतून्) ऋतुरूप काल की महिमा को (विद्वान्) जानते हुए (इह) इन ऋतुओं में (यज) परमात्मा की स्तुति प्रार्थना वा उपासना पूर्वक यज्ञ का विधान करो। हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी ब्रह्मचारी जिस कारण (त्वम्) तुम (होतृणाम्) यज्ञ का सेवन करने वालों के बीच (आयजिष्ठः) अत्यन्त यज्ञ करने वाले (असि) हो इस से (ये दैव्याः) जो विद्वानों के साथी वा सहयोगी (ऋत्विजः) ऋतु २ में अग्निहोत्रादि

यज्ञ करने वाले हैं (तेभिः) उन के साथ सर्वदा यज्ञ किया करो किन्तु मूर्खों के साथ नहीं ॥

भा०—यज्ञादि वैदिक कर्म के महत्त्व को जानते तथा यज्ञकर्म के करने में प्रवीण हुए श्रीमान् पुरुष को चाहिये कि अपने निर्वाह के लिये धनादि चाहते हुए गृहस्थ विद्वान् पुरुषों के साथ ही यज्ञादि करें। ऐसा होने पर ही वेदोक्त यज्ञादि कर्म अच्छे प्रकार विधिपूर्वक किये जा सकते हैं। और विद्वानों का सत्कार होने से विद्या वा धर्मादि की उन्नति हो सकती है ॥ १ ॥

सायण:—हे अत्यन्त युवा अग्नि तुम स्तुतियों को सुनने की कामना रखने वाले देवताओं को तृप्त करो। हे दैवयज्ञसम्बन्धी कालों के स्वामी अग्नि यज्ञ के समयों को जानते हुए तुम इस यज्ञ में उन देवताओं का पूजन करो। तथा हे अग्नि देवताओं के बीच सख्यात आवनरूप होता अश्विनाकुमाररूप अध्वर्यु त्वष्टारूप अग्न और मित्ररूप उपवक्ता आचार्य अथवा आश्वलायनगृह्यसूत्रकार ने कहे चन्द्रमारूप ब्रह्मा आदित्य अध्वर्यु और मेघनाम उद्गाता ये जो ऋत्विज हैं उन के साथ यज्ञ करो क्योंकि जिस कारण तुम होम करने वालों में सन्मुख होकर देवताओं का अत्यन्त यजन पूजन करने वाले हो ॥

पूर्व मन्त्र के तुल्य इस मन्त्र में भी सायण का अर्थ निर्दोष नहीं है। जो बातें भौतिक जड़ अग्नि में सङ्घटित नहीं होतीं उन का व्याख्यान किसी विचारशील को कदापि ठीक नहीं जान पड़ेगा। ऋतु आदि का जानना चेतन में घटेगा जड़ में नहीं ॥

वेषि होत्रमुत पोत्रं जनानां मन्धातासि द्रविणोदा ऋतावा। स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन् ॥ २ ॥

वेषि। होत्रम्। उत। पोत्रम्। जनानाम्। मन्धाता। असि। द्रविणःऽदाः। ऋतावा। स्वाहा। वयम्। कृणवाम। हवींषि। देवः। देवान्। यजतु। अग्निः। अर्हन् ॥ २ ॥

अ०—हे विद्वन् पुरुष त्वम् (होत्रम्) होतुः कर्म (उत) अपि (पोत्रम्) पोतुः (वेषि) जानासि (जनानाम्) मनुष्याणां

मध्ये (मन्धाता) मेधावी (द्रविणोदाः) प्राप्तधनस्य सुपात्रेभ्यो दाता (ऋतावा) ऋतवान् मनसा वाचा च सत्यस्य धर्त्ता च (असि) यस्मात्त्वम् (अर्हन्) पूज्यः प्रशंस्यः (अग्निः) तेजस्वी (देवः) विद्यया द्योतनशीलो विद्वानसि तस्मात् (देवान्, यजतु) विदुषामेव पूजनं सत्कारं च करोतु त्वत्सङ्गत्या च (वयम्) (हवींषि) होतुं योग्यानि वस्तूनि (स्वाहा,कृणवाम) स्वाहा शब्दोच्चारणपूर्वकं वह्नौ जुहुयामार्थादग्निहोत्रादिनित्यं नैमित्तिकं वा यज्ञं कुर्याम ॥

भा० -येन सत्यवादिना धर्मपरायणेन विधियज्ञज्ञेन विदुषा विद्यासम्पादनेन साकं सदसद्विवेचनपरा विशिष्टा बुद्धिरपि प्राप्ता सएव स्नातकदशायां विद्योन्नतये विद्यावतां सत्कारं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तेनैव गृहस्थैर्यज्ञादिकं वेदोक्तं कर्म कारयितव्यं स एव गुरुत्वेन माननीयः ॥ २ ॥

भावार्थः-हे विद्वान् पुरुष ! तुम (होत्रम्) होता के कर्म को (उत) और (पोत्रम्) पोता के काम को (वेधि) जानते हो (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (मन्धाता) बुद्धिमान् (द्रविणोदाः) प्राप्त हुए धन को सुपात्रों के लिये देने वाले (ऋतावा) मन तथा वाणी से सत्य के धारण करने वाले (असि) हो। जिस कारण तुम (अर्हन्) पूजा वा प्रशंसा के योग्य (अग्निः) तेजस्वी (देवः) विद्या से प्रकाशशील हो इस कारण (देवान्, यजतु) विद्वानों का ही पूजन वा सत्कार करो और तुम्हारी सङ्गति से (वयम्) हम लोग (हवींषि) होमने योग्य वस्तुओं का (स्वाहा, कृणवाम) स्वाहा शब्द के उच्चारण पूर्वक अग्नि में होम करें। अर्थात् अग्निहोत्रादि नित्य वा नैमित्तिक यज्ञ करें ॥

भा०—जिस सत्यवादी धर्मपरायण विधियज्ञ को जानने वाले विद्वान् पुरुष ने विद्याप्राप्ति के साथ सत्याऽसत्य का विवेक करने में तत्पर विशेष बुद्धि भी प्राप्त की हो वही ब्रह्मचर्य की समाप्ति और गृहाश्रम के प्रारम्भ में विद्या की वृद्धि के लिये विद्यावानों का सत्कार करने में प्रवृत्त होता है। गृहस्थों

को चाहिये कि उसी से यज्ञादि वैदिक कर्म करावें और उसी का गुरुभाव से मान्य करें ॥२॥

सायण:—हे अग्नि तुम यजमान के लिये होता और पोता नामक ऋत्विजों की स्तुति को चाहते और तुम बुद्धिमान् सत्यधारी और धन देने वाले हो। हम देवताओं के लिये होम की सामग्री को स्वाहा करें अर्थात् देवें। तिसपीछे यजमान के योग्य वा प्रशंसा योग्य प्रकाशमान अग्नि उस हविष्य से देवताओं का पूजन करें ॥

इस में भी चेतन सम्बन्धी विशेषण जड़ भौतिक अग्नि में नहीं घट सकते इस लिये सायण का अर्थ चिन्तनीय है ॥

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम्। अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होतासो अध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति ॥३॥

आ। देवानाम्। अपि। पन्थाम्। अगन्म। यत्। शक्नवाम। तत्। अनु। प्रऽवोढुम्। अग्निः। विद्वान्। सः। यजात्। सः। इत्। ऊं इति। होता। सः। अध्वरान्। सः। ऋतून्। कल्पयाति ॥३॥

अ०—वयम् (देवानाम्, अपि) सज्जनानां विदुषामपि (पन्थाम्) पन्थानं सदाचारलक्षणम् (आ, अगन्म) समन्ताद्गच्छेयम् (यत्) कर्म कर्त्तुं वयम् (शक्नवाम) शक्नुमः [अत्र श्नुशाविति विकरणद्वयं प्रत्येतव्यम्] (तदनु) तत्कर्मानुक्रमेण (प्रवोढुम्) प्रकर्षेण समाप्तं कर्त्तुं शक्ताः स्याम। एतदर्थं यः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (विद्वान्) अस्ति (सः, यजात्) अस्मद्गृहे यागं करोतु (सः, इत्, उ, होता) स एव मनुष्याणां मध्ये होता भवतु (सः, अध्वरान्) यज्ञान् (सः, ऋतून्) वसन्तादिकान् (कल्पयाति) कार्यसम्पादनेन समर्थान् सार्थकान् करोतु ॥

भा०—अनुष्ठितब्रह्मचर्यो ब्रह्मवर्चस्वी विद्वानेव मनुष्यैर्यज्ञादिशुभसम्पादके वैदिककर्मणि नियोज्यः। तादृशमेवाप्तलक्षणलक्षितं पुरुषं प्रमाणीकृत्य तदुद्दिष्टदेवमार्गेण सदाचाररूपेणैव गन्तव्यम्। तादृशसदाचाररूपकर्मणोऽनुष्ठानमाप्तविद्वत्साहाय्येनैव सम्यक्कर्त्तुं शक्यते नान्यथेति ॥ ३ ॥

भाषार्थः—हमलोग (देवानाम्, अपि) सज्जन विद्वानों के (पन्थाम्) सदाचाररूप मार्ग से भी (आ, अगन्म) अच्छेप्रकार चलें (यत्) जिस कर्म के करने को हम लोग (शक्नवाम) समर्थ हों अर्थात् जिस कर्म के करने को उत्साह के साथ प्रवृत्त हों (तत्, अनु) उस कर्म को क्रम से (प्रवोढुम्) अच्छे प्रकार समाप्त कर सकें इस लिये जो (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी (विद्वान्) विद्वान् है (सः, यजात्) वह हमारे घर में यज्ञ करे (सः, इत्, उ, होता) वही मनुष्यों के बीच होता यज्ञ करने वाला हो (सः, अध्वरान्) वह यज्ञों को और (सः, ऋतून्) वह वसन्तादि ऋतुओं को (कल्पयाति) कार्यसिद्धि से समर्थ वा सार्थक करे ॥

भा०—ब्रह्मचर्य आश्रम का जिस ने सेवन किया हो ऐसे तेजस्वी विद्वान् पुरुष को ही मनुष्य लोग शुभफल देने वाले यज्ञादि वैदिक कर्म में नियुक्त करें। वैसे ही आप्तों के लक्षण से युक्त पुरुष को प्रामाणिक मान कर उस के कहे सदाचाररूप देवमार्ग से चलना चाहिये वैसे सदाचाररूप कर्म का अनुष्ठान आप्तविद्वानों की सहायता से ही ठीक २ कर सकते हैं अन्यथा नहीं ॥ ३ ॥

सायणः—देवलोक में पहुंचने के साधन देवताओं के सम्बन्धी वैदिकमार्ग को भी हम लोग प्राप्त हों जिस से देवताओं की प्राप्ति हो तथा हम लोग जिस कर्म के सेवन करने को समर्थ हों उस कर्म को क्रम से समाप्त कर सकें। इस के अनन्तर उस मार्ग को जानता हुआ वह अग्नि देवताओं का पूजन करें वही अग्नि मनुष्यों के होम को करे तिस पीछे वही अग्नि ऋतुरूप समयों और यज्ञों को समर्थ करे वा पूजा करे ॥

इस अर्थ में भी पूर्व के तुल्य ही दोष जानने चाहिये। इन लोगों ने अग्नि को प्रत्यक्ष जड़ पदार्थ जानते हुए भी अपने देखे सुने के अनुसार चेतन के तुल्य मान कर ऐसा अर्थ किया है। इस अर्थ से वेद के गौरव में बड़ा धक्का लगता है ॥

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः । अग्निष्टद्विश्वमा पृणाति विद्वान्येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ॥ ४ ॥

यत् । वः । वयम् । प्रमिनाम । व्रतानि । विदुषाम् । देवाः । अविदुःऽतरासः । अग्निः । तत् । विश्वम् । आ । पृणाति । विद्वान् । येभिः । देवान् । ऋतुऽभिः । कल्पयाति ॥ ४ ॥

अ०-(विद्वान्) सर्वं सत्याऽसत्यं यथावज्जानानः पुरुषः (येभिः,ऋतुभिः) यज्ञाङ्गरूपैः कालावयवैः (देवान्) विदुषः कर्मठान् पुरुषान् (कल्पयाति) दक्षिणादिरूपं द्रविणं दत्त्वा समर्थान् करोति (तत्) तैरेव कालावयवैः (अग्निः) सूर्यरूपोऽग्निः स्वकिरणैर्हुतं सूक्ष्मीभूतं द्रव्यमादाय वर्षयौषध्यन्नादीनामुत्पत्तिहेतुर्भूत्वा (विश्वम्) सर्वं जगत् चराचरम् (आ,पृणाति) तर्पयति जीवितं स्थितं वा रक्षति। हे (देवाः) विद्वांसः (वः) युष्माकं सम्बन्धीनि युष्मद्भिरुपदिष्टानि वा एवम्भूतानि महोपकारकाणि सर्वस्य जगत स्थितिहेतूनि (व्रतानि) नियमेन सेव्यानि यज्ञादीनि वेदोक्तानि कर्माणि (यत्) यदि (अविदुष्टरासः) अविद्वत्तरा अज्ञानेन मूढत्वमापन्नाः (वयम्) (विदुषाम्) ज्ञानोत्कर्षाद्दूरमपि दोषमस्माकं विजानतां सतां युष्माकं ज्ञानदशायामेव (प्रमिनाम) हिंस्याम विघातयेम न कुर्याम नियमानुल्लङ्घयेम तर्हि भवद्भिः शासनीयास्ताडनीयाश्च वयमिति शेषः ॥

भा०-विद्वद्भिर्यो वह्नौ होमः क्रियते स सूर्यकिरणद्वारेण वृष्टिजलं प्राप्यौषध्यन्नादीनामुत्पत्तिहेतुत्वात्सर्वस्य चराचरस्य जीवनं स्थितिं च रक्षति। अतएव वेदोक्तामीश्वराज्ञां शिरसि धृत्वा

ब्राह्मणादिभिः स्वस्वकर्मण्यवस्थितैर्जनैर्नित्यमग्निहोत्रादिनामको यज्ञोऽनुष्ठातव्यः । नात्र प्रमादः कार्यः । यदि विस्मरणप्रमादादिना कथमपि नित्यकर्मणोऽग्निहोत्रादेस्त्यागः स्यात्तदा विद्वद्भिरुपदेशकैर्धर्मदण्डेन ते शास्यास्ताड्याश्च स्युः । तैश्च प्रायश्चित्तादिरूपः स दण्डः प्रसन्नतया भोग्यः । यतस्तादृशो दण्डो धर्मस्य रक्षको वर्द्धकश्च भवति । अग्रे च तादृशः प्रमादः स्वप्नेऽपि न कर्त्तव्य इति मनस्यध्यवसितव्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थः-(विद्वान्) सब सत्य असत्य विषय को यथावत् जानता हुआ पुरुष (येभिः, ऋतुभिः) जिन यज्ञ के साधनरूप काल के अवयव वा ऋतुओं द्वारा (देवान्) कर्म कराने वाले ऋत्विज् आदि विद्वान् पुरुषों को (कल्पयाति) दक्षिणादि रूप धन दे कर समर्थ करता है (तत्) उन ही ऋतुरूप काल के अवयवों से (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि अपने किरणों से होम किये हुए सूक्ष्मद्रव्य को ले कर और वर्षा द्वारा ओषधि तथा अन्नादि की उत्पत्ति का हेतु हो कर (विश्वम्) सब चराचर जगत् को (आ, पृणाति) अच्छे प्रकार तृप्त करता तथा जीवित वा स्थित रखता है । हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्ध से कर्त्तव्य वा तुम लोगों ने उपदेश किये पूर्वोक्त प्रकार के अत्यन्त उपकारी सब जगत् को स्थित रखने वाले (व्रतानि) नियम पूर्वक सेवने योग्य यज्ञादि वेदोक्त कर्मों का (यत्) जो (अविदुष्टरासः) अत्यन्त अविद्वान् अज्ञान के कारण मोह को प्राप्त हुए (वयम्) हम लोग (विदुषाम्) ज्ञान की प्रबलता से हमारे गुप्त दोषों को भी जानते हुए आप लोगों के समक्ष में ही (प्रमिनाम) तोड़ें न करें अर्थात् कर्म करने के नियमों का उल्लङ्घन करें तो आप लोगों को चाहिये कि हम को शिक्षा वा ताड़ना करें ॥

भा०--विद्वान् लोग जो अग्नि में होम करते हैं वह सूर्य की किरणों द्वारा वृष्टि जल को प्राप्त होके ओषधि और अन्नादि की उत्पत्ति का हेतु होने से सब चराचर जगत् को जीवित और स्थित रखता है । इसी कारण ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा को शिरमाथे धर के अपने २ धर्म कर्म पर चलने वाले ब्राह्मणादि वर्णों को अग्निहोत्रादि नामक यज्ञ का नित्य सेवन करना चाहिये

श्राद्ध ॥

इस विषय पर हम को कुछ लिखने की आवश्यकता इस लिये हुई कि "हिन्दीप्रदीप" मासिकपत्र–प्रयाग में इस विषय पर कुछ लेख छपा है । यद्यपि उस लेख में अच्छे विद्वान् वा विचारशील बुद्धिमान् को समझाने के लिये कोई प्रमाण वा युक्ति ऐसी नहीं दी गयी जिस से पौराणिकसिद्धान्त के अनुसार श्राद्ध मानने वा करने वालों के पक्ष की सिद्धि वा पुष्टि हो सके और लोगों के चित्त में जम जावे कि पौराणिकसिद्धान्तानुकूल वा प्रचरितरीत्यनुसार श्राद्ध कर्त्तव्य कर्म है । तथा जो सर्वसाधारण लकीर के फकीर लौकिक लोग वर्त्तमान परिपाटी से उस कर्म को करते जाना अच्छा जानते हैं किन्तु उन को यह अपेक्षा नहीं है वा ऐसी बुद्धि नहीं है कि वेदानुकूल श्राद्ध कैसा है ? हम करते हैं उस में कुछ भूल है वा ठीक है इत्यादि । इन दोनों के लिये उक्त हिन्दीप्रदीप का श्राद्ध विषयक लेख कुछ प्रयोजनसाधक नहीं है किन्तु निरर्थक है । तथापि अर्द्धशिक्षित लोगों को उस लेख से अनेक प्रकार का भ्रम होना सम्भव है इस लिये संक्षेप से उस की समीक्षा करना आवश्यक समझी गयी ।

इस श्राद्ध विषय पर हम ने मानवधर्ममीमांसाभाष्य के उपोद्घात में विशेष लेख किया है । उस को यदि हिन्दीप्रदीप के सम्पादक विचारपूर्वक देख लेते तो सम्भव है कि ऐसा लेख न लिखते जैसा उन्हों ने लिखा है । वहां यथासम्भव सभी प्रकार के शङ्का समाधान कर दिये गये हैं—

हिन्दीप्रदीप–जिन जीवों के उद्देश्य से श्राद्ध किया जाता है वे चाहे किसी लोक और किसी योनि में हों उन को परमतृप्ति प्राप्त होती है । यदि वे जीव देवलोक में देवता हैं तो उन्हें वही श्रद्धापूर्वक प्रदत्तपिण्ड या अन्न अमृत हो के मिलता है । इसी प्रकार जिस योनि के लिये जो पदार्थ प्रिय है उसी के द्वारा उस को तृप्तिरूपी फल मिलता है । इत्यादि ॥

समीक्षक—जब अपने २ शुभाशुभ सञ्चितकर्मों के अनुसार सब जीवों को उत्तम निकृष्ट सुख दुःख मिलते हैं तो सब जीवों को स्वर्गादि उत्तम दशा ही प्राप्त हो और किसी को कुत्ता सूकरादि तिर्यक् योनि वा अन्त्यज योनि वा कृमि कीट पतङ्गादि योनि प्राप्त न हो यह नियम से विरुद्ध है । जब सभी योनि कर्मानुसार प्राप्त होती हैं तो दैवसंयोग से जिस को कुत्ता सूकर वा मांसाहारी

सिंहादि की योनि मिलेगी उन को हिन्दीप्रदीप के सिद्धान्तानुसार दिया हुआ अन्न वा पिण्ड मांस वा मिष्ठादि रूप से तृप्ति देने वाला होना चाहिये । हमारे अनुमान में इस सिद्धान्त को पौराणिक लोग भी स्वीकार नहीं करेंगे । यदि उक्त सम्पादक को शास्त्रीय सिद्धान्त से ठीक २ अभिज्ञता होती तो ऐसा कभी नहीं लिखते । अनेक लोग कहते हैं कि धर्मविषय में अधिक तर्क न करने चाहिये आर्यसमाज में यह भी एक बड़ा दोष बतलाते हैं कि प्रत्येक विषय पर आर्य लोग तर्क बहुत करते हैं सो यह विचार उन लोगों का इस लिये ठीक नहीं कि धर्मसम्बन्धी विषयों पर तर्क के साथ अनुसन्धान की धर्मशास्त्र में ही आज्ञा लिखी है कि " यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः " जो तर्क के साथ अनुसन्धान करता है वही धर्म को जान सकता अन्य नहीं । इस लिये जो तर्क से सिद्ध हो जावे और न्यायशास्त्रानुकूल तर्क से विरुद्ध न हो उसी को ठीक २ परीक्षा करके धर्म मानना चाहिये । और प्रत्यक्ष युक्ति से भी यही सिद्ध है कि संसार में जो कोई विचारशील पुरुष कुछ काम करता है वा कोई वस्तु लेता है तो पहिले परीक्षा कर लेता है । यहां तक कि छदाम की हंडी भी ठोंक बजा कर ली जाती है । इस दशा में धर्म जैसे सर्वसुखसाधन वस्तु की परीक्षा न करना मूर्खता नहीं तो क्या है ? । अन्य वस्तुओं की अपेक्षा धर्मसम्बन्धी विषय की अधिक परीक्षा इस लिये करनी चाहिये कि जन्मान्तरों में भी सुख मिलने की आशा हम को धर्म से ही है अन्य किसी वस्तु से नहीं । इसी सिद्धान्त के अनुसार परीक्षा करने पर जो ठीक निकले वही धर्म समझना चाहिये । संसार में जब कभी बनावटी वस्तुओं और असत्य बोलने आदि अधर्म का प्रचार बहुत कम हो जाता है तब धर्म की परीक्षा अधिक करने की आवश्यकता नहीं होती परन्तु आज कल जैसा समय है जिस में धर्मात्माओं के स्थान पर प्रायः धर्मध्वजी दीख पड़ते और धर्मसम्बन्धी कार्य प्रायः धर्माभास हो रहे हैं इस लिये सम्प्रति धर्म की परीक्षा करके ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है । इसी के अनुसार आर्यसमाजस्थ सज्जन लोग तर्क के साथ धर्म का पूरा अनुसन्धान करके मानते और मनाते हैं ॥

पञ्चमहायज्ञों में श्राद्ध भी एक नित्यकर्म है और ब्राह्मणादि वर्णों को वेदोक्त ईश्वराज्ञा और आत्म सुधार का हेतु मान कर अवश्य करना चाहिये । यह कर्म कर्त्तव्य है वा नहीं इस पर कुछ विवाद नहीं है किन्तु उस के प्रकार

भेद में विवाद है। सो उस विवाद के दो अंश हैं एक तो प्रचरित रीति के अनुसार जौ चावल के आटा आदि के पिण्ड बना कर कुशाओं के बनावटी पितरों पर रखना और द्वितीय मरे हुए पितृ पितामहादि को उस से तृप्ति मानना। इस में एक विवाद तो उस की क्रिया पर हुआ और द्वितीय फल पर, सो परीक्षा करने पर ये दोनों विवाद धर्मशास्त्र से विरुद्ध ठहरते हैं इस लिये वे मन्तव्य नहीं क्योंकि सर्वतन्त्रसिद्धान्त के अनुसार धर्मशास्त्र का यह जो सिद्धान्त है कि अपने २ किये शुभाशुभ कर्मों का फल सब जीवों को वर्त्तमान जन्म वा जन्मान्तर में अवश्य भोगना को मिलता है उक्तं च "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" संसार में स्वर्गप्राप्ति वा देवयोनि में सम्मिलित होना सर्वोपरि पुण्य का फल माना जाता है। क्योंकि उस दशा में सब प्रकार का सुख प्राप्त हो जाता है। यदि सब सुख वा सर्वोपरि सुख स्वर्गीय मनुष्यों को प्राप्त न हो तो उस की प्राप्ति के लिये विशेष वा बहुत कालपर्यन्त उद्योग करने की चेष्टा और स्वर्ग को सर्वोपरि मानना ये दोनों बातें ठीक नहीं बन सकतीं। जिस को सर्वोपरि सुखप्राप्त हो गया उस को पुत्रादि के दिये पिण्ड की अभिलाषा नहीं हो सकती और यदि अभिलाषा बनी है तो सर्वसुख प्राप्त नहीं हुए। यदि स्वर्गस्थ पितादि को पुत्रदत्तपिण्ड का फल अमृत हो कर तृप्त करता है तो जिस के लिये कोई पिण्डदाता न हो वा होकर किसी कारण पिण्डदान न करे तो स्वर्गस्थ भी उस का पिता दुःखी रहेगा क्योंकि जिस वस्तु से जिस को सुख वा तृप्ति मिलती है उस वस्तु के अभाव में वा न मिलने पर उस को दुःख भी अवश्य प्राप्त होगा क्योंकि जिस के न होने पर दुःख नहीं तो उस के होने पर सुख भी नहीं हो सकता। इस से सिद्ध हुआ कि हिन्दोपदीप के लिखने अनुसार स्वर्ग में दुःख बना हुआ है परन्तु यह सिद्धान्त पौराणिक लोगों का भी नहीं है। जिस पुरुष ने संसार में अच्छे २ धर्मसम्बन्धी काम किये हैं उस को तो जन्मान्तर में अपने कर्मों से ही सब सुख प्राप्त हो जावेंगे उस को पुत्रदत्तपिण्ड की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। उस के लिये पिण्डदान से तृप्ति मानना निरर्थक है। और जिस के कर्म निकृष्ट हैं उस को भी अपने कर्मों के अनुसार निकृष्टफल मिलेगा। उस को यदि पिण्डदान से तृप्ति फल प्राप्त हो जावे और पूर्वजन्म के सञ्चित अधर्म का फल नहीं हो तो अधर्म करने में भय क्योंकर हो सकता है? । और धर्मात्मा अधर्मात्मा दोनों के पुत्रादि न किये

श्राद्ध का फल सुख जब दोनों को बराबर प्राप्त हुआ तो धर्म अधर्म की व्यवस्था सब बिगड़ जाती है । इस से परलोक में बड़े सुखप्राप्ति की आशा से धर्म के सेवन में रुचि और अधर्मसम्बन्धी बड़े दुःख मिलने के भय से अधर्म के सेवन से निवृत्ति की इच्छा किसी को न होगी ऐसा होने से धर्मशास्त्र के मूल सिद्धान्त में ही बड़ा धक्का लगेगा । क्योंकि वे मनुष्य जान लेंगे कि जन्मान्तर में पुत्रादि के दिये पिण्डों से हमारी तृप्ति हो जायगी । तो धर्म में प्रीति और अधर्म से भय सर्वथा जाता रहेगा । इस लिये पुत्रादि दत्तपिण्डादि का फल जन्मान्तर में पितादि को पहुंचाने की चेष्टा करना जानो धर्मशास्त्र के तत्त्व को गिराड़ना है । जब अन्य पुत्रादि के किये पिण्डादि का फल जन्मान्तर में पितादि को धर्मशास्त्र के सिद्धान्त और युक्ति से नहीं पहुंच सकता तो उसी के लिये कुशाओं पर पिण्ड रखना वा कुशादि जड़पदार्थ की सेवा वा पूजा करना सब व्यर्थ है । अर्थात् क्रिया का भेद और फल पहुंचाना दोनों ही विवादयुक्त और धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध हैं ॥

अब रहा श्राद्ध का शेष कर्त्तव्य कि धर्मशास्त्र में लिखे अनुसार परीक्षित सज्जन धर्मात्मा वेदपाठी ज्ञानी शास्त्रज्ञ विद्वान् पुरुषों को उत्तम २ अन्न जलादि सत्कार की सामग्री द्वारा सेवा शुश्रूषा वा सत्कार करना उन को पेड़ा बरफी वा मोदकादिरूप पिण्ड भोजनार्थ देना उन को अच्छे २ पेय वस्तुओं से तृप्ति करना और उन से अपने कल्याण का मार्ग जानना तथा ऐसे शुभ और सत्वगुणसम्बन्धी दान धर्म से शास्त्र की मर्यादानुसार अपना परमार्थ सुधारना इत्यादि प्रकार का सर्वसम्मत श्राद्ध है उस में किसी का विवाद नहीं है इस प्रकार का श्राद्ध तर्क से विरुद्ध भी नहीं ठहर सकता किन्तु सदा तर्क के अनुकूल है । जीवित माता पिता वा मातृस्थानी पितृस्थानी माननीय प्रेमी शुद्धमार्गदर्शक स्त्रीपुरुषों का नित्य नियम से सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये और उन की पूजा में भक्ति और श्रद्धा ऐसी रखनी चाहिये कि इन्हीं की सेवा से हम दुःखसागर के पार हो सकते हैं । जब अपने निज माता पिता का देहान्त हो जावे तब अन्य उन के स्थानी वा विद्यादाता आदि धार्मिक परोपकार प्रिय पुरुषों का मन वचन कर्म से सत्कार करना श्राद्ध कहावेगा । हम आज कल जगत् में देखते हैं कि अपने जीवित माता पिताओं से जो प्रायः विरुद्ध रहते अपनी स्त्री को लेकर पिता माता से अलग हो जाते वर्त्तमानदशा में

उन को मारते गाली देते वा कुछ रियासत आदि हुई तो उन के साथ राजद्वार में विवाद उठाते हैं कोई २ मार डालने के उपाय में भी रहते वा अवसर पाकर मार भी डालते हैं। अधिक कर ऐसे ही मनुष्य उन माता पिता के मर जाने पर कुशों की जड़ों पर वा पिण्डों के सामने शिर नमाते हैं। जो मुर्दाभक्तों की यही दशा होती है जब लोक में ऐसी दशा प्रत्यक्ष दीख पड़ती है तो हिन्दीप्रदीप का यह कहना "जिन को अपने माता पिता के साथ प्रीति होती है वे ही श्राद्ध करते हैं" कदापि ठीक नहीं किन्तु प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है। लोग वर्त्तमान दशा में अपने माता पिता की सेवा शुश्रूषा वैसी नहीं करते जैसी करनी चाहिये और मर जाने पर भक्ति प्रकट करते हैं इस से उन का मुर्दाभक्त होना अत्यन्त स्पष्ट है और बहुतेरों को अपने चित्त की निर्बलता वा अविद्यादि के कारण यह भी भय होता है कि हमारा पितादि भूत होकर हम को क्लेश न देवे इस लिये श्राद्ध करना चाहिये। अनुमान होता है कि धर्मशास्त्र में लिखे अनुसार माता पिता की सेवा शुश्रूषा करने की रीति बनी होती तो मुर्दाभक्ति का इतना प्रचार कदापि न बढ़ता क्योंकि जो काम पहिले से सत्य चित्त से किया होता है उस को बनावटी प्रकार से करने की इच्छा मनुष्य को नहीं रहती।

उक्त पत्र के सम्पादक ने एक वार्त्ता यह भी लिखी है कि "साहबान अंगरेजों में भी मृतक कीर्त्ति स्थापन निमित्त स्थानरचना स्कूल औषधालय छात्रवृत्ति प्रभृति जो कुछ कार्य वे करते हैं वह सब श्राद्ध ही में संयुक्त हैं"

क्या पृथिवी में खोद कर गाड़ना और ऊपर से कबर बना देना भी श्राद्ध है ?। यदि यह बात सत्य है तो इस से थोड़ा ही पूर्व आप लिख चुके हैं कि "इस समय प्रचलित पद्धति और रीति के अनुसार पितरों को कव्यदान में यह शब्द रूढ़ हो गया" ये दोनों वार्त्ता सत्य नहीं हो सकतीं क्योंकि परस्पर विरुद्ध हैं। यदि पिण्डादि भोज्य वस्तु के देने अर्थ में यह श्राद्ध शब्द रूढ़ माना जावे तो मृतक के नाम से स्थानादि बनाने का नाम श्राद्ध कदापि नहीं होगा और जो कीर्त्ति स्थापक आदि कार्यों को भी श्राद्ध कहो तो भोज्य वस्तु में यह शब्द रूढ़ नहीं कह सकते। इस कारण यह लेख परस्पर विरुद्ध है। और यह "वदतो व्याघात" है कि अंगरेज और मुसलमानों को तो मानना कि वे कीर्त्तिस्थापन आदि से श्राद्ध को मानते हैं और आर्य लोग भले ही मृतक के

नाम से विद्यालय वा धर्मसम्बन्धी कोई काम करें तो भी उन के लिये लिखना कि " इन दिनों थोड़े से ऐसे लोग भी हम लोगों के बीच उपज खड़े हुए हैं जो कहते हैं जीवते ही मनुष्य का श्राद्ध हो सकता है मरे पर कुछ नहीं पर इन में कोई पुष्ट युक्ति और प्रमाण वे नहीं देते-हम कहते हैं जो जीते पिता की श्राद्ध करना जानता है वही मृतक पिता की भी श्राद्ध कर सकता है इत्यादि" यहां एक तो श्राद्ध पद को स्त्रीलिङ्ग मान कर लिखना संस्कृतव्याकरण के नियम से विरुद्ध है। हम इस से पूर्व लिख चुके हैं कि जो लोग जीवित पिता माता की सेवा शुश्रूषा श्राद्ध से कदापि नहीं करते किन्तु प्रायः उन की वर्त्तमानदशा में फिरण्ट रहते हैं वे ही अधिक कर मरणानन्तर कुशादि की जड़ों को पूजते हैं यह बात आज कल प्रत्यक्ष से विरुद्ध है इसलिये "जो जीते पिता का श्राद्ध करना जानता है वही मृतक पिता का भी श्राद्ध कर सकता है" यह आशा खण्डित हो गया। वर्त्तमान समय में भारतवर्ष के निवासी मनुष्य मूर्ख और अशिक्षित अधिक हैं उन सहस्रों में एक दो ऐसे कदाचित् निकलें जो अपने जीवित माता पिता की सेवा श्रद्धा भक्ति से करते हों। कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो धनादि ऐश्वर्य का पुत्रादि को पहिले से इसी लिये अधिकार नहीं देते कि ये धनादि के लोभ से कुछ हमारे आधीन बने रहें और वास्तव में अनेक पुत्रादि धनादि के लोभ से भी माता पिता की कुछ सेवा शुश्रूषा करते उन की सेवा स्वार्थपरक होने से धर्मसम्बन्धी श्राद्ध में नहीं गिनी जायगी। और जिन वृद्ध पिता मातादि के आधीन पूर्वसञ्चित कुछ ऐश्वर्य नहीं होता और उस शिथिलदशा में उद्योग करने की शक्ति भी उन को नहीं रहती और पुत्रों को अपने परिश्रम से धनादि सञ्चित कर के उन का पालन करने पड़ता है उस दशा में ऐसे विरले ही धर्मात्मा पुरुष होते हैं जो श्रद्धा भक्ति से उन की सेवा शुश्रूषा करते हों। वास्तव में ऐसे पूर्वोक्त माता पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा को ही हम लोग श्राद्ध मानते हैं इसी लिये वैसी दशा में श्राद्ध करना धर्म कहा जाता है और इसी से जो लोग उस को नहीं करते वे पुत्रादि अधर्मी समझने चाहिये ॥

हम ने श्राद्धविषयक लेख में यहां वा मनुस्मृति की भूमिका में अनेक प्रबल युक्ति वा प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि मरे हुये पितादि को जन्मान्तर में हम सुख दुःख कुछ नहीं पहुंचा सकते। और पौराणिकसिद्धान्त

मानने वालों पर कई प्रश्न भी समुभूमिका में किये गये हैं "जो मनुष्य मरते हैं वे क्या पृथिवी पर मनुष्यादि योनि में नहीं आते ? यदि उन को मनुष्यादि योनि इस पृथिवी पर नहीं मिलती तो कहां जाते हैं ? और जो पृथिवी पर आकर मनुष्यादि योनि को प्राप्त होते हैं तो श्राद्ध में बुलाते समय कैसे आते हैं ? अर्थात् उस २ योनिस्थ शरीरों सहित श्राद्ध में आह्वान करते समय आवें तो उन को क्यों नहीं दीख पड़ते ? । तथा लोक में ऐसा कहीं नहीं दीखता कि कोई किसी के यहां पूर्वजन्म के सम्बन्ध से श्राद्ध में मन्त्रद्वारा बुलाने पर जाता हो । और शरीर छोड़ कर जीवमात्र श्राद्ध में आवे तो उतने काल तक उन के शरीर मृतक पड़े रहें यह भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध है अर्थात् ये पूर्वोक्त सब प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध हैं । और जो मरे हुए प्राणी पृथिवी पर जन्म नहीं लेते तो मर कर अन्यत्र कहां जाते हैं ? । यदि पितृलोक में जाते हैं ऐसा कहो तो वह पितृलोक कहां है ? । तथा मर कर यदि सभी प्राणी अन्य लोकों में उत्पन्न होते हैं तो पृथिवी पर नये २ जीवात्मा कहां से आकर जन्म लेते हैं ? । यदि घट आदि अनित्य वस्तुओं के तुल्य जीवात्मा नहीं बनते वा बनाये जाते तो असंख्य मानने पर भी फिर लौट कर न आने से अभाव हो जाना सम्भव है । इत्यादि " ऐसे प्रश्नों के उत्तर आज तक किसी ने नहीं दिये और वहां अनेक युक्ति वा प्रमाण भी पुष्ट दिये हैं उन में से एक का भी प्रत्युत्तर न देकर हिन्दीप्रदीप का यह कह डालना कि "कोई पुष्ट युक्ति और प्रमाण वे नहीं देते" कहां तक अयुक्त माना जायगा ? । जब उन्होंने इतना लिखा तो हमारे किसी प्रमाण वा युक्ति का खण्डन करके भी दिखाना था ॥

अब रहा श्राद्धविषय में अंगरेज, मुसलमानों का दृष्टान्त जो कि पुनर्जन्म को भी नहीं मानते और न पुत्रादि के किये दान पुण्य का फल उस मृतक को किसी दशा में पहुंचना मानते हैं उन को अनुकूल मानना और पुनर्जन्मादि को मानने से आस्तिक मर्यादान्तर्गत आर्यसमाज को श्राद्ध का विरोधी कहना इस के दो ही कारण हैं एक तो घरू फूट को बढ़ाना जिस से कि भारतवर्ष की प्रतिदिन अवनति होती जाती है । लोगों के ऐसे ही वर्त्तावों को देख कर नीति में यह लिखा गया है कि "ज्ञातिश्चेदनलेन किम्" कुटुम्बी वा दायभागी भाइयों में शत्रुता प्रायः हुआ करती है । और द्वितीय कारण यह भी है कि चाहे कुछ भी जानते मानते हों पर जिस समुदाय के मनुष्यों से उन का

कुछ काम निकलता है उस की प्रेरणा सम्मति वा प्रार्थना पर ध्यान देना ही पड़ता है । इन्हीं विचारों से हिन्दीप्रदीप ने वैसा विरुद्ध लेख किया जान पड़ता है । अंगरेज मुसलमान लोग श्राद्ध के विरोधी हैं क्योंकि कीर्त्ति स्थापन आदि को कोई पौराणिक भी श्राद्ध नहीं मानता । संस्कृत के प्राचीन पुस्तकों से भी यह कभी सिद्ध नहीं होता कि मृतक के नाम से कुछ स्थानादि बनाने का नाम भी श्राद्ध है । इस लेख से कोई महाशय यह न समझ लेवें कि मृतक के नाम से पीछे कोई काम न करना चाहिये । किन्तु मृतक के सम्बन्धियों को अत्यन्त उचित है कि उस अपने पूज्य पितादि का नाम चिरस्थायी करने के लिये उस के नाम से विद्यालयादि यथाशक्ति अवश्य बनवावें परन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं है कि उस काम से मृतक को जन्मान्तर में कुछ फल पहुंच जायगा । और श्राद्धशब्द का अर्थ भोज्य पेयादि उत्तम २ वस्तुओं से श्रेष्ठ सज्जनों वा जीवित वृद्ध माता पितादि की तृप्ति करना ही ठीक है । यदि किसी को साहस हो कि मृतक के नाम से विद्यालयादि बनाना भी श्राद्ध है तो उस को युक्ति और प्रमाणों से इस पक्ष को सिद्ध कर देना चाहिये अन्यथा मान्य नहीं होगा और कदाचित् किसी प्रकार मृतक की कीर्त्ति चिरस्थायिनी रखने के लिये किये गये कार्यों की श्राद्ध में गणना हो जावे तो आर्यसमाज को श्राद्ध का विरोधी कहना खण्डित हो जायगा । क्योंकि वैसा काम आर्यसमाज के सिद्धान्त से भी कर्त्तव्य है ।

आगे पौराणिक रीति के श्राद्ध को सिद्ध करने के लिये किसी पुराणानुयायी ग्रन्थ का प्रमाण दिया है—

जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात् ।
गयायां पिण्डदानेन त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥ १ ॥

यह वाक्य किसी पुस्तक का हो पर मनुस्मृति में किये पुत्र के लक्षण से विरुद्ध है । जैसे माता पिता की आज्ञा मानने अमावास्या को विशेष वा अधिक भोजन कराने और गया में पिण्ड देने से पुत्र की सार्थकता है । इस में से जीवित माता पिता की आज्ञा मानना यही एक लक्षण धर्मशास्त्र के अनुसार है । क्योंकि—

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति के नवमाध्याय का श्लोक है पुत् नाम दुःख विशेष से जिस कारण पिता को बचाता है इसी से उस को पुत्र कहते हैं । यह दुःख विशेष वृद्धावस्था में होता है उस से अपने आत्मज के तुल्य कोई नहीं बचा सकता । और मुख्य तो यह है कि जब धर्मशास्त्र वा वेद के सिद्धान्तानुकूल यह बात सिद्ध हो गयी कि जन्मान्तर में पुत्रादि के दिये पिण्डादि का फल पितादि को किसी प्रकार नहीं पहुंच सकता तो ऐसे अनेक वचन किन्हीं ग्रन्थों के हों सब कल्पित बनावटी माने जावेंगे ॥

आगे महाभारतस्थ शान्तिपर्व के चार श्लोक श्राद्ध की सिद्धि में प्रमाण कर के लिखे हैं । तद्यथा—

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदैहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ।
युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः
विराटप्रभृतीनां च द्रौपद्या सहितो ददौ ॥
ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ।
धनैरत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् ॥

इन श्लोकों का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि राजा धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर जी ने मरे हुए द्रोणादि के नाम से सुपात्र ब्राह्मणों को उत्तम २ अन्न धन और वस्त्रादि का दान दिया इत्यादि । परन्तु यहां यह स्पष्ट नहीं लिखा कि वह दान जन्मान्तर वा स्वर्गादि में द्रोणादि को फलरूप हो कर मिलेगा । क्योंकि धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार दान करना तो सभी समयों में उचित है । यदि कोई मृतक का नाम स्मरण के लिये वा उस के नाम स्मरण से संसार को अनित्य जान दान धर्मादि में रुचि बढ़ाने के लिये दानधर्मादि में मृतक का

नाम स्मरण करे तो कोई विशेष हानि नहीं, कदाचित् पहिले यही आशय रहा हो परन्तु मृतक को जन्मान्तर वा देशान्तर में उस दान धर्मादि के पहुंचने की कल्पना करना यही केवल विवादास्पद विषय है किन्तु मृतक के नाम लेने मात्र पर कुछ विवाद नहीं है। सो यदि नाम लेनेमात्र का अभिप्राय उक्त श्लोकों का है तब तो कुछ विवाद नहीं और न प्रतिपक्ष को सिद्ध करने के लिये उक्त श्लोक ऐसी दशा में प्रमाणीभूत माने जा सकते हैं। यदि कोई किसी प्रकार यह आशय निकाले कि मृतकों को दानादि का फल पहुंचाना ही महाभारत के श्लोकों का अभिप्राय है और यह तात्पर्य किसी प्रकार सिद्ध भी होजावे तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि आधुनिक ग्रन्थों में प्रायः वैसा लेख मिलना सम्भव है परन्तु उस से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वेद का भी यही सिद्धान्त है और प्रतिज्ञा के साथ कोई यह भी नहीं कह सकता कि राजा युधिष्ठिरादि ने वैसे ही सब काम किये जैसे उन २ के विषय में महाभारतादि में लिखे गये हैं। क्योंकि महाभारतादि पुस्तक उन २ लोगों की वर्त्तमान दशा में नहीं बने जिन २ का इतिहास उन पुस्तकों में लिखा है क्योंकि वे पुस्तक उस २ वृत्तान्त के हो जाने से बहुत पीछे कवि लोगों ने बनाये हैं और अनेक प्रकार की कविता रोचक भयानक उन में लिखी गयी है वह सर्वथा सत्य ही नहीं मानी जा सकती और धर्मशास्त्र के विधिवाक्यों के समान उस का मान्य कदापि नहीं हो सकता क्योंकि इतिहासादि में लोगों के वर्त्ताव लिखे आया करते हैं इसी लिये वे धर्मशास्त्र से भिन्न हैं ॥

एक वार्त्ता यह भी है कि कदाचित् राजा युधिष्ठिरादि धर्मात्माओं ने भी कोई काम वेद से विरुद्ध ही किया हो तो मनुष्य होने से उन से ऐसा काम बन जाना कुछ आश्चर्य नहीं है इसी लिये उन के सब आचरणों का उदाहरण धर्मविषय में देना ठीक नहीं। राजा युधिष्ठिर जी जान कर एक वार मिथ्या बोले यह महाभारत में लिखा है तो क्या इस से मिथ्या बोलना धर्म माना जायगा ? अर्थात् कदापि नहीं परन्तु इस से यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि किसी धर्मात्मा पुरुष ने सहस्र काम अच्छे धर्मसम्बन्धी किये और किसी कारण एक काम धर्म से विरुद्ध बन पड़ा तो वह सर्वथा अधर्मी हो जावेगा किन्तु सहस्रांश धर्मात्मा और एकांश में अधर्मी कहा जायगा। इस सब लेख से प्रयोजन यह सिद्ध हुआ कि धर्मशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त से ही मृतकों को

जन्मान्तर में पिण्डादि का फल पहुंचाना विरुद्ध है तो इस में इतिहासादि का प्रमाण कुछ कार्यसाधक नहीं हो सकता। रहा श्राद्ध में ब्राह्मण की परीक्षा करना सो यह तो धर्मशास्त्र का सिद्धान्त ही है कि धर्मात्मा सुपात्र ब्राह्मण को श्राद्धादि सम्बन्धी दान देना चाहिये इस में किसी को विप्रतिपत्ति कुछ भी नहीं है अर्थात् इस प्रकार के धर्मात्मा परीक्षित प्रत्यक्ष विद्वानों का अन्न धनादि के दान से श्रद्धापूर्वक सत्कार करना नामक श्राद्ध ही आर्यसमाज का भी सिद्धान्त है ॥

श्राद्धविषयक हिन्दीप्रदीप के विचित्र लेख से कोई भी ठीक २ एक सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता क्योंकि अनेक बातें पूर्वापर विरुद्ध लिखी हैं। कहीं लिखा है श्राद्ध शब्द का अर्थ मरे हुए पितरों को पिण्डदान पर रूढ़ि है। कहीं कहा है कि मृतक के नाम से विद्यालय खोलना आदि भी श्राद्ध हैं इसी से अंगरेज मुसलमान भी श्राद्ध करते हैं। कहीं पितरों को विष्णुरूप लिखा और श्राद्ध को अपने ही उपकार के लिये मान लिया। "अपने ही उपकार के लिये" इस वाक्य में जो निश्चय वाचक ही शब्द पड़ा है उस से निश्चय हुआ कि अन्य के उपकारार्थ कुछ नहीं अर्थात् पितरों का नाम ही लेनामात्र है। और पहिले एक स्थल में लिखा कि "जिस योनि में हमारे पितादि जन्म लेते हैं उस योनि को जो २ वस्तु प्रिय हैं उसी द्वारा हमारे दिये पिण्ड का फल उन को मिलता है।" इस कथन से श्राद्ध मुख्य कर मृतक पितरों के उपकारार्थ हुआ और यहां लिखते हैं कि अपने ही उपकारार्थ है इन परस्पर विरुद्ध दो कथनों में से किस को सत्य माना जावे ? यह उन्हीं महाशय से पूछना चाहिये। यदि कहें कि दोनों का उपकार है तो यह लिखना मिथ्या हो जायगा कि "पितरों का केवल उद्देशमात्र है" इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पितरों का केवल नाम लेनामात्र ही है अर्थात् उन को कुछ फल प्राप्त नहीं होता। और यह भी ठीक है कि प्रत्येक काम मुख्य कर एक ही के उपकारार्थ होता है उस का प्रतिफल भले ही दूसरे को कुछ मिले तथापि एक ही उस क्रिया के फल भोगने में प्रधान होता है। जैसे कोई पाचक भृत्य अपने स्वामी के लिये भोजन बनाता है तो वेतन आदि प्रतिफल उस को भी मिले परन्तु पाक क्रिया का फल मुख्य कर स्वामी को ही मिलेगा। इसी प्रकार यहां श्राद्ध का फल मुख्य कर पितृ लोगों की तृप्ति मानना ही सब का सिद्धान्त है उस में जीवित

ज्ञानी धर्मात्मा विद्वानों वा अपने माता पिता को अन्न धनादि से तृप्त करना वेदानुकूल आर्यसमाज का सिद्धान्त है और मरे हुओं को तृप्त करना पौराणिक लोगों का मत है। परन्तु श्राद्ध का मुख्य फल पितरों की तृप्ति दोनों मत में समान है। रहा उन के वरदान आदि से श्राद्ध के कर्त्ता को कुछ प्रतिफल पहुंचना यह गौण है। यदि इस प्रतिफल को मुख्य फल मान लेवें और कहने लगें कि अपने ही उपकार के लिये श्राद्ध है तो फिर परोपकार किस को मानेंगे? अर्थात् जिस को परोपकार कहोगे उस का प्रतिफल कर्त्ता को भी परमेश्वर की व्यवस्था से कुछ न कुछ अवश्य पहुंचेगा। इस लिये हिन्दीप्रदीप का यह लिखना भी ठीक नहीं कि श्राद्ध अपने ही उपकार के लिये है। श्राद्ध में पितृयों से जो वरदान मांगे गये हैं उन में भी कोई विवाद नहीं है क्योंकि—

"सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्"

सज्जन पुरुषों की सङ्गति से मनुष्यों का कौन काम सिद्ध नहीं होता?। अर्थात् सभी काम ठीक २ बन जाते हैं तो यही वरदान का प्रयोजन है। तथा जब अपने वृद्ध माता पिता वा सज्जन धर्मात्मा विद्वान् पुरुषों को अच्छे प्रकार तृप्त वा सन्तुष्ट प्रसन्न करेंगे तो उन सेवकों पर वे पितर भी अवश्य दयादृष्टि करेंगे और जहां तक उन से होगा अपने सेवकों को सुख पहुंचाने का वे पितर अवश्य उद्योग करेंगे। मानवधर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में स्पष्ट ही लिखा है—

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप इहोच्यते॥

माता पिता और अपने विद्यादाता गुरु को अपनी श्रद्धा भक्ति पूर्वक की सेवा से सन्तुष्ट वा प्रसन्न कर लेना ही पूरा तप वा श्राद्ध कर्म है क्योंकि शास्त्रकारों ने इन्हीं तीनों की शुश्रूषा को परम तप माना है। उक्त प्रकार श्राद्ध का प्रतिफल ईश्वर कर्त्ता को भी अवश्य पहुंचवाता है यही वरदान का आशय है। परन्तु पौराणिक लोग इस श्रेष्ठ श्राद्ध की प्रथा को देखते हुए भी अपनी प्रचरित लीक को न छोड़ेंगे किन्तु उन्हीं मृतकों से वर मांगेंगे जिस के लिये अरण्यरोदन का दृष्टान्त ठीक घट सकता है कि कोई निर्जन एकान्त देश वन में जा कर अपना दुःख रोवे तो कौन सुनेगा? अर्थात् कोई नहीं तो रोना

निरर्थक हो गया। हिन्दीप्रदीप के " श्राद्ध अपने ही उपकार के लिये है और पितरों का केवल उद्देशमात्र है " इस लेख से सर्वसाधारण पौराणिक लोग जैसा श्राद्ध मानते हैं कि मरे हुए पितरों की तृप्ति होती है उस का खण्डन हो जाता है। इस से पौराणिक पक्ष के श्राद्ध की पुष्टि के लिये यह उद्योग नहीं ठहर सकता। और "जिस २ योनि में हमारे पितर जन्म लेते हैं उस २ योनि के भक्ष्यद्वारा ही हमारा छिपा विशेष पितरों को तृप्त करता है " इस कथन से आर्यसमाज के वेदोक्त सिद्धान्त का खण्डन है। अब हिन्दीप्रदीप का तीसरा कौन सिद्धान्त है? यह उन के लेख से कुछ नहीं सिद्ध होता सो उन्हीं महाशय से पूछना चाहिये। आगे हिन्दीप्रदीप ने लिखा है कि:--

हमारे प्रतिपक्षियों को न जानिये इस शुद्धसात्त्विक वैदिककर्म से क्यों मन में लाग आ गयी है कि वे नाहक दण्ड हाथ में लिये इस के पीछे दौड़ रहे हैं—केवल ब्राह्मणों की हानि मात्र जिसे वे अपने लिये बड़ा लाभ मानते हैं और कौनसा देश का उपकार श्राद्ध की प्रथा उठ जाने से है इत्यादि ॥

यह आप की भूल है जो समझते हो कि इस शुद्धसात्त्विक वैदिककर्म से आर्यसमाज चिढ़ गया है। आर्यसमाज का मुख्य यही कर्त्तव्य है कि शुद्धसात्त्विक वेदोक्तकर्मों का जगत् भर में ठीक २ प्रचार हो जावे और जो अंश इस में हानिकारक वेदविरुद्ध मिल गया है वह सब दूर हो जावे। यदि आज दिन श्राद्ध की शुद्ध रीति प्रचलित होती तो वास्तव में किसी को कुछ भी विरोध नहीं था। जो धर्मशास्त्र में लिखे अनुसार धर्मात्मा विद्वान् सुपात्रों का ही श्राद्ध में सत्कार किया जाता, और अधर्मी अयोग्य अविद्वान् मूर्ख कुपात्रों का उन के स्थान में सत्कार न किया जाता, कुशों के पितृब्राह्मण और विश्वेदेवा ब्राह्मण बनावटी मिथ्या न माने जाते। महाब्राह्मणों का दान वैतरणीदान शय्यादान आदि में अयोग्य कुपात्र मूर्ख लोग पुरोहित पण्डादि यजमानों के गले न घोंटते, मालाओं से हाथ बांध २ कर और घण्टों तक बैठा के तंग कर २ बलात्कार दान न कराते। दशगात्र और एकादशादि नवीन कल्पित वेद विरुद्ध मार्ग न चलाते। तो श्राद्धादि के विषय में आर्यसमाज को कुछ छेड़ छाड़ न करनी पड़ती इन सब वर्त्तमानदशाओं का परिणाम शोचने से ज्ञात होगा कि अब तक क्या हुआ और आगे क्या होना है। तो सब विचारशीलों को ठीक २ भान हो जायगा कि पूर्वोक्त सब काम उन २ कर्मों से दिन २ लोगों की श्रद्धाओं को बिगाड़ते जाते हैं। अब तक भी सहस्त्रों मनुष्य उन कर्मों को सर्वथा तिलाञ्जलि दे चुके और कुछ काल पीछे रहे सहे सभी लोग उन कर्मों से ठीक २ घृणा

कर जावेंगे । इस से अन्त्य परिणाम में वेदोक्त सब कर्मों का लोप होना सम्भव है । क्या यह थोड़ी भारतवर्ष की अवनति और हानि है ? । यदि इस का ठीक २ संशोधन किया जाय तो क्या देश का उपकार नहीं होगा ? । यदि अभी श्राद्धादि कर्म ठीक २ वेदोक्त रीति से किये जायं और गरुड़पुराणादि से जो २ कुछ उन में गपड़ चौथ मिल गयी है उस को निकाल दिया जाय और धर्मशास्त्र में लिखे अनुसार सुपात्र विद्वान् धर्मात्मा वेदज्ञ ब्राह्मणों का ही श्राद्ध में सत्कार किया जाय तो जिन लोगों ने अब तक श्राद्धादि कर्म की ओर घृणादृष्टि कर ली है वे भी श्रद्धापूर्वक उस २ कर्म को करने लगें ऐसा होने पर विद्या धर्म और अच्छे चाल चलन का सदा प्रचार बढ़ता जावे । जब अविद्वान् अधर्मी तथा कुपात्र ब्राह्मणों का श्राद्धादि में सत्कार न हो और विद्वान् धर्मात्मा तथा सुपात्रों का ही आदर सत्कार हो तो अविद्वान् लोग स्वयं और अपने सन्तानों को विद्वान् वा धर्मात्मा तथा शिक्षित बनने बनाने का उद्योग अवश्य करें । क्या इस प्रकार होने से देश का उपकार होना सम्भव नहीं है ? । जब पूर्वोक्त प्रकार से शुद्धवेदोक्त कर्मों का प्रचार करने के लिये आर्यसमाज का उद्योग है तो उस के मुख्य आशय को न समझ कर यह कह डालना कि "ब्राह्मणों की हानि मात्र जिस को वे अपने लिये बड़ा लाभ मानते हैं" यह कितनी बड़ी भूल है ! । जब वेदोक्तकर्मों का पूर्वोक्त प्रकार लोप हो जावेगा वा धीरे२ प्रचार कम होता जायगा तभी वास्तव में ब्राह्मणों की हानि हो जायगी । और सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो अब भी प्रतिदिन ब्राह्मणों की हानि होती ही जाती है और उस के कारण अन्य ही हैं किन्तु आर्यसमाज नहीं । अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार वेदोक्तधर्मसम्बन्धी विषयों में पुराणों वा तन्त्रादि नवीन कल्पित मतवाद की पुस्तकों से अनेक ऊटपटांग बातें मिल गयीं जिन को देख सुन कर अनेक लोगों को घृणा हुई और वेदविरोधी ईसाई मुसलमान वा ब्राह्मसमाजी आदि मतों में अनेक वेदानुयायी मिल गये और मिलते जाते हैं । और उन २ मतों में मिल कर फिर भी अन्य लोगों को बहका के प्रतिदिन वेदानुयायियों के समुदाय को कम करते हैं और अपने उपदेश सुना २ कर असंख्यों को अपने मत से घृणा कराते जाते हैं । इस से जितने ब्राह्मणों को मानने वाले ईसाई आदि मतों में मिलते जाते हैं और जितनों को श्राद्धादि कर्मों से घृणा होती जाती है वे सब ब्राह्मणों के शत्रु बनते जाते हैं । यदि वे लोग अपने २ मत पर आरूढ़ रह कर श्राद्धादि कर्मों में श्रद्धा बनाये रहते तो ब्राह्मणों के मित्र होते और उन से ब्राह्मणों को कुछ न कछ

लाभ होता ही रहता । जब आर्यसमाज ऐसा उद्योग कर रहा है कि शुद्ध वेदोक्त मत का प्रचार बढ़ता जावे और वेदमतानुयायियों को वेदविरुद्धमतों से बचा कर वेदमत में दृढ़ रखना चाहिये तो उस का यह उद्योग सराहने योग्य क्यों नहीं है? और वह ब्राह्मणों का हानिकारक कैसे हुआ? । यदि कोई विचारशील पुरुष निष्पक्ष हो कर न्याय करे तो वह अवश्य स्वीकार करेगा कि आर्यसमाज को ब्राह्मणों की हानि करना इष्ट नहीं किन्तु वास्तव में वह ब्राह्मणों की जीविका को दृढ़तर रखना चाहता है और जो कुछ वेदादि शास्त्र से विरुद्ध प्रणाली चल गयी है उस को रोक कर ब्राह्मणों को सुखपूर्वक चलने के लिये शुद्धमार्ग बनाता है । हां, यह तो अवश्य है कि जैसे बालक वा रोगी को कटु औषधि पिला के रोग निवृत्त कर सुख पहुंचाने की चेष्टा करने वाले को भी रोगी वा बालक अपनी अविद्या के कारण शत्रु समझता है तो क्या वे वैद्य वा माता पितादि शत्रु हो सकते हैं? अर्थात् कदापि नहीं ॥

जिस देश में कुरीतियों के संशोधन करने में ठीक २ उद्योग करने वाले कोई धर्मात्मा सज्जन लोग तत्पर नहीं होते तथा जहां आलस्य और अविद्या के बढ़ जाने से अयोग्य अनधिकारियों का सत्कार और योग्य अधिकारियों का तिरस्कार वा अप्रतिष्ठा की जाती है उस देश की सदैव दुर्गति होती जाती है । वहां के मनुष्य सुख के बदले नित्य २ नये २ दुःख भोग किया करते हैं । यह प्रत्यक्षदशा आज कल इस आर्यावर्त्त देश की हो रही है । यदि अनुचित वर्त्ताव आर्यसमाज के उद्योग से छूट जावे तो क्या श्राद्धादि की प्रथा सुधर जाने से देश का उपकार नहीं है? फिर यह कहना व्यर्थ क्यों नहीं कि "श्राद्ध की प्रथा उठ जाने से कौनसा देश का उपकार है" भाई लोगो चेतो ! आर्यसमाज श्राद्ध की प्रथा उठा देना कदापि नहीं चाहता किन्तु उस में जो कुछ वेदविरुद्ध अयुक्तांश मिल गये हैं उन का संशोधन करना चाहता है । सब धर्मशास्त्रकारों और नीतिज्ञों की एक सम्मति इस अंश में सर्वत्र मिलती है कि—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः ।
तद्राष्ट्रं निश्श्वसन्नत्र पङ्के गौरिव सीदति ॥

जिस देश में अयोग्यों का सत्कार और पूज्यों का अनादर होता है वहां का राज्य और प्रजा सब लोग कीचड़ में फंसे बैल के समान व्याकुलता से दुःखसागर में डूबते हैं । अब विचारो कि भारतवर्ष में अयोग्यों की पूजा और

अनधिकारियों को अधिकार अधिकांश में प्राप्त नहीं है ? और इसी से इस देश की सर्वोपरि दुर्दशा नहीं है ? ।

पिण्डदान विषय में मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में जो लिखा है उस का समाधान हम ने मनुभूमिका में अच्छे प्रकार कर दिया है । हम लोग जिस को प्रक्षिप्त ठहराते हैं उस को आप लोग सत्य क्यों नहीं ठहराते ? । प्रक्षिप्त होना कुछ आश्चर्य थोड़ा ही है । आप लोगों को भी तो अनेक महाभारतादिक के पुस्तकों में अनेकों प्रक्षिप्त मानने ही पड़ता है । हां यह बात उन दिनों में कह सकते थे कि जब आर्यावर्त्त देश में वेदविरुद्ध कोई शैव वैष्णवादि मत नहीं चला था और सब लोग वर्णाश्रम धर्म को ही स्वीकार करते थे तब धर्म का विशेष प्रचार होने और आर्यराजाओं का राज्य होने से कोई मनुष्य किसी पुस्तक में कुछ नहीं मिला सकता था वह बात अब नहीं रही । अब अनेक स्वार्थियों ने अपनी २ इष्टसिद्धि के लिये अनेक नये २ पुस्तक अपने २ मत की पुष्टि के लिये बना दिये । इस लिये क्षेपक श्लोकादि को निकाल कर शुद्धवैदिकसिद्धान्त का प्रचार करना परोपकारी देशहितैषी विद्वानों का परमकर्त्तव्य है ॥

हां, आर्यसमाजों में स्वार्थसिद्धि के लिये वा किसी प्रयोजन से ऐसे कोई पुरुष मिले हों जो स्वयं कुछ कर्त्तव्य न करें वा ब्राह्मण जातिमात्र से द्वेष करें वा केवल अनुचित खण्डनमात्र करके लोगों का चित्त दुखावें तो यह दोष आर्यसमाजमात्र पर वा आर्यसमाज के सिद्धान्त पर नहीं आता किन्तु यह उन २ लोगों का ही दोष है । और इस में पौराणिक लोगों का भी दोष है कि वे आर्यसमाजमात्र पर वा उस के सिद्धान्त पर उन दोषों का आरोपण करते हैं । आर्यसमाज में अनेक लोग अपनी दुकान चलाने के लिये भी प्रविष्ट हो गये वा होते जाते हैं । आर्यों के सामने नमस्ते कह देते और दो चार बातें उन कोभी कह देते हैं जिस से उन को पक्का आर्य समझें । बहुतेरे ऐसे हैं कि जिन्हों ने संस्कृत विद्या का संस्कार न होने से वेदादि शास्त्रों का वा आर्यसमाज का सिद्धान्त ही ठीक २ नहीं समझ पाया है इस कारण उन से जो अनुचित हो उस का अज्ञान कारण है । सो इस का संशोधन आर्यसमाज में होता जाता है और कुछ धीरे २ होगा । बहुत दिन का बिगाड़ एकसाथ कहां तक सुधर जायगा । तथा आर्यसमाज को और भी ध्यान देना उचित है कि ऐसे लोगों का शीघ्र संशोधन करे "आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्" ऊपर से आर्यरूपधारी अनार्यों को उन २ के कर्मों से पहचाने । अब इस विषय पर लिखना समाप्त करता हूं फिर कभी यथावसर देखा जायगा ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ } तारीख १५ मई, जून। ज्येष्ठ, आषाढ़ संवत् १९४९ { अङ्क ९।१०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

सत्यार्थविवेक का उत्तर गत अं० पृ० १०८ के आगे से ॥

निश्चय किये किसी सज्जन महात्मा को दोष लगाना । यदि कुछ लिखा भी हो तो उस का मुख्य आशय न समझा होगा मुक्त में राग द्वेष कदापि नहीं रहते अर्थात् मुक्त और राग द्वेष में दिन रात का सा भेद है जहां राग द्वेष बने हैं वहां मुक्त का नाम भी नहीं और जहां मुक्त है वहां राग द्वेष का प्रवेश कदापि नहीं हो सकता । राग और द्वेष दोनों बन्धन के हेतु हैं । इसी लिये न्यायसूत्र के वात्स्यायनभाष्य में लिखा भी है कि—

बन्धनसमाज्ञातो हि रागः। न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यते ॥ अ० १ । १ । २२ ॥

रागबन्धन का सहयोगी है इस कारण रागरूप बन्धन में रहते हुए कोई मुक्त नहीं कहा वा माना जा सकता । देहादि से व्यतिरिक्त जीवात्मा है यह तो सभी का मत वा सिद्धान्त है शरीर को आत्मा कोई नहीं मानता । जीवात्मा के जो इच्छादि गुण माने गये हैं उन में यह विचार अवश्य है कि वे

स्वाभाविक हैं वा नैमित्तिक अथवा कुछ स्वाभाविक और कुछ नैमित्तिक हैं ?। यदि साधुसिंह इस बात का विवेचन कर सकते तो उन की बहुत शङ्का स्वयमेव मिट जातीं परन्तु इन लोगों की बुद्धि हठीली हो गयी है इस कारण उसी जीव ब्रह्म की एकता के सिद्धान्तरूप वेदविरुद्ध प्रवाह में बहे चले जाते हैं और अच्छे शुद्ध निष्कण्टक कल्याण के मार्ग का ग्रहण नहीं करते । इच्छादि गुण जीवात्मा के साथ स्वाभाविक हैं नैमित्तिक नहीं । नैमित्तिक मानने में ज्ञान रहित जीवात्मा कभी जड़ भी मानना पड़ेगा । परन्तु आत्मा सदा चेतन ही रहता है जड़ कभी नहीं होता । प्रतिकूल से सदा द्वेष अनुकूल की इच्छा, परिच्छिन्न होने से सदा प्रयत्न वा पुरुषार्थ चलना फिरना आदि और सुख दुःखादि का ज्ञान ये गुण जीवात्मा में नित्य हैं किन्तु इच्छादिगुणों में से नैमित्तिक कोई नहीं है पर स्वाभाविक गुण भी सब काल में एकरस नहीं बने रहते किन्तु उन का आविर्भाव तिरोभाव देश काल वस्तु वा अवस्था के भेद से होता रहता है जैसे स्थूल शरीर की विद्यमानता में भी सदा सुख और दुःख बराबर नहीं बने रहते किन्तु दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख आता जाता रहता है । जैसे दिन और रात दोनों परस्पर विरोधी हैं इसी कारण वे एक देश और काल में एक साथ दोनों नहीं ठहर सकते वैसे ही एक काल में एक मनुष्य के भीतर सुख और दुःख दोनों नहीं ठहरते जब सुख प्राप्त होता है तब दुःख भाग जाता और जब दुःख मिल जाता है तब सुख नहीं ठहर सकता । संसार में स्त्री, पुत्र, धन, विद्या, बुद्धि, आरोग्य आदि कई प्रकार के विशेष सुखसाधन जिस के पास सञ्चित हो जाते हैं उस को कभी कहीं बीच २ में लेश मात्र दुःख आता भी रहे तो भी वह सुखी ही समझा जाता है । इसी प्रकार मुक्त में बहुत काल के लिये दुःख का अभावसा हो जाता है और दुःख का बड़ा साधन अविद्या वा अज्ञान हैं तथा सुख का भी बड़ा हेतु विद्या और ज्ञान है सो अज्ञान का अभाव और ज्ञान की विशेष उन्नति हो जाने से मुक्तिदशा में दुःख नहीं रहता केवल सुख मात्र ही रह जाता है परन्तु दुःख के भी स्वाभाविक होने से जैसे महादुःख भोग की दशा में सुख का सर्वथा अभाव वा निर्मूल नाश नहीं होता वैसे मुक्त में सुखमात्र की ही प्राप्ति में भी दुःख निर्मूल नहीं होता इसी कारण नियत समय तक मुक्ति

में सुखभोग किये पश्चात् संसार में जन्म लेने पर फिर दुःख प्राप्त होता है। इसी प्रकार गाड़ी के पहिये के समान सुख दुःख लौट पौट होते रहते हैं। अनेक अभीष्ट धनादि पदार्थों की पुष्कल प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य कहता है कि अब इच्छा पूर्ण हो गयी, भोजनादि से तृप्त हो जाने पर भी इच्छा नहीं रहती, सुषुप्ति दशा में भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती ऐसे ही अन्य भी अनेक देश काल वा अवस्थाओं में इच्छा नहीं रहती परन्तु इच्छा का निर्मूल नाश भी कभी नहीं होता। इस से सिद्ध हुआ कि यद्यपि इच्छा द्वेषादि जीव के साथ स्वाभाविक हैं पर मुक्ति होने से पहिले ज्ञान के ठीक २ हो जाने से वे मुक्तिदशा में मुक्त को कुछ क्लेश नहीं पहुंचा सकते। जब जीवात्मा फिर मुक्ति से संसार में आता है तभी राग द्वेषादि फिर कुछ २ क्रम से जागते जाते हैं॥

माधुसिंह—अथ जीव पर भेद को औपाधिकत्व और अभेद को वास्तवत्व प्रतिज्ञापूर्वक मन्त्र प्रमाणादि करके जीव को परमेश्वरांशता निरूपण और ब्रह्मा विष्णु रुद्र को भी परमेश्वरांशता निरूपण करते हैं। जहां कहीं ऋषि मुनि वचन में भेद प्रतीत हो सो औपाधिक भेद का बोधक है। और औपाधिक भेद वास्तव अभेद का बाधक नहीं इत्यादि॥

समीक्षक—सज्जन विचारशील बुद्धिमान् लोगों को ध्यान देने योग्य विषय है कि अभेद को वास्तविक ठहराना कितनी अज्ञानता है?। अभेदशब्द के अन्तर्गत भेद शब्द है तो अभेद शब्द कृत्रिम बनावटी हुआ और भेद वास्तविक रहा क्योंकि भेद शब्द के खण्ड नहीं हो सकते। भे, और द दोनों अक्षर निरर्थक हैं। जो अखण्ड है वही वास्तविक होता और जिस के खण्ड हो सकते हैं वह मानो उतने ही अवयवों से बना है जितने उस के खण्ड किये जा सकते हैं। अभेद शब्द में अ, निषेध वाचक और भेद स्वार्थ वाचक है इस से दोनों सार्थक हैं। भेद शब्द पहिले है पीछे उस के साथ निषेध वाचक अकार लगाया जाता है इस कारण भेद का सनातन होना और अभेद का अनित्य होना दोनों सिद्ध हैं। गणितज्ञ लोग इसी सिद्धान्त के अनुसार अधिक संख्या को कृत्रिम और एक संख्या को अकृत्रिम वा व्यापक मानते हैं क्योंकि अधिक संख्या के अन्तर्गत कम संख्या सदा व्याप्त रहती है और व्याप्त होने वाला ही नित्य वा अनादि होता है। और इसी सिद्धान्त के अनुसार यह भी नियम है कि "नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः" शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य

है। जो वाचक शब्द नित्य है उस का वाच्य अर्थ भी नित्य वा सनातन होता है। जैसे ब्रह्मशब्द नित्य है तो उस का वाच्यार्थ ईश्वर भी नित्य है। वैसे यहां जब भेद शब्द अखण्ड वा नित्य ठहरा तो उस का अर्थ भी नित्य हुआ। इस से भेद को औपाधिक और अभेद को वास्तविक माननारूप साधुसिंह का सिद्धान्त स्पष्ट ही कट जाता है ॥

ये लोग भेद को औपाधिक ठहराते और अभेद को वास्तविक मानते हैं। सो विचारना चाहिये कि उपाधि क्या वस्तु है? कोषादि के अनुसार उपाधि शब्द के यद्यपि बहुत अर्थ हैं तथापि यहां केवल परिच्छिन्न घटपटादि पदार्थों का नाम उपाधि है और आकाशादि व्यापक वस्तुओं को उपाधिमान् कहते हैं। सो सांख्यदर्शन के सूत्र में लिखा है कि " उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् " उपाधि नाम घटपटादि पदार्थ भिन्न २ हैं किन्तु उन में व्यापक उपाधिमान् आकाशादि भिन्न २ नहीं अर्थात् एक है। इस से सिद्ध हुआ कि व्याप्य वस्तु के परिच्छिन्न होने से व्यापक में भेद नहीं आ सकता व्यापक सदा एकरस अखण्डही बना रहता है। यही सर्वतन्त्र सिद्धान्त है इस में किसी को नकार न होगा इसी के अनुसार सब परिच्छिन्न वस्तुओं में व्यापक होने पर भी परमेश्वर परिच्छिन्न नहीं होता सदा अखण्ड एकरस बना रहता है। यदि ये आधुनिक वेदान्ती लोग भी इसी उक्त सिद्धान्त को दृढ़ मान लेते तो कुछ विवाद न था। ये लोग उपाधि के मानने में भी उपाधि करते हैं (लोक में लड़ाई बखेरे का नाम उपाधि है) इन का सिद्धान्त है कि एक ब्रह्म ही सत्य वा सनातन है और सब शरीर वा जीवात्मादि जड़ चेतन पदार्थ उपाधिनाम अनित्य वा मिथ्या हैं सो यह ठीक नहीं क्योंकि व्यापक होने से एक ब्रह्म नित्य माना जाय तो दिशा काल और आकाश भी विभु वा व्यापक होने से नित्य वा अपरिच्छिन्न हैं तथा घटपटादि पदार्थ भी स्वरूप से अनित्य रहो पर जातिरूप के प्रवाह से वा कारणरूप से वे भी अनादि वा अनित्य हैं। तो यह कहना भी नहीं बनता कि ब्रह्म से भिन्न सब अनित्य वा उपाधि है। जो आकाशादि पदार्थ निरवयव हैं उन को अनित्य वा मिथ्या कोई किसी प्रमाण से नहीं ठहरा सकता और उपाधि भी यदि कोई वस्तु ब्रह्म से भिन्न है तो इन लोगों के मतानुसार अद्वैत पक्ष खण्डित हुआ। यदि उपाधि कुछ

नहीं है तो परिच्छिन्न विभु वा व्यापक तथा चेतन वा नित्य अनित्य आदि भेद कहना नहीं बनेगा। और परिच्छिन्न एकदेशी घटपटादि की अपेक्षा से ही ब्रह्म का विभु वा व्यापक होना सिद्ध होता है। ऐसे ही जड़ की अपेक्षा चेतन और सादि वा अनित्य की अपेक्षा से अनादि नित्य वा सनातन ब्रह्म होना सिद्ध होता है सो जो परिच्छिन्न जड़ वा अनित्य घटपटादि पदार्थ वास्तव में कुछ नहीं तो विभुत्व और व्यापकत्वादि धर्म ब्रह्म में भी नहीं घटेंगे। अर्थात् ब्रह्म को विभु वा व्यापकादि विशेषण युक्त नहीं कह सकेंगे। प्रत्येक कथन के साथ जो अर्थापत्ति प्रमाण लगा रहता है उस से भी द्वैतपक्ष ही सिद्ध होता है। जब कोई ब्रह्म को व्यापक कहे तो कोई वस्तु व्याप्य भी अवश्य है जिस में वह व्यापक हो क्योंकि व्याप्ति का कोई आधार न हो तो व्यापक भी कोई नहीं ठहरता। विभु कहें तो कोई परिच्छिन्न भी है। अनादि कहें तो कोई सादि भी है चेतन कहें तो कुछ जड़ भी है। उसी की अपेक्षा वह व्यापक आदि विशेषण युक्त सिद्ध होता है इस से इन का अद्वैतसिद्धान्त कदापि माननीय नहीं ठहर सकता।

यह दोष हमारे मत में इस लिये नहीं आता कि हम अद्वैतशब्द को परमेश्वर का विशेषण मानते हैं कि ब्रह्म अद्वितीय वा अद्वैत है अर्थात् एक से अधिक अनेक ब्रह्म नहीं हैं किन्तु जीव वा जगत् भले ही रहो उन से कुछ हानि नहीं। इस प्रकार इन का उपाधि करना ठीक नहीं। द्वितीय वार्त्ता यह है कि ब्रह्मा विष्णु शिवादि तथा जीवों को परमेश्वर का अंश मानते हैं। सो यदि यह सिद्धान्त मानो तो समुदाय का नाम ब्रह्म होगा। जिन २ अंशों वा टुकड़ों को ब्रह्म का अवयव मानो गे उन के जोड़ने से एक ब्रह्म बन सकेगा। जिन पदार्थों में अंशांशीभाव वा अवयवावयवीसम्बन्ध रहता है। वे सब परिच्छिन्न और अनित्य होते हैं। इस से ब्रह्म को ये लोग विभु व्यापक और अनादि वा सनातन कदापि नहीं ठहरा सकें गे। परिच्छिन्न घटपटादि पदार्थ सब अनेक अंशों के मेल से बनते हैं इसी लिये उन को अनित्य मानते हैं वैसे ही ब्रह्म में भी अंशांशीभाव रहा तो वह भी अनित्य हो गया। आकाश के अंश वा टुकड़े कोई नहीं दिखा सकता इसी लिये उस को निरवयव वा विभु माना है। बुद्धिमान् लोगों को ध्यान देना चाहिये कि ब्रह्म में अंशों की

कल्पना करना कैसी लड़कपन वा कम समझी की वार्ता है ? । अंश नाम हिस्से का है । जीव सब ब्रह्म के अंश हैं तो उसी में से कभी निकलना मानने पड़ेगा । इत्यादि अनेक दोष इन साधुसिंह के कल्पित पक्ष में आते हैं जिन का समाधान जन्मान्तर में वा ब्रह्म बन जाने की दशा में भी उन से हो सकना दुर्लभ है । ऐसे ही लोग इस देश की उन्नति न होने में सर्वोपरि बाधक हैं ॥

आगे इसी प्रसंग में साधुसिंह ने अथर्ववेद का एक मन्त्र लिखा है कि—

अथर्ववेद का० १० । ८ । २८

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

सर्वात्मरूप से स्तुति परमात्मा की करते हैं कि हे भगवन् ! स्त्री पुरुष आदिरूप वा वृद्धावस्था में लकड़ी टेक कर चलने वाले आप ही हो इत्यादि ॥

समीक्षक—विचार का स्थान है कि इन लोगों ने स्वार्थसिद्धि के लिये इस मन्त्र का कैसा अनर्थ किया है कि जो पद्मपुराण के लिखे अनुसार ठीक घटता है—

अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम् ।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते ॥

वेदवाक्यों का लोकविरुद्ध अर्थ दिखाने पूर्वक वेदादि शास्त्रोक्तकर्मों से छुड़ा कर निकम्मा बनाने के लिये आधुनिक वेदान्तियों ने उपाय किया है क्या यह थोड़ी बुराई है ? । वह परमात्मा देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद से रहित है । किसी देश में हो किसी में न हो वह देश परिच्छिन्न किसी काल में हो किसी में न रहे वह काल परिच्छिन्न, और किसी वस्तु में हो किसी में न हो वह वस्तु परिच्छिन्न कहाता है ये सब परिच्छिन्नता शरीरधारी स्त्री पुरुषादि में घटती हैं किन्तु परमेश्वर सब देश काल और वस्तुओं में एकरस व्यापक बना रहता है इसी से वह नित्य है यदि स्त्रीपुरुषादिरूप ईश्वर हो तो नित्य वा एकरस नहीं माना जा सकता । इस लिये उक्त मन्त्र का

वैसा अर्थ करना वेदादिशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है। उस का ठीक २ अर्थ यह है कि—"हे जीवात्मा तुम स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, आदि रूप धारण करते हो और तुम वृद्धावस्था को प्राप्त हुए लकड़ी टेक कर चलते हो अर्थात् जीवात्मा शरीरधारी होने से स्त्री आदि रूप बनता है। यद्यपि स्त्री आदिक के कोई चिह्न जीवात्मा में भी नहीं किन्तु ये सब अवस्था वा गुण शरीरों के ही साथ रहते हैं तथापि जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता होने से स्त्रीत्व पुंस्त्वादि का अभिमानी बनता ही है। इस लिये उस के विषय में यह वर्णन ठीक घट जाता और कोई दोष भी नहीं आता" इस लिये यही अर्थ सज्जनों को ग्राह्य है। साधुसिंह का अर्थ ठीक नहीं॥

आगे इसी अंश पर साधुसिंह ने उपनिषदादि के अनेक वचन लिखे हैं उन के अर्थ यथार्थ समझने में भूल है। मैंने ईशादि उपनिषदों के भाष्य में यथावसर उन २ वाक्यों वा मन्त्रों के अर्थ ठीक २ कर दिये हैं। इस लिये उन को यहां लिखना पुनरुक्त पिष्टपेषणवत् होगा। तथा मूल वेद के तुल्य उपनिषद् पुस्तक स्वतःप्रमाण वा प्रतिष्ठित भी नहीं। इस लिये मूल वेदों के जो प्रमाण उन्हों ने दिये हैं उन पर हम को कुछ उत्तर देना आवश्यक है सो भी संक्षेप से ही लिखा करेंगे—

साधुसिंह—तथाहि आथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवा इत्यादि—

अर्थ—अथर्वण वेदपाठी ब्रह्मसूक्त में यह कहते हैं। दाश नाम कैवर्त्त धीवर (दास) सेवक शूद्रजाति (कितव) द्यूत कर्मादि करने वाले ये सर्व ब्रह्म हैं। भाव यह है जब हीनजाति जीव ब्रह्म हैं तब यह कहा यावत् स्थूल सूक्ष्म सङ्घात प्रविष्ट जीव हैं वे सम्पूर्ण ब्रह्म का ही उपाधि विशिष्टरूप हैं॥

समीक्षक—विचारशील महाशयों को ध्यान देना चाहिये—प्रथम तो पूर्वोक्त वचन का यह पता नहीं दिया कि यह किस पुस्तक का वाक्य है। अनुमान से ज्ञात होता है कि यह मूल अथर्व का तो नहीं है किन्तु किसी ब्राह्मण वा टीकाकार का वाक्य प्रतीत होता है। साधुसिंह को संस्कृत में जितना बोध है सो "अथर्वणवेद" शब्द के लिखने से प्रतीत होता है। साधारण विद्यार्थियों को भी ज्ञात होगा कि अथर्वन् शब्द नकारान्त है वेदशब्द के साथ समा-

नाधिकरण होने से अथर्ववेद लिखना वा कहना शुद्ध है और अथर्वणवेद लिखना सर्वथा अशुद्ध है । अब अर्थ की ओर ध्यान दीजिये कि कहार शूद्र और जुआ खेलने वाले भी ब्रह्म हैं । साधुसिंह से पूछना चाहिये कि जब दासपदवाच्य शूद्रजाति के अन्तर्गत दाशनामक कहार आ जाते फिर धीवर और जुआ खेलने वाले अलग क्यों कहे गये ? । जुआ खेलने वाले भी यहां नीच ही अपेक्षित हैं। द्वितीय दोष यह है कि ये आधुनिक वेदान्ती लोग साधन शमदमादि के निरन्तर सेवन से जीवन्मुक्तदशा को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी ही अपने को ब्रह्म कह सकता वा मान सकता है और उसी के लिये " अहं ब्रह्मास्मि " इत्यादि वाक्य हैं ऐसा कहते वा मानते हैं । सो यदि शूद्रादि भी ब्रह्म हैं तो उपरोक्त सिद्धान्त की क्या दशा होगी और तुम तथा शूद्रादि के ब्रह्म होने में क्या भेद होगा ? । यदि कुछ भेद नहीं तो तप करके शुद्ध होना व्यर्थ है । यदि भेद है तो ब्रह्म में भेद हुआ फिर उस में अभेद कहना वा लिखना व्यर्थ होगा । यदि कहें कि शूद्र भी वेदान्त पढ़ के शमदमादि साधन युक्त होकर ब्रह्म बन सकते हैं तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि तुम लोगों के मतानुसार वेदान्त के शारीरकभाष्य में शङ्कर स्वामी ने शूद्रों को वेदान्त पढ़ने का निषेध लिखा है । जब तुम्हारे मतानुसार शूद्र भी ब्रह्म हैं तो ब्रह्म को ही वेदान्त न पढ़ाया जाय यह कैसी बात हुई कि जानो जो सब का अधिकारी सर्वाध्यक्ष है जिस के अधिकार में सभी है उस को अधिकार न देना । इस में मनगढ़तमात्र है और कुछ भी तत्त्व नहीं । तथा तुम लोगों के मतानुसार यदि पशु पक्षी जड़ चेतन सब ही ब्रह्म है तो शूद्र को ब्रह्म कहना व्यर्थ हुआ । शूद्र के ब्रह्म कहने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि का ब्रह्म न होना स्पष्ट ही सिद्ध है यह भी तुम को अनिष्ट होगा । इत्यादि अनेक दोष साधुसिंह के लिखे प्रमाण में और उस के अर्थ में आते हैं जिन का समाधान करना असम्भव है । यदि उक्त प्रमाण का यह अर्थ किया जाय कि ब्रह्मनाम ब्राह्मण के दास नाम सेवक वा उन के पास रहने वाले कहार आदि अच्छे संस्कारी जिज्ञासु हों तो विशेष सङ्गति करने से वे भी ब्राह्मण हो जाते वा हो सकते हैं क्योंकि सङ्गति का फल सर्वत्र यही दीखता है कि अच्छे सज्जन विद्वान् धर्मात्मा के पास रहने वाले निकृष्ट पुरुष भी श्रेष्ठ बन जाते हैं । यह अर्थ मूल के अक्षरों से भी कुछ घटता है और साधुसिंह का अर्थ मूल से कुछ भी टक्कर नहीं खाता ॥

गत अङ्क ७।८ के पृ० १२४ से आगे ऋग्वेद के दशम मण्डल का अर्थ

किन्तु इस में प्रमाद वा भूल करना कदापि उचित नहीं है। यदि भूल वा प्रमादादि से अग्निहोत्रादि नित्यकर्म का किसी प्रकार त्याग हो जावे तब उपदेशक विद्वानों को चाहिये कि धर्मदण्ड से उन को शिक्षा वा ताड़ना करें और उन लोगों को प्रायश्चित्तादिरूप वह दण्ड प्रसन्नता से स्वीकार करके भोगना चाहिये क्योंकि ऐसा दण्ड, धर्म का रक्षक वा बढ़ाने वाला होता है और आगे वैसा प्रमाद स्वप्न में भी न करें ऐसा मन में दृढ़ निश्चय करना अत्यन्त उचित है ॥४॥

सायणः—हे देवा अत्यन्त अज्ञानी हम लोगों ने आप लोगों के जानते हुए आप के सम्बन्धी जिन किन्हीं व्रत वा नियत नित्य नैमित्तिक कर्मों को लुप्त किया है। इस सब वृत्तान्त को जानता हुआ अग्नि जिन यज्ञ करने योग्य ऋतुरूप कालों से कर्म के साधन होने के लिये समर्थ करता है उन से सब कर्मों को पूरण अर्थात् सफल करे ॥

जिन कर्मों को अपनी भूल वा प्रमाद से हम बिगाड़ें वा छोड़ें उन को अग्नि पूरा करे यह ठीक नहीं क्योंकि हम बार २ बिगाड़ा करेंगे वा भूला करेंगे तो अग्नि कहां तक सुधारेगा और हमारी भूल का दण्ड हमी पर होना चाहिये किन्तु अन्य के किये को अन्य भोगे यह ठीक नहीं इत्यादि दोष सायणाचार्य के किये अर्थ में आते हैं ॥

यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः। अग्निष्टद्धोता क्रतुविद्विजानन्यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति ॥५॥

यत्। पाकऽत्रा। मनसा। दीनऽदक्षाः। न। यज्ञस्य। मन्वते। मर्त्यासः। अग्निः। तत्। होता। क्रतुऽवित्। विऽजानन्। यजिष्ठः। देवान्। ऋतुऽशः। यजाति ॥

अ०—(दीनदक्षाः) विगतचातुर्याः शास्त्रशिक्षाजन्यनैमित्तिकज्ञानविरहाः (पाकत्रा) पाकेन पक्तुं योग्येन (मनसा) संकल्पवि-

कल्पात्मकेन विज्ञानेन युक्ताः (मर्त्यासः) मनुष्याः (यज्ञस्य) वेदोक्तस्य विधियज्ञादेः सम्बन्धि (यत्) यत्कर्म (न,मन्वते) न जानन्ति । मनुअवबोधनइति धातोरात्मनेपदे रूपम् । (तत्)कर्म (विजानन्) अवान्तरभेदैः सहितं जानन् (क्रतुवित्) अग्निष्टोमवाजपेयादियज्ञविशेषाणां विधानं प्रयोजनं फलं च यःशास्त्ररीत्या वेत्ति सः (होता) यज्ञानां सम्पादकः कारयिता कर्त्ता वा (अग्नि)अग्निवत्तेजस्वी (यजिष्ठः) स्तुतिप्रार्थनोपासनादिना परमेश्वरस्यातिशयेन यष्टा पूजकः प्रसादको वेदादिशास्त्रजन्यनैमित्तिकशिक्षाज्ञानसम्पन्नः पुरुषः (ऋतुशः) ऋतावृतौ (देवान्)पूज्यान् गुरुजनान् विदुषः (यजाति) यजेत् पूजयेत् । लेट्प्रयोगः ॥

भा०—यानि वेदादिशास्त्रोक्तानि विचक्षणैः सम्पाद्यानि कर्माणि शास्त्रज्ञानरहिता अकृतगुरुकुलवासा अज्ञानिनो लौकिकाः साधारणा बहवोऽपि मनुष्याः कर्त्तुं न जानन्ति कर्त्तुं वा नालं भवन्ति तानि साङ्गोपाङ्गानि वेदादिशास्त्रज्ञो होमनिष्पादको गुरुजनानां विदुषां पूजकस्तेजस्वी वेदवित् पुरुष एकोऽपि ज्ञातुमर्हति कर्त्तुं च शक्नोति । स यथावसरं पूज्यान् गुणवतस्तेषामाज्ञापालनेनान्नयनादिना च सम्यक् सत्कुर्य्यात् कर्त्तुं वा प्रभवति ॥५॥

भाषार्थः—(दीनदक्षाः) जिन में चतुराई नहीं है ऐसे शास्त्रसम्बन्धिनी शिक्षा से होने वाले नैमित्तिकज्ञान से रहित (पाकत्रा) परिपक्व करने योग्य (मनसा) सङ्कल्पविकल्परूप मन से युक्त (मर्त्यासः) मनुष्य (यज्ञस्य) वेदोक्तविधि यज्ञादि के सम्बन्धी (यत्) जिस कर्म को (न,मन्वते) नहीं जानते (तत्) उस कर्म को (विजानन्) अवान्तर भेदों सहित जानता हुआ (क्रतुवित्) अग्निष्टोम वाजपेयादि बड़े २ विशेष यज्ञों के विधान प्रयोजन और फल को शास्त्र की रीति के अनुसार जानने वाला (होता) यज्ञों को सिद्ध कराने वा करने

हुआ (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी (यजिष्ठः) स्तुति प्रार्थना और उपासनादि द्वारा अत्यन्त भक्ति श्रद्धा से परमेश्वर का पूजक वा प्रसन्न करने वाला, वेदादिशास्त्रों से होने वाली नैमित्तिक शिक्षा के ज्ञान से युक्त विद्वान् पुरुष (ऋतुशः) ऋतु २ में (देवान्) सत्कार के योग्य विद्वान् गुरुजनों का वेदोक्त यज्ञादि के सेवन द्वारा (यजाति) सत्कार करे ॥

भा०—नहीं किया गुरुकुल में निवास जिन्हों ने ऐसे शास्त्रसम्बन्धी ज्ञान से रहित अज्ञानी साधारण लौकिक अनेक मनुष्य भी जिन वेदादिशास्त्रों में कहे विद्वान् सज्जनों से सिद्ध होने योग्य कर्मों को करना नहीं जानते वा करने को समर्थ नहीं होते उन साङ्गोपाङ्ग कर्मों को वेदादिशास्त्रों का जानने वाला होमकर्त्ता विद्वान्, गुरुजनों का पूजक तेजस्वी वेदवेत्ता एक पुरुष भी जान सकता और कर करा सकता है। वह पुरुष विद्वान् गुणवान् पूज्य पुरुषों का उन की आज्ञा पालन और अन्न धनादि द्वारा सम्यक् सत्कार करे वा कर सकता है ॥५॥

सायणः—दीन तुच्छ जिन का बल वा दीन जिन का उत्साह है ऐसे ऋत्विज् लोग पकाने योग्य विशेष ज्ञान रहित वा छोटे मन से युक्त हुए यज्ञसम्बन्धी जिस कर्म को नहीं जानते उस को जानता हुआ देवताओं का बुलाने वा होम का सिद्ध करने वाला यज्ञकर्म का ज्ञाता देवताओं का अत्यन्त पूजक वह अग्नि ऋतु २ अर्थात् अपने २ यज्ञ करने योग्य काल में [जिस २ ऋतु मास पक्ष वा तिथि आदि में जिस २ देवता के उद्देश से यज्ञ करना चाहिये उस २ समय में] देवताओं की होम सामग्री के पहुंचाने द्वारा पूजा करे ॥

इस अर्थ में भी पूर्व के तुल्य भौतिक जड़ अग्नि को चेतन मानकर अर्थ करना अयुक्त है ॥

विश्वेषामध्वराणामनीकं चित्रं केतुं जनिता त्वा जजान । स आ यजस्व नृवतीरनु क्षाः स्पार्हा इषः क्षुमतीर्विश्वजन्याः ॥ ६ ॥

विश्वेषाम् । अध्वराणाम् । अनीकम् । चित्रम् । केतुम् । जनिता । त्वा । जजान । सः । आ । यजस्व । नृऽवतीः । अनु । क्षाः । स्पार्हाः । इषः । क्षुऽमतीः । विश्वऽजन्याः ॥ ६ ॥

अ० - हे विद्वज्जन् ! (त्वा) त्वाम् (जनिता) सर्वस्य जनयितोत्पादकः परमेश्वरः (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (अध्वराणाम्) यज्ञानाम् (चित्रम्) चित्रविचित्रधीमन्तम् (अनीकम्) मर्यादास्थापकं प्रधानं प्रामाणिकं वा (केतुम्) पताकास्थानीयम् (जजान) जनयामास (सः) स त्वम् (नृवतीः) मनुष्यसम्बन्धिनीः (क्षाः) क्षीयमाणाः प्रजाः (अनु,आ,यजस्व) आनुकूल्येन समन्ताद्यज्ञादिनोपकृताः कृतकृत्याः कुरु तथा (क्षुमतीः) बलवन्ति (विश्वजन्याः) सर्वजनेभ्यो हितकराणि (स्पार्हाः) स्पृहणीयानि (इषः) यज्ञसम्भूतवर्षात उत्पत्तुमर्हाण्यभीष्टप्राणरक्षकाण्यन्नानि-अन्वायजस्व-आनुकूल्येन समन्तात्प्रापयेति पूर्वेणान्वयः ॥

भा०-परमेश्वरः सर्वान् प्राणिनो निर्माय शुभफलदानहेतुना मनस्युत्साहदानहेतुना वा वेदादिशास्त्रप्रतिपाद्यानि सर्वोपकारकाणि यज्ञादिकर्माणि कारयति नतु निकृष्टानि तस्माद्धर्मं कर्त्तुमिच्छता स्वस्य कल्याणमभीप्सुना पुरुषेणान्नधनादिपदार्थदानेन यज्ञादिशुभकर्मणामनुष्ठानेन च सर्वेषां प्राणिनां जगत्युपकारः सदैव कार्यः । अयमेव परो धर्मः ॥ ६ ॥

भाषार्थः-हे विद्वन् पुरुष ! (त्वा) तुम को (जनिता) सब के उत्पादक परमेश्वर ने (विश्वेषाम्) सब (अध्वराणाम्) यज्ञों का (चित्रम्) चित्रविचित्र आश्चर्यरूप बुद्धियुक्त मर्यादा के स्थापक प्रधान वा प्रामाणिक (केतुम्) पताका स्थानी (जजान) बनाया है (सः) सो तुम (नृवतीः) मनुष्यसम्बन्धिनी (क्षाः) जीवन मरणयुक्त प्रजाओं को (अनु, आ, यजस्व) अनुकूलता से अच्छे प्रकार यज्ञादिद्वारा उपकृत और कृतकृत्य करो तथा (क्षुमतीः) बलयुक्त (विश्वजन्याः) सब मनुष्यों के लिये हितकारी (स्पार्हाः) चाहना करने योग्य यज्ञ से होने वाली वर्षा से उत्पन्न होने वाले (इषः) अभीष्ट प्राणों के रक्षक अन्नों को अनुकूलता से अच्छे प्रकार पूर्वोक्त सब प्रजा को प्राप्त कराओ ॥

भा०—परमेश्वर ही सब प्राणियों को रचकर शुभ फल देने वा मन में उत्साह देनेरूप कारण से वेदादिशास्त्रों में कहे सब के उपकारक यज्ञादि कर्मों को कराता है किन्तु निकृष्टों को नहीं । इस लिये धर्म करने की इच्छा वाले वा अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि अन्न धनादि पदार्थों के दान से वा यज्ञादि शुभ कर्मों के सेवन से जगत् में सब प्राणियों का सदा उपकार करे यही सर्वोपरि धर्म है ॥ ६ ॥

सायणः—हे अग्नि सब यज्ञों के प्रधान, अनेकरूपों वाले यज्ञ के चिह्नरूप तुम को प्रजापति वा यजमान ने उत्पन्न किया है सो तुम सेवक मनुष्यादि सहित पृथिवी के राज्य को यज्ञ से प्रसन्न हो कर दो । अथवा मनुष्यों ने शुद्ध किये वेदीरूप पृथिवी में धरे गये तुम इच्छा योग्य स्तुति के मन्त्रों से युक्त सब मनुष्यों के हितकारी हविष्यरूप अन्नों को देवताओं के लिये दो ॥

यहां सायण का अर्थ क्लिष्टकल्पना का है और अग्नि के जड़ होने से जो दोष है उस को पूर्ववत् जानो ॥

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान । पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि ॥७॥

यम् । त्वा । द्यावापृथिवी इति । यम् । त्वा । आपः । त्वष्टा । यम् । त्वा । सुऽजनिमा । जजान । पन्थाम् । अनु । प्रऽविद्वान् । पितृऽयानम् । द्युऽमत् । अग्ने । सम्ऽइधानः । वि । भाहि ॥ ७ ॥

अ०—हे (अग्ने) सर्वज्ञ सर्वाधार प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (यम्,त्वा,द्यावापृथिवी) आकाशपृथिव्यौ (यम्,त्वा,आपः) जलानि तथा (यम्,त्वा) (सुजनिमा) शोभना जनिमा वृक्षौषध्यादीनां वृष्टिद्वारोत्पत्तिर्यस्मात् सः (त्वष्टा) जलादीनां छेदकः सूक्ष्मकर्त्ता वा सूर्यः (जजान) प्रकटयति सः (पितृयाणम्) मानसव्यापार-प्रधानानां ज्ञानिनां निष्कण्टकं शुद्धं कल्याणप्रदं गमनाधिकरणम्

(पन्थाम्) मार्गम् (अनु,प्रविद्वान्) आनुकूल्येन प्रकर्षतया जानानः (समिधानः) अविद्यान्धकारकर्मदोषैर्निर्लिप्तत्वाद्दीप्तिमान् (द्युमत्) प्रकाशयुक्तं यथा स्यात्तथा सर्वं जगद्धर्मादिप्रचारेण (विभाहि) प्रकाशय ॥

भा०–आकाशपृथिवीजलसूर्यादयः पदार्था विचित्ररचनासुनियमैः प्रत्यहं दृश्यमाना रचयितुः परमात्मनः सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं महिमानं च प्रकटयन्ति। इदमेव परमात्मसिद्धेः परमं कारणमस्ति। परमेश्वरएवाज्ञानपापादिजन्यमालिन्येन रहितः शुद्धः सर्वस्य कल्याणमार्गं वेदादिद्वारोपदिशति। अतः स्वकल्याणमभीप्सुना जनेन तस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः सदैव कार्याः ॥७॥

भाषार्थः– हे (अग्ने) सर्वाधार सर्वज्ञ प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (यम्,त्वा) जिन तुम को (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (यम्, त्वा) जिस तुम को (आपः) जल तथा (यम्,त्वा) जिन आप को (सुजनिमा) वृक्ष और ओषधि-आदि की जिस से वर्षा द्वारा अच्छी उत्पत्ति होती है वह (त्वष्टा) जलादि का छेदन वा सूक्ष्म करने वाला सूर्य (जजान) प्रकट करता है सो आप (पितृयाणम्) मानस व्यापार में प्रधान ज्ञानी लोगों के वर्त्ताव सम्बन्धी निष्कण्टक शुद्ध कल्याण देने वाले (पन्थाम्) मार्ग को (अनु,प्रविद्वान्) अनुकूलता से अच्छे प्रकार जानते हुए (समिधानः) अविद्यान्धकार और दुष्कर्मसम्बन्धी दोषों से निर्लिप्त होने से प्रकाशमान (द्युमत्) जैसे प्रकाशयुक्त हो वैसे सब जगत् को धर्मादि के प्रचार से (विभाहि) प्रकाशित कीजिये ॥

भा०—आकाश, पृथिवी, जल और सूर्यादि पदार्थ विचित्र रचना और अच्छे नियमों के साथ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हुए सब के उत्पादक परमेश्वर के सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्व और महत्त्व को प्रकट करते हैं कि ऐसे २ विचित्र शिल्प और नियमयुक्त पदार्थों का उत्पादक वा नियन्ता कोई साधारण नहीं हो सकता किन्तु यह काम सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् का है। इस लिये ऐसे पदार्थों का जो उत्पादक और नियन्ता है वही उपास्यदेव कोई ईश्वर अवश्य है। यही

परमात्मा की सिद्धि में बड़ा हेतु है। परमेश्वर ही अज्ञान और पापादि से होने वाली मलीनता से रहित शुद्ध है वही वेदादि द्वारा सब के कल्याण मार्ग का उपदेश करता है। इस लिये अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये ॥७॥

सायणः—हे अग्नि जिन तुम को द्युलोक और पृथिवीलोक सूर्य वा अग्नि रूप से उत्पन्न करते तथा जिन तुम को मेघ के बीच रहने वाले जल विद्युत्-रूप से उत्पन्न करते हैं। अथवा आप नाम अन्तरिक्ष का है सो द्यौः पृथिवी और अन्तरिक्ष इन तीनों लोक में तुम को उत्पन्न किया है। तथा सुन्दर उत्पत्ति करने वाले प्रजापति ने जिन तुम को उत्पन्न किया है। हे अग्नि पितृलोग जिस मार्ग से चलते हैं उस होम की सामग्री देवताओं को पहुंचाने के मार्ग को अच्छे प्रकार जानते हुए प्रकाशमान दीप्ति युक्त जैसे हो वैसे विशेषता से जलते हो ॥

इस मन्त्र का अर्थ सायणाचार्य ने वेद के सिद्धान्त से विरुद्ध किया है। अग्नि की उत्पत्ति पृथिवी आदि लोकों से नहीं हुई पृथिवी आदि जड़ पदार्थ हैं वे स्वयं किसी चेतन उत्पादक वा नियन्ता के विना उत्पन्न वा नियत नहीं हो सकते तो अन्य को क्या उत्पन्न करेंगे। अन्यत्र वेद में लिखा है कि "मुखादग्निरजायत" परमेश्वर के मुख सदृश सर्वोत्तम सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ अर्थात् परमेश्वर ने सर्वोत्तम सामर्थ्य से अग्नि को उत्पन्न किया। इस से सिद्ध है कि अग्नि आदि तत्वों का उत्पादक एक परमेश्वर ही है। और अग्नि जड़ होने से कल्याण के मार्ग को भी कदापि नहीं जान सकता। इत्यादि सायण के अर्थ में दोष हैं ॥

अथ राजन्निति सप्तर्चस्य तृतीयसूक्तस्य-आप्त्यस्त्रितऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः॥

इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि। चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ॥ १ ॥

इनः । राजन् । अरतिः । समऽइद्धः । रौद्रः । दक्षाय । सुषुऽमान् । अ-दर्शि । चिकित् । वि । भाति । भासा । बृहता । असिक्नीम् । एति । रुश-तीम् । अपाजन् ॥१॥

अ०—हे (राजन्) सर्वस्मिन् जगति विराजमान परमात्मन् (दक्षाय) स्वस्याभ्युदयिकनैःश्रेयसिकसुखवृद्धये [दक्षगतौ वृद्धौ-चेत्यस्य धातोः प्रयोगः] भक्तैर्धर्मात्मभिर्जनैर्भवान् (इनः) स्वस्या-ध्यक्षः स्वामीश्वरः (अरतिः) न विद्यते रती रागोऽस्मिन् स राग-द्वेषविवर्जितः (समिद्धः) प्रकाशमानश्च (सुषुमान्) सर्वस्योत्प-त्तिकर्त्ता (अदर्शि) ज्ञानदृष्ट्या दृश्यते तथा दुष्टकर्मकारिभिः (रौद्रः) भवान् भयङ्करो दण्डहस्तइव दृश्यते । भवान् (बृहता,भासा) महता तेजसा (रुशतीम्) हिंसाद्यधर्महेतुकाम् (असिक्नीम्) अन्धकाररूपामविद्याम् (अपाजन्) दूरीकुर्वन् (चिकित्) सर्वस्य ज्ञाता सन् (वि,भाति) विशेषतया प्रकाशितो भवति (एति) सर्वं च जगत्स्वव्याप्त्या प्राप्नोति ॥

भा०—परमात्मभक्ता धर्मात्मानः पुरुषाः स्वस्योपास्यं स्वा-मिनं रागद्वेषविवर्जितं शुद्धं निष्कलङ्कं स्वस्यान्येषां च कल्या-णवृद्धये पश्यन्ति ध्यायन्ति पापिनश्च भयङ्करं पश्यन्ति स च स्वस्य ज्ञानप्रकाशेन भक्तहृदयस्थामविद्यां निवारयन् सर्वज्ञत्वस-र्वशक्तिमत्त्वाभ्यां तेषामन्तःकरणे प्रकाशितो भवति ॥१॥

भाषार्थः—हे (राजन्) सब जगत् में विराजमान परमेश्वर ! (दक्षाय) अपने संसारी और परमार्थसम्बन्धी सुख की वृद्धि के लिये धर्मात्मा भक्त पुरुष आप को (इनः) अपना अध्यक्ष स्वामी (अरतिः) रागद्वेष रहित और (समिद्धः) शुद्ध प्रकाशमान (सुषुमान्) सब के उत्पादक (अदर्शि) देखते हैं । तथा दुष्ट कर्म करने वाले लोग (रौद्रः) आप को हाथ में लकड़ी लिये हुए के तुल्य भयङ्कर देखते हैं आप (बृहता, भासा) बड़े प्रबल तेज से (रुशतीम्) हिंसा-

दि अधर्म की हेतु अन्धकाररूप अविद्या को (अपाजन्) दूर करते हुए और (चिकित्) सब के ज्ञाता होकर (विभाति) विशेष कर प्रकाशित होते और अपनी व्याप्ति से सब जगत् को (एति) प्राप्त हो रहे ॥

भा०——परमात्मा के भक्त धर्मात्मा पुरुष अपने उपास्यदेव स्वामि को अपने और दूसरों के कल्याण की वृद्धि के लिये राग द्वेष रहित शुद्ध निष्कलङ्क ज्ञानदृष्टि से देखते वा ध्यान करते हैं। और पापी मनुष्य उस को अपने कुकर्म का फलदाता भयङ्कर देखते वा जानते हैं। वह परमेश्वर अपने ज्ञान और विद्या के प्रकाश से अपने भक्तजनों के हृदय की अविद्या को दूर करता हुआ सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से उन के हृदय में प्रकाशित होता है ॥ ५ ॥

सायणः—हे राजन् दीप्यमान प्रकाशित किये गये अग्नि तुम सब के ईश्वर हो। होम में चढ़ाये गये हविष् वस्तु को लेकर देवताओं के पास पहुंचाने वाले प्रकाशित किये हुए शत्रुओं को भयकारी सोमलता ओषधि वाले अथवा अच्छे प्रकार उत्पत्ति कर्त्ता हो। ऐसा वह अग्नि यजमानों के धन की वृद्धिकरने के अर्थ सब के दृष्टिगोचर होता है। तथा सब का ज्ञाता अग्नि विशेषकर प्रकाशित होता है। तथा बड़े लपटरूपी तेज से युक्त रात्रि को प्राप्त होता है। अर्थात् सायङ्काल के होम की सिद्धि के लिये पहुंचता है। श्वेतवर्ण दिन के प्रकाश को दूर करता हुआ रात्रि को प्राप्त होता है। अर्थापत्ति से रात्रि को दूर करता हुआ प्रातः काल के होम की सिद्धि के लिये उषःकाल को प्राप्त होता है ॥

दोनों प्रकार का अर्थ दिखा देने से प्रायः लोग सायण के अर्थ और मेरे किये अर्थ का लाघव गौरव स्वयमेव अपनी २ बुद्धि के अनुसार समझ लेंगे इस से बार २ सायण के दोष दिखाने व्यर्थ हैं किन्तु कहीं कुछ विशेषता होगी वहां संक्षेप से समालोचना कर दिया करूंगा ॥

कृष्णां यदेनीमभि वर्पसा भूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम्। ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्विभाति ॥३॥

कृष्णाम् । यत् । एनीम् । अभि । वर्पसा । भूत् । जनयन् । योषाम् । बृहतः । पितुः । जाम् । ऊर्ध्वम् । भानुम् । सूर्यस्य । स्तभायन् । दिवः । वसुऽभिः । अरतिः । वि । भाति ॥ २ ॥

प० —(अरतिः) रागद्वेषविवर्जितः परमेश्वरः (बृहतः) महत्परिमाणविशिष्टात् (पितुः) पालकात् प्रकाशदानेन वृष्टिद्वारा वा सर्वस्य रक्षकात्सूर्यात् (जाम्) जायमानाम् (योषाम्) उषसमुषःकालस्य प्रकाशमिव सर्गारम्भे (जनयन्) उत्पादयन् (यत्) यस्मात्कारणात् (वर्पसा) स्वेन प्रकाशस्वरूपेण (कृष्णाम्, एनीम् प्रलयदशारूपां रात्रिम् (अभि, भूत्) अभिभवति दूरीकरोति तथा (दिवः) प्रकाशहेतोः (सूर्यस्य) (भानुम्) प्रकाशम् (ऊर्ध्वम्) उपरि (स्तभायन्) स्तम्भयन्निरुद्धं कुर्वन् (वसुभिः) सर्वस्य चराचरस्य वासहेतुभिः स्वप्रकाशैः सार्द्धम् (वि, भाति) विशेषेण प्रकाशते प्रकाशहेतुर्भवति ॥२॥

भा० —परमेश्वरः सृष्टिकरणात्पूर्वं सूर्यादीनां कारणरूपं प्रकाशं प्रकटयति प्रलयान्धकारं च निवारयति सएव रागद्वेषादिदोषेभ्यः पृथग्भूतः सूर्यादीनां प्रकाशं यथास्थानं व्यवस्थापयन् सर्वोपकारकेण स्वेन तेजसा सर्वत्र प्रकाशते ॥२॥

भाषार्थः—(अरतिः) रागद्वेषादि दोषों से रहित परमेश्वर (बृहतः) बड़े परिमाण वाले (पितुः) प्रकाश के पहुंचाने से और वर्षा द्वारा अन्नादि को उत्पन्न करके सब की रक्षा करने वाले सूर्य से (जाम्) उत्पन्न होने वाले उषः-काल—प्रातःसमय के प्रकाश के तुल्य प्रकाश को सृष्टि के आरम्भ में (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (यत्) जिस कारण (वर्पसा) अपने प्रकाशस्वरूप से (कृष्णाम् एनीम्) प्रलयदशारूप रात्रि को (अभि,भूत्) तिरस्कृत आच्छादित वा दूर करता है। तथा (दिवः)प्रकाश के हेतु (सूर्यस्य) सूर्य के (भानुम्) तेज वा प्रकाश को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ

(वसुभिः) सब चराचर जगत् के वास के हेतु अपने प्रकाशों के साथ (विभाति) विशेष कर प्रकाश का हेतु होता है ॥

भा०—परमेश्वर सृष्टिरचना से पूर्व सूर्यादि के कारणरूप प्रकाश को प्रकट करता और प्रलयसम्बन्धी अन्धकार को निवृत्त करता है। वही राग द्वेषादि दोषों से पृथक् हुआ सूर्यादि के प्रकाश को अपने २ नियत स्थान में व्यवस्थित करता हुआ सब के उपकारी अपने तेज से प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

सायणः—वह अग्नि सब जगत् के पालन कर्त्ता पितृस्थानी बड़े सूर्य से उत्पन्न होने वाली उषा को प्रकट करता हुआ जब काले रंग वाली चलती हुई रात्रि को अपने लपट सम्बन्धीरूप से आच्छादित करता है तब गमनशील अग्नि स्वर्गलोकसम्बन्धी वस्तुओं अर्थात् निवास के हेतु आच्छादक अपने तेजों से सूर्य के प्रकाश को ऊपर स्थापित करता हुआ विशेष कर प्रकाशित होता है ॥

भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥ ३ ॥

भद्रः। भद्रया। सचमानः। आ। अगात्। स्वसारम्। जारः। अभि। एति। पश्चात्। सुऽप्रकेतैः। द्युऽभिः। अग्निः। विऽतिष्ठन्। रुशत्ऽभिः। वर्णैः। अभि। रामम्। अस्थात्। ॥ ३ ॥

अ० -अधुना सूर्यरूपोऽग्निर्व्याख्यायते-(भद्रया) कल्याणकारिण्या दीप्त्या (सचमानः) समवेतो समवायरूपेण नित्यसम्बन्धेन संयुक्तः (भद्रः) सर्वस्य कल्याणहेतुः (आ,अगात्) आगच्छत्युदितो भवति सएव (जारः) रात्रेर्जरयिता सूर्यः (स्वसारम्) स्वयमग्रेऽग्रे सरन्तीं गच्छन्तीमुषसम् (पश्चात्) पृष्ठतइव (अभ्येति) अभिमुखं गच्छति (सुप्रकेतैः) चक्षुषोः सहायकत्वेन ज्ञानहेतुभिः (द्युभिः) प्रकाशैः सार्द्धम् (वितिष्ठन्) विशेषेण वर्त्तमानः (अग्निः)

स्वकक्षायां भ्रमणशीलः सूर्याग्निः (रुशद्भिः,वर्णैः) प्रकाशनशीलैः स्वकिरणैस्तेजोभिः (रामम्) रमणहेतुं रात्रिसमयम् (अभि,अस्थात्, आच्छाद्य वा दूरीकृत्य तिष्ठति ॥

भा०—नित्यं स्वभावेन प्रकाशमानः सूर्यलोको रात्रिरूपान्धकारस्य निवारणेन वर्षयान्नादीनामुत्पादनेन च सर्वस्य सुखहेतुर्भवति । तस्मात्सत्पुरुषैरपि परोपकारप्रियैरेव भाव्यम् ॥३॥

भाषार्थः—अब इस मन्त्र में सूर्यरूप अग्नि का व्याख्यान किया जाता है—(भद्रया) कल्याणकारिणी दीप्ति से (सचमानः) नित्य संयुक्त (भद्रः) सब के कल्याण का हेतु (आ, अगात्) आता अर्थात् उदय को प्राप्त होता है । और वही (जारः) रात्रि को नष्ट करने वाला सूर्य (स्वसारम्) स्वयं आगे २ चलते हुए प्रातःकालसम्बन्धी प्रकाश के (पश्चात्) पीछे २ (अभ्येति) ठीक सीधा सन्मुख चला जाता है (सुप्रकेतैः) नेत्रों के सहायक होने से ज्ञान के हेतु (द्युभिः) प्रकाशों के साथ (वितिष्ठन्) विशेष कर वर्त्तमान (अग्निः) अपनी कक्षा में भ्रमणशील सूर्यरूप अग्नि (रुशद्भिः,वर्णैः) प्रकाशस्वरूप अपने तेजों वा किरणों से (रामम्) विषयादि में वा निद्रा में रमण के हेतु रात्रि समय को (अभि, अस्थात्) आच्छादन वा दूर करके ठहरता है ॥

भा०—स्वभाव से ही नित्य प्रकाशमान सूर्यलोक रात्रिरूप अन्धकार की निवृत्ति करके और वर्षा द्वारा अन्नादि की उत्पत्ति करके सब के सुख का हेतु होता है । इस लिये सत्पुरुषों को भी परोपकार में प्रीति रखने वाले होना चाहिये ॥ ३ ॥

सायणः—कल्याणरूप सेवन करने योग्य दीप्ति वा उषःकाल से सेवित वा संगति को प्राप्त हुआ अग्नि आता अर्थात् गार्हपत्य से आहवनीयदशा को प्राप्त होता है जिस पीछे शत्रुओं को जलाने वाला वह अग्नि स्वयं चलने वाली भगिनी वा आये हुए प्रभात समय को प्राप्त होता है । तथा सुन्दर ज्ञान के हेतु प्रकाशित तेजों के साथ सब ओर से वर्त्तमान वह अग्नि अन्धकार के आच्छादक अपने श्वेत तेजों से रात्रि के काले अन्धकार को सन्ध्याकाल के होम समय में दूर करके ठहरता है ॥

अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य। ईड्यस्य वृष्णो बृहतः स्वासो भामासो यामन्नक्तवश्चिकित्रे ॥४॥

अस्य । यामासः । बृहतः । न । वग्नून् । इन्धानाः । अग्नेः । सख्युः । शिवस्य । ईड्यस्य । वृष्णः । बृहतः । सुऽआसः । भामासः । यामन् । अक्तवः । चिकित्रे ॥ ४ ॥

अ०-(अस्य,बृहतः,अग्नेः) महतः सूर्याग्नेः सम्बन्धाज्जायमानाः (इन्धानाः) प्रकाशयुक्ताः (यामासः) प्रहरादयः कालविभागाः (वग्नून्) वाक्कर्मप्रधानानध्यापनादिशुभकर्मसु लग्नान् (न) न बाधन्ते तेषां कालः शुभकर्मसङ्गाच्चेतसः प्रसाददशायामेव व्यतीतो भवति नतु दुःखेन। अतएव (सख्युः) सर्वप्राणिनां मित्रभूतस्य (शिवस्य) स्वार्थमन्यार्थं वा सुखोपायकर्तुः पुरुषस्य (स्वासः) शोभनाः स्थितयो दशाः (यामन्) यान्ति नतु निरुद्योगिन इत्यर्थः (ईड्यस्य) स्तुत्यगुणस्य (बृहतः) महतः (वृष्णः) वर्षणहेतोः सूर्यस्य (भामासः) तीक्ष्णा असह्याः (अक्तवः) कर्त्तव्याकर्त्तव्ये विवेचयतः पुरुषस्य ज्ञानप्रकाशिकाः किरणाः (चिकित्रे) उत्पद्यन्ते॥

भा०-सूर्याज्जायमानः कालविभागो निष्कर्मिणां क्लेशहेतुर्भवति। दुराचारेष्वालस्यादिना च कालः कथमपि पूर्णो भवति। ये च कालस्य नियमेन वेदोक्तानि स्वस्वकर्माण्याचरन्ति तेषां प्रसन्नतया कालः पूर्णो भवति। एवं सूर्यस्योदयो यथा तमिस्रान्धकारं निवर्त्तयति तथैव संयमिनां धर्मात्मनां पुरुषाणामालस्यनिद्रातमोगुणादिरूपोऽन्धकारः प्रभातसमये निवृत्तो भवति। तस्मान्मनुष्येण शुभकर्मानुष्ठायिना सदैव भवितव्यम् ॥४॥

भावार्थः—(अस्य,बृहतः, अग्नेः) इस महान् सूर्यरूप अग्नि के सम्बन्ध से बने हुए (इन्धानाः) प्रकाशयुक्त (यामासः) प्रहर आदि काल के अवयव (वग्नून्) वाणीसम्बन्धी पठनपाठनादि कर्मों में लगे हुए मनुष्यों को (न) बाधा नहीं करते अर्थात् उन मनुष्यों का समय शुभकर्मों के सेवन से चित्त की प्रसन्नदशा में ही व्यतीत होता है किन्तु दुःख के साथ नहीं । इसी से (सख्युः) सब प्राणियों के साथ मित्रता रखने वाले (शिवस्य) अपने लिये तथा अन्य के लिये सुख का उपाय करते हुए पुरुष की (स्वासः) सुन्दरदशा (यामन्) होती वा रहती हैं किन्तु निरुद्योगी निकम्मे पुरुष की दशा अच्छी नहीं रहती । तथा (ईड्यस्य) स्तुति प्रशंसा के योग्य जिस के गुण हैं ऐसे (बृहतः) बड़े (वृष्णः) वर्षा के हेतु सूर्य की (भामासः) न सहने योग्य तीक्ष्ण (अक्तवः) कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करने वाले पुरुष के ज्ञान को प्रकाशित करने वाली किरणें (चिकित्रे) उत्पन्न होती हैं ॥

भा०—सूर्य से उत्पन्न हुआ काल का दिन रात्रि आदि विभाग निष्कर्मी निकम्मे पुरुषों को क्लेश का कारण होता है अर्थात् दुराचारों में फंसे हुए मनुष्य का समय आलस्यादि के साथ जैसे तैसे कटता है । और जो लोग समय के नियम से अपने २ वेदोक्त कर्म करते हैं उन का समय प्रसन्नता के साथ पूरा होता है । इसी प्रकार जैसे सूर्य का उदय रात्रि के अन्धकार को निवृत्त करता है वैसे ही संयमी धर्मात्मा पुरुषों का आलस्य निद्रा और तमोगुणादिरूप अन्धकार प्रभात समय में निवृत्त हो जाता है और वह उस समय ईश्वर की उपासना आदि शुभकर्म करता है । इस से मनुष्य को शुभकर्म का सेवक सदैव होना चाहिये ॥ ४ ॥

सायणः—इस बड़े अग्नि के सम्बन्धी प्रकाशमान किरणें स्तुति करने वाले मनुष्य को पीड़ित नहीं करतीं किन्तु स्तुति और होमद्वारा पूजा करने की मित्रता से मित्रभाव को प्राप्त हुए अर्थात् प्रसन्न हुए भक्त सेवक होतादि को सुखकारी कामनाओं को पूरण करने वाले बड़े तथा सुन्दर है मुख जिस का ऐसे अग्नि की अपनी अन्धकारों को दूर करती हुई वा आहुतियों के साथ मिली हुई न सहने योग्य तीक्ष्ण किरणें जो देवताओं की तृप्ति के लिये प्राप्त होता वा देवता लोग जिस को प्राप्त होते ऐसे यज्ञ में उत्पन्न होतीं अर्थात् सब ओर से विस्तृत होती हैं ॥ ४ ॥

स्वना न यस्य भामासः पवन्ते रोचमा-
नस्य बृहतः सुदिवः। ज्येष्ठेभिर्यस्तेजिष्ठैः
क्रीडुमद्भिर्वर्षिष्ठेभिर्भानुभिर्नक्षति द्याम् ॥५॥

स्वनाः। न। यस्य। भामासः। पवन्ते। रोचमानस्य। बृहतः। सुऽदिवः। ज्येष्ठेभिः। यः। तेजिष्ठैः। क्रीडुमत्ऽभिः। वर्षिष्ठेभिः। भानुऽभिः। नक्षति। द्याम् ॥५॥

अ०-(यस्य,रोचमानस्य) दीप्यमानस्य (बृहतः) महतः (सुदिवः) शोभना द्यौस्तत्सम्बन्धे वर्त्तमान उपरिस्थो लोकादिर्येन तस्य तादृशस्य सूर्याग्नेः (भामासः) तीक्ष्णरश्मयः (स्वनाः) शब्दान् कुर्वाणा वायवः (न) इव सर्वं जगत् (पवन्ते) पावयन्ति पवित्रीकुर्वन्ति। अन्तर्गतोऽत्र ण्यर्थः। तथा (यः) सूर्याग्निः (ज्येष्ठेभिः) अतिशयेन प्रशस्तैः (तेजिष्ठैः) अतिशयेन तेजस्विभिः [विन्मतोर्लुगिति मत्वर्थप्रत्ययस्य लुक्] (क्रीडुमद्भिः) क्रीडाहेतुयुक्तैः [बालादीनां क्रीडनमपि सूर्यरश्मिप्रसारावसरएव सम्भवति] (वर्षिष्ठेभिः) अत्यन्तं वृद्धिमापन्नैः (भानुभिः) तेजःस्वरूपैः किरणै (द्याम्) सर्वमाकाशप्रदेशम् (नक्षति) व्याप्नोति ॥

भा०-सूर्यस्य किरणास्तेजसः प्राखर्याद्दुर्गन्धादिनिवारणेन वायुरिव सर्वजगदुत्पुनन्ति तथा सूर्यस्तानेकगुणविशिष्टैः किरणैरेव सर्वाकाशः शोभितो व्याप्तः पूरितो दर्शनीयो वा भवति ॥५॥

भाषार्थः—(यस्य) जिस (रोचमानस्य) प्रकाशित (बृहतः) बड़े (सुदिवः) सूर्य के सम्बन्ध में वर्त्तमान ऊपर के नक्षत्रादि लोक जिस के प्रकाश से अत्यन्त शोभित होते वैसे सूर्यरूप अग्नि के (भामासः) तीक्ष्ण किरणें (स्वनाः,न) शब्द करते हुए वायुओं के तुल्य सब जगत् को (पवन्ते) पवित्र करती हैं। तथा (यः) जो सूर्यरूप अग्नि (ज्येष्ठेभिः) अत्यन्त प्रशंसा योग्य (तेजिष्ठैः) अत्यन्त

तेजयुक्त (क्रीळुमद्भिः) क्रीडा के हेतु प्रकाश वाले। अर्थात् सूर्य की किरणों के प्रकाश के फैलने के समय ही बालक आदि के खेल हो सकते हैं (वर्षिष्ठेभिः) अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त (भानुभिः) तेजःस्वरूप किरणों से (द्याम्) सब आकाश को (नक्षति) व्याप्त होता है ॥

भा०—सूर्य की किरणें तेज के खरे होने से दुर्गन्धादि को निवृत्त कर वायु के तुल्य सब जगत् को पवित्र करती हैं। तथा सूर्य के अनेक गुणयुक्त किरणों से ही सब आकाश व्याप्त पूरित शोभित और दर्शनीय हो जाता है ॥५॥

सायणः—सुन्दर दीप्ति वाले प्रकाशमान बड़े जिस अग्नि के अपने तीक्ष्ण किरण शब्द करते हुए वायुओं के तुल्य चलते हैं। और जो अग्नि अत्यन्त प्रशस्त अतितेजस्वी क्रीडा वाले अत्यन्त बड़े अपने किरणरूप तेजों से द्युलोक को प्राप्त होता है सो तू देवताओं को बुला इस प्रकार सातवें मन्त्र से सम्बन्ध जानना चाहिये ॥

अस्य शुष्मासो ददृशानपवेर्जेहमानस्य स्वनयन्नियुद्भिः। प्रत्नेभिर्यो रुशद्भिर्देवतमो वि रेभद्भिररतिर्भाति विभ्वा ॥ ६ ॥

अस्य। शुष्मासः। ददृशानऽपवेः। जेहमानस्य। स्वनयन्। नियुत्ऽभिः। प्रत्नेभिः। यः। रुशत्ऽभिः। देवऽतमः। वि। रेभत्ऽभिः। अरतिः। भाति। विऽभ्वा ॥ ६ ॥

अ०—(जेहमानस्य) गमनशीलस्य (ददृशानपवेः) दर्शनीयो विद्युदादिस्वरूपः पविर्वज्रोऽस्य तस्य (अस्य) सूर्याग्नेः (शुष्मासः) शोषणगुणयुक्ताः (नियुद्भिः) वायुवेगैस्सहितः किरणाः (स्वनयन्) मेघादिषु शब्दकारिणो भवन्ति (देवतमः) अतिशयेन द्योतनशीलः प्रकाशस्वरूपो वा (विभ्वा) स्वशक्तिरूपेण व्याप्तः (यः, अरतिः) प्रापकोऽग्निः (रेभद्भिः) शब्दहेतुभिः (प्रत्नेभिः) सनातनैः (रुशद्भिः) रश्मिरूपैः स्वस्य तेजोभिः सार्द्धम् (वि, भाति) विविधप्रकारेण प्रकाशितो भवति ॥

श्राद्ध ॥

इस विषय पर हम गत ७।८ अङ्कों में कुछ लेख लिख चुके हैं। यह विषय बहुत बड़ा है इस की व्याख्या करना मनुष्य की बुद्धि, विद्या पर निर्भर है किन्तु दो चार वार के लेख से व्याख्यान की समाप्ति नहीं हो सकती। इस विषय में सर्वोपरि विचारकोटि में लाने योग्य केवल एक यही अंश है कि पुत्रादि के दिये पिण्डादि का फल जन्मान्तर वा शरीरान्तर में पितादि को पहुंचता है वा नहीं ?। हमारे इस आर्यावर्त्तदेश में प्रायः मनुष्य मानसिक निर्बल होगये हैं इस के अनेक कारण हैं परन्तु धनप्राप्ति और कामभोग में अत्यन्त आसक्ति का होना ही इस मानसी निर्बलता का मूल कारण है। इसी लिये धर्मशास्त्र में स्पष्ट लिखा गया है कि—मनुस्मृतौ—अ० २—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

धन और कामभोग में जो लिप्त नहीं हैं उन के लिये ही धर्म का जानना कहा वा माना गया है अर्थात् वे ही लोग धर्म को जान सकते हैं और जो अर्थ काम में आसक्त हैं उन की विचारशक्ति कामक्रोधादि दोषों से दबी रहती है इस लिये वे धर्म का विवेक नहीं कर सकते कि वास्तव में यही धर्म है उन के हृदय की चलायमानता वा स्थिरता न होने से मानसी निर्बलता बढ़ जाती है। इसी कारण धर्मसम्बन्धी प्रायः विषयों में ठीक २ दृढ़ विश्वास नहीं रहता। सो यह वार्त्ता कुछ साधारण मनुष्यों में ही हो सो नहीं किन्तु आज कल जो विद्वान् कहे वा माने जाते हैं उन में भी ऐसे बहुत कम होंगे जिन्हों ने धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों को ठीक २ समझ कर अपना विश्वास जमा लिया हो। यही कारण है कि उन के विद्यमान होने पर भी धर्म का प्रकाश नहीं होता। जिस दीपक के विद्यमान रहते भी अन्धकार दूर न हो वह दीपक ही क्या ? और कौन पुरुष उस को दीपक मानेगा ?। यदि ठीक २ धर्मात्मा दृढ़ विश्वासी धर्म की उन्नति चाहने वाला एक भी मनुष्य हो तो वह अपने साधारण उपदेश से ही सहस्रों को धर्मात्मा बना सकता है। और उस के सामने धर्मनिर्विश्वाद हो जाता है। देखनेमात्र को तो अनेक धर्मात्मा हैं

विश्वास भी रखते, उपदेश करते, शिष्य बनाते और गुरु बनते हैं इत्यादि अनेक ऐसे ही काम करते हैं जिस से धर्म के विश्वासी जान पड़ें परन्तु भीतरी खोज किया जाय तो अविश्वासी अधिक मिलेंगे और धर्मविषय में आरूढ़ता केवल लोक दिखावे की और जीविकादि कार्य की सिद्धि के लिये मिलेगी । इस कथन से हमारा आशय यह है कि श्राद्ध भी एक धर्म का अंश है । इस पर जो दृढ़विश्वास वा उस के फल आदि का निश्चय नहीं और वादविवाद खड़े हैं यह केवल धर्म पर विश्वास न होने से मानसिक निर्बलता का ही परिणाम है । हम लोगों को अत्यन्त उचित है कि यदि धर्म की उन्नति करके धर्मात्मा बनना चाहते हैं तो लोभ और कामासक्ति को धर्म के पास न आने देवें और अपने पूर्वजों की उसी तपोधन वा यशोधन दशा को ग्रहण करके धर्म के सच्चे भक्त हों तो उस की दुर्दशा अवश्य कुछ मिटे ॥

श्राद्धविषय में हम पहिले लिख चुके हैं कि अन्य के किये कर्म का फल अन्य को नहीं प्राप्त होता इस पर अनेक युक्ति भी लिखी गयीं हैं कि यदि पिता धर्मात्मा है जिस ने बहुत अच्छे २ धर्मसम्बन्धी काम किये हैं तो जन्मान्तर में अपने कर्मों के अनुसार उस को शुभफल प्राप्त ही होगा उस को पुत्रादि के दिये पिण्डादि की कुछ भी अपेक्षा नहीं और उस के लिये पिण्ड देना भी व्यर्थ है । और जो पापी मनुष्य मरेगा तो उस को अपने कर्मों के अनुसार दण्ड मिलना धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है । यदि पिण्डादि द्वारा उस को शुभफल पहुंचाने की चेष्टा करें तो वह धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है और यदि जन्मान्तर में पिण्डादि का शुभफल पहुंचाना सम्भव हो तो अपने शत्रु को कोई विरुद्ध कर्मों से दुःख भी पहुंचा सकता है इत्यादि अनेक दोष हैं । धर्मशास्त्रों में याज्ञवल्क्यस्मृति एक पुस्तक है उस पर मिताक्षरानामक टीकाकार ने भी यही शङ्का उठायी है परन्तु उस का समाधान अत्यन्त निर्बल दिया है कि "उन पितरों के अधिष्ठातृ देवता वसु रुद्र और आदित्य हैं उन को पिण्डादि का फल पहुंचता है और वे अधिष्ठातृदेवता उन पितरों को तृप्त कर देते हैं" इस का मुख्य आशय यही हुआ कि जब पितरों के नाम से वसु आदि को फल पहुंचाया जाता है तो वे भी उन पितरों को फल देते हैं वसु आदि के द्वारा पहुंचता है किन्तु सीधा नहीं पहुंचता । इस से वह शङ्का कदापि निवृत्त नहीं हो सकती कि स्वर्गादिरूप फल उन प्राणियों को यदि किसी प्रकार

पहुंचता है तो धर्मशास्त्र में लिखा कर्मानुसार शुभाशुभफल जन्मान्तर में नहीं मिल सकता और कर्मानुसार फलभोग मिला तो पिण्डादि का फल सीधा वा किसी के द्वारा पहुंचना न पहुंचना दोनों एक से हैं। और यह भी एक नई बात मिताक्षराकार ने लिखी वा मानी है कि पितरों के अधिष्ठातृ देवता वसु आदि हैं। क्योंकि लोगों को अधिष्ठातृ देवता मानने की आवश्यकता इस लिये हुई थी कि जड़ पदार्थ को चेतन के तुल्य नहीं मान सकते और चेतन के काम बोलने, चलने, फिरने आदि जड़ वस्तु में लिखे हों तो वहां उन के अधिष्ठातृदेवता चेतन मान कर उन दोषों की निवृत्ति करते हैं। इसी विषय के अनुसार लोगों ने वेदान्तदर्शन शारीरकसूत्र माना है कि—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥

पृथिवी आदि के अभिमानी देवता का व्यवहार "पृथिव्यब्रवीत्" इत्यादि वाक्यों में किया गया है। चेतन का अधिष्ठातृदेवता चेतन मानने में कुछ भी विशेष प्रयोजन नहीं और न किसी ने ऐसा माना। यदि चेतन पितरों के अधिष्ठातृदेवता वसु आदि जड़ मानो तो जड़ के द्वारा (मार्फत) चेतन को फल पहुंचना सम्भव नहीं। वास्तव में अधिष्ठातृदेवता मानने का प्रयोजन यह था वा है कि प्रत्येक जड़ वस्तु का चेतन अधिष्ठाता वा अभिमानी होता है कि यह वस्तु मेरा है मैं इस का स्वामी हूं। परमेश्वर सभी का अधिष्ठातृदेवता सामान्य कर है और मनुष्य अपने २ अधिकार में आये पृथिवी आदि खण्डित पदार्थों के अधिष्ठाता रहते हैं इस में कुछ भी दोष नहीं। इस से सिद्ध हुआ कि वसु आदि को अधिष्ठातृदेवता मानना और उन के द्वारा पिण्डों का फल पितृजनों को पहुंचाना दोनो ही ठीक नहीं हैं। क्योंकि विवाद इस अंश पर नहीं है कि पितरों को सीधा फल पहुंचता है वा किसी के द्वारा पहुंचता है और पितरों के अधिष्ठातृदेवता कोई हैं वा नहीं किन्तु जन्मान्तर में पुत्रादि के दिये पिण्ड का फल पितरों को पहुंचता है वा नहीं? यह विवाद है उपरोक्त समाधान इस सन्देह के उत्तर से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। इसी विचार के अनुसार पूर्व हम ने लिखा है कि धर्मविषय में हम लोग मानसी निर्बलतायुक्त हो रहे हैं नहीं तो प्रश्नोत्तर के तत्व को समझते तो ऐसा समाधान मिताक्षराकार करते कि जिस से कुछ भी सन्देह की निवृत्ति अवश्य होती। अस्तु—

अब एक और विचार यह है कि इस विषय के वेद और मनु आदि के धर्मशास्त्र में अनेक वचन ऐसे मिलते हैं कि जिन से श्राद्ध का पितरों को पहुंचना प्रतीत होता है उन की क्या दशा होगी ?।

इस का उत्तर यह है कि वेदादि शास्त्र में तो जो कुछ उपकार दृष्टि से लिखा है वह सभी ठीक है उस के ठीक सिद्धान्त और आशय को न समझ पाना यह हमारा ही दोष है इस का भी कारण वही मानसी निर्बलता है। कहीं शास्त्रों में प्रमाणाभास को भी प्रमाण मान लेते हैं यह भी मनुष्य की अज्ञानता का दोष है। जैसे वास्तविक और बनावटी वा नकली अन्य वस्तु होते हैं वैसे ही प्रमाण भी होते हैं उन में से सत् असत् का वा वेदानुकूल और वेदविरुद्ध का विवेचन करना धर्मात्मा विद्वानों का काम है। जब एक सिद्धान्त धर्मशास्त्र वा वेद के सिद्धान्तानुकूल ठीक सिद्ध हो चुका कि अपने २ किये कर्मों के अनुसार सब प्राणी जन्मजन्मान्तरों में सुख दुःख भोगते हैं तो इस सिद्धान्त को बिगाड़ने वाले दोएक वा दश वीश श्लोक नहीं हो सकते क्योंकि एक कोई साधारण मनुष्य भी जब परस्पर विरुद्ध दो बातें न कहता और न मानता है तो फिर मनु वा भृगु जैसे महाविद्वान् धर्मात्मा पुरुष परस्पर विरुद्ध कैसे कहते वा लिखते क्योंकि जैसे सूर्य के प्रकाश में अन्धकार नहीं ठहरता वैसे ही परस्पर विरुद्ध दो विषयों को एक पुरुष नहीं मान सकता। हां! यदि भूल से अन्यथा लिख जावे तब भी वह भूल ही कहावेगी। इस से सिद्ध हुआ कि वेद से भिन्न मनुस्मृति आदि पुस्तकों में यदि उक्त सिद्धान्त से विरुद्ध वा तुच्छताद्योतक कोई वचन पाये जावें तो उन को अवश्य प्रक्षिप्त मानना चाहिये। रहा वेद सो उस में वेदकर्ता परमेश्वर के सर्वज्ञ होने से रचने वाले की भूल होना तो सम्भव ही नहीं। और पूर्वज ऋषि आदि ने ऐसे भी प्रबन्ध उस के साथ बांध दिये हैं जिस से कोई पुरुष वेद में प्रक्षिप्त नहीं कर सकता इस कारण वेद में यदि कहीं वैसे वचन मिलें तो उन में हमारे समझने की ही भूल हो सकती है। वेद में अनेक वचन सामान्य परक हैं जो जीवत् पितरों के सत्कार के साथ ही घट सकते हैं किन्तु मृतक पितरों के विषय में उन का निर्दोष अर्थ नहीं घट सकता किन्तु अनेक दोष आवेंगे।

यजुर्वेद अ० २

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायिषत ॥

इस मन्त्र का अर्थ महीधर ने लिखा है कि "हे पितरो ! तुम इस कुशा पर आकर सुखपूर्वक बैठो और अपने२ भाग को लेकर जैसे बैल घास खाकर तृप्त होता है वैसे तृप्त होओ" इसी के अनुसार सब पौराणिक लोग इस का आशय मानते हैं और मानेंगे। विचार का स्थान है कि "अत्र शब्द" का अर्थ "यहां" हो सकता है किन्तु अत्रशब्द से कुशा का ग्रहण किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। इस से भी अधिक दूसरी बात यह है कि अपने२ भाग के अनुसार ग्रहण करके घास से बैल के समान तृप्त होओ। बैल आदि पशुओं को घास खाकर सामान्य प्रकार की तृप्ति होती है किन्तु अन्न आदि से विशेष तृप्ति दीख पड़ती है। क्योंकि जिस रुचि के साथ पशु अन्न को खाते हैं वैसी रुचि से घास नहीं खाते यदि पेट भर लेने से अभिप्राय हो तो भी यह शिष्टव्यवहार नहीं है। लोक में प्रसिद्ध है कि जो कोई मनुष्य विना विचारे अनाप सनाप खाता है उस को कहते हैं कि पशु के समान पेट भरता है। इस से पितरों को बैल की उपमा भोजनविषय में देना एक प्रकार का भद्दापन और तुच्छता है। सो यह वेद का दोष नहीं किन्तु इस अर्थ करने वा समझने वालों का यह दोष है वेद का आशय यह है कि "मानस ध्यान उपासनादि वा दया श्रद्धादि में विशेष तत्पर हे पितृजनो ! आप लोग यहां आनन्द से रहो अर्थात् हम लोग अपनी सेवा से आप को हर्षित करेंगे। और यथाभाग अर्थात् अपनी २ योग्यता के अनुसार सत्कार को प्राप्त होकर श्रेष्ठ जनों के तुल्य वा धर्म के अनुकूल आचरण करो। अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों वा धर्म का यही लक्षण है कि उन से दूसरों का उपकार हो सो आप धर्मानुकूल जगत् का उद्धारकरो। इस मन्त्र के "आवृषायिषत" पद में वृष शब्द से नाम धातुप्रक्रिया का प्रत्यय क्यङ् है। अर्थ यह है कि वृष के तुल्य आचरण करो वा वृष के अनुकूल चलो। इन आधुनिक टीकाकारों ने वृषशब्द का अर्थ केवल बैल ही मान लिया वा जाना होगा। कदाचित् और अर्थ जाना भी हो तो धर्म पर आरूढ़ता न होने से और बुद्धि में उदरम्भरपन आदि की निकृष्टता छायी रहने से वैसा ही अर्थ सूझ पड़ा। वृषशब्द पर मनुस्मृति के राजधर्म में लिखा है कि—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥

वृषनाम ऐश्वर्य और सुख देने वाले धर्म का है उस का जो नाश करता है उस पुरुष को वृषल अर्थात् धर्म का शत्रु महानीच वा शूद्र कहते हैं । इस लिये धर्म का लोप मनुष्य को कदापि नहीं करना चाहिये । मेदिनी कोष में लिखा है कि—

वृषो धर्मे बलीवर्दे शृङ्ग्यां पुंराशिभेदयोः ।

श्रेष्ठे स्यादुत्तरस्थश्च वासामूषिकशुक्रले ॥ इत्यादि—

धर्म, बैल, सिङ्गी, द्वितीयराशि, श्रेष्ठ, मूषा और अण्डकोष इत्यादि को वृष कहते हैं । सब शब्दों के सब अर्थ सब स्थलों में नहीं घट सकते इस लिये यह समझने वा अर्थ करने वालों पर निर्भर है कि जहां जिस अर्थ की योग्यता हो वहां वैसा अर्थ करें । विचारशील लोगों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि महीधरादि भाष्यकारों के अर्थ से भी श्राद्धविषय में जो फल पहुंचने न पहुंचने का विवाद है उस का कुछ समाधान नहीं होता । श्राद्ध का कर्त्तव्य होना तो दोनों पक्ष में है केवल उस के प्रकार और फल में अवश्य भेद है सो जब तक वैसा कोई मन्त्र प्रमाण में पौराणिकपक्ष वालों की ओर से न लिखा जावे कि जिस में उन के विचारानुसार श्राद्ध का प्रकार और जन्मान्तर में पितरों को पिण्डादि का फल पहुंचना स्पष्ट लिखा हो तब तक किसी पाठक मनुष्य को कुछ भी सन्तोष नहीं होगा । आगे ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १५ मन्त्र ६ भी पितृपक्ष श्राद्धसम्बन्धी माना है—

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

इस मन्त्र का अर्थ सायणाचार्य ने लिखा है कि “हे पितरो तुम सब पृथिवी पर घोंटू टेक वेदी से दक्षिण की ओर बैठ कर हमारे यज्ञ की प्रशंसा करो । और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण हम से अज्ञान में जो कुछ अपराध वा भूल चूक हुई हो उस को क्षमा करो और हम को न मारो वा दुःख न पहुंचाओ” इस अर्थ का भी श्राद्धविषय के विवादास्पद अंश से कुछ सम्बन्ध

नहीं अर्थात् जन्मान्तर वा किसी योनि में रहने वाले ही पितर यज्ञ में आकर बैठें यह आशय इस से नहीं निकलता । कदाचित् सायणाचार्यादि का यही अभिप्राय हो परन्तु मूल में कोई ऐसा पद नहीं है जिस से यह प्रकट हो कि मरे हुए पितर योन्यन्तर वा लोकान्तर से आकर हमारे यज्ञ में बैठें और यज्ञ की प्रशंसा करें किन्तु जिन जीवित पितरों की प्रमाणानुकूल पितरसंज्ञा हो सकती है उन से साक्षात् यजमान ऐसा कहे कि "हे मानस विचार सम्बन्धी उपासनादि कार्यों में तत्पर मान्य वा पूज्य पितृस्थानी सज्जनो ! आप सब लोग गोड़े लचा के यज्ञ से दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख बैठ कर इस यज्ञ को अच्छे प्रकार प्रशंसा करो अर्थात् यज्ञ के गुणों का कीर्त्तन वा उपदेश करो जिस से हम लोगों की सदा यज्ञ करने में रुचि बढ़े और यज्ञ कराओ (ब्रह्मा, तथा आचार्य आदि यज्ञ कराने वाले प्रतिष्ठित विद्वान् पुरुष सदा यज्ञ से दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख बैठते और यजमान वेदी से पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठता है) मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण हम से जो कुछ आप लोगों का अपराध वा भूल चूक बन पड़े उस किसी अपराध से हम को दुःख न दीजिये अर्थात् हमारे उपकारी यज्ञादि कार्य में अरुचि वा उदासीनता न कीजिये जिस से हमारे सुखरूप फल में विघ्न हो" इस अर्थ में किसी प्रकार का दोष नहीं है । और जन्मान्तर से मनगढ़त के पितरों को बुला कर यज्ञ में बैठाने की कल्पना करना ठीक नहीं है । इस से पूर्व एक मन्त्र और भी—ऋग्वेद मण्डल १० सू० १५ मं० ४ है । इस को भी श्राद्धविषय में उपयोगी मानते हैं ।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु । त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

इस का अर्थ सायणाचार्य ने लिखा है कि "हम लोगों पर अनुग्रह करने वा सोम ओषधि को सिद्ध करने वाले यज्ञ में चढ़ाने योग्य तृप्तिकारक धन के तुल्य प्रिय हविष्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिये हम लोगों से बुलाये हुए पितर लोग आवें । और आकर हम लोगों की की हुई स्तुतियों को इस यज्ञ में सुनें और सुन कर यह यजमान अच्छा श्रेष्ठ है ऐसा आदरपूर्वक कथन करें और

वे उक्त प्रकार के पितर लोग हमारी रक्षा करें" इसी के अनुसार हिन्दु लोग प्रायः इस का अर्थ समझते वा मानते हैं। इस से भी श्राद्ध के विवादास्पद अंश का समाधान कुछ नहीं हो सकता। और जिन लोगों को यह विश्वास है कि श्राद्ध में पुत्रादि के दिये पिण्डों का फल जन्मान्तर में मृतक पितादि को पहुंचता है उन का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि वे वेद से ऐसे प्रमाण देवें जिस से उक्त वार्त्ता सिद्ध वा स्पष्ट हो जावे। इस मन्त्र में भी ऐसा कोई पद नहीं है जिस से मृतकों को फल पहुंचने का अर्थ निकले। इसी लिये इस मन्त्र के अर्थ में कुछ अधिक विवाद नहीं है किन्तु उस के तात्पर्य को सायणाचार्य ने अपने पक्ष की ओर झुकाया है यही विरोध है। अर्थात् पदार्थ में विशेष विरोध नहीं किन्तु भावार्थ में विरोध है सो यह टीकाकारों की न्यूनता है। और मन्त्र का ठीक २ अर्थ यह है कि "शान्ति आदि सात्त्विकवृत्ति वाले वा सोम ओषधि के गुण कर्म स्वभाव जानने तथा उस को बनाने यज्ञ में चढ़ाने और खाने के विधान को जानने वाले हम लोगों के बुलाने से आये हुए मानस दया श्रद्धा विश्वासादि धर्मसम्बन्धी कर्मों में तत्पर पितृ लोग बैठने वा स्थित होने योग्य प्रिय कुशादि के आसनों पर आकर बैठें। और वे लोग यहां बैठ कर हमारी प्रार्थना वा निवेदन को सुनें और हमारे हित का उपदेश करें तथा दुष्टकर्म वा अविद्यादि के बुरे संस्कारों को मेट कर हमारी रक्षा करें" यह कथन जीवित पितृस्थानी श्रेष्ठपुरुषों के प्रति साधारण मनुष्यों की ओर से है। अर्थात् साधरण मनुष्यों का वा श्रीमानों का मुख्य कर्त्तव्य है कि वे धर्मवेत्ता विद्वान् विचारशील दीर्घदर्शी अलौकिक परीक्षक बहुश्रुत कल्याणमार्ग के उपदेशक पुरुषों का यज्ञादि में बुला कर यथोचित सत्कार करें और उन के सत्सङ्ग से अपने कल्याण का मार्ग जान कर वैसा उपाय करें। यह वेद के उपदेश का तात्पर्य है किन्तु मरे हुए पितर बुलाने से आकर कुशों पर बैठते और उन को जन्मान्तर में श्राद्ध का फल पहुंचता है यह आशय उक्त मन्त्र के किसी पद से किञ्चित् मात्र भी नहीं निकलता। कुशों पर पितरों के बैठने की जो परम्परा चली आती है यह तो जीवित पितृस्थानी मान्यजनों को कुशादि के आसन पर बैठाने से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि इस विषय पर और भी लिख सकते हैं क्योंकि वेद में भी पितृकर्मसम्बन्धी मन्त्र बहुत हैं तथापि अब लिखना समाप्त करते हैं फिर कभी यथावसर लिखा जायगा। इति शम् ॥

गत अङ्क ६ पृ० १०० से आगे पुराणसमीक्षा ॥

देवीभागवत को अठारह पुराणों में मानते हैं । यह आपस का झगड़ा इन दोनों में बहुत काल से प्रवृत्त है । अठारह पुराणों में संख्या हो जाने से अपनी २ इष्टसिद्धि समझते हैं जिस का भागवत अठारह की संख्या में न आवे वह अपने को जातिबाह्य समझता होगा पर हमारी समझ में जब अठारहो पतित निकले तो उन में न मिलने वाला ही अच्छा रहेगा । पाठक लोगों को यह एक दृष्टान्त स्मरण रखने योग्य है कि " अष्टादश पुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः " इस पद्य के अनुसार जब अठारह पुराण व्यास जी के बनाये मानते हैं तो अब अठारह की रजिस्टरी हो चुकी परन्तु भागवत के दो होने से जब उन्नीश पुराण निकले तो एक दूसरे को कल्पित ठहराने लगा और आपस में लड़ने लगे । यदि इन में से किसी का भी माल चोखा होता तो वही शान्ति करके बैठ रहता और अच्छे सत्य पदार्थ को सभी सत्य मान लेते परन्तु वे दोनों ही खोटे हैं इसी से आपस में लड़ते हैं अर्थात् इन में से कोई भी पुस्तक व्यास जी का बनाया नहीं इस का उदाहरण यही है कि जब तक लोगों ने अठारह पुराण बनाये तभी उक्त श्लोक (अष्टादशपु०) बना दिया । जब एक पीछे बना तब उसने भी दिल्ली के पांच सवारों में घुसने की चेष्टा की इस से समझ लेना चाहिये कि ऐसे ही पहिले २ झूठ बना २ कर व्यास का नाम धरते आये । तथा अन्य भी ग्रन्थ अपना २ मत चलाने के लिये ऋषियों के नाम से बना डाले । इस का प्रयोजन यही था कि श्रेष्ठ पुरुष के नाम से हमारे मत का प्रचार अधिक होगा । प्रामाणिक पुरुषों के नाम से हमारे स्वार्थसम्बन्धी जाल को भी लोग प्रामाणिक मानेंगे । सो वही हुआ क्योंकि इस भारतवर्ष के मनुष्य जब सत् असत् के विवेक से शून्य हुए तो ऊटपटाङ्ग वेदविरुद्ध बातों को भी निर्विवाद मानने लगे । अब आकर कुछ २ लोगों की आंखें खुलने लगीं तब विचार फैला इसी लिये हमारा भी विचार हुआ कि हम पुराणों के विषय में कुछ लिखना आरम्भ करें । पुराणों में अनेक विषय धर्मशास्त्र वा वेदादि के अनुकूल भी लिखे गये हैं उन से पुराणों की कुछ विशेष प्रतिष्ठा न समझनी चाहिये क्योंकि वे विषय तो वेदादि में ही हैं । अन्य के माल को लेकर कोई प्रशंसा के योग्य नहीं हो सकता । उन विषयों

सम्बन्धी उपकार लेने के लिये पुराणों की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि उन को धर्मशास्त्र वा वेदानुयायी पुस्तकों से अच्छे प्रकार जान सकते हैं। और इसी लिये अच्छे मान्य विषयों पर हम कुछ समालोचना नहीं लिखा करेंगे किन्तु जिन विषयों में विवाद है वा जो हानिकारक हैं उन पर संक्षेप से समालोचना लिखा करेंगे। अब सब से पहिले विष्णुपुराण पर जो हमारे पास उपस्थित है कुछ लिखना आरम्भ करते हैं। सब महाशयों को ध्यान देकर पुराणों की कथा सुननी और बांचनी चाहिये—

इस विष्णुपुराण के प्रारम्भ में दो श्लोक किसी अन्य के बनाये जान पड़ते हैं क्योंकि तृतीय श्लोक से अन्य प्रकार की शैली बदल गयी है। और तृतीय श्लोक पर रत्नगर्भभट्टाचार्यनामक विष्णुपुराण के टीकाकार ने लिखा है कि—

"अथ पराशरो मुनिर्गुर्वादिभक्तिं पुरुषार्थसाधनं दर्शयन् मैत्रेयं निमित्तीकृत्य विष्णुतत्वप्रतिपादकं विष्णुपुराणं प्रारभते ॥

अब गुरु आदि की भक्ति को पुरुषार्थ साधन दिखाते हुए पराशर मुनि मैत्रेयनामक ऋषि को श्रोता मान कर विष्णु के तत्व को दिखाने वाले विष्णु पुराण का प्रारम्भ करते हैं" इस कथन से सब लोग स्पष्ट जान सकते हैं कि यह पुराण व्यास जी का बनाया नहीं फिर पौराणिक लोगों का यह कहना वा मानना कि "अठारह पुराणों के बनाने वाले सत्यवती के पुत्र व्यास जी हैं" कैसे सत्य होगा ?। यद्यपि पराशर के नाम से भी प्रशंसा बराबर हो सकती है परन्तु यह पुस्तक पराशर ऋषि का भी बनाया नहीं है। क्योंकि जिस की एक बात मिथ्या हो गयी उस की अन्य बातें भी वैसी ही होना सम्भव हैं। यह पुस्तक व्यासादि किसी ऋषि का बनाया नहीं किन्तु उन के नाम से किसी वैष्णव महाशय ने अपने मत के प्रचारार्थ बनाया है इस के कारण आगे २ यथावसर और भी लिखता जाऊंगा ॥

इस पुराण का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है कि "पराशर ऋषि के शिष्य—विद्यार्थी एक मैत्रेयनामक थे उन्हों ने अपने गुरु पराशर जी से अभिवादन करके कहा कि मैंने आप से सम्पूर्ण वेद, वेदाङ्ग और धर्मशास्त्रादि पढ़ और परिश्रम किया सो अब आप से यह सुनना चाहता हूं कि यह जगत् किन से किस प्रकार उत्पन्न हुआ और होगा। किस रूप जगत् था और किस

में लीन था तथा किस में लय होगा। मनुष्य, देव, समुद्र, पर्वत, पृथिवी और सूर्यादि की उत्पत्ति वा स्थिति किस से होती है। देवादि के वंश, मनु और और मन्वन्तरों की व्याख्या इत्यादि बातें मैं सुनना चाहता हूं। इस पर पराशर ने कहा कि मैत्रेय! तुम ने बहुत अच्छा प्रश्न किया जिस से मुझ को एक पुरानी भूली बात का स्मरण आगया कि विश्वामित्र की प्रेरणा से मेरे पिता को एक राक्षस ने खा लिया तब मुझे क्रोध आया तो मैंने राक्षसों का नाश करने के लिये एक यज्ञ किया और उस में सैकड़ों राक्षस जला डाले तब मेरे पितामह (बाबा) वसिष्ठ ने मुझे समझाया कि ऐसा क्रोध करना मूर्खों का काम है ज्ञानवानों का नहीं तुम ऐसा न करो यज्ञ को समाप्त कर दो तब मैंने उन की आज्ञा को बड़ा मान कर यज्ञ को समाप्त कर दिया। इस पर वसिष्ठ जी प्रसन्न हुए और उसी समय आये हुए पुलस्त्य ऋषि ने मुझ को वर दिया कि जिस कारण तुम ने गुरु की आज्ञानुसार क्षमा की इस से तुम सब शास्त्रों के विद्वान् हो जाओगे। और वसिष्ठ जी ने प्रसन्न हो कहा कि तुम ने क्रुद्ध होकर भी मेरी सन्तति अर्थात् वंश का नाश नहीं किया इस से हे भाग्यशाली तुम को बड़ा वर देता हूं जिस से तुम्हारी कीर्त्ति अतुल बढ़ेगी ॥

पुराणसंहिताकर्त्ता भवान् वत्स! भविष्यति ।
देवतापरमार्थं च यथावद्वेत्स्यते भवान् ॥ इत्यादि:-

तुम पुराणसंहिता के बनाने वाले होगे और आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान को यथावत् जानोगे। इस प्रकार पहिले समय में वसिष्ठ जी और पुलस्त्य ने जो कहा था उस का स्मरण हे मैत्रेय! तुम ने कराया इस लिये मैं अब पुराणसंहिता तुम को सुनाता हूं" ॥

समीक्षक-प्रथम तो गुरु के सामने कहना कि मैं वेदादि सब शास्त्र पढ़ा हूं यह एक अभिमान की बात है शिक्षितविद्यार्थी को गुरु के आगे ऐसा कहना अनुचित है। फिर पुलस्त्य ऋषि ने आगे इसी विषय का वर दिया कि तुम शास्त्रों को जान लोगे। जब वह मैत्रेय स्वयमेव पहिले कह चुका था कि मैं वेदादि सब शास्त्रों को जानता हूं और शास्त्रों के ज्ञान की अपेक्षा होती तो वैसा भी प्रश्न करता फिर उस को शास्त्रज्ञान का वर देना व्यर्थ और पूर्वापर विरुद्ध ठहरा। तथा परिश्रमपूर्वक पढ़ने बिना किसी के कह देनामात्र से कोई विद्वान् हो जावे

यह असम्भव भी है किन्तु आशीर्वादमात्र कहना बन सकता है सो भी जिस के पुत्र विद्यमान हैं उस को कहना कि तुम्हारे पुत्र हों यह व्यर्थ है किन्तु यह कह सकते हैं कि तुम्हारे पुत्र अच्छे सुखी बने रहें वा शिक्षित हो जावें इत्यादि। किसी एक राक्षस ने पराशर के पिता को खा लिया होगा तो उसी को मार डालते वा मरवा डालते किन्तु जिन का कुछ अपराध नहीं था उन राक्षसों को मारने के लिये उपाय करना अन्याय है। क्या एक मनुष्य अपराध करे तो मनुष्यजाति भर को मरवा डालना चाहिये ? वा दण्ड देना चाहिये। परमेश्वर की व्यवस्था से भी जो जैसा भला बुरा कर्म करता है उसी को वैसा फल दिया जाता है। यह राजा के यहां भी नहीं होता कि एक भाई ने अपराध वा हिंसा की तो उस के घर भर को फांसी दे दी जावे। फिर पराशर के उस कर्म को अच्छा कौन माने वा कहेगा ?। और यज्ञ शब्द का अर्थ यह नहीं है कि उस में प्राणी जलाये जावें। देवपूजा सङ्गतिकरण और दान ये तीन ही अर्थ यजधातु के हैं। जिस स्थान वा अग्नि में प्राणियों के शरीर जलाये जाते हैं उस को प्रेतभूमि वा निकृष्ट दुर्गन्ध बढ़ाने वाला अग्नि कह सकते हैं। यज्ञ वेदोक्तकर्म है उस में सुन्दर सुगन्धित शुद्धपदार्थों का होम होता है। जब पराशर ने अन्यायपूर्वक क्रोध करके अनेक अनपराधी राक्षसों को जलाना प्रारम्भ किया और वसिष्ठ के समझाने वा धमकाने से मान लिया तो कुछ वरदान के योग्य काम नहीं था किन्तु बुराई करने के कारण पराशर को तो और भी दण्ड देना चाहिये था क्योंकि उन्हों ने अनपराधी राक्षसों को क्यों मारा था (इस से कोई यह न समझे कि राक्षसों के मारने को हम बुरा समझते वा कहते हैं किन्तु राक्षस वे मनुष्य हैं जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरों के हित में विघ्न डालते हैं। ऐसे मनुष्यों को यथायोग्य दण्ड देना चाहिये। परन्तु पराशर ने पिता के खा लेने के कारण राक्षसों पर क्रोध किया था किन्तु उन को दुष्ट धूर्त्त समझ कर क्रोध करते तो पिता का खा लेना कारण न लिखा जाता)। और पराशर ने वसिष्ठ के कहने से मान लिया तो अच्छा किया परन्तु वसिष्ठ के अधिक प्रसन्न होने का कोई कारण वा निमित्त नहीं था। पराशर न मानते तो और भी बुरा पाप था। और पराशर जब

राक्षसों पर क्रुद्ध हुए तब वसिष्ठ को यह शङ्का क्यों हुई कि कहीं मेरा वंशच्छेदन न कर डाले । राक्षसजाति भर का भी अपराध मानो तो अपने कुल वालों का क्या अपराध था यदि अपने वंश पर भी पराशर को क्रोध था तो पिता का बदला ही राक्षसों से कैसे लेते । क्योंकि जो मनुष्य जिस पर क्रुद्ध होता है उस को मारने वाले पर वह और भी प्रसन्न रहता है यह नियम है । राक्षसों पर क्रोध था उन को जलाया फिर अपने वंश का नाश न किया यह कहना ऊटपटाङ्ग बात है ।

पराशर को विष्णुपुराण बनाने का वर उन के पितामह वसिष्ठ ने पहिले ही दे रक्खा था उसी के अनुसार पराशर ने विष्णुपुराण मैत्रेय को सुनाया यह ऊपर स्पष्ट लिखा है । इसी लिये वह श्लोक भी लिख दिया है कि (पुराणसंहिताकर्त्ता०) विष्णुपुराण का बनाने वाला पराशर होगा सो हुआ । इस कथन के अनुसार इस पुराण को व्यास जी का बनाया कहना वा मानना सर्वथा मिथ्या है । हम लोगों का यह सिद्धान्त नहीं है कि विष्णुपुराण पराशर ने बनाया किन्तु इस प्रसङ्ग में हमारा प्रयोजन यह है कि उन्हीं पुराणों से जब सिद्ध है कि व्यास का बनाया नहीं फिर पौराणिक लोग १८ पुराणों के कर्त्ता व्यास को क्यों मानते हैं ? । अर्थात् उन का यह मानना उन्हीं के मतानुसार विरुद्ध है । पुराण स्वयं कहते हैं कि हम व्यास के बनाये नहीं हैं । अर्थात् उन्हीं पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि यह पुराण अमुक का बनाया है जैसा कि पूर्व विष्णुपुराण का ही श्लोक लिख दिया गया ॥

इस विष्णुपुराण में छः अंशनामक बड़े २ प्रकरण हैं उन में अध्याय संख्या पृथक् २ हैं पहिले अंश में १ जैसे जगत् उत्पन्न हुआ, २ जैसे आगे होगा, ३ जिस का स्वरूप जगत् है, ४ जिस से उत्पन्न होता, ५ है जिस में लय हुआ, ६ जिस में लय होगा, ७ जो प्राणियों का प्रमाण है, ८ और देवादि की उत्पत्ति इन आठ विषयों का वर्णन किया है । समुद्र, पर्वत, भूमि और सूर्यादि की स्थिति और परिमाण का विचार द्वितीय अंश में, देवादि के वंश मनु और मन्वन्तरों की व्याख्या, व्यास के द्वारा वेदशाखाओं का बनना और ब्राह्मणादि वर्णों और आश्रमों के धर्म ये सब तृतीयांश में कहे हैं । देव ऋषि और राजाओं के (उन के वंश की व्याख्या सहित) चरित्र का वर्णन चतुर्थ अंश में किया है ।

पृथिवी का भार हरने के लिये अवतार लिये हुए विष्णु के चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन पञ्चमांश में है। कल्प महाकल्प वा युगधर्म का वर्णन षष्ठ अंश में किया गया है। यह सब इस का सूचीपत्र हुआ। इन सब विषयों पर यथोचित आगे २ लेख किया जायगा। ये पौराणिक लोग जगत् को परमेश्वररूप वा परमेश्वर को जगत् रूप मानते हैं सो यह वेदान्त का विषय है इस पर यहां अधिक इस लिये नहीं लिखा जायगा कि मैंने मूलवेदान्तशास्त्ररूप उपनिषदों पर भाष्य किया तथा करता जाता हूं वहां यथावसर वेदान्त के विषयों पर लेख किया गया है। यहां जो कुछ विशेष लिखना होगा वहां संक्षेप से लिख दिया करूंगा ॥

पहिले उत्पत्ति प्रकरण में विष्णुनामक परमात्मा को लिखा है कि–

रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ॥

वह परमेश्वर शुक्लादिरूप ब्राह्मणादि वर्ण जाति, क्रिया, संज्ञा आदि के पांच विशेषणों से रहित है इत्यादि अनेक प्रकार का वर्णन वेदानुकूल करके आगे पौराणिकी लीला खड़ी करने के लिये इस से विरुद्ध लिख डाला है कि–

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमे द्विज ! ।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥

परब्रह्म का पहिला रूप पुरुष है अर्थात् परमेश्वर पुरुषरूप धारी है स्त्री के आकार वाला नहीं। व्यक्त–प्रकट इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य ईंट पत्थर मनुष्य पशु पक्ष्यादि द्वितीयरूप और प्रकृति परमाणु आदि नामक ब्रह्म का तीसरा अव्यक्तरूप है और चौथा रूप काल है इत्यादि ॥

अब विचारना चाहिये कि पहिले ब्रह्म को रूप रहित लिखा और हाल ही उस के चार रूप बताने लगे यह कैसा परस्पर विरुद्ध लेख है ? । यद्यपि सब सज्जन विद्वानों ने ब्रह्म के वाचक तीनों लिङ्ग के शब्द माने हैं तथापि किसी ने वाच्यब्रह्म को किसी लिङ्ग में नियत नहीं किया किन्तु यही सिद्धान्त रक्खा है कि "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु" तीनों लिङ्ग में वह समान है अर्थात् उस में स्त्री पुरुष नपुंसक का कोई चिह्न नहीं है। व्यक्त अव्यक्त ये दोनों रूप प्रकृति अर्थात् कारणरूप वा कार्यरूप जगत् के हैं किन्तु परमेश्वर के रूप नहीं

हैं क्योंकि प्रकृति का नाम अव्यक्त रक्खा है। इसी के अनुसार स्थूल जगत् को व्यक्त माना है। यद्यपि बृहदारण्यादि उपनिषदों में भी लिखा है कि "द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तं च" ब्रह्म के दो रूप हैं एक मूर्त्तनाम स्थूल और दूसरा अमूर्त्तनाम सूक्ष्म, तथापि वास्तव में ये दोनों रूप भी कार्य कारण जगत् के ही दिखाये हैं क्योंकि वायु और अन्तरिक्ष को अमूर्त्त और पृथिवी आदि को मूर्त्त कहा है। इस लिये ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि परमेश्वर का बाह्यसामर्थ्य मूर्त्त अमूर्त्त दो प्रकार है अथवा ब्रह्मशब्द का यौगिक अर्थ माना जाय तो ब्रह्मनाम बड़े जगत् के दो रूप हैं एक सूक्ष्म दूसरा स्थूल, किन्तु यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि ये दो ब्रह्म के स्वरूप में हैं। काल भी ब्रह्म का स्वरूप नहीं क्योंकि वैशेषिकशास्त्र में आत्मा और काल को भिन्न२ द्रव्य लिखा है। इसी के अनुसार तर्कसङ्ग्रह और सिद्धान्तमुक्तावली आदि आधुनिक न्यायग्रन्थकर्त्ताओं ने भी काल को पृथक् द्रव्य मान कर आत्मा के दो भेद किये हैं। एक जीवात्मा और द्वितीय परमात्मा इत्यादि प्रकार विष्णुपुराण वाले का यह लेख प्राचीन ऋषिप्रणीत शास्त्रों से विरुद्ध है। और परस्पर विरुद्ध होने से भी मान्य नहीं हो सकता ॥

"विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र! ।

हे विप्र मैत्रेय! विष्णुनाम व्यापक परमेश्वर के रूप से भिन्न और प्रधानप्रकृति पुरुषनाम जीवात्मा का स्वरूप है" यह लिख कर—

प्रकृतिं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाऽव्ययौ ॥

उत्पत्ति विनाश धर्म वाले प्रकृति और पुरुष में अपनी इच्छा से परमेश्वर ने प्रवेश करके उन को सृष्टिरचना के समय क्षोभित किया" फिर आगे जाकर—

"स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः ।
स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥

जो जगत् को बनाता है और जो वस्तु जगत् रूप बनता है वह सब परमेश्वर ही है। सकुड़ना वा फैलना आदि गुणों से वह परमेश्वर ही प्रधान—

प्रकृतिरूप है अर्थात् प्रकृति और परमेश्वर के स्वरूप में भेद नहीं किन्तु दोनों एक ही रूप हैं" अब विचारशील महाशयों को ध्यान देना चाहिये कि अभी तो लिख चुके थे कि "परमेश्वर के स्वरूप से प्रकृति और पुरुष का स्वरूप भिन्न २ है" फिर हाल ही कहने लगे कि "प्रकृति और परमेश्वर दोनों एक ही रूप हैं" क्या यह कथन प्रमत्तप्रलाप के तुल्य नहीं है ?। पहिला लेख वेदादि शास्त्रों के अनुकूल है और दोनों को एक मानना वेदादि से विरुद्ध है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते,,

इत्यादि वेदमन्त्रों में प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा तीनों को पृथक् २ अनादि माना है। और श्वेताश्वतर उपनिषद् में और भी स्पष्ट लिखा है कि-

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

चेतन जीवात्मा अधिष्ठाता भोक्ता तथा अचेतन जड़ प्रकृति जीवात्मा के अधिकार में रहने वाली भोग्य ये दोनों अज नाम उत्पन्न न होने वाले अनादि हैं। और तीसरा अनन्त परमात्मा सब वस्तुमात्र में व्याप्त शुभाशुभ काम्य कामों के करने और उन का फल भोगने से पृथक् है। ये तीनों अनादि जानने योग्य बड़े पदार्थ हैं इन तीनों के तत्त्वज्ञान को जो प्राप्त होता है उसी का कल्याण हो सकता है। इत्यादि प्रमाणों से प्रकृति और जीवात्मा का परमेश्वर से भिन्न होना स्पष्ट ही सिद्ध है इस लिये विष्णुपुराण वाले का कथन शास्त्रविरुद्ध है। और यह कथन युक्ति से भी विरुद्ध है क्योंकि संसार में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता कि बनने वाला वस्तु और उस का बनाने वाला ये दोनों कहीं एक हो जावें किन्तु ऐसे दृष्टान्त सहस्रों मिल सकते हैं कि जिन में इन दोनों का पृथक् २ होना सिद्ध हो जायगा। मकान का बनाने वाला और मकान दोनों एक कभी नहीं हो सकते। कुम्हार और घट आदि पदार्थ सब भिन्न २ हैं। इस में किसी को कुछ शङ्का भी नहीं होती। जिस मिट्टी आदि से जो घट आदि बनता है वे दोनों कार्य कारण कर्त्ता से भिन्न रहते हैं। इसी लिये कर्म और साधनादि सब कारकों की अपेक्षा कर्त्ता को नित्य स्वतन्त्र मानते हैं। यदि कर्त्ता निर्मित वस्तु से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु न हो तो उस को कर्तृत्व मानना वा क्रिया कर सकना ये दोनों ही नहीं बन सकते। नैयायिक लोगों ने स्पष्ट लिखा है कि-

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ५ } तारीख १५ जुलाइ, अगस्त । श्रावण, भाद्रपद संवत् १९४९ { अङ्क ११।१२

यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अंक ९ । १० पृ० १८० से आगे पुराणसमीक्षा ॥

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ गोतमसूत्रम् ।

इस का आशय यह है कि उस एक ही वस्तु से उसी का ग्रहण नहीं हो सकता । जैसे हाथ से हम लोग अन्य वस्तु को पकड़ते हैं परन्तु उसी हाथ से उसी हाथ को नहीं पकड़ सकते । जैसे लकड़ी वा शस्त्र से अन्य को मारते वा काटते हैं उस से उसी को नहीं पीट वा काट सकते । इसी प्रकार बनने और बनाने वाले दो हों तभी बनना वा बनाना क्रिया हो सकती है किन्तु एक होने में नहीं हो सकती इस कारण विष्णुपुराण वाले का लेख ऊटपटांग है ।

आगे विष्णुपुराण वाले ने लिखा है कि "पहिले प्रकृति से महान् और महत् से अहङ्कार और उस से पञ्चतन्मात्र और इन्द्रिय सत्व रजस् तमस् तीन २ गुण वाले उत्पन्न हुए" किन्तु इन की उत्पत्ति में परमेश्वर की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है अर्थात् क्षेत्रज्ञ को केवल अधिष्ठातामात्र माना है । यह भी एक दोष है । क्योंकि वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त से परमेश्वर के उत्पत्ति

स्थिति प्रलय ये तीन काम ही मुख्य रक्खे हैं । इन्हीं कामों से उस को सर्वोपरि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् माना है । सो जब जगत की उत्पत्ति में उस की आवश्यकता विशेष न ठहरी तो उस का मानना न मानने के तुल्य है । इस से नास्तिकता का दोष आता है ।

आगे सृष्टिप्रकरण में इसी अंश पर और भी लिखा है कि—

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
एकसङ्घातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण वा ।
महदाद्यो विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥

महत्तत्व अहङ्कार पञ्चतन्मात्र और इन्द्रियादि अनेक प्रकार की शक्ति वाले पृथक् २ रहने और मेल न होने से प्रजाओं को नहीं रच सके किन्तु जब आपस में मिल के एक दूसरे के सहायक बने तब एकता को प्राप्त होके पुरुष के अधिष्ठाता होने और प्रधाननामक प्रकृति की कृपा से उन्हों ने एक अण्डा उत्पन्न किया ॥

समीक्षक—इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी चेतन स्रष्टा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जड़ प्रकृति आदि कारण को विष्णुपुराण वाले ने पूरी स्वतन्त्रता दिखायी है । और पुरुष का अधिष्ठाता होना नाममात्र कारण रक्खा है । इस से भी एक प्रकार की नास्तिकता विष्णुपुराण बनाने वाले पर आती है । ऋग्वेद ८ अ० ८ ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

सब संसार का धारण करने वाला परमेश्वर सूर्य, चन्द्रमा पृथिवी आकाश नक्षत्रादि सहित अन्तरिक्ष आदि जगत् को सब कल्पों में एकसा ही बनाता है । तथा उपनिषदादि में भी स्पष्ट लिखा है कि "विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्"

परमेश्वर सब जगत् का रचने वाला अनेकरूप है। इत्यादि सहस्त्रों प्रमाण ऐसे मिल सकते हैं कि जिन से परमेश्वर का स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता होना सिद्ध है और प्रकृतिनाम जड़ कारण को जगत् की रचना में वेदादिशास्त्रों से कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं पायी जाती। इस कारण सृष्टिरचना के विषय में विष्णुपुराण वाले का लेख वेदविरुद्ध सिद्ध है। द्वितीय अण्डा की उत्पत्ति लिखना यह भी ठीक नहीं। यदि विष्णुपुराण वाले का आशय यह होता जैसा मनुस्मृति आदि में लिखा है कि "जितनी लोकलोकान्तर सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि सृष्टि है उस को ब्रह्माण्ड कहते हैं क्योंकि सब ब्रह्माण्ड गोलाकार परिधि में रहता है इस लिये उस को अण्डा कहा वा माना है। जैसे अण्डे के भीतर छोटे २ बच्चे रहते हैं वैसे ब्रह्माण्ड की परिधि में सब जीव जन्तु आदि रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में गोलाकार परिधि परमेश्वर ने नियत की उसी का नाम अण्डा था" तो अण्डे का बढ़ना घटना न लिखते। अण्डा के अन्तर्गत परमेश्वर को माना तो अण्डे के साथ परमेश्वर का बढ़ना घटना भी सिद्ध हो गया। यह भी एक दोष है वा वेदादि के सिद्धान्त से विरुद्ध विष्णुपुराण वाले का कथन है। और जब अण्डे के उत्पादक प्रकृति आदि को माना और अण्डा के भीतर बच्चा के तुल्य ब्रह्मारूपी विष्णु रहे जो अण्डे के साथ बढ़ते गये। तो इस कथन से भी सिद्ध होता है कि प्रकृति-जड़ वस्तु ने चेतन परमेश्वर को बनाया क्योंकि जिस अण्डे को प्रकृति ने बनाया उसी में परमेश्वर था यह भी एक बड़ा दोष विष्णुपुराण वाले पर है। आगे पुराणों के सिद्धान्तानुसार सब से पहिले एक शरीरधारी ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णुपुराण वाले ने मानी है सो यह भी वेद से विरुद्ध है क्योंकि "मनुष्याः पशवश्च ये" इत्यादि वेदमन्त्रों में अनेक २ मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों की उत्पत्ति एक साथ परमेश्वर से हुई लिखी है। परन्तु वेदादि के सिद्धान्तानुसार पञ्च महाभूतों की पहिले उत्पत्ति हो कर सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है और विष्णुपुराण वाले ने पहिले ब्रह्मा को ही उत्पन्न कर लिया। सो विष्णुपुराण कर्ता से पूछना चाहिये कि पृथिव्यादि महाभूतों के बिना ब्रह्मा का शरीर किस वस्तु से बना और कहां ठहरा ?। यदि स्थूल शरीर नहीं था तो बना ही क्या ?। इत्यादि प्रकार असम्भव कथन विष्णुपुराण वाले का सिद्ध होता है।

आगे विष्णुपु० अं० १ अ० २

जुषन्रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः ।
ब्रह्मा भूत्वाऽस्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते ॥

सब के स्वामी विष्णु रजोगुण को धारण करते हुए ब्रह्मारूप धारण करके इस जगत् की रचना में प्रवृत्त होते हैं । ऐसा कह कर इसी प्रथमांश के तृतीयाध्याय में लिखा है कि-

सत्वोद्रिक्तस्ततो ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत ॥

सत्वगुण की जिस में अधिकता है ऐसे ब्रह्मा ने सो कर उठ के संसार को शून्य देखा । अब विचारशील लोगों को ध्यान देना चाहिये कि पहिले रजोगुणी लिखा और फिर सत्वगुणी लिख डाला इन दोनों में क्या सत्य है ? । अर्थात् यह कथन भी परस्पर विरुद्ध होने से प्रमत्तप्रलाप के तुल्य है ॥

आगे अ० ४—

तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवे प्रभुः ।
अनुमानात्तदुद्धारं कर्त्तुकामः प्रजापतिः ॥
अकरोत्स तनूमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा ।
मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद्वाराहं वपुरास्थितः ॥

जिस समय केवल जलमय सब जगत् हो रहा था उस समय विष्णुरूप ब्रह्मा ने अनुमान से जल के भीतर पृथिवी को जान कर उस को जल के ऊपर ले आने की कामना से अन्य कल्पों में धारण किये मच्छी कछुए के तुल्य वराह नाम सुअर का रूप धारण किया ॥

समीक्षक— पाठक लोगों को ध्यान रखना चाहिये कि पहिले विष्णुपुराण कर्त्ता लिख चुके हैं कि जब प्रलय की समाप्ति में ब्रह्मा सोकर उठे तब शून्यरूप देखा और कुछ नहीं था । अब लिखते हैं सब पृथिव्यादि नौका के समान जल में डूबे थे । विचारना चाहिये कि जल में सब डूबा था तो असंख्य अगाध जल का होना सिद्ध हो गया क्या ब्रह्मा को जल नहीं दीख पड़ा ? जो शून्य लिख दिया क्या पृथिवी कोई नौका के समान थी जो जल में तले पर बैठ गयी । यदि बैठ गई थी तो जल के भीतर और दूसरी पृथिवी होगी जिस में जाकर ठहरी नहीं तो जल का हद्दही ठीक नहीं हो सकता । और ब्रह्मा ने

अनुमान से पृथिवी को डूबी जाना तो क्या सर्वज्ञ नहीं थे जो मनुष्य के तुल्य कुछ चिह्न देख कर अनुमान किया ? । तथा परमेश्वर वा ब्रह्म को सुअर का रूप धारण करने की क्या आवश्यकता हुई ? सुअर का रूप धारण किये विना पृथिवी का उद्धार क्या अन्य प्रकार से नहीं हो सकता था ? । परमेश्वर को जो सर्वशक्तिमान् माना है सो किसी सूकरादि निकृष्टयोनि के धारण से वा मनुष्यादि शरीर के धारण से नहीं है क्योंकि शरीरधारी का अल्पशक्तिमान् होना न्याय से सिद्ध है जिस वस्तु को परिच्छिन्न अर्थात् हद्द वाला मानोगे कि वह इतना लम्बा चौड़ा और मोटा है तो उस के परिच्छिन्न होने से ही उस की शक्ति भी नियत हो जायगी । साकार वस्तु जगत् में दृष्टान्त के लिये भी कोई अनन्तशक्ति वाला नहीं फिर सूकर आदि को कोई अनन्तशक्ति कैसे सिद्ध कर सकता है ? । और जब ये लोग पृथिवी के तले को पाताल मानते हैं तो जब पृथिवी नीचे जल में डूब गयी तब भी पृथिवी का अधोभाग ही पाताल माना जा सकता है किन्तु यह कहना सर्वथा ऊटपटांग है कि पृथिवी पाताल में चली गयी । और जब एक ब्रह्मा को शरीरधारी मान ही चुके थे तो क्या ब्रह्मा को इतनी शक्ति नहीं थी जो किसी प्रकार जल में से पृथिवी को निकालते वा जल को सुखाते जिस के लिये उन ने एक निन्दित योनि का शरीर धारण किया । इन पौराणिक लोगों ने अपने मत की और अपनी दुर्दशा तो की ही थी परन्तु परमेश्वर को भी कलङ्क लगाये विना नहीं छोड़ा । ऐसे लोगों पर परमेश्वर अवश्य अप्रसन्न होगा । पुराणों के ऐसे ही निन्दित लेखों के प्रचार से अनेक मनुष्यों ने वेद वा आर्यों के सिद्धान्त को निन्दित मान कर उस से घृणा करली क्या यह वैदिकसिद्धान्त और वेदानुयायियों की विशेष हानि नहीं है ? ॥

आगे सूकररूप विष्णु को आया देखकर पृथिवी ने अपने उद्धार के लिये बड़ी प्रार्थना की और यह भी कहा कि "हे सूकर ! तुम सत्वगुण की अधिकता से युक्त हो और तुम्हारे शरीर वा शक्ति का प्रमाण नहीं हो सकता इस कारण तुम इस पृथिवी का उद्धार करो जल से निकालकर ऊपर ले चलो" । यहां प्रथम तो सत्वगुण की अधिकता सूकर में कहना यह शास्त्रों के सिद्धान्त और युक्ति दोनों से विरुद्ध है । अर्थात् सब प्राणीमात्र में से पूरे २ गुण कर्म होने पर विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण में ही सत्वगुण की अधिकता हो सकती है अन्य किसी

प्राणी में वैसी नहीं । इस लिये सूकर को सत्वगुणप्रधान कहना सर्वथा अयुक्त है ।और पृथिवी ने स्वयं यह कैसे कहा कि इस पृथिवी का उद्धार करो । इस कथन से जिस के उद्धार के लिये कहा गया और जिस ने कहा वे दो व्यक्ति प्रतीत होती हैं क्योंकि एक में ऐसा कथन नहीं बन सकता । जब पृथिवी के उद्धार के लिये ही ब्रह्मा ने सूकररूप धारण किया था तो फिर बड़ी लम्बी चौड़ी प्रार्थना की क्या आवश्यकता थी । वह सूकर तो वैसे ही पृथिवी को खोदता वा निकालता ही । और पृथिवी जड़ थी उस ने स्तुति प्रार्थना किस प्रकार की ? । यदि चेतन के काम जड़ से भी हो सकते हैं तो जड़ चेतन में क्या भेद रहा ? । अधिष्ठातृदेवता ने प्रार्थना की तो परमेश्वर से भिन्न कोई अधिष्ठाता सिद्ध नहीं होता फिर किस ने प्रार्थना की क्या परमेश्वर आप ही स्तुति प्रार्थना किया करता था ? । और ये विष्णुपुराणादि के बनाने वा मानने वाले सभी लोग परमेश्वर को सर्वरूप मानते हैं तब क्या वह जल और पृथिवी परमेश्वर नहीं थे ? । यदि थे तो अन्य सूकर का रूप धारण करके पृथिवी को निकालने के उपाय की क्या आवश्यकता थी ? । क्या इन लोगों को थोड़ा भी विचार वा संकोच नहीं हुआ जो विना विचारे उन्मत्त के समान जो मन में आया ऊटपटांग लिख २ धर गये ॥

आगे देखिये विष्णुपुराण क्या अन्य भी सभी पुराणों में यह एक बड़ा दोष भरा है कि एक २ बात पर अनेक वार पुनरुक्त दोष और बार २ कहने वाले की ओर से प्रतिज्ञा की गयी हैं कि मैं कहता हूं तुम चित्त लगा समाहित हो कर सुनो । जिस विषय का प्रश्न एक बार हो चुका उस विषय में फिर २ कुछ२ प्रकारान्तर से प्रश्न और उत्तर की प्रतिज्ञा दिखाने से इन पौराणिक लोगों का यह आशय झलकता है कि मूर्ख श्रोता लोगों को बीच २ ऐसी बातें कह कर कथा करते समय रिझाते जाना क्योंकि इन पुराणों के बनाने वालों का मुख्य आशय यही था कि इन को कथा सुना २ कर अपनी जीविका चलानी चाहिये । इसी कारण धर्म अधर्म सत्य असत्य वा सम्भव असम्भव का विचार बनाने वालों ने नहीं किया । और ये पुराण ऐसे समय में बनाये गये जब प्रायः मूर्खमण्डली बढ़ी और धर्माधर्म सत्यासत्य वा सम्भव असम्भव के शोचने समझने वाले प्रायः लोग नहीं रहे थे । संसार में जो मनुष्य धन की प्राप्ति को

तथा काम सम्बन्धी सुखभोग को सर्वोपरि समझ लेते हैं उन के सामने धर्म और सत्य कभी नहीं ठहर सकता इसी लिये धर्मशास्त्र वालों ने सिद्धान्त किया है कि " अर्थ नाम धन की प्राप्ति और कामभोग में जो लिप्त नहीं हैं उन्हीं के लिये धर्मज्ञान का उपदेश किया गया है " सो यह सिद्धान्त बहुत दृढ़ है। धर्मानुकूल धनोपार्जन और कामभोग तो करना ही चाहिये क्योंकि इस के विना लोकयात्रा भी सिद्ध नहीं होती।

आगे अंश १ अ० ५ में सृष्टि के प्रसंग में विष्णुपु० कर्त्ता ने लिखा है—

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा।
अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः॥
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

सृष्टि की चिन्ता करते हुए उस ब्रह्मा के सम्बन्ध से पूर्वकल्पों के तुल्य बुद्धि जिस के पूर्व नहीं अर्थात् जिस की रचना में बुद्धि नहीं लगायी गयी वा विचार नहीं किया गया ऐसी अन्धकाररूप अविद्या उत्पन्न हुई उस के तमः, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्ध ये पांच नाम हुए। इन सब को महात्मा ब्रह्मा ने विना विचारे रचा।

समीक्षक—सृष्टि के प्रसंग में सब शास्त्रकारों और विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि "ईक्षणपूर्विकासृष्टिः" परमेश्वर ने जगत् की रचना करने से पूर्व ईक्षण अर्थात् बनाने के प्रकार नियम और प्रयोजनों का अच्छे प्रकार आन्दोलन किया कि अमुक २ पदार्थों को अमुक २ प्रकार के रूप वाले अमुक २ नियमों के साथ अमुक २ प्रयोजनों की सिद्धि के लिये बनाना चाहिये ऐसा विचार दृढ़ करके पीछे उसी के अनुसार संसार के सब पदार्थों को परमेश्वर ने बनाया। इस विषय पर उपनिषदों में प्रायः ऐसा लेख मिलता है कि " स ऐक्षतेमाः प्रजाः सृजेय" इत्यादि—उस ने चिन्तन किया कि इन लोकों वा प्रजाओं को मैं उत्पन्न करूं। इसी के अनुसार वेदान्तसूत्रों में भी लिखा है कि "ईक्षतेर्नाशब्दम्" परमेश्वर ने विचारपूर्वक जगत् को बनाया। लोक में इस विषय के अनेक दृष्टान्त मिलेंगे कि जब कोई कुम्हार आदि भी घट आदि को बनाना चाहता है तो पहिले उस घटादि वस्तु की बनावट अपने चित्त में जमा लेता है कि

इस २ प्रकार वा रूप वाला घटादि मुझ को बनाना है। यही रीति सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने चला कर वेदद्वारा मनुष्यों में प्रचरित कर दी। अब शोचिये कि विष्णुपुराण वाले का यह कहना कि अबुद्धिपूर्वक तमोरूप अविद्या को पहिले बनाया। वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध हुआ वा नहीं ?। कदाचित् इस का आशय यह कोई कहे कि बुद्धिरहित अविद्या का विशेषण है तो अविद्या वा अन्धकार का नाम ही ऐसा है कि जिस में ज्ञान वा प्रकाश का न होना उस के नाम से ही समझ लिया जाता है। उस के लिये अबुद्धिपूर्वक शब्द कहना व्यर्थ और पुनरुक्त है। तथा मूल और टीका के अनुसार भी यह अर्थ ठीक नहीं दीखता। इस कारण विष्णुपुराण वाले का लेख अयुक्त है। और सृष्टि के आरम्भ में विष्णुपुराण वाले ने सब से पहिले जो अन्धकार वा अविद्या की उत्पत्ति दिखायी यह भी शास्त्रों से विरुद्ध है। क्योंकि प्रलय समय में अविद्यान्धकार की विशेष प्रवृत्ति सब ने मानी है। इसी लिये विद्वान् लोग नैत्यिकरात्रि को प्रलय का दृष्टान्त मानते और दिन को संसार की स्थिति का उदाहरण बतलाते वा मानते हैं। इसी विचार के अनुसार प्रातःकाल का समय सृष्टि रचना के समय का दृष्टान्त है कि जिस समय प्रकाश के प्रकट होने अन्धकार, तमोगुण, अविद्या, निद्रादि सब भाग जाते हैं और प्रत्येक प्राणी अपने २ कर्त्तव्य उद्योग वा ईश्वरोपासनादि शुभकर्मों में लग जाते हैं। इसी प्रसङ्ग में मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में लिखा है कि "महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः" पृथिव्यादि महाभूतों में आने वाला तेज वा प्रकाश जिस में विद्यमान है ऐसा अन्धकार को दूर वा नष्ट करने वाला प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुआ। अर्थात् सृष्टिरचना के सब कामों में से पहिले प्रकाश की उत्पत्ति और अन्धकार का नाश होता है। इत्यादि विचार वा सत्यशास्त्रों के सिद्धान्त से विरुद्ध विष्णुपुराण वाले का लेख है कि पहिले अन्धकार तमोरूप वा अविद्या उत्पन्न हुई। अरे भाई ! तुम को शोचना चाहिये था कि प्रलय के समय अविद्या वा तमोरूप अन्धकार तो विद्यमान ही था फिर वर्त्तमान वस्तु की उत्पत्ति ही क्या होती ? क्या कोई कह सकता है कि प्रातःकाल होते ही पहिले अन्धकार उत्पन्न हुआ ?। इसी प्रकार विष्णुपुराण वाले का कथन असङ्गत है। इस पञ्चमाध्याय भर में सृष्टिप्रकरण का बहुत वर्णन है जिस में वेदादिशास्त्रों से अनेक अंशों का विरोध है। मैं प्रत्येक

गत अं० ९।१० पृ० १६४ से आगे ऋग्वेद के १० मण्डल का अर्थ।

भा०—सूर्यरूपस्याग्नेः शोषणगुणयुक्ताः किरणा वायुगुणानां साहाय्यमुपलभ्य मेघमण्डलं गर्जयन् वृष्टिहेतुका जायन्ते। वृष्टिजलं च भूमौ निपात्य सर्वेषां सुखं सम्पादयन्ति। एतेन सूर्यस्य महत्कार्यसाधकत्वं व्याख्यातं भवति ॥६॥

भाषार्थः—(जेहमानस्य) अपनी परिधि में घूमने का स्वभाव रखने वाले (ददृशानपवेः) देखने योग्य है विद्युत् आदि रूप वज्र जिस का ऐसे (अस्य) इस सूर्यरूप अग्नि के (शुष्मासः) सुखाने गुण वाले (नियुद्भिः) वायुवेगों के साथ वर्त्तमान किरण (स्वनयन्) मेघ आदि में गर्जनरूप शब्द करने वाले होते हैं। तथा (देवतमः) अत्यन्त प्रकाशमान वा प्रकाशस्वरूप (विभ्वा) अपने शक्तिरूप प्रकाश से व्याप्त (यः) जो (अरतिः) सुख हेतु पदार्थों को प्राप्त कराने वाला (रेभद्भिः) शब्द होने के कारण (प्रत्नेभिः) सनातन (रुशद्भिः) किरणरूप अपने तेजों के साथ (वि,भाति) अनेक प्रकार से प्रकाशित होता है ॥

भा०—सूर्यरूप अग्नि के सुखाना गुण वाले किरण वायु के गुणों की सहायता लेकर मेघमण्डल को गर्जाते हुए वर्षा के कराने वाले होते हैं। और वर्षा के जल को पृथिवी पर गिरा के सब को सुखी करते हैं। इस कथन से सूर्य बड़े उपयोगी कार्य का साधक है यह सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

सायणः—जिस की ज्वाला वा वज्ररूप शस्त्र जिस का देखने योग्य है ऐसे, हुत सामग्री को ग्रहण कर देवताओं के निकट जाते हुए, अग्नि के अपने, सुखाने वाले, वायुओं से संयुक्त किरण शब्द करते हैं। तथा देवों में मुख्य वा बड़ा देव चलने वाला व्याप्ति शील बड़ा जो अग्नि पुराने श्वेतवर्ण शब्द करते हुए अपने तेजों से विविध प्रकार प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

स आ वक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतिर्युवत्योः। अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैरभस्वद्भीरभस्वाँ एह गम्याः ॥७॥

सः । आ । वक्षि । महि । नः । आ । च । सत्सि । दिवःऽपृथिव्योः । अरतिः । युवत्योः । अग्निः । सुऽतुकः । सुऽतुकेभिः । अश्वैः । रभस्वत्ऽभिः । रभस्वान् । आ । इह । गम्याः ॥ ७ ॥

भ० -(सः) पूर्वोक्तः सूर्यादिरूपोऽग्निः (महि) महत्त्वगुणविशिष्टः सन् (आ,वक्षि) आवहति शुभान् गुणान् जगति समन्तात्प्रापयति । (च) तथा (युवत्योः) मिश्रितयोः (दिवस्पृथिव्योः) सप्रकाशाप्रकाशयोर्लोकयोर्मध्ये (अरतिः) गमनशीलः सूर्याग्निः (नः) अस्मान् मनुष्यादीन् प्राणिनः प्रकाशदानेनान्नादिजीवनहेतुवस्तूनामुत्पादनेन च (आ,सत्सि) आसादयति-सुखेऽवस्थापयति । अन्तर्गतोऽत्र एयर्थः (सुतुकः) सुष्ठु गमनशीलः (रभस्वान्) वेगवान् (अग्निः) सूर्याग्निः (सुतुकेभिः) शोभनगतिभिः (रभस्वद्भिः) वेगयुक्तैः (अश्वैः) किरणाख्यैः (इह) पृथिव्याम् (आ,गम्याः) आगच्छति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययेन मध्यमपुरुषप्रयोगः ॥

भा० -अस्मिन्सूक्ते प्रतिपादितः सूर्याग्निः सर्वत्र स्वस्य प्रकाशप्रदानेनान्यप्रकारेण वा सर्वस्य चराचरस्य स्थितिहेतुर्भवति । तदुपयोगमन्तरा च सर्वस्य प्रलयः सम्भवति ॥७॥

भाषार्थः-(सः) वह पूर्वोक्त सूर्यादि रूप अग्नि (महि) महत्त्वगुण वाला हुआ (आ,वक्षि) जगत् में शुभगुणों को अच्छे प्रकार पहुंचाता है (च) तथा (युवत्योः) मिले हुए (दिवस्पृथिव्योः) प्रकाशयुक्त और प्रकाशरहित लोकों के बीच (अरतिः) गमनशील सूर्यरूप अग्नि (नः) हम मनुष्यादि प्राणियों को प्रकाश देने और जीवन के हेतु वस्तुओं की उत्पत्ति करने से (आ,सत्सि) सुख में अवस्थित करता है (सुतुकः) अच्छा गमनशील (रभस्वान्) वेग वाला (अग्निः) सूर्याग्नि (सुतुकेभिः) सुन्दर गति वाले (रभस्वद्भिः) वेगयुक्त (अश्वैः) किरणों के सहित (इह) इस पृथिवी पर (आ,गम्याः) आता है ॥

भा०—इस सूक्त में प्रतिपादन किया सूर्याग्नि सर्वत्र अपने प्रकाश के पहुंचाने वा अन्य प्रकार से सब चराचर जगत् की उत्पत्ति का हेतु होता है। सूर्य से उपयोग वा सहायता मिले विना सब जगत् का प्रलय होना सम्भव है ॥७॥

सायण:—हे अग्नि वैसे बड़े पूर्वोक्त तुम हमारे यज्ञ में देवताओं को बुलाओ। तथा आपस में मिले हुए वा तरुणावस्था को प्राप्त युवती दो स्त्रियों के तुल्य स्वर्ग और पृथिवी लोक के बीच सूर्यरूप से चलने वाले तुम हमारे यज्ञ में अवस्थित होओ। तथा स्तुतिकर्त्ता वा यज्ञकर्त्ता पुरुषों को सुगमता के साथ साथ सुखपूर्वक प्राप्त होने योग्य वेगवान् अङ्कनादि के गुणों से युक्त तुम सुगम वेग वाले रोहित नामक घोड़ों के साथ इस हमारे यज्ञ में आओ ॥

प्रत इति सप्तर्चस्य चतुर्थसूक्तस्याप्त्यस्त्रित ऋषिः। अग्निर्देवता। १–४ निचृत् त्रिष्टुप्। ५। ६ त्रिष्टुप्। ७ विराट्त्रिष्टुप्छन्दः॥

प्र ते यक्षि प्र त इयर्मि मन्म भुवो यथा वन्द्यो नो हवेषु। धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् ॥ १ ॥

प्र। ते। यक्षि। प्र। ते। इयर्मि। मन्म। भुवः। यथा। वन्द्यः। नः। हवेषु। धन्वन्ऽइव। प्रऽपा। असि। त्वम्। अग्ने। इयक्षवे। पूरवे। प्रत्न। राजन् ॥ १ ॥

अ०—हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमेश्वर! (नः) अस्माकम् (हवेषु) यज्ञेषु सहायतार्थं स्तुतिप्रार्थनादिनाह्वानादिकर्मसु च (यथा, वन्द्यः) येन प्रकारेण स्तोतुं योग्यः (भुवः) भवसि तथा (ते) तुभ्यम् (प्र, यक्षि) प्रकर्षेण-यजनं पूजनं करोमि (ते) तुभ्यम् (मन्म) मननयुक्तं मनः (प्र, इयर्मि) प्रेरयामि। तथा हे (प्रत्न) अनादे सनातन! (राजन्) सर्वस्वामिन् प्रकाशमान ईश्वर! त्वम् (इयक्षवे) यष्टुमिच्छते वेदोक्तां यज्ञादिरूपां भवदाज्ञां पालयितुं प्रवृत्ताय (पूरवे) मनुष्याय (धन्वन्, इव, प्रपा, असि)

यथा निरुदकप्रदेशे प्रपा पिपासितं सुखयति तथा त्वमभीष्टसाधको भवसि ॥

भा०–एकः परमेश्वर एव सर्वमनुष्याणां पूज्योऽस्ति तस्मात् स्वकल्याणमभीप्सता पुरुषेण तस्यैवैकाग्रेण मनसा स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः । स जलाद्यभावेन म्रियमाणमिव स्वस्योपासकं रक्षति तर्पयति–सुखयति च ॥ १ ॥

भाषार्थः–हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप वा प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (नः) हम लोगों के (हवेषु) यज्ञकर्मों में वा स्तुतिप्रार्थनादि द्वारा अपनी सहायता के लिये आप को पुकारनादि कर्मों में (यथा, वन्द्यः) जिस प्रकार आप वन्दना अभिवादन वा नमस्कारादि करने योग्य (भुवः) होते हैं वैसे (ते) आप के लिये (प्र, यक्षि) अच्छे प्रकार यज्ञ वा पूजन अर्थात् आप को प्रसन्न करने के लिये आप की आज्ञा पालनरूपकर्म करता हूं तथा (ते) आप के जानने के लिये (मन्म) विचार युक्त मन को (प्र,इयर्मि) प्रेरणा करता हूं । तथा हे (प्रत्न) अनादि सनातन ! (राजन्) सब के स्वामी प्रकाशमान ईश्वर ! (त्वम्) आप (इयक्षवे) वेदोक्त यज्ञादिरूप आप के पालने की इच्छा रखते हुए (पूरवे) मनुष्य के लिये (धन्वन्–इव, प्रपा, असि) जैसे जल रहित प्रदेश में प्याऊ प्यासे मनुष्य को प्राण बचा के सुखी करती है वैसे आप अभीष्ट को सिद्ध करने वाले (असि) होते हो ॥

भा०–एक परमेश्वर ही सब मनुष्यों को पूजने योग्य है इस लिये अपना कल्याण चाहते हुए पुरुष को एकाग्रचित्त से उसी की स्तुति प्रार्थना वा उपासना करनी चाहिये वह जलादि के अभाव से मरते हुए को जैसे जल मिलने से जीवन रह जावे वैसे अपने उपासक को रक्षित तृप्त वा सुखी करता है ॥ १ ॥

सायणः–हे अग्नि मैं तुम्हारे लिये होमने योग्य हवि देता तथा मनन योग्य स्तुति करता हूं । सब को नमस्कार करने योग्य देवता जिन में बुलाये जाते हैं उन हमारे यज्ञों में जैसे तुम समीपस्थ होते हो वैसे हवि देता और स्तुति करता हूं । हे सब जगत् के स्वामी पुराने अग्नि सो तुम यज्ञ करना चाहते हुए यजमान मनुष्य के लिये जैसे निर्जल देश में प्याऊ सुखकारिणी होती वैसे तुम धन दे कर सुख दाता होते हो ॥ १ ॥

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ ! । दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महांश्चरसि रोचनेन ॥२॥

यम् । त्वा । जनासः । अभि । सम्ऽचरन्ति । गावः । उष्णम्ऽइव । व्रजम् । यविष्ठ । दूतः । देवानाम् । असि । मर्त्यानाम् । अन्तः । महान् । चरसि । रोचनेन ॥ २ ॥

अ०-हे (यविष्ठ) अत्यन्तबलयुक्त परमेश्वर ! (गावः, उष्णमिव, व्रजम्) यथा शीतेन पीडिता गावो घर्मादिप्रसारेणोष्णं व्रजं गोष्ठमुत्कण्ठया प्राप्य सेवन्ते तथा (यम्, त्वा) त्वाम् (जनासः) दुःखार्त्ता आस्तिका मननशीला मनुष्याः (अभि, सम्, चरन्ति) दुःखनिवृत्तये सर्वतः सेवन्ते । त्वम् (दूतः) दुष्टानां परितापको दुःखफलप्रदः (असि) (महान्) सर्वोपरि महत्त्वविशिष्टस्त्वम् (देवानाम्) धर्मात्मनां विदुषाम् (मर्त्यानाम्) मरणस्वभावानां मनुष्याणाम् (अन्तः) मध्ये मनस्यन्तःकरणे (रोचनेन) शुभकर्मसु रुचिप्रदेन गुणेन साकम् (चरसि) विचरसि ॥

भा०-महतां दुःखानां निवृत्तये मनुष्यैः परमेश्वरस्यैव शरणं ग्राह्यम् । यतः सएव दुष्कर्मिणां विनाशं सुकृतिनां सज्जनधर्मात्मनां च परित्राणं करोति । यद्यप्यनन्तो व्यापक ईश्वरः सर्वत्र विचरति तथापि ध्यायिनां विद्वज्जनानां शुद्धान्तःकरणे विशेषतया शुद्धदर्पणे रूपमिव प्रकाशितो भवति ॥२॥

भाषार्थः-हे (यविष्ठ) अत्यन्त बलयुक्त परमेश्वर ! (गावः, उष्णमिव, व्रजम्) जैसे शीत से पीड़ित गौएं घाम आदि के फैलने से गर्माये हुए गोहरे को उत्कण्ठा से प्राप्त होके सेवन करती हैं वैसे (यम्, त्वा) जिन तुम को (जनासः)

आस्तिक मननशील दुःख से पीड़ित मनुष्य (अभि, सम्, चरन्ति) दुःख निवृत्ति के लिये सब ओर से सेवन करते हैं। तुम (दूतः) दुष्ट पापीजनों को दुःख-फल से पीड़ित करने वाले (असि) हो। तथा (महान्) सब से अधिक बड़े तुम (देवानाम्) धर्मात्मा विद्वान् (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में (रोचनेन) शुभ कर्मों में रुचिकारक गुण के साथ (चरसि) विचरते हो॥

भा०—बड़े २ दुःखों के निवारण के लिये मनुष्यों को परमेश्वर का ही शरण लेना चाहिये क्योंकि वही नीचकर्म करने वाले पापी मनुष्यों का विनाश और शुभकर्मसेवी सज्जन धर्मात्माओं की रक्षा करता है। यद्यपि ईश्वर सब में व्याप्त होने से अनन्त है और सब में समान ही विचरता है। तो भी ध्यान करने वाले विद्वान् पुरुषों के शुद्ध अन्तःकरण में विशेष कर शुद्धदर्पण में रूप दीख पड़ने के समान विशेष प्रकाशित होता है॥ २॥

सायणः—हे अत्यन्त उत्तम अग्नि जिन तुम को यजमान लोग फलप्राप्ति के लिये जैसे शीत से दुःखित गौयें शीत से हुए दुःख को दूर करने के लिये शीतरहित उष्ण गोहरे का सब ओर से प्राप्त होती हैं वैसे सब ओर से सेवन करते हैं। तो तुम इन्द्रादि देवताओं और मनुष्यों के होम किये वस्तु को पहुंचाने के कारण दूत हो। तिस से बड़े तुम स्वर्ग और पृथिवी के बीच होम किये हुए सामान को लेकर रोचक अन्तरिक्ष लोक से जाते हो अर्थात् आकाश मार्ग से हविष्य ले जाते हो।

शिशुं न त्वा जेन्यं वर्द्धयन्ती माता बिभर्त्ति सचनस्यमाना। धनोरधि प्रवता यासि हर्यन् जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः॥ ३॥

शिशुम्। न। त्वा। जेन्यम्। वर्धयन्ती। माता। बिभर्त्ति। सचनस्यमाना। धनोः। अधि। प्रऽवता। यासि। हर्यन्। जिगीषसे। पशुःऽइव। अवऽसृष्टः॥

अ०—हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (न) यथा (सचनस्यमाना) प्रेम्णा सम्पर्कमिच्छन्ती [षचसमवाय इत्यस्माद्धातोरौणादिकोऽनस् प्रत्ययस्ततो नामधातौ क्यङन्ताच्छानचि रूपम्] (माता)

सुतं सत्कुर्वन्ती जननी (जेन्यम्) जयशीलभाविनम् (शिशुम्) बालम् (वर्धयन्ती) दुग्धादिपानपरिचर्यया पोषयन्ती (बिभर्त्ति) धारयति तथा (त्वा) त्वाम्-विद्या गुणप्रचारेण वर्धयन्ती बिभर्त्ति। (हर्यन्) भक्तजनं कामयमानस्त्वम् (धनोः) विद्याधनं धारयतः पुरुषस्य समीपे (प्रवता) सरलमार्गेण (अधि, यासि) आधिक्येन प्राप्तो भवसि (पशुरिव, अवसृष्टः) यथा बन्धनान्मुक्तः पशुः स्वातन्त्र्येण सद्यो गमनमिच्छति। तथैव भक्तिविशेषेण प्रसादितस्त्वं भक्तोद्धाराय (जिगीषसे) सद्यस्तं प्राप्तुमिच्छसि ॥

भा०-विद्ययैव परमेश्वरस्य पुष्टिर्भवति। विद्या तस्य ज्ञानं जगति प्रचारयति वर्द्धयति च विद्ययैव जिज्ञासवो जनास्तस्येश्वरस्य प्राप्तिमिच्छन्ति कुर्वन्ति च। अतः स्वकल्याणमभीप्सुना परमात्मज्ञानोद्देशेन विद्याऽध्येतव्या। विदुषश्च काठिन्यरहितमार्गेणैव परमेश्वरस्य प्राप्तिः सुगमा भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थः—हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (न) जैसे (सचनस्यमाना) प्रेम से लिपटाना चाहती हुई (माता) सन्तान का पूजन सत्कार करती हुई माता (जेन्यम्) विजयशील होने वाले (शिशुम्) बालक को (वर्धयन्ती) दुग्ध पिलाना आदि सेवा से पुष्ट करती हुई (बिभर्त्ति) धारण करती है। तथा-वैसे (त्वा) तुम को गुणों के प्रचार से बढ़ाती हुई विद्या पुष्ट करती है। तथा (हर्यन्) भक्तपुरुष को चाहते हुए तुम (धनोः) विद्यारूप धन के धारण करने वाले पुरुष के समीप (प्रवता) सरलमार्ग से (अधि, यासि) अधिकता के साथ प्राप्त होते हो (पशुरिव, अवसृष्टः) जैसे बंधे से खोला हुआ पशु स्वतन्त्रता से शीघ्र जाना चाहता है वैसे ही विशेषभक्ति से प्रसन्न किये गये तुम भक्तजन के उद्धार के लिये (जिगीषसे) शीघ्र उस को प्राप्त होना चाहते हो ॥

भा०-विद्या से ही परमेश्वर के होने की पुष्टि होती है। विद्या उस के ज्ञान का प्रचार जगत् में करती वा बढ़ाती है विद्या से ही जिज्ञासु मनुष्य उस

ईश्वर की प्राप्ति की इच्छा करते वा प्राप्ति करते हैं। इस से अपना कल्याण चाहते हुए मनुष्य को मुख्यकर परमात्मा का ज्ञान होने के लिये ही विद्या पढ़नी चाहिये। क्योंकि विद्वान् पुरुष को कठिनता रहित सरलमार्ग से ही परमेश्वर की प्राप्ति सुगम हो जाती है ॥३॥

सायण:—हे अग्नि जैसे पुत्र को पुष्ट करती हुई माता धारण करती है वैसे जयशील तुम को मेल करना चाहती हुई पृथिवी धारण करती है। सो तुम कामना करते हुए उस लोक में अन्तरिक्ष के ऊपर नीचे मार्ग से जाते हो। अर्थात् आकाशद्वारा यज्ञ के प्रति आते हो। और जैसे खुला हुआ पशु गोहरे में चला आता वैसे यज्ञ करने वालों ने विसर्जन किये हविष्य पदार्थ लेकर देवताओं के प्रति जाने की इच्छा करते हो ॥

मूरा अमूर ! न वयं चिकित्वो ! महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से । शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन् रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन् ॥४॥

मूराः । अमूर । न । वयम् । चिकित्वः । महिऽत्वम् । अग्ने । त्वम् । अङ्ग । वित्से । वव्रिः । चरति । जिह्वया । अदन् । रेरिह्यते । युवतिम् । विश्पतिः । सन् ॥४॥

भा०—हे (अमूर) अमूढमोहान्धकाराज्ञानात्पृथग्भूत (चिकित्वः) चैतन्य स्वरूप ! (अग्ने) प्रकाशप्रद प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (मूराः, वयम्) मूढा मोहयुक्ता अल्पज्ञा वयं मनुष्याः (न, महित्वम्) त्वदीयं महिमानं न जानीमः किन्तु (त्वम्, अङ्ग) त्वमेव स्वस्य महत्त्वम् (वित्से) जानीषे त्वत्तोऽन्यः कश्चिदपि तव माहात्म्यं वेदितुं नार्हति। सः (विश्पतिः, सन्) विशां प्रजानां पतिः स्वामी सन् (जिह्वया) सर्वस्य जगतो लयकरणशक्त्या (अदन्) प्रलयावसरे भक्षयन्निव स्वस्मिन् लीनं कुर्वन् (युवतिम्) मिश्रणामिश्रणकर्त्रीं संयोगविभागधर्मवतीं पृथिवीम् (रेरिह्यते) लेलिह्यते पुनःपुनर्जिह्वया

निगलतीव लीनां करोति सः (वव्रिः) स्वीकर्तुं योग्य ईश्वरः (शये) सर्वस्य हृदयाशयेऽन्तर्यामितया (चरति) विचरति ॥

भा०—परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमाननन्तगुणकर्मस्वभाववान् तस्य याथातथ्येन सर्वं महत्त्वमल्पज्ञो मिथ्याज्ञानरतो मनुष्यो ज्ञातुं न शक्नोति किन्तु स स्वयमेव स्वस्य महत्त्वं जानाति । स सर्वस्याधिष्ठाता सन्नस्य जगतः सर्गस्थितिलयान्कुर्वन्सर्वस्यान्तःकरणेऽन्तर्यामितया विचरति ॥४॥

भावार्थः—हे (अमूर) मोह अन्धकार वा अज्ञान से पृथक् वर्त्तमान (चिकित्वः) चेतनस्वरूप (अग्ने) प्रकाश के देने वाले वा प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! (मूराः,वयम्) मोह वा अज्ञानयुक्त हम अल्पज्ञ अल्पशक्ति वाले मनुष्य आप के (महित्वम्) महिमा को (न) नहीं जानते किन्तु (त्वम्, अङ्ग) तुम ही अपने महत्त्व को (वित्से) जानते हो। तुम से भिन्न अन्य कोई भी तुम्हारे माहात्म्य को नहीं जान सकता। सो (विश्पतिः,सन्) प्रजाओं का स्वामी हुआ ईश्वर (जिह्वया) प्रलयसमय में सब जगत् को ग्रहण वा अपने में लीन करने की शक्ति से (अदन्) भक्षण करते हुए के समान अपने में सब को लीन करता हुआ (युवतिम्) मिलाने वा पृथक् करने रूप संयोग विभाग गुण वाली पृथिवी को (रेरिह्यते) जिह्वा से वार २ निगलते हुए के तुल्य लय करता है। तथा वह (वव्रिः) स्वीकार करने योग्यईश्वर (शये) सब प्राणियों के हृदयरूप अवकाश में अन्तर्यामिरूप से (चरति) विचरता है ॥

भा०—परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और अनन्तगुणकर्मस्वभाव वाला है मिथ्याज्ञान में लिप्त अल्पज्ञ मनुष्य यथार्थरूप से ठीक २ उस की सम्पूर्ण महिमा को नहीं जान सकता किन्तु वह एक आप ही अपने माहात्म्य को जानता है। वह सब का अधिष्ठाता स्वामी होकर इस जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता हुआ सब के अन्तःकरण में अन्तर्यामिरूप से विचरता है ॥४॥

सायणः—हे मूढता रहित और इसी से चेतनतायुक्त अग्नि! मोहयुक्त हुए हम लोग तुम्हारे माहात्म्य को नहीं जानते किन्तु हे अग्नि तुम्ही अपने माहात्म्य को जानते हो तुम से भिन्न अन्य कौन जान सकता है? ओषधियों

के मङ्ग में जीर्ण हुआ अग्नि सोता वा स्थिर होता है । अथवा आहवनीय नामक रूप से रूपवान् हुआ अग्नि सोता वा विचरता है । इस के अनन्तर लपटरूप जीभ से होम किये गये वस्तु को खाता हुआ विचरता है । और प्रजाओं का स्वामी हुआ अग्नि अपने मिलाने वाली आहुति का बढ़ी हुई लपटरूप जीभ से वार २ स्वाद लेता है । अथवा वह अग्नि जीर्ण हुई ओषधियां जिस में ऐसी तरुण पृथिवी का वार २ स्वाद लेता है ॥

कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः । अस्नातापो वृषभो न प्र वेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः ॥ ५ ॥

कूऽचित् । जायते । सनयासु । नव्यः । वने । तस्थौ । पलितः । धूमऽकेतुः । अस्नाता । आपः । वृषभः । न । प्र । वेति । सऽचेतसः । यम् । प्रऽनयन्त । मर्ताः ॥ ५ ॥

अ०—(सचेतसः) दुष्कृतजन्यवैषम्यविरहत्वात्समानं स्वस्थमेकाग्रं चेतो येषां ते सचेतसः शुद्धान्तःकरणाः (मर्ताः) मरणधर्माणो मनुष्याः (यम्) (प्रणयन्त) स्तुतिप्रार्थनोपासनादिपरिचर्यया प्रीणयन्ति प्रसादयन्ति सः (सनयासु) नयेन—नम्रतया सह वर्त्तमानासु यद्वा सनिं भक्तिं कुर्वाणासु प्रजासु (कूचित्) क्वचित् (नव्यः) नोतुं स्तोतुं योग्यः । नु स्तुतौ (जायते) भवति न तु सर्वत्रेत्यर्थः । (धूमकेतुः) धूमस्येव कृष्णस्य निकृष्टस्य पापकर्मणः केतुर्ज्ञाताऽतएव (पलितः) कर्मानुसारेण शुभाशुभफलदाता परमेश्वरः (वने) प्राणिभिः सेव्ये ब्रह्माण्डे (तस्थौ) तिष्ठत्यवस्थितो भवति तथा (वृषभः,न) वृषभइव शौचकर्मान्तरेणैव (अस्नाता) स्नानादिपरिकर्मणा विना शुद्धिनिरपेक्षः परमेश्वरः (आपः) कर्माणि

सुपां सुलुक्त्यबेन शसः स्थानेऽत्र जस् (प्र,वेति) सृजति यद्वा जगतउत्पादनादीनि कर्माणि करोति ॥

भा०—सर्वसाक्षी सर्वस्थः शुभाशुभकर्मफलप्रद ईश्वरः केनचिदेव भाग्यशालिना जनेन कदाचित्स्मर्यते स्तूयते वा न तु सर्वदा सर्वसाधारणैरिति । स च शोधनकर्मणा विनैव सदा शुद्धो योगिजनैः सेव्यो जगदीश्वरो जगदुत्पादनादीनि स्वस्य कर्माणि करोति ॥५॥

भावार्थः–(सचेतसः) दुष्ट पाप कर्मों से हुई जो मलीनतारूप विषमता उस से रहित होने के कारण शुद्ध एकाग्र सम जिन का चित्त है ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले (मर्त्ताः) मरणशील मनुष्य (यम्) जिस शुद्ध को (प्रणयन्त) स्तुति-प्रार्थना और उपासनादि सेवा से तृप्त वा प्रसन्न करते हैं वह (सनयासु) नम्रता के सहित वर्त्तमान वा भक्ति करती हुई प्रजाओं में (कुवित्) कहीं (नव्यः) स्तुति करने योग्य (जायते) होता है किन्तु सर्वत्र नहीं । तथा (धूमकेतुः) धूम के तुल्य काले नीच पापकर्म का जानने वाला इसी कारण (पलितः) कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल देने वाला परमेश्वर (वने) प्राणियों को सेवन करने योग्य ब्रह्माण्ड में (तस्थौ) अवस्थित होता है तथा (वृषभः, न) बैल आदि के तुल्य जल आदि से शुद्धि किये विना ही (अस्नाता) स्नानादि कर्म की अपेक्षा को छोड़ कर स्वयं सदा शुद्ध परमेश्वर (आपः) कर्मों को उत्पन्न करता वा (प्र, वेति) जगत् की उत्पत्ति आदि कर्मों को करता है ॥५॥

भा०–सब का साक्षी सब में अवस्थित शुभ अशुभ कर्मों के फलों के देने वाले ईश्वर का कोई भाग्यशाली मनुष्य कभी स्मरण वा स्तुति आदि कर्म करता है किन्तु सब काल में सब कोई उस का स्मरण आदि नहीं करता । और वह शुद्धि कर्म किये विना ही सदा शुद्ध योगी पुरुष को सेवन करने योग्य परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति आदि अपने कर्मों को करता है ॥

भावार्थः–स्तुति करने योग्य वा अति नवीन अग्नि किसी प्रदेश में अर्थात् पुराणी जीर्ण अरणी आदि ओषधियों में प्रकट होता है । तथा पालन करने

वाला श्वेतवर्ण धूम जिस की ध्वजा वा पताका, जानने का चिह्न है ऐसा अग्नि बन में स्थित होता है। अथवा बन नाम मेघरूप जल में बिजुली के रूप से ठहरता है स्थान की अपेक्षा न रखने वाला सर्वदा शुद्ध वह अग्नि शान्त होने के लिये जलों को प्राप्त होता है। इस में दृष्टान्त यह है कि जैसे बैल भूख प्यासरूप तृष्णा की शान्ति के लिये वनस्थ जलों को प्राप्त होता है। तथा एक से मन वाले वा एकसी बुद्धि वाले ऋत्विज् मनुष्य जिस अग्नि को हविष्य वस्तुओं से तृप्त करते हैं ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। इयं ते अग्ने! नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः ॥६॥

तनूत्यजाऽइव। तस्करा। वनर्गू इति। रशनाभिः। दशऽभिः। अभि। अधीताम्। इयम्। ते। अग्ने। नव्यसी। मनीषा। युक्ष्व। रथम्। न। शुचयत्ऽभिः। अङ्गैः ॥६॥

आ०—यथा(वनर्गू) वनेषु निर्जनप्रदेशेषु स्वकार्यसिद्ध्यर्थं गमनशीलौ (तनूत्यजेव) स्तेयकर्मणि शरीरं त्यक्तुं कृतनिश्चयौ प्रगल्भौ साहसेन वर्त्तमानौ (तस्करा) द्वौ चोरौ (दशभिः, रशनाभिः) दशसङ्ख्याकाभीरश्मिभिः (अभि) सर्वतो बद्ध्वा (अधीताम्) स्थापयतः। अत्र रश्मीनां दशसङ्ख्यात्वप्रदर्शनं दृढतया बद्ध्वा स्थापयतइति ज्ञापनार्थम् [अधीतामित्यत्र लुङः प्रथमपुरुषस्य द्विवचने सिचो लुकि छन्दस्युभयथेति तस आर्द्धधातुकत्वाद् घुमास्थेतीत्वम्] तथा हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (ते) तुभ्यम् (नव्यसी) अतिशयेन नवीना (मनीषा) मनसएकाग्रतासम्पादिनी स्तुतिः प्रार्थनोपासना वाऽस्माभिः प्रयुज्यते, त्वम् (शुचयद्भिः) शुद्धैर्ज्ञानप्रकाशस्वरूपैः (अङ्गैः) स्वगुणरूपैरवयवैः शुद्धे

निर्जनप्रदेशेऽस्मान् स्थापय येन चेतसश्चाञ्चल्यं न स्यात् । तथा (रथम्,न) रथमिवास्मान् (युक्ष्व) शुभकर्मसु योजय ॥

भा०-श्रद्धया भक्त्या च शुद्धएकान्तप्रदेशे कृतयोपासनयैव मनुष्यस्य चित्तं शुद्धं प्रसन्नमेकाग्रं च सम्पद्यते । अतः स्वाभीष्टं सिषाधयिषुणा पुरुषेण यथाविधीश्वरप्रणिधानं कार्यम् । तेनाखिलदुःखानां निवृत्तिः सम्भवति नान्यथा ॥६॥

भाषार्थः-जैसे (वनर्गू) निर्जनप्रदेशों में अपने कार्यसिद्धि के लिये भ्रमण करने वाले (तनूत्यजेव) चोरी कर्म के करने में शरीर को छोड़ देना तक जिन्हों ने निश्चय कर लिया है ऐसे विना विचारे निर्भयता के साथ प्रवृत्त ढीठ (तस्करा) दो चोर (दशभिः,रशनाभिः) दश रस्सियों से (अभि) सब ओर से बांध कर (अधीताम्) किसी को स्थापित करते हैं । दश रस्सियों से बांध कर डालते इस कथन का प्रयोजन यह है कि ऐसी दृढ़ता से बांध कर डालते हैं जिस का छूटना दुस्तर है । तथा वैसे हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप वा प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (ते) तुम्हारे लिये (नव्यसी) अत्यन्त नवीन (मनीषा) मन को एकाग्र करने वाली स्तुति प्रार्थना वा उपासना हम लोग करते हैं । तुम (शुचयद्भिः) शुद्ध ज्ञानस्वरूप वा प्रकाशस्वरूप (अङ्गैः) अपने गुणरूप अवयवों से रोक कर शुद्ध एकान्त निर्जन स्थान में हम लोगों को स्थित करो जिस से चित्त की चञ्चलता न रहे । तथा (रथम्, न) रथ के तुल्य हम को शुभकर्मों में (युक्ष्व) युक्त करो जिस से दुष्ट व्यसनों में हम न फसें ॥

भा०-श्रद्धा और भक्ति के साथ शुद्ध एकान्त स्थान में की हुई उपासना से ही मनुष्य का चित्त शुद्ध प्रसन्न वा एकाग्र होता है । इस कारण अपने अभीष्ट को सिद्ध करने की इच्छा रखते हुए मनुष्य को वेदादि शास्त्रों में कही वा लिखी रीति के अनुसार परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये । जिस से समस्त दुःखों की निवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं ॥ ६ ॥

सायणः-हे अग्नि वन में फिरने वाले चोरी कर्म में मरने का निश्चय जिन्हों ने किया है ऐसे ढीठ दो चोर जैसे मार्ग में चलने वाले को लूटने के लिये रस्सी से बांध और खैंचकर किसी स्थान में डाल देते हैं वैसे हे अग्नि तुम्हारे लिये

अति नवीन स्तुति मैं करता हूं इस को जान कर सब को प्रकाशित करने वाले अपने तेजःस्वरूप अवयवों से सहित अपने स्वरूप को मेरे यज्ञ के प्रति युक्त करो जैसे कि घोड़ों से रथ को जोड़ते हैं वैसे ॥

यहां सायणाचार्य के अर्थ में उपमान उपमेय का सम्बन्ध ठीक नहीं जान पड़ता किन्तु असम्बद्ध (ऊटपटांग) सा प्रतीत होता है ॥

ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चेयं च गीः सदमिद्वर्धनी भूत् । रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वोऽअप्रयुच्छन् ॥ ७ ॥

ब्रह्म । च । ते । जातऽवेदः । नमः । च । इयम् । च । गीः । सदम् । इत् । वर्धनी । भूत् । रक्ष । नः । अग्ने । तनयानि । तोका । रक्ष । उत । नः । तन्वः । अप्रऽयुच्छन् ॥ ७ ॥

अ०—हे (जातवेदः) जातं वेदो धनाद्यैश्वर्यं ज्ञानं वा यस्मात् तत्सम्बुद्धौ परमात्मन् ! (ब्रह्म) वृद्धिमापन्नं मदीयं धनादिकम् (च) तत्सम्बद्धं वस्तु च (नमः) नमस्कारः (च) (ते) तुभ्यं तवाज्ञापालनार्थं त्वत्प्रसादाय वा भवतु (इयम्, गीः, च) प्रत्यक्षे प्रयुज्यमाना त्वदर्था स्तुतिः (सदम्, इत्) सदैव (वर्धनी) अस्माकं विद्याबुद्ध्यादीनां वृद्धिहेतुका (भूत्) भवतु । हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ईश्वर ! (नः) अस्माकम् (तनयानि) पुत्रान् (तोका) तोकानि पौत्रादीनपि (रक्ष) दुःखापत्तिभ्यो रक्षितान् कुरु (उत) अपि (अप्रयुच्छन्) प्रमादमकुर्वन् त्वम् (नः) अस्माकम् (तन्वः) शरीरम् । सावयवत्वापेक्षं बहुवचनं सुब्व्यत्ययेन वा (रक्ष) मरणादिभयाद्रक्षितं कुरु ॥

भा०—मनुष्येण स्वस्य पुत्रकलत्रादीनां च सर्वविधसुखभावाय सदैव प्रमादरहितः सुखस्वरूपोऽन्तर्यामी परमेश्वर एव

प्रार्थनीयः स नमस्कारादिना च प्रीत्यर्थं परिचर्यः । स्वस्य सर्वमन्नधनाद्यैश्वर्यं तदर्थमेव समर्पणीयम् । स एव सर्वस्याधिष्ठाताऽहं च तस्याज्ञया भृत्यवत्कार्यसम्पादने नियुक्तो नाहमस्य सर्वस्य स्वाम्यपितु सएव सर्वस्य स्वामीति मन्यमानो जनोऽभिमानादिदोषै रहितः शुद्धः सुखी भवति ॥७॥

भावार्थः—हे (जातवेदः) वेदस्—नाम धनादि ऐश्वर्य वा ज्ञान जिन से उत्पन्न हुआ है ऐसे परमात्मन् ! (अन्नम्) बढ़ा हुआ मेरा धनादि पदार्थ (च) और धन का सम्बन्धी वस्तु (च) और हमारा नमस्कार (ते) तुम्हारी आज्ञा के पालनार्थ वा तुम्हारी प्रसन्नता के लिये हो (च) और (इयम्, गीः) प्रत्यक्ष में तुम्हारे लिये प्रयोग की हुई स्तुति (सदम्, इत्) सदा ही (वर्धनी) हम लोगों की विद्या बुद्धि को बढ़ाने वाली (भूत्) हो । हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ईश्वर! (नः) हमारे (तनयानि) पुत्रों और (तोका) पौत्र आदि की (रक्ष) दुःख और आपत् से रक्षा करो । (उत) और (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करते हुए तुम (नः) हम धर्मात्मा लोगों के (तन्वः) शरीरों की मरणादि सम्बन्धी भय वा आपत्ति से (रक्ष) रक्षा करो जिस से किसी प्रकार का दुःख न हो ॥

भा०—मनुष्य को उचित है कि अपने को और स्त्री पुत्रादि को सब प्रकार का सुख होने के लिये सदा ही प्रमाद वा भूल से रहित सुखस्वरूप अन्तर्यामी परमेश्वर की ही प्रार्थना करे और उस को नमस्कार आदि से भी प्रसन्न करने के लिये सेवा करे । अपने सब अन्न धनादि ऐश्वर्य को उसी के लिये समर्पण करे क्योंकि वही सब का अधिष्ठाता है और मैं केवल सेवक के तुल्य उस की आज्ञा से धर्मसम्बन्धी कार्यसिद्ध करने के लिये नियत हूं यदि ठीक धर्मानुकूल धनादि से काम न करूंगा तो भृत्य के समान अधिकार से च्युत किया जाऊंगा । मैं इस सब का स्वामी नहीं हूं किन्तु वही एक ईश्वर सब वस्तु का स्वामी है ऐसा मानता हुआ मनुष्य अभिमानादि दोषों से रहित होकर सदा सुखी होता और अन्त में मुक्ति सुख का अधिकारी बनता है ॥७॥

सायणः—हे बुद्धि जिस से उत्पन्न हुई ऐसे अग्नि ! तुम्हारे लिये हमारा दिया हुआ हविष्यरूप अन्न बढ़ाने वाला हो और हमारा किया नमस्कार भी

तुम्हारे तेज को बढ़ावे । और यह इस प्रसन्न की हुई स्तुति सदैव तुम को बढ़ाने वाली हो । इस लिये हे अग्ने ! तुम हमारे पुत्रों और पौत्रों की रक्षा करो और प्रमाद न करते हुए तुम हमारे हाथ पांव आदि शरीर के अवयवों की रक्षा करो ॥ ७ ॥

एकःसमुद्रइति सप्तर्चस्य पञ्चमसूक्तस्य—आप्त्यस्त्रितऋषिः । अग्निर्देवता । १–विराट्त्रिष्टुप् । २–५त्रिष्टुप् । ६।७ । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः ॥

एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा विचष्टे । सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥१॥

एकः । समुद्रः । धरुणः । रयीणाम् । अस्मत् । हृदः । भूरिऽजन्मा । वि । चष्टे । सिषक्ति । ऊधः । निण्योः । उपऽस्थे । उत्सस्य । मध्ये । निऽहितम् । पदम् । वेरिति वेः ॥ १ ॥

भा०–(भूरिजन्मा) भूरि बहुविधमस्य जगतो जन्म जननं यस्मात्सः (रयीणाम्) धनाद्यैश्वर्याणां शोभाप्रकाशानां वा (धरुणः) धारयिता (समुद्रः) सागरवन्महाधारः परमेश्वरः (अस्मत्) अस्माकम् । सुपां सुलुगिति विभक्तेर्लुक् (हृदः) हृदयस्थान्शुभाशुभविचारान्सङ्कल्पविकल्पान् (वि,चष्टे) अन्तर्यामिरूपेण विपश्यति सर्वान् विजानाति । सएव (निण्योः) आकाशपृथिव्योरन्तरिक्षस्य वा (उपस्थे) समीपे (ऊधः) मेघम् (सिसक्ति) सम्बध्नाति नियतं करोति (उत्सस्य) आर्द्रीभावेनोत्पन्नस्यास्य जगतः (मध्ये) (वेः) व्यापकस्य परमात्मनः (पदम्) चिह्नम् (निहितम्) अवस्थितमस्ति ॥

मांसभक्ष्याभक्ष्यविचार ॥

मांसविषय पर विचार करने की आवश्यकता इस लिये समझी गयी कि आज कल इस विषय पर दो पक्ष हो रहे हैं। किन्हीं का विचार वा पक्ष है कि मांस खाना अच्छा है। धर्म से विरुद्ध नहीं वा धर्माधर्म दोनों से पृथक् है। दूसरा पक्ष इस को सर्वथा धर्म से विरुद्ध वा सब अधर्मों का मूल इसी को मानता वा ठहराता है। मैं किसी पक्ष में नहीं हूं केवल इस विषय में वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त और साथ ही में अपना अनुभव धर्म पर आरूढ़ होकर संक्षेप से हठ दुराग्रह से रहित विचारशील मनुष्यों के शोचनार्थ लिखता हूं।

मांस यह शब्द संस्कृत भाषा का है। मन "ज्ञाने" धातु से उणादि स प्रत्यय के परे धातु के अकार को दीर्घ करके इस शब्द को सिद्ध किया है। शरीर के सात धातुओं में से मांस तीसरा धातु है उस के ठीक २ शुद्ध नीरोग होने पर ही मनुष्य सुखी रहता है और विचार वा ज्ञानसम्बन्धिनी सब नाड़ी वा नसें भी मांस में ही लगी होती हैं मांस की स्वस्थदशा में ही विचारशक्ति भी ठीक रहती है इसी से मन धातु का ज्ञान अर्थ भी मांस में घटता है। और इसी अभिप्राय से निरुक्त में लिखा गया है कि " मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा " मनन शक्ति विशेष कर इसी धातु में ठहरती है इस लिये भी उस को मांस कहते हैं। संस्कृत के कोषों में मांस के पर्यायवाचक शब्द लिखे हैं। अमरकोष मनुष्यवर्ग-

पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम् ।

पिशित, तरस, मांस, पलल, क्रव्य, आमिष, ये मांस के छः नाम हैं। यद्यपि ये छः नाम पर्यायवाचक एकार्थ हैं तथापि कुछ २ भेद है। पिशित-शब्द "पिश अवयवे" धातु से बनता है और लोहू लगे हुए कच्चे हाजो मांस को पिशित कहते हैं और काटकर अलग निकाले हुए मांस को ही पिशित कह सकते हैं किन्तु जीवित वा मरे शरीर में लगे हुए मांस का नाम पिशित नहीं हो सकता है। इसी पिशित शब्द के योग से संस्कृत में-

"पिशितं-आचामति-सरुधिरं सद्यो निस्सृतं मांसमाममेव भक्षयति स पिशाचः प्राणी--पृषोदरादित्वात्सिद्धिः,,

पिशाच शब्द बनाया है कि कच्चे रुधिरसहित जो किसी प्राणी के मांस को खाजावे वह पिशाच है। एक पलल शब्द मांस का वाचक है इस पर मेदिनी कोष में लिखा है कि-

पललं तिलचूर्णे च पङ्के मांसे नपुंसकम् ॥

पलल शब्द तिलों के चूर्ण, कीच, और मांस इन तीन वस्तुओं का वाचक आता है। क्रव्य नाम कच्चे मांस का है। और इसी कारण क्रव्य नाम कच्चे मांस को खाने वाले राक्षस का वा पक्षी का क्रव्यात् नाम होता है। आमिष शब्द पर मेदिनी कोष में लिखा है कि-

आकर्षणेऽपि पुंसि स्यादामिषं पुन्नपुंसकम् ।
भोग्यवस्तुनि सम्भोगेऽप्युत्कोचे पललेऽपि च ॥

आकर्षण, भोग्यवस्तु, सम्भोग, घूंस और मांस का नाम आमिष है। इस से पाठक महाशय विचार सकते हैं कि जहां २ खाने अर्थ में पलल वा आमिष शब्द आता है वहां २ मांस ही लिया जाय यह नियम नहीं हो सकता क्योंकि तिल के चूर्ण और भोग्यवस्तुओं का नाम भी है। यदि प्रकरण से विरुद्ध न हो तो उस अर्थ का लेना भी अनुचित नहीं है ॥

मांस का प्रकरण वैद्यकशास्त्र में अधिक आता है। वहां इस के खाने के अनेक प्रकार के गुण भी दिखाये हैं अर्थात् दोषों की अपेक्षा गुण अधिक लिखे हैं परन्तु धर्माधर्म का विवेचन करना वैद्यकशास्त्र का विषय नहीं है। जैसे चोरी करके वा डाका मार कर लाया हुआ अन्नादि भी खाने से क्षुधा की निवृत्ति आदि गुण ही करेगा और उससे भी रस रक्त आदि धातु शरीर में बनेंगे ही। चोरी का वस्त्र भी ओढ़ने पहनने से शीतादि को रोकेगा ही परन्तु यह धर्म से विरुद्ध है। वैद्यकशास्त्र का यही काम है कि जिस पदार्थ में जैसा गुण हो उस को दिखावे। यद्यपि कहीं २ वैद्यक और धर्मशास्त्र दोनों का मेल भी होजाता है तथापि इनका विषय भिन्न २ है। सब शास्त्रों का सिद्धान्त है कि तीन प्रकार के विषय होते हैं। एक कर्त्तव्य कि जिन के लिये आज्ञा दीजाती है कि यह काम करना चाहिये। द्वितीय निषिद्ध कि इस काम को न करना चाहिये और तीसरे कर्म अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहाते हैं कि जिन के करने की आज्ञा भी नहीं और जिन का निषेध भी नहीं किया गया। उन अशिष्टाऽप्रतिषिद्ध कर्मों के उदाहरण शास्त्रकारों ने " हिक्कितहसितकण्डूयितानि " दिखाये हैं हिचकी लेना, हँसना, खुजलाना साधारण देखना सुनना हाथ पांव चलाना आदि जिन के करने न करने से अपनी वा अन्य किसी की हानि नहीं उन को चाहे

कोई करे वा न करे । अथवा जिस प्रकार चाहे करे ऐसे काम धर्म अधर्म दोनों से अलग माने जाते हैं । और इन हिचकी लेना छींकना हकारना आदि साधारण कामों से भी जहां किसी को किसी प्रकार हानि वा लाभ होगा वहां ये भी धर्माधर्म के अन्तर्गत माने जा सकते हैं । किन्हीं लोगों का यही विचार हो कि मांसभक्षण भी धर्माधर्म दोनों से पृथक् है तो ठीक नहीं क्योंकि जिन प्राणियों का मांसभक्षण किया जायगा उन को स्पष्ट ही बड़ी हानि है अर्थात् मांस खाने वाला उन का जीवन ही जब अपने स्वार्थ के लिये लेलेता है तो इस से और बड़ी हानि क्या होगी ? । इस लिये मांस खाना अशिष्टाप्रतिषिद्ध अर्थात् धर्माधर्म से पृथक् नहीं है । किन्तु अधर्म के ही अन्तर्गत है । यद्यपि मांसभक्षणविषय कहीं धर्मशास्त्र में सिद्धानुवाद परक भी लिखा है कि अनेक प्राणी मांस खाया ही करते हैं किन्हीं जीवों का स्वभाव ही मांस खाने का है । तथापि यह सर्वप्राणियों की प्रवृत्ति देख कर लिखा गया किन्तु केवल मनुष्य के लिये नहीं । मनुष्य में मांसभक्षण स्वाभाविक नहीं है किन्तु सिंहादि अन्य अनेक प्राणियों में मांसभक्षण स्वाभाविक गुण है । उन्हीं के लिये सिद्धानुवाद लिखा है । कदाचित् किसी अंश में मनुष्य के साथ भी सिद्धानुवाद का सम्बन्ध हो तो भी उस से विधान नहीं आ सकता कि मनुष्य को मांस खाना चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में अन्य भी मिथ्याभाषण वा चोरी राग द्वेष काम क्रोध आदि अनेक बुराई हैं जिन को शास्त्रकारों ने सिद्धानुवाद की रीति से कहा है वा लोगों में भी कहने की चाल है कि अमुक २ मिथ्याभाषणादि संसार में होता वा हो रहा है इस का आशय यह कोई नहीं निकाल सकता कि मिथ्याभाषणादि कर्त्तव्य काम है । ये दो बातें भिन्न २ हैं कि मनुष्य को अपने कल्याण के लिये यह करना चाहिये । और यह हो रहा है । प्रेरणारूप वाक्यों का नाम ही वास्तव में धर्मशास्त्र है । इसी कारण वेद भी धर्मशास्त्र कहा वा माना जाता है ।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ॥

प्राणियों के मारे जाने विना मांस कहीं कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता इसी लिये मांस खाना हिंसारूप अधर्म का मूल है ! यदि मांस खाने और हिंसारूप अधर्म से कुछ सम्बन्ध न होता तो कदाचित् मांस खाना अधर्म में न गिना जाता सो ऐसा नहीं है । जिस वस्तु के जगत् में ग्राहक नहीं होते उस को कोई

भी नहीं बनाता न सज्जित करता और न बेंचता है। यदि मांस खाने वाला कोई न हों वा हैं वे भी खाना छोड़ दें तो मांस के व्यापारी लोग भी किन्हीं जीवों को न मारें सब अनर्थ छूट जावें इत्यादि विचार वा युक्तियों से ठीक सिद्ध है कि प्राणियों की हिंसा होने में मांस खाने वाले ही मूल कारण हैं। इस से मांस खाने में हिंसा रूप अधर्म अवश्य है यही वेदों और शास्त्रों का ठीक २ सिद्धान्त पक्ष है।

मांस खाने वाले लोगों का यह भी पक्ष वा सिद्धान्त है कि वेदादि शास्त्रों में मांस खाने की आज्ञा है अर्थात् अनेक स्थलों में मांस खाने का विधान लिखा है कि सो वास्तव में ध्यान देकर कोई शोचे और वेद के साङ्गोपाङ्ग साधनों के साथ वेद की शैली को कोई समझे वेद का तत्वार्थ जिस किसी को भासित हो तो वह पुरुष कदापि न कहेगा कि वेद में मांस खाने का विधान है यह सब भ्रान्ति वेद को यथावत् पढ़ने पढ़ाने और जानने की परिपाटी छूट जाने से होती है। इस में इतना तो हम भी सत्य मानते हैं कि बहुत प्राचीन काल से लोगों को वेद का अभिप्राय समझने में जिस कारण भ्रम होना आरम्भ हुआ था वह कारण उत्तरोत्तर काल बढ़ता ही गया और वह कारण यह था कि मांस आदि शब्द जब लोक में किन्हीं २ निज (खास) अर्थों में रूढ़ि वा योगरूढ अच्छे प्रकार प्रचार पा गये तब उसी प्रकार के संस्कार लोगों के हृदय में दृढ़ बैठ गये फिर उन्हीं संस्कारों के अनुसार वेद के शब्दों का अर्थ पढ़ने पढ़ाने समझने लगे यद्यपि पूर्वज ऋषि लोगों ने वेद का अर्थ जानने के लिये "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इत्यादि विचार कर भी दिये थे कि वेद के शब्दों को विशेष (खास) किसी अर्थ का वाचक मत मानो किन्तु शब्द के अक्षरों से निकलने वाले सामान्य अर्थ में वेद के शब्दों को मानो तथापि वेद के तत्वार्थज्ञ न्यून रह गये तथा साधारण अधकचरे पण्डिताभिमानी मनुष्यों का प्रवाह बल पकड़ गया तभी से वेद का अनर्थ होने लगा। मांस शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि फल मूल कन्द वृक्ष वनस्पति मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्गादि सभी में रहने वाले गूदा का नाम वेद में मांस है फलादिस्थ मांस भक्ष्य और मनुष्यादि चर प्राणियों का मांस हिंसा-रूप पाप की अधिकता से अभक्ष्य है। इस का विशेष विचार तथा मन्त्रों का अर्थ आगे यथावसर किया है यहां केवल सिद्धान्त लिख दिया कि वेद में मनुष्य पशु पक्ष्यादि चर प्राणियों के मांस खाने का विधान नहीं है केवल भ्रान्ति उक्त कारणों से हुई है ॥

अनेक मांसाहारी लोग यह भी शङ्का करते हैं कि यदि मांस खाना अधर्म है तो बताओ वेद में निषेध कहां लिखा है ? । इस का उत्तर यह है कि जब वेदादि में स्पष्ट लिखा है कि:—

पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम- न्नाद्रेतो रेतसः पुरुषः ॥

पृथिवी से ओषधियां उत्पन्न होतीं ओषधियों से उनका फल अन्न होता और अन्न से वीर्य तथा वीर्य से पुरुष नाम मनुष्य का शरीर बनता है तो सिद्ध होगया कि मनुष्य का आहार अन्न परमेश्वर ने बनाया है उसी को खाना चाहिये । सृष्टि के प्रारम्भ में जब वेद का उपदेश परमात्मा ने किया तब मनुष्य मांस खाते भी नहीं थे और जिस बात की प्रवृत्ति वा प्राप्ति नहीं होती उस का प्रायः निषेध भी नहीं किया जाता । लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि जो जिस अकर्त्तव्य को नहीं करता उस को उससे रोकने का उपाय नहीं किया जाता और जो जिस कर्त्तव्य को करता है उस पर उस कर्म के करने की प्रेरणा भी नहीं कर सकते । इसी प्रकार जब सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर ने वेद का उपदेश किया उस समय मांस खाने की प्रवृत्ति ही नहीं थी फिर "मांस न खाना चाहिये" ऐसा स्पष्ट निषेध कैसे किया जासकता था । जैसे यह प्रश्न होता है कि वेद में मांस खाने का निषेध कहां है ? वैसे हम यह भी प्रश्न कर सकते हैं कि वेद में खाने के लिये स्पष्ट आज्ञा कहां लिखी है ? जिस में विधिवाक्य जानने के लिये कोई क्रिया लिखी हो । इस पर यदि कोई शङ्का करे कि जब वेद में इस का विधि निषेध दोनों ही नहीं तो अशिष्टाप्रतिषिद्ध होने से इस को धर्माधर्म से पृथक् क्यों न मान लिया जावे ? । तो इस का उत्तर यह है कि वेद में यद्यपि वैसा स्पष्ट मांस खाने का निषेध नहीं तथापि हिंसा का निषेध अवश्य किया गया है । क्योंकि हिंसा का करना वा होना किसी निमित्त से सम्भव समझा गया इस लिये निषेध किया गया कि—

यजमानस्य पशून् पाहि। ओषधे त्रायस्व मैनं हिंसीः ॥ यजु०

हे मनुष्य ! तू यजमान अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि वेदोक्त कर्म करने वाले के गौ आदि पशुओं की रक्षा कर अर्थात् उन को हिंसा मत कर क्योंकि उनसे हुए घृतादि से ठीक २ यज्ञादि कर्म होसकते हैं । तथा मनुष्यादि प्राणियों को ओषधि आदि के सेवन से रक्षा करना चाहिये । किन्तु किसी प्राणी को मारना कदापि योग्य नहीं । अब विचारना चाहिये कि जब हिंसा का सर्वथा निषेध है तो मांस खाने का निषेध क्यों नहीं हुआ ? । क्या विना किसी प्राणी को मारे कभी मांस होसकता है ? अर्थात् नहीं । फिर मांस के न खाने की आज्ञा स्पष्ट ही सिद्ध होगयी । इससे धर्माधर्म से भिन्न वा अशिष्टाप्रतिषिद्ध मांसभक्षण नहीं माना जासकता ॥

कोई लोग सन्देह करते हैं कि क्षत्रियादि राजपुरुषों को यदि मांस खाने का अभ्यास छुड़ादिया जायगा तो उन को शस्त्र चलाने और प्राणियों को मारने का अभ्यास छूटजाने से युद्ध करने की योग्यता न रहेगी वे लोग डरपोक होजायंगे युद्ध में शस्त्रों से कटते देखकर कम्प जायंगे शरीर भी कोमल पड़ जायंगे इत्यादि । और मांस खाने का अभ्यास बना रहेगा तो मांस के लोभ से शस्त्र रखना और जङ्गली प्राणियों की मृगया (शिकार) करने का अभ्यास बना रहेगा इस से सङ्ग्रामभीरु होना सम्भव नहीं ॥

उत्तर—इस का उत्तर यह है कि मांस खाने वाले लोगों का यह भी एक आड़ खोजना है कि हम को एक व्यसन पड़गया है उसको किसी प्रकार रखना चाहिये । संसार में स्वार्थसाधन के लिये मनुष्य अनेक बहाने खोजता है वैसे यह भी एक बहाना है । क्या कोई कह सकता है कि आज कल जो २ मांसाहारी लोग हैं उन में प्रायः शस्त्र बांधकर जङ्गलों में मृगया खेलने जाते हैं । मेरे विचार में ऐसे पुरुष प्रायः नहीं हैं किन्तु अधिकांश मांसाहारी ऐसे ही हैं जो दीन अनाथ शरणागत ग्रामीण प्राणियों का वध हो कर दुकानों पर बिकते मांस को खाते हैं । वास्तव में मृगया (शिकार) करना भी एक प्रकार अच्छा काम है यदि वह व्यसनबुद्धि से न किया जाय किन्तु संसार के हानि लाभ उपकार अपकार और धर्माधर्म का विचार रख कर किया जावे । जिन प्राणियों से खेतों का उजाड़ अधिकांश होता था जो हिंसक स्वभाव होने से निर्बल मनुष्यादि अनेक प्राणियों को खाजाते और अत्यन्त दुःख पहुंचाते हैं ऐसे प्राणियों को मारने के लिये शस्त्रों का अभ्यास बनाये रखना क्षत्रियादि

मनुष्यों का कर्त्तव्य समझा जायगा। इन में अनेक भेड़िया सिंहादि जङ्गल के जन्तु ऐसे हैं जिन का मांस नहीं खाया जाता। ऐसे दुष्ट हिंसक जीवों को मारने में कुछ वीरता का भी काम है। ऐसे ही काम से मनुष्य में युद्ध की योग्यता बनाये रखना प्रयोजन भी सिद्ध हो सकता है। जैसे आज कल अनेक छोटे २ जङ्गलों में जङ्गली सुअर बढ़गये हैं। उन से ग्रामीण मनुष्यों को बड़ा दुःख पहुंचता है। खेती में बड़ी हानि होती है ऐसे स्थलों में निर्बल शस्त्र-हीन ग्रामीण मनुष्यों को उन सुअरआदि को मारकर सुख पहुंचाना वास्तव में कर्त्तव्य काम होगा। परन्तु मृगया का भी व्यसन डाल लेना धर्म से विरुद्ध और अनेक प्रकार हानिकारक है क्योंकि जिस मनुष्य को मृगया का स्वभाव पड़-जाता है वह अच्छे २ उपकारी वा दीन अनाथ सीधे २ पशु पक्षियों को भी मारा ही करता है और उस शिकार को अपना नित्यकर्म मानकर शस्त्र लिये जङ्गलों में प्रायः भ्रमण किया ही करता है इस कारण वह अपने अन्य कर्त्तव्य धर्मादि से वञ्चित रहता और उस के अनेक काम बिगड़ जाते हैं। इत्यादि विचार से ही मानवधर्मशास्त्र में मृगया को अठारह प्रकार के त्याज्य व्यसनों में गिनाया है। इस काम को जो मनुष्य मांसभक्षण की उत्कण्ठा से करता वा क-रना चाहता है वह स्वादिष्ठ तथा विशेषगुणकारी मांस पर दृष्टि रखकर वैसे ही प्राणियों को मारेगा जिन से उस का स्वार्थ सिद्ध हो। ऐसा करने से वह प्र-योजन दूर हो जाता है अर्थात् वह मनुष्य संसार के उपकार अपकार वा धर्मा-धर्म का विचार नहीं रख सकता। इस से सिद्ध हुआ कि उक्त प्रयोजन भी मांस खाने से सिद्ध नहीं होता और जब मनुष्य का उत्तम भोजन अन्न, दुग्ध घृतादि प्राप्त है तो अनेकों को सुख पहुंचाने के लिये मारे सुअरआदि का भी मांस खाना आवश्यक नहीं है। उस के व्यर्थ सड़जाने का भी भय नहीं क्योंकि शृगाल, गीदड़ आदि मांसाहारी प्राणियों का प्रायः ऐसा ही आहार है उन का निर्वाह चलेगा। मनुष्य के लिये तो अन्नादि भोग्यवस्तु उपस्थित ही हैं। दैवी प्रकृति वा सात्त्विक प्रकृति रखने वालों का मांस खाना काम कदापि नहीं है। इसी लिये मानवधर्मशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि:—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥ १॥

मादक (नशा करने वाले अफीम आदि) वस्तु, मांस, सुरा वा मद्य, आसव, (यन्त्र द्वारा खींचे वा निकाले सड़ी हुई ओषधियों के रस) यह सब यक्ष राक्षस और पिशाचप्रकृति वाले मनुष्यों का अन्न (खाजा) है वह मांस दैवी-प्रकृति वाले [जिन का भोज्य (खाजा) होमने योग्य घृत मीठा दूध आदि से मिश्रित सत्त्वगुणवर्द्धक अन्न है उन वेदोक्त कर्म करने वाले और सत्त्वगुण के बढ़ाने की रुचि जिन को है उन] सज्जन ब्राह्मणों को नहीं खाना चाहिये। इस मानवधर्मशास्त्र के प्रमाण से एक यह भी बात सिद्ध होती है कि मांस होमने योग्य वस्तु नहीं इसी से दैवी प्रकृति वालों के भोग्य पूर्वोक्त हविष्यान्न-भोगी को मांस खाने का निषेध किया और आसुरी प्रकृति वालों का अन्न (खाजा) मांस बताया। आशय यह है कि अग्निहोत्र वैश्वदेवादि वेदोक्तयज्ञ करके हविष्यान्न यज्ञशेष का भोजन करने वाले ब्राह्मणादि को नीच प्रकृति राक्षसादि के भोग्य मांसादि न खाने चाहिये ॥

अनेक यवनादि लोग यह भी शङ्का करते हैं कि यदि मांस खाने में दोष है तो दूध में भी है क्योंकि दूध भी शरीर के भीतर से निकलता है। दूध भी एक प्रकार का मांस माना जा सकता है। खाये पिये के रस से ही दूध मांसादि सब होते हैं ॥

उत्तर—दूध मांस नहीं है। शरीर के बीच सात धातु अर्थात् शरीर को धारण करने स्थिर रखने वाले मुख्यकर शरीर के सात अवयव वा अंश माने जाते हैं उन में दूध कोई धातु नहीं है। यदि दूध भी धातु होता तो जैसे रस रुधिर मांस आदि एक२ धातु के शरीर में सर्वथा न रहने पर शरीर नहीं ठहर सकता किन्तु शीघ्र मरण हो जाना सम्भव है इसी प्रकार दूध के सर्वथा निकल जाने पर भी शरीर छूट जावे सो ऐसा नहीं होता। और रसादि धातुओं का तो कभी किसी का किसी में से सर्वथा नाश होता है परन्तु गौ आदि पशुओं का दूध पहिले स्वामी दुहलेता पीछे रहा सहा बच्चा सर्वथा खींचलेता है उस से किसी प्राणी का शरीरपात नहीं होता। इस से दूध कोई धातु नहीं है किन्तु स्वतन्त्र एक वस्तु शरीर से उत्पन्न होता है। संसार में यह कोई नियम नहीं दीखता कि एक कारण से जितने पदार्थ उत्पन्न हों वे सब एक ही से गुण वाले हों। एक ही पृथिवी से विष और अमृत दोनों उत्पन्न होते हैं। एक पिता

पुस्तकों की सूची ॥

यमयमीसूक्तम् =) प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य्य धर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है ॥ आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) छाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है ॥ ईश उपनि० भाषा वा संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ।।।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ।।।) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ।।।) इन ७ उपनिषदों पर सरल संस्कृत तथा देव नागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एकबार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है । सातों इकट्ठे लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्य्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क एक साथ लेने पर ४।=) और फुटकर लेने पर प्रति भाग ।॥) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ तथा द्वितीयोंशः -)।।। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद (जीव-ब्रह्म पर) -)॥ सद्विचारनिर्णय -) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡) देवनागरीवर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पु० पांचवींवार छपा)।।। द्वितीय तीसरी बार छपा -)। तृतीय फिर से छपा =)।।। भर्तृहरिनीतिशतक भाषा टीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ बालचन्द्रिका (बालकों के लिये व्याकरण) -) गणितारम्भ (बालकों के लिये गणित) -)॥ अङ्कगणितार्य्यमा ≡)॥ विदुरनीति मूल =) जीवसान्तविवेक -) पाखण्डमतकुठार (कबीरमत ख०) =) जीवनयात्रा (चार आश्रम) ≡) नीतिसार -)॥ हितशिक्षा (नामानुकूलगुण) -)॥ गीताभाष्य ३ अध्याय १) हिन्दी का प्रथम पुस्तक -) द्वितीयपुस्तक पं० रमादत्त कृत ≡) शास्त्रार्थ खुर्जा -) शास्त्रार्थ किराणा =) भजन पुस्तकें-भजनामृतसरोवर =) सत्यसङ्गीत)। सदुपदेश)। भजनेन्दु (बारहमासे, भजनादि) -) वनिताविनोद (स्त्रियों के गीत) =) सङ्गीतरत्नाकर =) * बुद्धिमती (मुं० रोशनलाल बैरिस्टर एटला रचित) ।) * सुन्दरी-

* चिह्न युक्त पुस्तकें नई बिकने को प्रस्तुत हैं

सुधार १) * सीताचरित्र नाविलप्रथमभाग ।।।) स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी =)॥ * भूतलीला =)॥ * बाल्यविवाहनाटक -)॥ * शिल्पसङ्ग्रह ।-) आर्यतत्त्वदर्पण =) कर्मवर्णन)॥ स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य)॥ नियमोपनियम आर्यसमाज के)। आरती आधा पैसा आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार। सत्यार्थप्रकाश २) वेदभाष्य भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्य्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त १) इत्यादि आर्यधर्मसम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूची मंगाकर देखिये ॥

व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खानापूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा =) डाक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा ॥

पता—भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

आर्य्यसिद्धान्त नामक मासिकपत्र जो

पं० भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित होता है प्रथमवार

का छपा चुक जाने से द्वितीयवार

सरस्वतीयन्त्रालय-इटावा में

बाबू पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से छपा

ता० २ । ७ । १८९७ ई०

द्वितीयवार ५०० मूल्य ॥।)

विषयसूची ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ६ } तारीख १५ सितंबर, अक्टूबर। आश्विन, कार्त्तिक संवत् १९४९ { अङ्क १,२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत भाग ५ अं० ११। १२ के पृ० २१२ से आगे मांस का विचार

माता से सब सन्तान एक से नहीं होते। एक २ गौ आदि पशु के शरीर में भी विष्ठा मांस मूत्रादि भिन्न २ गुण स्वभाव के पदार्थ होते हैं। इन भेदों का देश काल तथा वस्तु का भेद ही कारण है। इस लिये यह कहना नहीं बन सकता कि शरीर के भीतर से उत्पन्न होने के कारण मांस के तुल्य दूध भी घृणित हो जावे। संसार में जितने भोग्य वस्तु हैं उन सब में दूध ही सर्वोत्तम और सर्व-सम्मत है। पदार्थों के अच्छे बुरे होने की एक प्रत्यक्ष परीक्षा यह है कि उनको सड़ाकर देखा जावे कि किस वस्तु के सड़ने पर कैसी दशा होती है। जिस वस्तु की सड़जाने पर अत्यन्त निन्दित दशा होजावे। बहुत असह्य दुर्गन्ध जिस में उठे वह पदार्थ वास्तव में बुरा वा त्याज्य है अर्थात् सत्त्वगुणप्रिय पुरुषों को ऐसे वस्तु का भोजन नहीं करना चाहिये। शोचने से ज्ञात होगा कि यदि मांस दो तीन दिन धरा रहे तो उस में असह्य दुर्गन्ध छूटेगा कृमि पड़ जायंगे। और दूध दही मठादि में कितने ही दिन धरा रहने पर भी दुर्गन्ध नहीं छूटता। पशु आदि के शरीर में मर जाने पर दूसरे ही दिन मांस सड़ जाता है और

जहां उन के शरीर ग्रामादि से किसी ओर डाले जाते हैं उससे दूर २ तक मनुष्यों को निकलना कठिन होजाता है । मनुष्य का शरीर हाली मुर्दा जलाने पर भी ऐसा असह्य दुर्गन्ध मांसादि के जलने से निकलता है जो बहुत दूर तक वायु को बिगाड़ देता और रोगों को फैला देता है इसी लिये पूर्वज आर्य लोगों ने अन्त्येष्टि में घृतादि सुगन्धित पदार्थों का होम नियत किया है जिस से मांसादि के सम्बन्ध से होने वाले दुर्गन्ध की निवृत्ति हो । इस से मांस का निकृष्ट होना और दूध का उत्तम वस्तु होना सिद्ध है । जो वस्तु स्वभाव से वा अपनी जड़ से ही अच्छा है उस की यही पहचान है कि वह शीघ्र विकारी नहीं होता उस में कीड़े नहीं पड़ते बहुत काल धरे रहने पर भी बुरा दुर्गन्ध नहीं छूटता । जैसे गङ्गाजल सब जलों में उत्तम इसी लिये माना गया है कि किसी पात्र में उस को भरकर रक्खा जावे तो उस में बहुत काल तक धरे रहने पर भी कृमि नहीं पड़ते क्योंकि उस जल का कारण ही शुद्ध है । इसी प्रकार दूध का स्वभाव ही शुद्ध है और मांस का कारण रुधिर है । रुधिर को कोई मांसाहारी खाना स्वीकार नहीं करता किन्तु रुधिर खाने पीने से एक प्रकार की घृणा रखते हैं परन्तु रुधिर से बने मांस को निस्सन्देह खाजाते हैं । आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अव्यापन्नाः शरीरेण रक्तमित्यभिधीयते ॥१॥
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥

सुश्रुतस्य सूत्रस्थाने शोणितवर्णनाध्याये—

खाये पिये अन्न पानादि का जो पहिला धातु रसनामक बनता है । वह जब शरीरस्थ तेज वा उष्णता से रंगा जाता है तब उस को रक्त वा रुधिर कहते हैं । वही रुधिर काल पाकर जब जम जाता है तब मांस कहाता है । मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा (चरबी) और उस से वीर्य बनता है । इस कारण मांस एक घृणित वा अभक्ष्य वस्तु अवश्य है । और दूध भक्ष्यवस्तुओं में सर्वोत्तम है । और यह बात अच्छे प्रकार प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि बालक जब तक

केवल माता का दूध पीकर रहता है तब तक उसके शरीर और मल मूत्रादि को बहुत ही न्यून दुर्गन्ध आता मल मूत्रादि से घृणा भी बहुत कम होती है और छोटे बच्चों के शरीर से एक प्रकार का अच्छा गन्ध भी आता है। वे ही बालक ज्यों २ अन्न का अधिक आहार करते जाते हैं त्यों २ दुर्गन्ध बढ़ता जाता है। और मांस खाने वालों के शरीर तथा मल मूत्र से तो अन्न की अपेक्षा भी शतगुण अधिक दुर्गन्ध उठता है क्योंकि मांस अन्न से भी अधिक सड़ता और जल्दी बिगड़ जाता है। इस बात का कोई प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहे तो दूध, अन्न वा आटा भीगा हुआ और कुछ मांस कच्चा इन तीनों को तीन दिन रख कर देखा जावे कि कौन वस्तु कैसा और कितना बिगड़ता है किस से अधिक घृणा होती है जो अधिक बिगड़े जिस से अधिक घृणा हो उसी को अधिक अभक्ष्य और जो सब से कम बिगड़े वह अधिक भक्ष्य मान लेना चाहिये ॥

दूध और मांस में एक और बड़ा भेद यह है कि मांस प्राणियों का वध किये विना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता और दूध जिन प्राणियों का खाया जाता है वे दूध निकालने से मरते नहीं। जिस प्राणी को मारकर मांस खा-लिया जायगा उस के दूध आदि से होने वाला बहुत काल तक का उपकार वहीं नष्टकर दिया जाता है। यदि वे पशु बने रहें तो उन के दूध, घी, मक्खन, दही, मठा वा खोया आदि से असंख्य मनुष्यों को बहुत काल तक सुख पहुंचे उस को मांसाहारी लोग अपने स्वार्थ के लिये थोड़े काल में नष्टकर देते हैं। इसी लिये संसार के हानिकारक होने से परमेश्वर के यहां से भी वे अवश्य दण्डनीय होंगे ॥

यद्यपि जिन प्राणियों का दूध खाया जाता है उन को भी निर्बलतादि से कुछ दुःख पहुंचता है इस लिये उन दुग्ध दाता प्राणियों को अच्छे २ पुष्ट बल-वर्द्धक पदार्थ खिलाने चाहिये जिस से वे निर्बल न होने पावें। दूध के निकल-ने से जितनी निर्बलता होनी सम्भव हो उतना ही बल पुष्ट पदार्थों को देकर बढ़ाते जाना चाहिये। ऐसा होने से किसी प्रकार का दुःख पहुंचने का दोष नहीं माना जासकता। क्योंकि जो अपना उपकार करे उस का प्रत्युपकार करना धर्मानुकूल उचित है। गौ आदि पशुओं से दुग्धादि उत्तम पदार्थों द्वारा हमारा उपकार होता है। हम भी उन का प्रत्युपकार करें। सो जब हम प्रत्युपकार

के बदले मांस खाने के लिये उन का प्राण तक लेने को तत्पर होते हैं तो यह क्या थोड़ा अन्याय है ?। यदि हमारे भारतवर्षी वेदमतानुयायी लोग मेढा, बकरा, बकरियों का भी मांस खाना सर्वथा छोड़ दें कि जिन का मांस खाने से गौ आदि अति उपकारी जन्तुओं के मांस की अपेक्षा संसार की कुछ कम हानि है तो यवनादि को मेढादि का मांस पूरा काम दे सकता है। ऐसी दशा में गौओं के मारने की आवश्यकता ही न रहेगी। इस से संसार की बहुत कम हानि होगी। दूध अधिक होने लगे और मांसाहारियों को मांस के स्थान में दूध प्राप्त हो तो वास्तव में सत्वगुण की वृद्धि होने से अच्छे २ धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य होने लगें। क्योंकि संसार के सब धर्म कर्म मनुष्य की बुद्धि पर आश्रित हैं। जैसी २ उस की बुद्धि होती है वैसे ही काम करता है। और बुद्धि का सुधार रजोगुण तमोगुण के वर्द्धक पदार्थों के त्याग और सत्वगुण के उत्तेजक पदार्थों के अधिक सेवन पर निर्भर है। और दूध जिन प्राणियों के स्तनादि में होता है उन का यदि बाहर न निकाला जाय तो उन को क्लेश भी अधिक हो बोझा बढ़ जावे जिन के थनों में दूध अधिक भर आता है और वे थन कस जाते हैं तब वे प्राणी घबड़ाया करते हैं जब निकाल लिया जाता है तभी चैन हो जाता है। दूध वाले प्राणी चाहते और सायं प्रातः चिल्लाते हैं कि हमारा दूध निकाल लिया जावे। परन्तु मांस का बोझा किसी को दुःखदायी नहीं होता और न कोई चाहता है कि मेरा मांस निकाल लिया जाय। इस युक्ति से सिद्ध होगया कि परमेश्वर ने दूध निकालने ही के लिये बनाया है और मांस निकालने को नहीं बनाया गया। इस लिये दूध के साथ मांस की समता लगाने वाले बड़ी भूल में हैं। वास्तविक बात तो यह है कि यवनादि मांसाहारी लोग किसी प्रकार की आड़ खोजते हैं कि हमारे मांस खाने में किसी प्रकार विघ्न न हो हमारा काम चला जावे। यदि मांस भक्ष्य-पदार्थ होता जैसा कि दूध है तो सिंहादि कई प्राणी मनुष्य का भी मांस खाते हैं उन का भक्ष्य हमारा मांस होना चाहिये। जैसे हम अन्य जीवों का मांस खाना बुरा नहीं समझते वैसे सिंहादि को अपना शरीर भी सौंप दिया करें। अन्य पश्वादि के मांस खानें में हम लज्जा शङ्का वा भय अधर्म नहीं समझते परन्तु हमारा मांस सिंह भेड़िया आदि खाना चाहते हैं उस में हम सब बुराई समझते हैं। यह भी चोरी के समान ही एक अधर्म है। जैसे चोर अन्य का पदार्थ झट चुरालेता है परन्तु अपना वस्तु कोई लेना चाहे वा ले जावे तो उस

को बहुत बुरा जानता है । जिस काम से किसी की हानि हो वा दुःख पहुंचे वह सब अधर्म है । जब हमारे चित्त में किसी कारण से ऐसा स्मरण आवे कि हमारा मांस कोई खा लेगा हम को कोई मार डालेगा इत्यादि । तो हम कैसे महा-दुःख सागर की तरङ्गों में बड़े २ गोते खाने लगते हैं । यदि हम अन्य को दुःख पहुंचाने वाले कर्मों में भी ऐसा ही विचार करें कि जिन का मांस हम खाते वा खाना चाहते हैं उन को भी ऐसा ही दुःख होता होगा जैसे हम सब दुःख को नहीं चाहते वैसे वे प्राणी भी नहीं चाहते । इस लिये संसार में जो मनुष्य आप दुःखों से बचना चाहता है तो उस के लिये सर्वोपरि यही उपाय है कि वह अन्यों को दुःख न पहुंचावे । उस के जिन २ कामों से अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचना सम्भव हो उन को सर्वथा छोड़ता जावे फिर उस को कहीं दुःख नहीं । मानवधर्मशास्त्र के षष्ठाध्याय में स्पष्ट लिखा है कि—

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥

जिस मनुष्यादि से किसी प्राणी को किञ्चित् भी भय वा दुःख नहीं पहुंचता उस को संसार में वा जन्मान्तर में किसी से किञ्चित् भी भय वा दुःख होना सम्भव नहीं । मांसभक्षण से जिन का मांस खाया जाता है उन को प्राणभय और महादुःख पहुंचता है इस लिये अपने आप दुःख भोगने का उपाय करना रूप यह दुःखों का हेतु काम त्यागने योग्य अवश्य है ।

मांसभक्षण विषय में बड़ा दोष अधिकसम्मत हिंसा है उस में अनेक लोग यह भी शङ्का करते हैं कि स्थावर घास वनस्पति वृक्षादि में भी जीव माने जाते हैं तो उन की तरकारी के खाने, डाली फल पत्ता तोड़ने, वृक्ष काटने, दातौन करने आदि प्रत्येक काम में पाप है फिर ऐसे पाप से कोई भी नहीं बच सकता । ऐसी दशा में सब पापों से बचकर संसार में मुक्ति का उपाय कोई भी नहीं कर सकता और एक बड़ा दोष यह है कि वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के आश्रय से हम मांसभक्षण को बुरा काम अधर्म ठहराने का उद्योग करते हैं सो सब बालू की भीत के समान निष्फल हुआ जाता है । क्योंकि मांस का निषेध करने वाले भी जब वृक्ष वनस्पति शाक आदि के खाने से नहीं बच सकते तो मांस खाने वालों के समान वे भी हिंसा दोष के भागी हो चुके फिर जैसे चोर

चोर को चोरी से नहीं हटा सकता वैसे कोई किसी मांसाहारी को नहीं हटा सकेगा। और वृक्ष वनस्पति को दुःख न खाने में हिंसादोष भी वेदादि शास्त्रों में नहीं दिखाया इत्यादि कारणों से अनेक अच्छे २ बुद्धिमानों की भी यही सम्मति है कि स्थावरयोनि वृक्ष वनस्पति आदि में जीव मानना एक प्रकार की भूल है।

उत्तर—मुझे जहां तक अनुमान वा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात है वहां तक ऐसे मनुष्य नहीं मिले जो वेदादि शास्त्रों को ठीक २ पढ़ समझ के और उन का ठीक २ सिद्धान्त जान कर वृक्ष वनस्पति आदि में जीवात्मा के आने जाने वा ठहरने का निषेध करते हों किन्तु ऐसे ही लोग अधिक देखे वा सुने गये हैं जो अन्य भाषाओं के जानने से विशेष बुद्धिमान् हो कर ऐसा मानते हैं। हम उन के बुद्धिमान् होने वा वेदादि को न जानने पर कुछ आक्षेप नहीं कर सकते क्योंकि दोषी वही माना जाता है जो उस विषय को ठीक समझ कर भी किसी स्वार्थादि के कारण उलटा कहे परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि उन को वेदादि के सिद्धान्त को ठीक जान कर ऐसा कहना उचित है। यदि वेद के वा धर्मशास्त्रों के ठीक २ जानने वाले अधिक लोग ऐसा मानते होते कि स्थावरयोनि में जीवात्मा नहीं जाता तो अवश्य उस पर ठीक २ व्यवस्था भी देते। ऐसी दशा में मुझे भी इस विषय पर कुछ लिखने की आवश्यकता न पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं है इस लिये इस विषय पर लिखने की आवश्यकता हुई। संसारी मनुष्यों के लिये शास्त्र में मुख्य कर दो प्रकार के मार्ग दिखाये हैं। एक तो संसार की उन्नति करना और सब अच्छे कामों की प्रवृत्ति बढ़ाना जिस से संसारी सुख बढ़ें इस को अभ्युदय कहते हैं। द्वितीय निःश्रेयस मार्ग है जिस को मोक्ष वा परमार्थ भी कहते हैं। संसार के अभ्युदय सुख की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जो २ कर्म करने चाहिये वा करने पड़ते हैं वे सब वा प्रायः अधिकांश ऐसे नहीं होते जिन से किसी को कुछ भी अनुपकार हानि वा दुःख प्राप्त न हो किन्तु ऐसे ही काम अधिक हैं जिन में धर्माधर्म मिला रहता है। परन्तु संसार में धर्म अधर्म शब्दों को सापेक्ष मान कर लोक का व्यवहार चलाने पड़ता है। जब हम को दो काम वा मार्ग ऐसे प्रतीत हों कि इन दोनों के करने में कुछ न कुछ दोष है वा किसी न किसी को कुछ दुःख वा

हानि पहुंचना दोनों ही से सम्भव है तो वहां जिस में न्यून दोष हो वा जिस से किसी को कम दुःख पहुंचे वैसा काम करना चाहिये। क्योंकि संसार में रहकर संसारी व्यवहार चलाने के लिये हम को दो में एक मार्ग पर चलना अवश्य पड़ता है इसलिये जिस मार्ग में न्यून दोष हो और गुण वा भलाई अधिक हो उस कार्य को धर्मशास्त्रकारों ने अधिक दोष वा बुराई से युक्त काम की अपेक्षा धर्म ठहराया वा माना है। और यही सिद्धान्त सब विद्वानों को मान्य होता है। जैसे किसी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख पहुंचाना अधर्म अवश्य है परन्तु संसारी मनुष्य वा राजादि ऐसा नहीं कर सकते राजादि अनेक मनुष्यों को अनेक हिंसक वा अपराधी प्राणियों का वध करने पड़ता वा ताड़नादि द्वारा दण्ड देने होता है क्योंकि उन को ताड़ना दिये विना संसार की व्यवस्था ठीक नहीं चलती। और उन को ताड़ना देने से जो कष्ट पहुंचाया जाता है उस से कुछ पाप अवश्य होता है परन्तु उस ताड़ना से अनेक मनुष्य सचेत हो जाते हैं कि ऐसा काम हम करेंगे तो हमारी भी यही दशा होगी इस लिये ऐसा न करना चाहिये। इस प्रकार समझ कर अनेक मनुष्य उन कामों से बचते और उस एक अपराधी को मारकर जिस से जिन अनेकों को दुःख होता था वा होना सम्भव था ऐसे प्राणियों को बुराई से बचाना वा अन्य अधर्म करने वालों को दण्ड का भय पहुंचा कर बचाना इत्यादि अनेक प्रकार का अधिक पुण्य होता है इस लिये वह कर्त्तव्य काम माना जाता और मानना चाहिये। परन्तु मुमुक्षु पुरुष को ऐसे काम भी नहीं करने चाहिये जिन से कुछ भी किसी को दुःख पहुंचे। कोई मनुष्य कभी सिद्ध नहीं कर सकता कि हिंसक सिंहादि के वा चोरादि के मारने में हिंसारूप अधर्म नहीं है किन्तु उस के प्राणवियोग करने से जो अत्यन्त दुःख पहुंचाया जाता है वह हिंसारूप पाप अवश्य है परन्तु उस हिंसा से अनेकों को सुख पहुंचानारूप पुण्य वा धर्म बहुत अधिक है। इस लिये ऐसे काम संसारी दशा में धर्मानुकूल कर्त्तव्य माने गये हैं और मानने चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि जिस काम के करने में उपकार अधिक हो और दोष न्यून हो वह कर्त्तव्य काम है। अधिक पुण्य से थोड़ा पाप दब जाता है। इस लिये ऐसे काम करने वाला पापी नहीं कहाता किन्तु धर्मात्मा माना जाता है परन्तु वह मनुष्य अधिक पाप करने वाले की अपेक्षा संसारी

मनुष्यों में धर्मात्मा है किन्तु परमार्थ की ओर झुके हुए, सर्वथा धर्म का ही सेवन करने वाले की अपेक्षा उस को धर्मात्मा नहीं कह सकते । इसी विचार वा सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यजाति में विद्वान् वा अधिक कर धर्म का सेवन करने वाले जिन से संसार का अधिक उपकार होता हो वा होना सम्भव हो उन की रक्षा साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक करनी चाहिये । ऐसे मनुष्यों को दुःख पहुंचाने वाले जानो धर्म के शत्रु हैं उन को मारना वा मरवाडालना अधिक पाप का हेतु नहीं है । जहां धर्मात्मा अधिक उपकारी और अधर्मी अनुपकारी वा साधारण इन में से एक के मारे जाने का सम्भव हो वहां धर्मात्मा की रक्षा करना अधिक उपयोगी होने से कर्त्तव्य धर्म है । इसी प्रकार पशुओं की अपेक्षा मनुष्यजाति की रक्षा करना तथा पशुओं में परस्पर अधिक उपकारी गौ आदि की रक्षा अन्य साधारण पशुओं की अपेक्षा अधिक वा प्रथम करना चाहिये और कृमि कीट पतङ्गादि की अपेक्षा सामान्य पशुओं की रक्षा करना भी धर्मानुकूल है । तथा वृक्ष वनस्पति आदि स्थावर की अपेक्षा प्राणिमात्र की रक्षा प्रथम करना उचित है । इसी प्रकार स्थावरों में घासादि की अपेक्षा अच्छे २ उपकारी फलफूल देने वाले वृक्षादि की अधिक रक्षा करनी चाहिये । क्योंकि संसार में उपकार अपकार ही उत्तम नीच अच्छे बुरे के लक्षण हैं । इसी के अनुसार धर्मशास्त्र वालों ने ब्रह्महत्या को महापातक और गोहत्या वा पशुहत्या को उपपातक माना है और वृक्ष वनस्पति आदि के तोड़ने काटने को हिंसा भी नहीं कहा । क्योंकि हिंसा वा हत्या शब्द प्राणवियोग करने में योगरूढ हो रहा है । और प्राण की क्रिया श्वास (दम) जो जीवनरूप है वही प्रत्यक्ष लीजाती है । इस लिये वृक्षादि में हिंसा वा हत्या नहीं कही वा मानी जाती सो ठीक सिद्धान्त है ॥

जीवात्मा वृक्षादि में भी है यह अवश्य मानना चाहिये । परन्तु व्यक्ति और जाति वा योनि के भेद से भेद अवश्य है । सब शरीरों में एक ही प्रकार से आत्मा नहीं रहता वा यों कहो कि सब देश काल और अवस्थाओं में एकसा नहीं रहता उस में भेद होने के कारण देश काल और अवस्था वा वस्तुओं का भेद ही है । मनुष्य जब अच्छे प्रकार सो जाता है तब मच्छर आदि के काटने पर भी दुःख का अनुभव नहीं होता वा इतना न्यून होता है जिस

से जाग नहीं सकता क्योंकि दुःख पहुंचने की अपेक्षा निद्रा अधिक प्रबल है तमोगुण ने उस की चेतनशक्तिरूप बुद्धि को दबा रक्खा है॥ जब निद्रा की अपेक्षा दुःख अधिक पहुंचाया जाय तो जाग भी सकता है। जब त्वचा में शून्य रोग हो जाता है तब कण्टक छेदनादि से भी इतना कम दुःख प्राणियों को पहुंचता है जिस से पीड़ा नहीं जान पड़ती तो क्या उस में जीवात्मा का निषेध कर सकते हैं?। बालकपन और युवावस्था में शीत उष्ण आदि मनुष्य को इतनी पीड़ा नहीं पहुंचाते जितनी निर्बल रोगीदशा वा वृद्धावस्था में पहुंचा सकते हैं। यह सुख दुःखादि का भेद अवस्था भेद से है। किसी देश वा किसी काल में जैसे २ सुख दुःख का अनुभव प्राणी करता है वैसा ही सब देश और कालों में बराबर नहीं भोगता किन्तु सुख दुःख देश काल के भेद से बदल २ के घटती बढ़ती होते रहते हैं। ये सब तो साधारण बातें दृष्टान्त के लिये हैं। मुख्य यह है कि जैसे आंख में छोटासा तृण भी उड़कर पड़ जावे तो बड़ा क्लेश पहुंचता है और अन्य शरीर पर वा पग आदि पर वैसे सहस्रों तिनके भी नहीं जान पड़ते। ऐसे ही विचारशील धर्मात्मा को अधर्म का अंश जितना क्लेश दायक होता है। उस की अपेक्षा साधारण को बहुत कम क्लेश व्यापता है। इसी प्रकार ज्यों २ जिस २ प्राणी के शरीर में विचारशक्ति कम होती है वहां २ वैसा ही सुख दुःख का अनुभव कम होता है। शास्त्रकारों ने जीवात्मा का गमनागमन चार प्रकार की योनियों में मुख्य कर माना है। १—जरायुज। २—अण्डज। ३—स्वेदज।४—उद्भिज्ज। जरायुज में मनुष्य और पशु मुख्य हैं। अण्डज में पक्षी मुख्य हैं। स्वेदज में कृमि कीट पतङ्गादि हैं। और चौथे उद्भिज्ज में वृक्ष वनस्पति आदि हैं। इन में ऊपर से नीचे तक सब में चेतनशक्ति और उसी के साथ सुख दुःख का अनुभव बराबर कम होता गया है। अन्त में वृक्षादि में इतना कम होगया कि जिस से अनेक लोगों को सन्देह होने लगा कि इन में जीव है वा नहीं। सो इस सन्देह का कारण चेतनशक्ति और सुखदुःखानुभव का न होने के समान निर्बल पड़जाना है। यदि कोई मनुष्य समाधिस्थ हो वा उस की चेतनशक्ति नशा वा उन्मादादि रोग की प्रबलता में ऐसी दब जावे कि जिस को अनेक लोग मरा ही समझ लें। ऐसी ही दशा वृक्षादि में जीवात्मा की रहती है। इस का कारण मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में लिखा है कि—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म हेतुना ।
अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ १ ॥

पूर्व जन्मों में वैसे २ विशेष तमोगुणी कर्मों के सेवन के कारण अनेक प्रकार के तमोगुण से आच्छादित भीतर मन ही मन में सुख दुःख भोगने वाले जीवात्मा वृक्षादि स्थावरयोनि में रहते हैं। उन को मनुष्यादि के तुल्य शरीराभिमान न होने वा वैसा अभ्यास पड़जाने से बहुत कम सुख दुःख का अनुभव होता है। जैसे कि बड़े की अपेक्षा थोड़ी अवस्था वाले बालक को सुख दुःखानुभव बहुत कम होता है। इत्यादि विचार के अनुसार वृक्षादि में जीवात्मा का होना अवश्य मानना चाहिये। उन की तरकारी शाक खाने, डाली फल पत्ते तोड़ने में कुछ दोष तो अवश्य है परन्तु मांस खाने के समान पाप वा दोष उस में नहीं किन्तु पश्वादि को मारने की अपेक्षा शतांश भी दोष नहीं मान सकते। यदि कोई पश्वादि के समान दोष ठहराने का भार ले तो हमारा प्रश्न उसी के प्रति यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटपतङ्ग, खट्मल, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि को मारडालना तुम बराबर समझते हो ? । क्या मनुष्य चींटी खट्मल इन तीनों की हत्या के दोष को कोई बराबर ठहरा सकता है ? । लोक में भी खट्मल आदि जन्तुओं को अनेक लोग जान बूझकर मारडालते और उन को हत्या का दोष कोई नहीं लगाता और न वे अपने को दोषी समझते हैं परन्तु भारतवर्षनिवासी वेदानुयायियों में गौ को कोई भूल से भी मार देवे तो भी गोहत्यादि का अपराधी माना जाता है तथा यदि कोई मनुष्य को मार डाले तो राजा उस के प्राण उसी अपराध में लेने को तैयार होता है यह अपराध की न्यूनाधिक व्यवस्था शास्त्र के अनुसार ही लोक में भी प्रचरित है। एक लक्ष १००००० खट्मल के मारने में लोक वा शास्त्र के अनुसार इतना पाप नहीं माना जाता जितना एक पशु वा गौ के मारने में माना जाता है। इसी प्रकार जन्मभर असंख्य घास वृक्ष वनस्पति के तोड़ने काटने में भी उतना पाप नहीं जितना एक मनुष्य वा गौ के मारने में है। जो सब में बराबर पाप मानने का दावा करे उस को मनुष्य वा खट्मल के मारने में बराबर पाप ठहराने का उद्योग तथा ब्रह्महत्या महापातक को साधारण पातक वा सब जन्तुओं की हत्या को महापातक ठहराने का उद्योग करना

चाहिये । इस लिये घास काटने शाक आदि के लिये पत्ती वा शाखा तोड़ने में ऐसा पाप वा दोष नहीं है जिस को हम मांसभक्षण के साथ कुछ भी तुलना कर सकते हों । लोक वा शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जब क्षुद्रजन्तु खट्मलादि के मारने वाले भी हिंसक वा मुख्य हत्या दोष के अपराधी नहीं माने जाते तो स्थावर वृक्षादि तो खट्मल आदि की अपेक्षा भी अत्यन्त अधिक क्षुद्र हैं । जैसे मनुष्य और पशवादि की अपेक्षा सहस्रांश भी खट्मल आदि के मारने में पाप नहीं वैसे खट्मल आदि की अपेक्षा वृक्षादि में लक्षांश भी पाप नहीं । शास्त्रकारों ने ऐसा ही सिद्धान्त मानकर क्षुद्रजन्तुओं के मारने को हत्या वा हिंसा दोष मुख्य नहीं रक्खा । फिर पशवादि के मारने और घासादि के काटने में बराबर पाप कभी कोई नहीं ठहरा सकता इससे मांस की उपमा शाकादि को नहीं देसकते ।

अब रहा कुछ दोष सो भी जहां उस थोड़े दोष के होने से कई गुणा पुण्य वा उपकार है वहां उस कम दोष वाले काम को करना चाहिये । उससे अधिक जो उपकार होगा उस से दोष दब जायगा । अर्थात् घास पत्ती वनस्पति आदि काटे विना काम नहीं चलता वा उस घासादि के बने रहने से उतना उपकार नहीं जितना हम काटकर काम निकाल सकते हैं तो काटना ठीक है । यदि मनुष्य चाहे तो घासादि के काटे बिना भी निर्वाह कर सकता है । मनुष्य की प्राणयात्रा के लिये ईश्वर ने अन्न को मुख्यकर बनाया है । उस अन्नरूप फल के ओषधि नामक वृक्ष को सूख जाने पर काटना चाहिये तब कोई दोष नहीं है और अन्नरूप फल पकते समय उनके पेड़ (वृक्ष) आप ही सृष्टि के नियमानुसार सूखजाते हैं । इसी अन्न की दाल रोटी खाकर निर्वाह करना मुख्य काम है इसी से मनुष्य का निर्वाह हो सकता है । तरकारी भी उन आलू, रतालू, घुइया (अरवी) आदि कन्दों को खाना निर्दोष है जिन का वृक्ष कन्द पकते समय सूखजाता है । इसी प्रकार जलाने आदि की लकड़ी हम वृक्ष के सूखने पर अपने काम में लावें तब कुछ भी दोष नहीं । परन्तु आज कल वा कभी सब वा प्रायः लोग इस प्रकार निर्वाह नहीं कर सकते सो इस से शास्त्र के सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप नहीं आता । क्योंकि शास्त्र तुम को सब प्रकार का मार्ग दिखाता है कि यह मार्ग सर्वथा निर्दोष है इस में इतना दोष कम वा अधिक है जिस प्रकार चाहो वैसा करो जैसे मार्ग पर चलोगे वैसे धर्म अधर्म के भागी होकर सुख दुःख फल पाओगे । परमेश्वर ने

हम सब को स्वतन्त्र बनाकर सब प्रकार का उपदेश कर दिया है । यजुर्वेद में लिखा है कि—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेदधाच्छ्रद्धांसत्ये प्रजापतिः ॥

उस ने विचारपूर्वक सत्य असत्य का भेद सब को प्रकट कर दिया । सत्य में विश्वास और असत्य में सब को अविश्वास अश्रद्धा उत्पन्न करदी । अर्थात् भलाई बुराई के दोनों मार्ग दिखा दिये [येनेष्टं तेन गम्यताम्] जिस मार्ग से चाहो चलो । यदि सर्वथा धर्मात्मा बनना चाहो और संसार के सब दुःखों से बचने की इच्छा रखते हो तो पहिले संसारी सब सुखों को तिलाञ्जलि देकर उस बाट को गहो क्योंकि उस मार्ग में पाप का लेश भी नहीं है । हल जोतकर बोये अन्न का भी निषेध वहां किया गया है किन्तु ईश्वर की सृष्टि के अनुसार स्वयमेव जो अनादि में पककर गिरजाता है उस मुन्यन्न से प्राणपोषण करो या कन्द मूल फलादि जो वृक्ष से पककर स्वयं नीचे गिर जावें वा जिन का वृक्ष स्वयमेव सूखजावे उनको खाकर कालक्षेप करो अधिक बोलना छोड़ो एकान्त वास करो नित्य ईश्वर का ध्यान योगाभ्यास तप करो इत्यादि प्रकार से मुक्ति का मार्ग खुला है । द्वीपान्तरवासी मतों के समान किसी निज (खास) शरीरधारी पर विश्वास लाने पर वैदिकसिद्धान्त में मुक्ति की रुकावट नहीं है । इस प्रकार स्थावरयोनि में जीवात्मा का गमनागमन मानने पर मुक्ति में कुछ रुकावट नहीं है । इसी सिद्धान्त को ठीक मानकर मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम वाले के लिये ऐसे २ साधन लिखे हैं कि वह वृक्ष से स्वयमेव पककर गिरे फल फूलादि खावे किन्तु वृक्ष से फलादि तोड़े नहीं—खोदकर वा जोतकर बोने से उपजे अन्न को न खावे इत्यादि । यदि वृक्षादि में जीवात्मा मानने पूर्वक सुख दुःख न माना जावे तो फल तोड़ने आदि का निषेध करना व्यर्थ होजावे । हम वृक्षादि में जीवात्मा न मानें तो ऐसे २ सिद्धान्तों को भी उस के साथ ही खण्डन करना पड़े । इसलिये भी वृक्षादि में जीव मानने का सिद्धान्त रखना आवश्यक है ॥

हां संसारी व्यवस्था में रहकर वृक्ष वनस्पति के तोड़ने काटने से सर्वथा मनुष्य नहीं बच सकता इस के उत्तर में हम कह सकते हैं कि इसी से संसारी मनुष्य पूर्ण धर्मात्मा भी नहीं हो सकता इसी लिये महर्षि लोगों ने मुक्ति मार्ग को संसारी व्यवहार से भिन्न रक्खा है।

अब इस विषय में एक बात का विचार करना और आवश्यक है। कि जीव वा जीवात्मा किस को कहते हैं जीव का लक्षण क्या है? न्यायदर्शनगोतम सूत्र के प्रथमाध्याय में आत्मा का लक्षण लिखा है कि—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा के चिह्न हैं जहां ये प्रत्यक्ष दीख पड़ें वहां जान लो कि इस में आत्मा है। इन्हीं चिह्नों के न रहने से मनुष्य का शरीर मृतक (मुर्दा) मान लिया जाता है। यदि ऐसे चिह्न आत्मा को पहचानने के लिये नियत न करें तो मरे और जीते की परीक्षा भी होना दुस्तर है। इन में से वृक्षादि में कोई भी चिह्न नहीं माना जाता फिर वृक्षादि में जीवात्मा का होना कैसे सिद्ध हो सकता है? ॥

उत्तर—यह लक्षण वास्तव में मनुष्य शरीर का वा जङ्गम प्राणियों का है कि जिन में ये चिह्न हों वे शरीर सजीव चेतन हैं और जिन में ये चिह्न न हों उन्हें मृतक समझो। परन्तु वृक्षादि में जीवात्मा के होने का निषेध इस से नहीं निकलता। ऐसा न मानें तो शरीर से भिन्न आत्मा में अतिव्याप्ति दोष आवेगा। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने स्वयमेव लिखा है कि—

"नाशरीरस्यात्मनोभोगः कश्चिदस्तीति"

शरीर रहित आत्मा को कोई भोग सुख दुःखादि प्राप्त नहीं होता। इसी लिये कर्मों के सुख दुःख फल भोगने के लिये वार २ शरीर धारण करने पड़ता है। जब तक एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जन्म लेके शरीर का अभिमानी आत्मा नहीं बनता उतने बीच में उस में इच्छा द्वेषादि कुछ भी प्रकट नहीं होते तो क्या आत्मा का अभाव मानोगे?। यदि कहो कि इच्छादि गुण बीजरूप से आत्मा में तब भी रहते हैं तो यही उत्तर वृक्षादि के लिये भी उचित होगा कि तमोगुण से आच्छादित इच्छादि गुण वृक्षादि में भी हैं। वास्तव में इच्छादि गुणों की प्रकटता आत्मा की सत्ता से अन्तःकरण में होती है। और अन्तःकरण

की शक्ति भिन्न २ योनियों वा शरीरों में अन्य २ प्रकार की स्वाभाविक और नैमित्तिक साधनों से हुआ करती है। मनुष्ययोनि को जैसे सुख दुःख भोग साधन दिये गये हैं वे सब जाति के स्वाभाविक गुण हैं। उन में भी स्वाभाविक प्रकृतियों के अवान्तर भेद अनेक वा असंख्य हैं। पशुजाति में एक अन्य ही प्रकार की शक्ति इच्छादि गुणों की प्रकटता के लिये रक्खी गयी है जो मनुष्य की सामान्य स्वाभाविक शक्ति से अनुभव करने की शक्ति बहुत ही कम है। मनुष्य के तुल्य इच्छादि गुण पशुयोनि में कोई कभी नहीं ठहरा सकता। पश्वादि अपनी उन्नति का वा सुख विशेष की प्राप्ति का उपाय स्वयं कुछ नहीं कर सकते। मनुष्य से नीचे एक ही कक्षा उतर कर पशुयोनि है। उस में जब इच्छादि गुण इतने निर्बल पड़गये तो वृक्षादि जो कई कक्षा (दर्जे) नीचे को गिरे हुए हैं उन में इच्छादि की न्यायानुसार जैसी दशा होनी चाहिये सो विचारशील स्वयंसमझ सकते हैं। इस के लिये विशेष आन्दोलन की आवश्यकता नहीं। न्यायदर्शन में प्रायः मनुष्ययोनि का विचार है और उस का मुख्य विषय वा आशय यह है कि अनेक नास्तिकपक्ष के लोग आत्मा को मानते ही नहीं कि मनुष्य के शरीर में भी कोई आत्मा है। क्योंकि उन लोगों का सिद्धान्त है कि जैसे घड़ी आदि यन्त्र अनेक वस्तुओं के संयोग से बनाये जाते हैं और उन में नियमानुकूल गमनादि क्रिया वा अनेकों के संयोग से एक ऐसा गुण प्रकट होजाता है जिस से अनेक काम चले जाते हैं। रुधिर की गर्मी ही जीवनशक्ति है। उस गर्मी के न रहने पर मृतक माना जाता है। इस शरीर में भी अनेक धातुओं के संयोग से घड़ी के तुल्य एक कला चल रही है। घड़ी की कल बिगड़ने के तुल्य जब तक साध्यरोगादि द्वारा कला बिगड़ती है तब तक घड़ीसाज के तुल्य डाक्टर वैद्य सम्हाल सकते हैं परन्तु जब असाध्यरोग दबा लेता है। तब घड़ी के तुल्य शरीर की कला फिर काम नहीं दे सकती और मृतक मान लिया जाता है इत्यादि प्रकार से बुद्धि से भिन्न आत्मा को न मानने वाले अनात्मवादियों का खण्डन करने के लिये पूर्वोक्त गोतमन्याय का सूत्र है कि बुद्धि मनुष्य की अनित्य है। क्षण २ वा पल २ में नयी २ उत्पन्न होती रहती है। अवस्थाभेद, देशभेद, कालभेद से तो बहुत ही बदल जाती है किसी की बुद्धि एक सी सदा नहीं रह सकती। घट को देखते समय घटाकार बुद्धि हुई फिर जब २

अन्य २ वस्तु को देखने सुनने शोचने लगा तब २ उस २ पदार्थ की बुद्धि बदलती गयी। ऐसे ही अनेक प्रकार के भिन्न २ गुण कर्म व्यवहार वा वस्तुओं का कालभेद से जैसा २ अनुभव इन्द्रियों द्वारा करता जाता है वैसी २ बुद्धि नयी २ होती जाती है और पुरानी बुद्धि धीरे २ नष्ट होती जाती है। इस कारण इच्छादि गुणों का आश्रय बुद्धि नहीं ठहर सकती क्योंकि जिस पदार्थ से सुख प्राप्त हुआ है उस को फिर ग्रहण की इच्छा और जिस से दुःख हुआ है उस से बचने की इच्छा यही दो प्रकार की इच्छा सदा सब को होती है इसी कारण पश्वादि को रुपये पैसे की कभी इच्छा नहीं होती। तो इस से यह सिद्ध हुआ कि जिस को जिस पदार्थ वा काम के ग्रहण वा त्याग की इच्छा होती है उसी ने पहिले कभी उस वस्तु वा काम से सुख दुःख का अनुभव किया है तो इच्छा का जो आधार है वा आश्रय है अथवा इच्छा गुण जिस में रहता है उस का दो काल में होना सिद्ध होगया और बुद्धि में यह शक्ति नहीं इसलिये इच्छादि गुणों का जो आश्रय है वही स्थायी वस्तु आत्मा है। उसी ने उन पदार्थों की प्राप्ति से सुख दुःख भोगा था। इसी कारण उद्बोधक चिह्नादि से उस को फिर इच्छा हुई कि इस को मैं प्राप्त करूं वा त्याग करूं। यदि अनित्य बुद्धि को इच्छादि का आधार कोई माने तो जैसे अनुभव करने वाली अन्य बुद्धि के जाने भोगे का स्मरण अन्य बुद्धि को होकर इच्छा होसकती है। वैसे ही अन्य शरीरधारी के देखे सुने का स्मरण अन्य को उस के मत में होना चाहिये। यह दोष अनात्मवादी पर है। इस लिये मनुष्यादि के शरीरों में इच्छादिगुण जिस के आश्रय रहते वा होते हैं वह आत्मा कोई पदार्थ है। इस प्रकार इस सूत्र से अनात्मवाद का खण्डन करके आत्मा का होना इच्छादि गुणों से सिद्ध किया है। यही आशय वात्स्यायनभाष्य में स्पष्ट लिखा है। किन्तु आत्मा के स्वरूप का निर्णय यहां नहीं किया गया और न यह सिद्ध किया कि इच्छादि गुण जहां न दीख पड़ें वहां आत्मा को मत मानो। आत्मा वा जीव का क्या स्वरूप है वह किस २ योनि में जाता वा रहता है उस के इच्छादि गुण किस २ दशा में रहते हैं यह विषय भिन्न है। इस विषय के साथ सूत्र का आशय कुछ नहीं मिलता किन्तु सूत्र का पूर्वोक्त प्रकार विषय ही भिन्न है। जैसे कोई धूम को देखकर अग्नि का होना सिद्ध करे वैसे ही यहां आत्मा की सिद्धि का विषय

है। जैसे धूम से अग्नि के स्वरूप की और जिस २ दशा (हालत) में अग्नि रहता है इस विषय की सिद्धि नहीं होसकती वैसे आत्मा के इच्छादि गुणों से उस के स्वरूप को वा उस की सब दशाओं का निर्णय नहीं होसकता। ये दोनों विषय भिन्न २ हैं इस से वृक्षादि में जीवात्मा के गमनागमन का निषेध नहीं आता॥

अब जीव का स्वरूप क्या है? अथवा यों कहें कि सजीव वा सचेतन किस को मानना चाहिये?।

इस में पहिले प्रश्न का उत्तर तो यह है कि जीव का स्वरूप सूक्ष्म और चेतन है वह इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता वह शब्दादि के तुल्य किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि—

वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च॥
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

बाल के अग्रभाग के हजारवें अंश के तुल्य सूक्ष्म जीव है वही अच्छे २ यथोचित साधनों से मुक्ति के लिये समर्थ होता है। यद्यपि जीव इतना सूक्ष्म है तथापि वह जैसे छोटे बड़े शरीरों में जाता वा रहता है उस सब शरीर में उस की शक्ति व्याप्त रहती है। जैसे कि दीपक छोटे घर में जलाया जावे वा बड़े घर में जलाया जावे उसी घरभर में उस का प्रकाश फैलेगा। इसी प्रकार जीवात्मा की चेतनशक्ति सब छोटे बड़े शरीरों में फैली रहती है। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १८७ में लिखा है

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते॥

मन में प्रकट हुआ अग्नि के तुल्य प्रकाशस्वरूप चेतन सूक्ष्म मनुष्यादि के शरीरों में जीवपदवाच्य कहाता है। मानस कहने से प्रयोजन यह है कि मनरूप साधन के विना जीवात्मा के इच्छादि गुण प्रकट नहीं होते किन्तु आत्मा और मन के संयोग में ही इच्छादि गुण प्रकट होते हैं। सुषुप्ति में भी मन तमोगुण से आच्छादित रहता है इसी कारण ठीक २ सुख दुःखादि का अनुभव नहीं होता किन्तु जैसे अधिक निद्रा में सोते हुए को मच्छरादि के काटने से कुछ दुःख पहुंचता है इसी लिये वह स्वप्नदशा में ही शरीर को हिलाता हाथ

आक्षेप का उत्तर ॥

आर्यसिद्धान्तके गतभाग ५ के ११ वा १२ अङ्कोंमें मांसविषय पर जो लेख छपा था और अथर्ववेद के कई मन्त्रों का अर्थ भी किया था उस पर बाबा तेजसिंह नामी किन्हीं महाशय ने लाहौर के भारतसुधारनामी साप्ताहिक उर्दू पत्र में कुछ आक्षेप किया है। मेरा यह सिद्धान्त तो किसी लेख में वा पुस्तक बनाने में नहीं रहता और न किसी विचारशील विद्वान् का ऐसा विचार होना उचित है कि जो मैं लिखता वा कहता हूं वह सर्वथा निर्भ्रम है उस में कुछ भूल चूक नहीं है वा नहीं रह सकती। किन्तु मनुष्य के अल्पज्ञ होने से भूल रह जाना सम्भव है। और यह भी सम्भव है कि किसी बड़े विद्वान् की भूलको भी कोई साधारण मनुष्य पकड़ लेवे। कभी किसी विषय में विद्वान् भी विचल जाते और कहीं २ साधारण मनुष्यों की बुद्धि भी तत्त्व पर पहुंच जाती है परन्तु इतने से साधारण मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। इस कारण आर्यसिद्धान्त में कुछ भूल रह जावे तो आश्चर्य नहीं क्योंकि आरम्भ से अब तक यह प्रतिज्ञा कभी नहीं की गई कि मेरे लेख में कभी कहीं किसी प्रकार की भूल वा त्रुटि न होगी। अब क्रम से आक्षेप लिखकर उत्तर दिया जाता है--

बाबा तेजासिंह--आर्यसिद्धान्त में मांसविषय पर पं० भीमसेन ने लेख दिया है--बड़ी बुद्धिमानी से यह लिखा गया है परन्तु नतीजा पर पहुंचने में इनके तर्जुमे में (इन के पहले खयालात के कारण) गल्ती जरूर मालूम देती है ॥

उत्तर--मुझे सन्देह है कि मांसभक्षणविधि वा निषेध के किस पक्ष में बाबा तेजासिंह हैं?। लेख ऐसी चाल से लिखा है जो न्यायशास्त्र में लिखे वैतण्डिकों की शैली से टक्कर खाता है। वैतण्डिक मनुष्य अपना पक्ष वा सिद्धान्त कुछ नहीं कहता न किसी पक्ष को स्थापित करता है किन्तु अन्य के पक्ष वा सिद्धान्त में तर्क उठा देता है। और दूसरे के कथन का खण्डन करना ही वह अपना परमकर्त्तव्य समझता है। अनेक मनुष्य अपने पक्ष वा सिद्धान्त को इसलिये भी छिपाया करते हैं कि हम पर कोई प्रश्न न करे यदि करेगा तो हम पर उत्तर देने का बोझा पड़ जायगा। परन्तु अपने पक्ष वा सिद्धान्त को प्रायः वे ही लोग छिपाते हैं जिन का पक्ष कच्चा निर्बल होता वा वे स्वयं अपने पक्षके समर्थन में असमर्थ होते हैं। यदि सब की शुभचिन्तक बुद्धि से बाबा तेजासिंह का लेख होता तो उनको इतना

ही लिखना उचित था कि आर्यसिद्धान्त के अमुक लेख में अमुक २ भूल है उसके स्थान में ठीक ऐसा होना चाहिये । पहिले लिखा कि बड़ी बुद्धिमानी से लेख लिखा गया है फिर कहा भूल अवश्य मालूम होती है । परन्तु यह नहीं लिखा कि यह भूल है और सही यह होना चाहिये । बा० ते० ने आर्यसिद्धान्त में गलती रहने का कारण पहिले खयालात को माना है । हम इस बात को निस्सन्देह स्वीकार करते हैं कि हमारे पहिले खयालात अवश्य हैं और पहिले हुए ऋषिमहर्षियों के वेदानुकूल खयालातों [सिद्धान्तों] को ही हम आर्यसिद्धान्त मानते हैं । और जो अंगरेजीराज्य के प्रचार से फैले और फैलते जाते हैं उन को हम लोग नये खयालात मानते और समझते हैं । यद्यपि नये खयालात सभी पहिलों से विरुद्ध नहीं हैं तथापि मुख्य २ वा प्रबल २ विषयों में बड़ा विरोध है । जिसका दूर होना दुस्तर है ।

बा० ते०—वैद्यकशास्त्र में मांस खाने के अनेक गुण दिखाये हैं अर्थात् दोषों की अपेक्षा गुण अधिक हैं इत्यादि पं० जी का लेख "विजिटेरियन सोसाइटी" के बिलकुल विरुद्ध है । इनका यह दावा करना कि मांस में वैद्यकानुसार दोष ही दोष हैं गुण कोई नहीं खारिज होजाता है । इस समय बहुत से अंगरेजी डाक्टर भी मांस खाना लाभकारी बतलाते हैं और सिद्ध करते हैं । और पं० जी के लेख से प्राचीन वैद्यकग्रन्थों की भी सम्मति विदित होती है । इसलिये "विजिटेरियन" लोगों को चुप होना चाहिये । या वैद्यक तथा डाक्टरी की बात से इनकारी होवें ॥

उत्तर—संसारमें अनेक विषय ऐसे भी हैं जिन में सब विचारशील बुद्धिमानोंकी भी एक सम्मति न कभी हुई न होती और न होगी इसी विचार से न्यायभाष्यकर्त्ता वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है कि:—

"सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते नातोऽन्यथेति,,

मनुष्योंके सिद्धान्तों वा मन्तव्योंमें भेद होनेसे ही वाद जल्प और वितण्डा की प्रवृत्ति होतीहै । और व्यक्ति आकृतिके भेदानुसार बुद्धिभेदके अनादि होनेसे वादविवाद भी सृष्टिके आरम्भसे प्रलय तक बनाही रहताहै । इसीलिये जिन अंशोंमें प्रायः वादविवाद नहीं उठता वे ही सर्वसाधारणके लिये कल्याणके मार्गहैं । विजिटेरियन लोगोंके विरुद्ध होनेसे मेरा लेख बुराहै वा वास्तवमें कुछ

भूल है ? । आस्तिकों का ईश्वर मानना नास्तिकों के अनीश्वरवाद से बिलकुल विरुद्ध है इस से आस्तिकों की गलती आप सिद्ध क्यों नहीं करते ? । साफ २ मेरी भूल तब सिद्ध होती कि सुश्रुत नामक वैद्यकशास्त्र में मांस के अनेक गुण दिखाने का पता मैंने दिया था उसी ग्रन्थ में मांस के गुणों के बदले बाबा तेजासिंह जी दोष अधिक दिखा देते कि सुश्रुत के अमुक स्थल में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक लिखे हैं । ऐसा करते तो मैं अपनी भूल को अवश्य मान लेता ऐसे तो बा० ते० जी का यही लेख सर्वानुकूल नहीं तो क्या हम कहदें कि गलती है ? । ऐसा कदापि नहीं कह सकते किन्तु यही कहना चाहिये कि अमुक पुरुष का अमुक लेख सर्वानुकूल वा सर्वदेशी नहीं । इसलिये बा० तेजसिंह का गलती लिखना ही बड़ी गलती है । गलती वा भूल शब्दों का अर्थ भी समझलें । बाबा तेजासिंह के नये खयालात के कारण विदित होता है कि वे ईश्वरवाक्य वेद से भी अधिक विजिटेरियन लोगों के कथन का प्रमाण मानते हैं । वेदकर्त्ता तो एक ही ईश्वर है परन्तु विजिटेरियन सभी ईश्वर हैं इस कारण अनेक ईश्वरों के वाक्य को अधिक प्रमाण मानना चाहिये । अब मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि सुश्रुत के सूत्रस्थान का हिताहितीय नामक २० वीशवां अध्याय तथा सूत्रस्थान के ४६ छयालीशवें अध्याय को बाबा साहब देखें यदि वहां मांस के गुण दोषों की अपेक्षा अधिक न दिखाये हों तो मेरी भूल बताने का साहस करें । यदि वहां का लेख किसी प्रकार मिथ्या ठहरे तो यह मेरी भूल न होगी किन्तु वैद्यक सुश्रुत ग्रन्थ बनाने वाले वा उस में पीछे बना कर मिलाने वाले की भूल होगी । विजिटेरियन लोगों का वास्तव में यदि यह दावा है कि मांस में सब दोष ही दोष हैं तो उन की भी बड़ी भूल है । क्योंकि अनेक सिंहादि जीव केवल मांस खाकर ही जीवित रहते हैं क्या यह गुण नहीं है ? । सब पदार्थों में अत्यन्त घृणित निकृष्ट मनुष्यादि की विष्ठा है उस का भी जिन खेतों में खात पड़ता है वहां अन्नादि की अधिक उत्पत्ति होती तथा सूकर (सुअर) आदि खाकर अपना प्राण पोषण भी करते हैं । जब इत्यादि गुण विष्ठा में भी हैं तो मांस में सब दोष ही दोष हैं यह कौन सिद्ध कर सकता है ? । यह तो अवश्य माननीय है कि जब किसी वस्तु में मनुष्य की दोषबुद्धि होती है तब उस का गुण कोई भी सामने नहीं आता और जब उस के गुणों की ओर ध्यान जाता है तब दोष दूर भाग जाते हैं । एक काल में दोनों नहीं रहते ।

परन्तु यह साधारण मनुष्यों की चाल है विद्वानों की नहीं। विद्वान् लोग दोषों के समय गुणों को सर्वथा नहीं भूलते और गुणों के समय दोषों को भी सर्वथा नहीं भुलाते हैं। यही उनकी बड़ी योग्यता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु में अनेक२ गुण दोष हैं जिस समय जिस वस्तु के दोष अधिक हानिकारक हो जाते और गुणों से ठीक लाभ नहीं लिया जाता तब दोषों को आगे कर के उस के प्रचार के रोकनेका उद्योग जगत्में किया जाताहै और ऐसा ही करना भी चाहिये। तथा जब उसी वस्तु के दोष विशेष हानिकारक नहीं होते और गुणों से विशेष लाभ देखा जाता है तब उसके गुणोंको सामने रख कर मण्डन या समाधान करना पड़ता है। इस के आगे बाबा तेजासिंह ने लिखा है कि "अनेक अंगरेजी डाक्टरोंकी रायसे और पं० जी के लेखसे भी प्राचीन ग्रन्थों की सम्मति विदित होती है इसलिये विजिटेरियन लोगों को चुप होना चाहिये या वैद्यक तथा डाक्टरी की बात से इनकारी होवें" इसका उत्तर यह है कि अंगरेजी डाक्टर लोग भले ही मांस को लाभकारी मानकर विधान करते हों कि मांस खाना चाहिये विजिटेयन् लोग उन के अनुकूल बनें वा चुपहों और नये खयालात के अनुसार बा० तेजासिंह जी भी डाक्टरोंके अनुसार मांस का विधान करें वा विजिटेरियन् का पक्ष ले चुप हों वा मांसको सर्वथा दोषी समझें यह उन पर निर्भर है परन्तु प्राचीन वैद्यकशास्त्र पर कुछ दोष नहीं आता उसका आशय न समझने वालों पर दोष है। वैद्यकशास्त्र में मांस खानेका विधान नहीं है और न मैंने लिखाहै कि वैद्यक में गुण अधिक लिखे हैं इस लिये मांस खाना चाहिये। गुण अवगुण दिखाना एक सिद्धानुवाद का विषय है और विधान करना धर्मशास्त्रका काम है। अर्थात् "यह काम करना चाहिये" इसका नाम विधान विधिवाक्य वा धर्मशास्त्रहै और "अमुक वस्तुमें ऐसे २ गुण अवगुणहै" यह सिद्धानुवाद है। वैद्यक शास्त्र का विषय शरीर सम्बन्धी रोगोंसे प्राणियों को बचाना। और धर्मशास्त्र का प्रयोजन मुख्य कर आत्मिक सुधार से है इस लिये इन का विषय भिन्न २ है। धर्म के अनुसार वैद्यकशास्त्र के मानने वाले भी मांस खाना बुरा समझतेहैं। इस आशय को न समझ कर बा० ते० जी ने उलटा आशय जो सीधा जान पड़ा झट समझ लिया कि प्राचीन वैद्यक का आश्रय लेकर सम्पादक आर्यसिद्धान्त भी मांस खाना अच्छा बतलाते हैं। और पूर्वापर की इबारत

पर इतना भी ध्यान न दिया कि इन्होंने स्पष्ट ही मांस खाने को अधर्म लिखा है। और यह कहीं नहीं लिखा कि मांस खाना चाहिये फिर हम ऐसा व्यर्थ कुतर्क क्यों खड़ा करें थोड़ा भी सङ्कोच न आया। यदि सन्देहमात्र होता तो पत्रादि द्वारा पूछ लेते। वैद्यकशास्त्र का नाम हमने इस विचार से लिखा था कि यदि कोई शङ्का करे कि वैद्यक में मांस खाने के अनेक गुण लिखे हैं तो उस को अभक्ष्य क्यों ठहराते हो। इस का उत्तर भी वहां स्पष्ट आगया कि वैद्यक का विषय धर्मशास्त्र से भिन्न है। धर्मशास्त्र के अनुसार मांस सर्वथा अभक्ष्य है। धर्मशास्त्र में चोरी करना वा परस्त्री गमन निषिद्ध ठहराया है परन्तु व्याकरण में चोरी व्यभिचारादि सभी शब्दों की सिद्धि की है। जब कोई विद्यार्थी चोरी व्यभिचारादि शब्दों को व्याकरण से सिद्ध करता हो तो बा० तेजासिंह जी जैसे लोग झट कह बैठेंगे कि वह चोरी व्यभिचारादि को कर्त्तव्य ठहराता है। मैंने वहां स्पष्ट यह भी लिखा था कि वैद्यकशास्त्र अन्न में जो गुण ठहरावेगा वह चुराये हुए अन्न में भी अवश्य होंगे। चोरी का अन्न भी क्षुधा की निवृत्ति अवश्य करेगा। परन्तु चुराकर खाना धर्मशास्त्र के अनुसार अधर्म है। इसी प्रकार मांस खाने में अधर्म अवश्य है। परन्तु जो धर्मशास्त्र को ताक में रख कर देश चाल वा स्वभाव पड़जाने आदि के कारण सभी का मांस खाने में गुण दोषों का विचार किये बिना ही प्रवृत्त होते वा हो सकते हैं उन को वैद्यकशास्त्र गुण दोष दिखाता है कि विशेष अवगुणकारी वस्तु खाकर शारीरिक दुःखों से जितना बचे उतना ही अच्छा है। इत्यादि प्रकार परोपकार बुद्धि से सब शास्त्र बनाये हैं। उन को कोई न समझ कर अपनी अज्ञानता के दोषों को शास्त्रों पर झोंके तो यह उस का दोष है। हम बा० तेजासिंह जी आदि लोगों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि आगे कभी ऐसे लेख लिखने की उत्कण्ठा हो तो किन्हीं अच्छे विचारशील पुरुषों की सम्मति लेलिया करें॥

बा० ते०--पं० जी के लिखने पर एक यह और शङ्का उठती है, आयुर्वेद जो वैद्यकग्रन्थ है और अथर्ववेद का उपवेद है इन दोनों का क्यों विरोध होना चाहिये ? ॥

उत्तर—अथर्ववेद और उस के उपवेद सुश्रुत से परस्पर विरोध नहीं है। यह आप जैसे थोड़े से मनुष्यों को अपनी बुद्धि के अनुसार दीख पड़ा होगा।

अथर्ववेद में मांस खाने का जब स्पष्ट निषेध है और वैद्यक आयुर्वेद में विधान नहीं कि मांस खाना चाहिये तो विरोध कहां से आया। जब एक कहे कि इस काम को न करना चाहिये और दूसरा विधान करे कि इस को अवश्य करना चाहिये तो विरोध हो सो अथर्ववेद में मांस खाने का निषेध है और आयुर्वेद में सिद्धानुवाद है किन्तु विधान नहीं है फिर विरोध कहां से आया ? । मांस के विषय में जो कुछ सिद्धान्तपक्ष है सो पहिले भी हम छपा चुके हैं और आगे यहां भी अन्त में फिर लिख देंगे अभी केवल वादविवाद है इस को कोई सिद्धान्तपक्ष न समझे ।

बा० ते०—मन्त्र—एतद्वा उ स्वादीयो० ।

इस मन्त्र का अर्थ वे इस तरह करते हैं " यही गौ का दूध और मांस अतिस्वाद है इसी को न खावे,। और लिखते हैं कि यह अतिथि यज्ञ का सम्बन्ध है कि अतिथि को भोजन कराकर यज्ञ के शेष को खावे । गौ का दूध और सामान्य जानवर का मांस यद्यपि अत्यन्त स्वाद है परन्तु उन को न खावे क्योंकि यह यज्ञ में नहीं चढ़ाई गयी यहां दोनो वस्तु एक ही वजह से निषेध किये हैं या तो यज्ञ के सिवाये दोनों का इस्तेमाल जायज़ है या दोनों का नाजायज़—यह नहीं कि पं० भीमसेन साहब मांस को चोरी के माल से उपमा दें और दूध पीने को अधर्म न समझें । इस में पक्षपात पाया जाता है ।

उत्तर—यहां "यही गौका दूध और मांस अति स्वादु है उसी को न खावे" यह आर्यसिद्धान्त के सम्पादक का लेख नहीं है किन्तु पूर्वपक्ष है। जिस आक्षेप कर्त्ता को पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष समझने तक की योग्यता नहीं वह कैसा विद्वान् वा बुद्धिमान् है यह पाठक लोग स्वयमेव समझ सकते हैं । क्या कोई विचारशील कह सक्ता है कि ऐसे मनुष्य आक्षेप करने के अधिकारी हैं ?। संस्कृत में स्वादु शब्द के दो अर्थ हैं एक मिष्ट नाम मीठा द्वितीय इष्ट जिस की चाह हो । "एतद्वा उ०" इस मन्त्र में दोनों ही अर्थ योग्यता देखकर लिये गये हैं । अब बाबा तेजासिंह जी से प्रश्न है कि "यहां दोनों वस्तु एक ही वजह से निषेध किये हैं" वह एक वजह कौन है ? उस्के सिद्ध करने का भार बा० तेजासिंह पर है। उन को प्रमाण या साबूती देनी चाहिये कि दोनों के निषेध का एक ही अमुक कारण है। हमारे पक्ष में यह दोष वा प्रश्न इस लिये प्रचरित नहीं होता कि हमने पहले ही भिन्न २ कारण लिख दिया है कि दूध से अग्नि का बुझाना सम्भव है इस

कारण यज्ञ में दूध न चढ़ाना चाहिये । तथा मांस में हत्यारूप पाप लगता है और मांस के जलने से दुर्गन्ध भी आता है । इन भिन्न २ कारणों से यज्ञ में किये निषेध हैं । पाठकगण ! आगे बाबा साहब की बुद्धि की तेज़ी पर विशेष ध्यान दीजिये ! । आप लिखते हैं कि "याती यज्ञ के सिवाय दोनों का इस्तेमाल जायज़ है या दोनों का नाजायज़" यदि यह नियम शास्त्रीय व्यवस्था वा लोक व्यवहार के अनुसार किसी प्रकार भी ठीक होजावे कि जिन दो वा अधिक वस्तुओं का किसी समय वा किसी काम में किसी कारण निषेध किया जाय तो उसका सभी कामों में वा सभी समयमें निषेध होना चाहिये । जैसे मान लीजिये कोई मनुष्य एकान्त में किसीके साथ बात करता हो उसी समय अन्य दो पुरुष वहां आवें जिन में एक को तो वह एकान्त की बात सुनाना ही नहीं चाहता इस से निषेध करे और दूसरे को समीप आने से इस लिये रोके कि जिस से द्वितीय साथी को बुरा न लगे वा अन्य किसी प्रयोजन से रोके तो यह नहीं हो सकता कि फिर कभी उन दोनों में से किसी के साथ एकान्त में बात हो न करे । इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त मिल सकते हैं जिन में किसी समय वा कार्य में दो वा अधिक वस्तुओं का एक साथ निषेध किया गया हो और समयान्तर वा कार्यान्तर में उन में से किसी का विधान करना आवश्यक पड़े हम इस को प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हैं कि संसार में जितने पदार्थ हैं सभीके गुण कर्म स्वभाव भिन्न २ हैं किसी २ अंश में किन्हीं के परस्पर गुण कर्म स्वभाव मिलते भी हैं तो भी उन में वैधर्म्यरूप भेद अवश्य रहेगा और जिन में कुछ भी भेद न होवे पदार्थ कभी दो नहीं कहे जा सकते । इसी कारण किन्हीं दो वस्तुओं का एक ही कारण से विधि वा निषेध नहीं हो सकता । इस का भार बाबा तेजासिंह जी पर है कि वे किन्हीं दो वस्तुओं का निषेध वा विधान दृष्टान्त में दिखावें और अपने पक्ष को सिद्ध करें क्योंकि प्रतिज्ञा करने वाले ही का काम है कि वह न्यायानुसार अपनी प्रतिज्ञा को हेतु दृष्टान्तादि द्वारा सिद्ध करे । हम ने तो दोनों वस्तुओं के निषेध का पृथक् २ कारण प्रथम ही लिख दिया है कि दूध से अग्नि बुझ जायगा और मांस के चढ़ाने से हिंसारूप दोष वा पाप यजमान को लगेगा तथा दुर्गन्ध भी उठेगा । जब मांसभक्षण का निषेध हम ने वेदादि-शास्त्रों के अनुसार मुख्य कर हिंसारूप अधर्म के कारण किया है और वही कारण यज्ञ में न चढ़ानेके निषेध का है और दूध में हिंसादि पाप कोई कभी नहीं

ठहरा सकता तो इन दोनों के निषेध का भिन्न २ कारण सिद्ध हो गया परन्तु "दोनों वस्तु एक ही वजह से निषेध किये हैं" ऐसा कहने वाले बाबा तेजासिंह जी ने वह एक वजह (कारण) नहीं दिखाया कि अमुक एक ही वजह से दोनों का निषेध है । क्यों जी बाबा साहब ! आप ही बताइये कि क्या आप दूध और मांस को एक ही सा समझते हैं ? । इसी लिये आप पक्षपात रहित हैं और हम ने मांस को चोरी का माल ठहराया तथा दूध के पीने को अधर्म नहीं ठहराया इसी लिये आपने हम को पक्षपाती ठहराया सो यह आप की योग्यता है । इस प्रकार का पक्षपाती रहना हमको स्वीकार है । पर मांस और दूधको बराबर ठहराकर निष्पक्षपाती बनना वा कहाना हमको स्वीकार नहीं है।

बा० ते०-मन्त्र-स य एवं विद्वान्०

पं० साहब लिखते हैं कि इस मन्त्र के अन्य पदों में कुछ झगड़ा नहीं है केवल "मांसम्" उपसिच्य" इन दो पदों पर विचार करना उचित है । वह इस का अर्थ यों करते हैं कि अतिथि के सामनें मांस परोस कर भेंट वा दक्षिणा देवे । पं० साहब फर्माते हैं कि इस सूक्त में जिसका वर्णन है वे पांच मन्त्र क्रमशः दूध, घी, मधु, स्वादु पदार्थ मांस और पानी अतिथि के सत्कारार्थ पाये जाते हैं और जिस समय और कुछ प्राप्त न हो तथा प्राण बचाने के लिये निषेध नहीं है । इस में शङ्का उठती है कि यह बात पं० जी ने कहां से निकाली ? वेदमन्त्रों से तो नहीं निकल सकती। मालूम होता हैं कि ये बातें अपनी ओर से निकाली हैं और उस की वजह साफ है ।

उत्तर-आर्यों ने वेद को सब विद्याओं का मूलमात्र माना है। जिन लोगों को मूल में सब तत्त्व जान पड़ता है उन के लिये टीका वा भाष्य करने की कुछ आवश्यकता ही नहीं पड़ती पर ऐसे मनुष्य पृथिवी पर आज कल विरले ही होंगे किन्तु टीका से भी मूलका आशय समझने वाले कम हैं किन्तु ऐसे मनुष्य अब अधिक हैं जो टीकाओं को भी यथावत् नहीं समझ पाते यही हमारे देश के दुर्भाग्य का बड़ा कारण है । और ये ही तृतीय प्रकार के मनुष्य अपने मन ही मन दम भरते हैं कि हम सब कुछ समझने को समर्थ हैं। खाली घड़ा ही अधिक उछला करता है। आम आदि के मूलरूप बीज में वृक्ष के स्कन्ध शाखा डाली पत्ते आदि सूक्ष्म अवयव भौतिक नेत्र से किसी को नहीं दीखते । तथा साधारण लोग

बुद्धि से भी निश्चय नहीं रखते न जानते हैं कि बीज में वृक्ष के सब अंश विद्यमान हैं परन्तु विद्वान् लोगों को बुद्धिरूप नेत्रों से स्पष्ट दीख पड़ता है कि बीज में वृक्ष के सब अंश विद्यमान हैं। मध्यम कक्षा के मनुष्य टीका वा व्याख्यान से मूल का कुछ आशय समझ लेते हैं। अक्षरार्थ और आशय में भी भेद होता है। वेदादि शास्त्रों में जब सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं कि—

"यजमानस्य पशून् पाहि। मैनं हिंसीः। न हिंस्यात् सर्वा भूतानि। ब्राह्मणो न हन्तव्यः। गौर्न हन्तव्या॥"

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मांस खाना एक प्रकार का अधर्म है। और शास्त्रों में जितनी बातें सामान्य उत्सर्गरूप से वर्णन की गई हैं उन सब के अपवाद भी कहीं कभी देशकाल वस्तु भेद से रखने पड़े हैं। अपवाद रक्खे विना जगत् का कोई व्यवहार कभी नहीं चलता है। वेदादि धर्मशास्त्रों में जो कर्त्तव्य काम सन्ध्या अग्निहोत्रादि वा दया क्षमादि कहे गये हैं उन का किसी अशक्त दशा में त्यागरूप अपवाद और जो काम त्याज्य हैं उन का विशेष दशा (हालत) में ग्रहण बताया गया है। इस अपवाद से उत्सर्ग की कुछ भी कोई हानि समझे तो यह समझने वाले का दोष है किन्तु शास्त्र का दोष नहीं। जब पहिले लोग सनातनधर्म और आपद्धर्म को यथावत् समझते थे तब प्रत्येक स्थल में यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी कि यह सनातन वा सामान्यरूप उत्सर्गधर्म है तथा यह आपत्काल का धर्म वा विशेषरूप अपवाद धर्म है। परन्तु अब वैसा समय नहीं रहा। अब संस्कृत पढ़े हुओं में भी ऐसे कम लोग हैं जो सामान्य विशेष वा उत्सर्ग अपवाद वा सनातनधर्म आपद्धर्म की व्यवस्था को ठीक २ समझते हों। बड़े शोक का स्थान है कि नेत्रहीन पुरुष यदि किसी को बाधित करे कि तुम दर्पण में मेरा मुख मुझे दिखाओ तो कोई भी उपाय नहीं दीखता कि उस मनुष्य को कोई रूप दिखा सके। इसी प्रकार न्यायादि शास्त्रों के कान फूंछ का भी जिन को बोध नहीं उन को सामान्य विशेष की व्यवस्था समझा देना कठिन है। सामान्य और विशेष दोनों एक ही में विद्यमान रहते हैं। जो सामान्य है वह किसी की अपेक्षा से विशेष रहता।

और विशेष भी किसी की अपेक्षा से सामान्य होता है। सामान्य विशेष से तृणमात्र भी कोई वस्तु रहित नहीं है । जिन मन्त्र वा श्लोकादि में सामान्य विशेष कोई भी शब्द नहीं है और उन की व्याख्या में कोई टीकाकार सामान्य विशेष शब्दों को लिखे तो इस व्यवस्था को कुछ समझने वाले तो प्रसन्न होंगे कि टीकाकार ने हम को यह बोध करादिया कि अमुक विधि सामान्य है वा विशेष तथा अमुक निषेध सामान्य है वा विशेष । परन्तु अधकचरे लोग शीघ्र ही तर्क कर उठेंगे कि यह सामान्य विशेष की बात मूल से तो नहीं निकलती मालूम देती टीकाकारने अपनी ओर से निकाली होगी । अब विचारशीलों को ध्यान देना चाहिये कि हम इस का और क्या उत्तर देवें ?। हम बाबा तेजासिंह जी से ही पूछते हैं कि जिन मन्त्रों का अर्थ सम्पादक आ०सि० ने किया है उन को आप सामान्यविधि वा निषेध समझते हैं अथवा विशेष विधि या निषेध समझते हैं ?। यदि सामान्य मानो तो उस का विशेष दिखाइये । और यदि विशेष मानो तो उस की अपेक्षा सामान्य दिखाइये ?। क्योंकि पूर्व पक्षी भी उत्तरपक्ष से विरुद्ध कुछ अपना पक्ष अवश्य समझता है यदि कुछ नहीं समझता तो उस का प्रलापमात्र व्यर्थ है ।

एक स्त्री वा पुरुष का एक ही विवाह होना चाहिये यह सामान्यधर्म वा सनातनधर्म है । और पुनर्विवाह वा नियोग करना विशेष धर्म वा आपद्धर्म है । स्त्रियों के सनातनधर्म विषय में मानवधर्मशास्त्र के ५ अ० में लिखा है कि–

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥

कि पतिका देहान्त होने पर मरणपर्यन्त शान्तिसे नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहे । क्योंकि श्रेष्ठ स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिका विधान नहीं है । इस प्रकार सनातनधर्मको सामान्यबुद्धिसे दृढ़ करके आगे नवमाध्यायमें लिखाहै कि–

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥

कुल की समाप्तिमें पति के अभाव में स्त्री को चाहिये कि देवर वा किसी कुटुम्बी पतिके आज्ञासे अभीष्ट सन्तान उत्पन्न करलेवे । इत्यादि प्रकार वेदादि शास्त्रों में जितना विधि वा निषेधहै वह कोई सामान्यदृष्टिसे तथा कोई विशेष

दृष्टि से कहा गया है। एक विवाह सामान्य और पुनर्विवाह वा नियोग विशेष है। यह बात यहां दृष्टान्तमात्र लिख दी है अन्य कुछ प्रयोजन नहीं था।

(मांसमुपसिच्य०) इसी मन्त्र का अर्थ व्युत्पत्तिपक्ष के अनुसार भी किया गया है। पहिले रूढिपक्ष का अर्थ यहां इस लिये किया था कि रूढिपक्ष मानने वाले भी सनातनधर्म वा सामान्यदृष्टि से मांस को भक्षणीय नहीं ठहरा सकते किन्तु मुख्यकर वह मेरा सिद्धान्तपक्ष नहीं है। यह तो बहुत प्रसिद्ध बात है कि जो बात पहिले लिखी जावे वह पूर्वपक्ष कहाता और जो उस से विरुद्ध पीछे लिखा जावे वह उत्तरपक्ष माना जाता है यदि बाबाजी को इतना भी बोध होता तो इस मन्त्र के पूर्वपक्ष में कुछ तर्क उठाना योग्य न था। यह भी स्पष्ट ही है कि पहिले लिखे अर्थ में सम्पादक को स्वयं ही सन्तोष हो जाता तो फिर यौगिक पक्ष के द्वितीय अर्थ करने की इच्छा स्वयमेव न होती। यह शैली ऋषि महर्षियों के बड़े २ प्रतिष्ठित पुस्तकों में भी है कि किसी विषय का खण्डन वा मण्डन चला हो वहां कई पक्षान्तरों से प्रतिपादन करते हैं। एक २ प्रश्न के वा शङ्का के अनेक समाधान दिये गये और दिये जाते हैं उन सब का यही आशय होता है कि पहिले २ पक्षों में कुछ २ ग्लानि उन शास्त्रकारों को स्वयमेव होती है परन्तु अगले २ पक्षान्तर वा समाधान पहिले २ की अपेक्षा मुख्य वा दृढ़सिद्धान्त माने जाते हैं संस्कृत विद्या के अच्छे २ विद्वान् लोग अच्छे प्रकार इस की व्यवस्था जानते हैं। यदि सत्सङ्गादि से भी इस आशय को बाबा साहबने कुछ जाना होता तो इतना परिश्रम कदापि व्यर्थ करना वे स्वीकार न करते ॥

बा०ते०—इस मन्त्र के बाद दो तीन मन्त्रों में जहां मांस शब्द आया है, इस के अर्थ पं० जीने बलकारक औषध करने की कोशिश की है। लेकिन काफी वजह नहीं बतलाई कि यहां बलकारक ओषधि का अर्थ क्यों लेना चाहिये। एक जगह मांसशब्द का अर्थ मांस और दूसरी जगह बलकारक औषध दुरुस्त नहीं है। खासकर जब कि एक ही प्रकरण है। बलकारक ओषधि के अर्थ करने में एक यह भी शङ्का उठती है कि मन्त्रों में और खास चीजों के नामों में जैसे—दूध, घी, शहद और जल। फिर कोई वजह नहीं कि मांस के वैसे ही खास नाम के अर्थ क्यों न लिये जावें ? ॥

उत्तर—इस का अधिकांश उत्तर तो पूर्व आगया कि रूढ़िपक्ष के अनुसार पूर्वपक्ष में मांस का रूढ़ि अर्थ किया और उत्तरपक्ष में निरुक्त तथा पूर्वमीमां-

साकारों की सम्मति के अनुसार यौगिक अर्थ दिखाया और इसी को सिद्धान्त ठहराया फिर (अपूपवान्०) तथा (यं ते मन्थम्) इन अगले दो मन्त्रों में बार २ पूर्वपक्ष लिखना पुनरुक्त समझकर केवल उत्तरपक्ष ही लिख दिया अर्थात् केवल एक यौगिक ही अर्थ करदिया। रहे सब से पहिले दो मन्त्र उन में मांस का निषेध है सो यदि निषेध में भी यौगिकार्थ किया जाय तो क्या ओषधियों का भी बाबा साहब निषेध करना चाहते हैं?। यह नियम वेद में नहीं है कि यौगिक ही अर्थ सर्वत्र लिया जाय वा रूढ़िही किन्तु जिस रीतिपर निश्चित किया हुआ वेद का सिद्धान्त न बिगड़े तथा परस्परविरोध न आवे ऐसा अर्थ प्रकरणानुसार करना चाहिये अब शोचने से सब महाशयों को विदित हो जायगा कि जब पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष की रीति से दो अर्थ किये गये तो एक प्रकरण में दो अर्थ परस्पर विरुद्ध कदापि नहीं हो सकते। ऐसे अंश को न समझकर देखने वाले की बुद्धि में ही विरोध है। और एक प्रकरण में भी एक शब्द के दो अर्थ होसकते हैं। जैसे मानलीजिये कि भोजन समय में कोई कहे कि "पयः पेयम्" तो दोनों अर्थ सम्भव हैं अर्थात् पानी तो सम्भव और उपयोगी ही है परन्तु दुग्ध पीना भी अयुक्त नहीं। इस प्रकार जो परस्पर विरुद्ध न हों ऐसे एक ही प्रकरण में एक शब्द के अनेक अर्थ भी होसकते हैं। मांसशब्द से बलकारक औषधार्थ लेने में काफी वजह यौगिकपक्ष का आश्रय ही है। मांसभक्षण को अच्छा समझने वालों के लिये काफी वजह कोई न मिलेगी क्योंकि जिस के मुख है वह कुछ कहता ही रहेगा। चोरों से चोरी छुड़ा देने के लिये सृष्टि के आरम्भ से आजतक किसीने काफी वजह न बतलाई कि जिससे कोई भी चोरी न करता। ऐसे ही मांसभक्षण करने वाले किसी के समाधान को नहीं मानते न मानेंगे। यदि राजदण्ड नियत होजाय तो छिप २ कर उस काम को अनेक लोग करेंगे और अनेक छोड़ भी देंगे। अब रहा यह कि दूध घी आदि का यौगिक अर्थ क्यों नहीं किया गया तथा उन्हीं के साथ आये मांस शब्द का यौगिक अर्थ किया गया इस में विशेष कारण क्या है?। इस का उत्तर यह है कि मांसशब्द का जिन मन्त्रों में यौगिक अर्थ किया गया है उन में घृत दुग्धादि शब्द नहीं हैं। और यह नियम नहीं हो सक्ता कि प्रकरण भर के सभी शब्दों का अर्थ यौगिक ही किया जाय वा सभी को रूढ़ि मान लिया जाय। अर्थ करने और समझने के लिये कुछ ऊपरी सामग्री और कारण भी समझने और जाननेकी आवश्यकता पड़ती है। और वह सामग्री वा कारण

शास्त्रका सिद्धान्तजानाहै । जब हमने वेदादि शास्त्रका सिद्धान्त निश्चयकर मान लिया कि धर्म का प्रथम वा मुख्य लक्षण अहिंसा है और हिंसारूप अधर्म है । अहिंसा को वेदके अनेक स्थलोंमें धर्ममाना और हिंसाको अकर्त्तव्य ठहरायाहै । तथा जब दूध, घीके रूढि अर्थ लेनेसे उक्त सिद्धान्त कुछ नहीं बिगड़ता और मांसके रूढि अर्थ लेनेसे, सिद्धान्तसे विरोध आताहै तो मांसका यौगिकार्थ क्यों न किया जाय ?। इसमें और ऋषियोंकी सम्मतिहै फिर यौगिकार्थ करनेमें कुछ भी विरोध नहीं न कोई दोषहै । यह समाधान आस्तिक वेदमतानुयायी जिज्ञासु पुरुषोंके लियेहै । यदि बाबा साहब भी वेदमतानुयायी हैं तब तो यही समाधान अधिकहै और नास्तिक वा दुराग्रही वैतण्डिकोंके लिये समाधान और प्रकारके होसकते हैं ॥

बा० ले०—पं० भीमसेन साहबने कोई साफ मन्त्र मांसभक्षणके विरुद्ध नहीं पेश किया ॥

उत्तर—इससे पहिले बाबा साहबने सम्पादक आर्यसिद्धान्तको कोई ऐसी कड़ी आज्ञा नहीं दी थी कि तुम मांसभक्षणके विरुद्ध कोई वेदमन्त्र पेश न करोगे तो अमुक दण्ड होगा । यदि राजदण्डकासा भय होता तो खोजने में परिश्रम भी किया जाता उस के लिये अन्य काम भी छोड़ दिये जाते । मांसभक्षण के विषयका मैंने अपनी ओरसे लेख नहीं उठाया किन्तु पंजाबसे ही एक महाशयने मेरे पास छपे हुए अथर्ववेदके मन्त्र भेजे थे और उन्होंने अपने पत्रमें लिखा था कि तुम इन मन्त्रोंका अर्थ करो । मांस खाने वाले लोग इन मन्त्रोंको अपने पक्षका पोषक समझते हैं । इस कारण मैंने उनका अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार किया और जैसा वेदादि शास्त्रोंका सिद्धान्त जाना था उस के अनुसार अपनी सम्मति भी लिखी । मैंने लिखा था कि सृष्टिके आरम्भमें कोई मनुष्य मांस खाताही नहीं था फिर अप्राप्त वस्तुका निषेध वेदमें क्यों किया जाता । मांसभक्षणके निषेध की वेदमें कुछ आवश्यकता न थी । इस पर बाबा साहब का तर्क है कि यह दलील वेदोंके सब देश कालमें होनेके विरुद्ध है । हम पूछते हैं कि बाबा साहब यदि अप्राप्तिमें निषेधका सम्भव मानते हैं तो बतावें कि जो पुरुष चोरी नहीं करता उसको क्यों नहीं कहा जाता कि चोरी मतकर जो कोई मानेगा कि अप्राप्तिमें भी निषेध होताहै उसके मतमें प्राप्तिमें विधान भी होना चाहिये । अर्थात् जो सत्यबोलताहो उससे भी कहा जाय कि सत्य बोल ।

परन्तु ये दोनों बातें शास्त्रके सिद्धान्तसे और लौकिक व्यवहारसे भी विरुद्ध हैं। जो जिस कामको नहीं करता उसके लिये विधि वा आज्ञा है कि तुम ऐसा करो और जो नहीं करने योग्य काम करता है उस को निषेध है कि तुम ऐसा मत करो। यह मेरा प्रयोजन वा आशय था। क्या बाबा साहब इससे उलटा मानते हैं ?। क्या प्रलयमें वेदोंका प्रचार बाबासाहबके मतमें था वा रहता है ?।

अब रहा यह विचार कि ईश्वर भविष्यत्को भी जानता है कि आगे मनुष्य ऐसा मांसभक्षणादि काम करेंगे फिर उसने वेदोंद्वारा मांसभक्षण का निषेध क्यों नहीं किया ? यदि नहीं किया तो वह सर्वज्ञ नहीं और वेद भी सार्वकालिक नहीं रहा। इस का उत्तर यह है कि परमेश्वरने वेद में यद्यपि ऐसा स्पष्ट नहीं भी कहा हो कि मांसभक्षण तुम मत करो तथापि सब कालके लिये सामान्य कर हिंसारूप अधर्मका निषेधकर दिया है और किसी प्राणीकी हिंसा किये कराये बिना किसीको मांस प्राप्तहो नहीं सकता। तो इससे वेदद्वारा मांस भक्षणका निषेध आगया। इसलिये वेद वा ईश्वरपर कोई दोष नहीं आसकता। शहद्के निकालने में जीवहिंसाको बचा सकता है क्योंकि जिस छत्ते में शहद् रहता है उसके भीतर कोई मक्खी वा उनके बच्चे नहीं रहते। और मांस तथा रुधिरके साथतो प्राणों का ही निवासहै। मांसतो कभी कोई बिना जीवहिंसा के निकाल ही नहीं सकता। मधुमें मांसके तुल्य किसीके प्राणोंका वास नहीं है इस लिये मांस और मधुमें बड़ा अन्तर है। बाबा साहबकी यह बड़ी भारी भूलहै जो मांस और शहद्में बराबर पाप ठहरानेका उद्योग करते हैं। यदि बाबा साहबको वा उनके साथियोंको वेदमन्त्रों के अशुद्ध अर्थ समझनेकी शक्ति है तो शुद्ध भी अवश्य समझ सकेंगे फिर इतने वितण्डावाद के व्यर्थ निर्मूल कुतर्कोंके करनेमें समय व्यतीत न करके केवल उन्हीं अथर्ववेद के मन्त्रोंका ठीक२ अर्थ करके छपा देते और चाहे यह भी न कहते कि अमुक पुरुष ने जो अर्थ कियाहै वह गलतहै तो भी सब किसीको प्रकट हो जाता कि अमुक२ वेदमन्त्रों का यह अर्थ निर्दोष है और सम्पादक आर्यसिद्धान्त का अर्थ दोषयुक्त स्वयमेव सब को प्रकट होजाता। परन्तु इस के लिये कुछ सामग्रीकी अपेक्षा है सो बाबा साहब कहां से लावें ?। आज कल ऐसे लोग बहुत हैं जो स्वयं तो कुछ करने

की शक्ति रखते नहीं और पांच सवारों में भरती होना चाहते ही हैं तो अन्य के किये कार्यों में कुछ दंश देना अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं ॥

अब इस लेख को संक्षेप से लिख दिया इस कारण समाप्त करते हैं । और आगे किसी मनुष्य के ऐसे साधारण लेखों का उत्तर नहीं दिया जायगा जो चाहे सो तैसा लिखा करे । हां, यदि कोई संस्कृतज्ञ पुरुष शास्त्रोक्तयुक्ति प्रमाणयुक्त लेख लिखेगा और उस के किसी अंश का उत्तर देना आवश्यक जान पड़ेगा तो दिया जायगा किन्तु सब का नहीं ॥

अब मांस भक्षण विषय में संक्षेप से सिद्धान्त पक्ष इस लिये लिखदेते हैं कि जिस को देख कर सर्वसाधारण को ज्ञात हो जाय ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो जनः ।
सुखं वा यदि दुःखं स धर्मो परमो मतः ॥

जो मनुष्य संसार में सब प्राणी मात्र के सुख दुःख को अपने समान देखता है वह सर्वोपरि धर्मात्मा है । अर्थात् वह चाहता है कि ऐसे २ वर्त्ताव वा काम मेरे साथ कोई न करें उन २ की किसीके साथ मन वाणी कर्मसे कुछ भी चेष्टा अन्य किसी प्राणीके साथ स्वयं भी न करे । जो मनुष्य चाहता है कि मुझको कोई मार न डाले वा सिंह भेड़ियादि न खाजावे वह मनुष्य स्वयं किसी प्राणीको मारने की चेष्टा न करे वा ऐसा काम मांसभक्षणादि न करे जिससे किसी का प्राण वियोग होने की सम्भावना हो । जो चाहता है कि मुझको कोई प्राणी दुःख न देवे वा दुःख देने की चेष्टा न करे वह अपने किसी काम से किसी को दुःख न पहुंचावे जो चाहता है कि मेरे साथ कोई छल फरेब वा मिथ्याभाषण न करे वह कभी किसी के साथ छल कपट न करे । जो चाहता है कि मेरे पदार्थ कोई न छीन ले वा मेरी चोरी कोई न कर ले जाय वह अन्य किसीके पदार्थ को स्वामीकी आज्ञा के विना वा अन्याय से कदापि ग्रहण न करे । इत्यादि जो २ बातें वा वर्त्ताव अपने लिये किसी से नहीं चाहता और जैसे २ काम वा वर्त्तावोंको अपने लिये अन्यों से चाहता है वैसे २ काम अन्य प्राणियों के साथ करे यही सर्वोपरि धर्म है । जब मांसभक्षी कोई नहीं चाहता कि मेरा मांस कोई खा लेवे परन्तु सिंहादि हिंसक मांसाहारी उसको हृष्टपुष्ट देखके मांस खाना चाहते हैं । फिर वह क्यों दूसरों का मांस खाना चाहता है ? । यही अन्याय है । इसी कारण मांसभक्षण

महाअधर्म राक्षसी कर्म है इसी को सर्वसाधारण के लिये आत्मप्रिय वा आत्मानुकूल धर्म माना है कि प्रत्येक आत्मा अपने अनुकूल सुख के साधनों वा सुख को चाहता है । दुःखको कोई नहीं चाहता दुःख सबके लिये प्रतिकूल है । अनुकूल सुखको जैसे अपने लिये सब चाहते हैं वैसे अन्यके लिये भी सुख पहुंचाने का उद्योग करना वा इच्छा रखनी धर्म है और जैसे अपने लिये प्रतिकूल दुःख है वैसे सब के लिये समझना चाहिये । संसारमें जितने काम प्रतिकूल अनिष्ट वा दुःखदायी हैं उन सबसे अधिक प्रतिकूल अनिष्ट वा दुःखदायी मरण है । मरण से अधिक दुःख किसी काम में कोई प्राणी नहीं समझता मरण सब के लिये बड़ा भयङ्कर है । मनुष्य बड़ी २ विपत्ति वा दुःखों के सहलेनेके लिये तत्पर हो जाता है परन्तु मरण कोई नहीं चाहता । जब मरण का समय किसी को निकट प्रतीत होता है तब मनमें बड़ा भय प्रतीत होता है और दुःखसागरमें डूब जाता है । हिंसक प्राणियोंसे सब डरते हैं । इसी कारण सर्प वृश्चिकादि के नाम से भी सबको कुछ न कुछ भय होता है । मांसाहारियों से भी जिन का मांस वे खाते हैं उनको सदा भय लगा रहता है कि न जाने आज किसको यह खायगा । जिन से प्राणियोंको भय लगा रहता है उनके लिये सदा भय उपस्थित है और उनकी सद्गति होना कभी सम्भव नहीं इस लिये मनु० अ० ६ में लिखा है कि—

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥

जिस द्विज से किसी प्राणी को थोड़ा भी भय नहीं पहुंचता उस को शरीर छोड़ने में किसी प्राणी से थोड़ा भी भय उपस्थित नहीं होता । तथा महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में लिखा है कि—

न हिंसयति यो जन्तून्मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥

किसी के जीवन में बाधा पहुंचाने वाले मन वाणी शरीर से जो जन्तुओं को कष्ट नहीं पहुंचाता वा नहीं पहुंचवाता उस को अन्य प्राणियों से भी पीड़ा नहीं पहुंचती ।

इसकारण मांसभक्षण धर्म से विरुद्ध अधर्म का काम है । इस लिये सब सुखाभिलाषियों को ऐसा काम अवश्य त्याग देना चाहिये ॥

ओ३म्

योधपुरयात्रा का वृत्तान्त ॥

अनेक महाशयों को विदित होगा कि प्रथम ही वार राज्य जोधपुर मारवाड़ में जुलाई सन् ९३ के अन्त में मेरा जाना हुआ। इस का संक्षिप्त वृत्तान्त सब आर्य महाशयों को जताने के लिये लिखता हूं। मैं ने जब से महाराजा प्रताप-सिंह जी की प्रशंसा सुनी थी कि उन्हों ने आर्यधर्म को अच्छे प्रकार स्वीकार किया है। आर्यधर्म में बड़ी प्रीति रखते हैं। तभी से मेरा चित्त चाहता था कि ऐसे राजपुरुषों से मेल हो तो मैं धर्मोन्नति और देशोन्नति के अनेक उपाय महाराजा साहब के सामने कहूं क्योंकि वे समर्थ हैं आर्यावर्त्त देश भर में उन के उद्योग से आर्य धर्म की पताका फहरा सकती है। आर्यधर्म का अङ्कुर (जिस का बीज श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने अन्त समय जोधपुर में बोया था) जब जोधपुर में उगने लगा तभी समयानुसार आगरा और अजमेर आदि आर्यसमाजों के उद्योग वा सहायता से पं० ठाकुरप्रसाद जी आदि कई उपदेशक नियत हुए तभी से आर्यधर्म का प्रचार बढ़ता रहा। पं० ठाकुरप्रसाद जी प्रयाग जिले के रहनेवाले हैं वे जब जोधपुर से छुट्टी लेकर घर आते थे तो कभी २ मुझे भी दर्शन देते थे तब मुझे जोधपुर का विशेष हाल मिलता था। मैंने कई वार मित्रभाव से पं० ठाकुरप्रसादजी से कहा कि आप आर्यावर्त्त भर के आर्यसमाजों को जोधपुर राज्य से लाभ पहुंचवा सकते हैं सो आपने अब तक समाजों का कुछ भी उपकार नहीं किया। परन्तु वे साधारण बातों में टाल देते थे। यद्यपि परोपकार की ओर विशेष ध्यान रखने से मनुष्य का स्वार्थ नहीं बिगड़ता तथापि विशेष कर स्वार्थ की ओर झुके हुए मनुष्य से परोपकार सम्बन्धी कर्म का निर्वाह होना दुस्तर है अस्तु।

जून महीने में मुझे मेरे एक मित्र ने लिखा कि महाराजा के० सी० ऐस० आई० सरकार (१) श्रीकर्नलसर प्रतापसिंह जी आपको बुलाया चाहते हैं। सम्भव है कि जोधपुर में अच्छे प्रकार आर्य्यधर्म का प्रचार होगा। इस के दो चार दिन

---

(१) महाराजा श्रीकर्नलसर प्रतापसिंह जी को जोधपुरमें सरकार कहते हैं इस कारण मैं वार २ नाम न लिख कर सरकार शब्द लिखूंगा।

पीछे एक पत्र स्वामी अच्युतानन्द जी का मुम्बई से मेरे नाम आया जिस का अभिप्राय यह था कि "मैंने महाराजा जोधपुर के सामने आपकी बहुत प्रशंसा की है वे आप को बुलावेंगे आप का बड़ा सत्कार होगा । मैं आप का बड़ा हितैषी हूं आप भी मेरे कृतज्ञ रहें । इत्यादि" मैंने इस पत्रके उत्तर में लिख दिया कि आप मेरी प्रशंसा न करते तो भी मैं आप की निन्दा न करता । परन्तु मैं धर्मानुकूल आप की ही क्या किन्तु जो मेरी निन्दा करे और वह प्रशंसा के योग्य हो तो मैं उस की भी प्रशंसा करूंगा ।

इसी बीच में श्रीमहाराजा प्रतापसिंह जी का निम्न लिखित पत्र जोधपुर से मेरे बुलाने को आया ॥

पत्र महाराजा श्री प्रतापसिंह जी का ॥

श्रीः

पंडित श्री भीमसेन जी थी आप के गुणों की बहुत तारीफ सुनी है इसलिये जी चाहता है कि आप से मिलें सो प्रार्थना की जाती है कि कृपा करके यहां पधारें तो आप से बात चीत करने का मोका मिले—इसलिये ओक महीने बाद यानी शुरू स्रावन में पधारें सावन के महीने में ठन्ड भी हो जावेगी ता० । २६ जून सन १८९३ जोधपुर से भेजी प्रतापसिंह

इस पत्र का उत्तर मैंने लिख दिया कि मैं आप की आज्ञानुसार जोधपुर श्रावण के आरम्भ में अवश्य आऊंगा परन्तु कोई रुकावट का कारण विशेष न हुआ तो, क्योंकि मेरा शरीर रोगग्रस्त रहता है कदाचित् आने के समय रोग की अधिकता हुई तो आना कठिन होगा । इत्यादि ॥

इस के पश्चात् एक दूसरा पत्र स्वा० अच्युतानन्द का आया जिस की पूरी २ नकल पाठकों के अवलोकनार्थ कर देता हूं ।

(पत्र स्वा० अच्युतानन्द का)

ओ३म् ८ । ७ । ९३ मुंबई

श्रीमान् परोपकारव्रतधारी महात्मा ऋषिवर पं० भीमसेन जी महाशय नमस्ते

आपको एक कार्ड मैं लिख चुकाहूं आपने उत्तर तो लिखा होगा परन्तु मेरेको नहीं पहुंचा मैंने आपकी पूरी २ प्रशंसा महाराजाधिराज श्रीमान् प्रतापसिंह जी सा० बहादुरके पास की है इसका परिणाम आप शीघ्र देख लोगे मेरा

कहना यही है (परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ) इस वचनानुसार चलना चाहिये कई उपदेशक जोधपुर में आ चुके और रहते हैं परन्तु आप के बुलाने की कोई तजवीज नहीं हुई मेरे सामने महाराज ने अपने बाबू को कहा था अभी पत्र लिखो आप १ महीने पीछे पधारना क्योंकि महा० का आबू पर जाने का इरादा था मैं थोड़े दिन के लिये मुम्बई में आया अब महा० जोधपु० जायेंगे मैं भी जोध० में आता हूं अपने राजी खुशी का एक विशद पत्र लिखें मेरे को सन्तोष हो मैंने आप को शरीर से कभी नहीं देखा ।

ह० आप का सदैव शुभचिन्तक स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती मेरा पता ठिकाणा जगदीश्वर प्रेस माधोबाग मामा मुम्बई ।

एक बात आप को लिखता हूं महाराज आप से पूछेंगे क्यों पण्डित जी! वेद में मांस खाने की आज्ञा है वा नहीं आपने ऐसा उत्तर देना वेद में तो परोपकार करना विद्या को फैलाना परस्पर प्रेम रखना एक दूसरे की भलाई करनी ईश्वरोपासनादि करने राजा ने प्रजा के सुख के लिये उपाय सोचने इत्यादि बातें हैं बैंगण आलू मांस दूध दही कढ़ी भात इत्यादि भोजन रुचि के अनुसार खाया जाता है । महाराज ने मेरे को खुद कहा है स्वामी श्रीमद्दयानन्द स० जी ने हम को कहा है तुम मांस खाया करो इस लिये आपने भी मांस के खण्डन वा मण्डन में नहीं उतरना यदि आप ठाकुरप्रसाद जैसे खण्डन करोगे और मांस खाने वालों को कठोर शब्द बोलोगे जैसे ठा० प्र० ने महाराजा को बोले थे तो ठा० प्र० में महाराज की अप्रीति हो रही है आप में भी कभी प्रीति होने की नहीं आप जितनी कोमलता नम्रता रक्खोगे उतने ही जादा माननीय होगे ठा० प्र० को अपना शत्रु समझना उपरि से प्रेम रखना । आप हितेच्छु स्वामी प्रकाशानन्द गणेश रामचन्द्र मोतीलाल राव राजा तेजसिंह जी साहेब इतने को समझना मेरे को आशा है मेरे इस लेख को कुछ उलटा पुलटा न समझोगे आप विद्वान् हो भाव जान लोगे ॥

इत्यलं बहुना बहुज्ञेषु

इस पत्र का उत्तर मैंने संक्षेप से यही लिखा कि मैं नहीं कह सकता कि महाराज सरकार जोधपुर मुझ से किन शब्दों में कैसा प्रश्न करेंगे और मैं क्या उत्तर दूंगा । परन्तु यह अवश्य कहता हूं कि जो कुछ वे पूछेंगे उस का धर्म-

नुसार कोमल शब्दों से उत्तर दूंगा । और मैं किसी को अपना शत्रु नहीं समझता मुझ को कोई कुछ समझे इत्यादि । इसी बीच में एक पत्र अजमेर से प्रकाशानन्द का आया जिस का आशय यह था कि "मैं पंजाब से चलता २ अजमेर से जोधपुर जाता हूं आप वहां से चलने की शीघ्रता न करें मैं जोधपुर पहुंच कर सब हाल लिखूंगा तब आप प्रयाग से चलना" मैंने इस का कुछ उत्तर न दिया । और मन में समझ लिया कि ये लोग मुझे अपने पेच में डालना चाहते हैं यह इन की धूर्त्तता है । मैं पहिले सरकार जोधपुर को लिखचुका था कि मैं चलने से एक सप्ताह पहिले प्रयाग से चलने का दिन आप को लिख दूंगा । इसी के अनुसार सरकार की सेवा में तथा अन्य दो मित्रों को मैंने पत्र भेज दिया कि मैं ता० २९ जुलाई को प्रयाग से जोधपुर को चलूंगा । इस के पश्चात् स्वा० अच्युतानन्द का जोधपुर से एक पत्र आया जिस की नकल—

ओ३म्

श्रीयुत पण्डितवर भीमसेन जी नमस्ते

आप का पत्र आया वाचकरातीव सन्तोष हुआ अब मैं आप को यहां की कुंची बताता हूं प्रथम १ पत्र आप पण्डित शुकदेवप्रसाद जी को जो यहां श्रीमानों के पूरे २ राज्याधिकारी हैं उन को लिखें उस में यह लिखें कि मैं श्रीमानों की विस्तृत कीर्त्ति जो सर्वत्र फैल रही है सुन कर बहुत प्रसन्न होता हूं विशेषतः स्वामी अच्युतानन्द स० द्वारा आप के शुभगुणगण विद्वत्ता देशशुभचिन्तकता परमगम्भीरतादि सुन कर आप के दर्शन की इच्छा रखता हूं आप श्रीमानों के पास मैं शीघ्र आने वाला हूं इत्यादि योग्य वृत्तान्त लिखकर एक शीघ्र पत्र उसी समय भेज दो और आप शीघ्र आओ 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' यह किंवदन्ती आप जानते ही हैं पं० ठाकुर० आजकल यहां नहीं हैं उन के अविद्यमान होने से ही मेरी महाराज के साथ प्रीति हुई है आप को तथा स्वामीप्रकाशानन्दस० जी को मैंने महाराज से पत्र भी अतएव भिजवाये हैं स्वा० प्रकाशान० जी द्वारा आप की प्रशंसा मैं ने सुनी है उन से मेरा पूरा २ प्रेम भी है मैं ने उन को संन्यास दिया है परोपकारी जितेन्द्रियेश्वरभक्त इत्यादि गुण उस में प्रत्यक्ष प्रकाशते हैं आप की तथा उस की तकरार नहीं होनी चाहिये वह आप के मेरे से अधिक शुभचिन्तक हैं यदि कोई बात निर्णय करनी हो तो खानगी करलेनी

चाहिये यदि हम उपदेशकों का भी आपस में विरोध ईर्षा द्वेषादि होंगे तो देश का कल्याण हो चुका विशेष आप के मिलने से कहूंगा इत्यलं बहुना बहुज्ञेषु ।

ह० आप का सच्चा शुभचिन्तक स्वामी अच्युतानन्द

सरस्वती स्थान नजर बाग का बंगला

जोधपुर माड़वाड़

यह पत्र मेरे चलने के निकटही आया इस कारण कुछ उत्तर न दे सका। इस बीच में बहुत शहरों में खबर फैल गई थी कि भी० श० जोधपुर जांयगे। मेरे पास आगरा और अजमेर से कई पत्र आये कि तुम यहां ठहर कर जोधपुर जाना परन्तु मैंने बीच में ठहरना इसलिये स्वीकार नहीं किया कि ये समाजस्थ लोग जो सम्मति मुझे देना चाहते हैं वह मैं इंगितचेष्टित से समझ ही गया हूं और मुझे दिन अधिक लगेंगे सो इष्ट नहीं है। मैंने जोधपुर जाना स्वीकार किया तब भी निश्चय कर लिया था कि ५।६ दिन से अधिक वहां भी न ठहरूंगा और यही आशय पहिले से लिख भी दिया था। इस के पश्चात् ता० २९ जुलाई सन् ९३ को सध्या के ९ बजे मैं प्रयाग से चला आगरे में पहुचते ही २०। २५ आर्य लोग मुझे स्टेशन पर मिले। यद्यपि मेरा विचार आगरे में ठहरने का नहीं था तथापि सामान तोले जाने की झंझट में गाड़ी राजपुताने की खुल गयी मुझ को रहजाने पड़ा। बोर्डिङ्गहौस में जाकर ठहरा। वहां अनेक प्रकार की मांसविषयक चर्चा होती रही कि मांसाहारी लोग अनेक जाल रच रहे हैं। प्रकाशानन्दादि की दिनचर्या लोगों ने सुनाई। मैं प्रयाग से चला तभी से मन२ में शोचता जाता था कि महाराजा सरकार जोधपुर से मैं ऐसे २ परोपकार वा धर्मसम्बन्धी विचार प्रकट करूं कि जिन से सब आर्यसमाजों को उपकार पहुंचे और समस्त आर्यावर्त्त देशमें आर्यधर्म का प्रचार बढ़े। आगरे के धर्मिष्ठ आर्य लोगों ने मुझ से कहाकि पं० ठाकुरप्रसाद जी की हम लोगों ने जोधपुर बहुत शिफारिस की और बड़े उद्योगसे उन को वहां पहुंचाया। उन्हों ने वहां जाते समय राज्य से सामाजिक उन्नति कराने की बहुत प्रतिज्ञा की थी कि राज्य से सब समाजों को अनेक प्रकार के धर्मसम्बन्धी उपकार पहुंचाऊंगा। परन्तु आज तक अपना स्वार्थ सिद्ध करने से भिन्न कुछ भी किसी का उपकार नहीं किया। अब आप बताइये कि जोधपुर राज्य में जाकर समाजों वा आर्यावर्त्त भर का धर्मसम्बन्धी क्या २ उपकार पहुंचवाने का उद्योग करेंगे। और महाराजा साहब

सरकार से क्या २ कहेंगे ? । मैंने उत्तर दिया कि एक तो महाराजा साहब जो कुछ पूछेंगे उस का धर्मानुकूल उत्तर दूंगा । द्वितीय उन से आज्ञा लेकर आर्य धर्म की वृद्धि के लिये कुछ अपनी सम्मति कहूंगा कि अमुक २ काम इस २ प्रकार से होने चाहिये । इस पर सम्मति हुई कि आप कुछ नोट करलें जिस से हम लोगों को भी ज्ञात होजाय कि आप क्या कहना चाहते हैं । इसी विचारानुसार निम्न लिखित बातों के नोट आगरे में किये गये ।

१—जोधपुर राज्य में धर्मखाते का प्रबन्ध होना अर्थात् राज्य में से प्रति वर्ष २० वा २५ हजार आदि जो कुछ धन धर्मखातों में व्यय होता हो उस में से कम से कम चतुर्थांश धन सामाजिक धर्मखातों में देने के लिये एक आर्यसमाज की उपसभा के आधीन करना । वह सभा जिन २ कार्यों में उचित समझे उस धन को लगावे । जिस से आर्यधर्म की वृद्धि हो ।

२—ऊंचे २ राजकर्मचारियों में योग्य धर्मात्मा आर्य लोगों को अधिकार देना ।

३—जोधपुर नगर में एक बड़ी यज्ञशाला का बनवाना । जिस में नैमित्तिक वार्षिक वा षाण्मासिक बड़े २ यज्ञ हुआ करें जिन में कम से कम १०००) के उत्तम पदार्थों का होम प्रति वर्ष हुआ करे ।

४—राजपुताने के अन्य राज्यों में धर्मोपदेश के लिये जोधपुर राज्य से आर्य उपदेशकों का भेजना ।

५—भारतवर्ष भर में ईसाई आदि नवीन मतजालों से बचाकर वेदानुयायियों को अपने धर्म में स्थिर रखने के लिये नवीन उपदेशकों का नियत करना ।

६—सच्चे आर्यों की परीक्षा रखना । (इस का प्रयोजन यह था कि सरकार जोधपुर को आर्य देख कर कौन मनुष्य ऊपर से आर्य बने हैं जो भीतर २ आर्य धर्म के पूरे शत्रु हैं और कौन सच्चे आर्य हैं इस की जांच करना) ।

७—जोधपुर राज्य में एक संस्कृत की बड़ी पाठशाला का नियत होना जिस में सब वेद और न्यायादि शास्त्र सार्थक पढ़ाये जावें । ये नोट लिखकर मैंने अपने पास रख लिये थे । आगरे से चल कर ता० ३१ जुलाई की रात्रि में जोधपुर पहुंचा बा० गङ्गाप्रसाद जी एम० ए० भी आगरे से मेरे साथ अनेक लोगों की सम्मत्यनुसार चल दिये थे । पं० ठाकुरप्रसाद जी पहिले से घर आये थे वे भी मुझे आगरे में मिले पर द्वितीय मार्ग से वे पहिले जोधपुर पहुंच गये थे प्रकाशानन्द अच्युतानन्द को मेरे पत्रादि व्यवहार से कुछ २ ज्ञात होगया था कि यह हमारे पेच में न

आवेगा। तथापि वे मेरे लिये पूर्ण उद्योग कर रहे थे कि हम चाहते हैं वैसा यह कहे और करे मैंने करांची स्टेशन से चलते समय जोधपुर को तार दे दिया था कि जिस से स्टेशन पर कोई मिले। तार देखकर सरकार जोधपुरने गाड़ी आदि को पहुंच ने की आज्ञा भी दे दी थी परन्तु साधुओं ने ऐसी चालाकी की कि जिस से राज की सवारी स्टेशन पर न पहुंच सकी परन्तु मेरे अन्य दो मित्र जिन को खबर मिल गयी थी कि आज यह आता है कुछ सवारी लेकर स्टेशन पर मिले। दो बजे रात्रि में नजरबाग पहुंचे जहां प्रकाशानन्द अच्युतानन्द ठहरे थे वहीं हम लोगों के ठहरने का प्रबन्ध किया गया था। अच्युतानन्द पहिले ही मुझे पत्र द्वारा सूचित कर चुके थे कि हमारे अनुकूल तुम चलोगे तो अच्छे प्रकार तुम्हारा सत्कार राज्य से करावेंगे। इसी कारण उन्होंने सवारी न पहुंचने दी। अस्तु दो बजे मकान पर पहुंचते ही अच्युतानन्द प्रका० से नमस्ते हुआ। तत्काल ही अच्युतानन्द मुझे पकड़ कर एक दूसरे कमरे में उठा ले गये वहीं प्रकाशानन्द भी पहुंच गये साधुओं की शीघ्रता का प्रयोजन यह जान पड़ा कि इस को जोधपुर का कोई मनुष्य हमारे विरुद्ध कुछ सम्मति न दें पाये तब तक हम अपनी ओर झुकावें। अनुमान आध घण्टा मुझ से एकान्त में साधुओं ने अनेक बातें कहीं जिन का सारांश यह था कि तुम महाराजा सरकार प्रतापसिंह जी के सामने मांसभक्षण को बुरा मत कहो किन्तु अच्छा कह दो तो तुम्हारी बहुत कुछ प्रतिष्ठा और धन प्राप्ति होगी। मैंने उस समय केवल इसी विचार से कि मेरा शरीर बीमारी के कारण ठीक नहीं यदि कुछ उत्तर दूंगा तो बातों की समाप्ति न होगी मुझे बैठने की शक्ति उस समय नहीं थी। इसलिये यही उत्तर दिया कि मैं इन बातों का पीछे शोच कर उत्तर दूंगा। अब आप भी विश्राम करें मैं भी थका हूं मुझे शक्ति बैठने की नहीं। इस प्रकार दुष्टों से पीछा छुड़ा के खटिया पर आ लेटा। परन्तु मन में ऐसा क्रोध उत्पन्न होगया जिस से निद्रा न आई। विचार हुआ कि ऐसी कोई युक्ति हो जिससे अधर्मियों का संग छूट जाय अन्य किसी मकान में ठहरने को जगह मिले। उसी समय कई मित्रों से एकान्त में मैंने कहा कि मैं इस मकान में ठहरना नहीं चाहता मेरे ठहरने को अन्य कोई स्थान ठीक करो। प्रातःकाल होते ही रावराज तेजसिंह जी आदि कई मनुष्य मुझ से मिलने को आये उन से भी मैंने यही कहा कि हम लोग उन ऋषियों के सन्तान हैं जो बनों में फूस की कुटी बना कर निवास

करते थे इस लिये हम को ऐसे उत्तम महलों में रहना पसन्द नहीं हमारे लिये एकान्त में स्वतन्त्र कोई साधारण स्थान नियत कर दीजिये । इस पर लोगों ने दमदिलाशा दे कर और यह कह कर कि सरकार जानें गे कि साधुओं से शत्रुता रखते हैं इस कारण वहां नहीं ठहरते यह बात सरकार को बुरी मालूम होगी इस लिये इसी महल में दूसरी ओर का कमरा खुलवा देते हैं उस में आप ठहरें । इस प्रकार उसी महल में ठहरे । अगले दिन से प्रकाशानन्दादि का उद्योग वा विचार यह था कि भी० श० का सरकार से मेल होने से पहिले इन को हम अपने पंजे में लोभ लालच देकर फसा लें और सरकार के सामने कहलादें कि क्षत्रियों के लिये मांस खाने में पाप नहीं । इधर मेरी और बा० गङ्गाप्रसादजी एम० ए० की सम्मति हुई कि विरोध और विवाद बढ़ता है यदि विवाद की शान्ति का कोई उपाय होसके तो करना चाहिये । मैंने बा० गङ्गाप्रसाद जी से कहा कि आप उन लोगों को समझाइये मुझे शान्ति कम है कदाचित् उन की अनुचित अधर्मयुक्त बातों पर मुझे क्रोध आजावे । बा० गङ्गाप्रसाद जी ने अच्युतानन्द को समझाया और वे मान भी गये । अच्युतानन्द ने कहा कि पं० भी० श० तथा ठाकुरप्रसाद न मानेंगे । इस पर बा० गङ्गाप्रसाद जी ने कहा उन दोनों को मैं मना लूंगा आप प्रकाशानन्द को समझा लेवें । अच्युतानन्द ने कहा मैं प्रकाशानन्द को समझादूंगा वह मेरा शिष्य है मान जायगा । वहां दोनों की सम्मति से कुछ इबारत बा० गंगाप्रसाद जीने बनाई जिस का आशय यह था कि "जीव हिंसा हुए विना मांस प्राप्त नहीं होता इसलिये मांस खाने में हिंसारूप पाप है । परन्तु जिन संसार के विशेष हानि कारक जीवों को मारने के लिये वेद में आज्ञा है कि राज पुरुष ऐसे प्राणियों को मारें उन का मांस यदि कोई खा लेवे तो बड़ा (हिंसारूप) पाप उस मांस के खाने में नहीं है क्योंकि वे खाने के लिये नहीं मारे गये परन्तु सत्यार्थ प्रकाश में लिखे अनुसार उन जीवों का मांसभी अभक्ष्य अवश्य है क्योंकि मांस खानेसे विषयाशक्ति क्रूरता कठोरता निर्दयतादि दोष मनुष्य में आजाते हैं। सो क्रूरतादि किसी प्रकार क्षत्रियोंके लिये उपयोगी भी है" । विचार था कि इस प्रकार का लेख बनाकर दोनों ओर के मनुष्य हस्ताक्षर कर दें तो सरकार के सामने मांस भक्षण का प्रस्ताव उठे तभी दोनों की एक सम्मति सुनादी जाय तो विरोध की शान्ति होगी सरकार भी प्रसन्न रहेंगे और अपने सिद्धान्त की कुछ हानि नहीं है। वेद का सिद्धान्त ठीक

रहा । बा० गंगाप्रसाद जी ने यह लेख मुझे दिखाया तो मैंने अपने सिद्धान्तकी विशेष हानि और स्वामी जीके लेखसे कुछ विरोध न देख कर स्वीकार किया । परन्तु अच्युतानन्द के समझाने पर भी प्रकाशानन्द ने न माना क्योंकि यह अन्दरी बात थी कि प्रकाशानन्द चेला है । वास्तवमें प्रका० अच्युता० को अपनी चाल में सदा खैंचे रहते थे और मन में अपने को गुरु समझते तथा गुरु को चेला बनाये थे । पीछे मुझको प्रकाशानन्द अलग लिवा लेगये । बहुत बातें कहीं समझाईं जिन का थोड़ासा सारांश लिखता हूं । "प्रकाश०-पं० जी ! मांस खाने पर पंजाब में कुछ विवाद नहीं है आप को वहां का ठीक हाल मालूम नहीं । वहां दश पांच छोकरबुद्धि के मनुष्य हल्ला गुल्ला इधर उधर करते छपाते हैं और सैकड़ों ऐम० ए० बि० ए० आलादिमाग के महात्मा हंसराज आदि देखिये कुछ भी नहीं कहते न खण्डन करें न मण्डन करें । शोचते हैं । ऐसे ही अजमेर आगरा आदि में भी कुछ २ लड़कबुद्धि के छोकरे हा २ हू २ मचाते हैं । देखिये मैंने अभी तक किसी अखबार में कोई लेख नहीं छपाया परन्तु आपने छोकरों के कहने में आकर बड़ी जल्दी की जो आर्यसिद्धान्त में बहुतसा लेख छपा दिया और विना शोचे समझे शास्त्रार्थ का विज्ञापन भी दे दिया"-इत्यादि । इस पर मैंने कहा कि अधर्म का खण्डन जितना शीघ्र किया जाय सो अच्छा है । और इस को अभी दबाते रहैं तो अग्नि के समान भीतर २ सुलगता २ किसी दिन एक साथ जल उठेगा फिर बुझाना कठिन है । और यह आप का पक्षपात है जो मांसभक्षण का खण्डन करने वालों को छोकरे बताना और मांसाहारी राक्षसों को आलादिमागी (गम्भीर) कहना । यह आप की चालाकी है जो भीतर २ चालोंके साथ मांसभक्षण का प्रचार करते और प्रकट में कुछ नहीं छपाते वा कहते पंजाबमें मांस का विवाद वास्तव में है मेरे पास कई अच्छे प्रामाणिक पुरुषों के पत्र लाहोर तथा जालन्धर आदि से आये हैं तब आप का कहना कैसे सत्य माना जावे । मैंने प्रकाशानन्द से कहा कि यदि आप अपना ठीक २ विचार वा सिद्धान्त छपा देते तो बहुत अच्छा था । आप भीतर २ मांस का प्रचार करते और प्रकटमें गोलमाल चालाकी के उपदेश करते हैं इस से ही तो दिन २ हल्ला गुल्ला वैरविरोध बढ़ता जाताहै । इस पर प्रकाशानन्दने कहा कि मेरा सिद्धान्त सुन लो और तुम अपना कहो यदि दोनों का मिलजावे तो बहुत अच्छा हो । अपना सिद्धान्त कहते समय प्रका० ने जगत्सिंह को भी हटा दिया मैं और वे

दोही मनुष्य थे । प्रकटमें सब के सामने वे अपना सिद्धान्त नहीं कहते किन्तु किसी २ से एकान्तमें कभी कह देते हैं । प्रकाशानन्दके सिद्धान्त जो मुझ से एकान्तमें कहे थे-

१-जीवहिंसा का मैं पाप समझता हूं ।

२-मांसखाने में मैं पाप नहीं मानता ।

३-खाने पीने की रुकावट से देशोन्नति नहीं हो सकती । तथा खाने पीने से धर्म नहीं बिगड़ता ।

४-चिकित्सा (वैद्यक) सुश्रुतादि ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह सब कर्त्तव्य समझता हूं ।

इन सिद्धान्तों को कह कर प्रका० ने मुझ से पूछा कि तुम अपना सिद्धान्त बताओ । मैंने कहा मेरा सिद्धान्त वही है जो मैं छपा कर सब का प्रसिद्ध कर चुका उससे विरुद्ध कुछ नहीं मानता सो आपने भी मेरा सिद्धान्त देखा होगा । और आपके सिद्धान्त सर्वथा शास्त्र और युक्तिसे शून्य तथा चालाकी से भरे हैं । जब जीवहिंसा में पाप है तो मांसखाने में पाप अवश्य मानना पड़ेगा । क्योंकि मांस किसी खेत में नहीं उगता वा पृथिवी में कहीं मांस की खानि नहीं है किन्तु प्राणियों की हिंसा से ही मांस प्राप्त होता है । इसलिये पहिले दूसरे सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हैं । यदि खाने पीने में रुकावट नहीं चाहते तो मनुष्य कुत्ता, बिल्ली, मेंढक, चींटी, मक्खी, मकड़ी, आदि के खाने में भी रुकावट नहीं है ? क्या इन को खाना भी धर्मानुकूल समझते हो ? । यदि खाने पीने से धर्म नहीं जाता तो तुम्हारे मतमें अभक्ष्य कुछ न रहा फिर मेहतर डोम आदि के हाथ का भी खाना चाहिये । अभक्ष्य वही माना जायगा जिस से धर्म बिगड़े, बुद्धि बिगड़े तमोगुण आवे सत्वगुण की हानि हो ऐसे सभी पदार्थ धर्म के बाधक होने से अभक्ष्य माने जाते हैं । अंगरेज़ मुसलमान आदि पृथिवी के सभी मनुष्य किसी न किसी वस्तुको अभक्ष्य मानते हैं उन अभक्ष्य वस्तुओं की रुकावट उनके यहां भी है । यह मत आप का सब से निराला है जो किसी वस्तु के खाने खिलाने से नहीं रुकना चाहते । यदि खाने पीने से धर्म नहीं बिगड़ता तो चुरा कर वस्तु को खाने से चोरीरूप अधर्म भी आप के मत में न होगा ? ।

चौथा सिद्धान्त भी ठीक नहीं । वैद्यक शास्त्र में मद्य के गुण भी लिखे हैं तो क्या आप मद्य पीने को भी धर्म मानोगे ?। जहां ब्रह्मचर्य के अधिक रहने

से नपुंसकता होती है वहां सुन्दर युवति स्त्री का संयोग लिखा है तो क्या वेश्यागमन को धर्म मानोगे ? । कहीं गोमांस के भी गुण लिखे हैं "गवां मांसं च बलिनम्" तो क्या गोमांस खाने का भी उपदेश करोगे ? । वाजीकरणाध्याय में मेढ़ा बकरा आदि के वीर्य का प्रयोग लिखा है क्या आप भी मांसाहारियों को वीर्य पिलाओगे ? । इत्यादि । इस पर कई बातों के प्रकाशानन्द ने साधारण उत्तर दिये परन्तु वैद्यक शास्त्र के विषय में स्वीकार किया कि ओषधिरूप से थोड़ा २ मद्य पीना बुरा नहीं इसी प्रकार गोमांस मैथुन आदि भी शरीर की रक्षा के लिये कर्त्तव्य काम हैं ।

इस प्रकार पहिला दिन जोधपुर में व्यतीत हुआ आगे द्वितीय दिन भी प्रकाशानन्द ने मेरी मुलाकात महाराजा सरकार से न होने दी । उन का विचार यह था कि दो तीन दिन मेल न होने दें तब तक समझा बुझा लोभ लालच दे भी० आ० को अपने आधीन करलें तब मेल करावें तो अच्छा । इस दिन प्रकाशानन्द सरकार के पास हो कर लौटे हम लोग जहां भोजन करते थे वहां जाकर खड़े हो गये और कहने लगे कि मेरे कहने से सरकार ने कई हजार का अपना मकान समाज के लिये दे दिया । मैं यहां आर्यसमाज की उन्नति के लिये आया हूं । बड़े २ उपकार के काम यहां कराऊंगा । बा० गंगाप्रसाद जी ने तो कुछ नहीं कहा पर मुझ से न रहा गया मैंने कहा आप ये व्यर्थ की झूंठी बातें क्यों कहते हो तुम आर्यसमाज के पूरे शत्रु हो तुम ने आर्यसमाज में अधर्म फैला कर महाविरोध वा विघ्न डाल दिया । मेरी समझ में इन बातों को छोड़ कर फूट और विघ्न मिटाने का उद्योग करो तो अवश्य कुछ उपकार हो । मांसभक्षण का उपदेश करके आर्यसमाज के महाशत्रु तुमही बने । पहिले गोरक्षक रहे अब गोभक्षक बने । यहां आप मांसभक्षण के प्रचारक बन के उपदेश करने के लिये तो आये हो पर हम लोगों को फुसलाने के लिये ऐसी बातें करते हो । इत्यादि बातें मैंने स्पष्ट पुकार २ लोगों के साथ कहीं इस पर प्रकाशानन्द भी कुछ क्रुद्ध हुए । और मांसप्रचारकशब्द को गाली के तुल्य बुरा समझे और मुझ को भी दो चार कठोर वाक्य उन ने कहे । मैंने कहा कि जब मांसभक्षण को आप अच्छा कहते वा मानते हो तो मांसप्रचारक कहने से क्यों चिड़ते हो । इत्यादि

तीसरे दिन महाराजा सरकार श्री प्रतापसिंह जी से मेरी मुलाकात हुई कई मनुष्य साथ में थे । अच्युतानन्द जाकर सरकार से पहिले ही मिल आये अनु-

मान से जाना कि मांसभक्षण का प्रस्ताव न उठने के लिये कह आये हों। प्रयोजन यह था कि यदि प्रस्ताव उठा तो पं० ठाकुरप्रसाद और मी० श० दोनों सहमत हैं झट हमारे कथन का खण्डन हो जायगा तो हमें नीचा देखने पड़ेगा। सरकार से अनेक बातें शिष्टाचार, मेल मिलाप और धर्मोन्नति विषयक होती रहीं। परन्तु सरकार ने एक बात फेर २ से पूछी जिस का आशय हम लोग उस समय नहीं समझे थे नहीं तो वैसाही उत्तर देते परन्तु वह प्रश्न साधुओं की सम्मति से पूछा मालूम देता था। उस का अभिप्राय था कि—

सरकार—दो मनुष्य किसी विषय पर वाद करें तो मेरे तुल्य शास्त्र का आशय न जानने वाला श्रोता मनुष्य कैसे विश्वास करे कि किस का कथन सत्य है (अर्थात् तुम लोगों में कोई तो मांसभक्षण को वेदविरुद्ध कहते कोई वेदानुकूल बतलाते हैं तो हम किस का विश्वास करें। इस लिये वादीप्रतिवादी दोनों के मत से कुछ सम्बन्ध न रखने वाले किसी मोक्षमूलरसाहबादि अंगरेज को मध्यस्थ नियत करो तो निश्चय होसक्ता है कि मांसभक्षण वेदानुकूल है वा नहीं)।

इस पर मैंने कहा कि प्रथम तो कैसा ही अनपढ़ श्रोता हो वह बहुत दिनों तक वादीप्रतिवादी के पक्ष प्रतिपक्षों को ध्यान से नियमपूर्वक सुनता रहे तो उस के आत्मा में दो में एकपक्ष का सच्चा होना और दूसरे का निकृष्ट होना झलक जाता है। द्वितीय एक रीति यह है कि वह श्रोता निश्चय करे कि इन दो में सत्यवादी कौन और मिथ्यावादी कौन है तथा निष्पक्ष छलछिद्र रहित बोलने वाला कौन है इस प्रकार आप्तधर्मात्मा जिस को समझ ले उस के अनेक अपरीक्षित कथन वा सिद्धान्तों पर भी विश्वास करलेना चाहिये और सदा से ऐसी परिपाटी चली आती है। देखिये श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सिद्धान्तों के सब मन्तव्यों को सब आर्यों ने वाद विवाद पूर्वक निश्चय नहीं कर लिया न सब कोई तर्क के साथ निश्चय कर सकते हैं तथापि अधिकांश लोगों ने उन को जब आप्त धर्मात्मा समझ लिया तब उन के सब मन्तव्यों पर विश्वास किया इसी प्रकार आप्त के कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये। इस पर प्रकाशानन्द बोले कि ईसा मसीह पर भी विश्वास बहुत लोगों ने किया है। इस पर कुछ उत्तर पं० ठाकुरप्रसाद जी ने प्रकाशानन्द को दिया। पश्चात् सभा विसर्जन हुई। मैंने सरकार से उठते समय कहा कि मैं अधिक नहीं ठहर सकता तीन चार दिन केवल ठहरूंगा सो नित्य आप के दर्शन हों ऐसा चाहता हूं। इस पर सरकार ने कहा आप स्वामी जी के साथ नित्य आया करें।

पश्चात् वहां से स्थान पर सब आये। इसी दिन आर्यसमाज जोधपुर का साप्ताहिक समाज था जिस में प्रकाशानन्द ने सरकार से कहकर मेरे पास तो खबर भिजवादी थी कि पं० भीमसेन शर्मा समाज में न जावें उनके लिये एक सभा पृथक् ही कराई जावेगी जिस में अच्छे प्रबन्ध के साथ व्याख्यान कराया जायगा। पर उस समय मैं इस चाल को भी नहीं समझा था कि (पं० भी० श० नये आये हैं इन की प्रशंसा भी अधिक है इस कारण इन के नाम से बहुत मनुष्य आवेंगे और अनेकों की सम्मति से मांसखण्डन विषय पर इन का व्याख्यान हुआ तो हमारा अनिष्ट होगा हम लोग ऐसा होना अपने पक्ष के लिये विष समझते हैं) परन्तु प० ठाकुरप्रसाद जी को किसी बहाने से न रोक सके क्योंकि वे सदा के उपदेशक थे उन्होंने मांसखण्डन का व्याख्यान दिया। और उन के व्याख्यान में कुछ विशेष श्रद्धा भी न समझ के अपनी हानि न समझी हो यह भी सम्भव है इसी दिन संध्या के समय में पं० ठाकुरप्रसाद जी को अनेक प्रकार के लोभ लालच देकर प्रकाशानन्द ने एकान्त में समझाना फुसलाना आरम्भ किया। पं० ठाकुरप्रसाद जी दिन में दो बार हम लोगों के पास आते और जिस कमरे में हम लोग ठहरे थे उसी में अधिक कर बैठा करते थे परन्तु इस दिन सन्ध्या के समय दो तीन घण्टा प्रकाशानन्द के पास एकान्त में बैठे और उठते समय मुझ से नमस्ते करके चले गये न बैठे न कुछ बातें की, इस से अनुमान हुआ कि उसी दिन प० ठा० प्र० की कुछ २ बुद्धि फिर गयी थी।

अगले चौथे दिन की कथा—प्रातःकाल ही साधुओं के सहित सब लोग जोधपुर का किला देखने को गये दो २ घोड़े की दो बग्घी राज की आईं प० ठाकुरप्रसाद भी आये सो साधुओं के आगे पीछे लगे रहे हम लोगों के पास नित्य के समान आकर न बैठे चलते समय दोनों साधु और प०ठा०प्र० आगे बढ़ के छायादार बग्घी में तीनों इकट्ठे बैठ गये। हम लोग अवशिष्ट बग्घी में बैठ भी न पाये तब तक बग्घी चलादी कि कोई विपक्षी हमारे पास न बैठे तो एकान्त में बातें भी करते चलें। किला देख कर सब लोग अपने स्थान पर गये मध्याह्न होगया भोजनादि किया। दोपहर पीछे प० ठाकुरप्रसाद जी फिर आये और प्रकाशानन्द के पास एकान्त में बातें करते रहे। इस चौथे दिन मुझ को प्रकाशानन्द ने सरकार से न मिलने दिया। यद्यपि मुझ से कह रक्खा था कि हम भी आज सरकार से मिलने न जायगे। तथापि १ वा १॥ घण्टा दिन शेष रहे

बग्घी मगाकर पं० ठा० प्र० को लेकर दोनों साथ सरकार से मिलने को गये। इस समय बा० गंगाप्रसाद जी इन के साथ साधुओं की इच्छा के बिना ही चल दिये थे। मार्ग में पं० ठाकुरप्रसाद जी ने अपना विचार प्रगट किया कि मैं मांसखाना वेदानुकूल समझता हूं। बा० गङ्गाप्रसाद जी ने बहुत समझाया कि पं जी! इतनी थोड़ी देर में निर्णय (तहक़ीक़ात) नहीं होता अभी तक आप का सिद्धान्त रहा कि मांसभक्षण वेदविरुद्ध है! अब आप ने थोड़ी देर में अपना सिद्धान्त बदल दिया। अभी कुछ दिनों तक विचारिये। सरकार के सामने अभी न कहिये कि मांसभक्षण की वेद में आज्ञा है इत्यादि कहने पर भी पं० ठा० प्र० ने न माना सरकार के बंगले पर जाकर प्रकाशानन्द ने सरकार के पास पंडित ठाकुरप्रसाद को एकान्त में (जहां बा० गंगाप्रसाद जी न थे) बुलाकर कहला दिया कि मांसभक्षण वेदानुकूल है। बड़े आश्चर्य और शोक की बात है कि अच्छा पढ़ा लिखा विद्वान् (जिस को सत्यासत्य समझने की शक्ति होने पर भी) मूर्ख मनुष्य का पक्का चेला हो जाय। सत्य है ऐसे ही लोगों का यह सिद्धान्त है कि "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" लोभी मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता न कर सकता है धर्मपथ से वह सदा दूर रहता है। अस्तु-वहां से लौटकर सब लोग स्थान पर आये। पं० ठाकुरप्रसाद की आकृति बिगड़ गयी थी। मुख पर सफेदी छा गयी आत्मा में अधर्म का भय प्रविष्ट हो गया। उसी समय सब नगर में हल्ला होगया सब ओर से पं० ठा०प्र० के लिये धिक्कार शब्द होने लगा। सरकार के बंगले से लौट कर पं० ठा०प्र० मेरे पास बैठे। मैंने कहा कि आप ने विना विचारे यह क्या अनर्थ कर डाला?। पं० ठाकुरप्र० बोले कि मेरी समझ में आगया मैं मूर्ख तो हूं नहीं जो वेद मन्त्रों का अर्थ न समझूं अब तक मैंने अथर्ववेद के मन्त्रों को ध्यानदृष्टि से नहीं देखा था। एतद्वा उ० इस अथर्व के मन्त्र में "अतिथेः पूर्वम्" की अनुवृत्ति आती है इस कारण यह अर्थ होगा कि अतिथि से पहिले दूध वा मांस कुछ न खावे किन्तु पीछे खावे। इस समय मैंने कहा कि आप ने स्वामी जी का सिद्धान्त भी न सोचा कि जिस पर सब आर्य्यसमाजों का मन्तव्य निर्भर है।

प०ठा०प्र० ने कहा कि मैं दयानन्दी नहीं किन्तु आर्य हूं। यह मूर्खों का काम है कि किसी एक मनुष्य के भ्रमयुक्त कथन को भी मान लेना। मेरी ओर निर्देश कर कहने लगे कि तुम भी स्वामी जी के सब सिद्धान्तों को नहीं मानते

तुमने एकबार मुझ को भी लिखा था कि मुक्ति से पुनरावृत्ति न होने में सब शास्त्रकारों का एकमत है पर स्वामी जी का मन्तव्य सब से निराला है। मैंने कहा यह तो मैं अब भी मानता हूं कि षट्दर्शनों की एक सम्मति है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती परन्तु स्वामी जी का सिद्धान्त वेद से मिलता है उन्हों ने वेद के प्रमाण से पुष्ट कर दिया इस कारण इस विषय में स्वामी जी के सिद्धान्त को मैं अन्य शास्त्रकारों के सिद्धान्त की अपेक्षा प्रबल मानता हूं। और मैं अन्य ऋषियों के समान स्वामी जी को भी एक महर्षि समझता हूं। इस के पश्चात् मैंने कहा कि आप वेद के परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त तो मान नहीं सकते केवल एक ही सिद्धान्त हो सकता है कि "अहिंसाधर्म वेदोक्त हो वा हिंसा वेदोक्त हो"। इन में से पहिले एक सिद्धान्त वेद का निश्चय कर लीजिये। किसी एक मन्त्र से सिद्धान्त निश्चय नहीं होता। जब सिद्धान्त निश्चय हो जावे तब उसी सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रार्थ समझने में श्रम करना चाहिये। इस के पश्चात् अन्य लोग बोलने लगे। जोधपुर के एक ब्राह्मण ने कहा कि आप मांस खाना अच्छा बतलाते हैं तो आप को भी खाने पड़ेगा। पं० ठा० प्र० बोले कि हमारे कुल में भाईबन्धु तो सब खाते ही हैं कोई अभक्ष्य नहीं समझता। केवल हमने छोड़ रक्खा है। अर्थात् खा लें तो पतित नहीं हो सकते। इस के पश्चात् सभा विसर्जन हुई सब अपने स्थान को गये।

इसी दिन एक पत्र प्रयाग से मेरे पास गया जो कि जोधपुर से प्रकाशानन्द ने मेरे नाम भिजवाया था उस का वृत्तान्त—जब प्रकाशानन्दादि को कई लक्षणों से ज्ञात हो गया था कि भीमसेन शर्मा हमारे पेच में न आवेगा। तभी मेरे प्रयाग से चलने से दो दिन पहिले ता० २७ जुलाई को एक पत्र लिख कर सरकार के हस्ताक्षर करा के प्रयाग को भेजा उस पत्र की नकल—

ओ३म्

प्रियवर पण्डित भीमसेन जी—नमस्ते—आप दो मन्त्रों का पदार्थ मात्र तथा चार प्रश्नों का उत्तर शीघ्र भेजिये—

पृष्ठ २०६

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥ ४२ ॥

पृ० २०५ यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥

१ मांस क्षत्रियों के लिये खाना पाप है वा नहीं यदि पाप है तो हिंसा में वा खाने में ॥

२ मांस खाना पाप है तो साक्षात् वेद में कहां लिखा है

३ स्वामी जी ने मांस खाना पहली संस्कारविधि में तथा सत्यार्थप्रकाश में लिखा है वा नहीं ।

मुकाम जोधपुर से ता० । २७-७ । ९३

ह० प्रतापसिंह

इस पत्र में यद्यपि मेरे जोधपुर आने का स्पष्ट निषेध नहीं किया गया तथापि इस पत्र का अभिप्राय स्पष्ट है कि तुम जोधपुर न आओ क्योंकि यदि आने की प्रेरणा वा आशय होता तो पत्र भेजना ही व्यर्थ था जो प्रश्न पत्र में लिखे थे उन को भी वहां पहुंचने पर पूछ ही सकते थे । कदाचित् यह पत्र मुझे चलने से पहिले मिल जाता तो स्वयं ही जोधपुर जाने से रुक जाता परन्तु पत्र मेरे चले जाने के पश्चात् प्रयाग में पहुंचा । और यहां से लोगों ने जोधपुर को मेरे नाम भेज दिया । जिस चौथे दिन मेरे पास जोधपुर में पत्र पहुंचा उसी दिन उस का संक्षिप्त उत्तर मैंनें लिख लिया था उस की यथार्थ नकल-

ओ३म्

१-(क) स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति । यावद्-द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥

(सः,यः) सो जो (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (मांसम्) मन की शक्ति को बढ़ाने वाले भोजन करने योग्य वस्तुओं को (उपसिच्य) शुद्ध कर के (उपहरति) समीप धरे वा गुरु आदि को समर्पण करे (सुसमृद्धेन) अच्छे (द्वादशाहेन) द्वादशाह नामक यज्ञ से (यावत्) जितना अनिष्ट फल (अवरुन्धे) रोका जाता है (तावत्) उतना (एनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अवरुन्धे) हट जाता है ॥

(ग)-यत्तर्पणमाहरन्ति यएवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥

(य,एव) जो ही (अग्नीषोमीयः) तेज और शान्ति दोनों प्रकारके गुणों वाला (पशुः) गौ आदि दुग्ध देनेवाला (पशुः) पशु (बध्यते) बांधा जाता है (यत्) जिससे (तर्पणम्) दुग्धादि द्वारा तृप्तिको (आहरन्ति) प्राप्त करते हैं (सःएव,मः) वही पशु वास्तव में उत्तम है ॥

१—हिंसाके विना मांस नहीं प्राप्त होता इस कारण मांसखाने में सभीको पाप है ॥

—य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

अर्थः --जो प्राणी कच्चा मांस खाते तथा मनुष्य के बनाये पकाये मांसको जो खाते और जो कामी लोग अण्डोंको खाते हैं उनको इस जगत्से वा वर्त्तमान शरीरसे हम नष्ट करें। अर्थात् परमेश्वर आज्ञा देताहै कि मांसाहारियों को संसारसे नष्ट करना चाहिये ॥

इस मन्त्रमें मांसखानेका स्पष्ट निषेध है।

३—पहिले संस्कारविधि और सत्यार्थप्रकाशकी बहुत बातें स्वामी जीने स्वयं बदल दीं। नये पुस्तक छपा दिये इस कारण पहिलोंका प्रमाण देना व्यर्थ है ॥

ह० भीमसेन शर्मा

इसी चौथे दिन पं० लेखराम जी भी प्रातःकाल ही से जोधपुर पहुंच गये थे और हम लोगों के निकट ही ठहरे थे। जब प्रकाशानन्द ने पं ठाकुरप्रसाद को उक्त प्रकारसे अपने पक्षमें मिला लिया तब बड़े प्रसन्न हुए कि जोधपुर में ये ही विपक्षी थे। पं० रामदयालसिंह क्षत्रिय तो पहिले से ही मांसभक्षणके उपदेशक थे अब जोधपुर में सामाजिक उपदेशक प्रतिपक्षी कोई न रहा। पर मुझको मिलाने और लोभ लालच देनेका उद्योग अबतक साधुओंने नहीं छोड़ा। रात्रिके ९ बजेके समय जब सब लोग सोने लगे तब अच्युतानन्द धीरेसे मुझे बुला लेगये। सब लोग जहांके तहां सोगये। दोनों साधु और मैं तीनही मनुष्य बारह बजे रात तक एकान्तमें बातें करते रहे। यद्यपि मेरी इच्छा न थी कि मैं अधिक देर तक बैठूं तथापि पीछा न छोड़ा तो बैठा रहा। उस समय प्रकाशानन्द से जो बातें हुईं उनका सारांश ० प्रकाशानन्द—पं० जी! देखिये हमारे सब आर्य भाई भीरु, निर्बल, होगये, बिलकुल तेज घटगया। मांसभक्षण करने

वाली मुसलमानोंकी कोमने कैसा २ हिन्दुओंको तंग किया सो सब इतिहासादिसे प्रसिद्ध ही है । मैं सत्य कहताहूं कि ऐसी डरपोंक जाति का कभी विजय नहीं हो सकता सदा ठोकर खाया करेगी । एक २ अंगरेज प्रातःकाल एक मुर्गी का शोरुवा बनवा कर प्रातःकाल चढ़ा जाता फिर दोपहर में गोश्त रोटी उड़ाता फिर सन्ध्याको यथोचित मांसादि खाता है जिससे दिन रात दिमाग़ तर रहताहै १ बारह २ घंटे बैठ २ लिखा पढ़ी के काम करतेहैं बड़ी २ उत्तम बातें शोचतेहैं थकते नहीं । आप देखिये बीमार रहते हैं कुछ बल पराक्रम नहीं । थोड़ा भी शोचविचारका काम करें तो शिर झन्ना उठे । अर्थात् तुम भी खाया करो । इत्यादि ।

भीमसेनशर्मा—हमारे पाणिनि आदि ऋषि महर्षियोंने जैसे २ शोच विचारके काम कियेहैं उनकी प्रशंसा अब तक अंगरेज़ लोग भी करतेहैं वे कोई मांसाहारी नहीं थे । तथा अब भी बहुतसे अंगरेज़ लोग मांस मद्य नहीं खाते पर बड़े २ शोच विचारके परिश्रम करतेहैं । इत्यादि कारण आपका कथन ठीक नहीं है । इसके पश्चात् मैंने कहा कि आप क्या चाहतेहैं ? क्या वेदमतानुयायी सभी खाने लगें ? । अंगरेज़ो फ़ारसी पढ़े हुओंका अधिक भाग स्वयं मांसखानेमें प्रवृत्तहै । मांसाहारियोंके बालबच्चे इष्टमित्रादि साथी बिना ही उपदेशके मांस खानेवाले होते जातेहैं फिर आपके उपदेशकी क्या आवश्यकताहै ? प्रचार उस कामका करना चाहिये जिसकी ओर मनुष्य बिना उपदेशके न झुकें जैसे सत्यभाषणादि वा सन्ध्यादि कर्म करनेमें उपदेश करने पर भी सैकड़ोंमें कोई झुकताहै । परन्तु स्वस्त्री वा परस्त्रीसे संग करनेके लिये कोई किसीको उपदेश नहीं करता तो भी देखिये कितना प्रचार है जिस से प्रायः मनुष्य निस्तेज अल्पायु विचारशून्य बुद्धिहीन नित्यरोगी अत्यन्त निर्बल होरहे हैं जिसको आप मांस न खानेका दोष बतलातेहैं । फिर बताइये मांसभक्षणका प्रचार आप क्यों करतेहैं ?।

प्रकाश०—आपको नहीं मालूम मांसभक्षणका खण्डन करने वालोंने अनेक लोगोंसे मांस छुड़ा दिया । मैंने कहा इसमें आपकी कुछ हानि नहीं हुई अभक्ष्य वस्तुको छोड़ना और छुड़ाना ही चाहिये । और आपने यह भी कहा कि मांस खानेवाले निर्भय बलवान् होतेहैं यह भी आपकी भूल है क्योंकि भारतवर्ष भर में कायस्थ, बंगाली और काश्मीरी इन तीन जातियों में मांसखानेका अधिक प्रचार है इतना अन्य किसी में नहीं । ये तीनों बलवान् वा निर्भय क्यों नहीं

होगये ? । सबको प्रकटहै कि इन्हीं तीन जातियोंमें भीरु मनुष्य अधिकहैं । इस पर प्रकाशानन्द बोले कि हमारा प्रयोजन यहहै कि बाजारसे मोल लेकर खाने वालोंमें निर्भयता नहीं आती किन्तु सब लोग अपने २ घरमें प्राणियोंको मारा करें अर्थात् मारकर खानेसे निर्भयतादि गुण आतेहैं । मैंने कहा कि अब तक तो कहीं २ कसाबखाने थे अब आप घर २ में कसाबखाने बनवाया चाहते हैं घर २ में लोहूकी धारा बहा करें । और ऐसा है तो कसाई सर्वोपरि बलवान् वा विजयी होने चाहिये थे । जितने गुण आप मांसभक्षणसे चाहते हैं वे सब कसाइयों में मिलने चाहिये । यद्यपि मुसलमानोंमें मांसखाना हलालहै तथापि अच्छेघरानों के मुसलमान लोग भी कसाइयोंको नीच ही समझतेहैं । उनके साथ सब व्यवहार नहीं करते । और कसाइयोंको कोई वीर वा विजयी समझ डरता भी नहीं फिर आपका कहना कब सत्य रहा ? ॥

अच्युतानन्द बोले कि तुम लोगों ने कुछ और ही बातें छेड़ दीं इन को जाने दो हमारा प्रयोजन कुछ और ही था । प्रकाशानन्द तुम मेरा प्रयोजन सुनाओ । प्रकाशानन्द—अच्छा पं० जी ! इन बातों को जाने दो स्वामीजी का प्रयोजन सुनिये —सरकार आप को बहुत चाहते हैं और जोधपुर राज्यमें सब कुछ इन को अधिकार है बड़े प्रतापी और कृपालू पुरुष हैं । आप वेदभाष्य बनाने की प्रतिज्ञा करें जिस प्रकार की सहायता आप चाहें वैसी देंगे अर्थात् चाहें इकट्ठा कुछ धन लेलो वा कहिये तो मासिक बंधवा दें आप प्रयाग में बैठे लेते रहें राज्य में कोई पूछता नहीं । रामदयालसिंह के ५०) महीने होगये कुछ काम नहीं जब चाहें घर बैठें जब चाहें यहां आ बैठे बराबर ५०) मिलते जाते हैं । पं० ठाकुरप्रसाद भी कुछ काम नहीं करते बराबर १००) मिलते जाते हैं कई हज़ार के आदमी होगये । जोधपुर राज्य से सदा के लिये आप की प्रतिष्ठा हो जायगी । जिस के पास धन होता वा जिस की प्रतिष्ठा राजा रईस करते हैं उसका सर्वत्र मान्य होता है । आप गृहस्थ हैं धन की हर बार आवश्यकता है । इत्यादि लोभ लालच की अनेक बातें कह कर प्रका० अच्युता० से बोले कि स्वामीजी ! सरकार से पं० जी की सहायता के लिये कहना चाहिये । अच्युतानन्द बोले कि सरकार की इच्छा के अनुसार पं० जी मांसभक्षण का खण्डन न करके अच्छा कह दें कि क्षत्रियों को खाने में कुछ दोष नहीं तो सभी कुछ कह सकते हैं । मैंने कहा कि मैं अधर्मी नहीं हूं जो धन वा प्रतिष्ठा के लोभ से अधर्म को

घर्मे करूं । मैं ऐसे धन वा प्रतिष्ठा पर लात मारता हूं । आप ऐसी बातें मुझसे न कहें । मैं रामदयालसिंहादि के तुल्य बिना काम किये कदापि न मासिक धन लूंगा । न इकट्ठा लूं । इत्यादि उत्तर देकर १२ बजे रात्रि को उठकर मैं अपने स्थान में आ सोया ॥

पांचवें दिन सरकार से मिलने को जाते समय वे उक्त प्रश्नों के उत्तर मेरी जेबमें पड़े थे । प्रकाशानन्दादिने इस दिन ऐसी चालाकी की थी कि चलते समय बा० गङ्गाप्रसादादि किसी को साथ नहीं लिया । बंगले पर जो अन्य मनुष्य सरकार के पास वार्त्ता सुनने को आबैठते थे उन सब को भी किसी प्रकार पृथक् कर दिया मिलते समय दोनों साधु, मैं और सरकार चार ही मनुष्य थे प्रथम सरकार ने कहा पं० गट्टूलाल को मुम्बई से बुलाया है मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ होना चाहिये मैंने कहा इसमें कुछ अच्छा फल तो मिलता नहीं और मुझे दिन भी अधिक लगेंगे मैं कल जाना भी चाहताथा आज मुझे पांच दिन होगये । तथापि आपकी ऐसी ही इच्छा हो कि शास्त्रार्थ अवश्य होना चाहिये तो मुझे हठ भी नहीं है तीन चार दिन और ठहर जाऊंगा । इस पर प्रकाशानन्दने हठपूर्वक शास्त्रार्थ होने का निषेध किया और अगले दिन मेरा जाना पक्का करा दिया इसका प्रयोजन यहथा कि मुझ जैसे मांसभक्षण के विपक्षी का प्रका० जोधपुरमें अधिक ठहरना बुरा समझतेथे । क्योंकि मांसभक्षणका खण्डन सुननेमें प्रकाशानन्द बड़ी ग्लानि रखतेथे । इसके पश्चात् प्रकाशानन्द ने द्वितीय प्रस्ताव किया कि मांसभक्षण विषयमें सरकार पण्डित जी की सम्मति सुनना चाहते हैं । इस पर सरकार बोले —पण्डित जी ! मांसभक्षणविषयमें आप क्या जानते हैं । मैंने कहा कि यहांसे एक पत्र मेरे नाम मेरे चले आने के पश्चात् प्रयागको गयाथा वह कल यहां लौट आयाहै उसका उत्तर आपको सुनादूं इतना कहकर मैंने जेबमें हाथ डाला तभी मुझे प्रकाशानन्दने और सरकारने रोका कि उसको रहने दीजिये किन्तु अपनी सम्मतिमात्र कहिये । मैंने कहा कि मैं सत्य २ जैसा जानता हूं वैसा ही कहूंगा आप जैसे राजपुरुषों का काम है कि सत्य सुनें और उस पर ध्यान दें । वेदका यही सिद्धान्त है कि हिंसा करना बड़ा अधर्म है और हिंसा न करना अर्थात् अहिंसारूप दया वा किसी को पीड़ा पहुंचाने की चेष्टा न करना यही सर्वोपरि धर्म है । और हिंसा हुए बिना मांस मिल नहीं सकता इस लिये मांसभक्षण में बड़ा पाप वा दोष है । यह मुख्य सिद्धान्त है । इस पर प्रकाशानन्द

बोले—यजुर्वेदभाष्यमें स्वामी जी ने लिखा है कि संसारकी हानि करनेवाले प्राणियोंको राजपुरुष क्षत्रिय लोग मारें ! प्रकाशानन्द का कथन सरकार की ओर से था मानों सरकार ही का यह प्रश्नथा । मैंने कहा—स्वामी जी ने जो लिखाहै सो सत्यहै क्षत्रिय लोगोंका काम ही है कि अपराधी का यथोचित दण्ड देवें । इस पर सरकार बोले कि जिन जीवोंके मारनेकी वेदमें आज्ञा है उनके मांसखाने में क्या पापहै उसके लिये वेदमें कुछ लिखाहै वा नहीं ? । मैंने कहा उनके मांस को खाये वा न खाये इस के लिये वेद में कुछ नहीं लिखा । परन्तु मेरी सम्मति है कि उन जीवों का मांस कोई खालेवे तो वह पाप नहीं जो मांसभक्षणके लिये ही मारे हुए प्राणियों के मांसखानेमें होता है । अधिक दोष नहीं । बड़ा पाप नहीं । वह दोष नहीं । हिंसा दोष नहीं । इत्यादि में से कोई शब्द वा वाक्य मैंने बोला हो परन्तु सबका अभिप्राय एक ही है । सरकार ने कहा राजा रामचन्द्रादि भी मांस खातेथे । मैंने कहा वहां भी यही बातहै कि वे जगत् की रक्षा के लिये दुष्ट हिंसक प्राणियों को बनोंमें जाकर मारतेथे वहां अन्नादि न मिलने से मांस खाया हो यह हो सकता है । प्रकाशानन्द ने कहा—हरिण भी हानि करते खेत को चर जाते हैं । मैंने कहा—ऐसे तो घरमें पाले पशु भी एकान्त होने पर खेत आदि खा लेतेहैं हानि अनेक प्रकार की है जिनसे जैसी हानि हो उनको वैसा दण्ड देना चाहिये । हन, हिंस, धातु और मारना शब्दों के प्रसंगानुसार अनेक अर्थ होतेहैं । कोई कहे कि खेत में गौ खाती है उसको मारो । कुमार्ग चलते हुए बालक को मारो तो क्या यह अर्थ होगा कि उन का प्राण वियोग कर दो ? । कदापि नहीं किन्तु यह अर्थ होगा कि उन को यथोचित दण्ड देना चाहिये । जिन प्राणियों से अनेकोंके प्राण जाते हैं वा जो असंख्य मनुष्यादिको तंग करते दुःख देतेहैं ऐसे जंगली सूकर आदिको मार डालनेके लिये राजपुरुषोंको वेदादिमें आज्ञाहै उपकारी वा निरपराधियोंको मारने वा सतानेकी आज्ञा नहीं । सरकार ने भी यह स्वीकार किया कि उपकारी गौ आदि को मारनेमें अवश्य पाप है हम भी इस को बुरा समझते हैं । सरकार ने कहा कि यदि ब्राह्मण कुल का कोई मनुष्य क्षत्रियों के काम में रहे तो वह क्षत्रिय माना जायगा ? । मैंने कहा अवश्य वह गुण कर्म से क्षत्रिय माना जायगा । द्रोणाचार्यादि ने भी क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर युद्धादि किया ही है । इत्यादि बातें पांचवें दिन सरकार से हुईं । पश्चात् हम लोग स्थान पर चले आये । प्रकाशानन्द ने मार्गमें ही मुझ से कहा

कि आप ने अनुकूल सम्मति दी सरकार प्रसन्न रहे यही हम चाहते थे। मैंने प्रकाशानन्दका इंगितचेष्टित मार्गमें देखा तो जान पड़ा कि वे मेरे अभिप्राय से विरुद्ध उड़ाना चाहतेहैं तो मैंने कह भी दिया कि आपको ऐसा कहना उचित नहीं तथापि साधुओं ने न माना और विरुद्ध प्रचार किया। मैंने जो कहा था उस का अभिप्राय सबको सुना दिया। इस पर सब की सम्मति हुई कि ये लोग विरुद्ध उड़ाते हैं तो आप अपना ठीक२ आशय लिखकर छपादीजिये। इस कारण मैंने उस दिन के वार्त्तालाप का सारांश लिखकर आर्यावर्त्तपत्र में छपने को भेज दिया। साधुओंके मिथ्यापवाद उड़ानेसे मेरे विषयमें लोगोंको कुछ २ शंका भी कदाचित् हुई होगी। परन्तु अन्तमें सत्य बात छिप नहीं सकती। वास्तव में एक दोष मेरा भी था जिसको मैंने उस समय उपकारी गुण समझा था और पीछे वह मुझे स्वयं दोष प्रतीत होगया। वह दोष यही था कि मैं कठोर शब्दों को बचाता रहा मेरे मन में था कि सरकार से बड़े२ उपकार होने वाले हैं। ऐसे शब्द न कहने चाहिये जो उनको बुरे लगें। परन्तु यह भी मेरा ठीक २ निश्चय था कि सिद्धान्त से विरुद्ध कुछ नहीं कहूंगा इसीके अनुसार वर्त्ताव किया था। प्रायः शिक्षित विद्वान् लोगों का यही सिद्धान्तहै कि धर्मानुकूल सत्य बोलना चाहिये इसको पीछे शोचने से मालूम हुआ कि कोमल और प्रिय वाक्योंके व्यवहार से ठीक २ अधर्म का खण्डन और धर्म का मण्डन प्रायः नहीं होता। इसी लिये पूरे धर्मात्मा लोग प्रियभाषी नहीं होते किन्तु ऊपरसे खरे वा कटुभाषी साधारण मनुष्यों को मालूम होते हैं। किसी कवि का वचन है कि--

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते सुहृदो जनाः।
अन्ये च वदराकारा बहिरेव मनोहराः॥ १॥

शुद्ध हृदय के धर्मात्मा लोग नारियल के फल समान बाहर खर खरे और भीतर स्वच्छ दूध वा गोले के समान सर्वोपकारिणी शुद्ध छल कपटादि रहित बुद्धिको धारण करतेहैं। और जिनकी धर्म पर ठीक २ स्थिति नहीं है। वे लोग वेर (बदर) फल के तुल्य भीतर कठोर निर्दयी और बाहर देखने में चिकनी चुपड़ी सबको प्रिय लगनेवाली बातोंसे शोभायुक्त दीखते हैं। यह सिद्धान्त बहुत ही ठीकहै कि धर्मात्मा सत्यवादीसे मनुष्यों का अधिक भाग प्रसन्न नहीं रह सकता। किन्तु धर्मज्ञ सत्य प्रिय लोगही उस से प्रसन्न रहेंगे। और सत्य प्रिय

धर्मज्ञ लोग जगत्में प्रायः कमही रहतेहैं । अब कोई कहे कि मानवधर्मशास्त्र में आयाहै कि:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥

सत्य बोले प्रिय बोले किन्तु अप्रियसत्य न बोले और असत्य प्रिय भी न बोले । इस का समाधान—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जहां प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकारके वाक्य सत्य हो सकतेहैं वहां प्रिय सत्य बोले किन्तु अप्रिय सत्य नहीं । परन्तु ऐसा प्रिय भी न बोले जो मिथ्या हो । अब यह शङ्का शेष रही कि जहां सत्य तो अप्रिय है और प्रिय बोला जाय वह सत्य नहीं उस प्रियसे धर्मकी रक्षा और अधर्मका खण्डन नहीं होता तो वहां क्या करना चाहिये इसलिये उक्त श्लोकके आगे अगला श्लोक है ॥

भद्रम्भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥

जहां अप्रिय सत्य बोलनेसे व्यर्थ ही वैर वा विवाद बढ़ता हो किन्तु उस सत्यसे धर्मकी वृद्धि वा रक्षा विशेष नहीं होती वा अधर्मकी निवृत्ति नहीं होती वहां—"हांहां, हूंहूं, ठीक ठीक, अच्छा अच्छा, वा हां हूं ठीक अच्छा" इत्यादि कोई शब्द उसके अनुकूल बोलदेवे । और जहां अप्रिय सत्यसे धर्मकी रक्षा वा वृद्धि होती हो वा ऐसा न बोलनेसे अधर्मसे धर्मका घात होता हो तो दो मार्ग हैं एकतो मौन होजाना द्वितीय अप्रियभी हो पर सत्यही बोलना । इन दोनों में भी धर्मकी रक्षाके लिये "मौनात्सत्यं विशिष्यते" मौन रहनेसे सत्य बोलना उत्तमहै । मौन रहना वहां उचितहै जहां मौन हो जानेसे ही धर्मकी रक्षा वा वृद्धि होतीहै । जैसे शस्त्रकी तीक्ष्ण तेज धारसे छेदन योग्य वस्तुका छेदन शीघ्र ही ठीक२ हो जाता और कोमल धारासे छेदन होना ही दुस्तरहै । इसी प्रकार प्रिय व कोमल सत्य से अधर्मका खण्डन नहीं होता और अधर्मका खण्डन हुए विना धर्मकी स्थिति होना दुस्तर है जैसे हिंसकोंकी वृद्धि बनी रहे तो जगत् में अहिंसाधर्म का प्रचार होना असम्भव है । इस से यह सिद्ध हुआ कि अधर्म की निवृत्तिपूर्वक धर्म की स्थिति करने के लिये अप्रिय सत्य ही मुख्य उपयोगीहै

किन्तु प्रियसत्य, हां, हूं, वा मौन रहना उपयोगी नहीं । इस दशामें जो लोग मांसभक्षण वा अन्य मद्यपान व्यभिचारादिका उत्तेजनाके साथ खण्डन करना अप्रिय होनेसे हानिकारक समझतेहैं वे बड़ी भूलमें हैं वे लोग धर्मकी स्थिति वा रक्षा कदापि नहीं कर सकते । श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वतीजी महाराज के व्याख्यान जिन लोगोंने सुने होंगे उनको स्मरण होगा कि वे कितनी तेजीके साथ खण्डन करते थे । वे महात्मा जानते थे कि सूर्यके उग्र वा कठोर तेजसे जैसा अन्धकार का नाश होताहै वैसा चन्द्रमाकी शीतल वा कोमल चांदनीसे नहीं होता । इसलिये कोमल वा प्रिय सत्य बोलनेमें उद्योग करना मेरीभी भूल अवश्य थी इसीलिये प्रकाशानन्दादिको मिथ्यापवाद उड़ानेका अवसर मिला । अस्तु—

मैंने जब अपने अभिप्रायसे विरुद्ध चर्चा होते जहां तहां देखी तो मुझे बड़ा क्लेश हुआ । मैंने पं० लेखराम जी तथा बा० गंगाप्रसाद जी आदिसे कहा कि ऐसी दशामें सरकार मुझे कुछ विदायगोधन देना चाहें तो मैं लेना नहीं चाहता धर्मके सामने धनको मैं तुच्छ समझताहूं । आप लोगोंकी क्या सम्मतिहै ?। सब की सम्मति हुई कि ऐसी दशा में तो कुछ न लेना चाहिये । परन्तु कल चलते समय तक भी आप कई लोगोंके सामने सरकारको अपना अभिप्राय सत्य २ सुना दें और वे सुन लें तो लेलेना चाहिये । यदि ऐसी दशामें भी न लिया जाय तो सरकारको दुःख होगा । इसी पांचवें दिन मुझे कुछ रोग बढ़ गया । रात्रि भर ज्वर उत्तेजनाके साथ रहा । मेरा चित्त घबराया कि कहीं रोग अधिक न बढ़ जावे मुझे स्वामी जी का स्मरण आया कि उनको यहींसे रोग बढ़ाथा । इस लिये जहांतक होसके यहांसे अतिशीघ्र चल देना चाहिये ।

आगे छठे दिन मैंने प्रकाशानन्दसे कहा कि मैं आज यहांसे चला जाऊंगा मुझे धनादिकी कुछ भी इच्छा नहींहै ऐसी दशामें मैं कुछ भी नहीं लूंगा आप जावें तब सरकारसे यही आशय कह देवें । प्रकाशानन्दने कहा ऐसा करोगे तो सरकारको बुरा लगेगा । आपको ऐसा करना उचित नहीं । थोड़ी देर पीछे दोनों साधु बा० गङ्गाप्रसाद जी मैं तथा जगत्सिंह सब लोग सरकारके बंगलेपर मिलने गये । जगत्सिंहादि सब लोगोंके जानेका प्रस्ताव होचुका तब मैंने कहा कि—कल आपसे जो बातें हुईंथी उनका सारांश मैं फिरसे कहना चाहताहूं क्योंकि मेरे अभिप्रायसे विरुद्ध लोगोंने कुछका कुछ उड़ा दिया इससे मुझे बड़ा कष्ट हुआ । कदाचित् आपने भी भाषाका भेद होनेसे कुछ विरुद्ध समझ लियाहो

हो । मेरा अभिप्राय यह था कि "हिंसा के विना मांस नहीं मिल सकता और हिंसाको वेदादिशास्त्रों में अधर्म माना है तथा अहिंसा को परमधर्म माना है इस कारण मांस खाना पाप है वा महाअधर्म है। परन्तु जिन प्राणियों के मारने की आज्ञा वेदादि में है उन के मारने में पाप नहीं माना गया उन का मांस कोई खा भी लेवे तो अधिक पाप नहीं है" इस पर सरकार ने कहा कि और तो ठीक है परन्तु अधिक शब्द कल आपने नहीं कहा था। मैंने कहा कि अधिक शब्द न कहा हो कोई अन्य शब्द कहा हो कि वैसा पाप नहीं जैसा मांसभक्षण में माना गया है अथवा हिंसारूप दोष नहीं इत्यादि परन्तु मेरा आशय यही था। कोई उपदेशक वा व्याख्यानदाता अपने सब शब्दों का अनुवाद उसी समय यथावत् नहीं कर सकता कि मैंने अमुक २ शब्द कहे थे तो मैं कलके सब शब्दों का स्मरण कैसे रख सकता था। इस पर दोनों साधु बहुत विगड़े जिस से शान्तिपूर्वक वार्त्तालाप में विघ्न होगया तब सरकार के सामने मेरे मुख से भी मांसभक्षणको पाप ठहराने के लिये कितने ही कटुवाक्य निकले जो सरकार को भी कदाचित् बुरे जान पड़े होंगे। मेरे शरीर में पहिले दिन का ज्वर अब तक बना था जिस से चित्त भी स्वस्थ नहीं था इस कारण सावधानी के साथ बातें नहीं कर सकता था। अन्त में वहां से चलते समय सरकार ने ५००) मेरे नाम २००) जगत्सिंह के नाम और १००) बा० गङ्गाप्रसाद जी के लिये लिख कर स्टेशन को एक मनुष्य भेज दिया कि इन सब को स्टेशन से रुपये मिल जावें। हम सब वहां से चले आये तो पं० रामदयालसिंह ने मुझ से मार्ग में कहा कि आप को क्या खबर नहीं आज आपकी प्रतिष्ठा नहीं रही। आपने अच्छा नहीं किया सरकार अप्रसन्न रहे आप को ऐसा कहना उचित नहीं था। आप को खबर नहीं आपका निरादर वा अप्रतिष्ठा होगई। मैंने उत्तर दिया कि मैं अप्रतिष्ठा वा निरादर को बुरा नहीं समझता। अप्रतिष्ठा से डरने वाला धर्म का सेवन नहीं कर सकता मुझे ऐसी अप्रतिष्ठा से कुछ भी दुःख नहीं किन्तु यदि मुझे कान पकड़ कर जोधपुर से कोई निकलवा देता तो अपने कर्त्तव्य को ठीक सफल समझता। देखो धर्मशास्त्रमें लिखा है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदपमानस्य सर्वदा ॥

इस का अर्थ—विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण को उचित है कि सम्मान वा प्रतिष्ठा से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के तुल्य अपमान वा अप्रतिष्ठा की चाहना सदा रक्खे क्योंकि अप्रतिष्ठा से बचने और प्रतिष्ठा की चाहना रखने वाला जहां धर्म की रक्षा से प्रतिष्ठा जाती देखेगा वहां धर्म का झट त्याग कर देगा और जहां अधर्म करने से प्रतिष्ठा होती देखेगा वहां अधर्म भी करने लगेगा । और संसार में धर्मात्मा शुद्धहृदय के मनुष्य सदा कम होते हैं इस कारण सच्चे और दृढ़ धर्मात्मा को प्रतिष्ठा करने वाले कम ही मिलेंगे । किन्तु अधर्मी के साथी अनेक हो जांयगे । इत्यादि विचार के अनुसार मैं अप्रतिष्ठा को ही उत्तम समझता हूं । इस के पश्चात् हम सब लोग स्थान पर आकर शीघ्र ही सामान बांध कर स्टेशन को चल दिये। उस समय न कोई मनुष्य न कोई सवारी थी जिस पर असबाब भी धरलेते । आपसके सब मनुष्य गठरीमुठरी उठा २ स्वयं रेल पर लेगये । केवल जोधपुर के दो ब्राह्मण मेरे मित्र जिन को मेरा जाना पहिले से ज्ञात था वे तथा पं० लेखराम जी पं० रामदयालसिंह जी आदि असबाब लेकर स्टेशन पर पहुंचा आये थे । पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि यह भी कुछ कम अप्रतिष्ठा नहीं हुई परन्तु इस निरादर के भी मुख्य कर्त्ता साधु लोग ही थे क्योंकि वे कहचुके थे कि यदि तुम हमारी इच्छा के अनुसार मांसभक्षण की पुष्टि न करोगे तो प्रतिष्ठा के बदले तुम्हारी अप्रतिष्ठा वा निरादर होगा । अब रहा ५००) मुद्रा का प्राप्त होना सो यह जोधपुर जैसे राज्यों का एक साधारण कर्त्तव्य है । जैसे कोई २०) रु० मासिक की प्राप्ति वाले के समीप दूर से बुलाने पर आवे और वह उस को दो पैसे उदासीन चित्त से दे देवे । और मुख्य तो यह है कि सरकार जोधपुर के चित्त से मेरा निरादर वा अप्रतिष्ठा हुई हो यह मुझे विश्वास नहीं क्योंकि वे गम्भीर और विचारशील पुरुष प्रतीत होते हैं किन्तु निरादर की सब कार्यवाही साधुओं ने अन्य मनुष्यों को मिलाकर चालाकी से कराई थी । अस्तु इस छठे दिन हम लोग जोधपुर से चलदिये मारवाड़ स्टेशन तक बीमारी का नया उपद्रव (जो कि प्रकाशानन्द के साथ एक दिन बारह बजे तक जागने और कुछ भोजनके व्यतिक्रम वा कुपथ्य से मन्दाग्नि और कफ की वृद्धि होकर ज्वर होगया था भूख रुक गयी थी सो सब) रेल में ही सब शान्त होगया सन्ध्या को क्षुधा लगी शरीर अच्छा होगया ।

जोधपुर के अनुभूत समाचार ॥

सरकार जोधपुर के विचार (खयालात) अन्य बहुत से राजपुरुषों की अपेक्षा बहुत ही प्रशंसा के योग्य हैं । आर्यधर्म की ओर अब तक उन का पूर्ण प्रेम था परन्तु जिस एक को बिगाड़ने वाले बहुत हेतु खड़े हो जांय उस का ठीक रहना बहुत ही कठिन है। जोधपुर में आर्यधर्मके पूरे कट्टर शत्रु अनेक [जिस के भीतर विष भरा हो और ऊपर से थोड़ासा घी मुख पर धर दिया जाय उस घड़े के तुल्य] हैं । मेरा अनुमान है कि ऐसे ही मनुष्यों का यह कर्त्तव्य हुआ है । वे लोग भीतर २ अनेक प्रकार के जोड़तोड़ सदा लगाते रहे अन्त में सरकार का चित्त आर्यधर्म से हटाने के लिये उन को सर्वोपरि यह उपाय सूझा कि सरकार मांसभक्षण करते हैं और कुछ २ अच्छा भी समझते हैं । उधर सरकार को मांसभक्षण में पक्का किया और किसी से सिद्ध कराया कि मांसभक्षण वेदोक्त कर्म है । इधर आर्य लोगों को सुझाया कि देखो ! मांसभक्षण वेदानुकूल न ठहरने पावे । इस से आर्यधर्म में कलङ्क लग जायगा । इत्यादि प्रकार विग्रह करके सरकार का चित्त आर्यधर्म की ओर से ग्लानियुक्त कर दिया । और वर्त्तमानदशा से अनुमान होता है कि कदाचित् सरकार को आर्यधर्म से और भी ग्लानि आ जावे । यह निश्चित है कि जिन लोगों के स्वार्थ में आर्यधर्म के प्रचार से हानि पहुंची है वे ही मुख्यकर इस के विघ्नकर्त्ता हैं । सरकार जोधपुर के " मुझ से आर्यसमाज का जो कोई काम लो मैं देने को तयार हूं मुझे चपरासी बना दो वही काम दूंगा। मुझे सब आर्य लोग अपना समझते रहें मैं सब के पीछे लगा रहूंगा । मुझ को निराश्रय न करो " इत्यादि वचन सुनने से प्रतीत होता था कि आर्यधर्म की ओर उन का पूरा प्रेम है परन्तु शोक है कि मैं जिस २ प्रकार का पूर्वलिखित नोटरूप विचार करके गया था उस को असुरों ने न बनने दिया और आर्यधर्म की उन्नति में महाविघ्न फैला दिया । हे परमात्मन् ! महाराजा कर्नलसर प्रतापसिंह जी के हृदय में ऐसी प्रेरणा कर कि जिस से वे निष्पक्ष हो सत्यासत्य का निर्णय करावें और असुरों की माया में न फसें । सरकार जोधपुर अन्य राजपुरुषों के तुल्य आलसी वा आरामतलब नहीं हैं किन्तु बड़े परिश्रमी धीर वीर और प्रतापी हैं । उन का नाम सार्थक है । उन की आकृति पर प्रताप झलकता है । क्षत्रिय लोगों में शूरवीरता गुण होना बहुत आवश्यक है सो उन

में प्रत्यक्ष दीखता है। शस्त्रों का और घोड़ों पर चढ़ने का अधिक शौक है। उनका शरीर आधुनिक अमीरों कासा कोमल नहीं किन्तु अनेक प्रकार का व्यायाम (कसरत) शरीर से प्रतिदिन करते हैं। वस्त्रादि का पहरना ओढ़ना भी शौकीनों कासा नहीं है देशी मोटे वस्त्रों की अधिक चाल राज के बड़े २ सब अधिकारियों तक में वर्त्तमान है। वेदमतानुयायी वा क्षत्रियों को अधिक कर राजकार्यों में प्रविष्ट किया और करते हैं। राजकार्यों को स्वयं देखते और सम्हलवाते चलवाते हैं। इस समय जोधपुर में जो कुछ बातें सुधार की दीखती हैं उन सब का कारण सरकार जोधपुर ही हैं। अंगरेजी राज्यकी अपेक्षा वहां की प्रजा सुखी प्रतीत होती है। जोधपुर में प्रतिदिन वहांके मनुष्य मेरे पास मिलने को आते थे उन से अनेक प्रकार की धर्मचर्चा होती थी। राजमंत्री पं० श्रीशुकदेवप्रसाद जी भी दो वा तीन वार मुझ को दर्शन देने आये। ये महाशय गम्भीर विचारशील पुरुष प्रतीत होते हैं। इन महाशय की धर्म की ओर भी अच्छी दृष्टि है। उन की अनेक बातों से निश्चय हुआ कि वे मांसभक्षण को धर्मानुकूल नहीं समझते। उन से समागम होते समय मैंने स्पष्ट कई बार कहा कि मैं बालक नहीं मुझ को अनेक प्रकार के लोभलालच देकर बालकों के तुल्य बहकाना क्या उचित है ?। मैं धन और प्रतिष्ठा को धर्म के सामने धूलि से भी नीच समझताहूं। मुझ को धन वा प्रतिष्ठा प्राप्ति का लोभलालच देकर अपने पक्ष के अनुकूल मांसभक्षण के प्रतिपादन कराने का उद्योग जो लोग करते हैं क्या उन को आप धर्मात्मा कहें वा मानेंगे ?। और क्या ऐसे मनुष्यों को धर्म के पूरे शत्रु नहीं समझना चाहिये ?। ये ही बातें मैंनेरावराजा तेजसिंहजी से समागम होते समय भी कहीं थी। सबने स्वीकार किया कि तुम्हारा विचार ठीक है।

मैंने जोधपुर का जो २ वृत्तान्त लिखा है उस सब में इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि जिस २ के साथ जो २ बातें मुझसे हुईं वा मैंने कहीं उन सब के आशयमात्र का मुझे स्मरण था इस कारण मैं यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि मैं वा उन २ लोगों ने येही शब्द कहे थे जो यहां लिखे गये हैं। क्योंकि शब्दों का यथावत् स्मरण रखना बहुत कठिन है। परन्तु प्रकाशानन्द के सिद्धान्त वा चिट्ठीपत्री ज्योंके त्यों लिखे गये हैं। इत्यलम्। ह० भी० श०

स्थावर में जीवविचार॥

गत १। २ अंक पृ० २३६ से आगे॥

उठाता पटकता है इस कारण उस समय मन के साथ आत्मा का पूरा संयोग नहीं माना जाता किन्तु कुछ २ संयोग रहता है। स्वप्नदशा में जब तक उद्बोधक हेतुओं की अपेक्षा तमोगुणरूप निद्रा की प्रबलता अधिक रहती है तब तक दुःख पहुंचाने पर भी जाग नहीं सकता। यही दशा वृक्षादि स्थावरों में जीवात्मा की है। प्रयोजन यह कि बाहरी प्रकट इच्छादि का नाम जीवात्मा वा जीव नहीं है किन्तु इच्छादि गुणों से वा मन से भिन्न एक जीवात्मा है जिस की विद्यमानता इच्छादि की प्रकटता होने न होने पर दोनों दशा में मानी जाती है। यदि कोई शंका करे कि दीपक की विद्यमानता में प्रकाश न हो तो क्या ठीक है? ऐसा कोई मान सकता है? वा प्रकाश न होने की दशा में दीपक होने में प्रमाण ही क्या है दीपकका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय? इसका उत्तर—यदि दिनमें अधिक प्रबल आंधी मेघके दब आनेसे रात्रिके तुल्य अन्धकार फैल जावे और प्रकाश न रहे तो क्या तुम मान लोगे वा सिद्ध कर सकोगे कि अब सूर्य नहीं है? वा किसी आच्छादक वस्तुसे दीपक ऐसा दबा दिया जाय जिसका प्रकाश ही न फैले वा बहुत मन्द प्रकाश फैल जावे तो क्या मान लोगे कि दीपक वहां नहीं है। इसी प्रकार यदि मान सको वा सिद्ध कर सको कि सूर्यादि नहीं हैं तो वृक्षादिमें भी जीवका अभाव मानलेना। और यदि किसी प्रमाणसे सूर्यादिकी विद्यमानताको सिद्ध करो तो वही प्रमाण वृक्षादि में जीव की सत्ता सिद्ध करनेके लिये उपयोगी होगा। इत्यादि विचारको यहीं छोड़ना ठीक है क्यों कि आगे पार नहीं।

अब यह विचारना शेष है कि सजीव वा सचेतन किसको मानना चाहिये?। इस का उत्तर यह है कि जो वस्तु बीज से उत्पन्न हो और समय, खेत, जल तथा बीज इन चार प्रकार की सामग्रियोंसे जिसकी उत्पत्ति होकर किसी नियत समय तक बढ़े और पीछे नियत परिणत (वृद्ध) अवस्थामें वा आगन्तुक रोगादि के कारण अपनी सबीज अर्थात् (सजीव) दशा को छोड़ कर मृतक हो जावे वा सूख जावे उसको सबीज कहते हैं। बीज और जीव शब्दमें एक अक्षर की लौट पौट है। इस कारण इन का अर्थ परस्पर अधिक मेल अवश्य रखता है कि

जो बीजसे हों वे शरीर सजीव वा जीव सहित हो सकते हैं तथा जिनमें जीवहै उनको बीज द्वारा आगे सन्तति चल सकती है इस प्रकार बीज और जीव ये दोनों सहयोगी वा सहचारी वा सापेक्षशब्द हैं। जहां जीव नहीं उन में आगे सन्तति चलने वाला बीज नहीं हो सकता। और जिन वस्तुओं का बीज नहीं वहां जीवात्मा किसी रूप से रहै भी परन्तु शरीराभिमानी नहीं हो सकता। बीजशब्द का अर्थ सामान्य कारण नहीं है किन्तु बीज किसी सजीव शरीर का सर्वोत्तमसार होताहै जिसमें उस शरीरके सब सूक्ष्म अंश होतेहैं इसी कारण उस बीजसे फिर शरीर वा वृक्षादि बन जातेहैं। लौकिक व्यवहार में वृक्षादि शरीर पदवाच्य नहीं माने जाते और शरीर के स्थान में वृक्षादि शब्दोंका भी प्रयोग नहीं होता इसका कारण चेतनशक्ति की प्रबलता और निर्बलताहै। मनुष्यादि के शरीरमें चेतनशक्ति प्रबल व्याप्त है और जिसकी चेतनशक्ति विशेष पीड़ापहुंचने पूर्वक रोगादि द्वारा भिन्न की जाय वह शरीर कहाता और जो छेदन किया (काटा) जाय वह वृक्ष कहाता है। इसी कारण मनुष्यादि के शरीरों में हिंसाशब्दकी प्रवृत्तिहै और वृक्षादि में नहीं। परन्तु वेद वा उपनिषदादि ग्रन्थों में कहीं२ शरीर शब्दके स्थान में वृक्ष शब्द का प्रयोग आता है जैसे ऋग्वेद में—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः॥श्वे० उ०

इन दोनों प्रमाणोंमें वृक्ष शब्द करके शरीर लिया जाताहै। इसी प्रकार वृक्षादि के स्थानमें कहीं शरीर शब्दका प्रयोग आ जावे तो असम्भव वा आश्चर्य नहींहै। परन्तु वृक्षादि स्थावरोंको शरीर धारी मानने के विषयमें न्याय वैशेषिक शास्त्रका सिद्धान्त विद्वन्मोदतरङ्गिणीनामक ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि—

शरीरता नास्ति महीरुहेषु जीवाश्रयत्वेऽपि विनास्थिमांसैः।
चेन्मन्यते केवलजीवयोगात् शरीरतास्तां तदयोनिजेषु ॥ १ ॥
अयोनिजं वारिमहीमरुद्वपुर्धराशसंज्ञव्यवहारसाधनम् । न
पुण्यपापात्मककार्यकारणं पुराकृतैः केवलभोगभाजनम् ॥ २ ॥

वृक्षादि स्थावरों में जीवात्मा का निवास होने पर भी हड्डी मांसादि के न होने से उन के स्वरूप को शरीर शब्द से नहीं कह सकते वा वृक्षादि को

शरीरधारी नहीं मान सकते। यदि केवल जीवात्मा का योग होनेमात्र से वृक्षादि शरीरधारी मानें जावें तो उन का शरीर अयोनिज माना जायगा। स्त्री के गर्भाशयसे जिन की उत्पत्ति है वे योनिज शरीर माने जाते हैं। तथा अन्य प्रकार से उत्पन्न होनेवालों को अयोनिज कहते हैं॥ शरीर मानने के पक्ष में जल पृथिवी और वायु इन तीन तत्वों के योग से वृक्षादि का अयोनिज शरीर माना जाता और पार्थिव भाग की अधिकता से व्यवहार की सिद्धि के लिये वृक्षादिको दृश्यपदार्थों के अन्तर्गत विषय भी मानना ठीक है। वृक्षादि का अयोनिज शरीर पुण्य पापरूप कार्यों के संचय का कारण नहीं अर्थात् वृक्षादि पुण्यपाप कुछनहीं करते किन्तु पूर्वजन्मों के किये निकृष्ट कर्मों का फल भोगनेमात्र के लिये उन को अयोनिज शरीर मिला है॥

यदि बीजसे उत्पन्न हो वह सजीव सचेतन है तो पत्थर वा कङ्कड़ आदि अन्य भी कई वस्तु ऐसे होते हैं जिनका पहिले छोटा बीजरूप टुकड़ा होता है उसीसे वे बढ़ते हैं और बहुत बड़े २ हो जाते हैं। तो इस पक्षमें अतिव्याप्ति दोष आगया इस कारण तुमको चाहिये कि पत्थरादि को भी सजीव वा सचेतन मानो और जब पाषाणादि भी चेतन हुए तो फिर जड़ किसे कहोगे ?।

इसका उत्तर यह है कि पाषाणादिका सजीव वा सचेतन होना साध्यकोटि में है किन्तु सिद्ध नहीं क्योंकि प्रथम तो बीजसे उत्पत्ति होना ही ठीक नहीं जान पड़ता। किसी वस्तुका बढ़नामात्र बीजसे उत्पत्ति सिद्ध नहीं कर सकता। अनेक स्थलोंमें जहां मट्टी नहीं है वा थोड़ी है वहां बड़े २ ढेर होजाते हैं अन्यत्रसे उड़ २ कर वायुके द्वारा मट्टी चली आती है। पृथिवीके जिस हिस्से में जिस वस्तुकी खानि होती है वहां अन्य वस्तु जो २ कुछ जा पड़ते हैं सब उसीके रूप में बन जाते हैं। जैसे साम्हर लवणकी जहां खानि है वहां जो कुछ पड़ताहै सब साम्हर बन जाता है इसी प्रकार जहां पहाड़ों में पत्थर बनने की खानें हैं वहां अन्य वस्तुओं के त्रसरेणु भी पत्थररूप होते रहतेहैं। इस कारण पत्थर बढ़ते हैं। यदि इस प्रकारके बढ़ने से जीव होने की शङ्का होती है तो सभी में जीव की शङ्का होना सम्भव है। इसलिये ऐसी शङ्का ठीक नहीं। और द्वितीय कदाचित् कोई पत्थरादि ऐसे हों जैसे वृक्षादि जीवधारी ऋतु खेत और जल रूप चार प्रकारकी सामग्रीसे किसी नियत समय तक उत्पन्न होकर सजीव

रह कर सूख जावें (मृत होजावें) वा अपनी वर्त्तमानदशा (हालत) को छोड़ जावें तो उनको सजीव मान लेनेमें हमारी कुछ हानि नहीं ॥

प्रश्न—क्या घास शाक तरकारी बूटी ओषधि आदि सब ही में जीव का निवास मानोगे ? ।

उत्तर-हां ऊपर लिखे अनुसार बीजसे उत्पन्न होकर नियत समय तक ठहर कर नष्ट होजाने वाले घासादि सभी जीवधारीहैं इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

प्र०—यदि घासादि को पश्वादि न खावें तो कैसे जी सकते हैं । और खावें तो पशुपालने वाले को दोष लगेगा । फिर धर्मशास्त्र में पशुपालन वैश्य का कर्त्तव्य कर्म क्यों ठहराया गया । पशुओंका भक्ष्य घासादि बनाया और मनुष्यों को पशुपालनकी आज्ञा दी तो सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही मनुष्यों से पाप कराना चाहता है । ऐसा है तो मनुष्य का अपराध नहीं किन्तु ईश्वर का दोष है।

उ०—यदि पश्वादि हरी घास न खावें और अनेक प्रकार का भूसा पककर वा सूख जानेपर एकत्र की हुई घास खावें तो जीवित रह सकतेहैं । यदि पशुपालने वाला चाहे तो हरे घासादि खिलाये विना अच्छे प्रकार पशु पाल सकता है । और कदाचित् किसी देश वा समयमें हरित घासादि के विना पशुपालन नहीं होसकता हो और पशुपालनवृत्तिको छोड़ भी नहीं सकते तो पशुपालन कर्त्ताको कुछ दोष अवश्य लगेगा । हम पूर्वपक्षीसे पूछते हैं कि यदि घासादि को जड़ मानकर इस दोषसे तुम किसी प्रकार बच भी गये तो संसारके असंख्य कार्य वा व्यवहार ऐसे हैं जिनको किये विना मनुष्य कदापि नहीं बच सकता उन से भी बचनेका उपाय कुछ शोचा है ? यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि संसार के सब काम चलाता हुआ भी कोई सर्वथा निष्पाप होसकता है । तो हम प्रतिज्ञा करतेहैं कि ऐसी दशामें मनुष्य कदापि सर्वथा निष्पाप नहीं हो सकता । एक २ पग धरनेमें पाप पुण्यका संचय होतारहता है । चलने फिरने खाने पीने उठने बैठने आदि साधारण व्यहारों में भी अनेक जीवों का जान कर वा अज्ञानसे मरण होता वा उन को कष्ट पहुंचता रहता है । इस से कोई नहीं बच सकता और न उक्त व्यवहार किये विना रह सकता है । इस से यह प्रयोजन नहीं है कि जब नहीं बच सकता तो जानकर भी पाप करने चाहिये । इसी लिये धर्मशास्त्रोंमें उपाय बतलाये गये हैं कि जहां तक हो सदा पापोंसे बचनेका उद्योग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अं० ५,६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

स्थावर में जीवविचार

गत अंक ३ ४ पृ० ३२ से आगे

करने चाहिये जहां नहीं बच सकता वहां उस के प्रायश्चित्त बनाये गये हैं तथा उस के बदले विशेष पुण्य करने की आज्ञा दी गयी है। और यह बात तो ठीक है कि मनुष्य को पशुपालन की आज्ञा दी गयी और पशुओं का भक्ष्य घासादि परमेश्वर ने बनाया परन्तु यह आज्ञा नहीं दी कि पशुओं का पालन हरित घासादि खिला कर ही करना चाहिये और यदि कहीं कभी हरित घासादि खाये बिना पशुओं का निर्वाह नहीं होसक्ता तो जैसे सिंहादि अनेक प्राणियों का निर्वाह किन्हीं जीवों का मांस खाये बिना नहीं होता और अनेक मांसाहारी प्राणियों का मांस ही भक्ष्य बनाया प्रतीत होता है क्या यह भी दोष परमेश्वर ही पर तुम लगाओगे ?। हमारे पक्षानुसार तो मनुष्य अपने सुख के लिये जो २ काम करता है उसमें यदि उस को कुछ पाप वा दोष लगें वा दुःख मिले तो उस का अपराधी वही बनेगा ईश्वर का उस में कुछ दोष नहीं। यह नहीं हो सकता कि भोजन प्राप्ति से होने वाले सुख को हम भोगें और मलसंचय से होने वाले दुर्गन्धादि जन्य दुःख का भागी कोई अन्य बने। मनुष्य अपने सुख के लिये पशु-

पालन करता है उस में होने वाले अनिवार्य्य अपराध वा दुःख का भागी भी वह स्वयं होगा यह निश्चय है कि जो संसारी सुख के लिये भागेगा। उस को कुछ दुःख भी अवश्य प्राप्त होंगे। जब संसारी व्यवहार में रह कर मनुष्य सर्वथा निष्पाप नहीं हो सकता तभी तो हमारे यहां तीसरा चौथा आश्रम बन सकता है यदि गृहाश्रम में सब व्यवहार करता हुआ भी निष्पाप हो सके तो फिर वानप्रस्थ संन्यासाश्रम व्यर्थ हो जावें। ईसाइयों के यहां वर्णाश्रम की व्यवस्था नहीं इसी लिये उन के मत में कोई निष्पाप नहीं हो सकता तब विश्वास कर पाप छुड़ाना चाहते हैं जैसे कोई कहे कि मैं संस्कृत पढ़ने के परिश्रम को तो असाध्य समझ कर नहीं कर सकता परन्तु किसी पण्डित पर विश्वास कर लूं कि वह कृपा कर दे तो पढ़ जाऊं जैसे यह विश्वास विना परिश्रम किये तीनों काल में कभी सफल नहीं हो सकता वैसे ही पाप छुटाने का विश्वास निष्फल जानना चाहिये ॥

अब स्थावर में जीव होने के विषय में महाभारत के कुछ श्लोक लिखते हैं महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म के अन्तर्गत भृगुभरद्वाज के संवाद में लिखा है कि:-

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः ।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १ ॥
ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक्फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ २ ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ ३ ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
नह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥४॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥५॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ ६ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ॥
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥ ७ ॥
सुखदुःखयोर्ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस प्रकरण में पहिले यह प्रश्न उठाया गया है कि वृक्षों में जीव और पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां हैं वा नहीं इसी का उत्तर पूर्वोक्त श्लोकों से दिया गया है कि आकाशादि पांचों तत्वों का मेल वृक्षों में है और पांच भूतों से बने पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां भी इन में हैं इसी कारण जीव भी इन में अवश्य मानना चाहिये क्योंकि गुणी के बिना गुणों की स्थिति कहीं भी नहीं देखने में आती । पांच ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति जीवात्मा के सहयोगी साधन हैं। जहां जीवात्मा का निवास नहीं वहां ज्ञानेन्द्रियों का कोई काम कदापि नहीं हो सकता तो ज्ञानेन्द्रियों के काम से जीव का होना सिद्ध हो गया। यद्यपि वृक्षों की पिछली आदि के सब अवयव सम्मिलित हैं तथापि उन में आकाश तत्व का काम होता अर्थात् आकाश उन के भीतर विद्यमान है क्योंकि फूल फल वृक्षों के भीतर से समय २ पर सदा निकला करते हैं । यदि अवकाश भीतर न होता तो किसी वस्तु का निकलना पैठना नहीं बन सकता । निकलने पैठने का मुख्य हेतु आकाश तत्व ही है । कोई कहे कि ऐसे तो पत्थर आदि में भी आकाश होना सिद्ध हो सकता है इस का उत्तर यह है कि इस पर हमारा विवाद नहीं कि पत्थर आदि में आकाश नहीं है किन्तु हमारा कहना यह है कि वृक्षों में आकाश का काम जैसे स्पष्ट दीखता है वैसा पत्थर में नहीं । कदाचित् पत्थर में आकाश का होना सिद्ध भी हो जाय तो हमारी कुछ हानि भी नहीं परन्तु आकाशादि का होना पत्थर आदि में सिद्ध भी हो जाय तो वे चेतन वा सजीव नहीं हो सकते क्योंकि सजीव होने की सामग्री एक यही नहीं है किन्तु बहुत है जो पूर्व से लिखते आये हैं ॥ १ ॥ वायु और अग्नि तत्व भी वृक्षादि में हैं। अग्नि के बढ़ने से वा ग्रीष्म ऋतु में अधिक ताप पहुंचने से उन वृक्षों पर उदासीनता छा जाती है । उनकी त्वचा और फल फूल मुरझाय जाते वा गिर जाते हैं इस से प्रतीत होता है कि वायु का कार्य स्पर्शेन्द्रिय इन में है क्योंकि

जिस के स्पर्श इन्द्रिय नहीं उस को बाहरी सरदी गर्मी व्याप्त होकर कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकती ॥ २ ॥ वायु अग्नि और विद्युत् की गर्जना के शब्दों से वृक्षों के फल फूल गिर जाते हैं इस से प्रतीत होता है कि वृक्षों में शब्द सुनने के श्रोत्र इन्द्रिय की शक्ति विद्यमान है । क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय के बिना भयङ्कर शब्द का भय किसी के भीतर जाकर कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता । जैसे किसी अत्यन्त बधिर मनुष्य को कैसा ही कठोर वा कोमल वचन कहा जाय जिस को वह कान से न सुन पावे तो उसे कुछ भी हर्ष शोक न होगा ॥ ३ ॥ लता की बेल वृक्षादि पर लिपटती और सब ओर को बराबर चढ़ती जाती है इस से जान पड़ता है कि वृक्षों में देखने की शक्ति है क्योंकि जिस में देखने की शक्ति नहीं वह मार्ग में नहीं चल सकता । यदि कोई कहे कि अन्धे भी तो विना नेत्रों के मार्ग में चलते हैं । तो इस का उत्तर यह होगा कि वे बुद्धिस्थ नेत्रों से देख कर चलते हैं । नेत्रों की बाहर निकलने वाली शक्ति अन्धे की बुद्धि में आ जाती है और इन्द्रिय गोलकमात्र बिगड़ जाता है किन्तु इन्द्रियशक्ति नष्ट नहीं होती । और वृक्षादि में भी प्रसिद्ध इन्द्रियों के गोलक हम नहीं ठहराते किन्तु इन्द्रियों की शक्ति के काम उन में दीखते हैं इस कारण इन्द्रियशक्ति उन में मानने की आवश्यकता है ॥ ४ ॥ अच्छे २ शुद्ध सुगन्ध और नाना प्रकार की धूपों से वृक्ष नीरोग और फल फूल देने वाले हो जाते हैं इस से ज्ञात होता है कि उन में सूंघने की शक्ति विद्यमान है । क्योंकि जिस में गन्धग्रहण की शक्ति नहीं उस में सुगन्ध दुर्गन्ध प्रवेश कर कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता है ॥ ५ ॥ पाद अर्थात् जड़ों से पृथिवी के जल को पीते वा अपने में लेते और वृक्षों को जल के विकार से रोग भी होते दीखते हैं तथा रोगों की ओषधि वा रोग हटाने के उपाय से आराम भी होता दीखता है इस से सिद्ध है कि जिह्वा इन्द्रिय की शक्ति वृक्षों में है । यदि रसग्रहण की शक्ति न हो तो जल का पीना तथा रोग का होना वा रोग की निवृत्ति किसी रसादि के संयोग से होना सम्भव नहीं । पादप शब्द भी संस्कृत वाणी का है उस का अर्थ सर्वसम्मत यही होता है कि "पादैः पिबन्ति ते पादपाः" पगों से जल पीते हैं इस कारण उनका नाम पादप है ॥ ६ ॥ जैसे छोटी नलीरूप मुख से कोई जन्तु ऊपर को जल खींचे वैसे पवनसंयुक्त वृक्ष अपने पगरूप मुख से जल पीते हैं । अर्थात् वृक्ष की जड़ों को उन का मुख समझना चाहिये ॥ ७ ॥

मांसभक्षणविषय पर हिन्दीप्रदीप की सम्मति

हिन्दीप्रदीप ने मांसभक्षणविषय पर जो कुछ लिखा है उस पर कुछ लिखने को मुझ को इस कारण आवश्यकता प्रतीत हुई कि सम्पादक हि० प्र० के प्रायः लेख निष्पक्षपात होते हैं और तदनुसार यह लेख भी किसी का पक्ष लेकर नहीं लिखा गया किन्तु समयानुकूल अपने अनुभव को प्रकाशित किया है। यद्यपि लेख निष्पक्ष विचार से लिखा गया है तथापि दीर्घदृष्टि और वेदादिशास्त्रों के सिद्धान्त को समझ कर लिखा प्रतीत नहीं होता। और यह नियम नहीं है कि जो कोई निष्पक्ष होकर कहे वा लिखे वह सब वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्तानुकूल भी हो ही जावे किन्तु यह नियम अवश्य है कि उस पक्षपातरहित मनुष्य ने वेदादि के सिद्धान्त को जानने और भूत भविष्यत् को दूर तक शोचने में जितनी योग्यता प्राप्त की होगी उसी के अनुसार वह लिख वा कह सकेगा। जैसे किसी मनुष्य ने सिद्धान्त से विरुद्ध कुछ सुन समझ कर जान लिया वा मिथ्या को सत्य समझ लिया तो जैसा उस के मन में है वैसा लिखना वा कहना निष्पक्ष अवश्य होगा परन्तु सर्वानुकूल भी हो यह नहीं कह सकते। जो मन में है वही वाणी से कहे वा लिखे इस अंश में वह निर्दोष भी माना जायगा। पर यह भी विधिवाक्य है कि सत्य का खोज करे सत्यासत्य का विवेक कर निश्चय करे कि सत्य क्या है। इस अंश में वह दोषी भी होगा कि उस ने सत्य का ठीक २ खोज क्यों नहीं किया अर्थात् मनुष्य के निष्पक्ष होने पर भी यह सम्भव है कि अल्पज्ञता के कारण उस ने उलटा निश्चय कर लिया हो। प्रस्तुत यह है कि हिन्दीप्रदीप का लेख भी वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त से ठीक मिला हुआ वा वेदानुकूल और दीर्घदृष्टि के अनुकूल नहीं है किन्तु कई अंश में वेदादि शास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध और दीर्घदर्शिता से रहित है। मैं हिन्दीप्रदीप के लेख का सब अनुवाद यहां नहीं लिख सकता किन्तु आशयमात्र लिखकर अपनी सम्मति लिखूंगा॥

हि०प्र०—इस में सन्देह नहीं मांसभोजन निषिद्ध, काम और परमार्थ तथा मोक्षसाधन का विरोधी अवश्य है किन्तु मांसभोजन वेदों में निषिद्ध किया गया है और लोक में अनुपकारी है इसे कोई न मानेगा। वेद के दो हिस्से हैं ज्ञान-काण्ड और कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड में विधान की कौन कहे मांसभोजन का निषेध

सैकड़ों स्थान में पाया जायगा । पर कर्मकाण्ड के एक दो मन्त्रों का नहीं वरन अध्याय को अध्याय इसी के सम्बन्ध में है ।

उत्तर—एक अंश में यह लेख सत्य है कि ज्ञानकाण्ड जो केवल परमार्थ से सम्बन्ध रखता है वहां हिंसा का सर्वथा निषेध है और कर्मकाण्डसम्बन्धी वेद वा वेदानुयायी धर्मशास्त्रों में कहीं २ हिंसा को भी कर्त्तव्य बताया और उस को हिंसा नहीं माना किन्तु अहिंसा ही ठहरा दिया है । परन्तु मांसभक्षण को भक्ष्य वा उपकारी वहां भी नहीं कहा । जैसे मनुस्मृति में कह दिया है कि ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

जो कोई हिंसक मनुष्यादि प्राणी अपने को मारने के लिये सन्नद्ध चला आता हो उस को विना विचारे मार दो उस के मारने में मारने वाला पापी वा दोषी नहीं होता यह उदाहरणमात्र है इसी प्रकार लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये वेदादि शास्त्रों के अनेक स्थलों में हिंसा का विधान है परन्तु परमार्थ में किञ्चिन्मात्र भी हिंसा नहीं यह ठीक है । हि० प्र० ने मांसभक्षण के विचार के कोई मन्त्र लिखे होते कि बकरा आदि को इस प्रकार काट २ खाजाओ तब तो हम उन मन्त्रों पर कुछ विशेष विचार करते अब तो सम्पादक के आशय पर ही कुछ लिखना है । उन के बहुत से लेख का आशय यही है कि "मांसभोजन परमार्थ का सर्वथा विरोधी और संसारी उन्नति मांसभोजन के विना कदापि नहीं हो सक्ती इस कारण संसारी उन्नति के लिये सर्वथा उपकारी है" सो यह कथन शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है किन्तु इतना ही उचित और ठीक है कि हिंसा के सर्वथा त्याग से संसारी व्यवस्था ठीक नहीं चल सकती और संसार की उन्नति में भी एक प्रकार रुकावट हो सकती है । इस लिये जिन प्राणियों के मारने वा मरवाडालने से जगत् की व्यवस्था धर्मानुकूल चले वह राजादि मनुष्यों का कर्त्तव्य है । संसारी कर्त्तव्यों की उन्नति मांसभक्षण के विना सर्वथा हो सकती है इसी लिये हमारे शास्त्रकारों ने धर्म के लक्षणों में अहिंसा को पहिला धर्म माना है और हिंसा को सब अधर्मों का मूल भी ठहरा दिया है और मांस कभी हिंसा किये विना प्राप्त ही नहीं हो सकता फिर जो मनुष्य

मांसभक्षण से जगत् की उन्नति मानता है उस का यह सिद्धान्त स्पष्ट सिद्ध हो गया कि अधर्म से संसार की उन्नति होती है और अधर्म से उन्नति होगी तो धर्म से अवनति होना अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ । पर हमारी समझ में अधर्म से कभी किसी की उन्नति नहीं होती किन्तु धर्म से ही उन्नति होती है । हमारे शास्त्रों में भी सहस्रों वचन ऐसे मिलेंगे जिनसे यही सिद्ध होगा कि धर्म से उन्नति होगी और धर्मानुकूल ही सब काम करने के लिये आज्ञा दी गयी है । जैसे-

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥

धर्म से राज्य को प्राप्त करे और धर्म से ही प्रजा की रक्षा करे और धर्मानुकूल धन का सञ्चय करे तो वह राज्य और धन बहुत काल तक उस धर्मात्मा का साथी होता है छल कपटादि वा हिंसादि से प्राप्त किया राज्य दीर्घकाल तक सुखदायी नहीं हो सकता । इस प्रसङ्ग में हमारा यह कथन नहीं है कि अधर्म से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि कोई मनुष्य भूखा है वह चोरी करके किसी के पदार्थ को खा ले वा धनहीन मनुष्य चोरी के धन से धनाढ्य हो जाय परन्तु जो सुख और सम्पत्ति की स्थिरता धर्मानुकूल प्राप्ति करके भोगने में होगी वह चोर को त्रिकाल में प्राप्त होना असम्भव है । यदि हिन्दीप्रदीप का यह आशय हो कि—मांसभक्षण को हम भी अधर्म वा निकृष्ट कर्म ही मानते हैं किन्तु धर्म नहीं तब एक तो उन को वेद में अधर्म करनेकी आज्ञा माननी होगी क्योंकि वे लिख चुके हैं कि वेद के सहस्रों मन्त्रों में मांसभक्षण की आज्ञा है । द्वितीय अधर्म उपकारी हुआ तो धर्म आप ही अनुपकारी होगा । यदि मांसभक्षण को धर्मानुकूल मानें तो उन को बताना चाहिये कि धर्म का कोई विशेष भेद है वा किस धर्म के लक्षण से मांसभक्षण का सम्बन्ध है?। हमारी समझ में धर्म के किसी लक्षण के साथ मांसभक्षण का सम्बन्ध कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता । यदि धर्म अधर्म दोनों से भिन्न मानना चाहें तो वह अशिष्टाप्रतिषिद्ध हुआ । अर्थात् जिस के लिये शिक्षा की गयी कि ऐसा करो वह धर्म और वेदादि शास्त्रों में जिस का निषेध किया गया कि ऐसा मत करो वह अधर्म है और जिस के करने न करने का विधि निषेध दोनों ही नहीं वह अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहाता है जैसे हिचकी लेना शरीर खुजलाना चलना फि-

रना बैठना उठना देखना सुनना इत्यादि कामों में अधिकार है जिस को जब चाहे करे वा न करे "नैव तद्दोषाय भवति नाभ्युदयाय" उस के करने न करने से पुण्य पाप नहीं लगते। ऐसा मानें तो मांसभक्षण को जगत् का उपकारी कदापि न ठहरा सकेंगे। यदि कहें कि मांसभक्षण के विषय में वेदादि शास्त्रों में जो लेख हैं वे सिद्धानुवादपरक हैं किन्तु विधि निषेध दोनों ही नहीं अर्थात् जैसे कहा है कि—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ मनुः ॥

जङ्गम प्राणियों का भोजन स्थावर, दांतवालों का भोजन अन्न विना दांत-वाले, हाथवालों का भोजन विना हाथवाले, और शूरों का भोजन डरपोक प्राणी हैं। यह सिद्धानुवाद है कि दांतोंवाले प्राणी विना दांतवालों को खाजाते हैं वा बलवान् निर्बल को दबा लेता है किन्तु ये विधिवाक्य नहीं हैं कि दांतवालों को चाहिये कि विना दांतवालों को खाजावें वा बलवान् निर्बल को दुःखित करे इत्यादि। तो यह किसी अंश में ठीक है। अर्थात् इस में कुछ हमारी भी स-म्मति मिलेगी कि वेदादि शास्त्रों में अनेक सिद्धानुवाद वाक्य भी हैं जिन को शास्त्र की मर्यादा ठीक २ न जाननेवाले विधिवाक्य समझ कर भ्रम में पड़जाते हैं परन्तु वेदादि में संसार की विशेष हानि करने वाले अर्थात् उन के वर्त्तमान रहने से जितना उपकार हो सकता है उस से सैकड़ों गुणी हानि पहुंचाने वाले प्राणियों को मारने की आज्ञा भी है ऐसा मानने से बहुतसा विवाद मिट जाता है और यह सिद्धान्त अधिक सम्मत हो सकता है। परन्तु ऐसा होने पर भी मांस भक्ष्य नहीं ठहर सकता। यदि कोई कहे कि मांस नीच प्रकृति मनुष्यों का भक्ष्य रहो तब यह दृष्टान्त लाना पड़ेगा कि जैसे चोरी करना—चोरों का काम है अच्छों का नहीं वैसे मांसभक्षण भी रहा तो वह कर्त्तव्य नहीं ठहरा वा अच्छा काम नहीं हो सकता मांसभक्षण का सम्बन्ध अधर्म के साथ है यह बात वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। मांसभक्षण विषय में जो वि-वाद है वह धर्माधर्म बुद्धि से है। इस में एक दल तो इस को स्पष्ट ही अधर्म सम्बन्धी काम ठहराता और अधर्मसम्बन्धी ठहरने के लिये वेदादि शास्त्रों से मसाला भी भरपूर मिलता है दूसरा [illegible] मांस को अधर्म कहने वाले खुले मैदान

रखते हैं और उन के आत्मा में किसी प्रकार की लज्जा, भय वा संकोच नहीं है किन्तु वैसा करने के लिये प्रतिदिन उत्साह ही बढ़ता जाता है। परन्तु द्वितीय पक्षवालों को लज्जा भय संकोच दिन २ घेरते हैं और वे लोग सब कुछ भीतरी साहस बांधते अवश्य हैं पर लज्जादि उन्हें सदा दबाते हैं। इसी कारण मांसभक्षण को धर्म कहने में हिचकिचाते हैं। जिस को परीक्षा करनी हो वह किसी मांसभक्षण पक्षवाले से पूछ देखे कि तुम मांसभक्षण को धर्म मानते हो? तो वह इधर उधर की लम्बी चौड़ी पचास बातें तो कह डालेगा परन्तु एक शब्द न कहेगा कि हां! मांसभक्षण धर्म है। हम और दूर क्यों जावें हमारे सहयोगी हिन्दीप्रदीप ने इतना लम्बा चौड़ा लेख तो लिखा परन्तु यह कहीं स्पष्ट नहीं लिखा कि मांसभक्षण धर्म है। क्योंकि वही संकोच इन को भी दबाता रहा। यद्यपि हम लिख चुके हैं कि हिन्दीप्रदीप का लेख किसी पक्ष को लेकर नहीं लिखा गया तथापि यह लेख शास्त्र और युक्तियों के सर्वथा अनुकूल नहीं है॥

हिं० प्र०—आर्य जाति जो इस समय पृथिवी भर की जितनी जाति हैं सब से निर्बल और हतोत्साह है उस का एक कारण मांसभोजन से परहेज़ का होना है॥

उत्तर—यह युक्ति सर्वथा निर्बल है। यदि यह सत्य होता तो आर्यजाति में जो सहस्रों मनुष्य मांसभक्षण बहुत काल से करते आते हैं वे सब उत्साही और बलिष्ठ होते और निरामिषभोजी प्रायः निर्बल और हतोत्साह होने चाहिये थे परन्तु ऐसा नहीं दीखता किन्तु इस से विरुद्ध प्रत्यक्ष दीखता है श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जिन को सम्पादक हिन्दीप्रदीप ने हो साढ़े तीन के परिगणन में महर्षि लिखा है। सब कोई जानता है कि आजन्म मरणपर्यन्त निरामिषभोजी रहे उन का साहस उत्साह और शारीरिक आत्मिक बल भी सब पर प्रकट है। अर्थात् स्वा० दया० जी इस समय में अद्वितीय साहसी वा उत्साही रहे यह प्रायः लोग जानते और मानते हैं। इसी प्रकार अब भी कितने ही मनुष्य जो भारत वर्ष के सुधार के लिये कटिबद्ध सदा रहते और अपने जीवन को इसी काम में समाप्त कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं जिन को दिन रात यही चिन्ता लगी है उन में प्रायः मांसभोजी नहीं हैं। इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त मिलेंगे। हम दूर क्यों जावें हमारे सहयोगी सम्पा-

दक हिन्दीप्रदीप भी देश हितैषी लोगों की कोटि में गणना होने की योग्यता रखते हैं। पर जहां तक मुझ को ज्ञात है वे मांसभोजी नहीं हैं। हमारे यहां के इतिहासादि को हम विचारें और अनेक ऋषिप्रणीत पुस्तकों के सारांश को देखें तो आर्य और दस्यु वा देव और असुर आदि नामक दो जाति सृष्टि के आरम्भ से चली आती हैं और इन दोनों का देवासुर संग्राम भी स्वभावों के विरुद्ध होने से सदा ही से चला आया और चला जायगा। और ध्यान देकर शोचने से यह भी निश्चय हो सकता है कि मांसभक्षण करने वाले असुरकोटि के मनुष्य और निरामिषभोजी सामान्य कर दैवीकोटि के मनुष्य हैं क्योंकि भगवद्गीता में दैवीसम्पत्ति के लक्षण लिखे हैं अ० १५—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनम् ॥

निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान और योग की ओर चित लगना हिंसा का त्याग सत्य का वर्त्ताव क्रोधरहित होना दानशीलता शान्ति और चुगली का छोड़ना इत्यादि दैवीसम्पत्ति के लक्षण हैं तब इस से विरुद्ध भीरुपन हिंसाशील होना आदि आसुरीसम्पत्ति के लक्षण सिद्ध हो गये। भगवद्गीता के १५ अध्याय में देव और असुर स्वभाव के वर्णन में बहुत से श्लोक हैं उनको यहां लेख बहुत अधिक बढ़जाने के भयसे नहीं लिखते। अब शोचना चाहिये कि दैवी शक्ति बलवती और उत्साही हो सकती है वा आसुरी?। जब निर्भयता दैवीसम्पत् है तो डरपोकपन आसुरी सम्पत् हुई यदि निर्भय मनुष्य उत्साही साहसी न होगा तो क्या डरपोक होगा?। युक्ति से भी शोचो तो चोर सदा भयभीत रहता और धर्मात्मा सदा निर्भय वा उत्साही होता है। और यही बात इतिहासों से भी सिद्ध होती है। श्री कृष्णचन्द्र जो बड़े प्रतापशाली महात्मा थे उस समय दैवीकोटि में अग्रगन्ता रहे और कंसादि सब आसुरी कोटि के थे जिन को श्रीकृष्ण जी ने ध्वस्त किया। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि पाण्डव देवदल के और कौरव आसुरी दल के मनुष्य थे वहां भी देवकोटिस्थों का विजय हुआ। राजा रामचन्द्र जी आर्य वा देवकोटि में थे और रावण प्रसिद्ध ही असुराध्यक्ष था वहां भी दैवीदल का विजय हुआ ऐसे सहस्रों

उदाहरण मिलेंगे। इन्द्र वृत्रासुर का युद्ध जिस को वेदादि सच्छास्त्रों में इन्द्र-नाम सूर्यदेव और मेघनामक असुर का संग्राम माना है यह भी देवासुर संग्राम है यहां भी सूर्य का विजय और मेघ का छिन्न भिन्न हो कर पृथिवी पर गिरनारूप पराजय सदा ही दीख पड़ता है। प्रकाशक वस्तु सब देवकोटि में और अन्धकार करने वाले असुर कोटि में हैं और धर्म वा धर्मोपयोगी और धर्मात्मा देव तथा अधर्म वा अधर्मी सब असुरकोटि के हैं। जड़ चेतन का कुछ नियम नहीं किन्तु दोनों प्रकार के प्राणी वा अप्राणी देव तथा असुर हो सकते हैं। यद्यपि हमारा यह पक्ष नहीं है कि असुरदल का कभी विजय नहीं होता क्यों कि इतिहासों के अनेक स्थलों में स्पष्ट ही असुर दल का भी विजय लिखा है और हम को भी स्वीकार है कि आसुरी माया प्रबल है। पर विचारणीय यह है कि संपादक हिं० प्र० के अभिप्रायानुसार आसुरी काम करने वालों की ही उन्नति हो सकती और उन्हीं का विजय होता वे ही बलवान् होते हैं सो यह ठीक नहीं यही हमारा लक्ष्य है। अब यह और विचारना है कि जब देवदल को भी उन्नति वा विजय होता और असुर दल का भी होता है तो इन दोनों में प्रबल कौन होगा। इस पर हमारी सम्मति है कि अन्त में सदा देवदल का विजय रहेगा। और देवदल का बल वास्तविक दृढ़ बल है किन्तु असुरदल की जो उन्नति और विजय होगा वह वास्तविक और चिरस्थायी कदापि नहीं हो सकता किन्तु उस का नाम उन्नत्याभास वा विजयाभास होगा। जिस उन्नति में पूर्ण सुख नहीं जहां सदा भय लगा है चित्त में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प घेरे हैं वहां राज्यादि अधिकार वा धन सम्पत्ति ऐश्वर्य की वृद्धि हो जाने पर भी हिलचल बनी है सुख और शान्ति नहीं है तो शोचिये क्या उन्नति का फल हुआ?। बस आसुरी सम्प्रदाय की उन्नति और विजय इसी प्रकार का हुआ करता है। और यदि कुछ लेशमात्र सुख भी है तो वहां भी कुछ दैवी काम मिश्रित हैं उन्हीं के संयोग से होगा क्योंकि सत्व गुण की अधिकता में देवकोटि रजोगुण की प्रबलता में असुर तथा तमोगुण में राक्षसादि दल की गणना है सत्वगुण में सुख का उदय वा प्रकाश रजोगुण में दुःख की अधिकता तमोगुण में अज्ञानान्धकार की प्रवृत्ति है। जब रजोगुण का लक्षण ही दुःख है तो वहां सुख कहां फिर जो आसुरी रजोगुणी मनुष्य को कभी कुछ सुख प्राप्त होता है

वह सत्वगुण सम्बन्धिनी दैवीसम्पत्ति के संयोग से होता है यही ठीक मन्तव्य है। इस समय के अनेक मनुष्यों का ऐसा अनुभव (खयालात) प्रतीत होता है कि देखो अंग्रेज जाति की आज कैसी उन्नति है सुख भोग के सब सामान उपस्थित हैं और उस जाति के प्रायः सभी लोग मांसमद्यादि का सेवन करते हैं यदि मांसभक्षणादि बुरे काम होते तो बुरे कामों से कभी किसी की उन्नति होना सम्भव नहीं फिर इनकी उन्नति क्यों हुई ?। जिन कामों से उन्नति हो वे अच्छे और जिन से अवनति हो वे बुरे यही अच्छे बुरे का लक्षण होना चाहिये। इस कारण मांसभक्षण को अच्छा काम मानना चाहिये ॥

उत्तर—इस का कुछ उत्तर तो हमारे ऊपरी लेख में आ चुका कि प्रथम तो वास्तविक उन्नति अंग्रेज जाति की भी नहीं है क्योंकि भीतर घुसकर खोजना चाहो तो स्थिरतापूर्वक सुख और शान्ति बहुत कम मिलेगी। किन्तु जैसे कोई धन हीन मनुष्य जब अपने से कुछ अच्छी हालत वाले को धनाढ्य और सुखी समझता है पर बड़े २ श्रीमानों के सामने वह कुछ भी धनाढ्य नहीं ठहरता किन्तु दुःखी वा दरिद्रों की कोटि में गिना जाता है। इसी प्रकार हम लोग जो महानिकृष्ट दशा में आगये उनकी अपेक्षा अंगरेज जाति अवश्य कुछ अच्छी दशा में है। सो इस अच्छी दशा का कारण मांसभक्षणादि नहीं है किन्तु उस जाति में बहुत से ऐसे गुण वा काम हैं जिन को हम दैवीसम्पत्ति कह सकते हैं और उन्हीं कामों के प्रभाव से उस जाति की कुछ उन्नति वा उस समुदाय को सुख है और वे काम एक दो नहीं हैं कि जिन का परिगणन किया जाय। तथापि कुछ लिखते हैं-

१—स्वदेशभक्ति एक बड़ा गुण है। आपस में एकता वैरविरोध लड़ाई फूट का कम होना। पहिले अन्तरङ्ग सुधार करना चाहिये पीछे बहिरङ्ग। अपना शरीर अपना घर अपना देश अपनी जाति अन्तरङ्ग है अन्य सब बहिरङ्ग। हमारे यहां आपस में एक दूसरे को खाये जाता है। वैर विरोध लड़ाई झगड़े परस्पर में छल कपट के शस्त्र हरवार चल रहे हैं।

२—उद्योग करना निकम्मा वा आलसी न रहना सदा नई २ बातें शोचना जिन से आमदनी बढ़े और अन्य लोग प्रसन्नतापूर्वक उस वस्तु का ग्रहण करें हंस कर दाम देवें अपना अहोभाग्य मानें। हमारे देश में इस से विरुद्ध उद्योग का ध्यान नहीं आलस्य निद्रा घेरे है। कमाने वाले कम खाने वाले अधिक हैं। नई बात शोचना कोई नहीं जानता पुरानी लीक पीटे जाते हैं कोई कहे कि

यह काम अच्छा है तो उत्तर देते हैं कि क्या हम बाप दादों की चाल छोड़ देंगे ।

३–अनेक प्रकार की विद्या बाल्यावस्था से पढ़ना पढ़ाना अनेक गुण सीखना जिस से कृतबुद्धि होकर किसी का मुख देखने वा पराधीनता से निर्वाह करने की आवश्यकता उन को नहीं रहती स्वयमेव कुछ उद्योग करने का साहस हो जाता है उन लोगों को प्रायः ऐसी चिन्ता नहीं दबाती कि अब हमारा कैसे निर्वाह होगा । हमारे यहां इस से विपरीत है प्रथम तो सब कोई विद्या पढ़ने और गुण सीखने का उद्योग ही नहीं करते और जो करते भी हैं उन को भी पराधीनता नहीं छोड़ती थोड़ी २ नौकरी के लिये अनेकों की खुशामद करनी पड़ती है । स्वतन्त्र व्यवसायी बहुत कम हैं ॥

४–बाल्यावस्था में विवाह न करना सब कन्या पुत्रों को विद्याभ्यास करा के यौवनावस्था में विवाह होना ॥

५–सत्य का व्यवहार जिस के साथ जैसी प्रतिज्ञा करें उस का विशेष कर यथासम्भव यथासमय पालन करना ॥

६–नियमों पर सदा चलना बिना नियम कुछ काम न करना । जो काम जिस समय से प्रारम्भ करके जिस समय तक करने का नियम हो चुका हो उस को चित्त देकर परिश्रम के साथ सदा करते जाना ॥

७—दीर्घसूत्रिता वा आलस्य का त्याग जिस काम में लगें उस को साहस के साथ करके छोड़ना कुछ असाध्य न समझना ॥

८–प्रारब्धवाद को तिलाञ्जलि देकर उद्योगी पुरुषार्थी बनना सदा अपने पुरुषार्थ का भरोसा और विश्वास रखना कि इस काम से यह फल प्राप्त करेंगे । और व्यवसायात्मक बुद्धि होना भी मनुष्य के मनुष्यपन में एक बड़ा भारी साधन है अर्थात् यह निश्चय करना कि यही मेरा कर्त्तव्य है इसी से मेरा कल्याण होगा । आज एक काम किया कल उस को बीच में छोड़ कर दूसरे पर ध्यान दिया इस प्रकार अविश्वस्त चञ्चल बुद्धि रहने से कुछ भी नहीं बनता । इस के अनन्तर एक, दीर्घदर्शिता भी मनुष्य का बड़ा गुण है कि किसी बहुत काल में सिद्ध होने वाले काम का अन्तिम परिणाम और फल शोच कर वहां तक उस काम को निबाह ले जाना । इत्यादि अनेक अच्छे २ गुण अंगरेजों में हैं जिन के कारण उन की कुछ उन्नति भी दीख पड़ती है । और मांसभक्षणादि कामों से उनकी कुछ

उन्नति नहीं किन्तु किसी प्रकार की अवनति अवश्य है जिस को हम प्रत्यक्ष दिखा सक्ते हैं कि यदि अंग्रेज लोग मांसभक्षी न होते तो मुसलमानों के भी रोक सकते थे कि इस काम से हिन्दु प्रजा को दुःख पहुंचता है। जिस काम को स्वयं राजा अपना कर्त्तव्य समझता है उस से दूसरे को कैसे रोकेगा ?। अर्थात् यह नियम है कि उपदेशक वा नियन्ता जिस काम को स्वयं करता है उससे दूसरे को कदापि नहीं रोक सकता। जैसे कि दोषी को अपराध करने से स्वयं दोषी पुरुष नहीं हटा सकता। यदि ये लोग मांसभक्षी न होते तो ऐसी अधिकता से भारतवर्ष में गोवध न होता तो प्रजा को इतना कष्ट भी क्यों पहुंचता और क्यों ऐसे २ बड़े उपद्रव होते जिन से राजा को भी अर्थात् अंग्रेजों को भी कुछ २ दुःख उठाने पड़ते हैं क्या इस का प्रत्यक्ष कारण मांसभक्षण का प्रचार नहीं है ?। यदि कोई कहे कि हिन्दुओं में भी तो पूर्वकाल से ही मांसभक्षण का प्रचार चला आता है इस पर हमारा उत्तर यह है कि जिस प्रकार के मांसभक्षण से विशेष हानि वा दुःख है वैसा भारत वर्ष में पहिले से कभी नहीं था किन्तु जबसे मांसभक्षण करने वाले मुसलमान आदि विदेशी लोगों का राज्य इस देश में हुआ तभी से यह चला है। पहिले कहीं कसाईखाने नहीं थे मांस के बाजार और दुकानें नहीं थीं मनुष्यों के उपकारी गाय बैल भैंसा बकरी बकरा आदि मार २ नहीं खाये जाते थे किन्तु इस देश में जंगल वन अधिक थे उन में असंख्य जीव जन्तु ऐसे रहते थे जिन को कभी २ मृगया (शिकार) द्वारा क्षत्रिय लोग मारते खाते रहते थे यदि उन प्राणियों को न मारते तो अपने पदार्थों की वा अपनी रक्षा कर सकना भी दुस्तर था वे जंगली हिंसक प्राणी इतने बढ़ जाते कि मनुष्यों को ही खा जाते ऐसी दशा में उन का मारना आवश्यक था। परन्तु खाना कुछ आवश्यक वा कर्त्तव्य नहीं ठहराया गया था। पहिले अन्न कम उत्पन्न किया जाता था तब अन्नादि के अभाव में कोई २ मांस खाते थे वा ग्रामादि में लाकर भी खाते हों पर मांस खाने को धर्म नहीं मानते थे इस प्रकार का मांसभक्षण भी यद्यपि अधर्म कोटि में ही ठहराया जायगा। तथापि अब की अपेक्षा वह अच्छा था क्यों कि उस हिंसा से कुछ वीरता भी आती थी शस्त्र चलाने का अभ्यास भी बना रहता था। मांसभक्षण से वीरता आती है ऐसे खयालात के मनुष्य बिलकुल भूल में हैं क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध है आज कल जितने भारतनिवासी मांसभक्षण करते हैं उन में वीरता क्यों नहीं

आयी ? पढ़े लिखे मांसभक्षी वा निरामिषभोजी प्रायः भीरु (डरपोक) दीख पड़ते हैं और उद्दण्ड ग्रामीण मूर्ख तथा युद्ध की सामग्री वाले फौजी लोगों में अवश्य कुछ २ वीर हैं जब मांसभक्षी और निरामिषभोजी दोनों में वीर हो सकते हैं तो मांसभक्षण वीरता का कारण कैसे ठहर सकता है ? ॥

हिं० प्र०-हमें अचरज है कि स्वामीदयानन्द से देशोद्धारक जिन के चलाये हुए आर्यमत का असूल केवल कौम की तरक्की है और जिस की नस २ में राजकीय बातों में आर्यजाति का प्रबल होना भरा हुआ है सो मांसभोजन के इतने विरुद्ध क्यों हो गये ?

उत्तर-यद्यपि हम यह दावा नहीं करते कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के उपदेश वा लेख में किसी बात की त्रुटि व न्यूनता नहीं हो सकती क्योंकि यह प्रतिज्ञा एक सर्वज्ञ ईश्वर के उपदेश पर ही हो सकती है कि उस में किसी प्रकार की भूल न हो पर मनुष्य अल्पज्ञ होने से उस के विचार में भूल रहना असम्भव नहीं तथापि यहां मांसभक्षण प्रसंग में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का विचार वा लेख बहुत ही ठीक है इस में कुछ भी भूल वा त्रुटि नहीं है सम्पादक हिन्दी प्रदीप को आश्चर्य होने का कारण वेदादि के सिद्धान्तानुकूल स्वामी जी के मन्तव्य को ठीक२ न समझ पाना है । हमें भी बड़ा आश्चर्य है कि सम्पादक हिं० प्र० जैसे देशहितैषी वेदादिशास्त्रों के सिद्धान्तरूप धर्म के प्रचार को देशोन्नति का कारण न समझ कर मांसभक्षणादि अधर्मजनक कामों को देशोन्नति का कारण मानते हैं ? । धर्म के ठीक २ प्रचार से ही सब की सब प्रकार उन्नति हो सकती है । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का सिद्धान्त मुख्य कर यही था और है कि वेदादि सच्छास्त्र धर्म का ठीक २ मार्ग बताने वाले हैं इस लिये उन वेदादि के अनुकूल धर्म का उपदेश वा प्रचार करना चाहिये। इसी से सब कुछ सुधार हो सकता है और मनुष्य की उन्नति तथा सुख का बाधक अधर्म है उस को हटाये विना भी धर्म का प्रचार नहीं हो सकता इसी लिये धर्मविरुद्ध मांसभक्षणादि का खण्डन किया । जैसे अन्धकारादि प्रतिकूल की निवृत्ति का उपाय हुए विना प्रकाशादि इष्ट की प्राप्ति ठीक २ नहीं हो सकती । इस मांसभक्षणविषय पर आर्यसमाजस्थों में जो विवाद हो गया है वास्तव में वह शोचनीय दशा है । हमारी समझ में जो लोग मांसभक्षण को धर्मानुकूल ठहराना वा देशोपकारी मानना चाहते हैं

और इसी बुद्धि से प्रचार करते हैं वे लोग आर्य कहाने वा आर्यसमाज में रहने योग्य ही नहीं हैं ॥

जो लोग अत्यन्त दृढाङ्ग और बलिष्ठ हो रहे हैं वे मेरे मांस खा कर ही हुए हों तो हिन्दुजाति के लोग जितने मांसभक्षी हैं वे अब तक उन के तुल्य बलिष्ठ वा दृढाङ्ग क्यों नहीं हुए ? । हिन्दुओं में भी मांसभक्षी हजारों नहीं किन्तु लाखों हैं वे ही अब तक स्वयं सुधर कर कुछ देश की उन्नति कर लेते । जब हम ध्यान देकर सोचते हैं तो यही सिद्ध होता है कि साहस उत्साह वीरता निर्भयता देशहितैषिता वा परोपकार आदि गुण किसी खास वस्तु के खाने पीने से सम्बन्ध नहीं रखते और यदि कुछ सम्बन्ध रखते हैं तो शुद्ध और सारबुद्धि वर्धक वस्तुओं के भोजन से तथा मुख्य कर ये गुण प्राकृतिक हैं जिन को जातीय गुण कह सकते हैं । जो कि माता के गर्भ से ही उत्पन्न होते और माता पिता के शरीर से रज वीर्य में समयानुसार जो गुण आता वही प्राकृतिक वा जातीय गुण माना जाता है सिंह का बच्चा चाहे जितना निर्बल हो वह अपने से सहस्र गुण बलवान् जन्तु पर भी धावा करने का साहस रखता है इस से सिद्ध हुआ कि बल का अधिक होना साहसादि का कारण नहीं फिर मांसभक्षण को सुधार का हेतु किस प्रमाण से कोई माने? । हां ! यह बात ठीक है कि विषयासक्ति वा व्यभिचार की वृद्धि से मनुष्य का सर्वस्व बिगड़ जाता है और उस में साहसादि गुण नाम निशान को रह जाने दुस्तर हैं और यह प्रत्यक्ष भी है कि अधिक विषयासक्ति में फसे सहस्रों मनुष्य वर्त्तमान में मांसमद्यादि निरन्तर खाते पीते हैं परन्तु उन में साहसादि गुण वा मानस बल कुछ नहीं दीखता परन्तु ऐसे अनेक मिलेंगे जिनका ब्रह्मचर्य किसी कारण कुछ बना है क्षीणवीर्य नहीं होने पाये वे साहसादि गुणवान् अवश्य हो सकते हैं । महाभारत में भीष्मपितामह आजन्ममरणान्त ब्रह्मचारी रहे यह लेख है उनके आचरण भी सब शुद्ध थे मांसादिभक्षण भी नहीं करते थे परन्तु लाखों मनुष्यों में सर्वोपरि साहसी वा निर्भय थे यह प्रसिद्ध है । जब मांसभक्षण करने वालों में भी विषयासक्ति की अधिकता वा अन्य बल वृद्धि के काम न होने से शारीरिक निर्बलता प्रत्यक्ष है और निरामिषभोजी जितेन्द्रिय पुरुषों में भी वैसे गुण दीखते हैं तो स्पष्ट ही साहसादि जितेन्द्रियता के गुण सिद्ध हो गये । मनुस्मृति में लिखा है कि " जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः " राजा जितेन्द्रिय हो तो प्रजा को वश में

रख सकता है पर ऐसा कहीं नहीं लिखा कि मांसभक्षी हो तो प्रजा को वश कर सकता है ॥

सं० हिं० प्र०—अथवा स्वामी (दयानन्द सरस्वती जी) दूरदर्शी अवश्य थे उन्हों ने सोचा कि इन दिनों के पतित दुराचारी यों ही सर्वभक्षी हो रहे हैं इन को जो अभीष्ट है उस का अनुमोदन करते रहेंगे तो इन को अपने दुराचार के लिये ढाल मिल जायगी । इस लिये मांसभोजन की जड़ कटी रहे तो इसी में देश का कुछ कल्याण है । साथ ही गोरक्षा के लिये भी तन मन से उद्यत हुए इस हालत में मांस का निषेध अनुचित नहीं जान पड़ता ॥

उत्तर—यद्यपि सम्पादक हिन्दीप्रदीप ने इस उक्त लेख के आगे पीछे कुछ २ इस से भिन्न स्वामी दया० जी के विषय में लिखा है तथापि हम प्रत्यक्षर वा वाक्यमात्र का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते और इन के आशय का जब उत्तर दिया गया तो प्रायः सब बातों का उत्तर आ भी चुका उस को शब्दान्तरों से बार २ लिखना व्यर्थ है । यह बात सत्य है कि इस समय भारतवासी मनुष्य जैसे पतित और दुराचारी हैं ऐसे सृष्टि के आरम्भ से अब तक कदाचित् ही हुए हों और जो कुछ इस देश की अवनति हुई वा हो रही है उस का मूल कारण ये ही हैं जो भी नागरिक सभ्य और शिक्षित कोटि में बनने वाले अधिक दुराचारी हैं सीधे ग्रामीण मनुष्यों में पापी न्यून हैं वा हैं भी सो छोटे पापी हैं और शिक्षितों में बड़े २ पापी हैं इन्हीं में से अनेक आर्यसमाज में भी घुस पड़े और वे ही आर्यसमाज के शुद्ध निर्दोष वैदिकसिद्धान्त को कलङ्कित करते कराते हैं । अब दुःख तो यह है कि शुद्ध सच्चे मनुष्य बहुत थोड़े हैं इसी से उन की कुछ चलती नहीं उन को चालबाज़ी आती नहीं इस से घालमेल ऊटपटांग चल रही है । यदि शुद्ध सच्चे मनुष्य आधे भी होते तो वे अलग छिक जाते और सामाजिक सिद्धान्त को शुद्ध रीति से फैलाने का उद्योग करते । यद्यपि गोरक्षा का उपाय करना स्वा० दया० जी को अभीष्ट था वे चाहते थे कि भारतवर्ष में गोवध होना बन्द हो जाय इसी विचार से गोकरुणानिधि बना कर छपाया था और अनेक मनुष्यों के हस्ताक्षर कराना आरम्भ किया था कि पार्लियामेंट तक निवेदन किया जाय कि गोवध से हम भारतवासियों को महादुःख है तथापि उस

की यह बात नहीं थी कि मांसभक्षण को धर्मानुकूल वा उपकारी जान कर भी मनुष्यों को अधिक फंसा देख कर खण्डन किया हो किन्तु उन का यही आशय था जो मैं पूर्व लिख चुका कि वे मांसभक्षण को धर्म से विरुद्ध और अनुपकारी मानते थे। उन्हों ने अपने पुस्तकों में मांस को अभक्ष्य ठहराया है और जंगली सुअर वा अरणा भैंसा का दृष्टान्त भी दिया है कि ये मांसाहारी जीव नहीं हैं तथापि अनेक मांसाहारियों की अपेक्षा कैसे साहसी और बलवान् होते हैं सो भी प्रसिद्ध है। इस से मांसभक्षण बलिष्ठ और साहसी होने का कारण नहीं है। अब हम इस विषय पर अधिक लिखना नहीं चाहते। परन्तु हिन्दीप्रदीप का लेख भी इस विषय में देखने योग्य है। आज कल नागरी भाषा के पत्रों में हिन्दीप्रदीप के लेख कई अंशों में सर्वोपरि चढ़बढ़ के होते हैं। एक तो भाषा लिखने की शैली अच्छी है द्वितीय लेख भी प्रायः निष्पक्ष बुद्धि से लिखे जाते हैं यह पत्र किसी का खुशामदी नहीं है इसी कारण प्रतिष्ठा करने योग्य है और इसी विचार से मैंने इस के लेख पर ध्यान दिया और कुछ सम्मति लिख दी। अन्यथा यदि किसी साधारण पराधीन स्वार्थी लोभी वा खुशामदी का लेख होता तो मैं कदापि लेखनी न उठाता। अब पाठक लोग मेरे और हि० प्र० के लेख को देखें वा विचारें जो अच्छा लगे सो मानें ॥

मांसभोजनविचार ॥

यह पुस्तक राज्य मारवाड़ स्थान जोधपुर में तीन भाग करके छपा है। मांसभक्षण का विचार (वादविवाद) कुछ काल से ही प्रचरित हो रहा है इसी कारण आर्यसिद्धान्त में भी कई बार लेख छपाया गया। अब इन पुस्तकों पर भी कुछ संक्षेप से समालोचना लिखना अपना कर्त्तव्य काम समझ कर प्रारम्भ करते हैं। पाठक महाशयो ! ध्यान देकर देखिये "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" कहावत सिद्ध हो गयी। जिस काम का प्रारम्भ ही अज्ञान वा छलकपटादि से भरा हो उस का शेष व्याख्यान कैसा होगा ? यह आप स्वयमेव शोच सकते हैं इस के लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। लोक में एक और भी जनश्रुति-कहावत प्रचरित है कि "ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडुईनामदर्शनात्" किसी मनुष्य ने किसी बालक से पूछा कि तुम क्या पढ़े हो और तुम्हारा नाम क्या है ? उस ने कहा

कि मैं तो कुछ थोड़ा ही पढ़ा हूं और मेरा नाम टुड़ई है परन्तु मेरे पिता बड़े भारी पण्डित हैं । तब उस विद्वान् ने कहा–

ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडई नामदर्शनात् ।

कि तुम्हारे पिता की पण्डिताई तो टुड़ई नाम देखने से ही ज्ञात होगयी कि वे ऐसे पण्डित हैं । अर्थात् जिस को शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अपने सन्तान का सुलक्षण नाम तक रखना न आया एक ऊटपटांग बेहूदापन का नाम रख लिया वह क्या पण्डित होगा ? । यही कहावत यहां प्रचरित होती है कि पुस्तक बनाने वाले की पण्डिताई "मांसभोजनविचार" नाम रखने से ही खुल गयी और यह भी स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल के टोने से सब के गलजाने का निश्चय हो जाने के समान) से प्रतीत होगया कि जैसा अज्ञान वा चालाकी इस नाम के रखने में हुई है वैसी पुस्तक भर में होगी । क्योंकि किसी कूप से जैसे गुण वाला जल प्रथम निकलेगा वैसा ही आगे २ निकलना सम्भव है। मांसभोजनविचार–इस नाम में दो प्रकार से अशुद्धि हो सकती है। के तो शुद्ध अशुद्ध का ज्ञान पुस्तकनिर्माता को नहीं अथवा जान कर चालाकी की गयी । पर अधिकांश में चालाकी ही ज्ञात होती है क्योंकि मांस के साथ भोजन शब्द का प्रयोग न तो किसी शिष्ट ग्रन्थ में दीखता और न लौकिक व्यवहार में कोई जानकार प्रयोग करता है इस से सम्भव है कि पुस्तकनिर्माता को यह मालूम हो कि मांस के साथ भक्षणशब्द का प्रयोग आता है फिर भी जानकर कि भक्षण शब्द किसी प्रकार निन्दित वा शिष्टव्यवहार से पृथक् किया हुआ है इसलिये मांस के साथ शिष्टव्यवहार में लाने योग्य भोजनशब्द लगा कर सुधारें पर यह नहीं शोचा कि जिस की जड़ ही निकृष्ट है वा जो वस्तु ही निकृष्ट है उस के साथ कैसा ही अच्छा शब्द लगाओ वह कदापि ठीक न होगा। जैसे कोई कहे कि हलुआ का चर्वण करना। यह शब्द जैसे असम्बद्ध है वैसे ही मांसभोजन भी जानो । भुज, भक्ष आदि धातुओं के अर्थों में सूक्ष्म भेद है न तो सब पदार्थों के खाने को भक्षण कह सकते न भोजन किन्तु भिन्न २ पदार्थों के खाने में इन धातुओं का प्रयोग होता है। जो पदार्थ चीमड़ नहीं किन्तु मृदु हैं जिन को दांतों से काट २ कर खाने की आवश्यकता नहीं अर्थात् जिन को विना दांतों वाला भी सुखपूर्वक खा सकता है उन के खाने को भोजन कहते हैं ।

वा वे पदार्थ भोज्य कहाते हैं जैसे दालभात वा दूधभात, हलवा, लप्सी, थोरा खिचड़ी इत्यादि वस्तु भोज्य हैं। रोटी पूरी पुआ मांस आदि भक्ष्य, चटनी आदि लेह्य, आम के फलादि चूष्य और दूध जल आदि पेय वस्तु हैं। जब कि रोटी पूरी आदि के खाने को भी भक्षण कहते वा कह सकते हैं तो वास्तव में भक्षण शब्द का अर्थ निन्दित नहीं परन्तु लोक में किसी कारण वा कमी से शिष्ट लोगों ने भक्षणशब्द को निकृष्ट कोटि में छोड़ दिया है। भखलेना वा भखना यह अपभ्रंश भक्षणशब्द का ही है। तात्पर्य यह है कि मांस के साथ भक्षण शब्द की योग्यता है और भोजनशब्द लगाना अयुक्त है। जैसे कि मांस आदि कोमल वस्तु के साथ चर्वणशब्द लगाना अशुद्ध है। इसलिये मांसभोजनविचार लिखना अशुद्ध और मांसभक्षणविचार ऐसा नाम रखना शुद्ध है। यद्यपि कहीं २ सामान्यार्थवाचक को विशेषार्थ में और विशेषार्थवाचक को सामान्यार्थ में कोई लोग प्रयोग करते हैं पर वहां ऐसा प्रयोग करने में कुछ कारण भी अवश्य हुआ करता है परन्तु यहां भोजनशब्द का प्रयोग प्रमाद से हुआ हो वा भक्षणशब्द को निन्दित जानकर छोड़ा हो इन दो से भिन्न तृतीय कोई कारण नहीं है॥

द्वितीय विचारणीय विषय यह है कि पुस्तक बनाने वाले ने अपना नाम भी छिपाया है अर्थात् प्रथम द्वितीय भागों में लिखा है कि "एक उपदेशक ने प्रकाशित किया"। सोचना चाहिये कि नाम छिपाने से क्या प्रयोजन है ?। यह प्रसिद्ध है कि अच्छा काम करने वाले को कभी यह विचार नहीं होता कि मुझ को कोई न जानले किन्तु जगत् में चोरी आदि जितने बुरे काम हैं उन के करने वाले सभी चाहते हैं कि हमें कोई न जान पावे कि अमुक काम अमुक पुरुष ने किया। इस से सिद्ध हुआ कि पुस्तक बनाने वाला भी मांसभक्षण के सिद्ध करने को अच्छा नहीं मानता तथापि स्वार्थवश होकर करने पड़ा। इसी कारण पुस्तकनिर्माता को यह भी भय वा सङ्कोच लगा होगा कि यह विषय वास्तव में तो वेदादिशास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है ही फिर इस का कोई खण्डन अवश्य कर देगा तो लज्जित होना पड़ेगा। पर यह भी स्मरण रक्खो कि छिप नहीं सकते खोज करने वाले अनेक हेतुओं से जान लेते हैं वा अनुमान कर लेते हैं कि यह काम अमुक पुरुष ने किया है। इस में मेरा अनुमान और विश्वास है कि यह सब लेख ठाकुरप्रसाद जी का है। हम पूछते हैं कि "ऊखली में शिर दे चोटों का डर क्यों करते हैं?" प्रसिद्ध क्यों नहीं खड़े होते?। अस्तु जो चाहें करें॥

अब हमारा काम है कि इन पुस्तकों का उत्तर लिखें । इन में पहिले हम द्वितीयभाग का उत्तर लिखना आरम्भ करते हैं । यद्यपि १ । २ भागों के उत्तर की विशेष आवश्यकता नहीं क्योंकि हमारा मुख्य मन्तव्य वेद है उस विषयक तृतीय भाग का ही उत्तर देना मुख्य है तथापि सर्वसाधारण को समझाने के लिये प्रथम सीधा २ उत्तर देकर पीछे वेद के गम्भीराशय का विचार लिखा जायगा । द्वितीय यह भी है कि मनुस्मृति आदि आर्ष पुस्तक भी वेदानुकूल होने से हमारे मन्तव्य हैं इस कारण उनका समाधान करना भी हमारा कर्त्तव्य है तथा पुस्तकनिर्माता ने भी प्रथम द्वितीय भागों को प्रथम छपाया इस लिये भी पहिले इन का उत्तर देना उचित समझा ॥

यद्यपि इस द्वितीयभाग की भूमिका में बहुतसा असम्बद्ध लेख लिखा है सब का उत्तर देना व्यर्थ समझा तो भी निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है । यहां किसी पूर्वपक्षी का नाम नहीं लिखा इस कारण पूर्वपक्षी का सामान्य नाम मांसाशी रक्खा जायगा जिसका संकेत (मां०) होगा और उत्तरदाता का (उ०) रहेगा ॥

मांसाशी—मांसखाना पाप है कि नहीं ? यदि है तो प्रमाण दें और यह कहें कि यह महापातक है ? वा पातक है ? वा उपपातक है ? यदि इन में से कोई है तो प्रमाण दें । क्या जाति में से इस के खानेवाले को निकाल देना चाहिये यदि चाहिये ? तो क्या यह जातिभ्रंशकरपाप लिखा गया है ? यदि लिखा है तो प्रमाण दें । और यदि यह अन्य पापों की तरह पाप है तो इस का इन की तरह प्रायश्चित भी कहीं लिखा है यदि लिखा है तो प्रमाण दें ॥

उत्तरदाता—नहीं शब्द तुम्हारे मत में रहा । हम स्पष्ट कहते हैं कि मांस खाना पाप है और प्रमाण भी सुनो ? (पाठक लोगों को ध्यान रखना चाहिये कि इस द्वितीयभाग के उत्तर में जितने प्रमाण दिये जायंगे वे प्रायः मनुस्मृति के ही होंगे । क्योंकि यहां इसी पुस्तक पर विवाद है) जब मनुस्मृति आदि में अहिंसा को बड़ा धर्म और हिंसा को बड़ा पाप माना है और विना हिंसा किये वा कराये मांस की प्राप्ति होती नहीं तो इस का खाना पाप सिद्ध हो गया । तथा स्पष्ट भी लिखा है कि:—

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥

मनु० अ० ५ । जो पुरुष विद्वानों और ज्ञानी महात्माओं के वेदानुकूल मांसभक्षण के निषेधसम्बन्धी उपदेश का निरादर करके अन्य जीवों का मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है अर्थात् अन्य के मांस से स्वयं मोटा बनना चाहता है उस से अधिक पापी और कोई नहीं ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

मनु० अ० ५ । मारने की सलाह देने वाला, मारने वाला, मरे हुए प्राणियों के शरीर को काटने वाला, बेचने वाला, मोल लेने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खानेवाला ये आठ पुरुष घातक हैं अर्थात् हिंसारूप पाप इन आठों को लगता है । मनुस्मृति में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिन से मांसभक्षण का पाप होना स्पष्ट ही सिद्ध होता है । तथा महाभारत अनुशासनपर्व में लिखा है ॥

नहि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥

तृण काष्ठ वा पत्थर से मांस उत्पन्न नहीं होता किन्तु किसी जीव को मार कर मांस मिल सकता है इसलिये मांसभक्षण में पाप वा दोष अवश्य है । क्या प्रश्नकर्त्ता आचार्य जी को इन प्रमाणों से सन्तोष न होगा ?। हमारा प्रश्न भी है कि क्या आचार्य जी के मत में मांस खाना पुण्य है ? यदि पुण्य है तो प्रमाण दो जैसे कि हमने पाप होने का स्पष्ट प्रमाण दिया जब मांसभक्षण में पाप नहीं मानते तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि पुण्य है इसलिये पुण्य सिद्ध करने का भार आचार्य जी पर है । मांसभक्षण सब प्रकार के पातकों से सम्बन्ध रखता है जैसे ब्रह्महत्या महापातक है । यदि कभी किसी मांसभक्षण में तत्पर मनुष्य को किसी प्राणी का मांस न मिले और वह उसका मांस खाने के लिये ही ब्रह्महत्या करे ऐसे प्रसंग में मांसभक्षण महापातक कहावेगा । ऐसे राक्षसी स्वभाव के राक्षस मनुष्य पहिले हुए यह महाभारत इतिहास में स्पष्ट लिखा है । तथा उपपातक

तो स्पष्ट ही मनु ने लिखा है कि गोहत्यादि सब उपपातक हैं और खानेवाला हत्या के दोष में साथी है यह मनु के सिद्धान्त से सिद्ध हो ही चुका । अब—

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् । मनु० अ० ११

ईन्धन के लिये हरे वृक्षों का काटना तक उपपातक माना गया तो जीवों की हिंसा क्या उपपातक भी न होगा ?। यद्यपि मनुस्मृति के जातिभ्रंशकर प्रसंग में मांसभक्षण का परिगणन नहीं है तथापि मनुस्मृति के सिद्धान्तानुसार तीन वर्णस्थ धर्मात्मा सज्जन पुरुषों की श्रेणि में मांसभक्षण करने वाला नहीं गिना जा सकता है क्योंकिः—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ॥

यक्ष राक्षस और पिशाच आदि निकृष्ट प्राणियों का अन्न मद्यमांसादि है। अथवा यों कहो कि मद्यमांसादि के पीने खाने वाले यक्ष राक्षसादि कहाते हैं जिन का खान पान मद्यमांसादि है वे यक्ष राक्षसादि हैं इस कथन से यज्ञशिष्ट सात्त्विक आहारभोजी आर्य वा देवकोटि के मनुष्यों से उन का निकल जाना स्पष्ट ही सिद्ध है । क्या किसी को कोई घर ग्राम वा देश से बाहर निकाल सकता है किन्तु यह काम राजा का है । क्या मांसभक्षणप्रचारक साधुवेषधारी आदि असाधु लोग आर्यसमाज से निकाल नहीं दिये गये ? अब भी क्या पुस्तकनिर्माता को सन्देह ही बना है ?। अब और भी ध्यान देकर सुनिये मांसभक्षण पाप अवश्य माना गया इसी लिये भूल से कभी मांस खा लेने वाले को प्रायश्चित भी मनुस्मृति के अ० ११ में लिखा है—

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मद्यं मांसं कथंचन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥
क्रव्यादशूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥

सामान्य कर किसी प्राणी का मांस वा अन्य कुछ अभक्ष्य वस्तु खा लेवे तो सात दिन तक जौ के सत्तू पतले घोल कर पीवे ब्रह्मचारी वन के एकान्त में

रहे परमेश्वर का भजन वा जपपाठादि करे तो शुद्ध हो सकता है । कदाचित् कभी भूल से भी ब्रह्मचारी पुरुष मद्य वा मांस पी खा लेवे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत से विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करे तो शुद्ध होता है । अथवा मांस खानेवाले, सुअर, ऊंट, मुर्गा, कव्वा और गधा आदि का मांस कोई खावे तो वह तप्तकृच्छ्रव्रत का प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो सकता है । आज कल अनेक मांसभक्षण करने वाले लोग वा उन के उपदेशक वा आचार्य भेड़ बकरी वा भेड़ा बकरा को मारना, खाना अपना परम कर्त्तव्य समझते और इन के मांस को सर्वोपरि भक्ष्य मानते हैं सो इन के मारने वा खाने में भी प्रायश्चित्त मनु के अ० ११ में स्पष्ट लिखा है अब कहो एक उपदेशक वा आचार्य जी ! कहां जाओगे ? ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।

सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥

गधा घोड़ा ऊंट हरिण हाथी बकरा भेड़ा वा बकरी भेड़ी मछली सांप और भैंसा का मारना संकर बनाता है अर्थात् वह मनुष्य किसी वर्ण में रहने योग्य नहीं रहता किन्तु वर्णसङ्कर होजाता है । इस का प्रायश्चित्त—

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥

जिन की हिंसा से वर्णसङ्करपन का दोष लगता है वे लोग एक महीने भर नियमानुसार चान्द्रायण व्रत से प्रायश्चित्त करें तो शुद्ध हो सकते हैं । यदि कहें कि यहां मांस खाने पर दोष वा प्रायश्चित्त नहीं लिखा तो उत्तर यह है कि जो मांस खावेगा वह हिंसा दोष का भागी अवश्य है यह पहिले भी मनु की सम्मति के अनुसार सिद्ध कर चुके हैं । अब इन के सब प्रश्नों का उत्तर हो चुका। यदि उपदेशक जी ने मानवधर्मशास्त्र कभी देखा वा जाना होता तो ऐसे प्रश्न करने का कभी साहस न करते जिनका उत्तर उसी धर्मशास्त्र में स्पष्ट लिखा है जिस से आप भक्षण सिद्ध करने के लिये पङ्ख फटफटा रहे हैं । उपदेशक जी जैसे पण्डितम्मन्यता के अभिमान में बोलते समय अनर्थक असम्बद्ध वा पुनरुक्त शब्दों का बचाव नहीं कर सकते वैसे लिखने में भी पुनरुक्ति वा असङ्गलता को नहीं बचा सके । सो ठीक ही है धर्मविरुद्ध काम करने वाले का आत्मा वा मन भयभीत वा भ्रान्त हो जाता है । कई प्रश्नों के अन्त में लिख देते कि इन सब का प्रमाण दें । सो प्रमाण दें यह वाक्य बार बार लिखा ॥

इन की भूमिका के अन्त में लिखा है कि "यदि इस विषय पर कोई शङ्का हो तो मुझ से पूछ सकते हैं" कहिये उपदेशक जी ! किन को पूछें आप तो छिप गये । इस पङ्क्ति को लिखते समय आप को यह ध्यान तो रहा ही न होगा कि हम छिप जांयगे तो पूछने वाला किसे पूछेगा । कदाचित् उपदेशक जी बड़े गम्भीराशय हैं उन का यह विचार हो कि कोई शङ्का हो तो मुझसे पूछ सकते हैं । अर्थात् जहां सभी लेख बिना नींव की भित्ती के समान है वहां जब सभी शंकायुक्त हो गया फिर जब कोई एक दो शङ्का है ही नहीं तो क्यों कोई पछेगा । अस्तु–अब आगे इनके लेख का क्रमशः संक्षेप से उत्तर दिया जाता है। मनुस्मृति अध्याय १ ॥

मां०–तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥

नोट–अब विचारिये कि वृक्षादिकों के ज्ञानयुक्त होने पर पशुवध में पाप अधिक क्यों और वृक्ष काटने में क्यों नहीं ? ॥

उ०–जी हां विचारेंगे । परन्तु हम से ऐसा विचार कदापि न होगा कि चींटी और मनुष्य दोनों ज्ञानयुक्त हैं इसलिये दोनों के मारने में बराबर पाप है यह तो आप की बुद्धि की तीव्रता का परिणाम वा फल है । यदि एक उपदेशक जी वेदादिशास्त्र वा धर्मशास्त्र जानने का कुछ भी साहस रखते हों तो अब ही सही छिपना छोड़कर प्रथम प्रादुर्भूत हों और मानवधर्मशास्त्र के प्रमाणों से वा किन्हीं युक्तियों से सिद्ध करें कि ब्रह्महत्या और दंशहत्या में बराबर पाप है । यदि यह सिद्ध हो गया कि सब प्राणियों के मारने में एकसा ही पाप है तो वृक्षादि को काटने में भी वैसा पाप मानने का आप साहस कर सकते हैं । यह जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है कि कोई किसी मनुष्य को मारडाले तो राजा उस को फांसी देता और इस काम को इतना बड़ा पाप समझते हैं कि बदले में उसके प्राण ही चले जाते हैं । तथा गौ को मारडाले तो वह हिन्दुसमाज भर में ऐसा हत्यारा माना जाता है कि जाति से बाहर कर देते और जब तक वह लोकसम्मत प्रायश्चित्त न कर ले तब तक उस के हाथ का अन्न जल भी कोई ग्रहण नहीं करता । और यदि कोई मनुष्य एक चींटी वा मच्छर को मार डाले तो इतना कम अपराध समझा जाता है कि जिस को कोई यह भी नहीं कहता

कि तुमने हत्या की है तुम पापी हो सो यह सब लोकचाल धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से मिली है केवल इतना भेद है कि प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र के अनुसार होना चाहिये किन्तु लोकसम्मत नहीं। जब लोक वा शास्त्र के अनुसार दंश मशक मारडालने में इतना कम दोष ठहराया गया कि जिस का नाम पाप ही नहीं रक्खा गया तो वृक्ष वनस्पति आदि के तोड़ने काटने में चींटी दंश आदि के मारने से सहस्रों गुणा कम दोष है। फिर वह कैसा वा कितना पाप माना जा सकता है यह विचार शील स्वयं शोच सकते हैं। जगत् में पुण्य पापों के सहस्रों दृष्टान्त ऐसे ही मिल सकते हैं कि अत्यन्त कम दान पुण्य आदि दान पुण्य नहीं कहे जाते। जैसे अन्न का एक दाना किसी को दिया जाय तो उस से किसी का सन्तोष जनक कुछ भी उपकार नहीं इस कारण एक दाना देने वाले की अन्नदाताओं में संख्या न होगी। इसी प्रकार एक दाने का चुराने वाला भी शास्त्र और लोक में चोर नहीं समझा जाता क्योंकि शास्त्र में ऐसे पाप का प्रायश्चित्त कहीं नहीं लिखा गया। तथापि हमारा यह पक्ष नहीं है कि अत्यन्त छोटे पाप पुण्य वास्तव में पाप पुण्य नहीं किन्तु वे पाप पुण्य अवश्य हैं क्योंकि उन से भी मनुष्यों के संस्कार अवश्य कुछ विगड़ते सुधरते हैं तथापि सब प्रकार के पाप पुण्यों को बराबर समझना यह बड़ी भारी भूल वा पक्षपात है। इसी प्रकार स्थावर के काटने तोड़ने में इतना कम दोष है जिसको पश्वादि मारने की अपेक्षा कुछ दोष नहीं ऐसा कह सकते हैं। वृक्षादि सब के काटने में भी एकसा पाप नहीं है उस को उपकारादि की न्यूनाधिकता के साथ शोचकर जान लेना चाहिये॥

मा०—कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥

नोट—मांस भक्षण तो हिंसा से प्राप्त होने के कारण पाप है अब विचारना चाहिये कि क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो अथवा मृग मृत्यु के पूर्व नोटिस देते होंगे कि हमारी खाल उतार ले जाओ॥

उ०—"क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो" इस वाक्य से पं०ठा०प्र० जी का स्पष्ट आशय यह निकलता है कि यदि किसी वृक्ष में लगता होता तो चाम के उतार लेने में पाप न होता परन्तु इस से पूर्व श्लोक में पश्वादि और स्थावर दोनों के काटने में बराबर पाप ठहरा चुके हैं। अब

शोचना चाहिये कि इन का लेख कितना परस्पर विरुद्ध है। यदि कहें कि हम स्थावर में जीव नहीं मानते तो मनुस्मृति के उन श्लोकों को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी जिन से स्थावर में आत्मा का होना सिद्ध होता है। इन एक उपदेशक जी का मत वा सिद्धान्त क्या है? वा ये टकाधर्मी मात्र ही हैं। क्या ये लोग मृगचर्म का दृष्टान्त देकर अपने तुल्य सब को हिंसक ठहराने का उद्योग करते हैं? कि जैसे हिंसा से मांस प्राप्त होता है इस कारण मांसभक्षण करने वाले पापी हैं वैसे मृगचर्म ओढ़ने वाले भी पापी हैं यदि ऐसा है तो उपदेशक जी ने मांसभक्षण में हिंसारूप पाप स्वीकार कर लिया। इस दशा में आप बड़े भाई हो गये क्योंकि जन्मभर में जो कोई ब्रह्मचारी बनेगा उस को एक मृगचर्म चाहिये तो एक हिंसा का दोष उसे लगेगा और मांसभक्षक जन्मभर में जितने जीवों का मांस खायेगा उतनी हत्या का दोषभागी होगा। और यदि यह आशय हो कि जैसे मृगचर्म के सम्पादन में पाप नहीं वैसे मांसभक्षण में भी नहीं तब हिंसा को धर्म मानना और ठहराना पड़ेगा और हिंसा को पाप ठहराने वाले मनु आदि के वचन सब दूषित मानने पड़ेंगे। हम पूछते हैं कि आप इतनी दूर क्यों भागे सीधा २ जूते का दृष्टान्त क्यों न दे दिया जिस को प्रायः मनुष्य जन्म से मरण तक धारण करते और उपानद् धारण के लिये धर्मशास्त्र में भी आज्ञा है मृगचर्म तो ब्रह्मचारी बने उस को एक समय काम लगता है। अब हम यह दिखाते हैं कि चर्म से काम लेने वाले यदि चाहना करें कि हम किसी जीव को स्वयं मारें वा मरवावें जिस से हम को चर्म प्राप्त हो ऐसी दशा में मृगचर्म क्या किसी काम के लिये जिस को चाम की चाहना हो वह मनुष्य हिंसारूप पाप का भागी अवश्य होगा। यदि वह चर्मसे काम लेने के लिये किसी की हिंसा करना कराना नहीं चाहता तो वह निर्दोष है क्योंकि जगत् में जितने प्राणी उत्पन्न होते वे मरते भी अवश्य हैं उस समय उन मृतशरीरों में जो २ वस्तु उपकारी है उस से काम लेना यह मनुष्यों का कर्त्तव्य है। क्या गौ आदि पशु मरने से पूर्व किसी को नोटिस देते हैं कि जूते आदि के लिये हमारा चर्म लेजाओ? किन्तु चर्मकार लोगों की जीविका है इस कारण जहां मृतपशु देखेंगे झट चर्म उतार लेंगे इसी प्रकार जंगली मनुष्य जिन का जंगलों में फिरना वा रहना स्वभाव सिद्ध है वे अपनी जीविका के अर्थ मृतमृगों का चर्म उतार कर ग्राम वा नगरादि में भी बेंच जाते थे। इस से किसी को भी कुछ पाप नहीं हो सकता। यदि कोई

अपनी जीविका बढ़ाने के लिये मृगों को मार २ कर चर्म बेंचे तो भी वह मारने वाला पापी होगा किन्तु मृगचर्म से काम लेने वाला ब्रह्मचारी हिंसा से प्राप्त होने की इच्छा न रखने से पापी नहीं यदि कोई मांसाहारी कहे कि हम भी हिंसा से मांस प्राप्त होने की इच्छा नहीं रखते । बेंचने वालों से मोल ले कर खाते हैं तो दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि मांसाहारी सब जानते हैं कि आज ही के मारे हुए का यह मांस है और खाने वालों के लिये ही प्रतिदिन प्राणी मारे जाते हैं । यदि स्वयं मरे हुए प्राणियों का मांस खाने की भी चाल होती तो यह दृष्टान्त घट जाता सो जहां तक दृष्टि डालो वहां तक स्वयं मरे प्राणियों का मांस खाना प्रायः सभी बुरा समझते हैं। यदि मांसाहारियों को ज्ञात हो कि यह स्वयं मरे प्राणियों का मांस है तो कदापि न खावेंगे इस से सिद्ध हुआ कि वे नित्य नये प्राणियों की हिंसा कर करा के मांस खाना चाहते हैं इस कारण पापी अवश्य हैं ।

मां०-भक्ष्यं भोज्यं चैव विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥

भक्ष्य, भोज्य, मूल, फल, हृदय को प्रिय मांस और सुगन्धित पीने योग्य औषधि रस ये सब श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों के आगे रक्खे । नोट—यह सब पदार्थ श्राद्ध में ब्राह्मणों के भोजनार्थ लिखे हैं जो जगत् गुरु थे और हैं ।

उ०—इस पर विशेष उत्तर की आवश्यकता नहीं जब मनुस्मृति के अनेक स्थलों में हिंसा को अधर्म ठहराया, भिन्न २ प्राणियों की हिंसा में भिन्न २ प्रायश्चित्त लिखे और "यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्" मद्य मांस आदि यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न बताया फिर वह मद्यमांसादि जगद्गुरु ब्राह्मणों का अन्न होगा तो वे भी राक्षस पिशाचों में क्यों नहीं गिने जायगे?। ऐसे मांसभक्षी ब्राह्मण जगद्गुरु कदापि नहीं हो सकते हां मांसाशियों में गुरु भले ही बने रहैं जगत् में तो लोभ के कारण मांसभक्षण का प्रचार करने से लघु हो जाते हैं। यदि अपने शरीर में अन्य के मांस से मांस बढ़ाकर वा पास में कुछ धनका बोझा मानकर अपने को गुरु (भारी) मानते हों तो यह ठीक है । भला मनु वा भृगु जैसे विद्वान् इधर हिंसा को पाप बतावें मांसभक्षी कोर राक्षस पिशाच कहें और इधर मांसभक्षण में (क्रव्यादसूकरो०) इत्यादि वचनों से प्रायश्चित्त दिखावें और उधर मारने खाने की आज्ञा भी देदें यह कभी सम्भव है? कदापि नहीं। फिर भी

श्राद्ध जैसे धर्मसम्बन्धी काम में यजमान को पहिले ही हिंसारूप पाप का भागी बनावें पीछे सर्वगुरु भी पापी हों। जहां २ परस्पर विरुद्ध दो कथन हों वहां एक ही सत्य ठहर सकता है। सो यहां मांस की आज्ञा मनु का वचन नहीं किन्तु प्रक्षिप्त है और हिंसा को अधर्म मानना मांसभक्षण पर प्रायश्चित्त कहना वा मांसभक्षी का राक्षसादि नाम रखना यह मनुस्मृति के सिद्धान्त के अनुकूल और सर्वशास्त्रसम्मत होने से मन्तव्य है। यदि आचार्य जी धर्मशास्त्र को जानने समझने का साहस रखते हों तो इसी मनुस्मृति से हिंसा को धर्म सिद्ध कर दें और मांसभक्षण के प्रायश्चित्त को मिथ्या ठहराने का उद्योग करें। बड़े आश्चर्य का स्थान है कि ऐसा युक्तिप्रमाणों से शून्य लेख करते समय इन लोगों को लज्जा भी नहीं आती। "लोभः किन्न कारयति" ? ॥

मां०-द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥

मच्छी के मांस से दो महिने हिरण के मांस से तीन मेढ़ा के मांस से चार और पक्षियों के मांस से पांच महिने तक पितर तृप्त हो जाते हैं। इत्यादि पांच श्लोक इसी प्रकार के लिख कर सब के अन्त में-

नोट—यहां भोजन करने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होने से अभिप्राय है न कि मरों से विश्वास न हो तो खा देखो।

उ० अभीतक हम को एक भ्रम था कि पं० ठा० प्र० मृतक के श्राद्ध का भी प्रतिपादन करना स्वीकार करेंगे सो सन्देह मिटगया। परन्तु विचारशील लोग मेरी बात का ध्यान रक्खें कि मृतक का श्राद्ध न मानना यह भीतरी नहीं है किन्तु ऊपर से है अवसर देख कर ये सभी कुछ पोपलीला सिद्ध करेंगे। पूर्व श्लोक में जो विरोध दिखाया गया उस के अनुसार तो ये मांस के पिण्डों की प्रशंसा के श्लोक प्रक्षिप्त हैं ही यह सब लोग जान सकते हैं। मांस के पिण्ड खाने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होती है यह कहना महा अज्ञान है क्योंकि इन्हीं श्लोकों के आगे इसी प्रकरण में लिखा है कि—"तत्पितॄणां भवति परत्रानन्त मक्षयम्" श्राद्ध के साथ विधिपूर्वक जो कुछ पितृयों के लिये देता है वह २ उन परलोकगामी पितृयों को अक्षय फलकारी होता है। इस में जब परलोक में जो पितृ हैं ऐसा स्पष्ट कह दिया तब यह कट गया कि "भोजन करने वाले ब्राह्मणों

की तृप्ति से अभिप्राय है" "विश्वास न हो तो खा देखो" इस लेख से प्रतीत होता है कि एक उपदेशक महाशय ने खाकर अनुभव कर लिया होगा कि किसी मच्छी का मांस खाने से दो महीने की और किसी मच्छी के मांस से १२ बारह वर्ष की तृप्ति होती है इस में प्रथम तो हम को यही सन्देह है कि तृप्ति होने से क्या अभिप्राय है। यदि यह आशय है कि उतने दिनों तक भूख नहीं लगती तो इस पर हमें तब विश्वास हो सकता है कि यदि उपदेशक जी छः महिए हमारे वा किसी अन्नाहारी आर्य के पास रहें और एक दिन उन को जितना खायें बकरे का मांस खिला दिया जाय फिर छः महिने तक कुछ भी वस्तु खाने को न मिले और छः मास तक उपदेशक जी की तृप्ति बनी रहे भूख न लगे। परन्तु स्मरण रक्खें कि हर वार पहरा मौजूद रहेगा जिस से कोई वस्तु छिपा कर भी न खालें यदि छः महिने की इस परीक्षा में उपदेशक जी उत्तीर्ण हो गये तो महामांसाचार्य की पदवी मिलने के पश्चात् हम लोग भी उन के उपदेश को मान लेंगे। वा एक पत्र लिखकर सरकार में रजिस्टरी करादें कि हमारी बात पर विश्वास कर के तुम बकरे का मांस खाओ यदि छः महिने के भीतर भूख लगे और तृप्ति न रहे तो हम जीवनभर तुम्हारे भृत्य रहेंगे इस प्रकार पक्का विश्वास कराओ तो हम भी एक हत्या का पाप अपने शिर लादें नहीं तो तुम्हारा कथन व्यर्थ है। यदि कोई कहे कि ऐसी असम्भव बात धर्मशास्त्र में क्यों लिखी तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण ही तो हम उक्त श्लोकों को प्रक्षिप्त ठहराते हैं कि वे श्लोक मनु वा भृगु के बनाये नहीं किन्तु किसी मांसाहारी स्वार्थी ने पीछे से बना कर मिला दिये हैं। इस वर्त्तमान समय में सहस्रों मनुष्य मछली वा बकरे आदि का मांस प्रतिदिन खाते हैं और नित्य २ उन को भूख भी लगती है छः महिने तो अधिक समय है किन्तु कोई मांसाहारी सब छः दिन भी तृप्त नहीं रह सकता तो उक्त श्लोकों के मिथ्या होने में क्या शङ्का रही ?। आशा है कि पाठक लोग पं० ठा० आचार्य जी से पूछेंगे कि आप हमको विश्वास कराना चाहते हो तो एक दिन बकरे का मांस खाकर छः महिने तक निराहार तृप्त रहकर दिखाइये। यदि कहें कि भूख न लगना तृप्ति का अर्थ नहीं है किन्तु चित्त में सन्तोष उतने काल तक रहता है। तो फिर भी बताना चाहिये कि किस प्रकार का सन्तोष रहता है क्या धनादि की तृष्णा मिट जाती वा विषयभोग से मनुष्य की निवृत्ति हो जाती है। यह भी प्रत्यक्ष

से विरुद्ध है अर्थात् मांसाहारियों की तृष्णा अन्य की अपेक्षा भी प्रबल प्रत्यक्ष दीखती है। यदि कहें कि उतने २ दिनों तक उस २ प्राणी का मांस शरीर में धातुओं को पुष्ट करता है तो यह भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध है यदि ऐसा हो तो मांसाहारी सदा नीरोग पुष्ट और बलवान् बने रहें वृद्ध न हों और छः महिने में एक बार मांस खा लिया करें वा १२ वर्ष के बाद एक दिन महाशल्क मछली वा गेंडा का मांस खा लिया करें फिर प्रतिदिन खाने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर देना उपदेशक जी का काम है। और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि नौ मास तक गर्भ में माता के आहार से जो बच्चे का शरीर बनता है उस के हड्डी आदि धातु वृद्धावस्था पर्यन्त बने रहते हैं तब मांस में क्या विशेषता रही। सो भी तृप्तिशब्द के अर्थ से ऐसे आशय निकालना कल्पनामात्र है वास्तव में श्लोक बनाने वाले का आशय यही है कि उन पितरों को उस २ मांसके पिण्ड उतने २ दिन तक तृप्त रखते हैं उतने दिन तक पुनः पिण्ड न मिलें तो उन को भूंख नहीं सतावेगी। तथा एक और भी असम्भव बात लिखी है कि गोदुग्ध के खोया वा खीर के पिण्डों से बारह वर्ष की तृप्ति और कालशाक से अनन्त समय तक की तृप्ति हो जाती है। जो शाक जिस समय सृष्टि क्रमानुसार उत्पन्न होता वही कालशाक है जैसे माघ पौष में मूली वा सरसों आदि का शाक तथा वसन्त ग्रीष्म में सोया मेथी आदि का। उन २ शाकों को उबाल कर उस २ समय पिण्ड दिये जांय तो अनन्त काल तक तृप्ति हो जाती है। और इस से अधिक तृप्ति किसी जीव के मांस में भी न रही यदि मांसाहारी लोग वा उन के आचार्य जी इस लेख को सत्य मानते हैं तो शाक से अधिक गुण मांस में मानना अवश्य छोड़ देंगे। हम तो खोया वा खीर से भी शाक में बहुत कम गुण मानते हैं और यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं कि शाकों की अपेक्षा गोदुग्ध वा खीर में बहुत अधिक गुण है क्योंकि घास वा शाकों का सार निकला हुआ गोदुग्ध है इत्यादि कारणों से मांसपिण्डविषयक उक्त श्लोक मिथ्या हैं किसी स्वार्थी मांसाहारी ने प्रामाणिक पुस्तक में मिला दिये यही निश्चय है॥

मां०—नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः।
नवान्नमद्यान्मासं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ म० अ० ४

दीर्घ आयुपर्यन्त जीवन की इच्छावाला अग्निहोत्री द्विज आग्रयण यज्ञ किये विना नवीन अन्न का और पशुयज्ञ किये विना मांस का भक्षण न करे ॥

नो०—संसार में कोई नवीन वा उत्तम पदार्थ विना मित्र बन्धु गुरु पूज्य-पुरुषों के खिलाये खाना वा ईश्वर को स्मरण किये विना खाना असभ्यता वा नीचता है अतः मनु जी का लेख सार्थक है ॥

उ०—यह चौथे अध्याय का २७ सत्ताईसवां श्लोक है इस से पूर्व २५। २६ वें श्लोकों से गृहस्थ के लिये नित्य नैमित्तिक यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है इस कारण २५।२६ श्लोक विधिवाक्य हैं उसी पर प्रसङ्ग देखकर किसी स्वार्थी मांसाहारी ने यह अर्थवाद गढ़ कर मिलाया है। आचार्य जी ने कभी मीमांसाशास्त्र भी कदाचित् देखा हो पर अनुमान नहीं होता क्योंकि विधि वा अर्थवाद को वे नहीं जानते कि धर्मशास्त्रों में कौन विधिवाक्य तथा कौन अर्थवाद हैं तथा किस विधिवाक्य का कौन अर्थवाद है। अर्थात् पूर्वोक्त (नानिष्ट्वा०) श्लोक को आपने विधिवाक्य मान लिया है तभी तो यहां प्रमाण में लिखा विना विधि-वाक्य के अर्थवाद का स्वतन्त्र कहीं प्रमाण हो ही नहीं सकता। इसलिये यह बड़ा अज्ञान है। विधिवाक्य में केवल यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है खाने पीने का कुछ नाम भी नहीं किन्तु अर्थवाद वाले ने कल्पना करके मान लिया है सो यह प्रक्षिप्त वा प्रामादिक होने से मिथ्या है। इस का विशेष विचार मेरी रची मानवधर्ममीमांसा भूमिका में हो चुका है इस लिये यहां लिखना पुनरुक्त है। पशुनात्वयनस्यादौ० इस २६ वें श्लोक के अनुसार संवत्सर के आरम्भ में पशु सम्बन्धी घृतादि से यज्ञ करे इसी को आग्रायण यज्ञ भी कहेंगे सो आचार्य जी ने उलटा नवान्नेष्टि को आग्रायण के साथ लगाया है इस से विदित होता है कि इन को श्लोकार्थ समझने का भी बोध नहीं है। यदि उपदेशक जी मांसभक्षण को दीर्घायु होने का कारण ठहराना चाहते हैं तो इस का उत्तर दें कि आज तक मांसभक्षण करने वाले दीर्घायु क्यों नहीं हुए?। अब तक न हुए तो आगे भी ऐसा होना असम्भव है। नोट में भावार्थ निकालना जैसा आचार्य जी को आता है ऐसा कदाचित् ही किसी को आता हो। श्लोक में केवल यह आशय है कि विना यज्ञ किये कुछ न खावे इस पर आप लिखते हैं कि मित्र बन्धु गुरु पूज्य पुरुषों को खिलाये विना नया अन्न और मांस खाना असभ्यता वा

आर्यसमाज जबलपुर का वार्षिकोत्सव ॥

यद्यपि ऐसे विषयों पर आर्यसिद्धान्त में लेख होने की आवश्यकता नहीं थी इसीलिये ऐसे विषयों पर लेख नहीं छपा करते थे । तथापि जबलपुर आर्यसमाज के उत्सव पर हमारे पौराणिक महाशयों ने जो २ आक्षेप किये हैं उन का समाधान करना आवश्यक और उचित समझा गया । शुभचिन्तक साप्ताहिकपत्र जबलपुर में जिस मनुष्य के नाम से आक्षेप छपे हैं वह कोई विशेषज्ञ वा संस्कृतज्ञ नहीं जान पड़ते तथापि वे प्रश्न एक पण्डित के हैं ऐसा दृढ़ अनुमान होता है। और ये पं० जी समाज के उत्सव में आये भी थे । इन का नाम रामप्रसाद् शास्त्री है शुभचिन्तक में छपा लेख इन्हीं का लिखा वा लिखाया प्रतीत होता है । इस कारण उत्तर देना आवश्यक समझा गया, शुभचिन्तक में छपे आक्षेपः—

वहां (उत्सव के होम समय) पर विशेषता यह देखने में आयी कि न तो किसी ब्राह्मण का वरण किया गया, न पञ्चभूसंस्कार किये गये, न परिस्तरण न अन्वाधान, न प्रणीतादि पात्रों का स्थापन, न कुशकण्डिका, न यज्ञाङ्गप्रधान देवता का स्थापन और स्रुवप्रतपनादि क्रियायें वहां पर कोई नहीं की गयी थीं केवल पीतल की करछुली से भर २ कर मन्त्री आर्यसमाज होमते थे और स्वामी कृष्णानन्दसरस्वती जी घी डालने की विधि बतलाते थे ॥

उत्तर—जब तक मनुष्य को किसी बात की असलियत का बोध नहीं होता तब तक वह सन्देहों की तरङ्गों में सदा ही गोता खाया करता है और प्रायः उस के काम सिद्ध नहीं होते । यद्यपि उत्सव के समय इसी प्रकार की कुछ शङ्कायें उक्त पं० रामप्रसाद् शास्त्री जी ने कीं और उन के उत्तर भी संक्षेप से यथावकाश मैंने दिये थे परन्तु बुद्धि पक्षपात और हठ से ग्रस्त होने के कारण उन की समझ में न आया होगा । वेदादिशास्त्रों के वास्तविक सिद्धान्त को न समझना ही हठ का भी कारण हो सकता है । और अब भी हम को विश्वास नहीं है कि शास्त्री जी वा उन के अनुयायी लोग हमारे उत्तरों को ठीक मान लेंगे तथापि सर्वसाधारण को जताने के लिये लिखना ही हम अपने परिश्रम की सफलता समझ लेंगे । अब पाठकगणों को ध्यान देना चाहिये—मैंने उक्त प्रकार के आक्षेपों का सामान्य उत्तर यह दिया था कि होम वा यज्ञ करना एक वेदोक्त

श्रेष्ठ कर्म है जिस का सामान्य फल पूर्वमीमांसाशास्त्र के अनुसार स्वर्ग नाम सुख विशेष की प्राप्ति है [सुख विशेष कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य सुख के साथ उस की तुलना नहीं जहां सब प्रकार की उत्तम से उत्तम सुख भोग की सामग्री इकट्ठी हो वहीं स्वर्ग है ऐसा स्वर्ग सब लोकों में हो सकता है। इस प्रसंग में स्वर्ग कहां और क्या है इस का निर्णय लिखने लगें तो प्रकृतविषय छूटता है इसलिये स्वर्ग का विशेष विचार यहां नहीं छेड़ते] उस सुख विशेष के अनेक प्रकारके भेद हैं। वेद में यज्ञ करने की आज्ञा अनेक स्थलों में अनेक प्रकारों से परमेश्वर ने दी है जैसे—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥

यजुर्वेद में अध्याय ३—कि समिधाओं से अग्नि को सेवन करो अर्थात् प्रथम समिधा चढ़ाओ और पश्चात् घृत की आहुति देकर सचेत करो वा जलाओ। इत्यादि प्रकार से वेद में मूल कर्म के लिये आज्ञा दी गयी क्योंकि वेद मूल है उसमें सब धर्म कर्मों वा विद्याओं का मूलरूप से उद्देशमात्र दिखाया गया है। यदि सब प्रकार का विधान वेद में किया जाता तो वेद अत्यन्त बढ़ जाता और गृह्यसूत्रादि पुस्तक ऋषियों को न बनाने पड़ते। और मनुष्यों के विचार कर सकने योग्य बातों का उपदेश परमेश्वर की ओर से होना आवश्यक भी नहीं। और यज्ञ करने का विशेष विधान सब देश काल और मनुष्यों में एक ही प्रकार का रह भी नहीं सकता। एक काम में जितनी अङ्गरूप क्रिया की जाती हैं वे सब देश काल और मनुष्यों में एकसी नहीं होतीं। जैसे रोटी बनाकर खाना एक कर्म है। अच्छे प्रकार सात्विक अन्न पकाकर खाना चाहिये ऐसा विधान किसी शास्त्रकारने कर दिया और किसीने यह भी लिखा कि पाचक ऐसा नियत करना चाहिये कि जिस में निम्नलिखित गुण विद्यमान हों। यथा—

पुत्रपौत्रगुणोपेतः शास्त्रज्ञो मिष्टपाचकः ।
शूरश्च कठिनश्चैव सूपकारः स उच्यते ॥

जिस के पुत्रादि हों किन्तु अकेला फक्कड़ न हो जो किसीसे मिलकर विषादि देकर न भाग जावे और वस्तुओं के गुण तथा शास्त्रकी मर्यादा जानता हो जिससे ठीकर पाक बना सकता हो। स्वादिष्ठ भोजन बनाना जिस को आता हो ऐसा

पाचक वा रसोइया नियत करना चाहिये । क्या इस वचन का अभिप्राय ऐसा भी कोई निकाल सकता है कि सब कोई उक्त प्रकार का पाचक रक्खे । यदि यह आशय हो तो शास्त्रकर्त्ता पर बड़ा दोष आवेगा क्यों कि सब कोई पाचक रखही नहीं सकता उस में विशेष धन व्यय की आवश्यकता है जिस को भोजन ही कठिनता से मिलता है वह रसोइया को नौकर कहां से रक्खेगा ? । वा जो स्वयं ही उत्तम पाक बनाना जानता है उस को पाचक की आवश्यकता नहीं तो जिस को स्वयं भोजन बनाना नहीं आता वा आलस्यादि के कारण जो नहीं बना सकते वा श्रीमान् होने के कारण पाचक रखना चाहते हैं उन को उक्त प्रकार का पाचक यथासम्भव रखना चाहिये । क्या शास्त्री जी वा तर्ककर्त्ता को कोई पूछे कि तुम जिस काम को स्वयं कर सकते हो उसके लिये अन्य को क्यों नहीं बुलाते तो यही उत्तर दे सकते हैं कि हम को बुलाने की आवश्यकता नहीं वा बुला कर सत्कार करने की शक्ति नहीं। इसी उत्तर को यदि यहां भी समझ लेते कि वहां आर्यसमाज के होम में भी स्वयं मन्त्र पढ़ सकने और होम करने की शक्ति थी इसी कारण मन्त्री आर्यसमाज ने पढ़ना वा होम करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक समाजों में जहां स्वयं मन्त्र पढ़ना सामाजिक लोग नहीं जानते वहां आरम्भ भी नहीं करते । और मन्त्री आर्यसमाज जबलपुर क्या ब्राह्मण नहीं थे और क्या समाज के लोगों ने उन का वरण नाम स्वीकार नहीं किया था ?। अर्थात् अवश्य किया था तो ब्राह्मण वरण हो गया । इसके पश्चात् पं० देवीदयालु जी को और मुझ को प्रयाग से पत्रद्वारा स्वीकार करके ही बुलाया था यह क्या ब्राह्मण वरण नहीं हुआ । इस प्रकार जब कई ब्राह्मणों का वरण नाम स्वीकार वहां के समाज ने किया तो न किसी ब्राह्मण का वरण किया गया यह कैसा आक्षेप हुआ ?। अब रहा यह कि वहां के अन्य योग्य ब्राह्मणों का वरण नहीं किया गया सो प्रथम तो जिन से ठीक मेल नहीं मिलता वे बुलाने पर भी आते नहीं द्वितीय समाज को बुलाने की शक्ति और आवश्यकता नहीं थी जैसा कि मैं पूर्व लिख चुका हूं ।

आगे लिखते हैं "न पञ्चभूसंस्कार किये गये" अर्थात् पांच प्रकार से उस पृथिवी को शुद्ध कर लेना चाहिये जहां होम वा यज्ञ किया जाय । १ उल्लेखन, २उद्धरण, ३ उत्क्षेपण, ४ अभ्युक्षण, ५ लेपन। ये पांच भूसंस्कार कहाते हैं। परन्तु

जहां कहीं शुद्धि कही जाती है वा लोक में तथा शास्त्र में किसी काम को कर्त्तव्य कहा जाता है वहां समझने वाले को भी कुछ बुद्धि के लगाने की आवश्यकता है। जैसे कोई कहे कि वस्त्रों को धोकर शुद्ध करना चाहिये तो यह अवश्य विचारना होगा कि जो वस्त्र मलिन वा अशुद्ध हैं उन की शुद्धि करने की आज्ञा देने से अभिप्राय है क्योंकि उन्हीं वस्त्रों का शुद्ध करना सार्थक है। और जो धोये हुए शुद्ध निर्मल वस्त्र हैं उन को पछारने लगना समझने वाले की मूर्खता है अथवा मलिन वस्त्रों पर दश बीश बिन्दु जल छिड़क कर उनकी शुद्धि मान लेना यह भी अज्ञान है इसी प्रकार यहां भी जानो कि जहां की पृथिवी अशुद्ध हो वहां पांच प्रकारों से शुद्ध कर लेनी चाहिये। (१—उल्लेखन) नाम खोद डालना, खोदने से निकली मट्टी यदि अशुद्ध प्रतीत हो तो वेदी में की उस मट्टी को, (२—उद्धरण) उठाकर (३—उत्क्षेपण) नाम फेंक देना और उस वेदी में कहीं की शुद्ध मट्टी लाकर बिछाना तदनन्तर (४—अभ्युक्षण) जल से सींचना और (५—लेपन) गोबर से लीप देना। इन पांच संस्कारों में पिछले दो संस्कार तो प्रायः सभी होम करने वाले करते हैं और करने भी चाहिये। परन्तु जहां की पृथिवी शुद्ध समझी जाय वहां खोदना आदि पहिले तीन संस्कार व्यर्थ समझ के नहीं करने चाहिये। परन्तु आक्षेप करने वाले महाशय कहीं भी संस्कार नहीं करते और न करना जानते हैं कि किस प्रकार से किस लिये और कैसी शुद्धि करनी चाहिये। ये लोग स्रुवा से पृथिवी में दो तीन लीकें करके रत्ती दो रत्ती माटी वहां से उठा कर ईशान कोण में फेंक देते और थोड़ा जल छिड़क के वेदी में गोबर थोड़ासा घोल कर डाल देते हैं कहिये यह क्या भूसंस्कार हुआ ?। यह वैसी ही शुद्धि है कि जैसे किसी को जहां स्नान करके शुद्ध होने की आवश्यकता में दश बीश बूंद पानी छिड़क दिया जाय। शुद्धि वा संस्कार करने का प्रयोजन यह है कि वहां की पृथिवी में किसी प्रकार का दुर्गन्ध न रहे जो होम के सुगन्ध को बिगाड़ा करे। सोचना चाहिये कि यह प्रयोजन रत्ती दो रत्ती मट्टी खोद कर निकाल देने से कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। इस के सिवाय अभ्युक्षण और लेपन जैसा सर्वत्र किया जाता है वैसा वहां जबलपुर के होम में भी किया ही गया था। होम के स्थान को देखने से चित्त प्रसन्न होता था किसी प्रकार की अशुद्धि वहां प्रतीत नहीं होती थी। और जहां नई शुद्ध मट्टी पृथिवी पर जमा

कर वेदी बनायी जावे वहां भी उल्लेखनादि द्वारा भूसंस्कार करने की आवश्यकता नहीं होती। इस से सिद्ध हुआ कि जहां जैसी वा जिस क्रिया की आवश्यकता हो वहां वैसा करना चाहिये सर्वत्र नहीं। इस लिये आक्षेप निर्मूल है। इसी प्रकार परिस्तरणादि क्रिया भी आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। अर्थात् जहां जङ्गलों में यज्ञ किये जाते थे वहां घासादि की विशेषता से जीवजन्तुओं का वेदी में घुस पड़ना अधिक सम्भव था वा है इसलिये वहां परिस्तरण से रुकावट करना आवश्यक है। अन्वाधान तो सभी जगह किया जाता है यदि वेदी में अग्नि का स्थापन न होता तो होम ही कैसे होता। उस का विधान है अग्न्याधान का मन्त्र पढ़ कर स्थापन किया जाय सो यदि विधिपूर्वक न किया हो तो करने वाले की भूल उस अंश में कही जा सकती है। पर कहीं भूल होने पर होम करना निष्फल नहीं हो सकता। जैसे कि रसोइया मसाला छोड़ना वा छौंक देना भूल जाय तो उस अंश में पाक की उत्तमता न होगी परन्तु भोजन बनाना व्यर्थ नहीं हो सकता इसी प्रकार यहां भी जानो। यज्ञाङ्गप्रधान देवता का स्थापन कराने से यदि प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि किसी की प्रतिमा बना कर वहां स्थापित की जाय तो यह कथन प्रमाण और युक्ति दोनों से शून्य है। क्योंकि पत्थरआदि की मूर्त्ति पूजाबुद्धि से वहां स्थापित करने के लिये किसी वेदानुकूल ग्रन्थ में आज्ञा नहीं है। यदि किसी का साहस हो तो प्रमाण दिखावे तदनुसार उत्तर दिया जायगा। हां! यदि किसी ने यज्ञाङ्ग प्रधान देवता का स्थापन करना चाहिये ऐसा ही लिखा हो तब तो स्पष्ट यही अभिप्राय होगा कि यज्ञ के अङ्गों में सब से प्रधान वा मुख्य, कर्त्ता है वही यज्ञाङ्गप्रधानदेवता है उस की स्थापना न हो तो यज्ञ ही कौन करे?। वह तो सभी यज्ञों में होता है और होना भी चाहिये वैसे वहां भी आर्यसमाज ही प्रधान वा मुख्य यज्ञाङ्ग देवता था उस की ओर से मन्त्री जी यज्ञाङ्गप्रधान नियत किये गये जो यज्ञ में स्थित ही थे फिर बताइये आक्षेप कैसे घटेगा?। अपने आक्षेप को घटाकर दिखाना यह भार शास्त्री जी पर है यदि आक्षेप की पुष्टि नहीं कर सकते तो स्वीकार करें कि हमारा आक्षेप मिथ्या है॥

पाठक लोग ध्यान देवें---जिस कार्य का जो अङ्ग कहा वा माना जाता है उस के विना उस कार्य के पूर्ण होने में कुछ न्यूनता अवश्य रह जाती है। जैसे आंख, नाक, कान, हाथ, पांव आदि शरीर के अङ्ग हैं इन में से जो अङ्ग शरीर

में न होगा वा नष्ट हो जायगा उसी का काम न हो सकेगा जैसे आंख न हो तो रूप नहीं देख सकता । अथवा जैसे लकड़ी, आटा, दाल, ममाला, चूल्हा, अग्नि और पाचक इत्यादि पाकक्रिया के अङ्ग हैं इन में से जो न होगा उसी के विना पाकक्रिया में वैसा ही विघ्न होगा जैसा वह गौण वा मुख्य अङ्ग है । और पाचक सब से प्रधान अङ्ग इस लिये है कि वह चेतन होने से सब अङ्गों से काम ले सकता है और जड़ अङ्ग सब इकट्ठे रहें तो भी पाक नहीं बन सकता । परन्तु पाचक किसी अङ्ग के अभाव में तत्स्थानी किसी वस्तु से किसी प्रकार काम निकाल सकता है इस लिये वह सर्वोपरि प्रधान अङ्ग है । प्रयोजन यह है कि जिस के होने से उस अंश में उस कार्य का सुधार हो और जिस के न होने से उस कार्य की उस अंश में कुछ हानि हो वह उस का अङ्ग कहा वा माना जा सकता है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है । और जिस के होने न होने पर कार्य में कुछ लाभ वा हानि नहीं हो सकती वह उस का अङ्ग कभी नहीं माना जाता । अब आक्षेपकर्त्ता को सिद्ध करना चाहिये कि पत्थरआदि की मूर्त्ति वा कृत्रिम नवग्रहादि को कैसे यज्ञाङ्गत्व है ? आशा है कि पाठक लोग पं० रामप्रसाद शास्त्री जी से प्रेरणा कर इस का उत्तर मांगेंगे कि प्रतिमा को यज्ञाङ्गत्व कैसे है ? । यदि यज्ञाङ्गत्व सिद्ध न कर सकें तो मान लें कि हमारा लेख मिथ्या है ॥

और स्रुवप्रतपनादि क्रिया भी प्रयोजन से ही की जाती है कि स्रुवा तपा देने से कोई छोटा अदृश्य जीवजन्तु हो तो इधर उधर भाग जावे सो पीतल वा चांदी आदि के वर्त्तन में छिप नहीं सकता इत्यादि कारण जहां पीतल आदि के चमसा से यज्ञ किया जाय वहां तपाना आवश्यक नहीं है। हमारा पक्ष यह नहीं है कि आर्यसमाज में सर्वोत्तम विधि के साथ अभी होम वा यज्ञ होते हैं किन्तु हम स्वीकार करते हैं कि पूर्णविधि नहीं होती परन्तु फिर भी कहने पड़ता है कि आक्षेपकर्त्ताओं के यज्ञों की अपेक्षा प्रधानयज्ञाङ्गों का विशेष विचार आर्यसमाज में अवश्य किया जाता है ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ १ ॥

जिस यज्ञ में यज्ञकर्त्ताओं को किसी फलविशेष की अभिलाषा न हो कि इस यज्ञ के बदले परमेश्वर हम को अमुक फल देवे और वेद में परमेश्वर ने यज्ञ करने

की आज्ञा दी है इस लिये यज्ञ करना चाहिये परमेश्वर की आज्ञापालन करना हमारा काम है इस प्रकार मन को निश्चित करके किया यज्ञ सात्त्विक सत्त्वगुणसम्बन्धी वा उत्तम प्रकार का माना जाता है। यही यज्ञ आर्यसमाज में होता है। क्योंकि आर्यसमाज में किसी को फल की इच्छा नहीं रहती कि हम को इस यज्ञ का अमुक वा सामान्यफल मिले और—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ २॥

जो किसी कार्यविशेष की सिद्धिरूप फल का निश्चय करके वा दम्भ दिखाने के लिये किया जाय वह यज्ञ रजोगुणी है अर्थात् मध्यम प्रकार का है। आज कल पौराणिक लोगों में जितने होम वा यज्ञ होते हैं उन में किसी फलविशेष की चाहना का उद्देश और दम्भ दिखाने का प्रयोजन प्रायः रहता है इस को ध्यान देने से सभी लोग जान सकते हैं॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ ३॥

वेदोक्त विधि वा आज्ञा का ध्यान जिस में न रक्खा जाय और बिना शोधा बनाया खड़ा अन्न जिस में होमा जाय, मन्त्रों का जहां ठीक शुद्ध उच्चारण न हो तथा होम करने वालों को दक्षिणा (महनताना) जिस में न मिले और विना श्रद्धा के यज्ञ किया जाय वह तमोगुणी अर्थात् निकृष्ट यज्ञ है। आर्यसमाजों के यज्ञों में बहुमूल्य सुगन्धियुक्त शोधी बनायी सामग्री से होम किया जाता और अन्न का शुद्ध मोहनभोग बना कर चढ़ाते हैं। और पौराणिक लोग प्रायः खड़े जौ तिल चावल चढ़ाते हैं प्रायः उन को शोधते भी नहीं तब शोचना चाहिये कि उक्त भगवद्गीता के प्रमाणानुसार असृष्ट—बिना शोधे बनाये अन्न का तमोगुणी यज्ञ इन लोगों का हुआ वा नहीं ?। जब ऐसी दशा है तब तुम किस बल से आक्षेप करने को तत्पर हुए ? क्या इसी जनश्रुति को चरितार्थ करने के लिये आक्षेप किया था कि "परोपदेशे कुशला दृश्यन्ते बहवो नराः" इन लोगों के समान हम पक्षपाती नहीं बनना चाहते। इसी लिये स्वीकार करने पड़ता है कि इन लोगों में कहीं २ कोई २ सत्त्वगुणी यज्ञ होना स-

म्भव है परन्तु प्रायः२ रजोगुणी तमोगुणी अधिक होते हैं। और कहीं २ आर्य्यसमाजों में भी रजोगुणी तमोगुणी यज्ञ होने सम्भव हैं उन को भी हम अच्छे ठहरावें यह हमारा काम नहीं है । तथापि इस लेख से यह सिद्ध हो गया कि अधिकांश अच्छे होने से आर्य्यसमाज के यज्ञ इन के यज्ञों की अपेक्षा अनेक प्रकार से उत्तम हैं इस लिये आक्षेपकर्त्ता की सर्वथा भूल है थोड़ी दृष्टि फैला कर पहिले अपने घर को ही देखना चाहिये ।

यज्ञशालादि कैसे होने चाहिये ॥

जिस प्रदेश में यज्ञ किया जाय वहां एक यज्ञशाला १६ हाथ लम्बी चौड़ी बनाई जाय वा उस की भित्ति आदि के बनाने में सब सामान शुद्ध २ परीक्षा करके लगाया जावे जहां यज्ञशाला बने वहां की पृथिवी शुद्ध हो किसी प्रकार का दुर्गन्धादि उस में न हो । यज्ञशाला से इधर उधर भी पृथिवी शुद्ध हो । उस यज्ञशाला के बीच में एक चौतरा चतुष्कोण वा गोलाकृति बनाया जाय जिस की लम्बाई चौड़ाई आठ २ हाथ बराबर हो उस चौतरे पर एक अन्य चौतरा चार हाथ का बनाया जाय और इसी चौहथे चौतरे के बीच में दो २ हाथ लम्बा चौड़ा कुण्ड बनाया जाय चौतरों की भित्तियों में यथोचित चित्रकारी हो यज्ञशाला की बाहरी भित्तियों में आलय (ताख वा तिखाल) तथा अलमारी आदि बनायी जांय जिनमें यज्ञ के सब पात्र वा अन्य सामान धरा जाया करे । उस स्थान में यज्ञ के बिना अन्य कुछ काम न किया जाय । यज्ञशाला में तीन परिक्रमा यज्ञकुण्ड की पूर्वोक्त प्रकार से बन जायगी । निकृष्ट कोटि के मनुष्य पहिली परिक्रमा में रहें वहीं से यज्ञ कुण्ड के दर्शन करें । मध्यम कोटि के मनुष्य पहिले चौतरे पर और यज्ञ करने वा कराने वाले होता यजमानादि द्वितीय चौतरे पर यज्ञकुण्ड के निकट रहें । यज्ञके पात्र यथासम्भव सोने चांदी के हों वा अभाव में यथोक्त काष्ठ के बनाये हों । यज्ञशाला के पात्र कभी अन्य काम में न लगाये जांय और पाकशालादि के चमचादि पात्र कभी यज्ञशाला में लाये भी न जावें । यज्ञशाला के भृत्यादि भी उसी काम के लिये पृथक् नियत रहें । यज्ञ करने वाले ऋत्विगादि वेदादि शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता हों और मीमांसाशास्त्र जिनने पढ़ा हो वे लोग प्रयोजन को ठीक जानकर विधिपूर्वक यज्ञ कर सकते हैं । इत्यादि प्रकार कर्म, कर्त्ता और साधन तीनों ठीक २ यथायोग्य हों तो ठीक विधिपूर्वक यज्ञ हो सकते हैं। दक्षिणा अर्थात् यज्ञ का मेहनताना भी पूर्ण

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अं० ७,८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ५।६ के पृ० ७२ से आगे

यज्ञसम्बन्धी लेख ॥

होना आवश्यक है क्योंकि दक्षिणा में न्यूनता होगी तो ऋत्विगादि ठीक २ परिश्रम सेवा मन लगाके यज्ञ न करेंगे इस लिये दक्षिणा भी एक यज्ञ का बड़ा अङ्ग है । उक्त प्रकार की यज्ञशालाओं का नाम ही पूर्वकाल में देवालय था ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि देव नाम यज्ञ का है तो देवालय यज्ञालय शब्द एकार्थ हो गये । ऐसी यज्ञशाला भारतवर्ष में कहीं नहीं दीखती इस से मानना पड़ता है कि आर्यसमाज में भी अभी पूर्ण उत्तम रीति से यज्ञ नहीं होता तो भी अनुमान होता है कि आगे २ यज्ञ की प्रणाली सुधरेगी । जैसे आयुर्वेद में लिखे प्रकारों से आज कहां पाकशाला है कौन पाचक है ? और किस के यहां वैसा पाक बनता है इस बात को खोजें तो कहीं न मिलेगा । इस का एक कारण तो प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने की चाल का उठ जाना और द्वितीय कारण आर्यों का राज्याधिकार से च्युत हो जाना है । अर्थात् सर्वोत्तम पाकों वा यज्ञों का संचय राजा ही कर सकता है । सर्वसाधारण का काम नहीं है। इसी लिये अनेक बड़े २ अश्वमेधादि यज्ञ राजा के लिये कहे गये हैं । आर्यसमाज में धनादि की न्यूनता से भी यज्ञादि की पूर्ण सिद्धि नहीं है इस प्रकार

आर्यसमाज का यज्ञ अन्य रीति पर किया गया था क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार वेद की आज्ञा को प्रधान मान कर वेदोक्त मन्त्रों से किया यज्ञ श्रौत कहावेगा। और वैश्वदेवादि जिसके मन्त्र भी स्मृति प्रतिपादित हैं वह स्मार्त्त है। श्रुति नाम वेद में कहा श्रौत और स्मृति नाम धर्मशास्त्रों में कहा स्मार्त्त कहाता है, क्या आक्षेपकर्त्ता श्रौत स्मार्त्त शब्दों का अर्थ इस से भिन्न कुछ समझते हैं? तो प्रकट करें हम उस का भी उत्तर देंगे॥

आक्षेप–फिर वहां पर यह बात भी किसी की समझ में न आयी कि यह हवन किस उद्देश से किया गया है और इस का दृष्टादृष्ट फल वा फलभागी यजमान कौन है?॥

उत्तर–क्या आपने प्रत्येक मनुष्य जो २ होम में उपस्थित थे उन से पूछ कर निश्चय कर लिया था कि सब किसी की समझ में यज्ञ का उद्देश नहीं आया?। यदि सब से पूछ लिया कहो तो मिथ्या कथन होगा। क्योंकि वहां उपस्थित हुए सभी को ज्ञात है कि उद्देश नहीं पूछा गया। और जब नहीं पूछा तो क्या आक्षेप कर्त्ता अन्तर्यामी हैं जो लिख बैठे कि उद्देश वहां पर किसी की समझ में नहीं आया?। यदि कहैं कि किसी की समझ में नहीं आया इस वाक्य से हमारा प्रयोजन है कि हम पौराणिक लोगों की समझ में नहीं आया। तो यह आशय उस वाक्य से नहीं निकल सकता आप को लेख करने में भूल अवश्य हुई। अस्तु मान लिया कि आप को समझ में नहीं आया फिर बताइये कि यह किस का दोष हुआ?। कोई ग्रामीण बुद्धिहीन मनुष्य किसी कलाघर में जाकर कहै कि यह मेरी समझ में नहीं आता क्या है?। तो ऐसी उस की बेसमझी से वह मनुष्य बुद्धिहीन ठहरेगा किन्तु उस के न समझाने से कलाघर निरुद्देश वा व्यर्थ नहीं ठहर सकता इसी प्रकार आप की समझ में यज्ञ का उद्देश न आया यह दोष भी आप पर रहा आप को चाहिये था कि लज्जित होकर आगे को शास्त्र-द्वारा यज्ञ के उद्देश का निश्चय करें सो न करके उलटे चले। स्मरण रक्खो कि उलटे चलने से गिरने का पूरा भय है। यज्ञ का दृष्ट अदृष्ट फल शोचने के लिये अधिक विद्या बुद्धि की आवश्यकता है सो आप की समझ में नहीं आ सकता। कोई निर्जल देश में बापी कूप तड़ागादि बनवावे वा बाग लगावे तो आप क्या दृष्टादृष्ट फल ठहरावेंगे?। अथवा निष्फल मान लोगे?। आप की समझ में दृष्टादृष्ट फल नहीं आया इस के दो अभिप्राय हो सक्ते हैं एक तो उस यज्ञ का

दृष्टादृष्ट फल कुछ नहीं व्यर्थ किया गया द्वितीय यह कि फल तो था पर आप की समझ में नहीं आया । पहिली दशा में आप को सिद्ध करना था कि तुम्हारा यज्ञ इस २ प्रमाण से निष्फल हुआ । द्वितीय यदि आप नहीं समझे तो यह आप का दोष रहा आर्यसमाज जबलपुर पर कुछ दोष नहीं आता । यदि आप किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध कर सक्के हों तो अवश्य सिद्ध कीजिये कि आर्यसामाजिक यज्ञ का दृष्टादृष्ट फल कुछ नहीं है तो हम बहुत अच्छा उत्तर दे सकेंगे ॥

आक्षेप—और शाम को ६॥ बजे जब पण्डित देवीदयालु शर्मा ने हवन पर एक व्याख्यान दिया जिस का सारांश यह था कि "हवन से मकान की वायु शुद्ध होती है" तब हम लोगों को यह मालूम हुआ कि इस हवन का मुख्य फल वायु शुद्धि और उस के भागी बाबू रामपाल सिंह हैं......पर इस लाभ के लिये जबलपुर आर्यसमाज का रुपया क्यों फूंका गया ? ॥

उत्तर—हम सत्य २ कहते हैं कि आप तब क्या अब तक भी कुछ नहीं समझे न आप समझना चाहते हैं यदि समझना चाहो तब तो आप कुछ काल तक वेदार्थ जानने और सत्सङ्गादि करने पर अवश्य कुछ समझ सकते हो परन्तु आप के साथ में हठ दुराग्रह और मिथ्या अहङ्काररूप जो शत्रु लगे हैं वे कुछ नहीं करने देंगे । जिज्ञासु मनुष्य ज्ञान का अधिकारी हो सकता है अस्तु जो हो सब दशाओं में हमारा काम समझाना है यदि कोई न समझे वा न समझना चाहे तो यह उस का दोष होगा । और उपदेश द्वारा न समझावें तो हम भी दोषभागी हो सकते हैं । यद्यपि पण्डित देवीदयालु जी के व्याख्यान में मैं वा अन्य पाठक लोग नहीं थे तथापि यह किसी को विश्वास नहीं हो सकता कि "हवन से मकान की वायु शुद्ध होती है" इतना ही आशय उस व्याख्यान से निकाला हो । ये शब्द आक्षेपकर्त्ता ने अपने आप गढ़ लिये हैं सम्भव है कि पं० दे० जी के व्याख्यान का यह आशय हो कि हवन से वायु की शुद्धि होती है । परन्तु ऐसा अभिप्राय होने पर भी यह नहीं आता कि यज्ञ करने का और कुछ प्रयोजन नहीं । क्योंकि पं० दे० जी क्या कोई साधारण मनुष्य भी नहीं कह सकता कि वायु का शुद्ध होना ही केवल यज्ञ का प्रयोजन है । अब मैं यज्ञ के महत्त्व पर कुछ संक्षेप से लिखता हूं । "यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः" वात्स्यायन ऋषि न्यायभाष्यकर्त्ता ने लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मण का सामान्य कर यज्ञ ही विषय है यज्ञ का ही वेद में सर्वोपरि उपदेश है । संसार में मनुष्य के इष्ट सुख

की सिद्धि और अनिष्ट दुःख की निवृत्ति के लिये जितने उपाय वा कर्त्तव्य वेदादि शास्त्रों द्वारा बतलाये जाते हैं उन सब का मूल वा सब में प्रधान सब इष्ट सुखों का साधक सब अनिष्ट दुःखों का हठाने वाला यज्ञ ही है। इसी लिये धर्म के बड़े २ अंशों में पहिला यज्ञ माना गया है "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति छान्दोग्ये" धर्म के तीन प्रधान अंश वा हिस्से हैं जिन में पहिला यज्ञ है। धर्म का सामान्य वा मुख्य अर्थ यही है कि जिस से कर्त्ता के चित्त को तत्काल ही सन्तोष शान्ति आदि द्वारा सुख पहुंचे और सर्वसाधारण का वा किसी अन्य मित्र का भी उस से उपकार हो। इसी लिये परोपकार भी धर्म का मुख्य अर्थ है क्योंकि जगत् में जितने धर्मसम्बन्धी कर्म माने जाते हैं उन सब से किसी न किसी प्रकार परोपकार होता ही है। जैसे दया, दान, बाग लगाना, कुआ, बावड़ी, तालाब और प्याऊ सदावर्त्त आदि सब से अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना प्रसिद्ध है। इसी कारण दयादिक धर्म माने जाते हैं जब परोपकार ही प्रधान वा मुख्य धर्म ठहरा तो शोचना चाहिये कि यज्ञ से कितना और कैसा परोपकार होता है?। हम अपने हृदय से सत्य २ दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि यज्ञ की बराबर कभी किसी काम से सर्वोपरि सर्वोपकार न हुआ और न हो सकता है। थोड़ा ध्यान दे कर शोचने से सब लोग जान सकते हैं कि दान पुण्य सदावर्त्त आदि से किन्हीं खास २ प्राणियों को जो उस समय उस स्थान में उपस्थित हों सुख पहुंचाया जा सकता है परन्तु जो उत्तम २ पदार्थ अग्नि में चढ़ाने से अग्नि के तेज से परमाणुरूप सूक्ष्म हो कर वायु द्वारा सब संसार में फैल जाते हैं प्रथम तो वे सूक्ष्म परमाणु अग्नि के तेज सहित जहां २ पहुंचते हैं वहां के वायु को शुद्ध करते हैं वा जीवन का आधार बनते हैं क्योंकि वायु के ठीक यथावस्थित शुद्ध रहने पर ही प्राणरूप वायु की रक्षा से जीवन रह सकता है। वायु का सुधरना जीवन और बिगड़ना ही मरण है। प्राणवायु जिस का नाम जीवन है वह एक ऐसा तत्त्व है जो तैजस और वायव्य दोनों अंशों के संयोग से बना है। इसी कारण उष्णता को लिये सुगन्धयुक्त वायु से प्राण वा जीवन की विशेष रक्षा है। इसीलिये गर्मी के साथ जीवन की रक्षा वा प्राण की रक्षा स्पष्ट दीखती और जब शरीर ठंढा होने लगता है रोगी के हाथ पांव में गर्मी नहीं जान पड़ती तभी उस का मरण समय सब को जान पड़ता है इस कारण जिन घरों में नित्य होम होता रहता है वहां का बाहिरी वायु

प्राण के अनुकूल रहने से प्रायः रोग होते ही नहीं और अन्य कारण से हुए रोग भी ऐसे प्रबल नहीं होने पाते जो शीघ्र ही प्राण को नष्ट कर सकें।

इस के पश्चात् वह हुत पदार्थ अग्नि से सूक्ष्म हो कर वायु द्वारा सब जगत् में फैल जाता है और स्थावर जङ्गम सभी के जीवन की यथायोग्य रक्षा करता है। तथा वह होम किया पदार्थ अग्नि वायु द्वारा आकाशस्थ मेघमण्डल में पहुंच कर सर्वोपरि जगत् का उपकारी होता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु० ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ भगवद्गीता०

भावार्थ-घृतादि उत्तम पुष्ट सुगन्धियुक्त शुद्ध किये रोगनिवारक वस्तुओं की विधिपूर्वक अग्नि में जो आहुति डाली जाती है वह अग्नि वायु द्वारा आकाशस्थ मेघमण्डल में पहुंच कर सूर्य के किरणों की सहकारिणी हो कर मेघ को उत्पन्न कराती है क्योंकि घृतादि के पड़ने से अग्नि का तेज अनेक गुणा एक साथ बढ़ जाता है जिस में ऊपर को चढ़ने की शक्ति बढ़ जाती है। और आकाश में गर्मी की अधिकता ही वास्तव में वर्षा का कारण है इसी से ग्रीष्मऋतु में गर्मी के अधिक बढ़ने पर ही वर्षा अच्छी होती है और "अग्नेरापः" अग्नि से जल उत्पन्न होता यह वेद का सिद्धान्त भी इसी के अनुकूल है अर्थात् अग्नि जल का कारण है अग्नि की वृद्धि में जल की वृद्धि और हानि में हानि है। इस प्रकार यज्ञ से बढ़ा वा प्रबल शक्तिवान् हुआ इन्द्र नाम सूर्य वर्षा का हेतु होता है। और वर्षा के यथावत् होने से ही स्थावर जङ्गम सब जगत् की ठीक २ रक्षा होती है क्योंकि वर्षा से ही सब प्राणियों का भक्ष्य उत्पन्न होता है जिस से जीवित रह सकते हैं "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अन्न के आश्रय ही प्राणियों के प्राण वा जीवन स्थिर रह सकते हैं। यद्यपि कूप नदी वा नहर तालाब आदि के जल से भी कुछ २ अन्नादि उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु शोचने से ज्ञात हो सकता है कि एक दो वर्ष तक कुछ भी वर्षा न हो तो किसी नदी तालाब आदि में जल रह ही नहीं सकता सब का जल सूख जा सकता है तो जगत् के प्रलय का समय आ जाना सम्भव है। इस विषय पर

कोई महाशय शङ्का कर सकते हैं कि जिन प्रान्तों वा देशों में अ नकल सूखा वा दुर्भिक्ष हो जाता है वहां कोई आर्यसमाजी पुरुष वा उपदेशक जाकर यज्ञ कर के वर्षा करा दे तो कहीं भी कोई वर्षा के अभाव से होने वाले दुःख से दुःखी न हो। इस पर हमारा उत्तर यह है कि—

जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥

जो मनुष्य जिस उपाय की मात्रा जानता है उस के सब काम ठीक २ सिद्ध होते जाते हैं। जैसे कोई विद्वान् वा बुद्धिमान् कहे कि जल में शक्कर मिलाने से शरबत बन जाता है इस को झूठा ठहराने के लिये कोई मनुष्य पांच सेर जल में एक तिलभर वा पावरत्ती चीनी छोड़ कर पीवे तो मीठा न होने पर उपदेशक को झूठा बतलावे कि चीनी से जल मीठा नहीं होता। जैसे पावरत्ती चीनी से पांच सेर जल कुछ भी मीठा नहीं हो सकता वैसे ही छोटे २ साधारण होम वा यज्ञों से भी वर्षा उत्पन्न नहीं हो सकती इस लिये मात्रा का ज्ञान प्रत्येक कर्त्तव्य में मनुष्य को करना चाहिये कि कितने उपाय से किस कार्य की सिद्धि हो सकती है। मात्रा का ज्ञान न हो तो यह उसी मनुष्य का दोष है उपदेशक वा शास्त्र का कुछ दोष नहीं। यदि सब नगर वा ग्रामादि में सदैव नित्य नैमित्तिक होम यज्ञ होते रहैं तो समयानुकूल सर्वत्र ठीक २ वर्षा भी होती रहे। यदि कोई कहे कि आज कल यज्ञों के न होने पर भी कहीं ठीक २ यथोचित और कहीं अतिवृष्टि भी क्यों होती है?। इस का उत्तर यह है कि हमारा यह पक्ष वा साध्य नहीं है कि यज्ञ किये विना वर्षा नहीं हो सकती यज्ञ से ही वृष्टि होती है किन्तु हमारा कहना यह है कि गर्मी की अधिकता का आकाश में पहुंचना वर्षा का कारण है और ईश्वरीय सृष्टिक्रम के अनुसार यथावसर गर्मी की वृद्धि होती ही रहती है तथा मनुष्यों के अनेक कार्यों से भी आकाश में गर्मी बढ़ा करती है उस सभी प्रकार की गर्मी से वर्षा होना सम्भव है किसी प्रान्त में रेल आदि के धूमादि द्वारा और भी कुछ अधिक गर्मी आकाश में पहुंची तो वहां अतिवर्षा होना भी सम्भव है। परन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि जैसे हम प्राणिमात्र अपने लिये सुख चाहते हैं और ऐसे काम स्वयं वा अन्य द्वारा होना अच्छे नहीं मानते जिन से हम को दुःख पहुंचे। क्या सूखी विष्ठा इकट्ठी कर जलायी जाय तो आकाश में गर्मी न चढ़ेगी? परन्तु सोचने से मालूम हो सकता

है कि दुर्गन्धयुक्त परमाणु वर्षा में मिलने से ओषध्यादि मनुष्यादि के भक्ष्य पदार्थ कैसे मलिन और रोगकारी वा दुःखदायी उत्पन्न होंगे। जैसे विष्ठा जला कर वायु के दुर्गन्धित कर देने से रोगादि द्वारा प्रजा को विशेष दुःख पहुंचने की सम्भावना है वैसे ही वायु में सुगन्धि फैलने से आरोग्यतादि द्वारा प्रजा को सुख पहुंचने की सम्भावना क्यों नहीं कर सकते ? आप शोचिये कि हम क्या चाहते हैं ? कि रोगनाशक बलवर्द्धक सुखकारी अन्नादि जगत् में पैदा हों और हम को खाने के लिये मिलें जिस से हम सुखी रहें सो यह हमारी चाहना यज्ञ-द्वारा सुगन्धित गर्मी के आकाश में अधिक पहुंचने से सिद्ध हो सकती है। द्वितीय सब नगर ग्रामादि में नित्यनैमित्तिक यज्ञ यथावसर होते रहें तो कहीं भी दुर्भिक्ष वा वर्षा के अभाव से प्रजा को पीड़ा पहुंचना सम्भव नहीं। यदि कभी कहीं कुछ अनावृष्टि भी हो तो वहां विशेष यज्ञ उस समय करें ४० वा ५० हज़ार रुपये का यज्ञ करें तो वर्षा तत्काल होना सम्भव है। रेल का धुआं भी वास्तव में रोगादि फैला कर दुःख का बड़ा कारण है। राज्यादि के विलक्षण प्रबन्ध से नाना प्रकार का बहुत दुर्गन्ध वायु में फैल कर रोगादि से प्रजा में दुःख फैलाता और मेघमण्डल के जल को वही दुर्गन्ध दुर्गुणयुक्त कर देता है उसी जल की वर्षा से मनुष्यादि का भक्ष्य ओषधि वनस्पत्यादि अन्न रोगकारक दुःखवर्धक उत्पन्न होता है इस दशा में प्रजा निरुपद्रव सुखी रहे यह असम्भव है। इस अनिवार्य रोग की ओषधि सर्वोपरि सर्वोपकारी यज्ञ ही हो सकता है। पूर्वकाल में जब आर्य राजा होते थे तब विष्ठादि कहीं इकट्ठे नहीं किये जाते थे और जङ्गल अधिक थे प्रायः लोग सघन नहीं बसते थे खेतों वा बंजर में दिशा जाते थे अलग २ पड़ा मल शीघ्र सूख जाता था ऐसा दुर्गन्ध नहीं बढ़ता था मनुष्य-संख्या भी पहिले विषयासक्ति के कम होने से कम थी यही प्राचीन सभ्यता थी परन्तु अब जङ्गल से लौट कर मलत्याग घर में करना ही बड़ी सभ्यता समझी जाती है पूर्वकाल में पूर्वोक्त प्रकार दुर्गन्धादि के अधिक न बढ़ने से वायु जल के शुद्ध रहने पर भी राजा प्रजा सब की ओर से हुए यज्ञादि से वायु जल तथा मेघमण्डल की सर्वदा शुद्धि होती रहती थी तभी तो मनुष्य दीर्घजीवी बलिष्ठ साहसी उत्साही बुद्धिमान् सत्वगुणी धर्मात्मा अधिक कर उत्पन्न होते थे जिस से प्रायः प्रजा में सुख होता था। यह सब यज्ञ का ही प्रताप था। अच्छे प्रकार कोई कभी शोचे तो यज्ञ के समान परोपकारी सुखदाता संसार परमार्थ

का सुधारने वाला संसार में कोई धर्म वा कर्म और नहीं है और यह बात केवल कल्पनामात्र नहीं है किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन भाग प्रधान किये हैं अर्थात् तीन के अन्तर्गत सब धर्म आ जाता है जैसे "यज्ञोऽध्ययनं दानमिति" इन तीनों में भी यज्ञ ही प्रथम संख्या (अव्वल नम्बर) में रक्खा है तो यह बात सब शास्त्रों वा वेदों के अनुकूल हुई कि यज्ञ से बड़ा और कोई धर्म कर्म जगत् में नहीं हो सकता। आशा है कि इस थोड़े से लेख से यज्ञ का बड़ा फल सर्वमहाशयों को विदित हो जायगा। जब यज्ञ का ऐसा बड़ा प्रसिद्ध सर्वोपरि प्रयोजन वा फल वेदादि शास्त्रों के अनुकूल सिद्ध है तो न समझने वाले के लिये हमारे पास क्या औषधि है ? ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ॥

जिस को स्वयं बुद्धि (समझने की शक्ति) नहीं शास्त्र वा उपदेश ग्रहणकी योग्यता नहीं उसके लिये शास्त्र क्या कर सकता है ?। जैसे दर्पण अन्धे को रूप नहीं दिखा सकता ?। यज्ञ का फल केवल वायु की शुद्धि ही मान ली जावे तो भी आक्षेपकर्त्ता को बताना चाहिये कि आप ने वा मकान के स्वामी बा० रामपालसिंह ने वायु का आना जाना रोक दिया था क्या ?। अथवा मकान में जितना वायु वा यज्ञ का धूम उठा उस को कैद कर रक्खा था जो इधर उधर कहीं नहीं जा सकता था फिर ऐसा व्यर्थ का प्रश्न उठाने वा आक्षेप करने में लज्जा क्यों नहीं आती ?। जब वायु के गमनागमन को कोई नहीं रोक सकता तो उसी घर का वायु शुद्ध हुआ यह कमसमझी की बात है। वायु की शुद्धि भी यज्ञ का कुछ थोड़ा वा छोटा साधारण फल नहीं है। किन्तु जिस वायु का शुद्ध होना ही मनुष्यादि प्राणियों का जीवन और वायु का विशेष अशुद्ध होकर बिगड़ जाना ही मरण है। फिर जिस यज्ञ से जीवन की रक्षा हुई उस से बड़ा और कौन काम हो सकता है ?। जब यज्ञ का ऐसा बड़ा माहात्म्य और फल है तभी तो आर्यलोगों ने सृष्टि के आरम्भ से ही ईश्वरीयविद्या वेद को माना और इसी से परमेश्वर की सर्वज्ञता और वेद सब विद्याओं का मूल पुस्तक है ऐसा कहने वा लिखने के लिये हम को उत्साह वा साहस होता है। यद्यपि यज्ञ जैसे बड़े काम का पूरा प्रयोजन लिखने की मुझे शक्ति नहीं तथापि प्रसङ्गानुसार कुछ लिख दिया। अब इन के साधारण अन्य आक्षेपों पर और कुछ लिखना व्यर्थ समझ के इस लेख को समाप्त करता हूं। इति ॥

धर्मपुर के प्रश्न ॥

पाठक महाशयों को ज्ञात हो कि दक्षिण प्रान्त सूरतनगर के समीप धर्मपुर में एक देशी राज्य है मैं उस का विशेष हाल नहीं जानता । मेरे समीप धर्मपुर राज्य से निम्नलिखित प्रश्नों का पत्र छपा हुआ वर्त्तमान सं० १९५१ के आश्विन मास में आया और मैंने जो उत्तर दिया वह सर्व महाशयों के ज्ञातार्थ प्रकाशित करता हूं ॥

ता० १६-९-९४ ओ३म् बलसार होइके धर्मपुर

"सब महाशयों को विद्दीत हो की कितनी एक राज्यों में जो बलेऊ दसहरा वगैरे परबो पर देवी अथवा देवता को भोग और पूजा, मे, जीवहिंसा करते थे और होता है (भैंसा वा बकरा वगैरे प्राणी का भोग देते हैं) और होता है कारन कीं शास्त्र के प्रमाण से होता रहा है की राजा लोगों ने आपनी खुशी से जीवहिंसा प्रचलित की है इस विषय में अभी श्रीमान् महाराणा साहब महाराज की ऐसी इच्छा है कि पशुवध करना अथवा करवाना कुछ आवश्यक प्रयोजन नहीं है याने कोई बलवान् शास्त्र में राजाओं को एह कार्य अवश्य करने को कहा भी नहीं है इस वास्ते अनेक विद्वानों का मत लेके अथवा विद्वान् लोग शास्त्रविचार के मेरे को सूचना करें तो जीवहिंसा बन्द कर देनी चाहिये सो इस विषय में आपना, आपना विचार लिखना सो मेरी इच्छा है कि विद्वानों के मत से होना सो नीचे लिखे प्रश्नों के प्रमाणों से सब विद्वानों की तरफ से बराबर शास्त्रप्रमाण खुलासा मिलने की आशा रखता हूं.

प्रश्न १-किस प्रकार की पशुहिंसा करना किस शास्त्र में कहा है ॥

२-जिस शास्त्र में कहा हो तिस शास्त्र का प्रमाण आर्य लोगों में है वा नहीं अथवा बहुत लोग मानते हैं कि नहीं ॥

३-ते शास्त्रकरता बलवान् और जिस शास्त्र का प्रमाण बहुत लोग मानते हों ऐसा कोई शास्त्र मा जीवहिंसा का निषेध किया है कि नहीं ॥

४-राजाओं को अवश्य कर्तव्य होय तो शास्त्र की मर्यादा तोड़ी गिनी न जाय सो क्या प्रमाण है ॥

५-सो हिंसा वध करने में न आवे तो राज्य और प्रजा को अथवा राजा के अङ्ग में कोई तरेका विघ्न आवे तो किस शास्त्र मां बलवान् प्रमाण है ॥

६–पसूबध के बदले दूसरी कोई हिंसा रहित उपाय शास्त्र के अनुकूल होय अथवा शास्त्र की आज्ञा तोड़ी न गिनी जाय या नहीं ऐसी हिंसा रहीत क्या २ क्रिया बराबर हो सकती है ॥

७–पसूहिंसा के बदले उस जीव की नाक तथा कान छेद के वा काट के छोड़ देवे तो उस देवता वा देवी की पूजा हुई गिनी जाय या नहीं ॥

ऊपर लिखे प्रश्नों का यथार्थ आप लोग क्रिपा करके उत्तर देना इन प्रश्नों का जो जो उत्तर विद्वानों की तरफ से आवेगा सो इस काम के वास्ते यहां श्रीमान् महाराजा साहब की तरफ से कमेटी नियत की गई है सो उस कमेटी में विचार श्रीमान् के रूबरू किया जायगा—इंचार्ज्रीयाम ॥

उ० १–सिंहादयो निर्बलप्राणिघातकाः प्रजापीडकाः पश्वादयः प्राणिनः प्रजारक्षार्थं क्षत्रियैराजपुरुषैर्हन्तव्या इति वेदादिसर्वशिष्टानुमतशास्त्रेषु विहितम्। यच्च "मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः" इत्यादिना शिष्टानुमतमन्वादिप्रणीतधर्मशास्त्रेषु पशुवधो विहितइव लक्ष्यते स च नायं पशुवधविधिरपितु विध्याभास एव। नहीदृशानि वचांसि मन्वादिमहर्षिप्रणीतान्यपितु पश्चात्कैश्चित्स्वार्थिभिः प्रक्षिप्तानीत्यनुमीयते। तथाचोक्तं महाभारते मोक्षधर्मपर्वणि "अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता १ सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥२॥ सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥ ३ ॥ मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्। विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥४॥ तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा। तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥५॥ एतेन स्पष्टमेव निस्सरति यज्ञेष्वपि पशुवधो वेदादिसच्छास्त्रानुकूलो नास्तीति। देवीदेवतोद्देशेन च शिष्टसम्मत-

वेदादिशास्त्रेषु पशुवधः क्वापि कर्तव्यत्वेन विहितो नैव दृश्यते प्रत्युत निषेधस्तु निस्सरति तद्यथा-"यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्,,। इति ब्रुवता मनुना मद्यमांसादिकं देवान्नं नास्तीति स्पष्टमेव विज्ञाप्यते पुनर्देवतोद्देशेन क्रियमाणः पशुवधः शास्त्रविरुद्ध एवेति निश्चेयम्। नहि हविर्भुजो देवा मद्यमांसादिकं खादन्ति ये च खादन्ति न ते देवाः किन्तु मद्यमांसभुजो राक्षसादयो हविर्भुजो देवाः ॥

२-येषु मार्कण्डेयपुराणादिषु देवतोद्देशेन पशुवधः प्रतिपाद्यते न ते ग्रन्थाः शिष्टार्यसम्मताः। शिष्टार्याश्च वेदानेव सर्वथा प्रमाणीकुर्वन्ति न तु वेदविरुद्धान्। अतः सर्वशिष्टार्यत्याज्या हिंसाऽस्तीति मन्तव्यम् ॥

३ मनुस्मृत्यादिषु सर्वसम्मतशास्त्रेषु जीवहिंसानिषेधो बहुप्रकारेण दृश्यते हिंसा सर्वपातकानां मूलमहिंसा च सर्वधर्माणां प्रधानो धर्म इति मानवधर्मशास्त्रसिद्धान्तः। योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया। स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ अतो महिषबर्करादयहिंसकानां प्राणिनां हन्तारोऽपि न कदाचित्सुखमाप्स्यन्तीति स्पष्टमायाति ॥

४-विजयदशम्याद्युत्सवेषु राज्ञां पशुवधविधानं सच्छास्त्रेषु नास्ति॥

५-अनिष्टत्यागाद्विघ्नः कोऽपि न भवति। मङ्गलं तु सर्वदा भविष्यतीत्यनुमीयते।

६—यतः पापजनकः पशुवधः पुनस्तत्प्रतिनिधिकार्येप्यनिष्टमेवास्ति ॥

७-महिषबर्करादीनां कर्णनासाद्यङ्गच्छेदोऽपि नैव कर्तव्यः। न च तत्कर्म क्वापि विधीयते। दुःखजनकत्वात्तदपि कर्म कृपमप्यधर्मजनकमेवास्तीति। अतो मदनुमतौ महाराजधर्मपुराधीशेन विजयदशम्याद्युत्सवेषु महिषादीनां वधोऽवश्यं त्याज्यो महिषा-

दिभ्योऽप्यभयदानं दातव्यम् । धर्मपुरे महिषादिहिंसनेन येषां मनुष्याणां मांसादिना कथमपि किमपि भक्ष्यमुपलब्धं भवति तेभ्यस्तत्प्रतिदाने पक्वान्नादिकं भोज्यं विभागेन ततोऽप्यधिकं महाराजेन प्रदातव्यम् । एवङ्कृते महाराजो महापुण्यात्मा भविष्यति । एवं सत्येव धर्मपुरं नामान्वर्थं भविष्यतीति । यदि कश्चिच्छास्त्रार्थं कर्त्तुमिच्छेत्तदाहं तत्परोऽस्मि किं बहुना—

राज्ञोऽमात्यवर्गस्य चेष्टचिन्तको—भीमसेन शर्मा

भा०—निर्बल दीन प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाले प्रजापीडक सिंहादि दुष्ट प्राणियों को प्रजा की रक्षा के लिये क्षत्रिय राजपुरुष मारें ऐसा विधान वेदादि सत्यशास्त्रों में पाया जाता है और जो "मधुपर्क, यज्ञ, पितृ देव कर्म में ही पशु मारने चाहिये अन्यत्र नहीं" ऐसा विधान मनुस्मृति आदि श्रेष्ठ पुस्तकों में मिलता है सो ऐसे वचन मनु आदि के कहे नहीं हैं किन्तु पीछे किन्हीं स्वार्थियों ने मिलाये हैं । क्योंकि महाभारत शान्तिपर्व में स्पष्ट लिखा है कि "वेदादि शास्त्र से विरुद्ध चलने वाले मूर्ख नास्तिक तमोगुणी संशयात्मा दुष्ट लोगों ने यज्ञादि के नाम से हिंसा का वर्णन यज्ञादि में किया है ॥ क्योंकि धर्मपरायण मनु जी ने तो सब अच्छे कामों में अहिंसा ही कही है क्योंकि सब प्राणियों के लिये सब धर्मों से बड़ा धर्म मनु जी ने अहिंसा को ही माना है" इत्यादि कथन से स्पष्ट ही आशय निकलता है कि यज्ञादि में भी कदापि हिंसा न करनी चाहिये । और देवी देवतादि के उद्देश से भी वेदादि सत्शास्त्रों में पशुवध का विधान कहीं नहीं किया किन्तु निषेध तो अवश्य निकलता है जैसे "यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न मद्यमांसादि है" ऐसा कहते हुए मनु जी ने स्पष्ट ही अपना आशय जता दिया है कि मद्यमांसादि देवतों का अन्न नहीं अर्थात् मद्यमांसादि राक्षसादि का भक्ष्य और हविष्य देवान्न है इसी से देवतों का नाम हविर्भुज है । इस कारण मद्यमांसादि खाने वाले देवता हो ही नहीं सकते ॥

२—जिन मार्कण्डेयपुराणादि में देवता के नाम से पशुवध कहा है वे ग्रन्थ शिष्टार्यसम्मत और वेदानुकूल नहीं हैं किन्तु वेदविरुद्ध हैं । इस कारण धर्मात्मा होना चाहें वा अपना कल्याण चाहें वे हिंसा को सर्वथा सर्वदा छोड़ते जावें ॥

३-मनुस्मृति आदि सर्वसम्मत शास्त्रों में जीवहिंसा का निषेध विशेष कर किया गया है कि "जो अहिंसक बकराआदि प्राणियों को अपने सुख के लिये मारता है वह जीवित रहने और मरने पश्चात् कहीं भी सुखी नहीं रह सकता" इस लिये भैंसाआदि को भी न मारना चाहिये क्योंकि भैंसा भी अहिंसक है ॥

४-विजयदशमी आदि के उत्सवों में राजाओं को पशुवध करने की वेदानुकूल अच्छे शास्त्रों में कहीं भी आज्ञा नहीं है ॥

५-बुराई वा पापकर्म के छोड़ने से विघ्न कुछ नहीं होता किन्तु मङ्गल अवश्य होना सम्भव है ॥

६-जिस कारण पाप का हेतु पशुवध है इस लिये उस के बदले किये काम से भी कुछ पाप ही होगा ॥

७-भैंसा बकराआदि के कान नाक आदि भी नहीं काटने चाहिये । क्योंकि उस के लिये शास्त्र में कहीं आज्ञा भी नहीं है । दुःखजनक होने से वह भी अधर्मसम्बन्धी कर्म है ॥

इस लिये मेरी सम्मति है कि महाराज धर्मपुराधीश को विजयदशमी आदि के उत्सवों पर भी भैंसाआदि की हिंसा अवश्य छोड़ देनी चाहिये भैंसाआदि को भी अभयदान देना चाहिये । धर्मपुर में भैंसादि के मारने से जिस मनुष्यादि को कुछ मांसादि से उपकार पहुंचता हो उन को उसके बदले में पक्वान्नादि देना चाहिये । ऐसा करने से महाराज को बड़ा पुण्य होगा । और ऐसा होने पर ही धर्मपुर नाम सार्थक हो जायगा । यदि इस विषय में कोई पण्डित शास्त्रार्थ करना चाहे तो मैं तैयार हूं । धर्मपुराधीश और अमात्य वर्ग का हितचिन्तक—

भीमसेन शर्म्मा

मांसभोजन विचार द्वितीय भाग का खण्डन

गत अं० ५ । ६ पृ० ६४ से आगे ॥

सोचता है । मैं पूछता हूं कि आप भ्रष्ट हुए तो हुए औरों को भी न छोड़ेगे ? । अपने पूज्य वा गुरु लोगों को भी मांसाहारी बनाना चाहिये यह इन का उद्योग है सो व्यर्थ है क्योंकि मांसभक्षण को बुरा समझने वाले तुम्हारा साथ ही छोड़ देंगे उन को तुम मित्र बन्धु वा गुरु बना ही नहीं सकते और मांसभक्षण को अच्छा समझने वाले स्वयमेव खा सकते हैं उन को तुम क्या खिलाओगे॥

मां०-शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ २५ ॥

अनायास प्राप्त हुए शय्या आदि का प्रत्याख्यान (नाहीं) न करे किन्तु ग्रहण करले ॥

नो०-सृष्टि नियमानुसार उत्तम पदार्थों का त्याग मूर्खता है सो मांस के दुग्धादिवत् अत्युत्तम पदार्थ होने के कारण उसके त्याग का सर्वथा निषेध है ॥

उ०-यद्यपि इस श्लोक के अक्षरार्थ में उपदेशक जी ने कुछ अपना नोन मिर्च नहीं मिलाया तथापि भावार्थ में मांस को दुग्धादि के तुल्य उत्तम कहे बिना भी कल न पड़ी अर्थात् जो पदार्थ वास्तव में उत्तम है उस को कोई उत्तम ठहराने का उपाय न करे तो भी वह कभी निकृष्ट नहीं होता प्रायः निकृष्ट को ही उत्तम ठहराने का उद्योग किया जाता है । अब यहां शोचना चाहिये कि इस पूर्वोक्त मनु जी के श्लोक का क्या अर्थ वा अभिप्राय है । मानवधर्ममीमांसाभूमिका में इस का विचार लिख दिया है कि (शय्यां०) यह २५० वां श्लोक प्रक्षिप्त है । वहां का आशय यह है कि (एधोदकं० २४७) श्लोक से यह प्रकरण चला है कि विना मांगे अनायास देने वाले निषिद्ध वा नीच से भी इंधन जल आदि वस्तु ले लेवे किन्तु नकार न करे । यह विचार दो श्लोकों में सामान्य विशेष कर समाप्त हो गया । पश्चात् २४९ में (नाश्नन्ति०) श्लोक से कहा अर्थवाद ऊटपटांग है क्योंकि जिस के स्वीकार करने का विधान कर दिया उस दशा में निषेध करना अर्थापत्ति से ही अच्छा नहीं ठहर सकता । परन्तु ऐसा बुरा भी नहीं है कि न लेने वाला पापी हो जावे क्योंकि " प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते " इस कथन से मनु जी ने ही सिद्धान्त कर दिया है कि किसी वस्तु के ग्रहण करने की अपेक्षा उस का त्याग कर देना कई अंश में उत्तम है । परन्तु जो स्वयं याचना करके नीचादि से भी सब वस्तु लेता है उस की अपेक्षा विना मांगे अनायास प्राप्त हुए इंधनादि का ग्रहण कर लेने वाला उत्तम है यह विधिवाक्य का आशय ठीक २ शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल घट जाता है इसलिये निन्दारूप अर्थवाद अयुक्त है । पश्चात् (शय्यां०) श्लोक की कुछ आवश्यकता नहीं । जो वस्तु ग्राह्य हैं उन का विधान सामान्य भिक्षा के विधान में आ ही जायगा । और मनु के सिद्धान्त से विरुद्ध है क्योंकि ११ वें अध्याय में लिखा है कि "सद्

ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥" जो यक्ष राक्षस पिशाचादि का भक्ष्य म-द्यमांसादि है वह यज्ञ शेष के भोजी ब्राह्मण को कदापि न खाना चाहिये । और मांस में हिंसारूप बड़ा अधर्म भी शास्त्र सम्मत है फिर उस का ग्रहण करना वही शास्त्र कैसे कहेगा ? । इस कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है यह तो मुख्य सिद्धान्त हुआ । अब एक बात और भी विचारणीय है कि यदि श्लोक प्रक्षिप्त न ठहरता और किसी प्रकार कोई हठ करे तो भी उपदेशक जी का कोई प्रयोजन इस से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उपदेशक जी का साध्य पक्ष मांसभक्षण मनु के प्रमाण से सिद्ध करना है न कि मांस का ग्रहण, अर्थात् भक्षण और ग्रहण में बड़ा अन्तर है यदि ग्रहण भक्षण का एक ही अर्थ हो तो खट्वा घर वा कुश आदि का भी खाना आजावे सो ठीक नहीं मांस के ग्रहण कर लेने की आज्ञा आजाने से ब्राह्मण को वा द्विजाति मात्र को मांस खाना चाहिये यह आज्ञा क-दापि नहीं आ सकती क्योंकि जैसे अन्य युक्ति वा प्रमाणों से कुशादि का भक्ष्य न होना सिद्ध हो जाने पर कुशादि का ग्रहण भक्षण के लिये नहीं मान सकते वैसे ही अन्य युक्ति प्रमाणों से मांस मनुष्य का भक्ष्य सिद्ध न होने पर उस का ग्रहण भी भक्षण के लिये नहीं यही मानना चाहिये । तथापि कोई कहे कि फिर मांस का ग्रहण किस लिये किया जाय तो इस का उत्तर यह है कि मांसाहारी कुत्ते वा अन्य असुर प्रकृति मनुष्यादि को ग्रहण करके दे देवे कि जिस का भक्ष्य मांस हो । इत्यादि प्रकार इस मनु के श्लोक से इन उपदेशक जी का पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता केवल अज्ञान वश हो कर कागज काला किया है ॥

मां०—क्रव्यादाञ्छकुनीन्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११। अ०५

अ०—कच्चा मांसखाने वालों ग्रामनिवासी पक्षियों जिन का निर्देश नहीं किया गया ऐसे एकशफों (एक खुरवाले गधे आदिक) को वर्ज देवे ॥ इसी प्रकार के चार श्लोक और लिख कर अन्त में उपदेशक जी का नोट देखिये—

नोट—अब विचारना चाहिये कि यदि मांस का सर्वथा निषेध होता तो फिर इन विशेष पशुपक्षियों का निषेध क्यों किया ? और यदि यह शंका करो कि मांस मात्र समान है फिर निषेध क्यों महाशय ! उन मांसों से रोगादि का पैदा हो जाना सम्भव है और वैद्यक के नियमानुसार उन का निषेध है और

स्वामी दयानन्द जी तथा धन्वन्तरि आदि ऋषियों की सम्मति भी इसी प्रकार की है। देखो सुश्रुत और प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश ॥

उ०—इस का निर्णय करने से पूर्व इस प्रकरण के अन्य भी श्लोक लिखते हैं ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

चिड़िया, जलकौआ, हंस चकवा, ग्राम नगर का मुरगा, सारस—मछी गुट्टी का जल के पास रहने वाला जन्तु, पपीहा, तोता और मैना भी अभक्ष्य हैं ॥१२॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

चोंच से तोड़ २ जीवों को खाने वालों, उड़ते २ पंजों से जीवों को पकड़ ले जाने वाले चील्ह आदि, कोयष्टि नामक पक्षी, नखों से खोद २ जीवों को खाने वालों, जल में डूब कर मछली आदि को पकड़ने वालों तथा कसाईखाने के मांस और सूखे मांस को न खावे ॥ १३ ॥

वकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

बगला, बलक, काकोल, खञ्जन, मछली खाने वालों, तथा विष्ठा खाने वाले सूकरों और सम्पूर्ण मछलियों को न खावे ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जो जिस के मांस को खाता वह तन्मांसा कहाता [जैसे अश्वाद, सूकराद आदि] पर मछली खाने वाला सब का मांस खाने वाला है क्योंकि मछली सब कुछ मनुष्य का सड़ा मांस थूक आदि खाजाती है ॥ १५ ॥

पाठीरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

पाठीन, रोहू, राजीव, सिंह के से मुख वाली और त्वचा वाली मछलियां हीन श्राद्ध में उपयुक्त की जाने के कारण भक्ष्य हैं ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

सामान्य कर भक्ष्यों में गिनाये भी एकाकी विचरने वाले सर्पादि, अज्ञात मृगों और पक्षियों तथा सब पांच नख वाले वानरादि को न खावे ॥ १७ ॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।

भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

सेही, कांटेसे रोम वाले, गोह, गेंडा, कछुआ और खरहा ये पांच नख वालों में से भक्ष्य हैं तथा ऊंट को छोड़ के एक ओर दांतों वाले अन्य पशु भी भक्ष्य हैं ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ॥

पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥ १९ ॥

कठफूल, विष्ठाभक्षी सूकर, लहसुन, ग्राम का मुरगा, प्याज, गाजर इन सब को समझपूर्वक खाने से द्विज पतित हो जाता है ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।

यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

इन पूर्वोक्त कठफूल आदि छहों को भूल से खा लेवे तो द्विज पुरुष कृच्छ्र सान्तपन वा यतिचान्द्रायण व्रत करे। तथा छः से भिन्न अभक्ष्य वस्तु भूल से खा लेवे तो एक दिन केवल उपवास करलेवे ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

भूल से अभक्ष्य भक्षण किये की शुद्धि के लिये तथा जानकर अभक्ष्य भक्षण की विशेष शुद्धि के लिये वर्ष भर में द्विज को कम से कम एक कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः

भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को अच्छे २ मृग और पक्षी मारने चाहिये क्योंकि स्त्री पुत्रादि के पालनार्थ अगस्त्य ऋषि ने भी पूर्वकाल में मृग तथा पक्षी मारे थे ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

प्राचीन काल में हुए ऋषियों के यज्ञों तथा ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञों में भक्षण योग्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुए हैं इस से भी यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को अच्छे २ मृग पक्षी मारने चाहिये ॥ २३ ॥

ये ११–२३ तक श्लोक यथाक्रम यहां इस लिये लिख दिये हैं कि जिस से इन तेरहों श्लोकों पर जो कुछ हम अपनी सम्मति लिखें उस को पाठक लोग सुगमता से समझ सकें । शोचने का स्थान है कि इस पांचवें अध्याय के दशवें श्लोक में वासे, धरे रहने से खटाये पदार्थों में से दही और दही से बने पदार्थों को भक्ष्य कहा है जैसे पांचवें अध्याय का दशवां श्लोक यह है--

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम् ।
यानि चैवाभिपूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

अर्थ–वासे धरे खटाये हुए वस्तुओं में दही, दही से बने कढ़ी आदि तथा पुष्प मूल और फलों से यन्त्रद्वारा खींचे हुए आसव [अरक] धरे हुए वासे भी भक्ष्य हैं ॥ १० ॥ और चौबीशवें श्लोक को देखिये--

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

जो कुछ पूड़ी आदि भक्ष्य वा हलुवा आदि भोज्य अधिक चिकनाई से युक्त होने के कारण धरे रहने पर भी बिगड़ा निन्दित न हुआ हो तथा होम से बचा यज्ञ का शेष धरा हुआ भी पदार्थ भक्ष्य है । तात्पर्य यह है कि एक दो दिन धरे रहने से कौन २ वस्तु अधिक हानिकारक वा स्वाद रहित होने से अभक्ष्य हो जाते और कौन २ भक्ष्य बने रहते हैं इसी एक विषय का वर्णन दशवें श्लोक से २४ में कहा स्पष्ट मिलता है । ११–२३ तक विना प्रसंग ही दूसरे विषय का वर्णन चलादिया यदि ये बीच के श्लोक छोड़ दिये जावें तो १०

के साथ २४ का ठीक २ मेल मिल जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि ११–२३ तक श्लोक पांचवें अध्याय में पीछे मिलाये गये हैं और जब इन श्लोकों का पीछे मिलाना सिद्ध हो गया तो इन का और कुछ उत्तर देना आवश्यक नहीं क्योंकि वे श्लोक ही मानवधर्मशास्त्र के नहीं हैं जैसे हमने इन को प्रक्षिप्त ठहराया वैसे हमारे प्रतिपक्षी का काम ठीक ठहराना है॥

और भी विचारणीय है कि पन्द्रहवें श्लोक में मछली खाने वाले की निन्दा की गयी कि" मुर्दा मल मूत्रादि सब कुछ मछली खाती है इस से मछली को खाने वाला सर्वभक्षी है" फिर सोलहवें श्लोक में पाठीन आदि कई मछलियों को कि जिन को मछली खाने वाले लोग अच्छी मानते हैं यज्ञ के बहाने से भक्ष्य ठहराया पर शोचने का स्थान है कि पाठीन रोहू आदि भी सब कुछ खाती ही हैं फिर यज्ञ का बहाना रचने पर भी सर्वभक्षी होने का दोष कहां निवृत्त हुआ? अर्थात् श्लोक मिलाने वाले ने मछली खाने वालों को प्रिय मछलियों के भक्षण का दोष निवृत्त करने का उद्योग तो अवश्य किया पर हो न सका। तथा २२ बाईसवें श्लोक में यज्ञ को साथ लेकर अगस्त्य का इतिहास लिखा कि अगस्त्य ऋषि ने भी भृत्यों की रक्षा के लिये मृग पक्षियों को मारा था। अब शोचिये तो सही कि अगस्त्य ने तो स्त्री पुत्रादि के पालनार्थ मारा और ब्राह्मण लोग यज्ञ के लिये मारें यह दृष्टान्त ठीक कहां लगा? और मुख्य विचारणीय यह है कि यदि यह सनातन वेदोक्त प्रथा होती कि यज्ञ में पशुवध किया जाय तो इस को पुष्ट करने के लिये ऐसे निर्बल उद्योग क्यों रचे जाते। सत्य यथार्थ को सिद्ध करने के लिये अधिक थोपथाप करने की कुछ आवश्यकता नहीं होती। २२। २३। दोनों श्लोक से डरते २ समाधान किया है। वास्तव में शोचा जाय तो पहिले कभी किसी सत्पुरुष ने किया है वह सब अच्छा ही हो यह कोई नियम नहीं है। राजा युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी ने जानकर एक वार मिथ्या भाषण किया तो क्या मिथ्या भाषण कर्त्तव्य धर्म हो गया? कदापि नहीं इत्यादि कारणों से ११–२३ तक पांचवें अध्याय के श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं। और जब प्रक्षिप्त होना इन श्लोकों का सिद्ध होगया तो मांसभक्षण वालों को फिर और क्या उत्तर देवें। मांसोपदेशक का प्रारब्ध ही ऐसा है कि उन को प्रमाण मिले वे भी प्रक्षिप्त कूरा कर्कट ही निकले॥

अब एक बात यह है कि ११–२३ तक श्लोको में से एक १५ वां तथा १९ । और २० । २१ श्लोक मांसोपदेशक ने छिपाये हैं अपने द्वितीय भाग में नहीं लिखे कारण यह प्रतीत होता है कि उन श्लोकों में मछली खाने वाले को सर्वभक्षी बुरा कहा है और १९–२१ तक में ग्राम के सुअर मुरगादि के खाने में पतित होना और प्रायश्चित दिखाया है सो मांस पार्टी के लोगों का उन श्लोकों से खण्डन होता था । मांसोपदेशक जीने शोचा होगा कि हमारे दल में सब प्रकार के मांसभक्षी हैं यदि मत्स्यभक्षण में दोष दिखाते और मुर्गी अण्डा खाने वालों को प्रायश्चित्तीय अपराधी लिखते तो मांसोपदेशक जी दोनों दीन से जाते घर के होते न घाट के ॥

मा०—एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥२६॥

अ०–यह सम्पूर्ण द्विजातियों का भक्ष्य और अभक्ष्य मैंने कहा इस से आगे मांस के भक्षण और त्याग में विधि कहूंगा ॥

उत्तर—लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।

यह बहुत सत्य है कि अन्धे को दर्पण रूप नहीं दिखा सकता इसी प्रकार विचारशून्य स्वार्थी पक्षपाती को शास्त्र से कुछ लाभ नहीं हो सकता । शोचने का स्थल है कि उपदेशक जी ! अभी तो आप मांसभक्षण को पांचवें अध्याय के ११ वें श्लोक से ही सिद्ध करते आते हो फिर अब कहने लगे कि इस से आगे मांसभक्षण के विधि निषेध कहूंगा । क्या यह लेख प्रमत्तवाक्य के तुल्य नहीं है ? कि जिस बात को पहिले ही से कह रहे हो उस की समाप्ति में कहने लगो कि अब इसको कहूंगा । क्या अपने के ही समान मनु के वचन को भी अपनी अज्ञानता से प्रमत्तवाक्य ठहराना चाहते हो ? सो यह आप का प्रयत्न सूर्य पर धूलि फेंकने के समान है मनु महर्षि वेदपारङ्गत महात्मा थे उन के कथन में ऐसा बड़ा दोष कदापि नहीं हो सकता । तुम्हारे मत से यदि ये ११–२३ श्लोक प्रक्षिप्त नहीं हैं और इस से पूर्व मांसभक्षणविषयक विधि निषेध दोनों स्पष्ट कह चुके तो यह कहना कभी नहीं बन सकता कि अब आगे मांस भक्षण के विधि निषेध कहेंगे तब क्या अर्थ है सो सुनिये !

भक्षणस्य वर्जनं भक्षणवर्जनं तस्मिन् भक्षणवर्जने।

अर्थात् भक्षण का वर्जन के साथ षष्ठी तत्पुरुषसमास करना चाहिये । द्वन्द्व समास करने से सप्तमी का एकवचन मानने में भी कुछ कल्पना उपदेशक जी को करनी पड़ेगी क्योंकि द्वन्द्व समास में नियमानुसार द्विवचन विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये । तथा पूर्वोक्त दोष भी ऐसा अर्थ होने पर हट जायगा । क्योंकि इसी प्रतिज्ञा के अनुसार अगला प्रकरण भी ठीक लग जाय गा केवल प्रक्षिप्त श्लोक छोड़ कर प्रकरण मानना चाहिये । तब यह अर्थ स्पष्ट हो गया कि यहां तक तो अन्य लशुनादि के भक्ष्याभक्ष्य विषय में कहा पर अब आगे केवल मांसभक्षण के त्याग में विधि कहेंगे । अतएव ४३ श्लोक से बराबर मांस का निषेध और बीच के सब श्लोकों का प्रक्षिप्त होना ठीक घट जाता है । जिन लोगों को तमोगुण के अन्धकार वा रजोगुण के रज से बुद्धि आच्छादित होने के कारण शास्त्र के सिद्धान्तानुसार अर्थ करने वा समझने की शक्ति ही नहीं वे हमारे अर्थ को अनर्थ समझें तो हम को इस का किंचित् भी शोक नहीं है । आगे २७ । तथा ३० से ४२ तक इसी अध्याय ५ के श्लोक जिन को मैं प्रक्षिप्त ठहरा चुका हूं जो मांसाशी उपदेशक के अनुकूल हैं उन में से कई लिखे और कई बीच २ के छोड़ दिये हैं । उक्त सब प्रक्षिप्त श्लोकों में यज्ञ के बहाने से मांसखाना किसी मांसाहारी ने मनु के नाम से वर्णन किया है सो यज्ञ में मांस होमना वा खाना महानिन्दित काम है और शास्त्र के सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है यह हम पहिले से ही सिद्ध करते आते हैं । इस लिये विशेष लिखना व्यर्थ है । अब इन उपदेशक जी की एक चोरी पकड़ी है सो भी पाठकों को जता देनी चाहिये । इसी पांचवें अध्याय का ३१ वां श्लोक उपदेशक जी ने छोड़ दिया—!!!

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ॥
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञ के लिये मांसखाना अर्थात् यज्ञ के लिये पशुहिंसा करे यज्ञ किये पश्चात् बचे मांस को खावे यह दैव विधि है और केवल अपनी पुष्टि के लिये मार कर खाना राक्षसों की रीति है । यह इस का अक्षरार्थ है । इस श्लोक को उपदेशक जी ने इस लिये चुराया था कि वर्त्तमान समय में हमारे पक्ष के मांसाहारी यज्ञ के लिये न पशुहिंसा करते और न यज्ञ करते कराते हैं तब उनका मांसभक्षण राक्षसी

रीति का ठहरेगा तो हम पर अप्रसन्न होंगे और स्वार्थसाधन में विघ्न होने का भय होगा । इस लिये यह सीधा उपाय शोचा कि इस श्लोक को ही चुरा लें "मौनं सर्वार्थसाधकम्" । यद्यपि यज्ञ के साथ में भी मांसभक्षण को दैवीसम्प्रदाय हम नहीं मान सकते तथापि उपदेशक की माया दिखाने के लिये हम ने यह श्लोक लिख दिया । तथा उपदेशक जी ने अपने पुस्तक में " न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" यह श्लोक भी जो मांसाहारियों के लिये शिरोमणि प्रमाण है छोड़ दिया इस को छिपाने के दो कारण मालूम होते हैं एक तो इस में मद्य पीने और व्यभिचार में भी दोष नहीं उस का भी मार्ग खोल दिया है जिन मद्य मैथुन के उपदेश करने में उपदेशक जी को अभी कुछ दिन लज्जा है । मांसभक्षण के झगड़े से फैसल होने पर उपदेशक जी उन दोनो विषयां पर भी हाथ फेरेंगे । और दूसरा कारण यह है कि "निवृत्तिस्तु महाफला" कहने से सिद्ध हुआ कि मांसादि का सेवन करने की अपेक्षा छोड़ देना अत्युत्तम है तो मांसाहारियों की अपेक्षा फलाहारी अति उत्तम हुए यह उन्हीं को मानना वा लिखना पड़ता । मांसाचार्य जी ने शोचा होगा कि हमारे पक्ष के लोग नीच बनना स्वीकार नहीं करेंगे । इस लिये ऐसे श्लोक का प्रमाण देना उचित नहीं । इस कारण उक्त प्रमाण को छिपा रक्खा । आगे १३१ श्लोक लिखा है उस को भी हम प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं इस कारण उस पर भी लिखना व्यर्थ है ।

मां० -वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥१३॥अ० ६

आ०-वानप्रस्थी शहद मांस और सब प्रकार के कवक भूस्तृण-शिग्रुक और श्लेष्मातक इन सब पदार्थों को वर्जदे ॥

नोट—यदि आम पुरुषों के लिये विधान नहीं था तो फिर वानप्रस्थी के लिये निषेध क्यों किया ? अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि बाकी सर्वसाधारण के लिये विधान है ॥

उ०-यदि मांसोपदेशक जी को सामान्य विशेष रीति से धर्मशास्त्रादि का आशय समझने की योग्यता होती तो ऐसे अन्धकार में क्यों पड़ते ? । जैसे सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के विधिवाक्य होते हैं । किसी कर्त्तव्य को सर्वसाधारण के लिये विधान करके किसी निज को उस की अवश्य कर्त्तव्यता

दिखाने के लिये विशेष विधान किया जाता है। इसी प्रकार सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के निषेध भी शास्त्रसिद्धान्त के अनुकूल हैं "न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्" इत्यादि वचनों से मांसभक्षण का सामान्य निषेध है। और (वर्जयेन्मधु०) इस से संन्यासी के वा वानप्रस्थ के लिये विशेष निषेध इस लिये किया गया कि वानप्रस्थ वा संन्यास तो मांसभक्षणादि दुराचरण से सर्वथा ही बिगड़ जाता है। हम मानवधर्मशास्त्र से ही सामान्य विशेष अनेक विधि निषेध दिखासकते हैं। जैसे—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ ८॥ अ० ६

अर्थः—वानप्रस्थ पुरुष स्वाध्याय नाम सन्ध्या कर्म की रीति से वेदमन्त्रों का जप वा पाठ नित्य नियम से अवश्य किया करे। स्वाध्याय को मनु जी ने पञ्चमहायज्ञों में पहिला यज्ञ माना है। वानप्रस्थ मन को वश में रक्खे सब से मित्रता और चित्त की चञ्चलता छोड़ कर सावधान रहे। दानशील हो किसी से कुछ लेवे नहीं और सब प्राणियों पर कृपादृष्टि रक्खे। क्या ये सब काम गृहस्थादि को निषिद्ध हैं? ऐसा उपदेशक जी सिद्ध कर सकेंगे? कदापि नहीं किन्तु उन को भी मानने पड़ेगा कि यह वानप्रस्थ के लिये विशेष विधान है प्रयोजन यह है कि कोई रुकावटें किसी २ समय में ऐसी हो सकती हैं जब गृहस्थ को धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य काम छोड़ना पड़े वा किसी कारण न कर सके, अथवा कोई अधर्मसम्बन्धी काम जिस का शास्त्र में निषेध किया है किसी कारण करना पड़जावे यह सम्भव है इस लिये हम कहते हैं कि गृहस्थ पुरुष कदाचित् कोई कभी सर्वथा निष्पाप हो सके। परन्तु वानप्रस्थ आश्रम इसी लिये है कि उस को संसार की कोई रुकावट न होनी चाहिये त्याज्य के छोड़ने और कर्त्तव्य के करने में उस को पूरा यत्नवान् होना चाहिये। इसीलिये विशेष विधान करके शास्त्रकारों ने उस पर भार डाला है कि उस के लिये अब कोई बहाना शेष नहीं है। जैसे गृहस्थ को भी पञ्चमहायज्ञादि वा सन्ध्यादि कर्त्तव्य हैं परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को उस से भी अधिक ध्यान के साथ अवश्य कर्त्तव्य हैं इसी प्रकार हिंसा वा मांसभक्षण का त्याग पूर्वलिखितानुसार गृहस्थ को भी कर्त्तव्य है परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को अवश्यमेव त्याज्य है। इस अभिप्राय से मधुमांसादि

का विशेष निषेध वानप्रस्थी के लिये किया गया है । और उपदेशक जी ऐसा न मानें तो उन को अपने मतानुसार समाधान करना चाहिये कि—

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ अ० ६

अर्थात् ऐसे उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर किसी से वैर न करे । इस से आया कि जब सन्यासी किसी से वैर न करे तो क्या गृहस्थादि के लिये आज्ञा होनी चाहिये कि वे सबसे वैर बांधा करें ?। इसके समाधान का भार मांसाचार्य पर है । जैसे वानप्रस्थों को मांसादि का निषेध आने से अर्थापत्ति द्वारा गृहस्थादि के लिये आप मांसभक्षण की आज्ञा ठहराना चाहते हैं वैसे ही संन्यासी के लिये वैर करने का निषेध होने से गृहस्थादि को वैर करने की आज्ञा आनी चाहिये ! । आशा है कि पाठक लोग इस का समाधान मांसोपदेशक जी से पूछेंगे और मुझ को उत्तर दिलावेंगे ॥

मां०—आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ अ० ७

अ०—राजा मधु–मांस–घी–गन्ध, ओषधि, रस, पुष्प, मूल और फल इन सब के लाभ का छठा भाग लेवे ॥

नोट—इससे मांस प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं होता किन्तु नीच लोगों में पहिले व्योपार भी था ॥

उ०—यह श्लोक उपदेशक जी ने केवल पुस्तक पूरा करने के लिये ही लिखा क्योंकि उन को भी यह तो ज्ञात है कि अर्थापत्ति आदि से भी इस से कोई मांसभक्षण का विधान नहीं निकाल सकता। अब रहा यह कि पहिले भी मांस विकता था इस से हमारी कुछ हानि नहीं । हमारा पक्ष है कि मांसखाना धर्मविरुद्ध अधर्म का काम है इस के साथ मांस विकने का सम्बन्ध ही क्या हुआ ?। यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कोई कहे चोरी बुरा काम है इस पर कोई कहे कि चोरी तो पहिले भी होती थी देखो मनुस्मृति में चोरी का दण्ड लिखा है शोचिये तो सही यह मांसभक्षण का समाधान क्या हुआ ? । यह तो हम भी मानते हैं कि बुराई भलाई सब अनादि काल से हैं इसी कारण देवासुरसङ्ग्राम सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक चला करता है । हम तो यहां तक स्वीकार कर चुके हैं कि कुछ समय ऐसा आगया था जब लोगों ने मनुष्यों तक को मार २

यज्ञ में चढ़ाया और यज्ञ का शेष भाग मनुष्य का मांस भी खाया हो यह सम्भव है । बस यहां से आगे और अधिक मांसभक्षण की वृद्धि होना असम्भव है । अब रही यह बात कि मांस बेंचने को मनु जी बुरा समझते तो उस पर कर क्यों बांधते किन्तु मांस बेंचने वाले पर कुछ दण्ड लिखना चाहिये था । इस का उत्तर यह है कि—जब जङ्गल वा वन इस देश में बहुत थे जिन में हिंसक जीव इतने बढ़ते थे कि ग्राम नगरादि में भी मनुष्यों तक को खा जाते इस कारण राजा लोगों को उन के मरवाने की आज्ञा देना आवश्यक था और बधिक लोग वनों से प्राणियों को मार २ के कहीं २ मांसाहारियों को उन का मांस बेंच देते थे तब उस के व्यापार पर कर लगाया गया। तथा एक बात यह भी हो सकती है कि राजधर्म का कानून किसी खास देश काल में वर्त्ता जाय ऐसा छोटा विचार मन्वादि का नहीं था इसी लिये उन्हों ने किसी खास राजा को वर्त्तने के लिये नहीं लिखा अर्थात् सब देश सब कालों में होने वाले सब प्रकार के राजाओं के लिये राजधर्म कानून है । इस दशा में यह अभिप्राय हो सकता है कि जिस देश में जिस समय मांस बिकना स्वतः सिद्ध हो जिस को राजा भी न बन्द कर सके तो वहां मांसविक्रय पर भी राजा को कर लेना चाहिये । और सर्वोपरि सोचना यह है कि राजधर्म के साथ धर्म का ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है जो राजा धर्म से विरुद्ध कुछ न करे अर्थात् राजनियम पर चलने वाले को कुछ २ किसी २ अवसर पर धर्मविरुद्ध काम करने भी पड़ते हैं कि जिन के किये बिना धर्म में भी बाधा पड़ना सम्भव हो सकता है और ऐसे कोई २ काम मनुस्मृति में भी लिखे हैं परन्तु किसी कारण किसी समय राजा को कर्त्तव्य लिख देने से वे धर्मसम्बन्धी काम नहीं हो सकते किन्तु अधर्म ही कहावेंगे। और हमारा पक्ष भी यही है कि मांसभक्षण धर्मविरुद्ध अधर्मसम्बन्धी काम है किसी को कभी करने पड़े यह और बात है । सो इस प्रमाण से मांसविक्रय को वा मांसभक्षण को न मनु जी ने धर्म ठहराया और न कोई धर्म ठहरा सकता है ॥

(मां० - वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा) २८५अ०८

सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग होता है वैसा २ उन की हिंसा करने में भी राजा दण्ड देवे यह शास्त्र का निश्चय है ॥

नोट—यहां पर यह विचारना आवश्यक है या तो स्वामी श्री दयानन्द जी तथा अन्य सब प्राचीन ऋषियों के मतानुसार वनस्पतियों में जीवात्मा माना जावे तो भी शाकाहारियों को हमारी अपेक्षा बहुत पापी बनना पड़ता है क्यों- कि यहां तो एक बकरा मारने से बहुत पुरुषों का काम चल सकता है और उन को तो प्रतिव्यक्ति के लिये कितने२ फलमूलादि नष्ट करने पड़ते हैं। और यदि वह लोग वृक्ष वनस्पत्यादिकों में जीव न मानें (जैसा कि ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी पं० भक्तिराम पं० लेखराम आदि समाज के उपदेशक तथा कितने एक समाज के सभासद् मास्टर आत्माराम पं० धर्मचन्द तथा लाला केवलकृष्ण आदि स्वामी जी के मन्तव्यविरुद्ध वनस्पति में जीव का होना नहीं मानते हैं) तो उन का यह कथन कि प्राणवियोग व्यापार(जीवात्मा का शरीर से पृथक् करने) का नाम ही हिंसा है सर्वथा असंगत हो जायगा। किन्तु हमारा कथन कि दुःख देने और नुकसान पहुंचाने का नाम भी हिंसा है तो फिर उन का मतलब सिद्ध होना कठिन है। और हमारा सिद्धान्त तो मन्वादि सब ऋषियों के अनुकूल है कि थोड़े लाभ के अर्थ बहुत हानि (नु- कसान) पाप है और लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म है क्योंकि जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानि कारक है और न सर्वथा ही लाभ कारी है। अतः यही ध- र्माधर्म का स्वरूप है या यह कहो कि जिन मन्वादिक ऋषियों ने धर्म और अ- धर्म कहा है वोही धर्माधर्म है और लाभ और हानि के न्यूनाधिक होने से ध- र्माधर्म में न्यूनाधिकता आती है जैसा कि इस श्लोक में कहा है॥

३०-हमारा सब मन्तव्य वा सिद्धान्त मनु आदि महर्षियों तथा परिव्राज- काचार्य श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी के अनुकूल है उन से विरुद्ध एक पगभी चलना हम अच्छा नहीं समझते तब स्थावर में जीवात्मा की स्थिति मानना वा सिद्ध करना हमारा कर्त्तव्य होगया। हम लोग शाकाहारी नहीं किन्तु फलाहारी हैं क्योंकि फल ही वास्तव में उन २ वस्तुओं का सार है। गेहूं आदिक फलही हैं और पक्क फल के आहार में लेशमात्र भी दोष नहीं है। इसी कारण तप- स्वियों के लिये मनु जी ने स्वयं शीर्ण फल खाने की आज्ञा दी है। और शाकादि हरित वस्तु के खाने में यदि कुछ लेशमात्र दोष भी है तो वह ऐसा ही है कि जैसे एक दाने की चोरी वा एक दाने का दान पाप पुण्य में गणना के योग्य नहीं होता। हम इस को अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि एक हांश का मारना

और एक गौ का मारना दोनों हत्या बराबर नहीं हो सकतीं युक्ति वा प्रमाण से कोई इन को बराबर नहीं ठहरा सकता। इसी के अनुसार मनुस्मृति में क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा में प्राणायामादि अति सूक्ष्म प्रायश्चित्त रक्खा है फिर वनस्पत्यादि में तो क्षुद्र जन्तुओं की अपेक्षा भी सहस्रों गुणा अपराध कम है। वन के काटने आदि में दोष नहीं यह कह सकते हैं। पाठक महाशयो! शोचिये स्थावर में जीव मानने के पक्ष में मांसाचार्य जी ने शाकाहारियों को विशेषपापी ठहराने के लिये स्वयं पापी बनना स्वीकार कर लिया अब तो इस से मांसोपदेशक जी ने सिद्ध कर दिया कि मांसभक्षण पाप है और हम मांसभक्षी पापी हैं। शोचने का स्थान है कि मांसभक्षणको अच्छा ठहरानेके लिये तो आपने पुस्तक रचा और उसी पुस्तक में बुरा लिखने लगे। यह वैसाही कथन है जैसे किसीको कोई चोर ठहरावे तो उसको वह उत्तर दे कि तुम भी तो चोर हो। अच्छा भाई! हम चोर सही पर तुम ने इस से अपना बचाव क्या किया? अर्थात् स्वयं अपने को चोर तो मान लिया न?। उचित तो यह था कि तुम अपने को निर्दोष सिद्ध करो सो तो कुछ नहीं हुआ। और हमारा समाधान भी हो गया कि प्रथम तो हम शाकाहारी नहीं हैं कि घास फूस ही उबालकर खाते हों किन्तु हम फलाहारी हैं और यदि किसी अंश में कुछ शाकाहारी भी दोषी हों तो मांसभक्षियों की अपेक्षा क्रोडवें अंश में भी दोषी नहीं यह हम अच्छे प्रकार युक्ति प्रमाण से सिद्ध कर चुके हैं सब अब मांसाहारी पापी ठहर गये। वास्तव में जैसा उपदेशक जीने हम पर ढाल कर लिखा है कि स्थावर में जीव मानो तो तुम्हारे पक्ष में यह दोष है और न मानो तो अमुक दोष है अर्थात् स्थावर में जीव मानने न मानने में हमारा कोई सिद्धान्त नहीं हमारा सिद्धान्त खाली स्वार्थ साधन है हम जब जैसा मानने से अपने स्वार्थ में बाधा न देखेंगे वैसा मान लिया करेंगे यह सिद्धान्त उन का भीतरी है। अस्तु ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी आदि स्थावर में जीव मानते हैं वा नहीं इस विषय को हम ठीकर नहीं जानते इस लिये कुछ लिखना व्यर्थ है परन्तु हम सब शास्त्रों के अनुकूल स्थावर में जीव मानते हैं।

अब रहा यह कि हिंसा किस को कहते हैं? इस पर भी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। एक अन्न का दाना किसी को देना दान क्यों नहीं माना जाता यह सब लोग जान सकते हैं। दान पुण्य हिंसा अहिंसा आदि का अर्थ लोक में अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि किसी प्रकार पीड़ा पहुंचाने का नामहिंसा

हो सकता है परन्तु गौण और मुख्य में से मुख्य का ग्रहण होता है गौण का नहीं उसी के अनुसार लोक और शास्त्र में सब प्रकारकी ताड़ना का नाम हिंसा नहीं है इसी लिये बैल आदि को छेदने के अर्थ में तुद धातु का प्रयोग होता । इसी प्रकार भिन्न २ प्रकार की ताड़नाओं के लिये भिन्न २ धातु वा शब्द पूर्वजों ने नियत किये हैं यदि सब स्थानों में एक हिंसा शब्द से काम निकल जाता तो अन्य शब्दों वा धातुओंका नियत करना व्यर्थ है इस लिये हिंसा शब्दका खास प्राण-वियोगानुकूल व्यापार ही अर्थ है । यदि आप को कोई प्रमाण मिल सके तो बताइये कि कहां २ आर्षग्रन्थों में हिंसा का अर्थ किस २ प्रकार की ताड़ना में लिया गया है ? । हमे पूरा विश्वास है कि उपदेशक जो ऐसा एक भी प्रमाण नहीं दे सकते । और "थोड़े के लिये अधिक हानि पाप और अधिक लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म है" यह तो किसी प्रकार हम भी ठीक मानते और यह धर्म शास्त्र के अनुकूल भी है परन्तु यदि यह विचार धर्मानुकूल हो तब न ?। जिस मनुष्य ने अपने स्वार्थसाधन को सर्वोपरि वा बड़ा लाभ मान लिया है वह दूसरे की कैसी ही बड़ी हानि हो उस को थोड़ी हानि और अपने स्वार्थ को बड़ा लाभ सदा ही मानेगा । वास्तव में यही दशा प्रायः प्रचलित है शोचने का स्थान है कि अपने स्वाद के लिये वा अपना पेट भर के बल बढ़ाने की इच्छा से दूसरे प्राणियों का प्राण तक ले लेना क्या यह बड़ी हानि नहीं है ? क्या प्राण ले लेने से अधिक जगत् में किसी की और अधिक हानि कोई कर सकता है ?। राजदण्ड में भी फांसीसे अधिक कोई दण्ड ही नहीं माना जाता। परन्तु शोचे कौन स्वार्थ के लिये किये जाने वाले अधर्म अन्याय रजोगुण तमोगुण की टट्टी जिन के नेत्रों के सामने दृढ़ता से खड़ी है वह तो नहीं देखने देती ! । परन्तु यह सिद्धान्त कि "जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानिकारक है और न सर्वथा लाभकारी है अतः यही धर्माधर्म का स्वरूप है" सब शास्त्रों और युक्ति के विरुद्ध है । क्योंकि अग्नि में जल जाना संखियादि विष खा लेना किसी शस्त्रादि की चोट लगना सब के लिये सब काल में हानिकारक है और विद्या पढ़ना सब का हित चाहना योगाभ्यास वा परमेश्वर की भक्ति आदि अनेक काम सब के लिये सब प्रकार सदा लाभकारी हैं तथा धन को संचित करना विवाह करना सन्तानों की इच्छादि कामों में हानि लाभ दोनों हैं। इसी के अनुसार सब शास्त्रों का सिद्धान्त है । सुश्रुत में भी तीन प्रकार के कर्म वा वस्तु माने हैं । १-स-

र्वहित । २ सर्वाहित । और ३ हिताहित मेरा लेख इस के भी अनुकूल है और यह कभी कोई सिद्ध भी नहीं कर सकता कि सर्वथा लाभकारी वा सर्वथा हानिकारक कोई काम जगत् में नहीं है क्योंकि परोपकारादि सदा सब के लिये हितकारी है और संखियादि सदा सब के लिये हानिकारक प्रत्यक्ष हैं प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं । इस लिये यह सिद्ध हुआ कि जो सदा सब को लाभकारी है वह मुख्य वा पूर्ण धर्म और जो सदा सब को हानिकारक है वह मुख्य अधर्म है और जहां दोनों मिश्रित हैं वहां जिस समय जिस के लिये जिस देश में जो काम लाभ की अपेक्षा शास्त्र और युक्ति के अनुसार विशेष वा प्रबल हानिकारक ठहरे वह काम उस के लिये उस देश वा काल में अधर्म है और इसी प्रकार हानि की अपेक्षा विशेष लाभकारी धर्म माना जायगा । इस का निर्णय पहिले से कोई नहीं कर सकता किन्तु सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक उस २ समय के विद्वान् वा बुद्धिमानों का काम है कि अधिकानुमति से अधिक हेतु वा कारणों की प्रबलता देख कर धर्म अधर्म का निर्णय किया करें । आशा है कि इस लेख के सिद्धान्त को शोचने वाले सज्जन मांसोपदेशक जी के शास्त्रविरुद्ध लेख को सर्वथा पोच समझ लेंगे ।

इस के आगे उपदेशक जी ने मनु के राजधर्म प्रकरण से मांस की चोरी के दण्ड का प्रमाण दिया सो व्यर्थ है । हम तो स्वयं ही मानते हैं कि पहिले राक्षसनामक जाति के लोग मनुष्य तक का मांस खाते थे तब पशवादि का क्या कहना सामयिक राजा का काम भी यह था और होना चाहिये कि जो जिस (अच्छी वा बुरी) परम्परा में वर्त्तमान है उसकी वैसी ही रक्षा करे। राक्षस जातिमें मांसभक्षण का प्रचार था किसी जाति की परम्परा वा स्वभाव को राजा भी नहीं बदल सकता परन्तु मांस की चोरी पर दण्ड लिखा जाने से यह भी कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि पहिले राजा लोग भी मांसभक्षण को धर्म समझते हों । हमारा पक्ष यह नहीं है कि मांसभक्षण कभी कोई नहीं करता था न विकता था न कर लेता था । किन्तु हम केवल यह सत्य मानते हैं कि पूर्वज महात्मा मनु आदि ने मांसभक्षण को धर्मानुकूल अच्छा नहीं माना । इस के विरुद्ध जो कोई प्रमाण दिखा सके उस का समाधान करना हमारा काम है। यद्यपि सामान्य कर मांसभक्षण वा हिंसा को महापातक मनु जी ने नहीं लिखा तथापि सब धर्मों में बड़ा धर्म अहिंसा और सब पापों से बड़ा पाप हिंसा को मनु जी ने

स्पष्ट माना है यह पहिले ही हम सिद्ध कर चुके हैं और हिंसा किये वा कराये विना मांस प्राप्त हो नहीं सकता इस लिये मांसभक्षण बड़ा पाप है। और मांस बेंचने के लिये जो दशमाध्याय में ब्राह्मण को निषेध है इस से वैश्य के बेंचने का विधान अर्थापत्ति से लाना यह उपदेशक जी का अज्ञान है। यदि वेद पढ़ने की ब्राह्मण को आज्ञा हो तो अर्थापत्ति से उपदेशक जी निकालेंगे कि क्षत्रिय वैश्यादि वेद न पढ़ें। अथवा मनुजी ने लिखा है कि "गृहस्थ ब्राह्मण यदि कुछ उद्योग करके जीविका करने का सामर्थ्य रखता हो तो आलसी होकर अन्नादि के बिना दुःख न भोगे" क्या यहां भी मांसोपदेशक जी निकालेंगे? कि क्षत्रिय वैश्यादि समर्थ होने पर भी दुःख भोगा करें? कदाचित् मांसभक्षण से उपदेशक जी की बुद्धि तीव्र हो गयी हो तो ऐसा करने को तत्पर हो जांय। आशा है कि हमारे पाठक महाशय इतना ही लिखने से समझ गये होंगे कि मनुजी का आशय ऐसे प्रकरणों में विशेष विधान करने का है कि अधर्म से संचित हुये मांसादि सभी वस्तुओं का बेंचना लेना वा भक्षणादि सामान्य कर सभी के लिये निषिद्ध है पर ब्राह्मण के लिये विशेष वा आवश्यक निषेध है। और ऐसे स्थलों में मांसाचार्य जी ने अर्थापत्ति निकाली है उस में दिये दोषों के समाधान का बोझा उपदेशक जी के मत्थे रहा जिस का समाधान जन्मान्तर में भी करना कठिन है ॥

आगे मनु के दशवें अध्याय के आपद्धर्म विषयक दो श्लोकों पर नोट दिया है- मा० नो०—यह धर्म आप्तकाल का है यद्यपि कुत्ते आदिकों का मांस निषेध है तथा ऐसे काल में वह भी विधि है। और हमारे शाकाहारी महात्माओं का तो कथन है कि मरजांय तो भी मांस न खांय और इसी तरह इन दुष्टों ने गुरुदत्त जी को मांस न खाने दिया और वह मर गये। यद्यपि पूर्व समय में उन्हों ने बहुतसा खाया था सो यह लोग यह तो बतावें कि धर्म रक्षार्थ है वा नाशार्थ।

उ०—उपदेशक जी ने आपत्काल के स्थान में आप्तकाल लिखा है क्या वास्तव में इतना अज्ञान है?। इन श्लोकों को हम मानवधर्म भी० भूमिका में प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं सारांश यह है कि "न जातु० धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः" मनुष्य अपने जीवन के लिये भी धर्म न छोड़े यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त सब वेदादि वा आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल है। और मांसभक्षण सर्वथा धर्म से च्युत करने वाला है इस लिये जीवन की आशा से भी कभी धर्म को न छोड़े अर्थात् मांस

न खावे यह सिद्धान्त बहुत शुद्ध वा पक्का है। इस में एक विचार यह भी है कि मांसभक्षण से आपत्काल में हमारा जीवन अवश्य बना रहे गा ऐसा विश्वास किसी प्रकार न हो सकता और न कोई विश्वास करा सकता है। ऐसा हो तब तो मांस को अमृत वा अमर करने वाली कोई ओषधि मांसभक्षणपक्षियों को मान लेना चाहिये क्योंकि उपदेशकर्त्ता ने मृत्यु से बचने का उपाय उन को बतला दिया !। यह लेख प्रत्यक्ष से कितना विरुद्ध है कि गुरुदत्त जी को मांस खाने देते तो न मरते। मैं कहता हूं कि मांस खाने वाले जब मरने लगते हैं तब आप एक टोकरा भर मांस खिला कर क्यों नहीं जिला लेते ?। आशा है कि मांसाचार्य जी मांस खाकर अमर हो जायंगे। और अपने पक्ष वालों में कोई मरने लगे गा तो मांस खिला कर बचा देंगे। यदि हमें कोई ठीक विश्वास करा देने की शक्ति रखता हो तो विश्वास करा दे हम भी मरण भय आते समय मांस खाकर बच जांय। और खाना स्वीकार करलें पर यह असम्भव है। मांस मद्यादि तो वास्तव में शरीर के नाशक पदार्थ हैं उन के खाने से तो रोगी न मरने को हो तो मरजा सकता है परन्तु जो सर्वोत्तम गुण वाली ओषधि हैं वे भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकतीं यह सब का सिद्धान्त है। इस से मांस से मृत्यु के हटाने का लेख सर्वथा पोच है।

आगे मांसोपदेशक जी ने गोवधादि उपपातकों को गिना कर लिखा है कि—

नो०—मुझे शोक से लिखना पड़ता है कि ऊपर लिखे उपपातकों की गणना में भी तो कहीं मांस का नाम नहीं आया क्या इन में से भी मांसाहारियों ने काट दिया ?॥

उ०—यह हम भी मानते हैं कि मांसभक्षण उपपातक नहीं किन्तु उपपातकों से बड़ा पातक है सो मनु जी ने कई स्थलों में कह दिया है कि—

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ अ० ५

जो पितृदेवादि नामक आप्त शिष्ट लोगों के उपदेश से विरुद्ध होकर दूसरों के मांस से अपने शरीर के मांस की पुष्टि करना चाहता है उससे अधिक पापी और कोई नहीं इत्यादि लेख मनुजीने स्पष्ट लिखा है फिर यह लिखना कैसा? कि किन्हीं पातकों में मांसभक्षण की गणना नहीं। पूर्वोक्त लेख से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्महत्यादि महापातक कभी प्रमाद से कोई कर सकता है

और "जो अपनी पुष्टि के लिये नित्य ही दूसरों के प्राण लेता है उस से बड़ा पापी कोई नहीं" इस कथन से यह भी सिद्ध हो गया कि महापातक भी इससे बड़ा पाप नहीं किन्तु महापातकों से भी यही बड़ा है और महापातकों तक का कुछ २ प्रायश्चित्त कहा है उससे बड़े पाप का प्रायश्चित्त होही नहीं सकता फिर प्रायश्चित्त में उस को क्यों लिखते। हम सिद्ध कर चुके हैं कि प्रायश्चित्त धर्मात्मा के लिये हैं। जो कभी भूल वा प्रमाद से कुछ अपराध कर बैठे उन के चित्त में उस काम से जो ग्लानि वा मलिनता हो उसको मेटने के लिये प्रायश्चित्त कहे गये हैं और जैसे वर्षों तक जिस घड़े में मद्य भरा जाता हो उस की शुद्धि मनु जी ने अग्नि में पकाने पर भी नहीं मानी वैसे ही जो बुराई को अच्छा समझ कर जन्म भर किया करता है उस का प्रायश्चित्त वा शुद्धि का उपाय क्या हो सकता है ? उस का शुद्ध हो सकना असाध्य रोग है। और जो कभी भूल वा प्रमाद से मांस खा लेवे वा मांस खाने आदि के लिये पश्वादि की हिंसा करे उस के लिये प्रायश्चित्तप्रकरण में यथोचित प्रायश्चित्त बराबर लिखे ही हैं। और मांसोपदेशक जी वा उन के पक्ष के लोग सब से बड़ा भक्ष्य बकरा को ठहराना चाहते हैं जिस के लिये भी हम मनु जी के ११ अध्याय के श्लोक से प्रायश्चित्त इसी पुस्तक के खण्डन में दिखा चुके हैं। अब कहिये और किधर २ को भागोगे ?।

मां०—आगे (ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा०) इत्यादि जाति से च्युत करने वाली बुराइयों को गिना कर नोट दिया है—

नो०—इन में भी मांसभक्षण नहीं आया फिर न मालूम हमारे सामाजिक भाई मांसाहारियों को क्यों निकालना चाहते हैं ? जब कि पुंसि मैथुन करने वाले सराब पीने वाले कुटिल इन सब की इज्जत की जाती है शोक !

उ०—जाति से जो मनुष्य पतित किये जाते हैं उस का अभिप्राय यह है कि कुछ काल के लिये जब तक वे प्रायश्चित्त कर लें जाति से पतित रहें फिर सभा के बीच उन से प्रतिज्ञा कराली जावे कि अब आगे ऐसा अपराध हम भूलकर भी न करेंगे तब जाति में मिला लिये जांय जातिभ्रंश करना एक प्रकार का दण्ड है। यदि हमारे भाई मांसाहारी भी प्रायश्चित्त चाहें और आगे वैसा न करने की सभा में प्रतिज्ञा करें तो फलाहारियों को उचित है कि अवश्य उन को स्वीकार करें। यदि मांसाहारी लोग इस में अपनी हतक समझें तो यह उन की भूल है क्योंकि वास्तव में इसी कर्त्तव्य से उन की योग्यता वा प्रतिष्ठा अधिक

हो सकती है । और जब मांसाहारी लोग अपने अपराध को अपराध ही नहीं मानते तब वे छोड़ने की प्रतिज्ञा क्यों कर सकते हैं ? और क्यों छोड़ सकते हैं ऐसी दशा में मांसाहारियों को फलाहारी लोग अपने समाज से अलग न करना चाहें तो भी वे अवश्य अलग हो जायेंगे क्योंकि सृष्टिक्रम के अनुसार जैसे रात्रि दिन, शीत उष्ण, राग द्वेष, धर्म अधर्म आदि अत्यन्त विरुद्ध गुण एक साथ एक काल में नहीं रह सकते वैसे ही दैवी और आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का मेल कदापि नहीं निभ सकता । केवल जगत् में एक मांसाहार ही आसुरी प्रकृति का काम नहीं किन्तु जगत् के अच्छे बुरे सब काम दोही प्रकारों में आजाते हैं कुछ आसुरी प्रकृति में कुछ दैवी प्रकृति में । इसी कारण मनुष्यादि प्राणियों के मेल न रहने में मांसाहार को छोड़ के अन्य भी बहुत काम हैं जिन के कारण विरोध रहता था रह सकता है परन्तु कोई काम किसी समय विशेष में प्रधान कारण बन जाता है । यहां भी प्रारम्भ में मांसभक्षण प्रधान हेतु हो गया है । उपदेशक जी की यह बड़ी भारी भूल है कि "मद्य पीने या पुंसि मैथुन करने वालों की आर्यसमाज में प्रतिष्ठा है और मांसाहारियों की निन्दा होती है" क्योंकि आर्यसमाज में क्या मेरा निश्चय है कि किसी समुदाय में ऐसों की प्रतिष्ठा नहीं । आर्यसमाज में तो किसी बुराई की प्रतिष्ठा नहीं सभी अनर्थों के हटाने का उद्योग यथासम्भव किया जाता है । यही आर्यसमाज का परम सिद्धान्त है । यदि यह आशय हो कि मद्य पीने वाले आदि कोई मनुष्य समाज में होने सम्भव हैं और वे निकाले नहीं गए वा उन के निकालने का उद्योग नहीं किया जाता तो इसका उत्तर यह है कि उन्हों में से किसी ने अभी तक मद्य पानादि को अच्छा काम ठहराने का कोई उद्योग भी नहीं किया न कोई पुस्तक बनाया है । न वे कहीं अब तक ऐसे काम को प्रसिद्ध अच्छा कह कर करने के लिये साहस बांधते हैं जिस से आशा है कि वे लोग वैसे कामोंसे स्वयं लज्जित हैं इसी से छोड़ देना सम्भव है । यदि कभी मद्यादि का पक्ष लेकर कोई खड़ा होगा तो वह मांसाहारियों का ही आश्रय ले सकता है किन्तु आर्यसमाज में ऐसे मनुष्य कदापि नहीं ठहर सकते । अर्थात् वे सब आप के ही साथी वास्तव में होंगे ॥

मां०-जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥

शूकरादि के अभक्ष्य मांस को खा कर सात रात्रि जौ पीवे यह प्रायश्चित्त है । भी०-यहां भी अभक्ष्य मांस के भक्षण का प्रायश्चित्त तो कहा है मांस भक्षण का नहीं कहा ॥

उ०—उपदेशक जी ने अर्थ बदलने के लिये यहां एक चालाकी की ते है परन्तु जिन को थोड़ा भी संस्कृत विद्या में प्रवेश होगा वे इस चाल को झट समझ सकेंगे कि "मांसम्—अभक्ष्यं च अज्ञात्वा" अर्थात् सीधा अर्थ है कि मांस और अन्य अभक्ष्य वस्तु को कोई धोखे में खा लेवे तो सात दिन प्रायश्चित्त करे यदि यहां अभक्ष्य शब्द मांस का विशेषण होता च पढ़ना व्यर्थ हो जावे । संस्कृत में च अव्यय भाषा के और शब्द के स्थान में आता है । जैसे कोई भाषा में कहे कि " मांस और अभक्ष्य को खाकर " यहां अभक्ष्य और मांस दोनों एक वस्तु के नाम नहीं हो सकते वैसे वहां भी जानो । इन की बड़ी अविद्या यह है कि इतने पर भी इन्हों ने कुछ अपना पक्ष सिद्ध नहीं कर लिया । अस्तु अब हम इस द्वितीय भाग पुस्तक का खण्डन लिखना समाप्त करते हैं और विचार पूर्वक देखने वालों को इसी लेख में उन अंशों का भी उत्तर मिल जायगा कि जिन पर प्रसिद्ध में मैंने कुछ भी नहीं लिखा हो ।

त्रयीविद्या ॥

सब वेदमतानुयायियों को विदित हो कि त्रयीविद्या के नाम से एक लेख वा बड़ा व्याख्यान लिखने की इच्छा वा उत्कण्ठा कई मित्रों के अनुरोध से मेरे चित्त में हुई है । यद्यपि इस विषय के व्याख्यान की पूर्ण शक्ति मैं अपने में नहीं देखता तथापि वेदपारदर्शी मन्वादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थों का आश्रय लेकर ऐसे अज्ञात मार्ग में चलना चाहता हूं । आशा है कि परम कृपालु सर्वान्तर्यामी परमेश्वर मेरी बुद्धि को सहायता देगा । सब महाशयों को अभी से ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि मैं अपने सभी लेखों को विचार पक्ष के लिये लिखता हूं वा यों कहिये कि विचार करने के लिये एक प्रस्ताव उपस्थित वा पेश करता हूं कि उस को देख शोच कर जो कुछ वैदिक शुद्ध मार्ग के अनुकूल हो वह अधिक बुद्धिमानों की सम्मत्यनुसार ठीक कर लिया जाय क्योंकि प्रस्ताव न हो तो विचार किस पर कर सकते हैं । तथापि यहां विशेष कर सूचित करता हूं कि यह लेख अभी केवल विचार के लिये है पीछे इस के व्याख्यान की पूर्ति होने पर बहुसम्मत्यनुसार इस लेख को ठीक कर के एक पुस्तक " त्रयीविद्या " नाम से पृथक् छपा दिया जावेगा । यह पुस्तक निर्विघ्न साङ्गोपाङ्ग बन गया तो बड़ा अपूर्व पुस्तक सिद्ध हो जायगा । और वेदमतानुयायियों का बड़ा उपकारक होगा । इस पुस्तक से निम्न लिखित बातें सहज में सिद्ध हो जां-

यगों ।१ वेद ईश्वरीय विद्या वा सब विद्याओं का मूल कैसे हो सकता है ? । २–तीन वेद वा त्रयीविद्या ऋषि लोगों ने क्यों मानी है ? । ३–चौथा वेद किस प्रकार माना जाता है ? । ४—वेद में मन्त्रों की पुनरुक्ति क्यों है ? । ५—वेद किन के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए ? । ६–अध्यात्म अधिभूत, अधिदैव की व्याख्या । ७—देव, ऋषि, पितृ, मानव की व्याख्या । ८–तीन लोक । तीन देव । तीन गुण । तीन काल । चार वर्ण । चार आश्रम । चार अवस्था । कर्म, उपासना, ज्ञान ये वेद के तीन काण्ड । धर्म के तीन स्कन्ध वा चतुष्पात् धर्म का व्याख्यान । तीन व्याहृति तथा ओङ्कार की तीन मात्राओं का व्याख्यान । इत्यादि प्रकार तीन और चार संख्या से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्यों गुणों वा कर्मों का क्रम सहित तत्वज्ञान होने के लिये यह व्याख्यान विशेष उपयोगी होगा यह मेरा पूर्ण विश्वास है । इस लिये इस लेख का आरम्भ करता हूं ॥

यद्यपि विद्या के अनेक भेद वा संख्या भिन्न २ ग्रन्थकारों ने लिखीं वा मानी हैं परन्तु उन में परस्पर विरोध नहीं । अर्थात् उसी विद्यासम्बन्धी विषय को कहीं १४ संख्या से वर्णन किया है कि विद्या १४ प्रकार की है कहीं उसी सब विषय को तीन वा चार वा अन्य संख्या के विभागों में विभक्त करके व्याख्यान किया है । तथापि मनु आदि मुख्य २ महर्षियों ने कहीं २ विद्या के चार भाग ही प्रधान किये हैं । मनु० राजधर्म अ० ७ । ४३

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥

जो तीन प्रकार की वेद विद्या के जानने वालों से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर तीनों विद्याओं को पढ़े और जाने तदनन्तर दूसरी राजनीति विद्या वा सामान्य नीतिशास्त्र (जिस के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव संश्रय ये छः वा साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार अङ्ग हैं) को यथावत् जान ले वह राज्य करने के योग्य बने । इस के पश्चात् तीसरी आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कविद्या जिस का फल जीवात्मा परमात्मा के विषय में तत्वज्ञान होने से उस को आत्मविद्या भी कह सकते हैं इसी आन्वीक्षिकी वा आत्मविद्या का छः दर्शन वा छः शास्त्रों में साङ्गोपाङ्ग व्याख्यान है अर्थात् इसी तीसरी आन्वीक्षिकी वा आत्मविद्या का छः भागों में वर्णन करने के लिये महर्षि लोगों ने छः शास्त्र बनाये हैं । इस को राजा यथावत् पढ़े और जाने । तत्पश्चात् चौथी खेती वा-

णिज्य और पशुपालनादि लौकिक व्यवहार चलाने की विद्या को संसारी मनुष्यों से अनुभव के साथ जाने इन चार प्रकार की विद्याओं को ठीक २ जानने वाला मनुष्य राज्य करने योग्य वा राज्य का अधिकारी हो सकता है। ऐसे राजा के न्यायाधीश होने पर ही सब प्रजा में सुख और शान्ति निरुपद्रव ठहर सकते हैं ॥

इतनी विद्या के यथावत् जान लेने पर उस को पूरा विद्वान् वा चतुर्दश विद्याओं का निधान मान सकते हैं। वेद के छः अङ्गों की त्रयी वेदाध्ययन के साथ, तथा दण्डनीति नामक द्वितीय विद्या में धनुर्वेद और अर्थवेदसम्बन्धी वा इतिहास पुराणादि का सब विषय आजाता है। इस प्रकार विद्या के इन चार भागों में सब शास्त्रों की विद्या आ जाती है। न्याय के वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है–

इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या ॥

अ० १। आह्निक १। सूत्र १ पर

*ये पूर्वोक्त चार विद्या भिन्न२ प्रकार से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मार्ग दिखाने वाली होने से प्राणधारीमात्र के कल्याणार्थ कही गयी हैं जिन में से एक चौथी आन्वीक्षिकी न्याय विद्या है। यद्यपि आन्वीक्षिकी विद्या के छः शास्त्रों में छः भाग हैं तथापि उन में न्याय को सर्वोपरि प्रधानता है। इसी [illegible] मुख्य आन्वीक्षिकी विद्या है। प्रत्यक्ष वा वेदादि शास्त्रप्रमाण से जो कुछ देखा वा जाना है उस को तर्क से फिर देखना शोचना कि ठीक है वा नहीं आन्वीक्षण के साथ जिस रीति से पक्का दृढ़ निश्चय होजाय वह आन्वीक्षकी विद्या है आन्वीक्षिकी शब्द का यह अर्थ छहों शास्त्रों के विषय के साथ एकसा घट जाता और न्याय शब्द भी प्रधानता के साथ गौतमीय न्याय का बोधक है परन्तु सामान्य कर, सब अन्य पांच शास्त्रों के साथ भी न्याय का अर्थ घट जाता और व्यवहार में भी लगाया जाता है जैसे कणादन्याय जैमिनीयन्याय, इत्यादि। अर्थात् वात्स्यायन ऋषि ने भी विद्या के चार भाग प्रधान कर माने हैं। अब इस में विचारणीय यह है कि विद्या के इनचार भागों में भी त्रयीविद्या प्रधान वा सब का मूल बीजरूप है और सबविद्या इसी की शाखारूप हैं। जैसे क्लेशों की

पांच संख्या में अविद्या को सब अन्य चार क्लेशों का खेत योगशास्त्र में माना है कि अविद्या में से ही अन्य क्लेश उगते हैं। जैसे स्त्री से सन्तानों की उत्पत्ति होती है और सन्तानोत्पत्ति का मूल बीज स्त्रीपुरुषों में पहिले ही विद्यमान है तो भी स्त्री पुरुष को सन्तान नहीं मान लेते यदि मान लें तो सन्तानोत्पत्ति की इच्छा भी किसी को न हो। इसी प्रकार सब अन्य विद्याओं की उत्पत्ति वेद से होने पर भी वा वेद के सब विद्याओं का मूल होने पर भी वेद को सब विद्या नहीं मान सकते। तथापि जहां एकविद्या कहें वा तीन विद्या कहें वहां केवल वेदविद्या के ग्रहण से सब विद्यामात्र का ग्रहण वा बोध होगा। वेदविद्या सर्वोपरि प्रधान है वेद से सबकुछ सिद्ध हो सकता है यह मनु जी ने भी माना है॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥१॥
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ३ ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ४ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥५॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥६॥
सेनापत्यं च राष्ट्रं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥७॥
यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥८॥
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
इहैव लोके तिष्ठन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९॥ मनु० अ० १२

भावार्थ–मानस ज्ञान वा क्रिया में पूर्ण पितृ, वाणी के ज्ञान क्रियाओं में पूर्ण कुशल देव और प्राण के आधीन मनुष्य इन तीनों प्रकार के देह धारियों का सनातन–सदा विद्यमान नेत्र एक वेद ही है। महाभारत में भी लिखा है कि "वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः" ब्राह्मण लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य को वेद से ही देखते हैं। जीवन मरण के लौट पौट होते जाने पर भी वेद का ज्ञान सब के लिये भला बुरा मार्ग दिखाने वाला ज्यों का त्यों बना रहता है इस कारण वह सनातन है। जैसे जो प्राणी वास्तवमें सूर्यको नहीं जानते कि यह क्या वस्तु है इस में देवतापन वा उत्तमता क्या है? सूर्य देवता से हम कहां तक वा क्या सुख प्राप्त कर सकते हैं उन के लिये भी सूर्यका प्रकाश सृष्टिक्रम के अनुसार नेत्रों से देखनेकी सहायता अवश्य करता है। इसी प्रकार वेदको न जानने वा मानने वालोंको भी सर्वव्याप्त ईश्वरीय विद्या वेद का ज्ञान सहायता अवश्य देता है। केवल वेद को साक्षात् वा पूर्ण जाने विना विशेष ज्ञान से होने वाली विशेषकार्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणीमात्र का चक्षु वेद ही है। जैसे हम इधर उधर देखकर किसी के पदार्थ को लेना चाहते हैं जिस कर्म का नाम चोरी है। उस की इच्छा होते ही एक प्रकार का भय वा हिलचल आत्मा में उत्पन्न होती है जिस से शान्ति का वा धैर्य का नाश हो कर प्रारम्भ से ही सुख की जड़ कटती है उसका उपदेश सब से पहिले वेद से ही मनुष्यों को मिला कि "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" स्वामी की आज्ञा के विना किसी के धन को लेने की इच्छा मत करो। इसी के अनुसार पीछे महर्षि आदि लोगों ने चोरी आदि के त्याग का व्याख्यान अनेक ग्रन्थों द्वारा बढ़ाया। चोरी करना बुरा है यह सब प्राणिमात्र को अपने हृदय से दीखता है इसका दिखाने वाला चक्षु सनातन वेद ही है। इसी प्रकार मनुष्यमात्र ने वा प्राणिमात्र ने सामान्य कर जो कुछ कर्त्तव्याकर्त्तव्य अब तक जाना है वह सब जैसे पर्वत से निकल कर कोई नदी देश में फैले वैसे प्राणिमात्र में वेद का ज्ञान फैल रहा है। जैसे परमेश्वर रचित पृथिव्यादि सब वस्तु देश काल और प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं वैसे वेद भी सर्वगत होने से ईश्वरीय विद्या है। जैसे सूर्य को हानि पहुंचाने की शक्ति किसी की नहीं वैसे ही वेद को भी कोई बिगाड़ बना नहीं सकता अर्थात् पुस्तकों के बिगड़ने बनने से शब्दार्थ सम्बन्धरूप वेद नहीं बनता बिगड़ता। वेद अथाह समुद्र के तुल्य नाना प्रकार की विद्या का भण्डार है इस कारण अल्पज्ञ मनुष्य उस की थाह नहीं ले सकता। यह बात बहुत ठीक वा स्थिर है ॥ १ ॥

जब वेद सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश पहुंचाने वाला सब का चक्षु है तो उस से विरुद्ध वा वेदाशय के खण्डनार्थ नास्तिकादि ने अनुभव करके अपनी अल्पज्ञता से पापदृष्टि के साथ जो ग्रन्थ बनाये हैं वे सब संसार वा परमार्थ सम्बन्धी सच्चे मार्ग से भुलाने वाले हैं। अर्थात् अन्धकार तमोगुण में गिराने वाले वेदविरुद्ध पुस्तक अवश्य हैं इस कारण उनका पढ़ना देखना बड़ा हानिकारक है ॥ २ ॥ दूसरे श्लोक में वेद के साथ द्वेषबुद्धि से पाण्डित्य खर्च करके बनाये वा वेद का ही उलटा आशय समझ के बनाये मद्य मांसादिक बुराइयों को अच्छा ठहराने वाले पुस्तक तमोगुणी अन्धकार में डालने वाले बताये अब इस तीसरे श्लोक से यह दिखाते हैं कि पानी में बुद्बुद (बलबूला) उठकर मट जाने के तुल्य अन्य वेदविरुद्ध समय २ पर सर्वधारण के बनाये वा प्रचरित किये उपदेश वा पुस्तकादि शीघ्र २ विना जड़ के वृक्ष वा बिना नींवकी भित्ति के तुल्य बन २ कर नष्ट होते रहते हैं। वे भी आधुनिक (निर्मूल होने) वा निकृष्ट फल वाले होने से निष्फल वा मिथ्या हैं। अभिप्राय यह है कि जिस फलरहित वृक्ष की जड़ दृढ़ नहीं है वा जिस की जड़ को नदी आदि का प्रवाह शीघ्र काट कर गिराने वाला है उस वृक्ष का आश्रय लेने वाले पक्षी कभी सुखपूर्वक नहीं ठहर सकते वा उस से छायादि का भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते इसी प्रकार निर्मूल ग्रन्थों का आश्रय लेने वाले वा उन में किये वेदविरुद्ध उपदेशों पर चलने वाले मनुष्य कदापि सुखी नहीं रह सकते इस लिये वेदोक्त उपदेश पर चलनाही मनुष्य का इष्ट साधक है और वेदविरुद्ध को अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥३॥ जगत् में चार भागों में बांटे गये सब कर्मों के द्वारा सब इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के त्याग के लिये चार वर्णों का नियत होना। तीनों लोक की व्यवस्था और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम का विभाग भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल की व्यवस्था यह सब वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं। इन चार वर्णादि का विशेष व्याख्यान इसी प्रसंग में आगे किया जायगा ॥ ४ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में रहने वाले प्रादुर्भूत गुण कर्मों से उत्पन्न होने वाले शब्दादि के ज्ञान का मूल कारण वेद ही है। अर्थात् शब्दादि की रचना का भी ठीक २ ज्ञान वेद के सिद्धान्त का यथार्थ बोध होने से ही हो सकता है॥५॥ सामान्य कर सनातन वेद की शिक्षा जो प्राणिमात्र में किसी न किसी रूप से फैली हुई है वही सब का धारण करती है। अर्थात् चोरी न करो, किसी को दुःख

न हो, न्याय करो, दुःखी पर दया करो, सत्य बोलो वा सत्य वादी का विश्वास करो, विद्या पढ़ो धैर्य को धारो, इन्द्रियों को अधिक चञ्चलता से रोको, शुद्ध रहो, बुद्धि से शोच समझ के काम करो, क्रोध मत करो, दान दो, एक स्त्रीसे विवाह करो, व्यभिचारी मत बनो, इत्यादि बातें पहिले २ वेद से निकल कर सब प्राणियों वा विशेष कर मनुष्य मात्र में प्रचरित होगयी हैं इन्हीं से जगत् का व्यवहार चल रहा है । जितने अंश में इन बातों का यथोचित वेदानुकूल वर्त्ताव नहीं बनता हो व्यवहार के छिन्नभिन्न रहने से मनुष्यादि को अनेक दुःख वा उपद्रव घेरे हैं । और जितने अंश में मनुष्यादि को कुछ सुख और शान्ति है उसको वेदानुकूल ज्ञानोपदेश के वर्त्ताव में आने से है । यदि सब सब की चोरी करने लगें सत्य कोई न बोले वा किसी की बात का कोई विश्वास न करे न कोई विद्या पढ़े सब क्रोध करे और कोई किसी की स्त्री न रहे सब से सब व्यभिचार करने को प्रवृत्त हो जांय तो सब मर्यादाओं के टूट जाने से सब प्राणी आपस में लड़ कट मरें जगत् के नाश का समय आजाय इस लिये वेद की शिक्षा ही जगत् को वर्त्तमान दशा में थामें हुए है । जो द्वीपान्तर वासी लोग वेद को न मानने वाले वा वेदविरोधी समझे जाते हैं उनकी उन्नति अवनति वा सु-धरने बिगड़ने में भी वेद की शिक्षा का अधिक न्यून होना ही मुख्य कारण है इस दशा में हम को यह कहना वा मानना नहीं चाहिये कि ईसाई मूसाई आदि वेद को नहीं मानते किन्तु यह कह सकते हैं कि उन लोगों ने भी अभी वेद को ठीक वेद नहीं जान पाया । जिस कारण पूर्वोक्त प्रकार वेद ही सब का धारण कर रहा है इसी कारण मनु जी कहते हैं कि मैं इस वेदशास्त्र को सर्वो-परि मानता हूं। क्योंकि यही वेद शास्त्र इस जीव को उत्तम अभीष्ट सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है । इस से बड़ा साधन शुद्ध निष्कण्टक मार्ग में च-लाने वाला और कोई नहीं है । इस लिये जो दुःखसागर में डूबने से बचना चाहे वह वेद की नौका पर चढ़े और वेदज्ञ महात्माओं का आश्रय करे ॥ ६ ॥ वेद शास्त्र के सिद्धान्त वा आशय का यथावत् जानने वाला मनुष्य ही सेनापति, सा-म्राज्य राज्य का अधिकारी, अपराधानुकूल पक्षपात छोड़ कर दण्ड (सजा) की आज्ञा देने वाला और चक्रवर्त्ती राज्य का भी अधिकारी यथोचित हो सकता है । यह बात क्या सर्वसाधारण के मन में भी ठीक जच सकती है ? मुझे अनुमान है कि मनु जी के इस कथन पर किसी विरले ही मनुष्य का पूरा विश्वास हो सकता

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ६ | उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ | अं० ९,१०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

जातिभेदविचार ॥

एक महाशय ने कुछ प्रश्न किये थे उन का उत्तर यहां छपाने योग्य समझा इस लिये सब पाठकों के अवलोकनार्थ छपाया जाता है । आशा है कि गुणानुरागी लोगों को लाभकारी होगा ।

१ प्र०—वर्णविचार अर्थात् जातिभेद कब से प्रचलित हुआ ? ।

उ०—वर्णभेद वा जातिभेद सृष्टि के आरम्भ से चला ॥

२ प्र०—सृष्टि के आरम्भ में वर्ण पृथक् २ किस प्रकार ज्ञात हुए । अर्थात् हम ब्राह्मण से तुम क्षत्रिय से वे वैश्य से और अमुक शूद्र के वीर्य से उत्पन्न हुए ?।

उ०—महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १८८ भृगु भरद्वाज संवाद में लिखा है कि—भरद्वाज उवाच—

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥ १ ॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥ २ ॥

भावार्थः—काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, और थकना आदि हम सब मनुष्यमात्र को बराबर ही सताते वा दबाते हैं फिर ब्राह्मणादि वर्णभेद

का कारण क्या है ? ॥ १ ॥ पसीना, मूत्र, विष्ठा, कफ, पित्त, लोहू आदि सब के शरीर से एकसा ही निकलता है । ब्राह्मणादि वर्णों के मूत्रादि में कुछ भेद नहीं दीखता फिर वर्णभेद का कारण क्या है ? ॥ २ ॥ इस प्रश्न का उत्तर भृगुजी ने दिया सो लिखते हैं-भृगुरुवाच—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ ३ ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ४ ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥ ५ ॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ ६ ॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ ७ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ ८ ॥

भावार्थः—सृष्टि के आरम्भ में वर्ण भिन्न २ नहीं थे । ब्रह्म वा ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सभी का नाम ब्राह्म वा ब्राह्मण था ।

ब्रह्मणा सृष्टा ब्रह्मणो वापत्यानि ब्राह्मणाः ।

ब्राह्मण शब्द का मुख्यार्थ भी यही है कि ब्रह्म ने वा ब्रह्मा ने रचे अथवा ब्रह्मा के सन्तान मरीच्यादि ब्राह्मण कहाये । क्योंकि पहिले रचना के समय ब्राह्मणादि में कुछ भेद नहीं बनाया था । पीछे कर्मों के भेद से ब्राह्मणादि वर्ण भिन्न २ किये गये । और इस के लिये वेद से सहारा मिला कि ऐसे २ कर्म वा गुण वाले को ब्राह्मण क्षत्रियादि जानना चाहिये ॥३॥ कामभोग जिन को प्रिय क्रोधी, तीक्ष्ण स्वभाव वाले शीघ्रता करने वाले जिन्होंने अपना धर्म जितेन्द्रियता अक्रोध शान्तिशीलता विचारपूर्वक काम करना आदि छोड़ दिया ऐसे

लाल रंगधारी ब्राह्मण क्षत्रियपन को प्राप्त हुए वा क्षत्रिय माने गये ॥ ४ ॥ गोरक्षा से अपनी जीविका मान कर पीला वर्ण धारण करने वाले खेती से निर्वाह करते हुए जिन्होंने अपना धर्म पढ़ना पढ़ाना शिलोञ्छवृत्ति वा जप तप आदि छोड़ दिया ऐसे ब्राह्मण सृष्टि के आरम्भ में वैश्यभाव को प्राप्त हुए वा वैश्य माने गये ॥ ५ ॥ हिंसा करना तथा मिथ्या बोलना जिन को प्रिय हुआ ऐसे लोभी सब काम करके जीविका करने वाले, कृष्णवर्ण युक्त (काले वस्त्रों के धारण कर्त्ता और शरीर का भी रंग प्रायः जिन का काला हुआ) तथा शुद्धि पवित्रता से रहित भ्रष्टाचारी ऐसे ब्राह्मण शूद्र माने गये वा कर्मानुसार शूद्र बन गये ॥ ६ ॥ इन पूर्वोक्त कर्मों से भिन्न २ हुए ब्राह्मणों के चार वर्ण बन गये। इन चारों वर्ण के लिये धर्म और यज्ञ करना कभी निषिद्ध नहीं है ॥ ७ ॥ इन पूर्वोक्त ब्राह्मणादि चारो वर्णों के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने सब के हितार्थ वेदविद्या प्रचरित की जिस के अनुसार चलने से सब का कल्याण होता परन्तु लोभवश होकर वेद विद्या का त्याग कर देने से अज्ञानता को प्राप्त होगये ॥ ८ ॥

इस विषय में विशेष वक्तव्य यह है कि-यद्यपि सृष्टि के समय मनुष्यमात्र उत्पन्न हुए तब वर्ण भिन्न २ नहीं थे तथापि उन २ में पूर्वकल्प के शेष संचित संस्काररूप कर्मों के अनुसार वैसी २ योग्यता पहिले से ही विद्यमान थी जिस के अनुसार वे ब्राह्मणत्वादि के अधिकार को प्राप्त हुए क्योंकि विना बीज वा मूल के वृक्ष होना जैसे असम्भव है वैसे निर्मूल कुछ नहीं हो सकता। इसीलिये यह शङ्का भी निवृत्त हो जाती है कि जिन को शूद्र बनाया वा नियत किया उन्हीं को ब्राह्मण का अधिकार क्यों नहीं मिला? तथा जिन को ब्राह्मण बनाया वे शूद्र क्यो नहीं बना दिये गये?। अर्थात् पूर्व संस्कारों के अनुसार जिन में जैसी योग्यता देखी गयी उन २ को वैसा २ ब्राह्मणादि का अधिकार दिया गया। और ब्राह्मणादि की क्या २ योग्यता होनी उचित है यह पहिले २ वेद से ज्ञात हुई कि अमुक २ गुण कर्म जिस २ में हों वह २ ब्राह्मण वा क्षत्रिय होना चाहिये। इस से यह सिद्ध हो गया कि यद्यपि सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणादि का कोई प्रत्यक्ष चिन्ह नहीं था इसी से यह व्यवहार बन गया कि वर्णों में पहिले भेद नहीं था। तथापि ब्राह्मणपन आदि पहिले से ही उन २ में था इसीलिये

ईश्वरीय सृष्टि के साथ वर्णव्यवस्था माननी चाहिये क्योंकि मनुष्यों की रचना से पहिले ही वेद में वर्णविभाग विद्यमान था। अब रहा यह कि ब्राह्मणादि के अपरी प्रत्यक्ष चिह्न क्या होने चाहिये? इस का उत्तर यह है कि--एक तो चिह्न शरीर के साथ होने चाहिये और द्वितीय कृत्रिम चिह्न भी भिन्न २ पहिले नियत किये रहें। ब्राह्मण गौरवर्ण, क्षत्रिय रक्तवर्ण, वैश्य पीतवर्ण और शूद्र कृष्णवर्ण क्यों माने गये क्या ऐसा २ स्वाभाविक शरीर का रंग हो तो ब्राह्मणादि का विभाग माना जायगा? यदि ऐसा मानोगे तो बड़ा दोष आवेगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। प्रत्यक्ष देखलो जो ब्राह्मणकुलों में माने जाते हैं उन में हजारों काले रंग के विद्यमान हैं फिर यह नियम कैसे बनेगा?। इस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में भी कुछ विरोध नहीं केवल समझ का दोष है। प्रथम तो शोचना यह है कि शास्त्रीय व्यवस्था और लोकव्यवहार में बड़ा अन्तर है उस को विना शोचे यह शङ्का हुई कि सब में सब रंग विद्यमान हैं। हम पूछ सकते हैं कि वेदादि का पढ़ना पढ़ाना वा सन्ध्यादि कर्म करना तथा सत्यादि धर्म के सेवन का सभी को तुल्याधिकार है तथा सब प्रकार के कर्म भी सभी में विद्यमान हैं अर्थात् ब्राह्मण जाति में पढ़ना पढ़ाना वा सन्ध्यादि ब्राह्मण के, जमींदारी आदि में बलात्कार कार्यसिद्ध करना आदि क्षत्रिय के, खेती पशुरक्षा वा गोरक्षा तथा व्यापारादि वैश्य के और सब प्रकार की नौकरी करना आदि शूद्र के काम प्रत्यक्ष विद्यमान हैं तब उस समुदाय का नाम ब्राह्मण क्यों रक्खा जाय किन्तु उन को चारो वर्ण कहना चाहिये। परन्तु इस का समाधान कठिन है। हमारा सिद्धान्त तो यह है कि—वर्त्तमान समय में तो वर्णव्यवस्था बहुत बिगड़ गयी है इसी से शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जो लोग वैश्य क्षत्रिय वा शूद्र होने की ठीक २ योग्यता रखते हैं ऐसे बहुत वा अधिकांश ब्राह्मण कहाते हैं परन्तु जब कभी ठीक २ शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल वर्णव्यवस्था मानी जाती थी वा मानी जावे तब भी सब प्रकार के गुण कर्मों वाले मनुष्य सब वर्णों में रहते थे वा रहेंगे क्योंकि वर्णव्यवस्था का सर्वव्याप्त होना वेदादि के अनुकूल है। जब एक २ शरीरधारी में चारो वर्णों के अङ्ग वा गुण कर्म विद्यमान हैं तो सब ब्राह्मणादि में सब क्यों न होंगे। अर्थात् ईश्वरीय सभी नियम ऐसे हैं जो सब में सब व्याप्त हैं जिस के नियम वा काम सर्वत्र व्याप्त हैं इसी से वह परमेश्वर है वा सर्वशक्तिमान् है। अब रहा यह कि जब सब में सब हैं तो ब्राह्मणादि भिन्न २ कैसे होंगे? इस का दृष्टान्त यह

है कि जैसे लोक में कहते हैं कि ब्राह्मणों का यह ग्राम है वा क्षत्रियों वा ठाकुरों का वा मुसलमानों का ग्राम है यद्यपि उस में नाऊ धोबी आदि कमीन लोगों के भी दो चार घर बसते हों तथापि ब्राह्मणादि के नाम से ग्राम कहा वा माना जाता है। जैसे यहां लोक में अधिकांश वा प्रधान के नाम से व्यवहार होता और गौण का नाम छोड़ दिया जाता है इसी प्रकार शास्त्र में भी मुख्य को प्रधान वा विशेष मान कर व्यवहार किया जाता है जिस शरीरधारी वा समुदाय को हम ब्राह्मण मानें उस में ब्राह्मण के गुण कर्म स्वभाव प्रबल वा मुख्य होने चाहिये और क्षत्रिय वैश्यादि के गुण कर्म स्वभाव कुछ २ उस में अवश्य रहेंगे उन से ब्राह्मणपन का व्यवहार रुक नहीं सकता। इसी प्रकार गौर वर्ण आदि सर्वत्र रहेंगे परन्तु ब्राह्मण वर्ण में विशेष होना चाहिये। अब रहा यह कि सृष्टि भर में मनुष्यों का कोई समुदाय ऐसा हो सकता है जिस में प्रायः सभी मनुष्य गौर वा श्वेतवर्ण के हों और उन को लौकिक वा शास्त्रीय किसी नियम से तुम ब्राह्मण न ठहरा सको। तो गोरापन ब्राह्मण का लक्षण व्यभिचारी हो जायगा?। इस का समाधान यह है कि प्रथम तो गौरवर्णादि को हम युक्ति के साथ सिद्ध करेंगे तब उस में भेद खड़ा हो जायगा जब २ प्रकार गौरवर्ण के होजायगे तब हम कहेंगे कि इस प्रकार का गौरवर्ण ब्राह्मण का लक्षण है। जैसे कहें कि सैन्धव लवण श्वेत है और एक काला लवण भी होता है फिर श्वेत और काले अनेक वस्तु हैं तो क्या सब काले वस्तुओं को कोई काला लवण मान सकता है? कदापि नहीं अर्थात् काले लवण का स्वाद लेकर परीक्षा करना जैसे मुख्य माना जायगा वैसे ही ब्राह्मणपन की परीक्षा के भी कोई नियम ऐसे अव्यभिचारी नियत करने होंगे जिस से उस में सन्देह कुछ भी नहीं रहेगा। जैसे श्वेत रंग अनेक पवित्र सत्त्वगुण वाले वस्तुओं से बनाया जायगा तो कहीं निकृष्ट मलिन वस्तु से भी श्वेत रंग बनना सम्भव है परन्तु वे दोनों श्वेत एक से प्रतिष्ठित नहीं माने जासकते। वैसे यहां भी गौरवर्ण की उत्पत्ति प्रायः दूध घृत मिश्री चावल गेहूं जौ आदि सत्त्वगुणी पदार्थों के सेवन से मानी है। इसी लिये वैद्यक सुश्रुत के शारीरस्थान में लिखा है कि गर्भवती को दूध भात आदि श्वेतवर्ण सत्त्वगुणी वस्तु खिलाने चाहिये जिस से गोरा सत्त्वगुणी सन्तान उत्पन्न हो। और प्रायः गर्भावस्था में आहार के ही भेद से वर्णभेद की उत्पत्ति ठहरायी है। और सत्त्वगुणी होना ब्राह्मण का मुख्य लक्षण है तो सत्त्वगुण वाली ब्राह्मणी अपने स्वभाव के अनुसार श्वेत सत्त्वगुणी

वस्तु मानगी तो उस से हुआ गौरवर्ण ब्राह्मणपन का सहकारी अवश्य होगा। यदि कोई रजोगुण वा तमोगुण की प्रबलता में गौरवर्ण हो तो वहां ब्राह्मणपन के प्रधान लक्षण सत्वगुण की न्यूनता से ब्राह्मणपन नहीं माना जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्वगुणसम्बन्धी गोरापन ब्राह्मणत्व के साथ लगाया जायगा। इस की अर्थापत्ति होगी कि रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी गोरापन ब्राह्मणत्व का साथी नहीं। द्वितीय बात्त यह है कि जिस की सिद्धि में बहुत से हेतु वा लक्षण होते हैं वह एक लक्षण से सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे भोजन बनाने में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता है तो अन्न, जल, आटा, लकड़ी, दाल मसाला चूल्हा वर्तन और बनाने वाला आदि एक२ वस्तु से भोजन कदापि नहीं बन सकता। अनेक वा प्रधान २ वस्तुओं के होने से बन सकता है और यदि सब सामान ठीक२ हों तो बहुत अच्छा भोजन बनना सम्भव है। इसी प्रकार ब्राह्मणपन के सामान में एक गौरवर्ण के होने पर भी ब्राह्मण नहीं कहा वा माना जा सकता और अन्य गुण कर्म ब्राह्मणपन के हों केवल गौरवर्ण न हो काला वा अन्य वर्ण हो तो भी ब्राह्मण माना जायगा। यदि अन्य गुण कर्मों के साथ गौरवर्ण भी हो तो पूरा वा पक्का ब्राह्मणपन होगा। तथा ब्राह्मणवर्ण को यह भी एक शास्त्रीय आज्ञा है कि वह स्वाभाविक श्वेतरंग के ही वस्त्र भी धारण करे। किसी रंग में वस्त्र न रंगे और स्वाभाविक श्वेतरंग से ही ब्राह्मण की पहिचान रहनी चाहिये। यद्यपि गौरवर्ण अधिकांश सत्वगुण से ही सम्बन्ध रखता है और इसी लिये ब्राह्मणपन के साथ श्वेत वा गौरवर्ण का सम्बन्ध लगाया है। और पदार्थविद्या के अनुसार भी यही नियम दीखता है कि सत्वगुणी पदार्थ जगत् में प्रायः गौर वा श्वेतवर्ण है। सत्वगुण का लक्षण भी प्रकाश वा ज्ञान ही माना है सूर्यादि प्रकाशक वस्तु प्रायः सत्वगुण से सम्बन्ध रखते हैं और अन्धकार वा काला रंग प्रायः तमोगुण से सम्बन्ध रखता है तथापि गौणभाव से गौरवर्ण सर्वव्याप्त है। संस्कृत में वर्णशब्द रंग का वाचक भी आता है। और इसी लिये ब्राह्मणादि वर्ण माने गये हैं। जो बाहर भीतर से सर्वथा शुद्ध श्वेतवर्ण हो वह ब्राह्मण माना जावे ॥

रक्त वा लालवर्ण क्षत्रिय इसलिये माना गया कि रक्तवर्ण विशेष कर तेज वा गर्मी से सम्बन्ध रखता है जब किसी के भीतर से क्रोधरूप अग्नि भड़कता है

तब उसकी आकृति लाल होती मुखपर या आंखोंमें लाली अधिक आ जातीहै। रुधिर आंखों वा मुखपर झलकने लगता है । अग्नि में भी लाल गुण रजोगुण से और श्वेत वा गौर सत्त्वगुण से सम्बन्ध रखता है । इसी लिये रुधिर को सुश्रुत में अग्नितत्त्वप्रधान माना है । क्षत्रियवर्ण की प्रधानता तेजो वा अधर्म अनुचितको अपने यथोचित क्रोधसे नष्ट करने में है यही वास्तव में क्षत्रियपन है । शोचने से यह भी ज्ञात होगा कि जगत् में लालरंग के वस्तु प्रायः रजोगुण बढ़ाने वाले हैं अथवा यों कहिये कि रक्तवर्ण और रजोगुण वा क्षत्रियपन का प्रायः साथ है इसलिये परीक्षा करके क्षत्रिय को रजोगुणी क्षत्रियत्ववर्धक वस्तुओं का अधिकांश सेवन करना चाहिये वा यों समझिये कि जिस में क्षत्रियत्व प्रधान है वह स्वभाव से ही वैसे पदार्थों पर रुचि रक्खेगा । और इसी लिये प्रायःरक्तवर्ण के वस्त्र क्षत्रिय धारण करे जिस से बाहरी चिह्न वा पहचानना भी सुगम हो । अहिंसाधर्म का जितना सेवन ब्राह्मणवर्ण को आवश्यक है उतना क्षत्रिय को नहीं क्योंकि प्राणवध की योग्यता रखने वालों को प्राणदण्ड देना क्षत्रिय का ही प्रधान कर्म है। परन्तु धर्मानुकूल वधदण्ड को शास्त्रकारों ने पातक नहीं माना क्योंकि उस से धर्म की रक्षा विशेष है । यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणपन की ओर झुका हुआ क्षत्रिय का कर्त्तव्य धर्म वा धर्मानुकूल माना जायगा । इसीलिये मांसभक्षणादि धर्मरक्षा के लिये न होने से क्षत्रिय का कर्त्तव्य वा धर्म नहीं माना जायगा । यदि केवल खाने के लिये पशुहिंसा करेगा तो महानिकृष्ट अधर्म माना जायगा । अर्थात् यद्यपि सत्त्वगुण रजोगुण के मेल में क्षत्रियपन वा क्षत्रियधर्म की स्थिति है तो भी रजोगुण प्रधान है ॥

रजोगुण तमोगुण के मेल में वैश्य है। पीतरंग कामासक्ति को बढ़ानेवाला प्रधान है । वैश्य के कर्म भी ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन की ओर झुके रहेंगे तभी तक वैश्य स्वधर्म में रहेगा वा माना जायगा । और नीचे की ओर झुकते ही नीच हो जायगा । पीतवर्ण के पदार्थ भी प्रायः रजस् और तमस् के मेल से सम्बन्ध रखने वाले माने जायगे । और शूद्रवर्ण में तमोगुण वा अन्धकार की प्रधानता होने से उस का रंग वा वस्त्र काले होंगे वा होने चाहिये ॥

प्र०७४—यदि संस्कार से जाति नियत है तो लोग जन्ममात्र से ही जाति क्यों मानने लगते हैं ? ।

३०४–यद्यपि संस्कार से जाति नियत है तथापि जाति का एक अंश जन्म से भी सम्बन्ध रखता है । ब्राह्मण ब्राह्मणी पिता माता जब अपने धर्म कर्म में ठीक २ स्थित हो कर गर्भाधानादि संस्कार करेंगे तो उन के सन्तानों की निष्ठा बुद्धि भी अच्छी होगी धर्म कर्म की ओर झुकावट रहेगी सुश्रुत का प्रमाण।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥

इत्यादि सन्तानोत्पत्तिविषयक कथन भी तभी सार्थक हो सकता है । इसी लिये "विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणलक्षणम्" यहां योनि नाम जन्म को ब्राह्मण बनने में कारण मानना यथार्थ बनता है । वीर्य और रुधिर के गुण तो अवश्य ही माता पिता से सन्तानों में आते हैं । संस्कारों के यथार्थ हुए विना केवल जन्म से जाति न मानना चाहिये यह शास्त्रों में संस्कार से जाति ठहराने का आशय है । इसी के अनुसार जो केवल जन्म से जाति मानता हो उस की भूल है । परन्तु केवल संस्कार से भी पूर्णरूप जाति नहीं बन सकती । जैसे छोटे २ घोड़ी घोड़ों से उत्पन्न हुए बछेड़े को सब प्रकार की रक्षा वा शिक्षारूप संस्कारों से राशी घोड़ा नहीं बना सकते न वैसा शिक्षित कर सकते हैं क्योंकि वह राशी-घोड़े के बीज से उत्पन्न नहीं हुआ । आमका वृक्ष जैसे बीज से होगा वैसे ही गुदारे वा छोटे बड़े फल उस पर लगेंगे। वृक्ष का संस्कार यथावत् होने से कुछ२ गुण उस में बदल भी जावें पर कारण का गुण अवश्य बना रहता है। यदि किसी क्षत्रिय वा वैश्य कुलोत्पन्न पुरुष में ब्राह्मण के गुण कर्म स्वभाव से ही प्रतीत होते और किसी ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य में स्वभाव से ही क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के गुण पाये जाते हैं । इसका कारण पूर्वोक्त सुश्रुत के प्रमाणानुसार गर्भाधान समय में माता पिता की निष्ठा है। जैसे आचार विचार आहार युक्त हुए माता पिता गर्भाधान करते हैं वैसा ही गुण सन्तानों में उतर आता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्र वा प्राणिमात्र में चारों वर्ण के गुण रहते हैं । मान लीजिये कि किसी एक मनुष्य के शरीर में चारो वर्ण हैं । उस का शिर ब्राह्मण सदृश वा बाहू क्षत्रिय, जङ्घा वैश्य और पग शूद्र हैं । प्रत्येक मनुष्य में प्रतिदिन वा पल २ में ब्राह्मणादि के गुण बदलते रहते हैं । जब कोई मनुष्य सत्य, दान, क्षमा, शौच, दया, तप की ओर अधिक झुकता है वा सत्य आदि एक २ के

सेवन में विशेष उपाय करता है तब वह ब्राह्मण, जब वही मनुष्य धर्मानुसार श्रेष्ठों की रक्षा कर दुष्टों को दण्ड देने में शूर वीरता करे । उस के मन में वा शरीर में जब धर्मानुकूल वीरभाव उत्पन्न हो तब वही क्षत्रिय, जब धनादिक ऐश्वर्य बढ़ाने की ओर अधिक चेष्टा करे तब वही वैश्य और जब उस के शरीर वा मन में सेवक होना प्रकट हो तब वही शूद्र है । इस प्रकार एक ही प्राणी चारों वर्णों के गुण धारण करता है । जिस २ में ब्राह्मणादि के गुण अधिक काल तक ठहरते वा प्रबलता से रहते हैं उस २ को ब्राह्मणादि कहते वा मानते हैं । तात्पर्य सब का यह हुआ कि संस्कार और जन्म दोनों से जाति नियत है न केवल संस्कार से जाति है न केवल जन्म से । परन्तु एक २ से जहां कोई जाति मानता है वा कहता है वहां एक अंश को लेकर उस का जाति मानना वा कहना है ऐसा समझ लेना चाहिये । इसी लिये गुण कर्म रहित ब्राह्मण का शास्त्रकारों ने ब्राह्मणब्रुव, वा जातिब्राह्मण नाम रक्खा है कि कहनेमात्र का ब्राह्मण वा जन्ममात्र से ब्राह्मण है वास्तव में नहीं ॥

प्रश्न—यदि कोई उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ भी निकृष्ट वर्ण के गुण कर्मों वाला जन्म से ही हो तो उस के संस्कार उत्तम वर्ण के से न होने चाहिये और हों तो उक्त सिद्धान्तानुसार शास्त्र की मर्यादा में विरोध आवेगा ॥

उत्तर-इस का उत्तर यह है कि जन्म होते ही परीक्षा नहीं हो सकती कि इस में कैसे गुणकर्म होंगे और अच्छे गुण कर्मों की आशा पर सब कामों का प्रारम्भ अच्छी दशा के साथ किया जाता और करना भी यही चाहिये । जब ब्राह्मण अपने सन्तान को ब्राह्मण बनाना चाहता है तो दशवें दिन उसका श-र्मान्त नाम भी उस को भाविनी आशा से रखने के लिये शास्त्र की आज्ञा है । यदि कोई कहे कि ब्राह्मण के बालक का भविष्यत् में कर्मानुकूल ब्राह्मण होना निश्चित नहीं है तो हम उत्तर देंगे कि ब्राह्मण के सन्तान का भविष्यत् में शूद्र होना कहां निश्चित है ?। परन्तु ब्राह्मण के सन्तान का ब्राह्मण होना अधिक सम्भव है जैसे कि उत्तम बीज बोने से उत्तम अन्न होना अधिक सम्भव है और उसका शूद्र होना कम सम्भव है । परन्तु जो नाममात्र के ब्राह्मण रह गये जिन में गुण कर्म रूप ब्राह्मणपन का पता नहीं उन के सन्तान वास्तव में शूद्र होंगे जिन कुलों में ब्राह्मणपन का कोई काम सहस्त्रों वर्ष से नहीं रहा वे अब तक

भी शूद्र नहीं बनाये गये यह लौकिक परिपाटी शास्त्र से विरुद्ध है इसका उत्तर कुछ नहीं । संस्कार वा जन्म से जाति मानने में थोड़ा विचार और भी कर्त्तव्य है ॥

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासी भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥

अर्थः—जन्म से मनुष्य शूद्र तुल्य होता है और संस्कार ठीक २ होने से द्विज कहाता तथा वेद के अभ्यास से उस की विप्रसंज्ञा पड़ती और ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण कहाता है । यह श्लोक कहीं का हो किसी ने बनाया हो हमें केवल आशयमात्र देखना है । बड़े २ ऋषि महर्षि महात्मा विद्वानों का पूर्वकाल से ही इस विषय पर सम्मति भेद दीखता है कोई लोग जाति वा स्वभाव अथवा प्रारब्ध को प्रबल मानते वा ठहराते हैं और कोई संस्कार वा क्रियमाण को प्रबल ठहराते हैं इसी पर यहां कुछ विचार लिखना है । इस पूर्वोक्त श्लोक में संस्कार को प्रबल ठहराया है । शोचना यह है कि मान्यवर धर्मशास्त्रकार मनु जी की इस विषय में क्या सम्मति है ? मनु में भी अनेक वचन संस्कार को प्रबल ठहराने के लिये मिलते हैं और अनेक ऐसे भी हैं जिन से जाति की प्रबलता निकलती है । मनुस्मृति अध्याय २

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्मस्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १ ॥
कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ २ ॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ ३ ॥

अर्थः—यज्ञोपवीत संस्कार होने से पहिले ब्राह्मणादि के बालक को वेद न पढ़ावे जबतक संस्कार न हो तबतक शूद्र के तुल्य है ॥१॥ और यज्ञोपवीत हो जाने पर वैदिककर्म का उपदेश होना चाहिये और तभी क्रमसे विधिपूर्वक वेद पढ़ाया जावे ॥२॥ तपस्वी ब्राह्मण को उचित है कि वेद का सदाही अभ्यास करे क्योंकि वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का मुख्य तप है । जैसे सुवर्णादि धातु को संस्कार द्वारा शुद्ध करने के लिये अग्नि में तपाना मुख्य है [और तपाने शोधने

का ही नाम संस्कार है] वैसे अन्तःकरण की मलिनता जिससे ब्राह्मणपन कलङ्कित होजाना सम्भव है उसकी शुद्धि मुख्यकर वेदाभ्यास से सम्बन्ध रखती है। इत्यादि मनु के वचन संस्कार की आवश्यकता दिखाने के लिये हैं और-

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ १ ॥
यादृशन्तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ २ ॥
इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३ ॥
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीबलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ४ ॥
व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ५ ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥६॥ मनु० अ०९।

बीज और खेत की उत्तमता के विचार में बीज प्रबल वा उत्तम कहा गया है क्योंकि सब प्राणियों की उत्पत्ति बीज से ही दीखती है ॥ १ ॥ जैसा बीज ऋतुकाल में बोने के समय ठीक किये वा खातादि डाल कर जोते हुए खेत में बोया जाता है वह अपने तिरोभूत (दबे हुए) गुणों से (जो गुण बीज में सूक्ष्मरूप से पहिले ही विद्यमान हैं) प्रसिद्ध हुआ वैसा ही जमता है जैसा बीज बोया गया था ॥ २ ॥ प्राणीमात्र की उत्पत्ति का यह स्त्रीरूप सनातन खेत कहा वा माना जाता है। जब यह प्रश्न होकि उत्पत्ति होने में खेत के गुणों को बीज वा बीज के गुणों को खेत पुष्ट करता है ? । क्योंकि विद्यमान बीज वा खेत दोनों में से किसी के गुणों की पुष्टि वा वृद्धि होना ही वास्तव में उत्पत्ति कहाती है। इस के लिये उत्तर दिया गया कि पुष्ट वा वृद्धि के समय खेत के किन्हीं

गुणों को बीज पुष्ट नहीं करता अर्थात् सन्तानों की उत्पत्ति में पुरुष के बीजस्थ गुणों की ही वृद्धि वा पुष्टि होती है ॥ ३ ॥ इस का दृष्टान्त यह है कि पृथिवी की एकही कियारी में बोनेके समय किसान ने बोये कई प्रकार के बीज स्वभाव से अर्थात् अपने स्वाभाविक गुणों से अनेक रूप उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥ कई व्रीहि वा शालि नामक धान मूंग तिल उड़द लहसन ऊख और जौ मिला कर एक ही स्थल में बोदेने से भिन्न २ उत्पन्न होते हैं । अर्थात् धान के बीज से धान तिल से तिल और मूंग से मूंग इत्यादि प्रकार अपने २ बीज से भिन्न२ ही ओषधियां जमती हैं । यदि उत्पत्ति में खेतके गुणों की प्रधानता होती तो प्रायः एक गर्भाशय के तुल्य पृथिवी के हाथ दो हाथ स्थल में एक हीसा गुण होने से धान आदि में से कोई एक वा दो ही सब बीजों से उत्पन्न होते ॥ ५ ॥ अन्य कुछ बोया जाय अन्य उत्पन्न हो यह नहीं बन सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में दीखता है कि धान आदि जो बीज जिस खेत में बोया जाता है वही उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ और प्रत्यक्ष से विरुद्ध कभी अनुमान भी नहीं हो सकता । इस लिये मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति में बीज की ही प्रधानता है । इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अच्छे पूरण धर्मात्मा विद्वान् शुद्ध संस्कारी पुरुष से नीच स्त्री में भी शुद्ध सत्वगुणी उत्तम धर्मात्मा उत्पन्न होना असम्भव नहीं व्यासादि की उत्पत्ति इस का उदाहरण हो जायगा । परन्तु बीज की उत्तमता वा प्रधानता के व्याख्यान से कोई महाशय खेत के गुणों का सर्वथा खण्डन भी न मान बैठें जिस से विदुरादि के किसी प्रकार नीच होने आदि की शङ्का उठे । यहां खेत के गुणों के वर्णन का अवसर नहीं है मनु के व्याख्यान में वा कहीं अन्यत्र यथावसर खेत के विषय में भी लिखा जायगा । यहां केवल जाति की प्रधानता का व्याख्यान है ।

अब शोचना यह है कि धर्मशास्त्रादि के सिद्धान्तानुकूल जाति और संस्कार दोनों में से किसको प्रबल वा प्रधान मानना चाहिये ? इस का पूरा२ विवेचन करना तो कोई साधारण काम नहीं है क्योंकि सुमार्ग दिखाने वाले सभी वेदादि शास्त्रों में कहा सब विषय प्रायः दोही भागों में विभक्त हो सकता है । एक तो संस्कार द्वितीय जाति और इन दो विषयों की व्याख्या शास्त्रकारों ने प्रारब्ध क्रियमाण आदि अनेक नाम वा रूपों में की है । इसी लिये सहसा कोई एक को सर्वोपरि ठहराने लगे यह ठीक वा उचित नहीं है किन्तु यथावसर

वा अपने २ विषय में दोनों प्रधान वा प्रबल हैं यह कहना ठीक मालूम होता है। जैसे अन्यत्र भी सोना जागना, रात्रि दिन, सर्दी गर्मी इत्यादि सभी के लिये यही व्यवस्था रखनी वा माननी पड़ेगी कि अपने २ समय वा उन २ की प्रधानता से होने वाले कामों में शीत उष्ण आदि दोनों ही प्रधान माने जावेंगे। इसी प्रकार वस्त्र पर आयेहुए ऊपरी मल को धोकर शुद्ध करलेने के लिये संस्कार की आवश्यकता वा प्रधानता है। परन्तु काले कम्बल का कालापन छुटाने के लिये कितनाही संस्कार करो उस का श्वेत होना असम्भव है यहां जाति की प्रबलता वा मुख्यता है क्योंकि संस्कार निष्फलसा है। ब्राह्मणादि तीन वर्णों के गर्भाधानादि वेदोक्त संस्कार उनकी शारीरिक वा आत्मिक मलिनताओं को दूर करने के लिये करने अवश्य चाहिये यहां संस्कार मुख्य है और जाति गौण है। परन्तु कोई जन्म से ही ऐसे मलिन संस्कारों वाला किसी कारण अतिनीच प्रकृति का सन्तान होना सम्भव है जिस के चाहे जैसे संस्कार करो वा शिक्षा करो उस का सुधरना वा शुद्ध होना कठिन वा दुर्लभ है यहां जाति मुख्य है। इसी के अनुसार नीतिशतक में भर्तृहरि ने कहा है कि—

सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

शास्त्रों में सब उपद्रवों की ओषधि है परन्तु मूर्ख की मूर्खता दूर करने की कोई ओषधि नहीं। जहां कहीं मूर्खता दूर होने का कोई उपाय हो वहां यह शोचना वा मानना होगा कि कई प्रकार की मूर्खता है जो उपाय से हट सकती है उस को ऐसे प्रसङ्गों में भर्तृहरिआदि ने मूर्खता नहीं माना और जिस प्रबल मूर्खता को मूर्खता माना है वह नहीं हट सकती और सामान्य मूर्खता जिस का उपाय हो सकता है उस को ऐसे वचन कहने वालों ने मूर्खता में नहीं गिना। यहां जाति की प्रबलता और शिक्षादि संस्कार को निष्फल कहा गया। इसी के अनुसार धर्मशास्त्रादि में शूद्र को वेद पढ़ाने का निषेध किया है कि जाति की प्रबलता होने से पढ़ानारूप संस्कार निष्फल होगा वा यों कहो किः—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥

मूर्खों को किया उपदेश कोप के लिये होगा किन्तु उस को उपदेश से सुख

वा शान्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं जैसे सांप को दूध पिलाना केवल विष को बढ़ाने के लिये होगा। तो मूर्ख वा शूद्र के सुधार के लिये किया वा कराया धर्मोपदेश शिक्षा वा वेद का अध्ययन उसको वा अन्यों को विपरीत अनर्थ फल देने वाला होगा इसलिये ऐसे को धर्म का उपदेश वा वेद का अध्ययन कदापि न कराना चाहिये यह मनु आदि का सिद्धान्त जाति की प्रबलता के पक्ष में है। इसलिये अभी तक जो लोग ऐसा समझते वा मानते हैं कि धर्मशास्त्रकार ब्राह्मणों ने शूद्रादि को पढ़ाने वा धर्मोपदेश का निषेध पक्षपात से किया यह उन की भूल या अज्ञान है। तथापि ग्रन्थकारों का यह आशय न समझ लेना चाहिये कि ऐसे अवसरों में उपदेश वा शिक्षारूप संस्कार सर्वथा व्यर्थ ही हो किन्तु संस्कार सभी समय सब के लिये कुछ न कुछ लाभकारी होगा। अर्थात् काले कम्बल को स्वाभाविक काला रंग छुटाने की इच्छा से धोना निष्फल होगा परन्तु ऊपर से लगी मलिनता को दूर करने के लिये कम्बल का भी धोना सार्थक है। और कुछ २ स्वाभाविक वा जातीय मलिनता की भी धीरे २ संस्काररूप शुद्धि होती रहेगी जिस को प्रत्यक्ष में शुद्ध हुई भले ही न कह सकें परन्तु वास्तव में कुछ २ शुद्धि होते २ कालान्तर में कुछ अधिक होने से प्रकट होना भी सम्भव है। अर्थात् एक साथ वा थोड़े काल में अथवा जन्म भर में भी स्वाभाविक मलिनता को सर्वथा दूर करके ठीक शुद्ध करने की चेष्टा संस्कार से व्यर्थ है। इसी के अनुसार "गधा धोये बछेड़ा नहीं होता" इत्यादि कहावतें जाति के बलवान् पक्ष को लेकर प्रचरित हुई हैं। और कुछ २ स्वाभाविक मलिनता की शुद्धि हो सकती वा पीछे लगी बाहरी मलिनता सर्वत्र दूर हो सकती है इस लिये न्यूनाधिक भाव से संस्कार होना सर्वत्र ही सार्थक है। वैद्यकशास्त्र में सब रोगों [जिन को असाध्य मान चुके ऐसों पर भी] पर औषधि लिखना संस्कार की प्रबलता वा सर्वत्र आवश्यकता दिखाने के लिये है और किन्हीं रोगों को असाध्य लिखना जाति की मुख्यता दिखाने के लिये है। विद्या शिक्षाद्वारा मनुष्य को योग्य बनाने का उपदेश वा उद्योग संस्कार की आवश्यकता में है। किसी को पढ़ाने वा उपदेश देने का निषेध जाति वा स्वभाव की प्रबलता में है। शूद्र का यज्ञोपवीत न कराया जाय और ब्राह्मणादि के बालकों की योग्यता के विना ही निश्चय किये भी यज्ञोपवीत कराने का उपदेश जाति की आवश्यकता दिखाता है। इसी प्रकार संस्कार की आवश्यकता में प्रायश्चित का विधान है।

अब तक के लेख से यह सिद्ध हुआ कि देश काल और वस्तुओं के नाना प्रकारों के भेदों से कहीं यथावसर जाति की मुख्यता और कहीं संस्कार की मुख्यता है। आजकल प्रायः लोगों का सिद्धान्त वा निश्चय यह ठहरता है कि यदि जन्म से जाति मानें तो गुण कर्म की वा संस्कार की आवश्यकता वा उत्तमता नहीं हो सकती और गुणकर्म वा संस्कार से जाति मानें तो जन्म से नहीं मान सकते इस प्रकार दोनों का परस्पर विरोध बुद्धिमानों को भी प्रतीत होता है। और इस के प्रत्यक्ष विरोध का दृष्टान्त भी मिलता है कि यदि संस्कारात्मक गुणकर्म से जाति है तो कोई किसी वर्ण में उत्पन्न क्यों न हो जिस में ब्राह्मण के गुणकर्म होंगे वही ब्राह्मण मानना चाहिये। और जन्म से ही ब्राह्मणादि जाति मानो तो ब्राह्मण कैसे गुणकर्म होने पर भी उस को ब्राह्मण नहीं मान सकते इस दशा में गुणकर्म रूप संस्कार का जाति के साथ अड़ंगा लगाना व्यर्थ है। इस लिये इन दो में से एक को ठीक मानो॥

इस का उत्तर यद्यपि पूर्व लेख में भी कुछ आगया तथापि अब और स्पष्ट लिखते हैं। सिद्धान्त यह है कि जगत् में जैसे सभी पदार्थ गुणकर्मों से जाने जाते हैं कि यह अमुक वस्तु है। मनुष्य और पशु की पहचान भी गुणकर्मों से सम्बन्ध रखती है। और बोल चाल आचार विचार आदि देख कर उत्तम निकृष्ट की पहचान होती है। काठ का हाथी कोई ऐसा बना सकता है जिस में रूपरंग बनावट आदि सब ज्योंके त्यों हों परन्तु हाथी के कर्म उस में न होने से ही वह हाथी नहीं माना जाता। इसी प्रकार कलई करके बनाया सुवर्ण आदि सभी पदार्थ गुणकर्म परीक्षा होने पर जो सच्चा निकले वही वास्तव में सुवर्णादि माना जाता है। इस लिये प्रत्येक वस्तु के भिन्न २ होने में गुणकर्म ही प्रधान है। परन्तु गुणकर्मों का जाति के साथ क्या सम्बन्ध है? यही शोचना है। विचारो कि हाथी में जो हाथीपन है जिस के होने से वह सच्चा हाथी माना जाता और जिस हाथीपन के न होने से ही काष्ठ का हाथी बनावटी झूठा माना जाता है वह हाथीपन हाथी में कहां से आया तो यही सिद्ध होगा कि सच्चा हाथीपन जन्म से वा गर्भ से अथवा उस हाथी के मा बापों में जो जातीय गुण था उन्हीं के बीज से सच्चा हाथीपन आया इसी से तो वह सच्चा हाथी ठहरा और काष्ठ के हाथी में वह बात जन्म से न होने पर वह झूठा माना

गुण कर्मों का सम्बन्ध छोड़ कर लोक व्यवहार से कहाने वाले ब्राह्मण क्षत्रियादि के कुल में उत्पन्न होने मात्र से ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण मानते हैं भी बात शास्त्र विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती । आशा है कि हमारे पूर्वोक्त लेख से सब महाशय यह सारांश निकालेंगे कि अच्छे संस्कारी सत्कर्मी सत्वगुणी ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न होने पर भी कोई मनुष्य पूरा २ ब्राह्मण नहीं बन सकता क्योंकि यद्यपि वे रजवीर्य आदि कारण से आये उत्तम गुण से वा जड़ से ब्राह्मण हैं तथापि मलिन गर्भाशय आदि से आये शारीरिक आत्मिक मलिनता सम्बन्धी दोषों से आच्छादित वा दूषित हो जाने से वह सन्तान पूरा २ ब्राह्मण नहीं हो सकता है इसीलिये जन्म से शूद्र तुल्य माना गया और गर्भाधानादि वा यज्ञोपवीतादि संस्कारों से शुद्ध होने पर ब्राह्मण वा द्विज कहाने के योग्य हो सकता है और जड़ से ब्राह्मणपन होने के कारण उस का शर्मान्त नाम रखने और किसी अंश में ब्राह्मण कहने की आज्ञा भी शास्त्रकारों ने दी । अब रहा यह कि गर्भाधान के समय उस के माता पिता में ब्राह्मणपन की योग्यता थी वा नहीं यह सन्तानोत्पत्ति होने पश्चात् कैसे निश्चय हो सकता है ? तब उस सन्तान में जड़ से ब्राह्मणपन मानना चाहिये वा नहीं ? इस का समाधान यह है कि कुछ तो माता पिता के विद्यमान आचार विचार देख सुन कर आगे पीछे के आचार विचारों का अनुमान हो सकता है क्योंकि किसी के चाल चलन एक साथ सर्वथा नहीं बदल सकते और कुछ सन्तान की वर्त्तमान दशा पर ध्यान देने से भी आगे पीछे का अनुमान हो सकता है । और अच्छे कुलों के चालचलन बिगड़ते २ भी अन्य नीचकुलों की अपेक्षा कुछ २ किसी अंश में अच्छे बने ही रहते हैं इस लिये शास्त्र की आज्ञानुसार उन का भी ब्राह्मण के समान नामकरण वा यज्ञोपवीतादि संस्कार करना चाहिये । यह सब होने पर भी उनके ठीक २ ब्राह्मण होने में सन्देह बाकी रह सकता है तभी तो विद्वानों का यह सिद्धान्त सार्थक होगा कि "ब्राह्मणादि के बालकों का यज्ञोपवीतादि संस्कार कराके और शूद्र को संस्कार के बिना ही विद्या शिक्षा दी जावे यदि युवावस्था तक उन २ में ठीक २ परीक्षा होने पर भी अपने २ वर्ण की योग्यता न आवे तो जिस २ वर्ण की योग्यता ठहरे उस २ वर्ण में शामिल किये जावें" परन्तु वर्त्तमान काल में जिन के कुलों में अनेक पीढ़ियों से ब्राह्मणपन के काम उठ गये तथा नीच वैश्यादि के कर्म खेती व्यापारादि करते २ युग बीत गये उन में शास्त्र के सिद्धान्त से ब्राह्मणपन ठहर सकना कठिन जान पड़ता है । तथा आजकल के पठित शिक्षितों में भी ब्राह्मणपन के कर्म शुभाचरणादि बहुत कम दीखते हैं । इस कारण वर्त्तमान समय में वर्णव्यवस्था की अच्छी दशा नहीं है । इत्यलं बहु लेखेन ॥

त्रयीविद्या (गत अङ्क पृ० ११२ से आगे)

है । इस का कारण यह है कि जिस समय मनुस्मृति बनी थी वह समय सर्वथा बदल गया तब कोई २ मनुष्य वेद को यथावत् जानने वाले भी मिलते थे और कुछ २ जानने वाले तो प्रायः थे ही और जब तक वेद के जानने वाले आर्यावर्त्त में रहे तब तक राज्यादि के अधिकारी भी येही आर्यावर्त्त वासी थे । अब समय इतना लौट पौट हो गया कि उस बात पर हमारा विश्वास भी नहीं जमता । इस का दृष्टान्त हम वर्त्तमान समय का यह देवें कि जो दशा इस समय अंग्रेजी राज्य में वर्त्तमान है कि इस२ कक्षा तक अमुक२ प्रकार अंग्रेजी विद्या पढ़ के अमुक २ कार्यों को सीख कर ऐसे २ बड़े काम करने की योग्यता मनुष्य प्राप्त कर लेता है यह बात कभी ऐसे समय में दश बीस हजार वर्ष बीत जाने पर जब कि आज कल की सब वर्त्तमान कार्य दशा लौट पौट हो जावे तब कोई वर्णन करे तो निश्चय है कि किसी को विश्वास न आवेगा कि यह ठीक है परन्तु वर्त्तमान में प्रायः सभी को विश्वास है। वेद का आशय क्या है वेद क्या वस्तु है ? इस को शोचने से प्रतीत होता है कि वेद मन्त्र पढ़लेने मात्र से वेद का ज्ञान होना नहीं कह सकते किन्तु इस की अपेक्षा धनुर्वेदादि रूप से किसी प्रकार वेद का जो आशय जगत् भर में फैल गया है उस को किसी भाषा द्वारा अनुभव के साथ जो जितना जानता है वह उतने अंश में वेदज्ञ है ऐसा मानना अनुचित नहीं है । इसी के अनुसार हम बिना संकोच कह सकते हैं कि वर्त्तमान अंगरेजी राज्य की जो कुछ उन्नति है और जो कुछ विद्या सम्बन्धी अंश उस में है वह वेदाशय को किसी प्रकार कुछ जान कर हुआ सा है । जो कोई लोग अंरेजी राज्य की वा अंगरेज जाति की पूर्ण उन्नति हो गयी समझते हैं यह उन का समझना वैसा ही है जैसे कोई दरिद्र मनुष्य लक्षाधीश के उन्नत कार्यों को देख कर उस को सर्वोपरि धनी मान बैठे वा लक्षाधीश को भी अपने से अधिक ऐश्वर्यवान् कोई न दीख पड़े तो वह अपने को सब से बड़ा धनी मानले । यदि अंगरेज लोग वेद की और वेदानुकूल शास्त्रों की ओर पूर्ण दृष्टि देने लगें तो उन को हमारी अपेक्षा शीघ्र वेद का असली गूढ़ आशय कुछ काल में जान लेना असम्भव नहीं । और वेदानुकूल अपने कामों का संशोधन अंगरेज लोग करने लगें तो सम्भव है कि इनकी पूर्ण उन्नति और अटल चक्रवर्ती राज्य शान्ति वा सुख के साथ बहुत काल के लिये स्थिर हो जाय । उसी को हम दैवी उन्नति वा दैवी राज्य बिना संकोच मान सकेंगे । हमारे इस लेख को कदाचित् कोई लोग ऊटपटांग समझें तो आश्चर्य नहीं परन्तु हमको वेद पर पूरा विश्वास

है कि वेद परमेश्वर की विद्या है उस विद्या के अनुसार जो उन्नति है वही पूर्ण उन्नति होगी । सेनापति आदि पदों का अधिकारी पूरा २ वेद शास्त्र का जानने वाला ही हो सकता है इस कथन से यह भी अभिप्राय निकलता है कि वेद सब विद्याओं का भण्डार है जिस अंश की विद्या में जो जैसा प्रवीण हो वह वैसे २ सेनापति आदिक पद का अधिकारी हो सकता है । यदि कोई अधिक वा सर्वांश वेद विद्या का ज्ञाता हो तो वही चक्रवर्त्ती राजा बनाया जाय वा यह भी कह सकते हैं कि जैसे सूर्य सब तेजधारी प्रकाशक तैजस पदार्थों में सब से बड़ा होने के कारण सब के तेजों वा प्रकाशों को दबा लेने से सर्वोपरि माना जाता है वैसे सर्वांश में वेद का पूर्ण जानने वाला सब के बुद्धि बल को दबा कर सर्वोपरि चक्रवर्त्ती बन जाता है और सब को बड़ा मानने पड़ता है । मुख्य अभिप्राय यह है कि वेद के सिद्धान्तानुसार विद्या और धर्म दोनों को ठहरने के लिये जिस के अन्तःकरण में पूरा स्थान मिल जाता है उस की बुद्धि आत्मा शरीर तथा वाणी ठीक २ शुद्ध हो जाती है वही सब का हिताहित विचार के निष्पक्षता के अधिक आ जाने से सब का मान्य राजा हो सकता है। वेद का आशय अन्य भाषाओं के द्वारा सर्वत्र फैल जाने से जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य उन २ मनुष्यों को ज्ञात हो जाता है वे किन्हीं निकृष्ट कोटि के मनुष्यों की अपेक्षा विशेष जानकार हों यह सम्भव है परन्तु साक्षात् मन्त्रपाठद्वारा यदि कोई वेद का पूरा विद्वान् हो तो वही विद्या और धर्म दोनों में पूरा योग्य होगा ॥७॥ जैसे वनादि में लगा तेजी के साथ जलता हुआ अग्नि गीले हरे वृक्षादि को भी जला कर शीघ्र ही भस्म कर डालता है वैसे ही वेद के पढ़ने से जिस के हृदय में विद्या और धर्मसम्बन्धी ज्ञान का प्रबल प्रकाश उत्पन्न हो जाता है वह अविद्या वा अधर्मसम्बन्धी कर्मों से सञ्चित हुए हृदय के सब बड़े २ मलिन संस्कार वा वासनाओं को एक साथ हटा देता है । यह नियम है कि सूर्य का उदय होने पर रात्रि का अन्धकार नहीं ठहर सकता इसी प्रकार विद्या और धर्म के उदय में अविद्या अधर्म के कुसंस्कार नहीं ठहर सकते ॥८॥ सब का अन्तिम फल यह होता है कि वेदरूप शास्त्र के ठीक २ गूढ तत्त्व को यथावत् जानने वाला पुरुष ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थादि किसी आश्रम में क्यों न हो इसी विद्यमान शरीर में जीवित दशा में ही पूर्ण ब्राह्मण सर्वोपरि माननीय पूर्ण महात्मा पूरा योगी वा ज्ञानी कहाने योग्य जीवन्मुक्त हो जाता है उस का देहान्त होने पर जन्म नहीं होता किन्तु मुक्त हो जाता है । अर्थात् संसार परमार्थ का पूरा २ सुख भोगने वाला अधिकारी यथार्थ वेदवेत्ता के समान अन्य कोई नहीं हो सकता ॥९॥ माननीय मानवधर्मशास्त्र का आशय हमारे पाठक लोग ऐसा न स-

समझ लें कि जैसे आधुनिक ग्रन्थों में अत्युक्ति के साथ साधारण वस्तु की सहस्रों गुणी मिथ्या प्रशंसा लिख मारी है वैसे किसीने मनुस्मृति में भी लिखदी होगी क्योंकि वेद की प्रशंसा विषय में सब बड़े २ मान्य प्राचीन ग्रन्थों में बड़े२ ऋषि महर्षि विद्वान् नैयायिकों [फिलासफरों] का भी यही आशय वा सिद्धान्त मिलता है । जिस विषय में अनेक बुद्धिमान् विद्वानों की एक सम्मति हो वह विषय अधिक माननीय होता वा होना चाहिये । द्वितीय बात्ती यह भी है कि जब सृष्टि के आरम्भ में हम सभी मूर्ख थे वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि के विशेष ज्ञान से शून्य थे तब विद्या की परम्परारूप स्रोत का अवलम्ब कहीं से न मिलता तो आज हम विद्या की उन्नति कैसे करते ? अर्थात् जैसे प्रवाहरूप परम्परा से चलने वाले जगत् के सब कामों का आरम्भ हम को मानना पड़ता है कोई काम वा प्रवाह निर्मूल नहीं दीखता वा यों कहो कि कोई वृक्ष ऐसा नहीं दीखता जिस का मूल—जड़ पृथिवी में न हो केवल आकाश में उस की शाखा फैल गयी हों जैसे यह असम्भव बात माननी पड़ेगी वैसे ही विद्या की परम्परा वा प्रवाह चलने का मूल वा स्रोत निकलने का स्थान सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की ओर से वेद मानने पड़ेगा और अवश्य यह मानना चाहिये कि विद्या के प्रवाह का पहिला मूल कोई है और जो सब विद्याओं का मूल है उसी को हम वेद मानना चाहते हैं। इस के साथ ही हम को यह भी मानने पड़ता है कि जब अत्यन्ताभाव से भाव नहीं हो सकता अर्थात् जैसे आम के बीज में मनुष्य के शरीर का अत्यन्ताभाव है तो त्रिकाल में भी किसी उपाय के द्वारा आम के बीज से मनुष्य का शरीर नहीं बन सकता । अर्थात् मूल वा बीज में जो २ गुण वा स्वभाव सूक्ष्मरूप से रहते हैं उन्हीं की वृद्धि वा फैलाव हो सकता है वैसे ही मूलरूप ईश्वरीयविद्या वेद में वे सब विद्या सम्बन्धी अद्भुत २ विषय जिन को सृष्टि के आरम्भ से अब तक विद्वानों ने जाना और प्रसिद्ध किया वा आगे जो २ विषय प्रकट होंगे वे सब सूक्ष्मरूप से पहिले ही से विद्यमान हैं। इत्यादि प्रकार जब विद्या सम्बन्धी सब विषयों का मूल भण्डार वेद ठहर सकता है तो विद्या से सम्बन्ध रखने वाले संसार परमार्थ सम्बन्धी सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सिद्धि वेदवेत्ता को यथावत् प्राप्त होना ठीक सम्भवित है। इसी लिये मनुकृत वेद प्रशंसा पर हमारा विश्वास है और सत्य पर विश्वास होना भी चाहिये । क्योंकि सब कामों का आरम्भ वा सिद्धि विश्वास के ही आधीन है इस लिये सत्य पर सत्य विश्वास करो ॥

कोई कह सकता है कि तुम कितना ही लिखो वा बको हम को तो विश्वास तब तक नहीं आ सकता कि जब तक प्रत्यक्ष सिद्धि कुछ न दिखा सको क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धि देख कर संसार के सभी विषयों का विश्वास स्वयमेव हो जाता है। अधिक तर्क वितर्क की आवश्यकता आपही मिटजाती है। जैसे तुम कहते हो कि वेद का जानने वाला ही ठीक २ सेनापति हो सकता है। भला वेद पढ़ा कोई ऐसा सेनापति दिखाओ कि जो सब प्रकार की आयुर्वेद विद्या में सर्वोपरि जानकार हो तो हम भी वेद पर विश्वास कर लेवें और मनु जी के वा तुम्हारे कथन पर विश्वास करें॥

इस का कुछ उत्तर तो हमारे पूर्व लेख में आगया कि समय लौट पौट हो गया वेद के यथार्थ ज्ञाता नहीं रहे इसी से अब एक साथ वेद की प्रशंसा पर विश्वास जमना कठिन है और यह भी सत्य है कि अंगरेज जातिने अनेक आश्चर्यरूप शिल्पविद्या के काम प्रत्यक्ष कर के दिखा दिये तो उन को सत्य ठहराने के विना ही सब लोग निस्सन्देह मानते हैं। अर्थात् शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार हम भी यही मानते हैं कि "सेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। अथवा प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" प्रत्यक्ष प्रमाण सब से प्रबल है प्रत्यक्ष से जिस को हम देख लेते हैं उस विषय को जानने वा मानने के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती परन्तु प्रत्यक्ष भी अनेक प्रकार का है कुछ विषय ऐसे हैं जिनको हम इन्द्रियों द्वारा देख सुन के साक्षात् करते हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं कि जिनका इन्द्रियों द्वारा कभी अनुभव नहीं होता परन्तु हमको उन का पूरा विश्वास आत्मा और मन के द्वारा हो जाता है वेभी प्रत्यक्ष ही माने जाते हैं। अब हमको वक्तव्य यह है कि जैसे प्रायः अज्ञात वा अप्रसिद्ध विषयों में पहिले शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास कर के विशेष ज्ञान होने के लिये अनुमान खोजते हैं कि इस का अनुमान से कैसे निश्चय हो सकता और इसकी सिद्धि के लिये क्या२ वा कैसा २ अनुमान होना चाहिये। अनुमान से निश्चय किये पश्चात् आगे और कुछ अधिक परिश्रम करने से प्रत्यक्ष वा साक्षात् उस का अनुभव हो जाता है इस का दृष्टान्त यह है कि कोई मनुष्य अपने किसी कामको सिद्ध करना चाहता है इस लिये वह पहिले किसी विद्वान् से उसकी सिद्धिका उपाय सुने वा जाने यह शब्द प्रमाण हुआ। विद्वान् के उपदेशरूप शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास करके आगे चले तो उस को कार्यसिद्धि के कुछ चिह्न दीखें तब अनुमान प्रमाण हुआ फिर आगे चले

तो उस वस्तु वा विषय के प्रत्यक्ष हो जाने पर जानने की इच्छा पूर्ण हो जाय गी। इस प्रकार अज्ञातवस्तु वा विषय के जानने के लिये सर्वत्र ही शब्दप्रमाण की सब से पहिले अत्यन्त आवश्यकता है यदि शब्दप्रमाण पर सर्वथा कोई विश्वास ही न करे तो भावी उद्योग के लिये वह चेष्टा भी नहीं कर सकता तब किसी के पूरा विश्वास होना ही असम्भव है। इसी प्रकार वेद का सर्वोपरि गम्भीर सिद्धान्त जानने के लिये हम को पहिले मन्वादि महर्षियों के कहे शब्द प्रमाण पर कुछ विश्वास करना चाहिये। और विश्वास करके आगे चलें वेदानुयायी अन्य शिष्ट प्रणीत ग्रन्थों का भी वेद विषय में क्या आशय है यह भी शोचें और वर्त्तमान वेद पुस्तकों से भी उस सिद्धान्त को मिलावें और आद्योपान्त लौट २ कर कई वार मूल वेद के आशय को पढ़ें देखें विचारें तदनन्तर उस के अनुसार काम कर २ के अनुभव करें तो हम को पूरा विश्वास हो कर पूरा फल प्राप्त होना सुगम है। अर्थात् हम यह नहीं कहते कि इस समय किसी को वेद मन्त्र पढ़ा दिये जांय तो वह सेनापति आदि काम के पूर्ण योग्य हो सकता है। किन्तु प्रत्येक कार्य की सिद्धि का जो क्रम है उसी रीति से वह करना चाहिये। प्रथम तो जो कोई मनुष्य वेद पढ़े वह भ्रमोत्पादक आधुनिक ग्रन्थों का देखना पढ़ना सर्वथा त्यागदे। उसकी बुद्धि तीव्रसंस्कारिणी हो उसको पहिले वेदानुकूल आर्षमूल ग्रन्थ ठीक २ पढ़ाये समझाये जावें फिर वह टीका पुस्तकों को छोड़ कर मूल वेद को किसी अच्छे विद्वान् से परिश्रम और अच्छी निष्ठा के साथ कुछ काल तक पढ़े तब उसको वेदका असली सिद्धान्त कुछ प्रतीत होना सम्भव है। और जब तक वेद के मुख्य सिद्धान्त पर किसीकी बुद्धिही न पहुंचे तब तक वह आगे क्या निश्चय कर सकता है। प्रत्येक ग्रन्थों का साराश वा सिद्धान्त थोड़ा साही होता है परन्तु जब तक उस ग्रन्थ को आद्योपान्त साधनों के सहित कोई अपने हृदय में नहीं धर लेता तब तक उस के पूर्वापर अंशों को मिला कर सारांश निकाल के कार्य सिद्धि कर लेना कठिन है। अर्थात् वेद पढ़ के भी जो वेद को नहीं जानता वह सेनापति आदि किसी काम का अधिकारी होने योग्य नहीं।

इस के अनन्तर एक बात यह भी विचारणीय है कि जो काम जैसा छोटा वा बड़ा हो उस की सिद्धि के लिये वैसा ही परिश्रम और समय लगना चा-

छिये । वेद का मुख्य सिद्धान्त बहुत काल से समय के परिवर्त्तनानुसार लुप्तसा होगया उस को हम सर्वथा भूल गये स्वप्न में भी वेद का ध्यान नहीं आता तो अब एक साथ ऐसे बड़े गम्भीर आशय को प्रत्यक्ष जान के बड़े २ काम सिद्ध करलें यह असम्भवसा है । यदि अस्मदादि के लेखानुसार ब्राह्मणादि शिष्ट लोग मनु आदि महर्षियों के वाक्यों पर कुछ विश्वास करके ठीक २ संस्कृतविद्या के पढ़ने पढ़ाने के साथ वेद के पढ़ने जानने का मार्ग खोलें तो अब से कई हजार वर्षों में वेद को यथार्थ जानने वाले हों और वे सूर्य के समान प्रकाशित हो कर संसार परमार्थ के सब बड़े २ काम सिद्ध कर के प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं । परन्तु जब से हम वेद को जानने समझने की ओर झुकने लगें गे तभी से कुछ २ यथोचित सफलता दीख पड़ने से आगे २ भाविनी सिद्धि होने का विश्वास और उत्साह हम को बढ़ता जायगा । अंग्रेजजाति का पूर्व इतिहास जिन लोगों ने देखा होगा वे शोच सकते हैं कि पहिले इन की क्या दशा थी और ऊपर को बढ़ने लगे तब से कितने काल में इस वर्त्तमान दशा तक पहुंचे हैं । परन्तु अंगरेजजाति धर्म विषय में अभी तक बहुत गिरीदशा में है इसी लिये हम इन की लिफाफेदार उन्नति को बिना जड़ की निर्मूल उन्नति कहें तो अनुचित नहीं है । यदि ये लोग मूलरूप धर्म को पकड़ के वा धर्म को आगे करके चलें तो इन की समूल उन्नति कहना ठीक होगा । इस से यह प्रयोजन सिद्ध हुआ कि हम वेद की ओर ध्यान दिलाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं । अब हम इस वेद की प्रशंसा को अधिक तूल न देकर अपने मुख्य विषय पर चलेंगे ॥

हमारा मुख्य उद्देश त्रयीविद्या का व्याख्यान करना है इस लिये इस विषय में प्रथमयह शोचना है कि त्रयीविद्या किस का नाम है चतुष्टयी वा पञ्चतयी अथवा द्वयीविद्या क्योंनहीं कहा गया ? । और इस शब्द का क्या अर्थ है ? ॥

इस का उत्तर यह है कि—तीन २ वर्ण आश्रमादि वा तीन लोक देवादि का क्रम जिन के साथ लगा है ऐसे तीन वेदों का नाम त्रयीविद्या है अर्थात् तीन प्रकार की विद्या के तीन भेद प्रधान होने से ऋगादि नामक तीन वेद माने गये हैं । यदि इसी त्रयीविद्या का विशेष व्याख्यान करें तो इसी में से चतुष्टयी वा पञ्चतयीविद्या भी निकल सकती है जहां चतुष्टयी पञ्चतयी आदि शीर्षक (हेडिंग) रख के व्याख्या हो वा है वहां भी त्रयीविद्या उस के अन्तर्ग-

तमप्रधानभाव से रहती है । चौथी विद्या चौथी दशा को कहते हैं वह ऐसी है जिस का कुछ वर्णन किया भी जा सकता है परन्तु पूरा २ वर्णन होना कठिन पड़ जाता है । कहीं २ चौथी अवस्था के युक्ति प्रमाणानुकूल होने से मानना तो पड़ता है कि चौथी दशा है और होनी चाहिये परन्तु कहना लिखना कुछ नहीं बनता केवल तीन दशा के समझने वाले मन में निश्चय कर लेते हैं कि यह चौथी है । इसी लिये चौथी भी मानने पड़ती है और इसी लिये त्रयीविद्या के व्याख्यान में चौथी भी अन्तर्गत माननी चाहिये । तथापि तीन का ही प्रधानता से व्याख्यान हो सकने के कारण त्रयीविद्या का उद्देश लेकर शास्त्रकारों ने प्रायः व्याख्यान किया है उसी के अनुसार मैं भी त्रयीविद्या शीर्षक रख के व्याख्यान करना उचित समझता हूं । तथा एक बात यह भी है कि प्रायः आर्ष ग्रन्थों में वेदों की गणना करते समय तीन वेद क्यों माने गये ? इस का भी समाधान त्रयीविद्या के व्याख्यान में आजायगा । अब रहा यह कि एकविद्या वा द्वयीविद्या क्यों नहीं कहा तो इस का समाधान यह है कि एक विद्या भी कह सकते हैं । परन्तु एक संख्या के अखण्ड मानने की दशा में वह व्याख्यान में नहीं लाई जा सकती क्योंकि भेद के साथ व्याख्यान का सम्बन्ध है चाहे यों कहो कि भेद वा शाखाओं का नाम ही व्याख्यान है और वह मूल की हालत वा दशा ऐसी है जिस में भलाई बुराई धर्म अधर्म जड़ चेतन विद्या अविद्या ज्ञान अज्ञान उत्तम मध्यम निकृष्ट सत्त्व रजस् तमस् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि के सभी भेद मिले रहते हैं उस का ठीक २ विवेक होना दुस्तर है इस कारण इसी सर्व निर्भ्रम अनिर्वचनीय सर्वमयी सर्वभक्षिणी सर्व जाति पांति आदि के भेद को तोड़ने वाली एक दशा को तुरीयावस्था कह सकते हैं और यह दशा निवृत्ति मार्ग से सम्बन्ध रखने वाली है । जब इस का व्याख्यान वा विवेक होने लगता है तभी उस व्याख्यान को त्रयीविद्या मानना चाहिये । इसी विचार के अनुसार हम उस चौथी दशा को अकथनीय समझते हैं और त्रयीविद्या इस लिये प्रधान वा मुख्य है कि धर्म अधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य सत्य असत्य आदि का विवेचन इसी से सम्बन्ध रखता है और जब तक धर्माधर्मादि का विवेक न हो तब तक कोई प्राणी अनिष्ट को छोड़ने और इष्ट को ग्रहण करने की कदापि चेष्टा नहीं कर सकता । इसलिये एक संख्या से व्याख्यान नहीं किया गया । अब रहा दो संख्या का विचार सो ठीक है दो संख्या का शीर्षक रख के व्याख्यान करना बन सकता है । और दो संख्या के व्याख्यान का आरम्भ भी यहीं से होगा कि

प्रकृति पुरुष, जड़ चेतन, स्त्री पुरुष, माता पिता, भोग्य भोक्ता, वा प्रकाश अन्धकार, धर्म अधर्म, सत्य असत्य, विद्या अविद्या, ज्ञान अज्ञान, सुख दुःख, राग द्वेष हानि लाभ, शीत उष्ण, दिन रात, पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष, पूर्व उत्तर, आगे पीछे, ऊपर नीचे, आकाश पाताल, ऊंच नीच, अच्छा बुरा, शुद्ध अशुद्ध, उत्पत्ति प्रलय, गोरा काला, नीति अनीति, न्याय अन्याय, सांख्य योग, ईश्वर जीव' सुखी दुःखी, उत्तरायण दक्षिणायन' नित्य अनित्य, शुक्ल कृष्ण, बड़ा छोटा, सुकर्म दुष्कर्म, काल अकाल, सुभिक्ष दुर्भिक्ष, प्रमेय प्रमाण, द्रष्टा दृश्य, कर्त्ता कर्म, धर्म धर्मी, गुण गुणी, एक अनेक, खाना पीना, बैठना उठना, आना जाना, गाना बजाना, देव असुर, आर्य दस्यु, आर्य शूद्र, उत्तम निकृष्ट, इष्ट अनिष्ट, कर्म अकर्म, काम क्रोध, शान्ति अशान्ति, इत्यादि शोचने से बहुत निकल सकते हैं। परन्तु शोचने से यह भी मालूम होगा कि इन्हीं दो २ में से तीसरा भी मिलकर बनाना चाहिये इस लिये दो की अपेक्षा से भी तीन के व्याख्यान की उत्तमता वा प्रधानता है क्योंकि दो के बीच में सदा ही तीसरा माना जाता है उस को जबतक अलग न किया जाय तबतक मध्यम को उत्तम के साथ मिला देने से उत्तम दूषित होगा और मध्यम को नीच के साथ मिला देवें तो मध्यम दूषित होगा परन्तु तीनों को पृथक् २ गिनें तब यह दोष नहीं आवेगा इस कारण त्रयीविद्या का व्याख्यान प्रधान है ॥

अब रहा आगे असंख्य तक व्याख्यान बढ़ाना उस में किस संख्या को प्रधान और किस को गौण माना जावे ?। इस का उत्तर यह है कि वहां भी सर्वत्र तीन संख्या की ही प्रधानता रहेगी और तीन का तीन से ही व्याख्यान बढ़ातेर असंख्य तक पहुंच जायगा और उस सब विस्तार में जब शोचेंगे तब तीनही प्रधान दीख पड़ेंगे। जैसे न्याय के अनुसार काल एक विभु वा व्यापक द्रव्य है जो कभी किसी वस्तु वा काम से पृथक् नहीं हो सकता किन्तु सदा सब के साथ लगा है वह अपने वास्तविक स्वरूप से पहिले एक है। उस के पहिले सुकाल दुष्काल वा भूत भविष्य आदि दो २ भेद किये जाते हैं। परन्तु दो भेद करने की दशा में वर्त्तमान काल को दो में से किसी के साथ वा कुछ २ अंश दोनों के साथ मिलानापड़ेगा। इस लिये दो में से एक शुद्ध भूत वा शुद्ध भविष्य न रहेगा वा कुछ२ दोनों दूषित रहेंगे इस कारण तीसरा वर्त्तमान निकालना आवश्यक हुआ और यहां भी दो की अपेक्षा तीन संख्या शुद्ध निष्कलंक होने से प्रधान हुई। और इस तीन संख्या की प्रधानता का भी त्रयीविद्या से सम्बन्ध जानो ॥

अब काल की भूत वर्त्तमान और भविष्य नामक तीन संख्या का आगे तीन से ही व्याख्यान बढ़ सकते हैं जैसे आसन्नभूत परोक्षभूत प्रत्यक्षभूत, आसन्नभविष्यत् अनद्यतनभविष्यत् अद्यतनभविष्यत् वर्त्तमानभूत, वर्त्तमानभविष्य, शुद्धवर्त्तमान । इत्यादि इसी प्रकार आसन्नभूतादि का भी तीन २ भेदों से व्याख्यान बढ़ सकता है । जैसे एक अकार के ह्रस्व दीर्घादि तीन २ भेदों से व्याख्यान हो कर १८ भेद हो जाते हैं । इस लिये त्रयीविद्या का व्याख्यान प्रधान है ॥

वेद

अब तक सामान्य व्याख्यान रहा अब हम एक वेद शब्द का कुछ व्याख्यान करेंगे जिस के तीन अंशों से त्रयीविद्या कही जायगी । एसियाटिक सोसायटी कलकत्ता के छपे निरुक्त वेदाङ्ग की व्याख्या के आरम्भ में सामश्रमी जी ने वेद विषय पर जो भूमिका लिखी है उस का यहां यथार्थ अनुवाद करके उस पर अपनी कुछ सम्मति लिखना उचित समझ के आरम्भ करता हूं आशा है कि पाठकलोग इस को विशेष ध्यान से शोचेंगे ।

अथ कोऽसौ वेदः? वेदशब्दस्य कीदृशी व्युत्पत्तिरिष्टा, आर्याणाम्, तथा वेदस्य किं लक्षणम्, स्वरूपं च तस्य किमिति त्रयः प्रश्नाः स्वतएव सर्वमनःसु समुत्पद्यन्त एव, तत्समालोचनायैव तर्हिकिञ्चिदिह यतामह इति यावत् ॥

(वेदः) "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः,, इत्येतद्वेदशब्दव्युत्पादनं कृतं दृश्यते देवमित्रपुत्रेण विष्णुमित्रेण बह्वृक्प्रातिशाख्यस्य वृत्त्युपक्रमे । अन्यान्यविधानि च सन्ति बहूनि वेदशब्दव्युत्पादनानि तानि च तत्र २ द्रष्टव्यानि॥

भाषानुवाद-यह वेद कौन है ? अर्थात् आर्यों को वेदशब्द का निरुक्त वा व्याकरणानुसार कैसा अर्थ करना अभीष्ट है ? [ध्यान रखना चाहिये कि इस व्याख्यान में जो आर्यशब्द आया वा आवेगा उस से आर्यसमाजस्थ थोड़े से ही मनुष्यों का ग्रहण नहीं है किन्तु आर्यावर्त्त वासी वेदानुयायी सदाचारी ब्राह्मणादि सभी का ग्रहण समझना चाहिये] तथा वेद का क्या लक्षण वा लाक्षणिक अर्थ ? और वेद का क्या स्वरूप है ? ये तीन प्रश्न स्वयमेव सब के मनों में उत्पन्न होतेही हैं । उस की समालोचना के लिये ही यहां हम कुछ यत्न करेंगे । धर्मादि काम मोक्षरूप पुरुषार्थ के फल जिन से जाने जाते वा प्राप्त किये जाते हैं वे वेद हैं,,

यह वेदशब्द की व्युत्पत्ति देवमित्र के पुत्र विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य नामक पुस्तक की वृत्ति से पूर्व भूमिका में लिखी है। और वेदशब्द की अन्य २ प्रकार की अनेक ग्रन्थों में अनेक व्युत्पित्ति की हैं उन को वहां २ देखो।

सम्पादक—हमारी सम्मति में वेद शब्दार्थ पर तीन ही प्रश्न होने ठीक नहीं हैं किन्तु वेद के मानने वालों के चित्त में उसके गम्भीर सिद्धान्त की ओर समय के परिवर्त्तनानुसार बहुत काल से प्रवृत्ति न रहने के कारण सैकड़ों प्रश्न खड़े होते हैं और शङ्काओं की वृद्धि ने वेद से सबको विमुख करदिया। इसी कारण ब्राह्मणादि आर्यलोग अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भूल कर दूसरे मार्ग में चल पड़े इसीका नाम आर्यों की अवनति होगा। वेद को किसने बनाया? कब बनाया? वेद मनुष्य का बनाया है वा अनादि सिद्ध ईश्वरकृत है? ईश्वरकृत वेद हैं तो बायबिलादि क्यों नहीं? वेद में क्या विषय है? अग्नि आदि जड़ तत्वों की पूजा है वा नहीं?। वेद में जिन मनुष्यों का नाम लेकर इतिहास है या नहीं? यदि है तो वेद ईश्वरकृत कैसे हुआ? वेद में सब विद्या हैं वा नहीं? वेद परोक्षार्थ बोधक है वा प्रत्यक्षार्थ बोधक भी? वैदिकधर्म क्या है? और वह सर्वोपरि वा सर्वमान्य कैसे है? वेद किसी खास देश काल और जाति के लिये है वा सब देश काल और मनुष्यजातिमात्र के लिये? वेद अनादि वा अपौरुषेय कैसे है? इत्यादि अनेक प्रश्न हो सकते हैं जिन के प्रायः सभी उत्तर इस त्रयीविद्या के व्याख्यान में आजावेंगे। अथवा इत्यादि प्रकार की शङ्काओं का समाधानरूप ही त्रयीविद्या का व्याख्यान होगा। यदि कहा जाय कि ये सब प्रश्न तीन में आसकते हैं तो ठीक है। एक प्रश्न में भी सब आ सकेंगे तब तीन भी प्रश्न क्यों हों?॥

"प्रत्यक्षानुमानागमेषु (प्रमाणेषु) अन्तिमो वेदः" इति, "समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनं वेदः-" इति "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" इत्यादीनि च वेदलक्षणानि सायणीये ऋग्भाष्यादौ द्रष्टव्यानि। "इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः" इत्येकेनैव वाक्येन च वेदस्य व्युत्पादनलक्षणे अप्युक्ते, कृष्णयजुर्भाष्यभूमिकायां सायणेनैव "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥" इति वचनं च तत्र मानत्वेनोपन्यस्योक्तं च "सएवोपायो वेदस्य

विषयः, तद्बोधएव प्रयोजनम् ,तद्बोधार्थी अधिकारी तेन सहो-पकार्योपकारकभावश्च सम्बन्धः" इति ।

भा०-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन तीन प्रमाणों में अन्तिम शब्द प्रमाणरूप वेद है । समय के बल से अर्थात् किसी समय वेद की ओर ठीक प्रवृत्ति हो तब परोक्ष विषय के साक्षात् अनुभव होने का साधन वेद है । जिस को किसी पुरुषविशेष ने कभी नहीं बनाया ऐसा वाक्यसमुदाय वेद है । इत्यादि वेद के लक्षण सायणाचार्यादिकृत ऋग्वेदभाष्यादि में देखने चाहिये । इष्ट सुख की प्राप्ति और अनिष्ट दुःख से बचने का जो अलौकिक उपाय बताता है वह वेद है । इस एक ही वाक्य से वेदशब्द की व्युत्पत्ति और उस का लक्षण कहा गया है । तथा कृष्ण यजुर्वेदभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने ही-प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो उपाय नहीं जाना जाता उस उपाय को विद्वान् लोग वेद से जानते हैं इसी से वेद का वेदत्व सिद्ध होता है यह वचन वहां प्रमाणरूप मान के आगे कहा है-वही उपाय वेद का विषय है । उसी उपाय का बोध होना वेद का प्रयोजन है उस बोध को चाहने वाला मनुष्य वेद का अधिकारी और वह विषय उपकारक तथा उस से उपकार लेने वाला उपकार्य इन दोनों का उपकार्योप-कारकभावसम्बन्ध है । अर्थात् सब शास्त्रों का यह मूल है कि-

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

जिस का कुछ प्रयोजन सिद्ध हो और प्रयोजन प्रयोज्य वा विषय विषयी आदि का सम्बन्ध सिद्ध हो ऐसे व्याख्यानरूप ग्रन्थ को श्रोता वा विद्यार्थी सुनने वा पढ़ने को प्रवृत्त हो सकता है । जब कोई मनुष्य किसी काम को करना चाहता है तो पहिले १ प्रयोजन २-विषय ३-अधिकारी ४ सम्बन्ध इन चार बातों का ज्ञान होना चाहिये, जिस कर्त्तव्य का मुख्य वर्णन उसमें हो वह विषय, जिस कार्य वा प्रयोजन की सिद्धि के लिये कहा गया हो वह प्रयोजन, और उस वि-षय को जानने की योग्यता और इच्छा रखने वाला अधिकारी कौन तथा उस विषय के साथ अधिकारी का क्या सम्बन्ध है इस प्रकार चार अंशों का ज्ञान सब शास्त्रों के आरम्भ में होना चाहिये जिस से उस २ शास्त्र के पढ़ने वा जा-नने की रुचि पूर्वक प्रवृत्ति हो । इसी के अनुसार वेद के आरम्भ में चार अंश पूर्वोक्त दिखाये हैं ।

सं०-यद्यपि चार वेदों के प्रमाण समान चार हैं परन्तु तीन संख्या वा त्र-यीविद्या के प्रधान होने से कई शास्त्रकारों ने तीन ही प्रमाण माने हैं । उन

में शब्दप्रमाणरूप वेद का नाम आगम है। आगमशब्द का विशेष व्याख्यान आगे मिलेगा। परोक्षानुभव का साधन वेद है इस कथन से वक्ता का यह अभिप्राय हो कि केवल परोक्ष विषय का ही वेद से अनुभव होता है तो ठीक नहीं क्योंकि "भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति," भूत भविष्यत् प्रायः परोक्ष और भव्यनामक वर्त्तमान प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष का साथी अनुमान यह सभी वेद से सिद्ध होता है इस मनु जी के कथन का खण्डन होगा। और मुख्य बात यह भी शोचना है कि जब हम शास्त्रीय सब अङ्गों का मूल वेद को ठहराने का भार लेना चाहते हैं तो प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रतिपादक न्यायादि शास्त्र का भी मूल वेद माना जायगा ऐसी दशा में वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानना कदापि ठीक नहीं हो सकता। और इसी लिये हम वेदानुयायी लोगों को शब्दरूप वेद प्रमाण के आधीन वा वेद से ही प्रत्यक्षादि प्रमाण की प्रवृत्ति माननी चाहिये। और प्रमाण गणना का क्रम यह होना चाहिये कि शब्द, प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान। न्यायशास्त्र में लोकव्यवहार की सिद्धि पर मुख्य दृष्टि रख कर शब्दप्रमाण से प्रत्यक्षादि का यथावत् सृष्टि में प्रचार हो जाने पर प्रत्यक्ष को पहिला प्रमाण गिना गया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार वेद में—

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्। य०

सूर्य एक ही विचरता, चन्द्रमा बार २ कलाहीन हो२ कर फिर २ पूरा होता, अग्नि शीत का औषध है और वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये पृथिवी सब से बड़ा खेत है। अब शोचिये इस मन्त्र में कही चारों बातें प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं। उदय से अस्त तक सूर्य किसी सहायक के विना अकेला ही अपनी कक्षा में घूमता है उस के साथ कोई अन्य ग्रह नहीं यह प्रत्यक्ष दीखता, चन्द्रमा का घटना बढ़ना भी प्रत्यक्ष है, अग्नि के तापने से शीत की निवृत्ति होना सभी को प्रत्यक्ष है और पृथिवी का बड़ा खेत होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है फिर ऐसे प्रत्यक्ष सिद्ध विषय का परोक्षार्थ बोधक वेद में वर्णन क्यों किया गया? इस का उत्तर उन को देना कठिन होगा जो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानते हैं वा मानेंगे परन्तु हमारे पक्ष में इस का समाधान बना हुआ है कि सृष्टि के आरम्भ में जब प्राणी उत्पन्न हुए तब उन को प्रत्यक्षादि का अनुभव न था ही नहीं कि अग्नि से शीत की निवृत्ति हो सकती है वा किस से और प्रत्येक वस्तु को अनुभव कर २ बोध होने में काल अधिक लगता तब तक दुःख भोगा करते वा गुण कर्मों का बोध न होने से प्रत्यक्षादि से अनुभव करने की ओर प्रवृत्ति वा झुकावट भी

नहीं हो सकती जैसे पशुओं को कभी मणि वा रत्नों का अनुभव प्रत्यक्ष देखने पर भी नहीं होता इस कारण मनुष्य सृष्टि के साथ ही परमात्मा ने शब्दप्रमाण रूप वेद का उपदेश किया ! उस शब्द से पहिले बोध हुआ कि अग्नि शीत का औषध है इसी ज्ञान के अनुसार जब शीत लगा तब अग्नि जलाकर तापने से प्रत्यक्ष अनुभव भी होगया कि ठीक अग्नि ही सर्वोपरि शीत का औषध है इसी प्रकार शब्दप्रमाणरूप वेद से सृष्टि के आरम्भ में अनेक विशेषोपयोगी पदार्थों के गुणों का बोध मनुष्यों का हुआ जिस के अनुसार सब ने अपना २ काम चलाया। शोचने से यह अब भी बोध होगा कि सदा ही शब्दप्रमाण सब से बड़ा प्रबल वा सब का मूल कारण है क्योंकि बाल्यावस्था से मनुष्यादि शब्दों के सुनने वा सीखने से ही सब को सब प्रकारका ज्ञान होता है। शास्त्रसम्बन्धी शिक्षाद्वारा भी पहिले शब्दों से ही सब प्रकार का ज्ञान सब को कराया जाता है पीछे वे शब्द से जाने विषयों का का प्रत्यक्षानुभव करते हैं। और इसी अभिप्राय से पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ऋषि ने शब्द प्रमाण को सर्वोपरि बड़ा प्रमाण माना है जब अनेक हेतुओं से शब्दप्रमाण सब का मूल वा सर्वोपरि है तो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानने वालों का सिद्धान्त कैसे ठीक होगा ?। हमारा अनुमान है कि जब प्रारम्भ से वेद की शिक्षा फैल कर प्रत्यक्ष वा अनुमानसाध्य विषयों का बोध होने की परम्परा अन्य न्यायादि शास्त्रों द्वारा वा लोकव्यवहारानुसार चलने लगी तब जिन लोगों को प्रत्यक्षादि ज्ञान के आदि कारण वेद का दीर्घदर्शिता के अभाव से विस्मरण होगया और प्रत्यक्षादि की स्वतन्त्र सिद्धि मान कर वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानने लगे। जैसे किसी को व्याकरण पढ़ के बोध होजाने पर वैयाकरण का विस्मरण हो जाय और वह उस बोध को फिर स्वतन्त्र माननेलगे॥

जब हम शोचने लगते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण बलवान् है वा शब्द, तो दोनों की पुष्टि के प्रमाण मिलते हैं "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" यह जनश्रुति भी प्रत्यक्ष को प्रबल करती है कि प्रत्यक्ष में अन्यप्रमाण की आवश्यकता नहीं। और शब्द की आवश्यकता तो सब से पहिले ही आवश्यक है तब किसको प्रबल वा बड़ा प्रमाण माना जाय? अनाप्तोपदेश शब्दाभास का नाम शब्दप्रमाण न हो जाय ऐसे शब्दाभास को प्रमाण कोटि से दूर करने के लिये प्रत्यक्षादि को प्रबल मानना और सर्वत्र प्रत्यक्षानुमान से शब्द की सदा परीक्षा करनी चाहिये। परन्तु शब्दाभास की परीक्षा के लिये प्रत्यक्षादि की प्रबलता होने पर भी शब्द प्रमाण निर्बल नहीं ठहर सकता। क्योंकि देश काल वस्तु भेद से अनेक अवसरों पर जहां २ प्रत्यक्ष में भ्रान्ति होती है। उसकी निवृत्ति प्रायः शब्दप्रमाण से ही होती है।

जैसे कोई कृत्रिम आम्रफल के तुल्य बनाये हुए वस्तु को सच्चा आम का फल समझले उसकी भ्रान्ति सत्योपदेश शब्द प्रमाण से दूर हो । अर्थात् अनेक उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं जिनकी भ्रान्ति शब्दप्रमाण से दूर हो और प्रत्येक वस्तु का नाम सहित गुणकर्म ज्ञान पहिले शब्द प्रमाण से हो चुकता है तभी उस का प्रत्यक्ष ज्ञान भी ठीक होता है अर्थात् जबतक किसीको सोमलतादि ओषधियों का नामभेद गुण कर्म और स्वरूप भेद शब्दप्रमाण से न ज्ञात हो तबतक अन्य घासों के समान सोमलता भी कहीं खड़ी रहे पर विशेष कर अनुभव के साथ उस को जानने का उद्योग न कोई कर सकता न जान सकता है तब केवल नेत्र से देखलेने मात्र से प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ भी नहीं मान सकते । इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द प्रमाण सर्वोपरि प्रबल प्रत्यक्षादि का भी कारण है । और पाठक लोग यह भी ध्यान रक्खें कि यह मेरा लिखना व्यर्थ इस लिये नहीं कि मैं त्रयीविद्यारूप वेद का व्याख्यान करता हूं उस में शब्दप्रमाण जब तक सर्वोपरि मान्य न ठहरे तब तक वेद का भी प्रमाण सब से अधिक नहीं ठहर सकता । इससे सिद्ध होगया कि शब्दप्रमाणरूप वेद प्रत्यक्षादि का बीज वा मूल है वेद में से ही अन्य सब प्रमाण निकले हैं तो वेद को केवल परोक्षार्थ बोधक मानना ठीक नहीं । अपौरुषेय वाक्य का नाम वेद है इस का अभिप्राय यह है कि किसी निज-(खास) मनुष्य ने श्लोकादि बद्ध पुस्तकों के समान किसी समय वाक्य योजनाकी कल्पना विचार पूर्वक नहीं की कि मैं इस वाक्यावली को इस नियम से संयोजित करूं।अन्य ग्रन्थों की वाक्यावली समय२ पर उन२ मनुष्यों ने संयोजित की है इसलिये वे सब ग्रन्थ पौरुषेयी रचना के माने जाते हैं। जब पुरुष नाम परमेश्वर का है तो उस की बनाई वाक्यावली को भी पौरुषेयी कहसकते हैं परन्तु मानने पड़ेगा कि परमेश्वर नेभी वेद को किसी समय में नहीं बनाया किन्तु उसकी अनादि विद्या वेद है । प्रतिकल्प के आरम्भ में उस वेद को वह वैसा ही पूर्व कल्पवत् मनुष्यों के द्वारा सृष्टि में प्रचरित करदेता है इसी लिये वेद को अनादि अपौरुषेय कहते हैं । और पुरुषों के द्वारा वेदकी प्रसिद्धि होने पर भी पौरुषेय वेद इस लिये नहीं माना जाता कि श्लोकादि के तुल्य पद-वाक्य योजना करके पुरुष जिस को बनावे उस का नाम पौरुषेय हो सकता है। परमेश्वर की प्रेरणा से जैसे क्रम सहित वाक्यावली प्रतिभारूप ज्ञानके समान पुरुषों को स्फुरित हुई वैसी ही उन्होंने प्रकट करदी किन्तु अपनी बुद्धि से उन्होंने कुछ रचना नहीं की यही अपौरुषेय कहने वा मानने का अभिप्राय

होना वा मानना चाहिये। प्रत्यक्ष वा अनुमान से जिस उपाय को नहीं जान सकते उस को जिस से जानते हैं वह वेद है इस कथन से सायणाचार्य का आशय यह जान पड़ता है कि वेद का आश्रय लिये बिना प्रत्यक्ष और अनुमान से स्वतन्त्र भी किन्हीं विषयों की वा उपायों की सिद्धि हो सकती है। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि सृष्टि के आरम्भ में शब्द प्रमाणरूपवेद का आश्रय मनुष्यों को न मिलता तो प्रत्यक्षादि से अनुभवकरने की ओर झुकावट भी न होती फिर जैसे बाल्यावस्था में माता पितादि से शब्द सुनने बिना किसी बालकादि को प्रत्यक्षादि के अनुभव की शक्ति होना ही दुस्तर है वैसे ही प्रत्यक्षानुभव से अब तक मनुष्यों को बोध होना दुस्तर था इस लिये प्रत्यक्षानुमान से जो उपाय जानें जावें उन में शब्द की आवश्यकता पहिले पीछे सब काल में है। इसी से शब्द का आश्रय लिये बिना स्वतन्त्र प्रत्यक्षादि से किसी उपाय की सिद्धि नहीं है॥

वेदस्वरूपं प्रोक्तमेवं बौधायनेन "मन्त्रब्राह्मणमित्याहु"—इति। आपस्तम्बेन च यज्ञपरिभाषायां स्पष्टमुक्तम्—"मन्त्रब्राह्म-

(मांसभोजन विचार तृतीयखण्ड)

इस पुस्तक की भूमिका पर कुछ लिखना आवश्यकनहीं क्योंकि ऐसी प्रबल युक्ति भी कोई नहीं दीगई जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। इस में पहिला प्रकरण ईश्वर प्रार्थना है। इस पर भी मुझे कुछ विशेष लिखना आवश्यक नहीं है तथापि इतना कहना आवश्यक है कि—अपने शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना से मांसोपदेशक जी का यह आशय हो कि हमारे प्रत्यक्ष शत्रु फलाहारी लोग हैं उन का नाश हो तो वास्तव में उन के भीतर बड़ा कल्मष है और ऐसे पाप का प्रायश्चित्त भी मिलना दुस्तर है। हम को मांसोपदे० जी का यही अभिप्राय उनके लेखसे झलकता प्रतीत होता है। तथापि हम परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे भाई मांसाहारियों की बुद्धिको वह शुद्ध करे वे लोग अपने समान सब प्राणियों का सुख दुःख हानि लाभ देखने सोचने लगें और जैसे अपने प्राणकी वा अपने मांसकी रक्षा चाहते हैं वैसे वे अन्यों की भी रक्षा चाहने लगें और धर्मात्मा बनें। और अपने आत्मा को जो प्रिय हो वह

भी धर्म का एक बड़ा चिन्ह धर्मशास्त्रकार मनु जीने माना है वा यों कहो कि वास्तव में यही धर्म का मुख्य लक्षण है । थोड़ा शोचने से प्रतीत होता है कि-मुझको कोई मार न डाले, मुझको कोई दुःख न दे, मेरी चोरी कोई न करले, मेरा मांस रुधिर न कोई खाजाय इत्यादि प्रत्येक जीवधारी अपने २ आत्मा में चाहता है यही सब के आत्मा को प्रिय है । जैसे मांसाहारी लोगों को अपनी हिंसा वा अपना मांस किसीके खानेको काट लेने देना प्रिय नहीं वैसे मानलो कि प्रत्येक प्राणी के आत्मा को ऐसी बातें प्रिय नहीं हैं इसी कारण हिंसा चोरी आदि अधर्म और अहिंसादि धर्म ठहर जाता है । हिंसा करके वा कराके मांस खाने में अधर्म होने का यह एक प्रत्यक्ष बड़ा प्रमाण है इस का कुछ समाधान भी नहीं हो सकता तथापि दुराग्रही लोगों का मानलेना दुस्तर है । हे परमात्मन् ! ऐसे हठीले लोगों के चित्त से पक्षपात को दूर कीजिये । स्वार्थपरता के लोभ से बचा के शुद्ध कीजिये यही सर्वशक्तिमान् से हमारी प्रार्थना है ।

अब एक बात यह विचारणीय है कि वेद में जो प्रार्थना की गई है उसका मनुष्यों को जब समान अधिकार माना जाय कि जिन किन्हीं दो दलोंमें शत्रुता हो जाय वे दोनों उन्हीं मन्त्रों से अपनेर शत्रुओं को नष्ट भ्रष्ट करने की प्रार्थना कर सकते हैं तो यदि दोनों की प्रार्थना सत्य हो तो परमेश्वर दोनों दलों को नष्ट कर डाले क्या यह ठीक उचित होगा ?। हमारी समझ में यह कदापि ठीक नहीं क्योंकि इस से धर्माधर्म की व्यवस्था विगड़ जायगी । तब हम को यह मानना चाहिये कि धर्मात्मा के लिये प्रार्थना की आज्ञा है और धर्मात्मा की प्रार्थना ही परमेश्वर सुनेगा । अधर्मी को प्रार्थना से रोक नहीं सकता परउस की प्रार्थना सदा निष्फल होगी । इसीसे धर्माधर्म की व्यवस्था भी ठीक रहेगी और यही उचित भी है । अब रहा यह कि धर्मात्मा का विजय तो कर्मानुसार ही हो सकता है फिर वह व्यर्थ ही क्यों प्रार्थना करे तो इस का उत्तर यह होगा कि मानस वाचिक कायिक तीन प्रकार के कर्मों में प्रार्थना भी मन वाणी का कर्म है जैसे अन्य कर्मों का नियत फल होता है वैसे प्रार्थना का भी होगा वा यों कहो कि कर्मानुसार जो फल होने वाला है वह प्रार्थना की सहायता पायकर और भी अच्छा वा शीघ्र होगा । जैसे किसी को संचित हुए कुपथ्य से रोग होने वाला हो तो उसी संचित कुपथ्य के अनुकूल नया कुपथ्य उसका सहायक मिल जाने पर प्रबलता के साथ शीघ्र रोग हो जाता है यदि सहायक

न मिले तो उतने वेग के साथ शीघ्र रोग न हो और कुछ काल कटता जाना सम्भव है अथवा जैसे कोई अच्छा फल संचित कारण से होने वाला हो उसको अनुकूल सहायक मिलजाने पर अच्छा और शीघ्र ही होजाता है इसीप्रकार सर्वत्र जानो पुण्य के अनुकूल पुण्य होता है और प्रार्थना भी एक पुण्य कर्म है। और पापी के संचित पापके अनुकूल सहायक प्रार्थना नहीं इसी से सफल नहीं हो सकती । यदि कोई कहे कि तो पापी को प्रार्थना ही न करनी चाहियें तो इस का उत्तर यह है कि जब तक मनुष्य को पाप कर्मों से घृणा नहीं होती और बुराइयों से मन नहीं हटता तभी तक वह पापी है तब तक उस से आप ही प्रार्थना न हो सकेगी और उस को प्रार्थना करनी भी नहीं चाहिये क्योंकि सर्वथा निष्फल होगी । और जब उस के चित्त में पापों से घृणा हो जायगी तब वह अपने पहिले कर्मों से अपने को पापी मानने लगेगा । ऐसी दशा में वह अन्य भी अच्छे काम करने लगेगा तब उन की सहायकारिणी होने से प्रार्थना भी सफल होगी और वह मनुष्य पापी नहीं माना जायगा । किन्तु धर्मात्माओं की किसी कोटि में गिना जायगा । इस से सिद्ध हुआ कि धर्मात्मा की प्रार्थना सफल हो सकती है । अब सोचो कि यदि हिंसा करने कराने वाले धर्मात्मा ठहरें गे तो प्रार्थना भी उन की सफल होगी ॥

मांसोपदेशक जी ने अपनी प्रार्थना में एक दो मन्त्र ऐसे भी लिखे हैं कि जिन में शत्रु के हाथ पांव मांस रुधिर काटने निकालने की प्रार्थना की गयी है । जैसे—

स्कन्धान् प्रजहि शिरः प्रजहि । मांसान्यस्य शातय० इत्यादि ।

हे रुद्र तू इस हमारे शत्रु के कन्धे काट शिर काट । इस के मांस के टुकड़े २ कर दे त्वचा अलग कर दे अर्थात् जैसे कोई मांसाहारी अपने भृत्य (नौकर) को आज्ञा देवे कि तू मेरे खाने को इस की हड्डी नाड़ी नसें खाल आदि को अलग करके शुद्ध मांस निकाल के लाव मैं खाऊं । वैसी यहां प्रार्थना की गयी है । उपदेशक जी से पूछना चाहिये कि क्या परमेश्वर से ही आप कसाई का काम कराना चाहते हो ? । यदि कहो कि हम तो अपने शत्रुओं को तंग कर २ दुःख पहुंचाने की प्रार्थना परमेश्वर से करते हैं तब हमारा प्रश्न यह है कि कन्धे शिर काटने मांस के टुकड़े २ कराने करने को आप अच्छा समझते हो वा बुरा ?

यदि अच्छा कहो तो शत्रु के अनिष्ट की प्रार्थना नहीं बनेगी । और बुरा कहो तो सभी का मांस काटना आपने बुरा मानलिया और यह भी सिद्ध हो गया कि अपने खाने के लिये किसी का मांस काटो वा कटाओ गे उस को दुःख पहुंचना सिद्ध हो गया और दुःख पहुंचाना पाप सिद्ध ही है तब मांसभक्षण पाप तुमने भी मानलिया और यदि नहीं मानो गे तो तुम्हारी प्रार्थनानुसार शत्रुओं को भी मांस काटने से दुःख नहीं हो सकता ॥

अब सोचिये तो सही आप की प्रार्थना आप के पग की कुल्हाड़ी हो गयी वा नहीं ? मांसभक्षण को अच्छा ठहराने के लिये तो उद्योग किया परन्तु उसी उद्योग से बुरा ठहर गया इस से अब भी समझो तो ऐसे निकृष्ट पक्ष को छोड़ो नहीं तो यही हाल रहेगा कि दो जगह जोड़ो गे चार जगह टूटे गा । क्योंकि तुम्हारा पक्ष बिना नींव की भित्ति है यह निश्चय रक्खो । मांसभक्षण के पुस्तकों के बनाने वाले ने अपना नाम सब पुस्तकों में छिपाया है यद्यपि इस तृतीयभाग में पं० देवीचन्द शर्मा का नाम लिखा है तथापि इस में चालाकी मालूम होती है क्योंकि "पं० देवीचन्द शर्मा ने निर्णयार्थ प्रकाश किया" इस लेख से पं० देवीचन्द जी निर्माता सिद्ध नहीं होते तो बनाने वाला यहां भी छिप गया । इन को इतना विचार नहीं आता कि ऐसे हम कहां तक छिपेंगे किसी प्रकार कोई जानही लेगा तब कितना लज्जित होना पड़ेगा ॥

अब इन के मांस को सिद्ध करने वाले प्रमाणों को देखिये । इन पुस्तकों में एक चालाकी और प्रतीत होती है कि एक तो छोटी भाषा और मोटे अक्षरों में छपाया और द्वितीय ऐसे ही बहुत वचन लिख डाले कि जिस से कुछ पुस्तक देखने में मोटा होजाय जैसा कि मांस के बढ़ने से कोई मुटाया हो जिस को देख मांसाहारी प्रसन्न हों वैसे मोटे पुस्तक को देख के जानें कि देखो वेद से इतने प्रमाण निकले हैं जिस से इतना मोटा बड़ा पुस्तक बन गया । वास्तव में शोधा जाय तो ऐसे बहुत कम वाक्य वा मन्त्र हैं जिन का उत्तर हम को देना चाहिये । जिन मन्त्रों में मांसशब्द के साथ किसी प्रकार की भक्षण क्रिया आवे तो उस का ही उत्तर देना हम को अधिक आवश्यक है और ऐसे ही प्रमाण छांटकर मांसोपदेशक भी लिखते तो उन का पुस्तक चतुर्थांश भी न होता । हम अपने ग्राहकों को सूचित करते हैं कि जिन प्रमाणों का हम कुछ उत्तर न लिखें उन के लिये कोई कहे तो यही उत्तर देना चाहिये कि तुम्हारी प्रतिज्ञा

मांसभक्षण की अच्छा ठहराने की है उस के अनुसार जिन मन्त्रों में मांस और भक्षण क्रिया दोनों नहीं उन को पहिले अपने पक्ष के पोषक तुम ठहरा दो तब हम से उत्तर मांगना ।

अथ मांसं भक्ष्यं नवेति विचारे वैदिकसिद्धान्त आथर्वणः ।

अब मांस भक्ष्य है वा नहीं इस विचार में वैदिकसिद्धान्त अथर्ववेद का है ।

यह लेख मांसोपदेशक का प्रतिज्ञारूप जानो यह कैसा असम्बद्ध वा ऊटपटांग है सो सब लोग स्वयं सोच लेंगे । जब मांस के साथ भक्षणशब्द को बुरा समझ के मांसभक्षणविचार पुस्तक का नाम नहीं रक्खा फिर यहां भक्षधातु का प्रयोग क्यों किया ? क्या यह प्रयोजन था कि ऊपर का लिखा नाम सहसा सब के दृष्टिगोचर होगा और भीतर का लेख सब कोई नहीं देखता । अस्तु जो हो । अब हम व्यर्थ लिखना ठीक नहीं समझते थोड़ीसी गोलमाल पोलपाल पाठकों को दिखाना उचित समझी सो लिख दी ॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते । अथर्व० ९ । ६ । ३ ॥

अतिथियों की प्रार्थना करने वाला अतिथियों की ओर जो देखता है वह यज्ञ को देखता है ॥

यह इन मांसोपदेशक जी का पहिला प्रमाण है । प्रतिज्ञा की थी कि मांस भक्ष्य है वा नहीं परन्तु जो प्रमाण देने लगे उस से मांस का भक्ष्य वा अभक्ष्य होना कुछ नहीं निकला यह लेख असम्बद्ध होगया फिर हम इस का क्या उत्तर देवें ? । यद्यपि पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ भी अज्ञान कीचड़ में फसजाने से ठीक नहीं हुआ तथापि हमारा यहां यह सिद्धान्त नहीं कि हम सब भूलें उन को दिखावें किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि किन्हीं मन्त्रों में मांस के भक्ष्य होने की शङ्का किन्हीं को होना सम्भव हो तो उन का हम यथोचित समाधान देवें । इसलिये अब ऐसे वाक्यों पर हम कुछ न लिखेंगे ॥

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः । अथर्व । ९ । ६ । ६ ॥

भावार्थः--अतिथि के लिये जो तर्पण लाते हैं जो अग्नि तथा सोम के लिये यज्ञ में पशु मारा जाता है वह ही वह है ॥

उ०-यह अर्थ पं० ठाकुरप्रसाद वा देवीचन्द आदि उन मांसोपदेशकों का किया है जिन का बनाया यह पुस्तक है। हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त इसी छठे भाग के ३।४ अङ्क पृष्ठ १६।१७। में इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप से छप चुका है। इस के अर्थ में मांसोपदेशक जी ऐसे गिरे हैं जिस का ठिकाना नहीं। इस मन्त्र के अन्य पदों के अर्थ में कुछ अधिक विवाद नहीं अर्थात् केवल एक (बध्यते) क्रिया के अर्थ पर विचार करना है। मांसोपदेशक जी ने इस क्रिया पद को हनधातु का प्रयोग माना ज्ञात होता है क्योंकि हिंसार्थ बध धातु कोई है नहीं अन्य किसी प्रकार बध्यते क्रिया का मारा जाना अर्थ हो ही नहीं सकता। सो यह लेख सर्वथा मिथ्या है। हनधातु का बध्यते शब्द व्याकरण से बन ही नहीं सकता। हन को बधादेश करने के लिये पाणिनि के तीन सूत्र हैं—

हनो वध लिङि॥ लुङि च॥ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्॥ २।४।४२।४३।४४॥

इन तीनों सूत्रों से लिङ् और लुङ्लकार में हन को वधादेश होता है। बध्यते लट्लकार का प्रयोग है। तथा हन को जब वधादेश होता है उस में अन्तःस्थ वकार है और बध्यते क्रिया में वेद पुस्तकों में भी पवर्ग का निर्टविरा बकार पढ़ा गया है। इस कारण हन को वधादेश करके यह प्रयोग कदापि नहीं बन सकता। तब—बन्ध, बन्धने इत्यादि। और बन्ध, बन्धने क्र्यादि। इन्हीं दो धातुओं में से किसी का यह बन सकता है। इन दोनों धातुओं का एक ही अर्थ है। बन्धन नाम बांधना यह प्रसिद्ध है इस का हिंसार्थ कदापि नहीं हो सकता। मांसोपदेशक जी ने इसी तृतीयभाग की भूमिका में प्रतिज्ञा की है कि हमने अष्टाध्यायी आदि आर्ष पुस्तकों के प्रमाणानुसार मन्त्रों का अर्थ लिखा है अपनी ओर से कल्पना कुछ नहीं की। सो अब उपदेशक जी! आप बताइये किस व्याकरण के अनुसार बध्यते का हिंसार्थ किया है?। पाठकलोगो! ध्यान दीजिये (यह साधारण गलती नहीं है) ऐसे ही अल्पज्ञ मनुष्य महावेदविरोधी हैं जो वेद के अर्थ का सत्यानाश अपनी अल्पज्ञता से करते हैं। यदि मांसाचार्यादि लोग इस बध्यते क्रिया को पाणिनीय व्याकरणानुसार हिंसार्थ न ठहरा देवें तो आप लोग इस का पूर्ण पराजय समझ लेने में क्या फिर भी आगा पीछा सोचेंगे?। मेरी समझ में आप को निस्सन्देह पराजय मान लेना चाहिये। इस मन्त्र का अर्थ मैं कहीं कर चुका हूं तथापि फिर थोड़ासा लिख देता हूं—

भ०—अग्निश्च सोमश्च—अग्नीषोमौ देवते अस्य सोऽग्नीषोमीयः। पञ्चतत्त्वसम्बद्धेन पार्थिवतत्त्वेनोत्पन्नानि पश्वादिशरीराणि तत्त्वगुणयुक्तान्येव भवितुमर्हन्ति। तच्छरीरेषु स्वभावाकृतिवर्णादिभेदेन तत्त्वगुणतारतम्यमनुमेयम्। यादृशगुणप्रधानः पशुर्भवति ततस्तादृशगुणप्रधानान्येव दुग्धादीनि निस्सरन्ति। अतः कारणादग्नीषोमीयात्पशोरेव सत्त्वभूयिष्ठं शान्तिप्रदं सुमधुरं बुद्धिबलौजसां वर्धकं च दुग्धमुत्पद्यते तस्माद्दुग्धायाग्नीषोमीयः पशुर्बन्धनीयः। तज्जन्यदुग्धादिना सम्बद्ध एव स्वस्य स्वमान्यानां च तृप्तकर आहारः सम्पादनीयः। येन सत्त्वगुणवृद्धिपुरस्सरा धर्मवृद्धिः स्यादिति वेदमन्त्रस्य तात्पर्यं सुधीभिरनुसन्धेयम्। तृप्यन्त्यनेन तत्तर्पणं दुग्धादिकमाहरन्ति भुञ्जते पिबन्ति॥

भावार्थः—(यत्) जिस कारण वा जिस विचार से जिस (तर्पणम्) तृप्ति के हेतु तृप्त करने वाले पदार्थ का (आहरन्ति) आहार भोजन करते वा तृप्तिकारक वस्तु का आहार करना चाहिये। और बलबुद्धि आरोग्य तथा आयु को बढ़ाने वाले वस्तु के आहार की सदा इच्छा रखना ही सज्जनों का कर्त्तव्य है। इस प्रकार का आहार (यः, एव) जो ही (अग्नीषोमीयः) अग्नि और जलसम्बन्धी सौम्यतत्त्व जिस में प्रधान है ऐसा (पशुः) गौ आदि पशु (बध्यते) बांधा जाता वा दुग्धादि के लिये रक्खा जाता है उस से सम्बन्ध रखता है (सएव) वही पशु (सः) वह है जिस को हम तृप्तिकारक उत्तम आहार का हेतु मान सकते हैं॥

तात्पर्य यह है कि पांचों तत्त्व से मिले हुए पार्थिवतत्त्व से पश्वादि का शरीर बनता है इस कारण सभी देहधारियों में किन्हीं तत्त्वों के प्रधान वा किन्हीं के गौण गुण रहते ही हैं। उन २ देहधारी गौ आदि के शरीरों में स्वभाव आकृति और रूप रंगादि का भेद देख कर तत्त्वों के न्यूनाधिक गुणों का अनुमान कर लेना चाहिये। जैसे गुणों में प्रधान गौ आदि पशु होगा वैसे ही प्रधानगुण वाले उस के दुग्धादि होंगे। इस कारण अग्नीषोमीय पशु से ही सत्त्वगुणप्रधान शान्तिदायक मीठा बुद्धि बल और पराक्रमों का बढ़ाने वाला दुग्ध उत्पन्न होगा इस कारण दूध के लिये अग्नीषोमीय पशु बांधना चाहिये। उस से हुए दुग्धादि के संयोग से ही अपना और अपने मान्यों का आहार बनाना चाहिये। जिस से सत्त्वगुण की वृद्धि सहित धर्म की वृद्धि हो यह वेद मन्त्र का आशय है। यद्यपि मूलमंत्र में दुग्ध के लिये पशु बांधा जाता वा बांधना

चाहिये ऐसा नहीं कहा तथापि पशुओं का बांधना प्रायः दुग्धादि के लिये ही होता है निष्प्रयोजन कोई नहीं बांधता । इस लिये दुग्धार्थ गौ आदि का बांधना अधिक प्रसिद्ध होने से नहीं कहा गया ॥ मांसोपदेशक—

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ अथर्ववेदे ९ । ६ । ३९॥

यही अत्यन्त स्वादु पदार्थ जो गौ का दूध दधि मक्खन घी आदि जो अतिथि को दिया जाता है तथा सामान्य दूध और मांस अतिथि को खिलाये विना न खावे किन्तु अतिथि को खिला कर दूध मांसादि को खावे ॥

उत्तर—इस मन्त्र पर मांसोपदेशक जी ने ११ पृष्ठ कलम घिसी है जिस का सारांश ऊपर तंग पङ्क्ति में लिख दिया गया। हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त भाग ५ के ११ । १२ अंकों में इन मन्त्रों पर मैं ने दो पक्ष दिखाये थे पूर्वपक्ष में आपत्काल में मांसभक्षण का विचार लिखा था उत्तर पक्ष में उस पूर्व पक्ष का समाधान भी कर दिया था। अब भी उस उत्तर पक्ष से मिलता हुआ समाधान होगा । यद्यपि इस मन्त्र पर अनेक झगड़े लिखे जा सकते हैं जिन से बहुत लेख बढ़ जाना सम्भव है तथापि विशेष आवश्यकता न देख कर हम सब अंशों पर नहीं लिखेंगे केवल दो बातों पर अपनी अनुमति यथाशक्ति लिखना उचित समझते हैं । १—इस मन्त्र में ३७ मन्त्र से "तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्" इस वाक्य की अनुवृत्ति आती है वा नहीं । और २—अधिगवपद के साथ क्षीर और मांस शब्द का कुछ सम्बन्ध है वा नहीं और है तो क्या ? । इन्हीं दो बातों का निश्चय होने से पाठकों के प्रायः सभी सन्देह निवृत्त हो जायेंगे ऐसी आशा है । इस में पहिली बात अनुवृत्ति लाने की है सो इस अथर्ववेद के सभी काण्डों में स्पष्ट यह नियम दिखाया है कि जिन सूक्तों के प्रथम मन्त्र के अन्त्य का वाक्य जिस की अगले प्रत्येक मन्त्र में अनुवृत्ति करना है उस को छापने वालों ने भी द्वितीयादि मन्त्रों में नहीं छापा किन्तु उस के स्थान में सर्वत्र शून्य देते गये हैं जिस अन्त के मन्त्र में अनुवृत्ति समाप्त हुई है वहां उस वाक्य को फिर से पूरा लिख दिया है ॥

यही चाल आज कल भाषाछन्द बनाने वालों की भी है कि तुक के दो एक अक्षर लिख कर बिन्दु देते जाते हैं और जहां से आगे उस तुक का फिर

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(गत अंक पृ० १४४ से आगे त्रयीविद्या का विचार)

णयोर्वेदनामधेयम् " इति । सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येणापि तदेवापस्तम्बीयलक्षणमवलम्ब्य विप्रपञ्चितमृग्भाष्यभूमिकायां बहुधैव,सिद्धान्तितं चैतत्तत्रैव"मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः" उक्तं च भगवता जैमिनिमुनिनापि तथैव, तदनु श्लोकितं च सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायां षड्गुरुशिष्येण तथाहि—

मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्ष्यते ॥
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि ।
विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ॥
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ।
ऋक्पादबद्धो गीतस्तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः ॥
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ।
वेदैरशून्यइत्यादौ मन्त्रे त्रैविध्यमुच्यते ॥

सर्वैर्ब्रह्मेति सूत्रेऽपि चतुर्भिरिति निर्णयः
* प्रस्तुतर्कादिति वाचि त्वो वा मन्त्रे सूत्रकारणे ॥
ऋग्रूपमन्त्रबाहुल्यादृग्वेदः स्यात्तथेतरौ ।
शान्तिपुष्ट्यादिकब्रह्मवर्गप्रणवविद्यया ॥
ऋचां च यजुषां तुर्यो बाहुल्येन विधायकः ।
एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः ॥
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ।
नवाध्वाथर्वणोऽन्येतु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम् ॥

एतेन खलु सर्वेषामेव वेदानां सर्वविधस्वरूपाण्युक्तान्येव समासतस्तेन धीमतैवेत्यत्रास्माकं नैव किञ्चिदुक्तव्यमत्यवशिष्टम् । विशेषतस्तु जिज्ञासायां वेदविषयनिर्णयायैवोत्पन्नं सुमहद्दर्शनशास्त्रं जैमिन्यादिभिर्महात्मभिः प्रपञ्चितं मीमांसासूत्रादिकमेव सुधीभिर्द्रष्टव्यमित्यलं चर्वितचर्वणेन वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वादिविचारेणेति ॥ (सत्यव्रत के संस्कृत का आशयः—)

भावार्थः—बौधायन ने मन्त्र और ब्राह्मण को वेद का स्वरूप माना और आपस्तम्ब सूत्रकार ने यज्ञपरिभाषा प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है । और सब वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने भी उसी आपस्तम्बीयसूत्रकृत लक्षण का आश्रय लेकर ही दोनों का वेद होना बहुधा लिखा है । और वहीं यह सिद्धान्त किया है कि मन्त्रब्राह्मणरूप शब्द समुदाय वेद है और जैमिनिमुनि जी ने भी मीमांसा शास्त्र में दोनों को ही वेद माना है । इसी के अनुसार सर्वानुक्रमणी पुस्तक की वृत्ति बनाने वाले षड्गुरुशिष्य ने अपनी भूमिका में श्लोकों में वर्णन किया है—यथा—

महर्षि लोग मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहते हैं । कर्म में जिस का विनियोग किया जाय कि इस मन्त्र से यह काम करना चाहिये वह मन्त्र, और विधि और अर्थवाद को दिखाने वाले शेष भाग को ब्राह्मण कहते हैं । और

---

*यथा लिखितं विन्यस्तमशुद्धं तु प्रतीयते ॥

मन्त्र तीन प्रकार के माने गये हैं १ ऋक् २—यजुः ३ साम, चारो वेद में ये तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं इसी से वेदत्रयी कहते हैं। पादव्यवस्था सहित मन्त्रों का नाम ऋक्, गाने की प्रक्रिया में लाये हुए मन्त्र साम और गद्य रीति से पढ़े मन्त्र यजुः कहाते हैं जहां वेद की रचना का भेद दिखाने से प्रयोजन है वहां तीन वेद लिखे वा माने और जहां पुस्तक वा संहिताओं से प्रयोजन है वहां चार वेद लिखे गये हैं। जिस संहिता में ऋक्रूप मन्त्रों की अधिकता है उस का नाम ऋग्वेदसंहिता और इसी प्रकार यजुर्वेदादि में भी जानो। इक्कीश ऋग्वेद की, एक सौ यजुर्वेद की एक हजार सामवेद की, तथा नव वा पन्द्रह अथर्ववेद की शाखा मानी जाती हैं इस पूर्वोक्त लेख में वेद के कई प्रकार के लक्षण दिखा दिये गये इस कारण विशेष लिखना व्यर्थ है। वेद वा वेद के विशेष वाचक पदों के लक्षण जिन को विशेष जानने इष्ट हों वे लोग पूर्वमीमांसादि में देख लेवें॥

परन्त्वस्त्यत्रैतदालोच्यम्—आपस्तम्बादिमतानुगाः सायणाचार्यादयस्तु मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वं चिरात् सिद्धमिति मन्यन्ते। केचित्त्वाधुनिका ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र 'यएवं वेद' इति दर्शनादेव प्रथमं तावद् ब्राह्मणानामेव वेदाख्या प्रचलिता ततः कालक्रमेण मन्त्रेष्वपि सा उपचरितेत्याहुः। वयन्तु तदुभयोरेव विपरीतं ब्रूमः—पुरासीत् विद्याऽपरपर्याय एवायं वेदशब्दः, तथा यतश्च सर्वासामेव विद्यानां निधानानीमे मन्त्राः प्रदृष्टा अतो मन्त्रकालएव त्रिविधानां मन्त्राणां वाचकः सम्पन्नो वेद इति। ततो ब्राह्मणकाले ब्राह्मणेष्वपि ग्रन्थेषु मन्त्रमात्रपरएव व्यवहृतो वेदशब्दः। पश्चात् सूत्रकाले तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव विद्यानिधानत्वेनादरातिशयस्थितेरुभयोरेव बोधकः सञ्जातो वेदइति तदत्र त्रयः पक्षाः सम्पद्यन्ते—(१) मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोर्वेदत्वम्। (२) ब्राह्मणग्रन्थानामेव मुख्यं वेदत्वम्। (३) सर्वविद्यानिधानानां हि मन्त्राणामेव वेदइति व्यवहारो

मुख्योऽतिपूर्वकालिकश्चेति । अथैषां कतमः पक्षो ज्यायानिति पूर्वापरदर्शिभिर्माध्यस्थधिषणावद्भिरेव समालोच्यताम् ॥

भा०—परन्तु इस विषय में यह विवेचन करना है कि—आपस्तम्बादि के मतानुयायी सायणाचार्यादि तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का वेद होना प्राचीन काल से ही सिद्ध हुआ मानते हैं और कोई २ आधुनिक लोग ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'य एवं वेद,ऐसा पाठ देखने से ही "पहिले ब्राह्मणग्रन्थ ही वेदपदवाच्य हुए पीछे धीरे २ मन्त्रभाग में भी वेदशब्द का व्यवहार हुआ" ऐसा कहते हैं परन्तु हम (सत्यव्रत) उन दोनों से विपरीत कहते हैं—पूर्वकाल में जबतक ब्राह्मणादि पुस्तक नहीं बने थे तब विद्या का पर्यायवाची ही वेदशब्द था अर्थात् वेद वा विद्या दोनों पद से एक ही वस्तु मन्त्र संहिता समझी जाती थी और उस समय के महर्षि लोगों ने जिस कारण सब विद्याओं के भण्डार मन्त्रों को देखा इस से मन्त्रकाल में ही तीन प्रकार के मन्त्रों का वाचक वेदशब्द सिद्ध हुआ । तत्पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थों के बनने पर ब्राह्मणग्रन्थों में भी मन्त्रमात्रपरक ही वेदशब्द का व्यवहार रहा किन्तु सूत्रकाल में कुछ व्याख्या के लिये पढ़े मन्त्रों के होने और ब्राह्मणोपनिषदादि में कुछ रचना मन्त्रों कीसी ही होने से ब्राह्मणों को भी वेद कहने लिखने वा मानने की परम्परा चली अर्थात् मन्त्रों के तुल्य विद्या का कुछ अंश ब्राह्मणों में प्रतीत होने से ब्राह्मणों को भी पीछे वेद मानना आरंभ हुआ । पश्चात् जब सूत्ररूप ग्रन्थ बनने लगे तब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही को विद्या का भण्डार होने से अतिप्राचीन मान के अत्यन्त आदर देने के लिये वेद का व्यवहार प्रचलित हुआ अर्थात् आपस्तम्बादि सूत्रकारों ने वेद विद्यासम्बन्धी अंश देख कर वेद के तुल्य आदर वा प्रतिष्ठा होने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कहा । सो यहां तीन पक्ष खड़े होते हैं एक तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का वेदहोना, द्वितीय ब्राह्मण ग्रन्थों का ही मुख्यकर वेद होना, तृतीय सब विद्याओं के भण्डार मन्त्रों का ही अतिपूर्व काल से मुख्यकर वेद पद से व्यवहार होना । अब इन तीनों में कौन पक्ष उत्तम है यह पूर्वापर दृष्टि रखने वाले मध्यस्थ बुद्धि वाले मनुष्यों को विवेचन करना चाहिये॥

सम्पादक—हमारी समझ में आपस्तम्बादि के मतानुगामी सायणाचार्यादि नहीं क्योंकि सायणाचार्यादि ने मन्त्रों और ब्राह्मणों को समान ही वेदत्व माना

है क्योंकि आपस्तम्ब ने यज्ञपरिभाषा विषय में दोनों को वेद माना तो सब प्रसंगों में दोनों का वेद होना सिद्ध नहीं होता । और उन लोगों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की विशेष प्रशंसा जताने के लिये जब कहीं २ वेद कहा तो यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों का वेद होना सब को अभीष्ट नहीं था। जब सायणाचार्यादि ने आपस्तम्बादि का ठीक २ आशय नहीं जाना तो वे लोग आपस्तम्बादि के मतानुगामी नहीं हो सकते ॥

श्रूयते हि शुक्लयजुषि मन्त्रएव त्रयीपरो वेदशब्दः—"वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः (१९ । १८)" इति । "प्रजापतिः सुतासुतौ सुतासुतयोः रूपे वेदेन ज्ञानेन त्रय्या विद्यया वा व्यपिबत् विविच्य पीतवान्। सुतः—सोमः, असुःपयः परिस्रुच्च" इति च तस्यैव व्याख्यानं भाषितं महीधरेण । तदत्र वेदेनेत्यस्य द्विविधोऽर्थः कृतो दृश्यते—ज्ञानेन, त्रय्या विद्ययेति च । तत्र द्वितीयार्थएव युक्ततरोऽस्माकम्मूले 'वेदेन' इत्याद्युदात्तश्रवणात् । अस्ति हि वेदशब्दः उञ्छादिगणे (६।१।१६०) पठितः करणव्युत्पाद्यो यौगिकोऽन्तोदात्तः । अस्ति चापरो वृषादिगणे (६।१।२०३ पा० सू०) पठितस्त्रय्यां रूढः आद्युदात्तो वेदइति। अतएव ऋक्संहितायां श्रुतस्य "यः समिधा (६।१।५)" इति मन्त्रस्य व्याख्याने भाषितं सायणाचार्येण 'वेदेन—वेदाध्ययनेन'—इति । तैत्तिरीयसंहितायामप्येवमस्ति त्रयीपरो वेदशब्द आद्युदात्तः (७।५। ११। २) । अथैवाथर्वणिका अप्यसकृदामनन्ति संहितायामेव त्रयीपरं वेदशब्दम् । तथा हि—"यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् (४।७।५।६) " इति । बुध्यतएवात्र हि वेदा इत्यस्यार्थ ऋगादय इति तथा तत्रैवोमविंशकाण्डेऽपि त्रिशः श्रुतो वेदश-

कदस्त्रयीपरएव । तदेवं सर्वसंहितास्वेव त्रयीपरो वेदशब्दो विश्रूयतएव ॥

भा०–शुक्लयजुर्वेद के मन्त्र में ही वेदशब्द त्रयी—(ऋक् यजुः, साम) का वाचक आया है (पाठक महाशयों को ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण में सर्वत्र त्रयीशब्द से ऋक् यजुः साम नामक मूल तीन वेदों का ग्रहण करना अभीष्ट हैं इसी लिये त्रयीशब्द का अर्थ बार २ न लिखेंगे) (वेदेन० यजु० १९ । १८) इस मन्त्र की व्याख्या में महीधर ने लिखा है कि "प्रजापति ने सोमरस और दुग्ध वा जलरस के रूपों को वेद नाम ज्ञान वा त्रयीविद्या से विवेचन करके पिया।" यहां–मधर ने वेदशब्द का दो प्रकार का अर्थ किया है एक ज्ञान द्वितीय त्रयीविद्या इन में वेद का त्रयी अर्थ करना हम (सत्यव्रत) भी ठीक समझते हैं क्योंकि मूल में (वेदेन) ऐसा आद्युदात्त वेदशब्द पढ़ा है और पाणिनीयव्याकरण के अनुसार वेदशब्द के दो अर्थ होते हैं और उस में दो प्रकार का स्वर होता है (६ । १ । १६०) पाणिनिसूत्र के गणपाठ में पढ़ा वेदशब्द करणकारक में व्युत्पन्न हुआ यौगिक अन्तोदात्त है । और (६ । १ । २०३) सूत्र के गणपाठ में पढ़ा वेदशब्द त्रयी का वाचक योगरूढ़ि आद्युदात्त है। इसी के अनुसार ऋग्वेदसंहिता (६ १ । ५) में आये वेदशब्द का अर्थ सायणाचार्य ने त्रयी किया है अर्थात् ऋग्वेद में भी आद्युदात्त वेदपद त्रयी का वाचक है । तैत्तिरीय कृष्णयजुःसंहिता में भी आद्युदात्त वेदशब्द त्रयी का वाचक आया है। तथा अथर्ववेदसंहिता में भी अनेक स्थलों में अनेक वार वेदशब्द त्रयी का वाचक पढ़ा गया है जैसे (यस्मिनूवेदा० ४ । ७ । ५ । ६ अथर्व०) यहां वेदशब्द त्रयीवाचक है क्योंकि वेद कहने से ऋगादिवेद लियेजाते हैं । तथा अथर्ववेद के मन्त्रोंशवें काण्ड में भी तीनवार आया वेदशब्द त्रयी का वाचक ही है । इस प्रकार सभी वेदसंहिताओं में वेदशब्द मन्त्ररूप मूल तीन वेद का वाचक आता है । इस से सिद्ध हुआ कि पहिले मन्त्रभाग का ही नाम वेद था ब्राह्मणादि का नाम वेद नहीं था ॥

एवं ब्राह्मणेष्वपि सर्वत्र श्रूयतएव वेदस्त्रयीपरः । तथा हि ब्रह्मब्राह्मणे "त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेदएवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान्वेदानभ्यतपत् (ऐ० ब्रा० ५।५।६)" इति । एवमन्यत्रान्यत्र च तत्रैव (६।१५।७।१८) तैत्तिरीयब्रा०

ह्मणेऽपि तृतीयकाण्डे (१०।११ ४) श्रूयतएव त्रयीपरो वेदश-ब्दः। तथा छान्दोग्यब्राह्मणे च–"स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् (९।१।२)" इत्यादि। अथ-र्वब्राह्मणेऽपि–"इमे सर्वे वेदाः (गो०ब्रा०१।२९)" इत्यादि। तदेवं सर्वब्राह्मणेषु च त्रयी परो वेदशब्दः श्रूयतएव ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी सर्वत्र वेद शब्द त्रयी का वाचक मिलता है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि तीन वेद उत्पन्न हुए–अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद आदित्य से सामवेद इत्यादि। इसी ऐतरेय ब्राह्मण के अन्य स्थलों में भी त्रयीवाचक वेदशब्द आया है। तथा यही तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में भी लिखा है। छान्दोग्य ब्राह्मण में लिखा है कि "वह बोला कि मैं ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को पढ़ा हूं इत्यादि। अ-थर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में भी यही लिखा है इस प्रकार सब ब्राह्मण पुस्तकों में वेद पद त्रयीवाचक आता है ॥

अत इदानीं वक्तुं शक्यतएवैतत्–सर्वसंहितास्वेव त्रयीपर-वेदशब्ददर्शनमेव प्रमाणयति, आसीन्मन्त्रकालेऽपि केवलमन्त्रा-णामेव वेदइति व्यपदेशः। तदापि मन्त्रव्याख्यानार्थकानां ब्रा-ह्मणग्रन्थानामनाविर्भावात्। प्रदर्शितब्राह्मणवाक्यानि च तदेव द्रढयन्ति। ऋगादिशब्दानां मन्त्रेष्वेव मुख्यशक्तेः। अतएवो-पपद्यन्ते तत्र गोपथे "इमे सर्वे वेदाः,, इत्यत्र विशेषणानि"स ब्राह्मणाः,, प्रभृतीनि। निरुक्ते ये चार्थज्ञप्रशंसनाय शाखान्त-रीयमन्त्रा उद्धृता यास्केन तत्र च श्रूयते त्रयीपरएवाप्युदात्तो वे-दशब्दः "अधीत्य वेदम्,, इति तस्माच्च ज्ञायते मन्त्रकालएव मन्त्रार्थको वेदशब्द आसीत् प्रसिद्धइति। यास्कः स्वयं चाह सुव्यक्तम् "कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" (नि०भा०२पृ०२४) इति

स च कर्म्मसम्पत्तिर्मन्त्रः क्वास्ति ब्राह्मणेषु संहितासु वा? संहितास्विति चेदितोऽपि स्फुटं व्यज्यते संहितार्थएव वेदशब्दोऽभिमतः खलु निरुक्तकारस्यैतस्य यास्कस्यापीति ॥

इस कारण हम यह कह सकते हैं कि सब संहिताओं में ही त्रयीवाचक वेद-शब्द का होना सिद्ध ही करता है कि ब्राह्मणग्रन्थ बनने से पूर्व मन्त्र के समय में वेदशब्द से केवल मन्त्रों का ही व्यवहार होता था क्योंकि उस समय मन्त्रों के व्याख्यानार्थ हुए ब्राह्मण पुस्तक नहीं बने थे। और पूर्वलिखे ब्राह्मणवाक्यभी यही बात दृढ करते हैं कि ऋक् आदि शब्द मुख्यकर मन्त्रों के ही वाचक हैं इसी से गोपथ के साथ ब्राह्मण में "सब वेद, ब्राह्मणों सहित" कहने का विशेष घटता है यदि सब वेद कहने से ब्राह्मण भी आजाते तो ब्राह्मणों सहित कहना व्यर्थ हो जाता। (जैसे कोई कहे कि धनञ्जयसहित सब विद्यार्थियों को बुलाओ तो सिद्ध होगा कि धनञ्जय विद्यार्थी नहीं इसी प्रकार यहां भी जानो।) निरुक्त में जो वेदार्थ जानने वाले की प्रशंसा के लिये शाखान्तरों के मन्त्र (स्थाणुरयं०) इत्यादि लिखे हैं। वहां भी (अधीत्य वेदम्) वाक्य में त्रयीवाचक वेदशब्द आद्युदात्त लिखा है इस से भी प्रतीत होता है कि मन्त्रकाल में ही मन्त्रार्थवाचक वेदशब्द प्रसिद्ध था। निरुक्तकार यास्कऋषि ने स्पष्टलिखा है कि कर्मसिद्धि का हेतु मन्त्र वेद में है। जब मन्त्र संहिताओं में ही हैं ब्राह्मणों में नहीं तो इस से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि निरुक्तकार यास्कऋषि को भी संहिता का वाची ही वेदशब्द अभीष्ट था ॥

वस्तुतो ज्ञानार्थस्य लाभार्थस्य वा विदधातोरेव रूपं वेद इत्युक्ते विद्यैव तस्यार्थः फलति। अनन्ताश्च विद्या इह जगति सन्ति चिरतास्याय, ततएव वेदस्य सनातनत्वमनन्तत्वं च मन्यन्ते आर्याः। आदिसम्भकाले चात्र भारते येऋषयः प्रादुर्बभूवुः। आसन्नेवते विविधविद्याविभूषणाः साक्षात्कृतधर्माणः। अतएव तैर्दृष्टा मन्त्रास्तत्कालादेवोच्यन्ते वेदाइति। तदेवं मन्त्रेष्वेव वेद शब्दस्य मुख्या शक्तिः,ब्राह्मणानान्तु यथा ऋगादिलक्षणाभावेऽपि तत्तद् व्याख्यानार्थतया तत्तन्नाम्ना व्यवहारः,तथैव वेदनाम्नापीति

वेदशब्दस्य तत्र वृत्तिस्त्वौपचारिक्येव । तथाह्यामनन्ति तैत्तिरीयाः—"अनन्ता वै वेदाः,,—इत्यादि (तै० ब्रा० ३।१०।११।३।४) इति ॥छान्दोग्येऽपि श्रूयतएव वेदार्थो विद्याशब्दः। तथाहि—"स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्,, इत्यादि (१।१७।१-१०) एवं तत्रैवान्यत्रान्यत्रापि (४।२१।१, २३, २) तदेवं वेदस्य विद्याऽपरपर्यायत्वं स्फुटमेव। अतः सुष्ठूक्तमस्माभिः पुरासीत् विद्याऽपरपर्याय एवायं वेदशब्दः—इत्यादि। तथा सम्भाव्यते चैष पक्षो युक्ततम एवोपन्यस्तो मन्त्रेष्वेव वेदशब्दस्य मुख्या वृत्तिरिति। आपस्तम्बादिसूत्रारम्भकाले तु ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदत्वं व्यपदिष्टम्। ततः प्रभृति सिद्धमेव "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति। ततएव मनुसंहितादावपि "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः (२।१६५),, इत्यादिषु वचनेषूभयोरेव ग्रहणमवगम्यते। अतएवोक्तं संगच्छते "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञइतीयं वैदिकी श्रुतिः (२।१५),, इति। "उदिते जुहोति,, इत्यादिविधयस्तु ऐतरेयादिब्राह्मणेष्वेव श्रूयन्ते (५।५।१, ५,-६) तथा "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (म० सं० २।१०)" इत्यत्र च श्रुतिलक्षणे मन्त्राणां ब्राह्मणानां च ग्रहणमिष्टं तस्येत्यपि प्रतीयतएव, ज्ञायते च तथा श्रुतिरिति वेदस्यैव नामान्तरमिति ॥

भावार्थः—वास्तव में ज्ञानार्थ वा लाभार्थ विद् धातु से ही वेदशब्द सिद्ध होता है ऐसा कहने पर वेद का आशय विद्या ही ठहरती है। और इस जगत् में दीर्घकाल से अनन्तविद्या हैं इसी कारण आर्य लोग वेद का वा विद्याओं का सनातन होना तथा अनन्त होना मानते हैं। पहिले मध्य समय में इस भारतवर्ष में जो ऋषि लोग हुए वे नानाप्रकार की विद्याओं से विभूषित धर्म को साक्षात् करने वाले अवश्य थे इसी कारण उन लोगों के देखे वा जाने हुए मन्त्र

उसी समय से वेद कहे जाते हैं। सो इस प्रकार वेदशब्द मुख्य कर मन्त्रों का ही वाचक है। और ब्राह्मणग्रन्थों में जैसे ऋक् आदि के लक्षण न मिलने पर भी उस २ ऋक् आदि का व्याख्यानार्थ होने से उस २ ऋक् आदि के नाम से व्यवहार होता है वैसे ही वेद नाम से भी गौणप्रकार ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होगा अर्थात् वेदशब्द मुख्यकर मन्त्रों का ही नाम है पीछे ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद के तुल्य उत्तम मान कर वेद कहने लगे। तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है कि वेद अनन्त हैं। जब वेद के पुस्तक अनन्त नहीं हो सकते तो वेद पुस्तकों से सम्बन्ध रखने वाली विद्या का ही वेदशब्द से अनन्त कहना ठीक बन सकता है। छान्दोग्य में भी वेदार्थवाची विद्या शब्द आया है सो इस प्रकार वेद और विद्याशब्दों का पर्यायवाची होना स्पष्ट ही सिद्ध है इस कारण हमारा कहना बहुत ठीक है कि पहिले विद्या का पर्यायवाची वेदशब्द था इत्यादि। तथा यह पक्ष भी ठीक ही सम्भावित है कि मन्त्रों में ही वेदशब्द की मुख्य वृत्ति है। और आपस्तम्बादि सूत्र बनने के समय ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद कहना प्रचलित हुआ तब से लेकर सिद्ध हो ही गया कि मन्त्र ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है। जिस से पीछे मनुस्मृति आदि में भी "सम्पूर्ण वेद पढ़ना चाहिये" इत्यादि वचनों में दोनों का ग्रहण प्रतीत होता है। ऐसा होने पर ही अगला कथन ठीक बन जाता है कि "सूर्योदय से पहिले सूर्योदय होने पर वा उदय होते ही होम करे" सो "उदिते जुहोति" इत्यादि वचन ऐतरेयादि ब्राह्मणों में ही हैं किन्तु मन्त्रसंहिताओं में नहीं तथा "श्रुति को वेद जानो" यहां श्रुति के लक्षण में भी मन्त्रब्राह्मण दोनों का ग्रहण मनु को अभीष्ट है यह भी प्रतीत होता है और जान भी पड़ता है कि श्रुति वेद का ही नामान्तर है॥

सम्पादक—हमारे पाठक लोग यह न समझ लेवें कि त्रयीविद्या के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके अन्य कुछ लिखने लगे किन्तु यह सब त्रयीविद्या के मुख्य व्याख्यान को पुष्ट करने के लिये सत्यव्रत सामश्रमी के वेदविषयक व्याख्यान का अनुवाद है। जहां कुछ मैं (भी० श) अपनी ओर से लिखता हूं वहां सम्पादक शीर्षक देकर लिखा है। और ऐसा ही आगे दूर तक लेख चलेगा॥

यद्यपि पूर्व के लेख में कुछ विशेष सम्मति लिखना आवश्यक नहीं तथापि इतना वक्तव्य है कि वेद और विद्याशब्द सब अंशों में एकार्थवाची नहीं हैं

किन्तु वेद शब्द कहीं २ विद्या का पर्यायवाची पहिले लिया जाता था वहां भी वेदपुस्तकस्थ विद्याओं का ही ग्रहण होता था। और कहीं वेदशब्द मन्त्रसंहितारूप पुस्तकों का वाचक भी लिया जाता था। परन्तु अब लोक व्यवहार में विद्याशब्द वेद का पर्यायवाची नहीं लिया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि वेदशब्द विद्या का पर्याय होगा तब भी उससे वेदपुस्तकस्थ विद्या ही ली जायगी और विद्याशब्द से जहां कहीं वेदपुस्तकस्थ विद्या ली जायगी वहीं वेद, विद्या दोनों एकार्थ होंगे और कहीं विद्याशब्द से सामान्य ज्ञान लिया जायगा। इस प्रकार इन दोनों में भेद भी रहेगा। मनुस्मृति में भी वेद वा श्रुतिशब्द सर्वत्र मन्त्रब्राह्मण दोनों के वाचक नहीं किन्तु कहीं२ यज्ञादि के विधान में वेद के तुल्य कार्य साधक होने से ब्राह्मणों को भी गौणभाव से वेद मान लिया है। "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥" इस श्लोक में वेदपद से यदि मनुजी को मन्त्रब्राह्मण दोनों का ग्रहण इष्ट होता तो रहस्य नाम उपनिषद् भी ब्राह्मणों के अन्तर्गत आ जाते फिर सरहस्य विशेषण निरर्थक हो जाता इससे सिद्ध हुआ कि वेद करके दोनों का ग्रहण मनु कर्ताको सर्वत्र इष्ट नहीं है। तथा पठनपाठनविषय में वेद शब्द से वा ऋगादि विशेष शब्दों से सर्वत्र मन्त्रसंहिताओं का ही ग्रहण होगा क्योंकि पठनपाठन में अब तक भी संहिताओं के पढ़ने की परिपाटी बनी है किन्तु उन २ के ब्राह्मण स्वाध्याय में नहीं लिये जाते। "वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च (४।१२३)" यहां वेद से भिन्न आरण्यक कहने से सिद्ध है कि वेदशब्द से आरण्यक का भी ग्रहण नहीं होता। इस से सिद्ध है कि मनु संहिता में भी वेदपद से मुख्यकर प्रायः मन्त्रसंहिताओं का ही ग्रहण है।

(श्रुतिः) श्रवणात् श्रुतिरित्याख्या। "श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे (पा० ३।३।९५ वा० २)" इति निष्पादितः श्रुतिशब्दस्तु श्रवणेन्द्रियपरः। इहतु "स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४)" इति भावार्थएव क्तिन्निष्टः। एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण,—कोऽपि कदापि एकस्यापि मन्त्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथमपि न समर्थः। अतएव वाय्वादिवदनादिरपौरुषेयश्चेति स्तूयत एवायमिति वृद्धाः। स एष श्रुतिशब्दो वेदपरो न व्यवहृत

आसीन्मन्त्रकाले, मन्त्रसंहितासु क्वचिदपि वेदार्थश्रुतिशब्दस्य दर्शनाभावात्। अपि तु ऐतरेयादिब्राह्मणप्रचारात्पुरैव गाथाकाले व्यवहृतो भावसाधनः प्रवादपरः। तथाह्यैतरेयकम्—"तस्माद-पत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत्। तदेषाभियज्ञगाथाभिगीयते—'यजेत्सौत्रामण्यामपत्नीकोऽप्यसोमपः। मातापितृभ्यामनृणाद्यजेति वचनाच्छ्रुतिः, इति तस्मात्सौम्यं याजयेत् (ऐ० ब्रा० ७। १। ९)" इति। तामिमां यज्ञगाथामवलम्ब्यैवाख्यातं ब्राह्मणम्—"तदाहुर्वाचाऽपत्नीकोऽग्निहोत्रं०—०स्वर्गाल्लोकान् जयन्तीति (७। १। १०)" इति। तदेवमादीनां दर्शनादिदमपि व्यक्तम्—आदौ मन्त्रकालः, ततस्तेषां यज्ञादिषु व्यवहारकालः, ततस्तादृशप्रवादश्रुतिकालः, ततो गाथाकालः, ततश्च ब्राह्मणकालः, गाथामूलान्येव हि बहूनि ब्राह्मणवचनानि श्रूयन्त इति॥ सएष प्रवादार्थएव श्रुतिशब्दो ब्राह्मणकालादनन्तरमेव मन्त्रब्राह्मणयोर्व्यवहर्त्तुमारब्धः, ततएवैतन्निरुक्तत्रयोदशाध्यायान्ते दृश्यते—"सेयं विद्याश्रुतिमतिबुद्धिः (४ भा० ३६ पृ०)" इति तथा स्मर्यते च मन्वादिभिः—"श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः (२। ९)" इति। "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः २। १५" इत्यादि च। वेदस्यानुश्रवनामापि श्रुतिमूलकमेव। तथाहि—"दृष्टवदानुश्रविकः" इतीश्वरकृष्णीयसांख्यकारिकाव्याख्यानावसरे व्युत्पादितमेवं वाचस्पतिना—"गुरुमुखादनुश्रूयतइत्यनुश्रवो वेदः" इति॥

श्रुति—जिस से सुने वह श्रुति है ऐसे अर्थ में पाणिनिसूत्र (३।३।९५) स्य वार्त्तिक से सिद्ध हुआ श्रुतिशब्द श्रोत्र इन्द्रिय का वाचक है और (३।३।९४)सूत्र

से भावार्थ में क्तिन्प्रत्यय हो कर वेदवाचक श्रुतिशब्द बनता है। यह वेद गुरु-परम्परा के साथ दीर्घकाल से सुना ही जाता है किन्तु कभी कोई एक मन्त्र के भी बनने के समय को किसी प्रकार निर्णय नहीं कर सकता। इसीलिये यह वेद वायु आदि के तुल्य अनादि अपौरुषेय है ऐसी स्तुति की जाती ऐसा पूर्वज वृद्ध लोग मानते आये हैं। सो यह श्रुतिशब्द मन्त्रकाल में वेद का पर्यायवाची नहीं लिया जाता था क्योंकि मन्त्रसंहिताओं में वेद अर्थ का वाची श्रुतिशब्द कहीं भी नहीं दीखता। किन्तु ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों का प्रचार होने से पहिले गाथा के समय में (जो वेदार्थसम्बन्धी विषय कहानियों के तौर पर ब्राह्मणपुस्तक बनने से पहिले प्रचरित थे) प्रवाद (कहावत) के वाची भावसाधन श्रुतिशब्द का व्यवहार होता था सो ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि "सो यह यज्ञविषयक गाथा चली आती है कि, सौत्रामणी यज्ञ में सोमपान न करके पत्नी के विना ही यज्ञ करे, इत्यादि। इस यज्ञगाथा का आश्रय लेकर ही आगे २ ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णन किया है। इत्यादि बातों के दीखने से यह भी प्रकट होता है कि सब से पहिला मन्त्रकाल, तदनन्तर उन मन्त्रों का यज्ञादि में व्यवहार होने का दूसरा काल, तदनन्तर यज्ञादि में जैसा व्यवहार होता था उसी के अनुकूल कहावतों का प्रचाररूप प्रवाद वा श्रुतिकाल, तत्पश्चात् गाथाकाल और गाथाकाल के पश्चात् ब्राह्मण पुस्तक बने तब उन के प्रचार का समय हुआ क्योंकि गाथा जिन का मूल है ऐसे अनेक ब्राह्मण पुस्तकों के लेख सुनने में आते हैं सो इस प्रवादवाची श्रुतिशब्द का ब्राह्मणग्रन्थ बनने पश्चात् ही मन्त्रब्राह्मण दोनों में व्यवहार करना प्रारम्भ हुआ। उसी से निरुक्त के तेरहवें अध्याय के अन्त में यह लिखा है कि "सो यह विद्या श्रवण मनन के पश्चात् जानी जाती है। और मनुस्मृति में भी प्रवादार्थ श्रुतिशब्द मन्त्रब्राह्मण का वाचक ही आता है। वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुति मूलक ही है। गुरु मुख से उच्चारण हुए पश्चात् सुना जाता है इस लिये अनुश्रव वेद का नाम है यह वाचस्पति ने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका के व्याख्यान में लिखा है। अर्थात् परोक्षार्थ जिस से सुना जाय वह अनुश्रव है॥

लौकिकप्रवादवाक्यानामपि श्रुतित्वव्यवहारो दृश्यते बहुत्र। तदेवं यस्य कस्यचिद्वचनस्य प्रचारकालस्यादिर्न निर्णीयते-कदा केन कथितमिदमिति, अपि च प्रामाणिकतया गुरुपरम्परयोप-

देशो लभ्यते, तत् किल वैदिकं वा लौकिकं वा वचनं श्रुतिरित्युच्यते। कल्पयन्ति चानुमितश्रुतीः मन्वादिभिर्वेदविद्भिर्विहितानां विधीनां मूलानि स्मार्त्तग्रन्थेषु। वेदार्थस्मरणमूलकत्वादेव च तेषां स्मृतित्वाख्यानात्। तदेवं यस्य च प्रामाणिकस्मृतिवचनस्य मूलं वैदिकवचनं साक्षान्नोपलभ्यते, तस्य मूलं तादृशवैदिकवचनं कल्पनीयं भवति, तत् कल्पितवचनमपि श्रुतिरिति व्यवहृतं रघुनन्दनादिभिः। वस्तुतः श्रुतिकल्पनारीतिस्त्वयुक्तैव मीमांसाधिकरणमालायाम्–"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्,,इति विधानमनुसृत्य 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इति विधेर्लोभमूलकत्वे नाप्रामाण्यख्यापनात्। तदेवं मन्त्रभागानां श्रुतित्वं तु सर्ववादिसम्मतम्; ब्राह्मणभागानां श्रुतित्वं च मन्वादिभिः स्वीकृतमेव। प्रवादवाक्यानां लौकिकानां च श्रुतित्वं व्यावहारिकं दुर्बलम्, कल्पितश्रुतयोऽपि सन्ति रघुनन्दनादीनामिति श्रुतिचातुर्विध्यं सुस्थिरमिति ॥

और लौकिक प्रवाद वाक्यों को भी श्रुति कहते हैं लोक में साधारण लोग जिस को कहावत कहते उस को संस्कृत में श्रुति वा जनश्रुति कहते हैं। सो इस प्रकार जिस किसी वचन के प्रचार समय का आदि काल निश्चित न हो कि कब किसने यह कथन किया किन्तु प्रामाणिक होने से गुरु शिष्य की परम्परा द्वारा जिस का उपदेश प्राप्त होता रहे वह चाहे वैदिक वचन हो वा लौकिक हो श्रुति कहा जाता है। वेदवेत्ता मन्वादि महर्षियों के प्रणीत विधिवाक्यों का मूल, वेद में जब प्रत्यक्ष नहीं दीखता तब अनेक विद्वान् लोग उन विधिवाक्यों की मूल अनुमित श्रुतियों की कल्पना करते हैं और मानते हैं कि वेदार्थ का स्मरण करना ही मन्वादि प्रणीत धर्मशास्त्रों का मूल होने से वे ग्रन्थ स्मृतिपदवाच्य कहाते हैं। सो जिस प्रामाणिक स्मृतिवचन का मूल वैदिक वचन साक्षात् उपलब्ध नहीं होता उस का मूल वैसा ही वैदिक वाक्य कल्पना कर

लेना चाहिये। उस कल्पित वचन का भी रघुनन्दनादि ने श्रुति पद से व्यवहार किया है। पर वास्तव में श्रुतिकल्पना की रीति अयुक्त ही है। मीमांसाधिकरणमाला में लिखा है कि कल्पितवचन लोभादि दोषग्रस्त हो सकने से प्रमाण कोटि में नहीं लिया जा सकता। सो इस प्रकार मन्त्रभागों का श्रुति होना तो सर्वसम्मत है तथा ब्राह्मणभागों का श्रुति होना भी मन्वादि ने स्वीकार ही किया है और लौकिक कहावतों का श्रुतिपदवाच्य होना व्यवहाराधीन निर्बल है और रघुनन्दनादि के मत में कल्पित श्रुति भी हैं इस रीति से चार प्रकार की श्रुति होना ठीक ठहरता है ॥

सम्पादक—श्रुतिशब्द जो वेद का वाचक प्रसिद्ध है उस को आज कल के संस्कृतज्ञ पण्डित लोग ब्राह्मणवाक्यों के साथ ही प्रायः लगाते और मानते हैं अनेक लोग यह सिद्धान्त ही कर बैठे हैं कि श्रुतिपद ब्राह्मणग्रन्थस्थवाक्यों का ही वाचक है सो यह उन की बड़ी भूल है क्योंकि ऐसा होने पर ब्राह्मण पुस्तक बनने से पहिले श्रुतिशब्द वेदवाचक उन के मत में हो ही नहीं सकता। वास्तव में श्रुति शब्द का यह अर्थ ठीक ही है कि जिस का बनाने वाला कोई किसी समय न हुआ किन्तु जो अनादि स्वतः सिद्ध हो वह श्रुति है यह अर्थ अनादि अपौरुषेय मन्त्रसंहितारूप वेद में ही घटता है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेक वाक्य ऐसे रक्खे हैं जो उन पुस्तकों के बनने से पहिले ही वेदमन्त्राशय के अनुकूल लोक में प्रचरित थे उन्हीं के आश्रय से ब्राह्मणस्थ वाक्यों को श्रुति पदवाच्य माना गया। और मन्त्रों के तुल्य जिन प्रामाणिक लौकिक प्रवादवाक्य (कहावतों) का कोई कर्त्ता निश्चित नहीं हो सका उन को भी किसी अंश में मन्त्रों की तुल्यता लेकर श्रुति कहने का व्यवहार चला। जैसे वेद के अङ्गों में व्याकरणपद से पाणिनीय सूत्र मुख्य कर लिये जाते हैं पर जब पीछे महाभाष्य बना तो व्याकरण पद से उस का भी ग्रहण होने लगा। यद्यपि महाभाष्य प्रधानता से व्याकरणपद का वाच्यार्थ नहीं तथापि जैसे वेद के छः अङ्गों—(वेदार्थ ज्ञान के साधनों) में व्याकरण को प्रधानता है वैसे मूलपाणिनीय व्याकरण के गूढ़ाशय को जानने में मुख्यसाधन महाभाष्य है और मुख्यसाधन को साध्य वा स्वतन्त्र मान लेना यह व्यवहार सिद्ध वार्त्ता है जैसे सौकर्यातिशयविवक्षा में कर्म वा करण कारक भी स्वतन्त्र कर्त्ता मान लिये जाते हैं। पश्चात् कुछ २ तुल्यता होने और पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेकर बने मुग्धबोध, कातन्त्र आदि वा सि-

द्धान्तकौमुदी, शेखर, मनोरमा, सारस्वत, चन्द्रकादि नामक पुस्तक भी गौणभाव से व्याकरण माने जाते और आगे बनने वाले भी माने जांयगे । इसी प्रकार पहिले २ मुख्य कर मूल मन्त्रों का वाचक हुआ श्रुतिशब्द पीछे २ उन्हीं के तुल्य (किन्हीं अंशों में) बने ब्राह्मणादि का भी वाचक गौणभाव से हुआ । और कदाचित् अब तक जिन ग्रन्थों वा वाक्यों का नाम श्रुति नहीं है उन का भी आगे भविष्यत् में श्रुति नाम हो जावे तो आश्चर्य नहीं । यह गौणरीति से शब्दों का वाच्यवाचक व्यवहार लोक के आधीन है और सिद्धानुवादकोटि में रखने योग्य है इस लिये विशेष आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है । परन्तु विधिवाक्य यह होना चाहिये कि तुल्यता को लेकर गौणप्रयोग का व्यवहार भले ही बना रहे और यथावसर वैसा व्यवहार हुआ करो परन्तु जैसे ग्रामादि में साधारण बोध वाले मनुष्य भी मुख्य पण्डितों के अभाव में पण्डित माने जाते हैं पर जिस में पण्डित के अधिक वा प्रबल लक्षण विद्यमान हैं ऐसों के सामने साधारणों को पण्डित नहीं माना जाता वा जिन की अपेक्षा वे पण्डित हो सकते हैं उन की अपेक्षा गौणभाव से किसी अंश में वे भी पण्डितपदवाच्य माने जाते हैं इसी प्रकार मन्त्रसंहिता जो मुख्य कर वेद वा श्रुतिपदवाच्य हैं उन के सामने वा उन की अपेक्षा से ब्राह्मणादि को वेदत्व वा श्रुतित्व कुछ भी न मानना चाहिये । अन्य ब्राह्मणों से निकृष्ट ग्रन्थों की अपेक्षा प्रशंसा के लिये ब्राह्मणादि को कोई वेद वा श्रुति कहे तो अनुचित नहीं । परन्तु यह अवश्य स्मरण रहे कि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" गौण मुख्य दोनों की विद्यमानता में लोक के अनुसार मुख्य से कार्य लेना चाहिये । इस से विरुद्ध करने पर बड़ी हानि होती है । जैसे विद्वान् ब्राह्मणों को पुरोहितादि करना वा दानादि द्वारा उन का सत्कार करना उनकी सम्मति से अपने धर्म सम्बन्धी व्यवहार चलाना चाहिये यह धर्म शास्त्रादि में विधान है जिससे मनुष्य का कल्याण होना सम्भव है । पर भारतवर्ष में मूर्खों वा लोभी लालचियों को पुरोहितादि बनाते उन्हीं को दानादि देते उन्हीं को पूज्य मानते हैं वे मूर्ख न तो लोगों को अधर्म से बचा सकते और न धर्ममार्ग बता सकते हैं । जो स्वयं दलदल में फसा है वह दूसरे को कीचड़ से निकाल सके यह असम्भव है तो शोचिये मुख्य ब्राह्मण वा पण्डितों का मान प्रतिष्ठा कम होने और गौणों की मान प्रतिष्ठा हो जाने से विद्या की भी हानि होकर कैसा अनर्थ बढ़ता जाता है । इसी प्रकार मुख्य वेद वा श्रुतिपदवाच्य

मन्त्रसंहिताओं का जिस आदर भाव से पठन पाठन होना चाहिये वह छूट गया उस के स्थान में गौण अमान्य अपाठ्य पुस्तकों का पठन पाठन चल गया और वेद से भी अधिक कल्पित पुस्तकों की प्रतिष्ठा होने लगी इस से लोग मुख्य कल्याण के मार्ग को भूल गये और दिन २ अधोगति होती जाती है। इस कारण जो लोग अपना कल्याण चाहैं वे मूल वेद को पकड़ने का उद्योग करें। शाखा पकड़ के लटकते रहैं गे तो जब २ आंधी आदि से शाखा टूटती जायगी तब २ बहुत ऊंचे से गिर २ महादुःख सागर में गोते खाया करैंगे।

(आम्नायः) "श्रुतिस्त्री वेद आम्नायस्त्रयी,, इति नामलिङ्गानुशासनात् श्रुतिः, वेदः, आम्नायः, त्रयीः, इत्येतान्येकार्थान्येव पदानि। आम्नायसमाम्नायौ चाभिन्नार्थौ। अतएव "इति माहेश्वराणि सूत्राणि,, इति। भट्टोजिदीक्षितप्रथमव्याख्यानावसरे ह्युक्तं नागेशेन लघुशब्देन्दुशेखरे-"आम्नायसमाम्नायशब्दौ वेदएव रूढौ,, इति। वेदशब्देन तु मासूत्रकालात् मन्त्रा ब्राह्मणवचनानि च गृह्यन्ते इत्युक्तमिदानीमेव। अतएव भगवता जैमिनिना कृते इदानीं प्रचलिते मीमांसादर्शने च बहुत्रैव मन्त्रब्राह्मणार्थपरो ह्याम्नायशब्दो दृश्यते। तथाहि-"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (१ ॥ २ । १)"—"उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं० (१ । ४ । १),, इत्येवमादयो द्रष्टव्याः। "स्याद्दाम्नायधर्मत्वाच्छन्दसि नियमः (१ ४),, इत्येतस्य वाजसनेयि प्रातिशाख्यसूत्रस्य व्याख्यानावसरे च "आम्नायो वेदः,, इत्यारभ्य, ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः, इत्याद्युक्तं तद्भाष्यकृदुव्वटेनापि। तथा स्पष्टं चोक्तमथर्ववेदीये कौशिकसूत्रे-आम्नायःपुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (१),,-इति ॥

अमरकोषानुसार आम्नाय शब्द भी वेद का पर्यायवाची है। और समाम्नाय भी आम्नाय का ही पर्यायवाचक है। इसी से "इति माहेश्वराणि सूत्राणि" इ-

स भट्टोजीदीक्षित के प्रथम वाक्य का व्याख्यान करते समय लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश ने कहा है कि "आम्नाय" समाम्नाय शब्द वेद अर्थ ही में रूढ हैं" और वेद शब्द से सूत्र बनने के समय तक मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों का ग्रहण होता रहा यह हम पीछे कह चुके हैं। इसी से जैमिनि मुनिकृत सर्वप्रति प्रचलित मीमांसादर्शन के अनेक स्थलों में मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का वाचक आम्नाय शब्द दीखता है यथा (१।२।१) (१।४।१ मीमांसाद०) इत्यादि स्थलों में देखना चाहिये तथा "स्याद्वाम्नायधर्मत्वात्० १।४" इस वाजसनेयियों के प्रातिशाख्य सूत्र के व्याख्यान में "आम्नायो वेदः" यहां से लेकर आम्नायपद के मन्त्र ब्राह्मण दोनों अर्थ उव्वट भाष्यकार ने भी माने हैं। यथा अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में स्पष्ट ही कहा है कि "आम्नाय मन्त्र और ब्राह्मण दोनों कहाते हैं"।

यास्कीयेऽत्र निरुक्तेऽप्युभयोरेवाम्नायत्वमाख्यातं दृश्यते। तथाहि—"अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति—ओषधे त्रायस्वैनम् (य० वा० सं० ४ । १ ॥ ६ । १५) 'स्वधिते मैनं हिंसीः (य० वा० ४ । १ ॥ ६ । १५), इत्याह हिंसन् (२। भा० १०२, १०७ पृ०) इत्याशङ्क्य समाहितं ततउत्तरम्—"अथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत (२ भा० ११२, ११४ पृ०)" इति। तदत्र मन्त्राणामेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। अन्यत्र तु "एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः (३ भा० ४०३ पृ०)"—इत्यत्र। इत उत्तरं चैतत् सिद्धान्ते "अथोएतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित—इति' आम्नायवचनादेतद्भवति (३ भा० ४१६ पृ०)" इत्यत्र च ब्राह्मणानामेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। एवं च सुव्यक्तं निरुक्तकृन्मतेऽप्युभयोरेव मन्त्रब्राह्मणयोराम्नायत्वमिति। मन्त्राणामाम्नायत्वं मत्वैव ततः संगृहीतस्य निघण्टोश्च समाम्नायत्वमुक्तमादौ तेनैव निरुक्तकृता—"समाम्नायः समाम्नातः' स व्याख्यातव्यः (२ भा० ७ पृ०" इति। अतएव तद्वृत्ति-

कृता दुर्गाचार्येणोक्तं भूमिकायाम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता, सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव यथायथापन्नास्ता गौणोधर्माइति (२ भा० ६ पृ०)" इति। वेदाङ्गानामप्याम्नायत्वं निरुक्तकृत्सम्मतमेव। तेन प्रदर्शिते पुरावादे "समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च (२ भा० १३७ पृ०)" इति वचने मन्त्राणाम्, ततः संगृहीतानां नैघण्टुकपदानाम्' वेदाङ्गानां चाम्नायत्वबोधनात्। लघुशब्देन्दुशेखरेऽपि प्रत्याहारव्याख्यानावसरे "ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नायइति व्यवहारानुपपत्तिः?" इत्यादिकं विचारमवतार्य पाणिनिव्याकरणादीनां वेदाङ्गानामप्याम्नायत्वं प्रमाणीकृतं नागेशेन। "तस्येदम् (४।३।१२०)" इति पाणिनीयसूत्रे हि यदुक्तं वार्तिकम् "चरणाद्धर्माम्नाययोः (२)" इति तदनुसृत्यैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (पा० ४।३।१२९)" इति सूत्रे नाट्यस्याप्याम्नायत्वमुररीकृतं दीक्षितेन। तथाह्युक्तम्—"चरणाधर्माम्नाययोरित्युक्तं तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव" इति। एवं च शिलालिप्रभृतिकृतानां प्राचीनतमानां नटसूत्रादीनामप्याम्नायत्वं दीक्षितादिसम्मतमिति ॥

यास्कमुनि कृत निरुक्त में दोनों को ही आम्नाय माना है। अर्थात् कहीं केवल मन्त्रों को और कहीं केवल ब्राह्मणों को ही आम्नाय निरुक्त कार ने लिखा है। निरुक्तकार ने मन्त्रों को आम्नाय पदवाच्य मान के ही मन्त्रों से संग्रह किये निघण्टु को "समाम्नायः समाम्नातः" इत्यादि में समाम्नाय कहा है। इसी से निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने अपनी भूमिका में कहा है कि "मन्त्रों से पद ले २ कर ज्योंके त्यों निघण्टु में रक्खे गये हैं। और वेद के अङ्गों का भी आम्नाय होना निरुक्तकार की सम्मति के अनुकूल ही है (नि० २ भा० १३७ पृ०)

तथा लघुशब्देन्दुशेखर में भी प्रत्याहार सूत्रों के व्याख्यान में नागेशने लिखा है कि "चौदह सूत्रों को अक्षर समाम्नाय नहीं कह सकते" ऐसा पूर्वपक्ष करके पाणिनीय व्याकरणादि वेदाङ्गों का भी आम्नाय होना प्रमाण किया है । (४।३।१२०) इस पाणिनीय सूत्र पर कहे "चरणाद्धर्माम्नाययोः" इस द्वितीय वार्त्तिक के अनुसार (पा० ४ । ३ । १२९) सूत्र पर नाट्यशास्त्र को भी आम्नाय पदवाच्य ठहराने के लिये भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है कि "चरणवाची शब्द से धर्म आम्नाय अर्थ में प्रत्यय कहा है इसीके साहचर्य से नटशब्द से भी उन्हीं अर्थों में होगा" इस प्रकार शिलालि आदि आचार्यों के बनाये अति प्राचीन नट सूत्रादि का भी आम्नाय होना भट्टोजिदीक्षितादि के सम्मत ही है ।

वृद्धास्त्वाहुः-(म्ना अभ्यासे) इति धातुत एवाम्नायपदं निष्पन्नम् । अतो यः कश्चन ग्रन्थोऽभ्यस्त उक्तः सएवाम्नायः । एकस्यैव पुनःपुनरुच्चारणादिना स्मृत्यनुगतकरणमेवाभ्यसनम् । युगावसानकाले प्रायः सर्वेष्वेव प्राण्यादिष्ववसन्नेषु ये केचिच्छिष्टा अवशिष्टा बभूवुः । तैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपः साङ्गो वेदः प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः, तैश्च बहुभ्यइत्येवं विस्तृतः सः पुनर्युगान्ते चोपगते पुनःसर्वएव ते विलीनाः पुनर्नवयुगारम्भे लयावशिष्टैः शिष्टैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपत एव प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः । एवमेवाभ्यासः सम्पद्यते साङ्गस्य वेदस्य सदैवेति स साङ्गो वेदः सर्वएव समाम्नाय इत्याख्यायते। अतएव ज्योतिषविषये सूर्यसिद्धान्ते ज्योतिषोपनिषदध्यायेऽप्युक्तमेवमेव "युगेयुगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः । प्रसादात्कस्यचिद्भूयः प्रादुर्भवति कामतः" ॥ इति (१९ श्लो०)

परन्तु वृद्ध लोग कहते हैं कि 'म्ना' धातु अभ्यास अर्थ में है इसीसे आम्नाय पद सिद्ध हुआ है । इस कारण जो कोई ग्रन्थ अभ्यस्त कहा जाय वही आम्नाय है । एक ही छन्द आदि का उच्चारणादि द्वारा बार २ स्मरण (याद) करना अभ्यास कहाता है । प्रत्येक युग की समाप्ति में प्रायः सब प्राणियों के नष्ट हो जाने पर जो कोई शिष्ट तपस्वी योगी ज्ञानी लोग बच गये उन्हों ने अपनी

स्मृति (यादगारी) के अनुसार अङ्गों सहित वेद अपने २ शिष्यों को पढ़ाया फिर उन शिष्यों ने अन्य अपने बहुत शिष्यों को पढ़ाया इस प्रकार वेद का विस्तर वा विशेष प्रचार हुआ । फिर उस युग की भी जब समाप्ति हुई तब वे पढ़ने पढ़ाने वाले और पुस्तकादि सब लय को प्राप्त हो गये फिर नये युग के आरम्भ में प्रलय होने से बचे तपस्वी महात्माओं ने अपनी२ स्मृति के अनुकूल ही अपने२ शिष्यों को वेद पढ़ाया। इसी प्रकार अङ्गों सहित वेदके पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास सदैव सिद्ध होता है । वह अङ्गोंसहित वेद आम्नाय वा समाम्नाय कहाता है । इसीलिये-सूर्यसिद्धान्त नाम ज्योतिष के ज्योतिषोपनिषद् अध्याय में कहा है कि "परमेश्वर की यह रचना प्रत्येक युग में नष्ट होती और फिर उस ईश्वर की इच्छानुसार उसी के प्रसाद से प्रकट होती है" ।

तत्र चायं विशेष उपलभ्यते,—मन्त्राणामेव यथावत्स्वर वर्णमात्रादियुतानां यथाश्रुतानामभ्यासः क्रियते, सएव मन्त्रभागो दृष्टइत्युच्यते तत्रापि स्मृतिच्युत्यादि हेतुभिः पाठन्यूनाधिक्यं पाठान्तरत्वं क्रमान्यत्वं चानिवार्यमिति शाखान्तरत्वं सम्पद्यते । ब्राह्मणानान्तु तदर्थाभिधानएवोपयोगित्वात्तच्चान्यथाप्युपपद्येतेति न तत्र यथावत्पाठाभ्यासः स्वीकृतः प्रत्युत तदर्थाभ्यासएव कृतोऽपरग्रन्थप्रवचनेनेति । सएव ब्राह्मणभागः प्रोक्त इत्युच्यते। एवंवेदाङ्गग्रन्थानामपि मूलतत्त्वानामभ्यसनीयत्वेऽपि तत्तत्प्रयोगस्थानामस्ति देशकालाद्यपक्षेति देशकालाद्यनुसारेणैव विधानमुचितमिति प्रतिनवयुगे नवकल्पनैव कृता। सएव वेदाङ्गभागः कल्पइति चोच्यते । तदेवं सर्वएव वेदाङ्गास्तत्त्वतोऽभ्यस्ता अपि अक्षरशः प्रतियुगे नूतनाः कल्प्यन्ते-इति कल्पनामभाजः स्युः। परं शिक्षाप्रभृतीनां पञ्चानां कल्पनामतो व्यवहारो न दृश्यतेऽपितु यागादिविधायकानां पैङ्गीप्रभृतीनामेव ग्रन्थानामेकविधानां कल्पइति प्रसिद्धिः। व्यवहार एवात्र निदा-

नम् । तथा च वेदाङ्गग्रन्थेषु तेषामेव यज्ञसूत्रग्रन्थानां प्राथम्यमनुमीयते । यथा हि शैशिरीयाणां पञ्चानामेव शाकलत्वेऽपि आद्यायाएव शाखायाः शाकल इति प्रसिद्धिः । यथा च सर्वेषामेव सामवेदीयार्च्चिकानां छन्दस्त्वेऽपि पूर्वभागस्यैव छन्दइति । अत एव ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि निरुक्तादिनामदर्शनं न विस्मयकरं भवत्यार्याणाम् । नाट्यादिग्रन्थोऽपि नासीत्पुराकल्पे इति को वदितुं सक्षमः?। परं मन्त्रातिरिक्तानां केषामपि प्रबन्धानां नहि यथावदक्षरशोऽभ्यसनं सप्रयोजनमित्यतिप्राचीननटसूत्रादीनां कृतकत्वेऽप्याम्नायत्वमव्याहतमेव । तदेवं नटशब्देनापि कात्यायनोक्तयर्माम्नाययोरभिसम्बन्धे को दोषः पाणिनिवृत्तिकृतः खलु भट्टोजिदीक्षितस्य । परमत्र चेदमवश्यं धार्यं यद् भवतु नाम मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य, मन्त्रोद्धृतपदसङ्घातात्मकस्य निघण्टोः, षड्विभागोपेतस्य वेदाङ्गस्य अन्येषां च नटसूत्रादीनां सर्वेषामेव प्राचीनतमानामार्य्यशास्त्राणामाम्नायत्वम् । परं मन्त्रभागस्यैवाम्नायत्वं मुख्यम् । प्रतिकल्पे मन्त्राणामेवाक्षरश आम्नानात् । तथैव नैघण्टुकपदानाम्, तदनु ब्राह्मणभागस्य, तस्यापि तथाऽव्यवहारात् । तदनु वेदाङ्गानां यास्कादिभिः स्वीकारात् । नटशास्त्रादीनां तु तथात्वे प्रामाण्यं विप्रकृष्टतम इति ॥

और इस विषय में विशेषता यह मिलती है कि ठीक २ स्वरवर्ण और मात्रादि युक्त संहिताओं में लिखे मन्त्रों का ही मुख्य कर अभ्यास किया जाता है। वही मन्त्र भाग दृष्ट कहाता है। वहां भी स्मरण में भेद पड़जाने आदि हेतुओं से पाठका न्यूनाधिक होना वा पाठान्तर होना वा क्रम बदल जाना आदि नहीं बन सकता। [अर्थात् प्रति युग के अन्त में होने वाले अवान्तर प्रलय के पश्चात् प्रलय से बचे ऋषि लोग युगान्तर के आरम्भ में अपने २ स्मरण के अनुसार

अपने २ शिष्यों को कण्ठस्थ वेद पढ़ाते थे। सब का स्मरण सब के तुल्य कभी एक सा हो नहीं सकता इस कारण उन २ के भिन्न २ पठन पाठन में मन्त्रों के न्यूनाधिक होने पाठान्तर होने वा क्रम बदल जाने से एक २ वेद की अनेक२ शाखा बन गईं] और ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदार्थ कहने के लिये ही उपयोगी होने से अन्यथा भी अर्थात् ब्राह्मण में कहे मन्त्रार्थ प्रकार को छोड़ के अन्य प्रकार से भी मन्त्रार्थ बन सकता है। इस कारण ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठ का अभ्यास ऋषि लोगों ने स्वीकार नहीं किया किन्तु ऋषि लोग अन्य ब्राह्मणरूप ग्रन्थों के पठन पाठन से मूल वेद के अर्थ का ही अभ्यास करते थे। इस कारण ब्राह्मणभाग भी मौक्त कहा वा माना गया था॥

ऐसे ही मूल वेदाङ्गरूप ग्रन्थों का अभ्यास कर्त्तव्य होने पर भी उन २ के वाच्य पदार्थों में उन २ शब्दों के प्रयोग देश कालादि की अपेक्षा अवश्य रखते हैं तब देश काल के अनुसार ही वेदाङ्गों का बनना उचित हुआ। इस से प्रत्येक युग के आरम्भ में नये २ वेदाङ्ग पुस्तक बनते आये। प्रत्येक युग में नवीन कल्पना होने से उन वेदाङ्गों का नाम कल्प कहा जाता है। सो इस प्रकार मूलरूप वेदाङ्गों का अभ्यास सदा सिद्ध होने पर भी प्रतियुग में नये २ कल्पना किये जाते हैं इस कारण सब व्याकरणादि अङ्गों का नाम कल्प होना चाहिये। परन्तु शिक्षादि पांच अङ्गों का कल्प नाम वर्त्तमान में नहीं दीखता किन्तु यज्ञादि विधायक एक प्रकार के पैङ्गी आदि नामक ग्रन्थ ही कल्प करके प्रसिद्ध हैं इस का कारण व्यवहार ही है। और वेदाङ्ग ग्रन्थों में उन यज्ञसूत्र कल्पग्रन्थों का ही सब से पहिले बनना अनुमान से ज्ञात होता है। जैसे शैशिरीय पांच शाखाओं का नाम अर्थानुसार शाकल होना चाहिये परन्तु पहिली का ही नाम शाकल है। तथा जैसे सामवेदीय सब आर्चिकों का नाम छन्दः होना चाहिये परन्तु केवल पूर्वभाग का ही नाम छन्दः है। इसी से ब्राह्मण ग्रन्थों में निरुक्तादि नाम दीखना आर्य लोगों को सन्देह कारक नहीं होता। कात्यायनादि ग्रन्थ पहिले कल्प वा युग में नहीं थे यह कौन कह सकता है?। परन्तु मन्त्रों से भिन्न किन्हीं ग्रन्थों का यथावत् प्रत्यक्षर अभ्यास करना प्रयोजन साधक नहीं इस कारण अतिप्राचीन नटसूत्रादि के कल्पित होने पर भी उन का आम्नाय होना अविरुद्ध है। तो ऐसे कात्यायनोक्त"धर्माम्नाययोः" वार्त्तिक के साथ नट शब्द का सम्बन्ध करने में पाणिनि सूत्र के वृत्तिकार भट्टोजिदी-

क्षित का क्या दोष है ?। परन्तु यहां यह अवश्य मानना चाहिये कि मन्त्र ब्राह्मणरूप वेद, मन्त्रों से लिये पदों के समुदाय रूप निघण्टु, छः भागों में विभक्त वेदाङ्ग और अन्य अतिप्राचीन नट सूत्रादि आर्ष शास्त्रों का नाम आम्नाय रहो, पर तो भी मुख्यकर मन्त्रभाग का ही नाम आम्नाय हो सकता है क्योंकि प्रतिकल्प में मन्त्रों का ही प्रत्यक्षर अभ्यास किया जाता है। और मन्त्रों से निकाले निघण्टु के पदों का, मन्त्रानुकूल व्याख्यान रूप ब्राह्मणों का आम्नाय होना व्यवहार होने अर्थात् आम्नाय पद से कहे जाने से सिद्ध है। तत्पश्चात् यास्कादि के स्वीकार करने से वेदाङ्गों का आम्नाय होना सिद्ध है। परन्तु नट शास्त्रादि के आम्नाय होने में प्रमाण मिलना कठिन है ॥

सम्पादक-यह वेद सम्बन्धी शब्दों का विचार अनेक ग्रन्थों के प्रमाण लेकर लिखा जाता है इस कारण कदाचित् सत्यव्रत के संस्कृत का सारांश साधारण पाठकों की समझ में न आवे इस कारण मैं संक्षेप से सुगम सारांश लिख देता हूं-वेद शब्द के पर्यायवाचकों में एक आम्नाय, वा समाम्नाय पद भी आता है। इस समय के वर्त्तमान सामान्य वा विशेष सब शास्त्रों में आम्नाय शब्द से ब्राह्मण, सूत्र, वेदाङ्ग और प्राचीन नाटक सूत्रों तक का ग्रहण किया है। सो मुख्य कर वा सब से पहिले मन्त्र संहिता मूलवेद को ही आम्नाय कहना वा मानना चाहिये और गौणभाव से ब्राह्मणादि को भी आम्नाय माना वा मानते हैं यह सिद्धान्त है ॥

अब विशेष वक्तव्य यह है कि-यद्यपि नट सूत्रादि भी किसी अंश में उपयोगी हो सकते हैं इस कारण उन को भी कोई पठन पाठन व्यवहार में ला सकते हैं तथापि वे पुस्तक कितने ही प्राचीन हों तो भी उत्तम कोटि के मनुष्यों के पढ़ने पढ़ाने योग्य नहीं हो सकते अर्थात् जैसे कहा जाय कि "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येय ज्ञेयश्च" ब्राह्मण का छः अङ्गों सहित वेद का पढ़ना निष्कारण धर्म है। ब्राह्मण को वेद वेदाङ्ग अवश्य पढ़ने चाहिये। जैसे यहां वेद पढ़ने के लिये आज्ञा है वैसे नट सूत्रादि के पढ़ने की आज्ञा कहीं नहीं मिल सकती। और जिस का पठन पाठन विधि विहित हो उसी का आम्नाय वा अभ्यास शास्त्रानुकूल होने से आम्नाय नाम है। इस कारण यौगिक अर्थ के अनुसार नट सूत्रादि का विधि विहित अध्ययन नहीं तो उनको आम्नाय कहना भी भट्टोजिदीक्षितादि की अवश्य भूल माननी चाहिये ॥

संस्कार-संशोधन ॥

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस से पहिले आर्यसिद्धान्त अङ्क ९ । १० में जाति और संस्कार विषय पर एक महाशय कृत प्रश्नों के उत्तर में कुछ लेख छप चुका है । अब उसी विषय के एक अंश पर कुछ लिखने की आवश्यकता दो कारणों से हुई । एक तो जाति और संस्कार के विषय में स्पष्ट और ठीक २ सिद्धान्त लिख देने पर भी लेख का ढर्रा नये ढंग का होने से कई महाशयों को यह संदेह हुआ कि श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज केवल कर्म वा संस्कार से वर्णव्यवस्था मानते थे क्योंकि उन के सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में इसी ढंग का लेख पाया जाता है और मैं ने संस्कार वा गुणकर्म और जन्म दोनों से वर्णव्यवस्था सिद्ध की तो दोनों के लेख में परस्पर विरोध होगया । इस विरोध का दूर करना हमारा काम है । द्वितीय यह कि सामान्य कर सभी समय में प्रत्येक वस्तु के संस्कार वा संशोधन की आवश्यकता होती है परन्तु जैसे कभी २ किसी काम के करने की अधिक आवश्यकता हो जाती है वैसे ही संस्कार वा संशोधन होने की आज कल अत्यन्त आवश्यकता है इसलिये केवल एक संस्कार का कुछ और व्याख्यान करना उचित समझा गया । आशा है कि पाठक लोग ध्यान पूर्वक पढ़ के लाभ भागी होंगे और मेरे श्रम को सुफल करेंगे ॥

१-वास्तव में स्वामी जी का लेख ऐसा ही है जिस से गुणकर्मरूपसंस्कार से ही जाति वा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है और मेरे लेख की चाल भिन्न प्रकार की है यही सन्देह का कारण हुआ परन्तु इतने से मूल सिद्धान्तपक्ष में कुछ दोष नहीं आता । सिद्धान्त यह है कि गुणकर्म का भेद ही प्रत्येक वस्तु के भिन्न २ होने में मूल कारण है । सब नकली घोड़ाहाथी आदि पदार्थों में शिल्पी लोग अपनी चतुराई से ज्यों की त्यों आकृति आदि बना भी देते हैं परन्तु बोलना चलना आदि कर्म और इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख बुद्धि आदि गुण उन में नहीं आ सकते इसलिये गुणकर्म का संस्कार न होने से ही वे वास्तव में सच्चे घोड़ा हाथी आदि नहीं माने जाते और न मानने चाहिये । इसी प्रकार जिस में मनुष्य की आकृतिमात्र हो और मनुष्यजाति के गुणकर्म न पाये जावें वह मनुष्य नहीं कहा वा माना जायगा । इसी के अनुसार जगत् भर में गुणकर्मों के विना कोई भी वस्तु सच्चा नहीं ठहरता । सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक यह

नियम सदा विद्यमान रहता है क्योंकि सृष्टिक्रम से भी इस का मेल है भगवद्गीता में स्पष्ट लिखा भी है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥

परमेश्वर ने चार वर्ण आदि सृष्टि को गुण कर्म के भेद से बनाया अर्थात् सब के गुण कर्म भिन्न २ नियत किये । वैसा ही सृष्टिक्रम बराबर चला जाता है । और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उत्तम कोटि के मनुष्यादि भी नीच गुणकर्मों का अधिक काल तक सेवन करते २ नीच हो जाते और निकृष्ट कोटि के मनुष्यादि उत्तम २ गुणकर्मों का सेवन करते २ अधिक काल में उत्तम हो जाते हैं वा यों कहो कि अधिक सुगन्ध में रहने वाला थोड़ा दुर्गन्ध भी सुगन्ध हो जाता और अधिक दुर्गन्ध में रहता २ थोड़ा सुगन्ध भी दुर्गन्ध बन जाता है इसी को सत्संग और दुःसंग भी कह सकते हैं पर यह सब गुण कर्मों से ही होता है इस लिये गुणकर्म ही प्रधान हैं । गुणकर्म का भेद न हो तो वर्णव्यवस्था नहीं बन सकती यही स्वामी जी महाराज का वेदानुकूल सिद्धान्त है और मेरा विचार वा लेख सर्वथा इस के अनुकूल है ॥

अब विशेष विचारणीय यह है कि—स्वामीजी को जाति वा जन्म से सम्बन्ध रखने वाले वर्णव्यवस्था के गुण कर्म दिखाने की आवश्यकता इस लिये नहीं थी कि मनुष्य प्रायः जन्म से ब्राह्मणादि बन बैठे थे और गुण कर्मों की प्रधानता से मानीगयी वेदादि शास्त्रानुकूल वर्णव्यवस्था का सर्वथा आदर ही नहीं रहा था इस लिये गुणकर्म से ही वर्ण भेद ठहराना आवश्यक था और सदा ही गुण कर्मों से वर्णभेद मानना चाहिये । परन्तु स्वामीजी ने कहीं यह भी नहीं लिखा कि बालक के जन्म से गुणकर्मों का सम्बन्ध कुछ नहीं किन्तु स्वामी जी के लेख का मुख्य सारांश यह है कि ब्राह्मण के कुल में हो वह ब्राह्मण ही माना जाय यह नियम नहीं हो सकता । ब्राह्मण कुल में होने पर भी परीक्षा होने पर यदि विद्या और गुणकर्म ब्राह्मण के जैसे निकलें तो ब्राह्मण माना जाय । यदि क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के जैसे गुणकर्म उस में हों तो उस को उन २ वर्णों में सम्मिलित करना चाहिये सो यह विचार बहुत सत्य है मेरे लेख से इस का कुछ विरोध नहीं मेरा विचार है कि वे गुणकर्म मूलरूप से गर्भाधान समय से ही होते हैं उन के होने पर भी नवीन संस्कारों से वह शुद्ध न किया जाय तो वे जातीय वा स्वाभाविक

गुण ऐसे दब जाते हैं कि जिस से वह ब्राह्मणादि पदवाच्य नहीं रहता अर्थात् गुणकर्मों के विना वर्णव्यवस्था की सिद्धि मैं भी नहीं मानता। और जाति वा जन्म के साथ गुणकर्मों का सम्बन्ध स्वामीजी को भी मान्य वा इष्ट था यह उक्त उन के लेख से सिद्ध होती है। स्वामी जी ने स्वपुस्तकस्थ वर्णव्यवस्था के लेखों में प्रायः "गुण कर्म स्वभाव" तीन शब्द लिखे हैं अर्थात् गुण कर्म और स्वभाव तीनों से वर्णभेद माना है। अब शोचिये कि स्वभाव किस का नाम है?। स्व नाम अपने भाव नाम होने उत्पत्ति वा जन्म से सम्बन्ध रखने वाला प्रधान गुण जिस को संस्कृत में प्रकृति भी कहते हैं इसी लिये स्वाभाविक और प्राकृत दोनों शब्द पर्यायवाची ठहर जाते हैं। वास्तव में जो पदार्थ जिस समय बनता है तभी देश, काल और उपादान कारणों के कई अंशों के संयोग से एक वा कई संयोगजन्य गुण उस वस्तु में ऐसे उत्पन्न होते हैं जो उस के भिन्न २ कारणों में से किसी एक में उन की विद्यमानता नहीं कह सकते किन्तु जैसे चूना हल्दी मिलाने से जो रंग रूप गुण उत्पन्न होता है वह चूना वा हल्दी एक किसी में नहीं माना जा सकता किन्तु उन के संयोग से हुआ मानेंगे और चूना हल्दी की भिन्न २ व्यक्ति एक ही देश काल में संयुक्त कीजायं वा भिन्न २ देश कालों में भिन्न २ व्यक्तियों के संयोग से रंग में भी सूक्ष्म २ अवान्तर भेद अवश्य होगा। और वह उस संयोगी रोली नामक वस्तु का स्वाभाविक वा प्राकृत वा जातीय गुण माना जाय गा। यह तो दृष्टान्त रहा इसी के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति में भी गर्भाधान से ही स्वाभाविक गुण जो नियत होंगे उन्हीं को जातीय गुण मानना चाहिये। यहां हम मनुष्य की उत्पत्ति के स्वाभाविक गुण दिखाने के लिये आयुर्वेद सुश्रुत के शारीरस्थान के कुछ प्रमाण लिखें गे।

सुश्रुत शारीरस्थान गर्भव्याकरण नाम चतुर्थाध्याय-

सप्त प्रकृतयो भवन्ति दोषैः पृथक् द्विशः समस्तैश्च ।

भा०-मूलरूप सात प्रकृति होती हैं-वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातपित्तकफ इन सात में एक २ के देश काल और वस्तु के भेद से असंख्य अवान्तरभेद हो जाते हैं अर्थात् प्रत्येक शरीरधारी में भिन्न २ ही प्रकृति होती है क्योंकि दो प्राणियों के भी देश, काल, वा वस्तुरूप कारण सर्वथा एक नहीं हो सकते। और कारणों में जितना २ साधर्म्य होता है उतना २ ही उन२ प्राणियों के स्वभाव वा प्रकृतियों में एकता भी प्रतीत होती है। एक गर्भाशय

से दो सन्तान जो एक साथ जन्मते हैं उन में यद्यपि देश काल और शुक्र शोणितरूप कारण का सूक्ष्मभेद भी अवश्य होता है तथापि देशकालादि का अति सामीप्य होने से उन की प्रकृति अधिकांश मिल जाती हैं। कहीं २ यहां तक सुना है कि दोनों को एक साथ हीं रोग होगये वा अन्य कई काम दोनों को एक साथ होते हैं। यह सब प्रकृति के वा स्वभाव के अधिक साधर्म्य को सिद्ध करते हैं। दो सन्तान एक साथ क्यों होते हैं इस के व्याख्यान का प्रकरण नहीं तथापि प्रसङ्गानुसार लिख देने में कुछ दोष नहीं दीखता॥

बीजेन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरस्सरौ॥

गर्भाधान के समय गर्भाशय में गया शुक्र भीतरी वायु से जब कभी दो भागों में पृथक् २ विभक्त हो जाता है तो गर्भाशय में दो जीव प्रविष्ट होकर दो बच्चे बनते हैं और संस्कृत में उन को यम कहते हैं॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्यामे लक्षणं शृणु॥

स्त्री, पुरुष के शोणित, शुक्र का संयोग होने पर जो दोष अर्थात् वातादि प्रबल होता उसी से प्रकृति वा स्वभाव बनता है उस का लक्षण आगे कहा है।

अब यह भी शोचना है कि प्रकृति वा स्वभाव का सम्बन्ध शारीरिक जड़भाग के साथ है वा चेतन के साथ। इस का समाधान यह है कि जड़ चेतन के भेद का निर्णय करना तो प्रकरणान्तर है परन्तु यह प्राणिशरीर जन्म से मरण पर्यन्त जड़ चेतन के संयोग से चलता है वा यों कहो कि जड़ चेतन के संयोग से जन्म और इन्हीं दोनों के वियोग से मरण हो जाता है तो प्राणियों की विद्यमानता वा सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में जड़ चेतन का संयोग ही प्रधान रहा। तब प्रकृति वा स्वभाव को भी जड़चेतन के संयोग का गुण मान लेने में कुछ दोष नहीं है। और वर्णव्यवस्थासम्बन्धी सत्यभाषणादि गुण भी केवल आत्मा वा शरीर के नहीं हैं क्योंकि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि गुण भी जड़ वा चेतन किसी एक के नहीं ठहर सकते किन्तु संयोगी गुण हैं। इस दशा में प्रकृति वा स्वभाव का वर्णव्यवस्था के साथ पूर्णसम्बन्ध मानना चाहिये। और यह विचार शास्त्रों के साथ ठीक मिलता है॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसञ्चयमित्रः ।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ॥

भा०-जिस के विचार व्यवस्थित न हों प्रायः चलायमान बुद्धि रहे, दृष्टि चंचल हो, रत्न सर्वोत्तम पदार्थों और धन का संचय जिस के पास प्रायः न रहे मित्र जिस के कम हों जो असंबद्ध वा व्यर्थ थोड़ा ही बोले इत्यादि सामान्य कर वातप्रकृति मनुष्य के लक्षण हैं ॥

न भयात्प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः ।
भवतीह सदा व्यथितास्य गतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥

भा०-भय से किसी को प्रणाम न करे वा डर के किसी से न दबे जो अपने को न नमे उस से आप भी ऐंठ रक्खे और अपने सामने नमने वालों को शान्ति वा अभयदान देने वाला जिस की चाल क्रोध से भरी सदा भयकारिणी हो इत्यादि लक्षणों वाला पित्तप्रकृति में गिने जाने योग्य होता है ॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः ।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥

भा०-जिस के नेत्रों के कोड़ों में लाली हो जिस के हाथ पांव आदि का फैलाव अच्छा हो, शरीर में लावण्य चिकनापन हो शान्तशील हो, क्लेश दुःख विपत्तियों के सहने का स्वभाव जिस में हो, गुरु लोगों का मान आदर सत्कार करे इत्यादि लक्षणों वाला बलास (कफ) प्रकृति मनुष्य है ॥

इन २ उक्त लक्षणों वाले मनुष्य किसी वर्ण किसी देश वा किसी कुल समुदाय में क्यों न उत्पन्न हों उन २ स्वभावों के अधिकांश होने से शास्त्रानुकूल वात आदि की प्रकृति वाले मानने चाहिये । ये सामान्य कर तीन प्रकार के स्वाभाविक वा प्राकृत गुण दिखाये गये हैं ॥

प्रकोपो वान्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥
विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥

भा०—वात पित्त वा कफ अथवा दो तीन के मेल में से जिस प्रकृति का मनुष्य हो उस दोष का कोप उस को नहीं होता जैसे वातप्रकृति मनुष्य को वात के कोप से होने वाले उपद्रव वा रोग नहीं हो सकते प्रकृति से विरुद्ध कार्य तब होते हैं जब कि मरण समय निकट आजाता है क्योंकि मरण समय में अन्य शारीरिक वस्तुओं की न्यूनता के साथ प्रकृति में भी अतिन्यूनता विपरीतभावों का कारण हो सकती है । और प्रकृति के अनुकूल वस्तु कभी किसी को रोग हेतु हैं तो प्रकृति की परीक्षा में भूल माननी होगी। वातप्रकृति मनुष्य को जो उपद्रव वा रोग होंगे प्रायः वे कफ वा पित्त के कोप से होने सम्भव हैं क्योंकि जैसे मित्रों वा सजातीय अनुकूलों के बढ़ने से विरोध नहीं होता किन्तु अपने अनुकूल के अधिक मेल से अधिक सुख वा आनन्द बढ़ता है और प्रतिकूल वा शत्रुओं के पास आने से खल बल मच जाती सुख वा शान्ति का नाश होजाता है वैसे ही वातप्रकृति वाले को वात की वृद्धि सदा अनुकूल सुखकारिणी होगी और कफ वा पित्त की वृद्धि सदा प्रतिकूल होने से रोग वा उपद्रवकारिणी होगी इस लिये मनुष्य को उचित है कि अच्छे परीक्षकों से सर्वथा प्रकृति की परीक्षा करके अपनी प्रकृति के अनुकूल पदार्थों का ही प्रायःसेवन करे । मनुष्य की प्रकृति कभी बदलती भी नहीं अर्थात् वातप्रकृति मनुष्य कभी बदलके पित्त-प्रकृति नहीं हो सकता किन्तु जन्म से मरण पर्यन्त वातप्रकृति ही बना रहेगा। और प्रकृति वा स्वभाव का कभी नाश भी नहीं होता किन्तु जिस शरीर के साथ स्वभाव उत्पन्न हुआ है उस के साथ ही स्वभाव भी नष्ट होगा । स्वभाव वा स्वाभाविक गुणों को सभी शास्त्रकार लोगों ने उस२ वस्तु के साथ नित्य माना है । और उस२ प्रकृति की प्रबलता ही मनुष्यके जीवनका मूल है । यदि विरुद्ध का कोप न हो तो वह देहधारी अपनी पूरी अवस्था तक चलकर मरेगा । सब शरीरधारियों की आयु एकसी नहीं होती इसमें प्रकृति की बनावट भी कारण है अर्थात् प्रत्येक वस्तु के बनते समय उसके उपादान कारणके अंशों का जैसा प्रबल पुष्ट वा निर्बल संयोग होगा वैसी ही उस की आयु होगी क्योंकि संयोग का नाम ही उत्पत्ति है वा यों कहो कि जैसी कड़ी गांठ लग जायगी वैसी ही देर में खुलेगी और संयोग, साधनों के अनुसार होता है और साधन पूर्वकर्मा-नुसार प्राप्त होते हैं इसलिये प्रारब्ध कर्मानुसार आयु का नियत होना शास्त्रा-नुकूल ठीक ही मान्य है । जैसे विष में उत्पन्न हुआ कीड़ा विष से नहीं मरता

क्योंकि विषरूप ही उस का शरीर है । इसी प्रकार प्रकृति मनुष्य को बाधा नहीं पहुंचाती किन्तु प्रकृति से विरुद्ध ही वस्तु सब को हानिकारक होता है॥

स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान् ।
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥

भा०—स्थिर मोटे शरीर वाला मोटी बुद्धि का मनुष्य प्रायः असमर्थ होने से सब प्रकार के अपमान वा दुःखों को सहता हुआ भी बुद्धिमानों के काम में बैल के समान पराधीनता से जुता रहै ये पार्थिव प्रकृति के लक्षण हैं यही लक्षण भैंसादि पशुओं में भी घटजायगा । और पांचवीं कोटि की आकाश प्रकृति भी कोई मानते हैं सो सब से अधिक पवित्र बड़ी आयु वाला आकाश प्रकृति मनुष्य वातप्रकृति से भी उत्तम कोटि में गिनाजायगा परन्तु त्रयीविद्या के सिद्धान्तानुसार तीन प्रकृति की तीन कोटि के लक्षणों वाले स्वभावों का कुछ संक्षेप से वर्णन है—

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥ १ ॥

भीतर बाहर सब ओर से वास्तविक शुद्धि करना और चाहना, शास्त्रोक्त परोक्ष विषयों में विश्वास, वेदों का अभ्यास वा वेद विषयों के विचार का व्यसन, गुरु लोगों के सत्कार में रुचि अतिथि हो कर भ्रमण करना जिस को प्रिय हो किन्तु एक स्थान में अधिक न रहे अथवा अतिथियों की सेवा जिस को प्रिय हो और यज्ञ करने के स्वभाव वाला मनुष्य ब्रह्मकाय अर्थात् सात्त्विकों में भी उत्तम कोटि का है वा ब्रह्मा कहाने योग्य हो सकता है । वास्तव में उस २ प्रकार का गुण ही देवतापन है और उन गुणोंवाला देवता है । इस लिये ये ब्रह्मदेव वा ब्रह्मा देवता के लक्षण हैं । इस से हमारा प्रयोजन सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा जी का खण्डन करने में नहीं है किन्तु ऐसे ही और भी उत्तम गुण उन में थे इसी से वे भी ब्रह्मदेव ब्रह्मा कहाये ॥

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥

दीर्घदर्शी गम्भीर विचारों वाला शूरता में प्रवीण वा उत्साही आज्ञा (हुकुम) चलाने वाला निरन्तर शास्त्र के अनुकूल बुद्धि वाला तथा अपने साथियों वा प्रेमियों का सम्यक्भरण पोषण करने वाला हो ये महेन्द्र वा विष्णु देवता के गुण हैं ये जिस में हों वह द्वितीय कक्षा का क्षत्रियता प्रधान सात्विक गुणधारी मनुष्य है और इन्हीं गुणों की अत्यन्त यावच्छक्य वृद्धि जिस में हो वह मनुष्य विष्णुपदवाच्य हो सकता है। इन्ही गुणों के विशेषतम होने से राजा रामचन्द्र जी वा श्रीकृष्णचन्द्रादि विष्णु के अवतार मानेगये हों यह सम्भव है। और विष्णुनाम अनादि परमेश्वर का भी है क्योंकि वह सर्वज्ञ सर्वोपरि शूर सब को वेदादि द्वारा आज्ञा देने वाला और सब का पालन पोषणकरने वाला है उस का अवतार नहीं होता। इस कारण इन लक्षणों में परमेश्वर का ग्रहण नहीं हो सकता ॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥

शीतप्रदेश हिमालय आदि में रहना शीत सहना जिस को स्वीकार हो सहनशीलता पीलावर्ण जिस का हो सिंह वा वानर कैसे बाल हों प्रिय बोलना जिस में स्वाभाविक हो ये वरुणदेवतासंम्बन्धी शरीर के लक्षण हैं। शिव वा महादेव भी इसी मनुष्य को कह सकते हैं यह सात्विकों की तीसरी कक्षा है जिस का वैश्यवर्ण की उत्तम कक्षा के साथ सम्बन्ध है। ये सब गुण प्राकृत वा स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं। इत्यादि प्रकृति सम्बन्धी विचार आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों में बहुत है इस को लिखते जायं तो कई फारम लेख हो सकता है सो इतना बढ़ाना अभीष्ट नहीं। इस पूर्वोक्त लेख से हमारा मुख्य आशय यही है कि स्वभाव वा प्रकृति मनुष्य के शरीर के साथ ही बनती है और स्वभाव को स्वामी जी महाराज ने भी वर्णभेद में कारण माना तो जन्म के साथ गुणकर्मों का सम्बन्ध स्वामी जी के मन्तव्य से भी आगया तब इस में विशेष शङ्का को अवकाश नहीं रहता ॥

यदि कोई कहे कि कोई मनुष्य जन्म से अच्छे संस्कारों वाला नहीं वा यों सही कि जिस के संस्कार गर्भाधान समय से निकृष्ट हों तो क्या वह पीछे उत्तम गुणकर्मों वा सत्सङ्गादि उत्तम शास्त्रों के अभ्यास से उत्तम वर्ण ब्राह्मणादि कहाने

योग्य हो सकता है वा नहीं ? । यदि कहो हो सकता है तो जन्म से वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध मानना व्यर्थ हुआ और यदि कहो कि नहीं हो सकता तो संस्कार व्यर्थ हुआ । कोई उत्तम बनने का उद्योग ही नहीं कर सकता । इस दशा में मनुष्य की उन्नति के लिये जो २ उपाय शास्त्रकारों ने बनाये हैं वे सब व्यर्थ हो जांयगे इत्यादि अनेक दोष इस पक्ष में हैं ॥

इस का समाधान सीधा है कुछ कठिन नहीं है। सब मनुष्य चार कोटि में बांटे जांयगे अर्थात् मनुष्यसमुदाय के मुख्य कर प्रथम चार भाग करने चाहिये, यथा—

१—जिन के माता पिताओं ने शुद्धाचरणी धर्मपरायण परोपकारप्रिय विद्याभ्यासी शान्तशील ईश्वरभक्तिप्रेमी होना आदि गुण कर्म धारण करके गर्भाधान किया हो तथा गर्भावस्था में गर्भ को शुद्ध संस्कार माता से पहुंचते रहे हों और ऐसे सन्तानों के उत्पन्न होने पर भी माता पितादि उन को सदा ही शुद्धाचरणी शुद्ध संस्कारी बनाने का उपाय करते रहें तथा वे समर्थ होने पर स्वयं भी अपने सुधार के लिये सदा उत्तम २ आचरण ग्रहण करते रहें तो ये सर्वोत्तम कोटि के मनुष्य होंगे । ऐसे मनुष्य यदि चतुर्थांश भी जगत् में वा जिस देश में हों उस की अच्छी उन्नति कही वा मानी जायगी । जैसे एक घर में रहने वाले अनेकों को एक ही दीपक पूरा काम देता है सब को अन्धकार के दुःख से बचा के सुख पहुंचाता है वैसे यदि विद्यादि शुभगुण संयुक्त मनुष्य चतुर्थांश भी सर्वत्र फैले हों तो वे प्रदीपवत् विद्याधर्मसम्बन्धी ज्ञान प्रकाश को सब में फैला के सब को सुखी रख सकते हैं । ये ही उत्तम कोटि के मनुष्य वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण कहे जांयगे ।

२-३—द्वितीय कक्षा के मनुष्य वे होंगे जिन को माता पितादि द्वारा तो जन्म से वा गर्भाधान से ही अच्छे संस्कार पहुंचें पर पीछे उत्तम प्रकार की शिक्षा न रहे उत्तम विद्याभ्यास उत्तम सत्संग न रहे परन्तु अधिक निकृष्टाचरणी भी न होने पावें तो वे द्वितीयकक्षा के योग्य होंगे । और जिस को हम तीसरी कक्षा में गिनना चाहते हैं कि जिस के गर्भाधान से माता पितादि द्वारा उत्तम संस्कार नहीं आये किन्तु अतिनिकृष्ट संस्कारी भी गर्भ से उत्पन्न नहीं हुआ उस के संस्कार जन्म होने पश्चात् प्रतिदिन अच्छे २ होते जावें वा जब से वह स्वयं समझने लगे तब से ही विद्याधर्मादि की ओर सदा अधिक २ तत्पर होता जावे तो द्वितीयकक्षा में गणना के योग्य होगा और जिस को द्वितीयकक्षा

में गिना चाहते हैं वह तृतीय कोटि में चला जायगा । परन्तु इन दोनों कक्षाओं के तारतम्य शोचनें में इतना विचार अवश्य रखना होगा कि जब तक मनुष्य की बाल्यावस्था रहती वा जब तक स्वाधीन विचार से शोच समझ के कार्य नहीं करनें लगता और जब तक माता पितादि के आधीन रहता है गर्भाधान से लेकर उतनें काल तक उस के संस्कार जन्म से सम्बन्ध रखनें वाले मानने चाहिये और वे ही संस्कार अधिक प्रबल होते हैं वह सन्तान जन्म से लेकर अपने माता पितादि के गुणकर्म प्रायः सभी सीख लेता है । प्रत्यक्ष देखने में आता है कि किसानों के लड़के बाल्यावस्था में ही खेती का काम अच्छे प्रकार सीख के करने लगते हैं । ऐसे ही दूकान्दार वैश्यों के लड़के हिसाब सम्बन्धी व्यापार कार्यों में सहज ही निपुण हो जाते हैं यह नियम प्रायः सर्वत्र ही मिलेगा इस के अनुसार बाल्यावस्था तक जिन के अच्छे संस्कार रहेंगे वे पीछे कुछ बिगड़ें भी तो एक साथ इतना बिगड़ जाना सम्भव नहीं जितना कि बाल्यावस्था तक जो कुसंस्कारी रहा वह सुधरने लगे तब भी जितना बिगड़ा रहेगा । क्योंकि जैसे घर आदि प्रत्येक वस्तु के बनने वा सुधरने में वैसा ही अधिक २ समय अपेक्षित होता है कि जैसा वह बिगड़ा हो वा जैसा उस को सुधारना है । इन विचारों को काम में लाते हैं तो अधिकांश में यही ठहरता है कि जिस के संस्कार बाल्यावस्था तक अच्छे रहें वही द्वितीय कक्षा में गिना जायगा । कदाचित् कोई ऐसा भी हो जो बाल्यावस्था तक कुसंस्कारी रह कर आगे ऐसा अधिक वा शीघ्र सुधरे जिस को हम द्वितीय कोटि में प्रविष्ट कर सकें तो वह भिन्न बात अपवादरूप है। उस से अधिकांश विचार में बाधा नहीं पड़ती जगत् में सब विचार वा काम अधिकांश पर निर्भर किये जाते हैं । इस के अनुसार जब द्वितीय कोटि में वे मनुष्य रहें जो गर्भाधान से बाल्यावस्था तक अच्छे संस्कारी होते आये और तीसरी कक्षा में वे रहें गे जो पीछे सुधरनें लगे।

इसी अंश पर मानवधर्मशास्त्र के तृतीयाध्याय में लिखा है—

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥१॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥२॥

भा० जिस का पिता वेद का विद्वान् न हो और पुत्र वेदपारदर्शी हो और द्वितीय जिस का पिता वेदवेत्ता हो और पुत्र वेद का विद्वान् न हो तो इन दोनों में वह श्रेष्ठ अर्थात् द्वितीय कक्षा के योग्य है जिस का पिता वेदवेत्ता हो और जिस का पिता वेदज्ञ नहीं किन्तु स्वयं ही विद्वान् हुआ वह तृतीय कक्षा में रहेगा। परन्तु विद्या सम्बन्धी अवसर पर इस तीसरे का ही द्वितीय से अधिक सत्कार होगा। और जिस के पिता पितामह प्रपितामह सभी वेदज्ञ हों तथा स्वयं भी वेदपारग हो तो वह सर्वोत्तम कोटि में रहेगा। पर यह सामान्यनियम है विशेष दशा में पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से कोई मनुष्य तृतीय कक्षा के योग्य होने पर भी विद्याबुद्धि तथा शुभाचरणों की अधिकतर तीव्रता होने से उत्तमों से भी उत्तम कोटि में गिना जाय यह सम्भव है जैसे श्रीकृष्णचन्द्रादि हुए ॥

४—चौथी कक्षा में वे रहेंगे जिन के गर्भाधान वा जन्म से भी संस्कार अच्छे न हों और पीछे भी जिन के सुधरने का कोई उपाय न किया जाय जैसे चर्मकार चाण्डालादि वा नाऊ धीवर कुलाल, धोबी आदि ॥

अब इस लेख से पूर्व किये प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह सिद्ध होगया कि पहिले से जिस के संस्कार निकृष्ट हैं वह उत्तम गुणकर्मादि के सेवन से उत्तम बन सकता है। यह ठीक है परन्तु जिस के संस्कार गर्भाधान से भी अच्छे हों और पीछे भी अच्छे रहें उस की बराबर वा उस से उत्तम नहीं हो सकता। जब अनेकों की अपेक्षा संस्कारोंसे उत्तम होता जायगा तो अच्छे गुणकर्मों वा उत्तम शास्त्रों के अभ्यास सत्संगादि से मनुष्य को उत्तम बनने का उद्योग करना और उस विषय में शास्त्रों की आज्ञा दोनों सार्थक हुई और जन्म से वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध व्यर्थ इस लिये नहीं होता कि जड़ से जिस का सुधार हो और पीछे भी होता रहे वह सर्वोत्तम है। वास्तव में इस जन्म से क्या पूर्वजन्म से भी किसी का सुधार हुआ मानते हैं तो वह भी शुद्ध संस्कारों से ही हुआ मानना पड़ता है और मानना भी चाहिये। इस लिये संस्कार को प्रधान मानना ही ठीक है ॥

अब इस प्रकृति वा स्वभाव के साथ गुण कर्मरूप संस्कारों की प्रबलता दिखाने के प्रसंग में हमें एक बात और लिखनी आवश्यक है जिस से यह सन्देह भी निवृत्त हो जायगा कि संप्रति प्रचलित डाक्टरी विद्या के तुल्य हमारे आयुर्वेद शास्त्र का भी यही सिद्धान्त ठहर जावे कि गर्भाधान के अनन्तर शुक्र

शोणित के संयोग सेही प्रकृति बनती है । और वहीं से सब गुण अवगुण उत्पन्न होते हैं तो पूर्वजन्म से आने वाले जीवात्मा की आवश्यकता नहीं रही और पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुसार जन्म और सुखदुःख फलभोग मानना सब व्यर्थ हुआ जाता है । इस दशा में डाक्टरों के तुल्य रुधिर को ही जीव मानलें तो आवागमन भी समाप्त हो जायगा । नास्तिकता का यह भीएक अंश है । पुनरुत्पत्ति मानने वाले शास्त्रों को भी तिलाञ्जुलि देना पड़ेगा । और डाक्टरों के सिद्धान्तानुसार आयुर्वेदीय सुश्रुत ग्रन्थ के शोणितवर्णनीय नामक सूत्रस्थान के चतुर्दश अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्य्यते ।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इतिस्थितिः ॥

शरीर का मूल रुधिर है रुधिर से ही शरीर का धारण होता है इस देह में रुधिर न रहे तो क्षणभर भी जीवन नहीं रह सकता इस लिये रुधिर की रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये क्योंकि रक्त ही जीव है । इस से सिद्ध हुआ कि जब रुधिर ही जीव है तो शरीर में जन्मान्तर से आनेवाले अन्य किसी जीवात्मा का आवागमन मानना व्यर्थहो गया । ऐसे बड़े सन्देह को दूर करना भी आवश्यक है ॥

उत्तर—आयुर्वेद सुश्रुत ग्रन्थकर्त्ता का यदि यह अभिप्राय होता कि वास्तव में रुधिर ही जीव है तो वे गर्भाधान के साथ में जीवात्मा का पृथक् प्रवेश कदापि न लिखते परन्तु सुश्रुतकार ने शारीरस्थान के गर्भावक्रान्ति नामक तृतीयाध्याय में स्पष्ट लिखा हैः—

तत्र स्त्रीपुरुषयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन । ततोऽग्निसोमसंयोगात्संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते । क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता योऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवासुरैर्वा परैश्च भावैर्वा युनाऽभिप्रेर्य्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥

भा०—गर्भाधान समय में स्त्रीपुरुष का संयोग होने पर पुरुष के शरीर से वायु पित्तरूप तेज को उभाड़ता पीछे वायुसहित तेजके उभड़ने से शरीरसे छूटा शुक्र स्त्री के गर्भ में जाता और आर्त्तव नामक शोणित के साथ मिलता है तब अग्नितत्त्वप्रधान शुक्र और सोमतत्त्वप्रधान शोणित दोनों का सङ्घट्टरूप गर्भ गर्भाशय में पहुंचता है। इसी के साथ जानने स्पर्श करने सूंघने देखने सुनने और स्वाद लेने वाला अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों से वा मन से जानना आदि काम लेने वाला—आगे २ मन्तानोत्पत्ति करने की शक्ति रखने वाला पगों से चलने बुद्धि से साक्षी शरीर का धारणकर्त्ता वाणी से बोलने वाला इत्यादि पर्यायवाचक नामों से जो कहा जाता वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा वास्तव में जिस का स्वरूप न्यूनाधिक नहीं होता इसीसे अविनाशी अचिन्त्य, सत्त्वरजस्तम के साथ सम्बन्ध रखने वाले देवासुरसम्बन्धी गुणोंसहित वा प्रारब्ध कर्मों के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य गुणोंके साथ वायुसे प्रेरित हुआ गर्भाधानके पीछे गर्भाशय में प्रवेश करके स्थित होता है । अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश होने से ही गर्भ का बढ़ना और उसके अवयवादि बनने का आरम्भ होता है। यदि शुक्र शोणित ही जीव होता तो इतने व्याख्यान से जीवात्मा का पृथक् प्रवेश सुश्रुतकार क्यों दिखाते? इससे सिद्ध है कि वे रुधिर को जीव नहीं मानते थे। तथा इसी तृतीय अध्याय में आगे और भी लिखा है—

इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि ॥

भा०-इन्द्रियों की शक्ति लौकिक वा पारमार्थिक ज्ञान और सुखदुःखादि भोग ये सब गर्भ में आत्मा के साथ पूर्व जन्मकृत कर्मों के अनुसार आते हैं। इत्यादि से जब सिद्ध होगया कि सुश्रुतकार जड़ पदार्थों से भिन्न चेतन जीवात्मा का प्रवेश गर्भ में मानते हैं तो एक मनुष्य परस्परविरुद्ध दो बातें एक पुस्तकमें मान नहीं सकता इस दशा में मानना चाहिये कि "रक्तं जीव इति स्थितिः„ वाक्य का कुछ और तात्पर्य है । और वह यह है कि यहां जीवशब्द आत्मा का वाचक नहीं किन्तु शरीर इन्द्रियां प्राण बुद्धि आत्मादि के सयोगसे ठहरनेवाला जीवन नाम प्राणधारण का वाचक जीव शब्द लेना चाहिये कि रक्तही जीवन का मूल है जैसे अन्य किसी एक वा दो इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी जीवन बना रहता है पर प्राणके न रहने पर जीवन वा जीव नहीं रहता। इसीप्रकार

अन्य किसी धातु के न रहने पर शरीरका जीवन कदाचित् बना रहे पर रुधिर के न रहने पर जीवन नहीं रह सकता। और वास्तवमें मुख्यकर जीवपद आत्मा का पर्यायवाचक नहीं किन्तु चेतन जीवित शरीरका नाम वास्तवमें जीव है पर आत्मा के विना सर्वथा ही शरीर जीवित वा चेतन नहीं रह सकता तो जानो आत्माही जीवन हुआ इस गौणार्थ से आत्मा के स्थान में भी कहीं२ जीव शब्द का प्रयोग आता है। इसके अनुसार गौणभावसे यदि यहां कोई जीवपद करके आत्मा के ही लेने का आग्रह करे तो यह आशय होगा कि "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" इसका प्रत्यक्षार्थ तो यह है कि अन्नही प्राणीके प्राण हैं परन्तु सोचने से मालूम होता है कि प्राण अन्य वस्तु शरीर में एक प्रकार का वायु है और अन्न एक भिन्न पदार्थ है। न्यायभाष्यकर्त्ता वात्स्यायन ऋषि ने इस श्रुति का आशय यह लिखा है कि "अन्नसाधनाः प्राणाः" मुख्य साधन का साध्यके साथ अभेदान्वय कर देना व्यवहार है इसका तात्पर्य यह होता है कि उस साधनके विना उस साध्य की स्थिति नहीं रहती। यहां भी प्राण की स्थिति में अन्न मुख्य साधन है अन्नके विना प्राण नहीं ठहर सकते इस बातको जतानेके लिये अन्नको प्राणही कह दिया गया इसी प्रकार रुधिर के विना जीव नाम आत्मा शरीर में नहीं ठहर सकता तो मुख्य साधन बुद्धि से रक्त को जीव कह देना एक प्रकार का व्यवहार है जैसे वहां अन्न से भिन्न प्राण एक वस्तु है वैसे यहां भी रक्त से भिन्न जीवनाम चेतन आत्मा है। यहतो देहात्मवाद के सन्देह को हटाने का समाधान हुआ पर वास्तव में इस विचार के उठानेसे हमारा प्रयोजन यह था कि आत्मा के साथ वासनारूप से जो पूर्वजन्मके कर्मों के संस्कार विद्यमान रहते हैं उन्हीं के अनुसार मनुष्य का जन्म होकर सुखदुःखादि का भोग मिलता है और बुद्धि भी पूर्वजन्मके सञ्चित कर्मों के अनुसार ही होतीहै तथा वर्णव्यवस्थाका बुद्धिके साथ बड़ा सम्बन्ध है इस लिये वर्णभेद होनेमें पूर्व कर्मों के संस्कार मूल कारण हैं। उस की रीति यह है कि जब मनुष्य मरने लगता है तब उसके वर्त्तमान जन्मके और पिछले जन्मोंके शेष बचे सब सञ्चित कर्म सङ्घट्टरूप से इकट्ठे होते हैं उस सङ्घट्ट पाप पुण्य वा दोनोंकी समदशा इन में जो प्रधान हुआ वा जैसी वासना प्रबल हुई उसी के अनुसार संस्कार वाले ब्राह्मणादि वर्णस्थ माता पिता के यहां उस का जन्म होता और उन्हीं वासनाओं के अनुसार आगेर उस की बुद्धि और भोग होते हैं। अर्थात् पूर्व कर्मों

के अनुसार ही सुखदुःख भोग का सामान वैसेही ब्राह्मणादि कुलके माता पिता मिलते और सामान तथा माता पिता के अनुसार ही गर्भाशय से मनुष्य के संस्कार वा स्वभाव प्रकृति उत्पन्न होती है इस परम्परा को शोचने से स्पष्टही कहने वा मानने पड़ता है कि स्वभाव वा प्रकृति का पूर्वजन्म के कर्मों से बड़ा सम्बन्ध है । इसी के अनुसार हम कह सकते हैं कि जो मनुष्य जिस प्रकार के कर्मों वा आचार विचार चाल चलनों को अधिक प्रसन्न करता जन्म से मरण तक उसी प्रकार की चिन्ता जिसको अधिक लगी रहती वह मरणानन्तर वैसे ही समुदायमें जन्म लेकर वैसेही अच्छे बुरे साधन प्राप्त करके फल भोगता है । जैसे सम्प्रति भारतवर्षके अनेक मनुष्य जो अंगरेजोंके चाल चलन व्यवहारों को अधिक अच्छा मानते और इसी लिये यथासम्भव भोजन छादनादि व्यवहारों की नकल भी करते हैं उन के स्वभाव वा प्रकृति के बदलने का यहीं से आरम्भ होगया तो मरणानन्तर वे अंगरेज़ मातापिताओं में जन्म लेंगे और जन्म से ही उन में अंगरेज़प्रकृति बनेगी जिस का पूर्व जन्म से मुख्य सम्बन्ध है ॥

यह सब लेख स्वभाव वा प्रकृति के विचार पर लिखा गया जिसका आशय था कि ब्राह्मणादि वर्णभेदके साथ स्वभाव वा प्रकृतिका अधिक सम्बन्ध है और स्वभाव जन्म से ही बनता तथा जन्म सञ्चितवासनानुकूल होता वासना संस्कारों के अनुसार होतीं और संस्कार मानस वाचिक कायिक गुणकर्मों के सेवनानुसार होते हैं इस लिये गुणकर्मों से वर्णव्यवस्था मानना तो ठीक ही है पर वे गुणकर्म तत्काल ही नहीं बनते बिगड़ते किन्तु उन का मूलकारण पूर्वजन्म से बड़ा सम्बन्ध रखता है । और जैसे २ गुणकर्म बदलते जाते हैं वैसे २ थोड़ी २ वर्णव्यवस्था भी बदलती जाती है इस लिये क्रियमाण प्रबल हो जाता है । अब इस अंशपर लेख समाप्त करके आगे कुछ संस्कार की आवश्यकता पर लिखने का विचार है ॥

संस्कार शब्द संस्कृतभाषा का है इस देववाणी का संस्कृत नाम भी इसी लिये रक्खागया कि सब भाषाओं की अपेक्षा इस का अधिक संशोधन हुआ वा यही भाषा वेदद्वारा सृष्टि के आरम्भ से मनुष्यों को प्राप्त हुई क्योंकि परमेश्वर से अधिक शुद्ध कोई वस्तु जगत् में नहीं है तब उस से आई भाषा भी सर्वोपरि पवित्र होना न्यायानुकूल ही है । संस्कार शब्द का यद्यपि अनेक अर्थों में व्यवहार किया जाता है तथापि इस का ऐसा कुछ लाक्षणिक अर्थ नियत है जिस को कहीं प्रधानभाव और कहीं गौणभाव से लेकर ही व्यवहार होता है । संस्कार

शब्द वास्तव में गुणवाचक है क्योंकि वैशेषिकशास्त्रोक्त चौबीश गुणों में संस्कार भी एक गुण माना गया है। वह एक ऐसा गुण है जिसके आजाने से उस वस्तु की पहिली दशा (हालत) बदलजाती है। अर्थात् जिस पदार्थ में संस्काररूप गुण आ जाता है उस की निकृष्ट दशा बदल के अच्छी दशा हो जाती है। यद्यपि संस्कारपद का अच्छे अर्थ में ही प्रायः व्यवहार होता है तथापि वास्तव में सामान्यकर अच्छे बुरे दोनों का नाम संस्कार है इसीकारण नीच संस्कार दिखाने में "कु" अव्यय लगा कर कुसंस्कार बोला जाता है सर्वथा पहिले गुण का तिरोभाव वा परिवर्त्तन होकर नवीन गुणका आरोप हो जाना संस्कार है। परन्तु प्रचार पाये हुए व्यवहार के अनुसार हम संस्कार शब्द को अपने व्याख्यानमें अच्छे शुद्ध होजाने के अर्थ मेंही प्रयोग करेंगे। "संस्कृतमन्नं संस्कृतः सूपः संस्कृता यवागूः।" भोजन बन गया वा पकके तयार होगया, दालनवण मसाले छौंक आदि द्वारा अच्छी शुद्ध बनगयी शीरा वा हलुआ बनगया ऐसे प्रसङ्गों में भी संस्कार शब्द का प्रयोग आता है। परन्तु आज कल दो अर्थों में मुख्यकर संस्कार शब्दका व्यवहार होता है। एकतो गर्भाधानादि सोलह संस्कार श्रौत वा स्मार्त्त रीति से प्राचीनपद्धतियों के अनुसार माने जाते हैं और द्वितीय सामान्यकर आत्मिक और मानस मलिनता वा ग्लानि हटकर अच्छे शुद्ध गुणों का मन और आत्मा में संयोग हो जाना संस्कार कहाता है परन्तु शोचने से दोनों प्रकार के संस्कारों का एक ही आशय ठहरता है क्योंकि गर्भाधानादि का भी यही प्रयोजन है कि मनुष्य के आत्मा मन और शरीर की मलिनता दूर हो जावें। यद्यपि मुख्यकर आत्मिक संशोधन का नाम संस्कार है तथापि शरीर आत्मा का स्वस्वामी वा भोग्यभोक्ता वा व्याप्यव्यापक वा आधाराधेय वा साधनसाध्यादि अतिसम्मिलित सम्बन्ध होने से शरीर संशोधन के विना आत्मा की शुद्धि हो नहीं सकती जैसे मलिन स्थान मलिन घर में रहनेवाला शुद्ध नहीं रह सकता वा जैसे मलिन घड़े में रक्खा शुद्धजल भी शुद्ध नहीं रह सकता वैसे मलिन अशुद्ध शरीर में आत्मा वा मन भी शुद्ध नहीं रह सकता किन्तु संगदोष से अशुद्ध अवश्य हो जायगा। इस प्रकार शारीरिक संशोधन आत्मसंस्कार का मूल कारण होने से वा साथी होने से शारीरिक संशोधन को भी संस्कार कहा वा माना गया है। जिस के विना जो काम नहीं हो सकता उस मुख्यवाचीपद से साधन का भी व्यवहार होता है जैसे भोजन बनाने की सामग्री जोड़े विना

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदवीक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन,
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक,
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक,

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क १। २

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर
पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

१ जुलाई सन् १८९५ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १।)

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

८३९ कालूराम*जी मुलतान १)
१०२३ विहारीलाल जी रुस्तमपुर † १)
७५० डा० लक्ष्मणप्रसाद फर्रुखाबाद १॥)
५७३ पं० दिवाकरदत्त शर्मा हिसार १)
७५ ला० जीवनदास जी लाहौर १)
१०२८ बा० वेणीमाधव वन्द्यो० इन्दौर १)
१०२९ बा० अयोध्याप्रसाद जी आगरा १)
१०३१ ठा० मातावदलसिंह जी धोकड़ो १)
५८ रतिराम जी पांड़े पुराना कानपुर १)
३१८ बा० सीताराम जी क्लर्क लखनऊ १)
३०१ सुन्दरलाल गणेशीलाल मुम्बई १)
९२० पं० राधिकाप्रसाद जी बुधौलिया १)
७०३ श्री रामबाबा चित्रकूट १)
८३६ श्री दीवानसिंह जी डूंगरपुर १)
५९४ बा० आनन्दस्वरूप जी कानपुर १)
१४७ चिरञ्जीवलाल ब्रजलालजी मुम्बई २)
१०४० गंगादीन जमादार जबलपुर १)
१०१४ राधाकृष्ण ठेकेदार आपोजेई १)
१०४२ रामचन्द्र जी मुख्तार रायगढ़ १)
१७७ शिवशरणलाल जी पाटन १)
१०३९ श्रीराधाराम वकील अमृतसर १)
१०५० प० धर्मचन्द्र जी अमृतसर १॥)
९३२ श्री मुन्नीलाल त्रि० जलालाबाद १)
९०४ लाला मुन्शीराम जी झिंद १)
७३५ श्री गुटईलाल सोनी पिनाहट १)
१०२७ श्रीतुलसीराम वाजपेयी विसवां १)
१०४६ श्रीपुलन्दरसिंह जी लश्कर १)
१०५१ गोकुलप्रसादस्वर्णकारबुलंदशहर १)
७२२ बा० निहालसिंह जी करनाल १)

---

* २९६ काशीराम (भाग ६ अङ्क १२ में भूल से छपा)

† भाग ६ अङ्क १२ में १) भूल से छपा था १) चाहिये

११० श्री ला० मुंशीराम जी जालंधर १)
१६ श्रीरामदयालु जी ओ० कलमेश्वर २)
१०९ श्री जगन्नाथप्रसाद त्रि० दमोह १)
१०५३ श्रीरामप्रकाशलाल मुजफ्फरपुर १)
१०४४ श्रीपुष्करसिंह जी गूजरपुर १)
1030 श्री छज्जूसिंह सुर्दरिस दाहा १)
५२० श्रीटीकामल वंशीधर हलद्वानी २॥)
८६१ श्री लछिमन दास जाफराबाद १)
१०५५ श्रीबनवारीलाल जी इटावा १)
४९४ बा० रामजीमल भा० मुजफ्फरपुर १)
१०५९ चन्दनसिंह वर्मा लोहाई १)
३९४ पं० हरीराम मास्टर शिवरी० १)
१०६० गोपालदास जी योधपुर १)
५४८ श्रीरामप्रसाद जी रईस जगाधरी १)
९३२ मुन्नीलाल जी जलालाबाद ।)
३९३ रघुनाथसहाय जी हिसार १)
१०६६ श्री गंगाराम जी विलासपुर १)
६८४ बा० जयनारायण जी रांची १)
५७२ पं० घनश्याम गोस्वामी मुलतान १)
१०६२ बा० पंचमसिंह वर्मा बड़ोदा १)
१०६३ श्री रा० रा० भाटिया मित्रमण्डल
किशनदासहरी मुम्बई १)
९५० श्री देवीसिंह जी होशंगाबाद १)
८३८ बा० जगमोहनलाल जी बस्ती १)
४२७ ठाकुर रामप्रसाद जी नरसिंहपुर १)
३८९ सूर्य्यप्रसाद जी रईस फर्रुखाबाद १)
१०४७ चेतसिंह वर्मा आगरा १)
१०१३ भोलासाहु मालगुजार भुलसला १)
१०६७ गंगाराम विद्यार्थी तालग्राम ।॥)
१०६९ सर्वजीतलाल जी भीखड १)
१०१८ ठाकुरप्रसाद मर्स्मन पटना १)
१०६८ हीरालाल नन्दकिशोर
पिंडरा रोड १)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १ । २

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ११ । १२ से आगे संस्कार विषयक लेख

भोजन नहीं पकाया जा सकता तो भोजन बनाने का सामान ठीक करते हुए को कहते हैं कि भोजन बनाता है । इसी प्रकार विवाहार्थ होने वाले मंगलाचरण वा होमादि कार्य को भी विवाह गौणभाव से कहते हैं वास्तव में स्त्रीपुरुष के संयोगविशेष का नाम विवाह है । इसी प्रकार यहां भी आत्मसंस्कार के लिये साधन वा पूर्वरूप से अपेक्षित शारीरिक शुद्धि को भी संस्कार मान कर व्यवहार किया गया है ॥

अनेक शास्त्रों का सारांश लेकर किसी नीतिज्ञ विद्वान् पुरुष ने यह जनश्रुति [कहावत्] प्रचलित की है कि—

संस्कारात्प्रबला जातिः ॥

संस्कार से जाति प्रबल है इस जनश्रुति के विपक्ष में लिखने का हमारा यद्यपि उद्देश नहीं है क्योंकि जैसे काले कम्बल के स्वाभाविक काले रंग को कोई धोनेरूप संस्कार से वा अन्य रंग चढ़ा के नहीं मेट सकता, जैसे कुत्ते की पूंछ के स्वाभाविक टेढ़ापन को मिटा के कोई सीधी नहीं कर सकता इसी प्रकार स्वाभाविक वा प्राकृत सभी गुण नित्य होते हैं । तथापि इतना अवश्य कहना है कि किन्हीं अंशों में संस्कार से जाति प्रबल है तो अनेक स्थलों में जाति से संस्कार भी प्रबल है । अथवा यों कहो कि अपने २ विषय में जाति और संस्कार दोनों प्रबल हैं । इस के तीन भेद होंगे । १—एक तो जाति की प्रबलता २—संस्कार की प्रबलता और ३—जाति वा संस्कार दोनों के विप्रतिषेध में जहां एक

ही प्रबल ठहर सकता है वहां केवल जाति प्रबल है और इसी तृतीय प्रकार के अनुसार संस्कार से जाति प्रबल ठहराई गयी है वा इसी के साथ में प्रारब्धानुसार कर्म फल भोग की प्रबलता ठहरती है। बड़े आश्चर्य का विषय यह है कि जाति पक्ष को कुछ न मानने वाले और सर्वांशों में संस्कार को ही कार्य साधक मानने वाले मनुष्य यदि यह कहें वा सिद्ध करें कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

शुभ वा अशुभ अच्छा वा बुरा जो कर्म जिस ने किया है उस का फल उस को अवश्य भोगने पड़ेगा। तो यह कहना ऐसा होगा कि असाध्य वा स्वाभाविक रोग कोई नहीं केवल ओषधि ही करने से फल होगा और किये हुऐ कुपथ्यरूप कर्मों का दुःख फल अवश्य भोगने पड़ेगा। वा यों सही कि प्रारब्धानुसार अन्धकार में तो रहना ही पड़ेगा पर अन्धकार कुछ नहीं दीपक जलाना ही सर्वत्र मुख्य है। संस्कार की अपेक्षा जातिपक्ष को कुछ न मानना भी वैसा ही "वदतो व्याघात" के तुल्य गिरा हुआ पक्ष है। क्योंकि रोग पूर्वकृत कर्मों का फल भोग है वा असाध्य रोग का नाम जाति और ओषधि चिकित्सा द्वारा रोग दूर करने का उपाय संस्कार है। यदि ओषधि द्वारा रोग निवृत्त हो जाय तो किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ेगा यह नियम नहीं रह सकता और यदि वैसा ही वा उतना ही रोग का फल दुःख प्राणी को भोगने पड़े जितना नियत है तो ओषधि रूप संस्कार करना व्यर्थ हुआ यह दोष उसी पूर्वोक्त पक्ष में आता है। असाध्य रोग, नियतविपाक कर्म, जाति, स्वभाव, प्रकृति इत्यादि शब्द एक ही कोटि के हैं। जिस ने जैसा कर्म, किया है उस को वैसा फल अवश्य भोगने पड़ेगा विना भोगे न छूटे गा वा "कर्म रेख नहि मिटे मिटाई" ये सब वाक्य जाति पक्ष को पुष्ट करने वाले हैं इन में से जो किसी एक को भी प्रबल ठहराने का उद्योग करे गा उस के पक्ष में जाति पक्ष की प्रबलता स्वतः सिद्ध हो जायगी। अब हम इन सन्देहों को दूर करने का समाधान लिखने के साथ संस्कार वा संशोधन से सम्बन्ध रखने वाली कर्मगति का भी कुछ वर्णन करें गे। शास्त्र से विरुद्ध लोकव्यवहार के अनुसार ब्राह्मणादि कहाने वालों के कुलों में उत्पन्न होने मात्र से ब्राह्मणादि वर्ण मानलिये गये और ब्राह्मणादि के जैसे शास्त्रानुकूल गुण कर्म स्वभाव उन में हैं वा नहीं इस विचार को छोड़ दिया। इस वेद विरुद्ध परिपाटी के चल जाने से वर्णव्यवस्था बिगड़ गयी। जैसे अभी अंगरेज़ जाति में यह नियम किया गया है कि अमुक कुल [खानदान] के मनुष्यों को ही अमुक २ बड़े २ अधिकार दिये जावें। यद्यपि अभी उन के यहां संस्काररूप शिक्षा प्रणाली का प्रबन्ध अच्छा है। यदि काल पाकर शिक्षा प्रबन्ध ऐसा न रहे और उन कुलों में अयोग्य पुरुष उत्पन्न होवे

लगें तो कुल में उत्पन्न होने से अधिकार देना यह जातिपक्ष खण्डनीय होगा। इसी प्रकार इस भारतवर्ष में भी नियत किये ब्राह्मणादि समुदायों में शिक्षादि का पहिले ऐसा प्रबन्ध चला हुआ था कि सब लोग अपने २ वर्ण के अनुकूल ही शिक्षा पाकर कर्म भी करते थे इस कारण उन २ ब्राह्मणादि जातियों के कर्म और अधिकार भी नियत हो गये थे इसी से किसी वर्ण में संकर दोष पहिले नहीं था वा था भी तो इतना कम था कि जिस की होने में गणना न हो सके। यह सब प्रबन्ध काल पाकर बिगड़ गया योग्य को अधिकार मिलने का कोई नियम न रहा सब ब्राह्मणादि वर्णसंकर हो गये अर्थात् ब्राह्मणादि नामों से कहाने वाले सब समुदायों में नीच से नीच कहाने योग्य भी मनुष्य उत्पन्न हो गये कोई भी ठीक शुद्ध न रहा अब ऐसा कोई समुदाय नहीं है जिस को शुद्ध ब्राह्मण वा शुद्ध क्षत्रिय कह सकें। इस का कारण यही है कि:-

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। अ० १०
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १ ॥ मनु०

अन्य वर्ण की स्त्री का अन्य वर्णस्थ पुरुष के साथ व्यभिचार हो कर उत्पत्ति होने, अन्य वर्ण की स्त्री से विवाह करने और अपने २ कर्त्तव्यकर्मों के छोड़ देने से मनुष्य वर्णसंकर हो जाते हैं। जब किसी कुल के मनुष्यों पर अधिक अहंकार वा अभिमान चढ़बैठता और वे मदान्ध हो जाते हैं कि हम जो चाहें सो करें बड़े ही माने जायंगे हम को दोष कौन लगा सकता है तब वे कर्त्तव्य से च्युत हो जाते और उन के कर्म ही उन को नीच बना देते हैं। इसी के अनुसार जब भारतवर्ष के उच्चवंशी ब्राह्मणादि नीच २ कर्मों की ओर गिरते गये और वर्णसंकर बनगये तो महा अवनति हुई दुःखसागर में गोते खाने लगे। ऐसी दशा में जिन महात्मा लोगों को दया आयी उन्हों ने झूठे आत्यभिमान का खण्डन किया और गुण कर्म की प्रबलता से माननीय शास्त्रानुकूल वर्णव्यवस्था का मण्डन वा प्रतिपादन किया जिस की अत्यावश्यकता थी और है। पर उन्हों ने यह भी कहीं नहीं जताया कि जन्म वा जाति के साथ गुणकर्मों वा वर्णों का कुछ सम्बन्ध नहीं तो भी समय के प्रवाहानुसार अनेक लोग जाति को सर्वथा अमान्य समझते हैं। इस कारण इन जाति और संस्कार दोनों की तत्त्वावस्था दिखाने की इच्छा से मैं ने कुछ लिखना आवश्यक समझा।

हमारे लेख में इस का समाधान प्रकारान्तर से पीछे भी आचुका है कि यदि ओषधि द्वारा रोग निवृत्त होजाय तो भी किये हुए कर्म फल का भोग अवश्य हुआ क्योंकि ओषधि करने में जो २ क्लेश वा धनव्यय होता वा इच्छा विरुद्ध अति कटुआदि ओषधियों के खाने में जो कठिनता होती इत्यादि भी एक प्रकार का भोग है और ओषधि करने के समय जब तक रोग बना रहता तब तक

रोग से भी दुःख भोगने ही पड़ता है इस कारण ओषधि से रोग की निवृत्ति होना भी भोग से ही हुई माननी चाहिये । जैसे किसी अपराध में किसी को दण्ड दिया जाय कि तुम इतना काम वा परिश्रम कर दो और वह उस काम को अधिक परिश्रम वा क्लेश सह के शीघ्र पूरा करदे तो अधिक देर तक धीरे २ न भोगा शीघ्र भोग लिया निरर्थक दोनों दशा में नहीं हुआ । इसी प्रकार अधिक दिनों तक रहने वाला रोग ओषधि आदि कर के शीघ्र भोग लिया जाय तब भी भोग ही रहेगा । और ओषधि से असाध्यरोग न जावे तो भी ओषधि करना व्यर्थ नहीं क्योंकि रोग का न जाना सर्वथा रोग छूट जाने की अपेक्षा से है किन्तु कुछ कम तो अवश्य होता ही है और जितना रोग घटेगा उतना ही रोगी का दुःख भी कम होता जायगा इस लिये ओषधि करना असाध्य दशा में भी सार्थक है । जैसे सेर भर अन्न खाने वाले मनुष्य को छटांक भर भोजन मिले और वह कहे कि इस से मेरी कुछ भी क्षुधा शान्त न होगी तो यह उस का कथन सेर भर की अपेक्षा अतिन्यून शान्ति को जताने के लिये होगा जिस को वह शान्ति नहीं कहना चाहता पर वास्तव में छटांक भर से यदि क्षुधा कुछ भी शान्त न हो तो फिर सेर भर से भी न होगी । ऐसे ही यहां भी जानो ।

अब योगशास्त्र साधनपाद के १२ । १३ सूत्र और उन के भाष्य का आशय लेकर कर्मगति पर कुछ लिखता हूं । मूल संस्कृत अधिक इस लिये नहीं लिखता कि लेख बहुत न बढ़े । पहिले कर्म दो प्रकार के हैं । १—दृष्टजन्मवेदनीय २—अदृष्टजन्मवेदनीय । दृष्टजन्मवेदनीय कर्म वे हैं जो उसी जन्म में भोग लिये जावें जिस जन्म में किये गये हैं । जो कर्म जैसी अत्यन्त लाग से शीघ्र २ किये जाते हैं उन का फल भी वैसा ही शीघ्र होता है । जैसे तीव्र वेग के साथ तन मन धन से रात दिन लग के जप तप और योगाभ्यासादि द्वारा परमेश्वर की भक्ति वा महर्षि महानुभाव धर्मात्मा विद्वानों की सेवा अत्यन्त लाग से सब काम छोड़ के करे तो उस का शुभ फल उसी जन्म में शीघ्र ही प्राप्त होता है । और इसी प्रकार अपना विश्वास रखने वालों के साथ वार २ विश्वासघात वा तपस्वी महानुभाव धर्मात्मा विद्वान् महर्षियों के साथ लगातार वार २ अनुपकार किया जाय वा उन को कष्ट दिया जाय इत्यादि प्रकार के पापकर्म का भी शीघ्र ही दुर्दशारूप बुरा फल होता है । जैसे वर्षा होते समय कीचड़ में दौड़ने वाला शीघ्र गिर जायगा । वैसे ही वेग के साथ किये कर्मों का शीघ्र फल मिलना न्याय वा युक्ति के भी अनुकूल है ।

और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म वे हैं जिन का फल जन्मान्तर में भोगा जावे। उन के तीन फल भेद हैं । योगसू० १३ ।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

मरणसमय तक अविद्यादि क्लेशरूप वासनाओं के सञ्चित रहने पर उस सञ्चितकर्म का तीन प्रकार का फल होता है १—जाति वा जन्म कि ब्राह्मणादि कैसे उत्तम वा नीच कुल में जन्म हो और कैसी अवस्था हो और कैसा भोग मिले। अर्थात् ब्राह्मणादिपन विशेष वा मनुष्यादि सामान्य जाति का नियत होना पूर्वजन्म के कर्मानुसार होता है यह योगसूत्र व्यासभाष्य तथा अन्य सभी आर्षग्रन्थों का एक सिद्धान्त है। और ऐसा ही मैं प्रथम भी लिख चुका हूं। तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नाम सञ्चितवासनारूप कर्म के और भी दो प्रकार हैं १—नियतविपाक २—अनियतविपाक।

तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य कस्मात्—यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—१—कृतस्याविपक्वस्य नाशः। २—प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा। ३—नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य चिरमवस्थानमिति। १—तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव कर्म कवयो वेदयन्ते"। २—प्रधानकर्मण्यावापगमनं यत्रेदमुक्तम्। स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापगतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति। ३—नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानं कथमिति—अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य, यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत्, आवापं वा गच्छेत्, अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य विपाकाभिमुखं करोतीति॥ व्यासभाष्यम्—

भावार्थः—जिस का विपाक नाम फलभोग नियत हो जो भोगे विना किसी प्रकार न छूटे किन्तु अवश्य फल भुगावे वह अच्छा वा बुरा अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्म है। इसी नियतविपाक सञ्चित कर्म का यह पूर्वोक्त नियम

है कि मरणानन्तर अगले जन्म में जाति आयु और भोग नियत हों किन्तु अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक [जिस के विपाक नाम फलभोग का नियम न हो कि फल होगा वा नहीं और होगा तो कब ऐसे] सञ्चित कर्म की तीनदशा होती हैं । १–किया हुआ कर्म विना ही फल दिये नष्ट हो जावे । जैसे छोटे २ कुपथ्यों से सञ्चित हुए रोग के कारण काल पाकर निर्बल होके स्वयं नष्ट हो जाते किन्तु उन से कोई विशेष रोग उत्पन्न नहीं होता । २–अथवा प्रधानकर्म के साथ इस प्रकार मिल कर बना रहे जिस में उस की पृथक् गणना न हो । जैसे जौ आदि अधिक अन्न में थोड़े से घास आदि के दाने बोने सींचने काटने गाहने आदि में साथ ही रहने पर भी जौ बोये जौ सींचे जौ काटे जौ गाहे इत्यादि व्यवहार होता और घास बोयी वा घाससहित जौ बोये ऐसा व्यवहार नहीं होता अर्थात् जौ के साथ घास के दानों की गणना नहीं होती । अथवा जैसे १ऽ एकमन चीनी में दो पैसा भर मट्टी मिली हो तो भी चीनी ही समझी जाती और उतनी मट्टी की गणना ही नहीं होती इसी प्रकार अधिक पुण्य वा पाप में थोड़ा पाप वा पुण्य मिल कर बना रहता और उस पुण्य के साथ थोड़े पाप की और पाप के साथ थोड़े पुण्य की गणना भी नहीं होती कि दूसरा भी है । इसी के अनुसार थोड़ा पाप रहने पर भी पुण्यात्मा वा धर्मात्मा और थोड़ा पुण्य रहने पर भी पापी वा अधर्मी मनुष्य कहाता है । ३—जिस का फलभोग नियत है ऐसे प्रधान कर्म से दबा हुआ पाप वा पुण्य बहुत काल तक बना रहे और जब अपने अनुकूल कर्म की सहायता मिले तभी बल पाकर पकजावे और फल देने को तत्पर होजावे । किये हुए कर्म का विना फल दिये नष्ट होजाना जैसे प्रकाश से अन्धकार का नाश विद्या से अविद्या का राग से द्वेष का सुख से दुःख का वैसे ही पुण्य कर्मों के उदय से पाप का नाश हो जाना । जैसे सब ओषधि सब रोगों को दूर नहीं कर सकतीं वा जैसे प्यास की ओषधि जल से क्षुधा की निवृत्ति और क्षुधा की ओषधि अन्न से प्यास की निवृत्ति नहीं हो सकती ऐसे ही जिस प्रकार के पुण्य में जैसे पाप को निवृत्त करने की शक्ति है वह पाप यदि नियतविपाक न हो तो वैसे पुण्य से हट सकता है । जैसे सब दो मन बोझा उठाने की शक्ति होने पर भी कोई असंख्य मन बोझवाले पर्वत को नहीं उठा सकता वा एक दो विन्दुजल ग्रीष्म की प्यास को और एक दो दाना भूख को नहीं मेट सकता वैसे ही अधिक काल से संचित होने से जिस की जड़ पुष्ट होगयी उस नियतविपाक असाध्य कर्म को थोड़े उपाय से कोई नहीं हटा वा दबा सकता । और यदि कोई प्रबल साधनों से नियत विपाक वा असाध्य को भी दबा ले तो उस के लिये वह असाध्य वा नियत विपाक ही न माना जायगा । क्योंकि असाध्य भी सापेक्ष ही ठहरता है जिस को जो अपनी शक्ति से बाहर समझे उस को वही असाध्य है जैसे जिस को दो चार रुपये भी

एकत्र कर सकना कठिन हैं उस को सहस्र रुपये का संचय असाध्य है अर्थात् यह नियम नहीं हो सकता कि जो असाध्य हों उस को कोई भी न कर सके और साध्य काम सभी को साध्य हो जावे। इसी लिये पुरुषार्थ वा संस्कार की प्रबलता में नीति का यह बचन संघटित हो सकता है कि—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः? ॥ १ ॥

उद्योगी पुरुष सब कुछ सिद्ध कर लेता है प्रारब्ध में हो तभी सुख मिलता है यह कापुरुष (कायर) लोगों का कहना है इस लिये उद्योगी मनुष्य को उचित है कि प्रारब्ध को लातमार शक्ति भर पुरुषार्थ करे और उपाय करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो अपने कर्त्तव्य का अन्वेषण करे कि मेरे परिश्रम वा उपाय में क्या दोष वा त्रुटि रही जिस से कार्य सिद्ध नहीं हुआ किन्तु यह न मानले कि प्रारब्ध में नहीं था इस से नहीं हुआ॥

द्वितीय कोटि के आवापगमन में भी यदि पुण्य प्रबल है और नये पाप का संचय न हो तो दुःख भोग में नहीं गिर सकता वा उत्तम कोटि के स्वर्ग सुख भोग में कोई विघ्न नहीं कर सकता पर तृतीय कोटि में शंका अवश्य रहेगी कि दबे हुए पाप को जब अवकाश मिलेगा तभी प्रबलता पाये शत्रु के समान दुःख देगा इस लिये उस से बचने का उपाय सदैव कर्त्तव्य है। मनुष्य अल्पज्ञ है इस से नहीं जान सकता कि मेरे दबे हुए पाप कौन हैं जो कभी प्रबल हो सकते हैं इस कारण उस को अत्यन्त उचित है कि अपने शुभकर्मों को सदा प्रबल करता रहे तो पाप सदा निर्बल ही होते रहेंगे। इस प्रसङ्ग में योगशास्त्र के अनुसार कर्मगति का कुछ व्याख्यान करने का मुख्यतात्पर्य यह है कि सब प्रकारों और सब कालों में ओषधि पथ्य क्रियमाण का सुधार वा संस्कार मनुष्य को करना चाहिये यह सब वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त पाठकों को जताया गया सो जैसे नीरोगदशा में नये रोग न हों इस लिये पथ्य और अज्ञात कुपथ्यों से सञ्चित रोग के कारण अङ्कुर के समय ही नष्ट हो जायं इस लिये ओषधि कर्त्तव्य है तथा साध्य रोगों को दूर करने और असाध्य भी कदाचित् अधिक दिनों तक लगातार सुविचार के साथ ओषधि होने से साध्य हो सकें इस लिये ओषधि कर्त्तव्य है कदाचित् असाध्य का बल बढ़ जायगा तब दुःख अधिक देगा और ओषधि से कुछ २ दबता रहा तो वैसा दुःख न देगा इस कारण ओषधि और पथ्य सदा ही कर्त्तव्य हैं वैसे ही प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि नियतविपाक पापकर्म को प्रबल न होने देने के लिये वा नियतविपाक पुण्यफल भोगने के लिये तथा अनियतविपाक पाप को सदा दबाने

वा नष्ट करने के लिये और अनियतविपाक पुण्य को सदा प्रबल करने के लिये सब देश काल वा अवस्थाओं में शुभकर्मरूप संस्कार करता रहे । जाति प्रारब्ध वा असाध्य जैसे सार्वत्रिक नहीं वैसे ही संस्कार सर्वदेशी अवश्य है जैसे उत्पत्ति समय पूर्वजन्म के संस्कार से जाति बनती है यह जाति बन ने का अव्यभिचारी नियम है वैसे जाति से संस्कार बन ने का नियम नहीं कि जो जाति से अच्छा हो वह अच्छे ही काम भी करे । इस लिये सर्वदेशी होने से संस्कार वा क्रियमाण प्रबल है । वेदादिशास्त्रों में मनुष्य के लिये नित्य नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का कर्त्तव्य कहा है और वह सब कर्त्तव्य आत्मा, मन, वा वाणी का शोधक वा धर्म संचय का हेतु होने से संस्कार वा धर्म माना जाता है । जैसे नित्यस्नान से शरीर का, नित्य प्रक्षालन से वस्त्रों का और नित्य झाड़ने लीपने से घर का संस्कार करनेकी आज्ञा है वैसे नित्य कर्त्तव्य में पञ्चमहायज्ञ प्रधान हैं इन पञ्चमहायज्ञरूप संस्कारों से आत्मा और मन की नित्यशुद्धि करनी चाहिये-मनु ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ॥
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्त्तॄणि देहिनाम् ॥ १ ॥

भा०-(ज्ञानम्) जैसे अग्नि दीपकादि के तेज से वा प्रकाश से मलिनता वा अन्धकार दूर होता है वैसे आत्मा वा अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति बढ़ने से अन्तःकरण वा आत्मा का मलीनता रूप अज्ञान नष्ट होकर आत्मा शुद्ध वा संस्कृत होता है (तपः) जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादिधातुओं की मलीनता नष्ट होती वैसे सन्ध्यादि में प्राणायामादि तप नित्य करने से इन्द्रियों और मन का संस्कार होता (अग्निः) जैसे अशुद्ध वस्तु वा स्थान की अशुद्धि अग्नि से दूर होती वैसे बाह्य अग्नि से शरीर के अवयवों और पित्तरूप जाठराग्नि के यथोचित बढ़ने से शरीर के भीतरी अंशों का संशोधन वा संस्कार होता है । (आहारः) जैसे विष्ठादि मलिन खात मिलाने से शाक वृक्ष वनस्पति आदि अशुद्ध उत्पन्न होते और अच्छे गुणोंवाला खात देने से शुद्ध आरोग्य वा बुद्धिवर्द्धक पदार्थ उत्पन्न होते वैसे ही मद्यमांसादि मलिन आहार भोजन से शरीर के धातु मलिन बनते उस से मन और आत्मा भी मलिन हो जाता है इसी लिये वे पदार्थ अभक्ष्य माने जाते हैं । और घृत दुग्धादि शुद्ध सत्वगुणी आहार से शरीर के रुधिरादि धातु शुद्ध बनते और उस से आत्मा और मन का भी संस्कार होता जाता है (मृत्) जैसे विष्ठादि दुर्गन्ध वस्तु को मट्टी खा जाती वा अपने स्वरूप में बना लेती है वैसे ही दुर्गन्ध युक्त हाथ आदि मट्टी लगाकर धोने से शुद्ध हो जाते हैं वा सब शरीर में मट्टी लगाने से रोमकूपों द्वारा निकलने वाले दुर्गन्धित अंशों को शुद्ध करती है (मनः) यद्यपि अनेक शास्त्रकारों की सम्मत्यनुसार मन अभौतिक माना जाता है तथापि एक प्रकार का ज्योतिःस्वरूप अवश्य

है। जैसे शुद्ध गुण के सम्बन्ध से गुणी की शुद्धि होती वैसे ही मन के शुद्ध होने से आत्मा की शुद्धि अवश्य होती है इसीलिये मन को शुद्ध करनेवाले उपाय आत्मा के संशोधक भी मानने चाहिये (वारि) जैसे जल से धोकर शरीर वस्त्रादि की शुद्धि होती वैसे आचमनादि द्वारा भीतर गये स्वयं शुद्ध और मन्त्रपूत जल से शरीर के भीतरी अंशों का भी संस्कार होता है और उस से आत्मा वा मन की प्रसन्नता होती है (उपाञ्जनम्) झाड़ने बुहारने और लीपने आदि से नित्य शोधे जाने वाले स्थान में रहने वाले का मन प्रसन्न वा ग्लानिरहित शुद्ध रहता है इस कारण शरीरधारियों के शुद्ध रहने में बाहिरी स्थानादि की शुद्धि भी कारण अवश्य है (वायुः) जैसे पुरीषस्थान (पाखाने) में कुछ काल तक दुर्गन्ध वायु के सेवन से शरीर वा मन में ग्लानि होती है वैसे ही निर्जनदेश के शुद्ध वायु के मिलने से प्रसन्नता शुद्धि वा संस्कार होता है। वायु भी मनुष्य का एक सूक्ष्म आहार है। जैसे अन्य दुर्गन्धयुक्त अभक्ष्य तमोगुणी पदार्थों के खाने से रोग ग्लानि वा मलिनता उत्पन्न होती है वैसे अधिक मनुष्य समुदाय के अशुद्ध अभक्ष्य वायु के श्वास द्वारा बार २ लेने से ग्लानि वा मलिनता बढ़ती है और जीवन वा आयु दिन २ घटती जाती है इस कारण शुद्ध एकान्त निर्जनदेश के वायु का आहार शुद्धि वा जीवन को बढ़ानेवाला अवश्य है। (कर्म) शुद्ध परोपकारी दानादिकर्मों से आत्मा वा मन की प्रसन्नता वा शुद्धि होती (च) और (अर्ककालौ) सूर्य भी मनुष्यों की शुद्धि का एक बड़ा कारण है। रात्रि में जो तमोगुण सम्बन्धी अन्धकार प्राणियों के चित्त में प्रवेश करता है वह सूर्योदय के प्रकाशरूप सत्वगुण के फैलने से दूर हो जाता है। जैसे दुर्गन्धित वस्तुओं का दुर्गन्ध सूर्य के प्रखर तेज से छिन्न भिन्न होकर नष्ट होता है वैसे शरीरों सम्बन्धी निकृष्टांशों की भी शुद्धि सूर्य के द्वारा होती है। और काल सभी पदार्थों का संशोधक है [क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्] जो काम शीघ्र न कर लिया जाय वा शीघ्र न होजाय उस का रस काल पी जाता है अर्थात् उस के करने का साहस काल पाकर स्वयं शान्त होजाता है। जैसे जहां पुरीषस्थान वा मोरी रहे और पीछे वहां खाली पड़ा रहे तो काल पाकर वह स्थान स्वयमेव शुद्ध होजाता है। अर्थात् जिन स्थानों को हम उत्तम मानते जहां भोजनादि बनाते हैं जो हमारी पाकशाला वा पाठशाला हैं वे कभी अत्यन्त मलिनस्थान भी अवश्य रह चुके हैं परन्तु अब काल ने उन को शुद्ध कर दिया वा काल बीत जाने से वे शुद्ध होगये ऐसे ही अनेक छोटे २ कुसंस्कार बुरी वासना जो होती रही हैं उन को नवीन बुरे संस्कारों की सहायता मिलना बन्द होजाय तो काल पाकर स्वयमेव शान्त हो जाती हैं फिर कभी फल देने की शक्ति उन में शेष नहीं रहती। इस प्रकार ज्ञान से लेकर कालपर्यन्त गिनाये पदार्थ संस्कार वा शुद्धि करनेवाले स्वभाव से ही हैं इसलिये संशोधक पदार्थों की सदा ही अपेक्षा रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है॥

वेदादि शास्त्रों के सब विधिवाक्य (कि ऐसा करो वा ऐसा मत करो) संस्कार के प्रतिपादक अर्थात् शरीर मन वाणी वा आत्मा की शुद्धि के लिये उपाय बताने वाले हैं और वास्तव में संस्कार वा संशोधन ही धर्म है इसी से शुद्धान्तःकरण और धर्मात्मा एकार्थ शब्द हैं। जहां कहीं स्वभाव जाति वा नियतविपाक कर्मों की प्रबलता सिद्धानुवाद से दिखायी है वहां भी कर्त्तव्यरूप संस्कार के निषेध करने में तात्पर्य नहीं किन्तु जैसे पूर्व प्रारब्ध प्रबल है वैसे अब का प्रारम्भ किया आगे प्रबल होगा ऐसा मान कर शुभकर्मों का सदा अनुष्ठान करना चाहिये। जैसे असाध्य रोग के न हटने पर भी चिकित्सा की ओर चित्त लगने, वैद्य आदि को अपने दुःख निवारण के लिये तत्पर देखने, रोग दुःख के विरुद्ध औषध्यादि से कुछ शक्ति वा साहस बढ़ने और रोग का भी कुछ बल घटने से रोगी का कुछ दुःख घटता और कुछ सुख भी होता तथा रोगी और उस के साथियों का कर्त्तव्य में तत्पर होने का अभ्यास बढ़ता है इत्यादि कारणों से ओषधि करना निष्फल नहीं किन्तु सफल ही है। वैसे ही प्रारब्ध कर्म अमिट होने पर भी उस से विरुद्ध शुभाचरण सार्थक ही रहेगा। और जब असाध्य रोग के तुल्य नियतविपाक प्रारब्ध कर्म नहीं है तब तो पूरा २ ही उद्योग सफल होता है। इसी के अनुसार पंचमहायज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्य सब दशा में सेवनीय और सफल हैं। जैसे घर वस्त्र वर्त्तनादि नित्य २ झाड़े लीपे धोये मांजे न जांय तो नित्यप्रति कुछ २ कूड़ा मैल बढ़कर महानिकृष्ट हो जाते वा नष्ट होजाते हैं वैसे शरीर, मन, वाणी और आत्मा भी पञ्चमहायज्ञादि द्वारा नित्य २ न शोधे जांय तो मलिन वा नीच हो जाते हैं। जैसे शरीर पर नित्य नित्य मैल बढ़ता है वैसे संसारी विषयों के कुसंस्कार मन और आत्मा में इन्द्रियों द्वारा पहुंचा करते हैं उन्हीं कुसंस्कार वा दुष्ट वासनाओं को पाप दोष वा अधर्म भी कह सकते हैं। ज्ञानी पुरुष को विषयभोगादि की वासना नहीं सताती इस कारण उस को पाप नहीं लगते यह कहना उचित है।

१–ब्रह्मयज्ञ। २–देवयज्ञ। ३–पितृयज्ञ। ४–भूतयज्ञ। ५–नृयज्ञ। ये पांच महायज्ञ कहाते हैं मुख्यकर इन्हीं का नाम नित्यकर्म है। यहां संस्कार के व्याख्यान में इन का क्रम से कुछ व्याख्यान किया जायगा क्योंकि ये नित्य कर्त्तव्य संस्कार हैं। और चारो आश्रम वालों को किसी न किसी प्रकार कर्त्तव्य हैं। इन में पहिला ब्रह्मयज्ञ है इस का सामान्य वा मुख्य नाम यही है और विशेष नाम, सन्ध्योपासन और स्वाध्याय दो हैं। आगे इन्हीं दो के अवान्तर भेद वा व्याख्यान जानो। नियम से वेद का पढ़ना पढ़ाना और वेदमन्त्रों का नित्य नियम से स्तोत्रपाठ करना स्वाध्याय कहाता है शुद्धि के साथ नियमानुकूल सायं प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना भक्ति वेदमन्त्रों द्वारा करना सन्ध्योपासन है। सन्ध्योपासन में प्रथम शरीरशुद्धि का विधान है और शरीर शुद्धि के साथ

ही स्थान वा वस्त्रादि उपयोगी पदार्थों की भी शुद्धि का विधान समझ लेना चाहिये। मुख्यकर जप करने का नाम सन्ध्या है शेष सब कर्त्तव्य इस के सहायक साधन हैं। इसी लिये प्रत्येक कर्माङ्ग का भिन्न २ फल खोजना व्यर्थ है। जैसे भोजन बनाने में चूल्हे से अमुक ओर बैठे सामने आटा धरे वा इस २ क्रम से अन्य सब भोजन बनाने की सामग्री रक्खे इत्यादि विधान का भिन्न फल कुछ नहीं किन्तु सुगमता से अच्छा भोजन बनने के लिये सब कर्माङ्गों का भिन्न २ विधान है और सर्वत्र ही कर्माङ्गों का प्रधान कर्म के साथ फल वा सम्बन्ध समझा जाता है इसी प्रकार यहां भी मार्जन आचमनादि सब उपासना के साधनाङ्ग हैं उन का फल मुख्य यही है कि उपासना सुगमता के साथ अच्छी हो। यह नियम है कि जब मनुष्य के विचार अनुभव (ख़यालात) अच्छे होते धर्म का अङ्कुर चित्त में जमता वा धर्मात्मा पुरुषों से प्रीति वा मेल होता है तब बुराइयों से चित्त हटता निकृष्ट वासना उस समय शिथिल वा मलीन हो जाती हैं वैसे यहां भी सर्वोपरि धर्मात्मा शुद्धस्वरूप निष्कलङ्क परमेश्वर की उपासना करते समय सूर्योदय में रात्रि के अन्धकार के तुल्य हृदय के कुसंस्कार दूर होजाते हैं उस समय चित्त शुद्ध और निष्पाप हो जाता है। मनु०—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन् नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥१॥ अ०२

भा०—जैसे प्रातःकाल स्नान करने से रात भर में शरीर पर आया मैल धो जाता है और सायङ्काल के स्नान से दिन भर में धूलि पड़ने आदि द्वारा सञ्चित हुआ मैल दूर होता और शरीर शुद्ध हो जाता है वैसे ही प्रातःकाल की सन्ध्या के यथोचित जप से मन और आत्मा में कुसंस्कारों द्वारा रात्रि भर में प्राप्त हुई मलीनता दूर हो जाती है और सायङ्काल में यथोचित सन्ध्योपासन से दिनभर में प्राप्त हुई कुसंस्काररूप मलीनता दूर होती है। यदि नित्य नियम से यथोचित सन्ध्योपासन होता रहे तो नित्य धोये जाने वाले वस्त्र के समान मनुष्य का मन और आत्मा मलिन नहीं होने पाता इस लिये नित्य कर्मों में सन्ध्योपासन पहिला संस्कार है। विचार का स्थान है कि जिस वस्त्र पर दिन रात अनेक प्रकारों से नानाविध मल जमता जाय और उस को शुद्ध करने के लिये कभी कुछ भी उपाय न शोचा वा किया जाय तो कितना मलिन हो जायगा जिस की अवधि (हद्द) नहीं हो सकती और फिर उस वस्त्र को शुद्ध करने के लिये कितना समय और परिश्रम अपेक्षित होगा यह विचारशील स्वयं शोच लेंगे। इसी प्रकार अनेक अनवधिक जन्मजन्मान्तरों से नानाप्रकार के दुष्ट संस्काररूप मल वा पाप अन्तःकरण में सञ्चित होते २ हमारे आत्मा महामलिन होगये तो

भी हम आत्मसंस्कार की ओर कुछ भी तत्पर नहीं होते जितना हम घर व-स्त्रादि के संस्कार में उद्योग करते हैं उस से चतुर्थांश भी आत्मसंस्कार में ध्यान दें तो अवश्य कुछ धर्म की ओर झुके समझे जावें। शोचने से ज्ञात होगा कि-सम्प्रति वस्त्रादि के निर्मल रखने की ओर शिक्षित लोगों की कैसी अधिक प्रवृत्ति है और साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि आत्मसंस्कारनामक धर्म से वे कहां तक विमुख हैं!!! और दिन २ धर्म से पीठ फेरते ही जाते हैं। वास्तव में लिफाफेदार बाह्य दिखावटी शुद्धि की अपेक्षा भीतरी संशोधन मुख्य है क्योंकि आत्मसंस्कार से जो सुख मनुष्य को प्राप्त हो सकता है वह तीन काल में भी अन्य प्रकार से नहीं मिल सकता। इस लिये जो लोग अपना कल्याण चाहैं वे सन्ध्योपासनादि आत्मसंस्कार की ओर झुकें। जैसे वस्त्र पर बहुत काल से संचित हुई सूक्ष्ममलिनता एक दो वार प्रक्षालन (पछारने) मात्र से निवृत्त नहीं होती वैसे अनादि काल से संचित हुए दुर्वासनारूप पाप थोड़े दिन सन्ध्योपासनादि संस्कार से दूर नहीं हो सकते तथा जैसे प्रथम से शुद्ध वस्त्र पर भी पक्की स्याही का दाग लग जाय तो सहज उपाय से नहीं छूटता वैसे ही नित्य २ सन्ध्योपासनादि आत्मसंस्कार करने से शुद्ध अन्तःकरण में भी दिन वा रात में कोई प्रबल कुसंस्काररूप पाप जम जाय तो वह नित्य के सन्ध्योपासनादि साधारण संस्कारोपाय से नहीं हट सकता उसी को असाध्य रोग के तुल्य नियतविपाक कर्म मानना चाहिये परन्तु नित्य २ संस्कार होते रहने से निर्बल वह भी होता रहेगा। जैसे अधिक मलिन वस्त्र को भी नित्य थोड़ा २ धोते रहो तो नवीन मैल न चढ़ेगा और पुराना भी कुछ घटता जायगा। अब यह तो सिद्ध होगया कि सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म आत्मा वा मन के संशोधनार्थ हैं।

रक्षा, शिखाबन्धन, मार्जन, इन्द्रियस्पर्श, प्राणायाम, अघमर्षण, परिक्रमा, उपस्थान, जप और समर्पण ये सन्ध्योपासन के अङ्ग हैं। इन सब को नियम पूर्वक एक साथ करना सन्ध्योपासन कहाता है। रात्रि दिन के सन्धि समय जो कर्त्तव्य उपासना है वही सन्ध्योपासन है॥

१—प्रत्येक काम को विघ्न ही बिगाड़ते हैं और विघ्नों से बचना ही रक्षा कहाती है और "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" कल्याणकारी काम में विघ्न बहुत होते हैं। और एकान्त में सन्ध्योपासन करने की आज्ञा है वहां कोई प्रकार का विघ्न न हो इसलिये प्रथम परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारी सब प्रकार रक्षा करे और विघ्नों से हम को बचावे। जैसे लौकिक किसी काम की प्रार्थना हम किसी समर्थ मनुष्य से करना चाहते हैं यदि उस कार्य का सिद्ध होना अत्यन्त अभीष्ट है तो हम उस कार्य की सिद्धि के लिये प्रार्थना से भिन्न उपाय भी करते हैं किन्तु प्रार्थना करने से अन्य उपायों का निषेध नहीं होता और जिस को हम सब उपायों से करने के लिये तत्पर हों वही काम हम को

अत्यन्त प्रिय वा इष्ट हो सकता है वैसे ही यहां भी रक्षा आदि हम को अत्यन्त इष्ट हैं तो उन के लिये प्रार्थना करें और यथोचित अन्य उपाय भी करते रहें जो कि प्रार्थना से विरुद्ध न हों। जब सत्य भाव से हम परमेश्वर की प्रार्थना करेंगे तो यदि उस व्यापक अन्तर्यामी की कृपा वा प्रेरणा से विघ्न हटने और रक्षा होने का हम को सहज उपाय सूझे तो भी प्रार्थना का ही फल समझना चाहिये। जैसे सुपात्र को दान देने की आज्ञा है वैसे परमेश्वर भी सुपात्र की प्रार्थना का अवश्य फल देता है। जैसे लोक में एक २ कौड़ी मांगने वालों को प्रायः सर्वत्र और शीघ्र कौड़ी २ मिलती जाती है। पैसा मांगने वालों को सैकड़ों में कोई २ देता है और रुपया मांगने वाले को यदि कोई दयालु दाता सुपात्र ही समझले तो देने को तत्पर होता वा अधिक परिश्रम किया समझले तो देता है तथा कोई अर्थी सौ दो सौ रुपये किसी दाता से मांगे तो अनेक वार मांगने से वह जब मांगने वाले का इतना परिश्रम समझले जिस का प्रतिफल देने को चित्त में उत्साह हो और सुपात्रता भी प्रतीत हो तो दयालु दाता यथोचित देता है। इसी कारण कुछ अधिक भिक्षा मांगने वाले फेरी लगाते हैं और उस फेरी लगाने वाले का परिश्रम नित्य २ दाताओं के चित्त में स्थान पाता जाता है जब उस के देने का समय आता है तब प्रायः दाता लोग भिक्षुक की सुपात्रता और अपनी योग्यता के अनुसार देते हैं। वैसे ही परमेश्वर भी प्रार्थी की सुपात्रता और प्रार्थना के परिश्रमानुसार उस को फल अवश्य देता है। कर्म से फल होता है जो जैसे कर्म करे परमेश्वर उस को वैसा ही फल देता है विना कर्म के किये कुछ भी सुख वा दुःख फल किसी को प्राप्त नहीं हो सकता इस के अनुसार विना अच्छे कर्म किये प्रार्थनामात्र से परमेश्वर अच्छा फल देगा? तो उत्तर यह है कि कर्म किये विना कुछ भी फल नहीं मिल सकता यह ठीक है परन्तु प्रार्थना भी एक कर्म है क्योंकि कायिक वाचिक मानस तीन प्रकार के कर्मों में प्रार्थना वाचिक कर्म है जब कर्मों का फल देता है तो प्रार्थना का भी यथोचित फल अवश्य देगा। प्रार्थना पर इतना इस लिये लिख दिया कि सन्ध्यादि कर्मों में अनेक प्रकार की प्रार्थना है और शुद्ध स्वरूप परमेश्वर से संस्काररूप धर्म के साधनों की चाहना बहुत ही उचित वा अनुकूल है जैसे प्रकाशस्वरूप दीपक से अन्धकार हटने और प्रकाश होने की आशा सिद्ध ही होती है वैसे ही शुद्धस्वरूप परमेश्वर से शुद्धि की प्राप्ति अति सुगम है॥

सन्ध्योपासन में शिखा बन्धन भी एक कर्माङ्ग है। सामान्य कर ब्राह्मणादि द्विजों के लिये और विशेष कर ब्राह्मण के लिये वेदादि शास्त्रों में तीन बन्धन वा ऋण नियत किये हैं उन बन्धनरूप ऋणों का चुका देना ही चतुर्थाश्रम में मुक्ति है। मनु जी ने भी षष्ठाध्याय में स्पष्ट कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्यमनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

तीन ऋण चुका कर ही मोक्ष में मन लगावे और ब्राह्मणग्रन्थों में भी स्पष्ट लिखा है कि—

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः ॥

अच्छा बुरा समझने योग्य समर्थ हुआ ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋण वा बन्धनों से ऋणी होता है अर्थात् जैसे किसी असमर्थ दुःखी को इस आशा पर ऋण दिया जाय कि जब यह कमाने योग्य होगा तब चुका देगा। जब वह समर्थ कमाने योग्य होता तब उस पर ऋण चुकाने का भार होता यदि समर्थ होकर न चुकावे तो जानो पापी वा अपराधी है वैसे उत्पन्न होने के समय से विद्या शिक्षा पाकर समर्थ होने समय तक जो पालन पोषण अध्यापन वा शिक्षण में उस के साथ ऋषि आदि नामक सत्पुरुषों ने परिश्रम किया उस का बदलारूप तीनों प्रकार के ऋण चुकाना है। जैसे कोई पुरुष रस्सी वा जंजीर से बंधा हो और भागना चाहे तो बिना बन्धन खोले भाग नहीं सकता वैसे ही तीन प्रकार के भीतरी बन्धनों को जब तक न छुड़ा ले तावत् कोई मुक्त नहीं होता यह सब शास्त्रों का एक ही सिद्धान्त है। उन भीतरी तीन ऋणरूप बन्धनों को भूले नहीं किन्तु तीन स्थानों में बाहरी तीन बन्धन वा गांठों को तब तक शरीर के साथ रक्खे जब तक बन्धनों से न छूटे वा तीनों ऋण अपने ठीक २ शास्त्रानुकूल धर्मानुष्ठान से न चुका देवे। इन में एक बन्धन शिखा है जिस में सन्ध्योपासनादि के समय नित्य ही गांठ देनी चाहिये और जैसे भूलने की शंका होने पर लोकव्यवहार में कपड़े में गांठ लगवादी जाती है कि "गांठबांधलो भूलना नहीं" वैसे ही ऋषि ऋण चुकाने सम्बन्धी ब्रह्मयज्ञ नामक कार्य के आरम्भ में शिखा में नित्य गांठ देते समय अपने पर ऋषि ऋणरूप भार का नित्य स्मरण करले कि मैं इस को न भूलूं वा छोडूं गा। इस को छोड़ने से ऋणी के तुल्य मैं पापी रहूं गा इस लिये अपना कर्त्तव्य (फ़र्ज़) समझकर करता रहूं। दूसरा बन्धन यज्ञोपवीत की ग्रन्थि है। वह नित्य सामने रहता है उस की गांठ को देखकर वा नवीन बनाते समय गांठ लगावे तब द्वितीय बन्धनरूप ऋण चुकाने का स्मरण करता रहे। तृतीय बन्धन मेखला (कन्धनी) की गांठ है जो लंगोट लगाने के लिये बांधी जाती और धोती के भीतर रहती है और इस तृतीय ऋण चुकाने की अवधि (हद्द) सन्तान उत्पन्न कर विद्या शिक्षा सम्पन्न समर्थ बनादेने तक है। मेखला की गांठ के स्मरण से सन्तानोत्पत्तिरूप ऋण चुकाने का बार २ स्मरण रखना चाहिये। इस प्रकार शिखाबन्धन कर्माङ्ग गायत्रीमन्त्र पढ़के करना

चाहिये। और परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह मेरी बुद्धि को ऋषि ऋण चुकाने में तत्पर रक्खे इस लिये मैं इस के तेजःस्वरूप का नित्य ध्यान करूं॥

सन्ध्योपासन में "मार्जन" एक कर्माङ्ग है। यद्यपि मार्जन शब्द मुख्यकर कूंचा वा झाड़ू का नाम है स्त्रीलिङ्ग में बुहारी को मार्जनी कहते हैं। "मृजूष् शुद्धौ" धातु से मार्जन वा मार्जनी शब्द बना है "मार्ष्टि अनेन तन्मार्जनम्" जिस से शुद्धि करें वह मार्जन है। मार्जन शब्द द्रव्य वाचक है किन्तु क्रिया वाचक नहीं। यहां सन्ध्योपासन में यदि इस को क्रिया वाचक लें तो मार्जन नामक द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाली शुद्धि हेतु क्रिया का गौण नाम होगा। कई दर्भ कुश लेकर उन की एक छोटी कूंची झाड़ू के समान बनानी चाहिये और बनाने की चाल भी है उस का नाम मार्जनी वा मार्जन है उस से किया जल सेचनरूप कर्म भी मार्जन होगा। और जैसे पृथिवी में जल सेचन का व्यवहार भी पृथिवी को शुद्ध करने के लिये है और प्रत्यक्ष में भी जल सेचन से पृथिवी की शुद्धि अनुभूत होती है पृथिवी से एक प्रकार का सुगन्ध निकलता और गर्मी शान्त होती है। सींचे हुए स्थान में जाने वा बैठने से चित्त प्रसन्न होता ग्लानि दूर होती है इस कारण पृथिवी का मार्जन भी पृथिवी का संस्कार है वैसे ही जल सेचनरूप मार्जन कर्माङ्ग से गर्मी और ग्लानि की शान्ति हो कर स्फूर्त्ति आती है। और इस मार्जनरूप जल सेचन के साथ परमेश्वर से प्रार्थना भी करनी चाहिये और उस के साथ ऊहित मन्त्रों का पाठ करने के लिये भी शास्त्रकारों की आज्ञा है। ऊहित मन्त्र वे कहाते हैं जिन में कोई मूल वा मुख्यपद वेद मन्त्रों से लियाजाय और उस के साथ उपयोगी अन्य पद मिलाकर वाक्य बना लिया हो वे एक २ वाक्य एक २ मन्त्र कहाते हैं जैसे "भूः पुनातु शिरसि" यहां भूः शब्द मूल वेद से लिया गया और शेष पद मिला के वाक्यरूप मन्त्र बना लिया गया। मन्त्रों को यथावसर ऊहा करने के लिये शास्त्रों में आज्ञा भी है। भू आदि नामक परमेश्वर हमारे शिर आदि अङ्गों को पवित्र अर्थात् शिर आदि के शुद्धकरने में हम पर वह ऐसी कृपा करे कि जिस से शिर आदि अङ्ग शुद्ध होकर उन से होने वाले काम निर्दोष होते रहें। जैसे "भुवः पुनातु नेत्रयोः" भुवर्नामक परमात्मा हमारे नेत्रों को पवित्र करे इस कथन से यह अभिप्राय न समझलेना कि आखों में जो कीचर आदि नामक मल लगा हो उस को परमेश्वर छुड़ा देवे क्योंकि सन्ध्योपासन के आरम्भ से पहिले ही हम को आज्ञा है कि शरीर की शुद्धि करो उस शरीर शुद्धि में नेत्रादि अङ्गों का धोना वा मल छुड़ाना भी स्वतः सिद्ध है और ऐसे तुच्छ वा साधारण काम में परमेश्वर से सहायता की प्रार्थना भी विशेष लाभकारिणी नहीं हो सकती। इसलिये "भुवर्नामक परमात्मा हमारे नेत्रों को पवित्र करे" इस प्रार्थना वाक्य का आशय यह है कि अधर्मदृष्टि से यदि हम किसी पदार्थ वा स्त्री आदि को देखें, क्रूरदृष्टि से देखें, जैसा कि अन्य

का देखना हम को अपने वा अपने किसी वस्तु के लिये अनुचित जान पड़ता है ऐसी दृष्टि नेत्रों का दोष वा अपवित्रता है उस को शुद्ध करने में परमेश्वर हमारी सहायता करे। हम यदि धर्मानुकूल सब के पदार्थों वा सब प्राणियों को देखें जैसा कि अन्यों का देखना हम अपने लिये अच्छा समझते हैं तो यही नेत्रों का पवित्र होना है और ऐसी पवित्रता होना साधारण काम नहीं है इस के लिये परमेश्वर से सहायता चाहना अति आवश्यक है अथवा मन और आत्मा की चेतन शक्ति सर्व शरीर में रहने वाली है उस को शुद्ध पवित्र करने के लिये प्रार्थना और उद्योग है यह भी आशय पूर्वकथन के अनुकूल ही है। आशा है कि मार्जन के संस्काराङ्गविषय पर इतना लिख देने से पाठकों को बोध हो जायगा कि मार्जन भी संस्कार का एक अङ्ग है।

और आचमन भी सन्ध्योपासन में एक कर्माङ्ग है। आचमन का विधान मनुस्मृति में भी लिखा है:—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥
अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥

भा०—मन्त्रद्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करके शुद्ध जल से पहिले तीन वार आचमन करे तदनन्तर जल से दो वार मुख धोडाले और हाथ में जल लेके सब इन्द्रियों का स्पर्श करे जिस में परमेश्वर से प्रार्थना भी करता जावे तथा वैसे अपनी नाभि और हृदय तथा शिर का भी स्पर्श करे इसी का नाम इन्द्रिय स्पर्श भी है। जिस जल में फेन काई वा गंदलापन दुर्गन्धि और किसी प्रकार की मलीनता न हो सूर्य के ताप से वा अन्य प्रकार गर्म न होगया हो ऐसे निर्मल जल से शुद्धि चाहने वाला धर्मज्ञ पुरुष पूर्व वा उत्तर को मुख करके सदा आचमन करे। अर्थात् सन्ध्या करने के लिये पूर्वाभिमुख वा उत्तराभिमुख बैठे। शुद्ध करने वाले वस्तुओं में पहिले जल भी गिना चुके हैं जिस वस्तु को जल से धोया वा सींचा जाय उस की यथोचित शुद्धि होती है यह प्रत्यक्ष भी सिद्ध है। इसी प्रकार आचमन द्वारा जो जल भीतर पेट में जाता है उस से कण्ठादि की कुछ शुद्धि होना स्वतः सिद्ध है। और इस के साथ में पवित्र स्वरूप परमेश्वर का स्मरण और शुद्धि की प्रार्थना भी हम को तत्काल ही कुछ २ सुख पहुंचाती है। जैसे अच्छे धर्मात्मा पुरुष के हृदय में लगते हुए उपदेश के प्रत्येक वाक्य से हृदय के मलीन संस्कारों को धक्का लगता वा शुभ संस्कारों का प्रवेश हृदय में होता जाता है इसी से हर्ष भी उत्पन्न होता जाता है तो उस का प्रत्यक्ष फल

(गत अङ्क से आगे त्रयीविद्या का व्याख्यान ॥)

रहा ब्राह्मण यज्ञसूत्र वा वेदाङ्गादि का आम्नाय होना सो गौण रीति से हो ही सकता है इसलिये विशेष कहना व्यर्थ है। पर यह अवश्य मानना होगा कि वेद का नाम योगरूढ़ आम्नाय है और ब्राह्मणादि के मूल वेदार्थ के जानने में उपयोगी होने से यौगिकार्थ लेकर वे भी आम्नाय कहाते हैं। जब बार २ पढ़ना वा नित्य नियम से पाठ करना मुख्य अभ्यास वा आम्नाय कहाता है और नित्य नियम से वेदपाठ का ही नाम स्वाध्याय वा ब्रह्मयज्ञ है जिस के लिये धर्मशास्त्रादि में अनेक प्रकार से विधान है। तो इतने ही अर्थ से आम्नायपद मुख्यकर मन्त्रसंहितारूप वेद का वाचक ठहर जाता है॥

यद्यपि इस प्रयोजन के लिये अन्य अवान्तर प्रलयादि का प्रकरण उठाने की आवश्यकता नहीं तो भी सामश्रमी जी ने परिश्रम किया है। इस कारण हमें भी इस विषय में कुछ लिखने पड़ा। प्रलयशब्द का यद्यपि सामान्यार्थ सब देश वा कालों में विद्यमान रहता है अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय सदा वा प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। क्योंकि नामरूप भेद से पदार्थों का बनना उत्पत्ति और उन का नाश वा मरण प्रलय कहाता है इसीलिये किसी प्रकार की विशेष हानि होने पर लोक में कहते हैं कि "प्रलय होगया" तथापि जैसे सर्वत्र प्रधान मुख्य और गौण के प्रसंग में प्रधान का ही ग्रहण वा व्यवहार होता है वैसे यहां भी प्रलय शब्द मुख्य वा विशेष (खास) अर्थ का वाचक समझना चाहिये। और मुख्य प्रलय तीन प्रकार का है। १—महाप्रलय। २—ब्राह्मकल्पसम्बन्धी प्रलय। ३—अवान्तर, मन्वन्तर वा युगान्तर का प्रलय। इन में महाप्रलय वह है जिस में महत्तत्त्व पर्य्यन्त सूक्ष्म कार्यों का भी प्रलय होजाता है उस समय सूक्ष्मभूतों के अणु भी नहीं रहते किन्तु अणु से भी अतिसूक्ष्मावस्था प्रकृतिमात्र रह जाती है। इसी महाप्रलय के वर्णन में वेद में लिखा है कि—"तदानीं नासीन्नो नो व्योमापरो यत्" उस महाप्रलय के समय आकाश अणु और द्व्यणुकादि भी नहीं थे। द्वितीय ब्राह्मकल्पसम्बन्धी प्रलय में पञ्चतन्मात्र सूक्ष्मभूत भी बने रहते हैं किन्तु सब प्राणीमात्र और पृथिव्यादि स्थूल भूतपर्यन्त का लय हो जाता है। और तृतीय अवान्तर प्रलयों में विशेष योगी, ऋषि, महर्षि, तपस्वी लोग अपने तप के प्रभाव से बने रहते और पृथिव्यादि स्थूलभूतों का भी नाश नहीं होता केवल सर्वसाधारण मनुष्यादि प्राणियों का नाश होता है। यहां सामश्रमी जी के लेखानुसार प्रतीत होता है कि अवान्तर प्रलयों में वेद का आम्नान अभ्यास वा पठनपाठन सर्वथा बन्द होजाता और प्रलय से बचे तपस्वी लोग समाधि आदि किसी दशा में रहते हैं परन्तु हम कहते हैं कि वेद का पठन पाठन अवान्तर प्रलयों में सर्वथा निवृत्त नहीं होता किन्तु कम होजाता है जो तपस्वी लोग

प्रलय से बच जाते हैं वे लोग वेदाभ्यास को भी लय मान कर अभ्यास करते रहते हैं। गोतमीय न्याय के भाष्यकार वात्स्यायन महर्षि ने—अ० २ आह्निक १ सूत्र ६७ पर लिखा है कि:—

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वमाप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् ॥

भा०—पीछे हो चुके वा आगे आने वाले मन्वन्तर युगान्तरों में गुरुशिष्य सम्प्रदाय द्वारा वेद के अभ्यास का विच्छेद न होना ही नित्यत्व है और आप्त लोगों ने शिरोधार्य वेद का प्रमाण सर्गारम्भ से माना, इस से प्रमाण मान्य है। (यहां वात्स्यायन का तात्पर्य वेदशब्दों के नित्यत्व से है वेदज्ञान से नहीं क्योंकि वेदज्ञान तो गुरुशिष्य परम्परा न रहते भी परमात्मा में रहने से सर्वथा नित्य है) इस से स्पष्ट सिद्ध है कि मन्वन्तर युगान्तरों के अवान्तरप्रलयों में वेद का आम्नान बना रहता है किन्तु ब्राह्मकल्प के अन्त में वेदाभ्यास का विच्छेद होता और प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर मनुष्यों के द्वारा वेद का प्रचार कर देता है। सम्भव है कि लिपिक्रियासहित पुस्तकों द्वारा वेद का प्रचार ब्राह्मकल्प भर बराबर न रहे और बीच२ कण्ठस्थ पठनपाठन होता रहे तो इस से हमारे मन्तव्य में कुछ बाधा नहीं पड़ती ॥

अब एक बात यह भी विचारणीय है कि वेद की अनेक शाखा किस कारण हुईं? सामश्रमी जी का कथन है कि "अवान्तर प्रलय के पश्चात् जब फिर से वेद का पठन पाठन चला तो ऋषि लोगों ने अपने २ स्मरण के अनुसार मन्त्रों का पठन पाठन चलाया उन के स्मरण के भेद से पाठ का न्यूनाधिक होना पाठान्तर होना वा पदवाक्यादि के क्रम का लौट पौट होना इत्यादि अब के तुल्य स्वाभाविक वा सम्भव ही था इस कारण वेद की अनेक शाखा होगयीं" हमारी सम्मति है कि वेद की शाखा होने में यही कारण हो वा कुछ अन्य भी हो इस का आन्दोलन करना विशेष उपयोगी नहीं इस प्रसंग में केवल इतना वक्तव्य है कि सामश्रमी जी के आशयानुसार वेद की सब शाखा ही हैं और शाखाओं के समुदाय का नाम वेद मानना सिद्ध होता है सो ठीक नहीं क्योंकि शाखा समुदायमात्र का नाम वृक्ष नहीं है मूलवृक्ष शाखाओं से भिन्न होता है वैसे ही मूलवेद से शाखा किसी प्रकार उत्पन्न हुई हों पर मूल को भिन्न ही मानना चाहिये। और इस समय जो शाखा ग्रन्थ विद्यमान हैं उन के आदि अन्त वा शीर्षक (हेडिंग) में लिखा है कि यजुर्वेदीय काण्वशाखा, सामवेदीय तलवकारशाखा, इत्यादि पर मूल वेदों में लिखा है "ऋग्वेदः" "यजुर्वेदः" इत्यादि जिस से स्पष्ट सिद्ध है कि मूलवेद की गणना शाखाओं में नहीं। मूलवेद के ठीक शुद्ध निर्भ्रान्त रहने पर उन में कहीं पाठान्तर भी मिले तो विशेष कारणों से निर्णय हो सकता

है इस दशा में शाखाओं का होना बाधक नहीं । वास्तव में शाखा व्याख्यान का नाम हो सकता है जो मूल के भीतरी आशयांशों का विस्ताररूप हो जैसे वृक्षादि के मूल में से शाखा निकलती हैं ॥

(सत्यव्र०) (त्रयी) अमरसिंहोक्तेषु वेदनामसु त्रयीत्येवाव-शिष्टमालोचयितुम् । तदप्यालोच्यते यथाज्ञानम्- अस्ति हि काचि-द्रचना पद्यं नाम सैव पुरा ऋगिति श्रुता, अस्ति काचिद्रचना गद्यं नाम सैव पुरा यजुरिति श्रुता, अस्ति काचिद्रचना गानं नाम सैव पुरा सामेति श्रुता । यतोहि गद्यपद्यगानातिरिक्तो नास्ति रचनाप्रकारः, अतएव ऋक्संहितासु, यजुःसंहितासु, सामसंहितासु, अथर्वसं-हितासु वा ऋग्यजुःसामभ्योऽन्यो नैव दृश्यते कोऽपि वेदमन्त्रः । गद्यपद्यगानातिरिक्ता रचना कदापि नासीत्, इदानीमपि नाव-लोक्यते लोके, तत्कथं नाम ऋग्यजुःसामलक्षणातिरिक्ताऽपि म-न्त्ररचना भवेद्वैदिकीति । तदाह भगवान् जैमिनिः-"तेषामृग्य-त्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुःशब्दः (मी० द० २ । १ । ३२ । ३३ । ३४)„ । इति तदेतन्न्याय-विस्तरे स्पष्टीकृतं च माधवेन, द्रष्टव्यं तत्त्रैव । एवं च त्रयी नाम-त्रिविधरचनामयी आप्तवाणी, सैव वेदः, सैव आम्नायः, सैव श्रुति-रित्यादि ॥

यद्यपि मन्त्राणामेव रचनानियमाधीनमेतत्त्रयीनाम, अतो मन्त्रभागस्यैव त्रयीत्वमङ्गीकर्त्तव्यम् । नतु ब्राह्मणभागस्येति वक्तुं युज्यते । "अहे बुध्नीय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि (तै० ब्रा० १ । २ । २६)„ इति श्रु-तिश्चात्र साधिकैव । अत्र हि "त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः, ते च यं मन्त्रभागमृगादि-रूपेण त्रिविधमाहुः, तं गोपायेति योजना„ इत्यधिकरणमाला-कारो माधवश्चोक्तवान् तथैव । तथापि मन्त्रभागानुगतब्राह्मणग्र-न्थानामपि त्रयीत्वं व्यावहारिकमिदानीं मन्तव्यमेव, संज्ञायाः

खलु व्यवहाराधीनत्वात् । परं यथोक्तं पुरस्तान्मन्त्रभागस्यैव वेदत्वं, श्रुतित्वं, समाम्नायत्वं च मुख्यम् । ब्राह्मणभागस्य त्वप्रधानमिति बोध्यं तथैवात्रापीति ॥

भाषार्थः—अमरकोष में कहे वेद के नामों में त्रयीशब्द का विचार शेष रहा यथाबुद्धि उस की भी समालोचना की जाती है । मन्त्रों की रचना तीन प्रकार की होना ही त्रयी का कारण है । १—छन्द वा श्लोकबद्ध रचना पद्य नाम ऋक्, २—पद वा अक्षरसंख्या का नियम जिस में नहीं ऐसी गद्य रचना यजुः, ३—गीत वा गानरूप रचना साम, पहिले सुनी गयी वा मानी गयी क्योंकि पद्य, गद्य, और गान से भिन्न अन्य कोई रचना का प्रकार न था न है इसी कारण ऋक् यजुः साम और अथर्व की सब संहिताओं में तीन प्रकार की रचना से भिन्न कोई मन्त्र नहीं दीखता। और लोक में भी गद्य पद्य गान से भिन्न कोई रचना का प्रकार न कभी था न अब दीखता है तो ऋक् यजुः सामरूप रचना से भिन्न वेद मन्त्रों की अन्य रचना कैसे हो सकती है ? । सो पूर्व मीमांसाकार भगवान् जैमिनिऋषि ने भी कहा है कि "जहां अर्थ के आधीन पादव्यवस्था होवे ऋक्, गाये जाने वाले मन्त्र साम, और शेष भाग यजुः मानना चाहिये" सो मीमांसा न्याय के विस्तर में माधवाचार्य ने स्पष्ट व्याख्यान भी किया है उस को वहीं देखो । इस प्रकार त्रयी नाम तीन प्रकार की रचनारूप आप्तवाणी ही वेद आम्नाय वा श्रुतिपदवाच्य है ॥

यद्यपि तीन प्रकार की रचना के नियमानुसार त्रयी नाम मन्त्रभाग का ही मन्तव्य है किन्तु ब्राह्मणभाग का नहीं ऐसा कह सकते हैं । और अधिकरणमालाकार माधवाचार्य ने कहा है कि "तीन वेद के जानने वाले ऋषि लोगों ने जिस मन्त्रभाग को ऋगादिरूप से तीन प्रकार (ऋग्यजुः सामरूप) कहा वा माना है उस की रक्षा तुम करो" तथापि मन्त्रभाग के अनुकूल चलने वाले सब ब्राह्मणग्रन्थों का भी त्रयी होना व्यवहारानुसार मन्तव्य ही है क्योंकि प्रत्येक संज्ञा व्यवहार के आधीन है। परन्तु पहिले कहे अनुसार मुख्य कर मन्त्रभाग का ही वेद, श्रुति, और समाम्नाय नाम है और ब्राह्मणभाग के वेदादि नाम गौण हैं इसी प्रकार मुख्य कर मन्त्रभाग का नाम त्रयी और ब्राह्मण का गौण नाम है ॥

सम्पादकीय विचार—यद्यपि ऊपर लिखे वेद के तीन भेद प्रधान हैं इस कारण वेदत्रयी वा त्रयी आदि शब्दों से प्रधान तीन भेद दिखा कर चारो वेद का ग्रहण होना सिद्ध किया गया उस के हम सर्वथा प्रतिवादी नहीं हैं कि वेद के तीन भेद प्रधान नहीं तथापि रचना के तीन भेद मानने में हमारी सम्मति नहीं क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से अद्यावधि रचना के गद्यपद्य दो ही भेद प्रधान दीखते हैं । लोक में वा वेद में गद्यपद्यरूप दो ही प्रकार सर्वसम्मत प्रधान

हैं। यदि कोई पद्य वा गद्य के अवान्तर भेद गान को सामान्य रचना का भेद ठहराना चाहे तो घट के भेदों को मट्टी के भेद वा रुई के भेदों को कपास के भेद मानने के तुल्य ही दोष होगा। और रचना का भेद जो पद्य है उस के अवान्तर भेदों को भी रचना का ही भेद मानें तो गायत्र्यादि छन्द जो पद्य के भेद हैं उन को रचना का भेद न मानने में कोई हेतु नहीं है। यदि वे भी रचना के भेद मान लिये जांय तो तीन ही प्रकार की रचना नहीं रह सकती इसलिये रचना के तीन भेद कहना वा रचना तीन ही प्रकार की मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। इस से सिद्ध हुआ कि रचना दो ही प्रकार की है तो तीन प्रकार की रचना के कारण से वेदत्रयी मानी गयी यह भी ठीक नहीं ठहर सकेगा॥

इस दशा में मानना चाहिये कि वेद सामान्य कर एक है वा विद्या एक है उस की पदवाक्यरूप रचना के प्रधान दो भेद हैं एक पद्य दूसरा गद्य। फिर उस वेद के प्रधान तीन भेद हैं ऋक्, यजुः, साम, वेद के तीन ही भेद मुख्य क्यों माने गये ? तो उत्तर होगा कि सर्वत्र तीन ही संख्या प्रधान ठहरती है। वेद वा विद्या की तीन संख्या को मूल मान कर अनादि काल से सृष्टिप्रवाह में तीन संख्या सब से अधिक प्रधान ठहरायी है। उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप परमेश्वर के तीन ही काम प्रधान हैं। उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन, गुण तीन, काल तीन, द्विजवर्ण तीन, लोक तीन, ओम् की मात्रा तीन, महाव्याहृति तीन, गायत्री के पाद तीन, कर्म, उपासना, ज्ञान तीन ही वेद के प्रधान विषय हैं। अवस्था तीन ही हैं विद्या के तीन ही भेद प्रधान हैं। जैसे उत्पत्ति स्थिति प्रलय संसार की तीन दशा हैं सब संसार तीन ही दशाओं में सदा रहता है। जैसे बाल्य, यौवन, वृद्धत्व मनुष्य की तीन अवस्था हैं सब शरीरधारी तीन ही दशा में रहते हैं। जैसे गुरुमुख से पढ़ना, विचारना, शोधना वा अनुभव करके देखना और उस दशा में पढ़ाना वा उपदेशादि द्वारा प्रचार करना, जैसे विद्याध्ययन की तीन ही दशा प्रधान हैं वैसे ही एक वेद की तीन ही मुख्य दशा बन सकती हैं उन में पहिली दशा ऋक्नाम स्तुति पदार्थों के गुण शब्दार्थ द्वारा कीर्त्तन करना वा जानना। द्वितीय यजु नाम यज्ञ करना अर्थात् पूजा सेवन उपासना जिन को पहिली दशा में शब्दार्थ द्वारा जाना उन कर्त्तव्यों को साक्षात् करके देखना अनुभव (तजर्बा) करना और तृतीय सामनाम शान्ति समाधान समाधि वा ज्ञान की व्याप्ति वा बुद्धि की अधिक तीव्रता होना। इन में पहिली दशा को विशेष कर वा प्रधानता से जताने वाला ऋग्वेद, द्वितीय उपासनारूप दशा का विशेष व्याख्यान करने वाला यजुर्वेद, तृतीय ज्ञान वा शान्ति का विशेष साधन सामवेद है। वाणी से पद्य का अच्छा उच्चारण होता है इस कारण वाणी से विशेष सम्बन्ध रखने वाली स्तुति पद्यरचना से ऋग्वेद में वर्णन कीगयी, मन से गद्यद्वारा अनुभव वा उपासना ठीक बन सकता है इस कारण मन से विशेष सम्बन्ध रखने वाली

उपासना गद्यरचना से यजुर्वेद में मुख्य कर दिखायी है, और प्राण से गानद्वारा ज्ञान वा शान्ति सुख अच्छा मिलता है इसलिये प्राण से विशेष सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान गान से सामवेद में वर्णन किया गया। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान हृदय में उत्तेजित करना हो उस को समझपूर्वक गावे तो ज्ञान की वृद्धि अवश्य होती है। जैसे विषयवासनासम्बन्धी निकृष्ट गान विषयानन्दियों का सहायक अवश्य होता है वैसे परमेश्वर आदि परमार्थसम्बन्धी विषयों का वेदद्वारा समझपूर्वक हुआ गान भी परमार्थ ज्ञान का सहायक अवश्य होगा। इसलिये ज्ञानसम्बन्धिनी गानविद्या का नाम सामवेद है। अर्थात् वेद के तीन भेद उक्त कारणों से सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ने ही नियत किये वा यों कहो कि विद्या के तीन भेद किये विद्या मुख्य तीन ही प्रकार की हो सकती है उन में रचना पद्य गद्यरूप दो प्रकार की रक्खी और गानविद्या भी एक पद्य का भेद माना गया। उस तीन प्रकार की विद्या के चार पुस्तक वा ग्रन्थ नियत किये उन चारों में तीन ही विद्या प्रधान रहीं इस कारण तीन विद्याओं के वाचक जहां वेद का ग्रहण करना इष्ट हुआ वहां तीन वेद वा वेदत्रयी वा ऋक्, यजुः, साम तीन शब्दों द्वारा चारोंवेद की तीन ही विद्या मानकर वेदमात्र का ग्रहण करना जताया गया। और जहां तीन से मिलकर बनी चौथी विद्या वा चौथे वेद को पृथक् करके लेना अभीष्ट हुआ वहां आर्षग्रन्थों वा वेदों में चारोंवेद का नाम लिया गया। तात्पर्य यह हुआ कि जिन २ ग्रन्थों में तीन वेद लिखे हैं वहां विद्या के वा वेद के तीन प्रधानांश जताने से प्रयोजन है और उन तीन प्रधान अंशों में चौथा वेद भी अन्तर्गत है इसलिये तीन के ग्रहण में चारों का समन्वय समझना चाहिये। इसलिये यह दोष जो अनेक लोग आरोपित करना चाहते हैं कि तीन वेद पहिले बने और एक पीछे बना निवृत्त हो जाता है। और पाठक महाशयों को यह भी ध्यान रहे कि अन्य अनेक पदार्थों की तीन संख्या की प्रधानता के साथ जो वेद वा विद्या के तीन ही भाग वा दशाओं की प्रधानता दिखाई इस से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अनेक पदार्थ लोक में तीन२ माने जाते हैं इस कारण वेद भी तीन ही मानने चाहिये अर्थात् अन्य वस्तुओं के तीन २ होने को हम वेद के तीन होने में कारण नहीं ठहराते किन्तु हमारा आशय यह है कि परमेश्वर ने उत्पत्ति स्थिति प्रलय तीन काम अपने लिये नियत किये, वेदों के साररूप ओ३म्शब्द में तीन अक्षर संयुक्त किये, तीन महाव्याहृति नियत कीं और इन्हीं के अनुसार वेद वा विद्या के तीनभाग ऋक् यजुः साम नाम से प्रधान किये इत्यादि ईश्वरीय रचनाक्रम के अनुसार वेद का आशय लेकर अन्य भी पदार्थ प्रधानता से तीन भागों में ही विद्वानों ने भी विभक्त किये सो यह विचार युक्ति और प्रमाण दोनों के अनुकूल है। अथवा वेदों के तीन ही प्रधानभाग होने से अन्य विषयों वा पदार्थों के तीन ही प्रधानभाग

हुए वा माने गये अर्थात् ओम्, व्याहृति और वेद के खण्डों का तीन होना अन्य सब गणादि के तीन होने का हेतु वा कारण हुआ। यह भी ध्यान रहे कि जहां सामान्य वेदशब्द तीन संख्या सहित आवें वा ऋक् यजुः साम तीन शब्द विशेष आवें वहां वेद वा ऋगादिशब्द तीन प्रकार की विद्या के वाचक समझने चाहिये और जहां वेदों की चारसंख्या कही वा मानी जाय वहां पुस्तक वा ग्रन्थ मानने चाहिये और चार वेद कहने में विद्या भी चार ही प्रकार की मानी जायगी परन्तु तीन कहने में विद्या तीन प्रकार की और पुस्तक चार माने जायंगे। चौथी विद्या पहिली तीन से भिन्न तो इससे नहीं कि उन्हीं तीन के मेल से बनी है और भिन्न इस लिये है कि तीन में से किसी एक में चौथी अन्तर्गत नहीं है। तीन की प्रधान विवक्षा में तीन प्रधान हैं और जहां चारो की प्रधानता विवक्षित हो वहां चारो प्रधान हैं॥

(सत्यव्र०) इह केचिदन्यथैवाहुरन्यदेशीयाः। तद्यथा-पुरा किल यदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रयएव वेदा आसन् नासीदथर्ववेदः, तदैव वेदस्य त्रयीत्याख्या प्रचलितेति। अतएव प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु त्रयीति वेदस्योल्लेखो दृश्यते, नातिप्राचीनेषु यथा च छान्दोग्यब्राह्मणे-"अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् (६।१७) इत्यादि एवं मनुसंहितायामपि-"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् (१।२३)" इति। छान्दोग्यादिभ्योऽर्वाचीना ये ग्रन्थास्तेषु तु वेदस्य चतुष्ट्वमेव न त्रयीत्वम्। तदानीमथर्ववेदोऽपि सम्भूतइत्येव तथात्वे बीजम्। तथाहि बृहदारण्यके-"अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वःसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (४।४।१०)" इत्यादि। किं च महाभारतेऽपि-"एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥ चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते (१ प० २६८।२६९)" इति। पुनस्तत्रैव "यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ (१ प० ३६८ श्लो०)"

इति। एवं च ऋग्यजुःसाम-इत्येव त्रयो वेदास्त्रयीशब्दवाच्याः, अथर्ववेदस्तु न त्रयीशब्दस्य शक्त्या बुध्यते, अपि तु गौण्येति। तथा च ऋगादयस्त्रयएव प्राचीनतमाः, अथर्ववेदस्तु तदपेक्षयाऽर्वाचीनएवेति फलितं वेदतत्त्वान्वेषिणां तेषां मनोरथद्रुमेणेति ॥

भा०—इस तीन वेद मानने के विषय में यूरोपादि अन्य देशवासियों ने अन्यथा ही कहा है। जैसे—वे लोग कहते हैं कि पहिले जब ऋक् यजुः साम तीन ही वेद बने थे किन्तु अथर्व नहीं बना था तभी वेद का त्रयी नाम पड़ा। इसी कारण अतिप्राचीन ग्रन्थों में वेद का त्रयी शब्द से लेख दीखता है किन्तु कम प्राचीन ग्रन्थों में नहीं। जैसे छान्दोग्य ब्राह्मण में लिखा है कि "अग्नि से ऋक् वायु से यजुः और आदित्य से सामवेद हुआ, और उस ने इस त्रयीविद्या को अभितप्त आलोडित किया" इत्यादि। इसी प्रकार मनुसंहिता में भी लिखा है कि "यज्ञसिद्धि के लिये ब्रह्मा ने अग्नि वायु और सूर्य से ऋग्यजुः साम तीन सनातन वेदों को प्राप्त किया" और छान्दोग्यादि से पीछे बने ग्रन्थों में वेद के चारों नाम पाये जाते हैं केवल तीन के नहीं क्योंकि उस समय अथर्व वेद भी बनगया था यही वैसा होने में कारण है वैसा ही बृहदारण्यकोपनिषद् में भी लिखा है कि--" अरे! मैत्रेयि! ऋक् यजुः साम अथर्व ये चारो वेद इस सनातन महान् परमेश्वर से श्वास के तुल्य निकले हैं" तथा महाभारत में भी लिखा है कि " पहिले समय में सब देवता लोगों ने मिलकर तराजू के एक पल्ले में चारों वेदों को और एक में भारतपुस्तक को रक्खा। ब्राह्मणोपनिषदादि सहित चारो वेदों से भी जब भारत बोझ में अधिक हुआ तभी से लेकर लोक में यह महाभारत कहा गया।" फिर उसी महाभारत में और लिखा है कि " जो पुरुष अङ्गों वा उपनिषदों सहित चारों वेदों को जाने और इस महाभारत इतिहास को न जाने वह विचक्षण—चतुर न होगा।" इस प्रकार ऋक् यजुः साम ये ही तीनो वेद त्रयीशब्द के वाच्यार्थ हैं किन्तु त्रयीशब्द के कहने से अथर्ववेद का बोध नहीं होसकता और गौण रीति से त्रयी करके अथर्व लिया जासकता है। इस कारण ऋगादि तीन ही वेद अति प्राचीन हैं और उन तीन की अपेक्षा अथर्ववेद आधुनिक ही है यह उन वेद तत्त्वान्वेषी लोगों के मन गढ़े सिद्धान्त का सार वा फलितार्थ है ॥

नैतन्मतमस्मन्मनोहरम्, नापि विचारसहम्, निर्मूलत्वादेकदेशदर्शित्वदोषग्राहग्रस्तत्वाच्च। तथाहि न क्वापि वेदे लोके वा तादृशमतस्य किञ्चिदपि मूलं कथमपि दृश्यतेऽनुमातुं वा

शक्यते । त्रयीतिनाम्नो वेदस्य व्यवहारएवात्र निदानमिति चेत्, अस्मदुक्तत्रयीनामकरणमेव तत्संहारकतया सदैव जागर्त्ति । सत्स्वपि हि चतुर्षु वेदेषु रचनात्रयभेदनिबन्धनं तेषु त्रयीत्वमव्याहतमेव । अतएव सामवेदे ऋचां यजुषां च पाठा विद्यन्तएव, एवं यजुर्वेदेऽपि ऋचां पाठा उपलभ्यन्तएव, कथमसाङ्कर्य्यं सामादिलक्षणानामित्याशङ्क्य सिद्धान्तितं माधवाचार्य्येण,—अस्तु सामादिनामतः सम्प्रति प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु यजुरादीनां साङ्कर्यम्, परं न हि तेन सामादिलक्षणानां साङ्कर्यं सम्पद्यते । ऋगादिलक्षणानि तु सर्वथा अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषशून्यान्येवेति—इदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धिविरुद्धा एव ऋगादयः शास्त्रसम्मताइति । तथाहि—“नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते । पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्यसंकरः ॥ * * * । तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणंनास्ति । कुतः ? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । 'अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्रः' —इति हि लक्षणं वक्तव्यं, तच्च संकीर्णम् । “देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिः—” इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः, न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति, तद्ब्राह्मणे सावित्र्यर्च्येत्यृक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । 'एतत्साम गायन्नास्ते, इति प्रतिज्ञाय किञ्चित्साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम् (तै० स० १ । ६ । ५ । १) । अक्षितमसि । अच्युतमसि । प्राणसंशितमसि । इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि (छा० ब्रा० ३ । १७) तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेन्न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात् । 'पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः” गीतिरूपा मन्त्राः सामानि' 'वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि' इत्युक्ते न क्वापि संकरः (अधि० मा० २ । १ । ५०)” इति ॥

भा०—यह विदेशियों का मन्तव्य निर्मूल होने और एकदेशदर्शिता के दोष से युक्त होने से हम को मनोहर नहीं लगता और न हम ऐसे अयुक्त विचार को सहन कर सकते हैं। क्योंकि वेद वा लोक में वैसे मन्तव्य का मूल किसी प्रकार कुछ भी कहीं नहीं दीखता या न अनुमान किया जासकता है। यदि वे कहें कि त्रयी नाम से वेद का व्यवहार ही इस का मूल है तो हमारा पूर्वोक्त त्रयी पद का व्याख्यान उस निर्मूल मन्तव्य के खण्डनरूप से सदा ही जागता है क्योंकि वेदों के चार होने पर भी रचना के तीन भेदों का नियत होना उन चारों में अविरुद्ध ही है। इसी से सामवेद में ऋचाओं और यजुओं के पाठ विद्यमान हैं तथा यजुर्वेद में भी ऋचाओं के पाठ मिलते ही हैं। इस दशा में यह शङ्का हो सकती है कि साम आदि के लक्षणों में संकरता दोष आवेगा अर्थात् सब में सब के लक्षण घटें तो कोई भी वेद शुद्ध एक लक्षण वाला नहीं रहा ऐसा संदेह उठा के माधवाचार्य ने यह सिद्धान्त किया है कि वर्तमान में सामादि नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में यजु आदि के लक्षणों का मेल भले ही रहो। पर उस से साम आदि लक्षणों की संकरता सिद्ध नहीं होती किन्तु ऋक् आदि के लक्षण तो सर्वथा अव्याप्ति [गानमात्र साम न ठहरे] अतिव्याप्ति [जिस गान रहित ऋक् वा यजु को साम नहीं ठहराना चाहते वह भी साम हो जावे] दोषों से शून्य ही हैं। इस समय के पठन पाठन वाले भिन्न २ पुस्तकों का नाम ऋक् यजुः साम मानते हैं उस से विरुद्ध यजु आदि के किसी पुस्तक में हों पादबद्ध मन्त्र ऋक्, गद्यरूप मन्त्र यजुः, और गानमात्र साम मानना ही वास्तव में सर्वशास्त्र सम्मत सिद्धान्त है। माधवाचार्य के अधिकरणमाला नामक पुस्तक में किये सिद्धान्त का सारांश यह "ऋक् साम यजु के लक्षणों का मेल हो जाने की शङ्का ठीक नहीं क्योंकि पाद, गान और गद्यरूप से भिन्न २ तीनों हैं। जब तीन प्रकार के ऋक् यजु साम का लक्षण व्यवस्थित नहीं कि ऋग्वेद नामक पुस्तक में सब ऋचा हों हों वा यजु में सब मन्त्र गद्य ही हों सब में सब का होना अनिवार्य है और अध्यापकप्रसिद्ध ऋग्वेदादि पुस्तकों से पढ़ा मन्त्र ऋक् आदि नामक माना जाय सो सब संकर है जैसे "देवो वः०" यह मन्त्र यजुर्वेद कर के प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ा है पर वह यजु नहीं है क्योंकि यजु के शतपथब्राह्मण में सावित्री ऋचा से उस मन्त्र का नाम लेकर व्यवहार किया है। तथा यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में सामवेद दिखाया प्रसिद्ध है। तथा सामवेद में "अक्षितमसि०" इत्यादि तीन यजु पढ़े हैं और गाये जाने वाले साम की आश्रयरूप ऋचा सामवेद में कही हैं इस से लक्षण को विरुद्ध मानना ठीक नहीं क्योंकि पादव्यवस्थासहित अर्थ युक्त छन्दोबद्ध-मन्त्र कहीं हों सब ऋक्, सर्वत्र गानरूप मन्त्र साम तथा छन्द वा गान दोनों से रहित मिला कर गद्यरूप से पढ़े मन्त्र सर्वत्र यजु हैं। ऐसे लक्षण मानने में कहीं संकरता दोष नहीं है॥

एवं चेदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धितो वेदनामग्रहो मुग्धकर एव । वस्तुतो यत्र क्वच ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य पादबन्धेनार्थोपेतत्वं वृत्तबद्धत्वं च दृश्यते सोऽवश्यमेव ऋङ्मन्त्रः। एवं यत्र क्व च ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य गीत्यात्मकत्वं दृश्यते सोऽवश्यं साममन्त्रः। तथैव यत्र क्वच ग्रन्थे अग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य यजुष्ट्वं दृश्यते सोऽवश्यमेव यजुर्मन्त्रः। एतदेवाङ्गीकृत्य स्मृतं बह्वृक्प्रातिशाख्यव्याख्याने विष्णुमित्रेण— "तथाचोक्तम्—यः कश्चित्पादवान्मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसम्पदा। स्वरयुक्तोऽवसाने च तामृचं परिजानते—इति" इत्यादि। अतएव चात्रैव निरुक्ते ऋगिति प्रदर्शितं शतपथब्राह्मणीयवचनम्। "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" इति। नह्येतद्वचनमस्ति क्वचिदपि ऋक्संहितायाम्। प्रत्युतास्त्येव शतपथब्राह्मणे (१४।९।४।२६) यदि नाम ऋक्संहितावचनानामेव ऋक्त्वमाचार्यसम्मतं स्यात्, तर्हि कथमुच्येतात्र भगवता यास्केन "तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् (२भा०२५९पृ०)" इत्यादि। इह तु ऋगिति शतपथीयवचनम्, श्लोकइति तदानीं प्रचलितायां मनुसंहिताया वचनं च प्रदर्शितम्। तदेवमेवैपाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति यत्र क्व च वेदे स्यादृग्लक्षणो मन्त्रः, भवत्येव ग्रहणं तस्य ऋगिति,एवं यजुरपीति। एवं च ग्रन्थानां कालकृतबहुत्वेऽपि वेदस्य त्रैविध्यं तदनु त्रयीत्वं च यथा पुरा तथाऽद्यापि सुस्थितमित्यथर्ववेदोऽपि नास्माद्भिन्नः, तस्यापि ऋग्यजुर्मयत्वात्। अपि च यथा सामबहुले सामवेदइति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचामृक्त्वं यजुषां यजुष्ट्वमुररीकार्यमेव, न च तत्स्वीकारात्तस्य सामवेदत्वं विहन्यते। तथैवाथर्वकृत्याबहुले अथर्ववेदइति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचामृक्त्वं यजुषां च यजुष्ट्वं कथं न स्वीकार्यम्? तथा स्वीकृते

च तस्याथर्ववेदत्वं कथं वा विहन्येत ? एवं हि अस्त्वथर्ववेदस्य स्वातन्त्र्यम्, तदीयमन्त्राणां केषांचिदृक्त्वं केषांचिच्च यजुष्ट्वं न केनापि कदापि कथमपि वारितुं * शक्यते। तत्सिद्धमेतत्-वेदानां ग्रन्थभेदकृतचतुष्ट्वेऽपि रचनाभेदकृतत्रयीत्वे न कोऽप्यस्ति संशयः। अतएवैवमुक्तं दृश्यते सर्वानुक्रमणीवृत्तौ—"विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते। ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥ अहे बुध्नीयमन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते। ऋक्पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मन्त्रः। चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते" इति ॥

भा०—इस प्रकार इस समय के पठनपाठन वालों की प्रसिद्धि से ऋक् आदि नामों से एक २ वेद पुस्तक का ग्रहण करना अज्ञान का कारण ही है। वास्तव में जहां कहीं ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र की प्रत्येक पाद में वाक्यार्थ की समाप्ति और छन्दबद्ध रचना दीखती है वह अवश्य ही ऋक् मन्त्र है। ऐसे ही जहां कहीं ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र का गानरूप होना दीख पड़ता है वह अवश्य ही साम मन्त्र है। तथा जिस किसी ग्रन्थ वा अग्रन्थ में जिस किसी मन्त्र का गद्य यजु होना दीखता है वह अवश्य ही यजु मन्त्र है। ऐसा मान कर ही बहृक् प्रातिशाख्य के व्याख्यान में विष्णुमित्र ने कहा है कि "अक्षरों के यथोचित संनिवेश सहित पाद वाला अवसान में स्वरयुक्त जो कोई मन्त्र हो उस को ऋक् मानना चाहिये। इसी से शतपथब्राह्मण के " अङ्गादङ्गात्संभवसि० " श्लोक को निरुक्त में ऋक् नाम से दिखाया है यह पूर्वोक्त वचन ऋक्संहिता में कहीं भी नहीं है किन्तु शतपथब्राह्मण (१४ । ९ । ४ । २६) में विद्यमान है। यदि ऋक्संहिता में पढ़े मन्त्रों को ही आचार्य ऋक् मानते तो भगवान् यास्क जी कैसे कहते कि अमुक विषय ऋक् और श्लोक से भी कहा गया है। सो यहां ऋक्शब्द से शतपथ का वचन और श्लोक पद से उस समय की प्रचलित मनुसंहिता का वचन दिखाया है। सो इस प्रकार यह आचार्य की प्रवृत्ति जताती है कि जहां कहीं मूलवेद में वा ब्राह्मणादि में ऋग्लक्षण का छन्द हो उस का ऋक्पद से ग्रहण होना चाहिये वैसे ही यजु का भी जानो इस प्रकार काल भेद से वेद ग्रन्थों के अनेक हो जाने पर भी वेद के तीन प्रकार होना वा त्रयी होना जैसे पहिले समय में था वैसे अब भी ठीक व्यवस्थित ही है। इस कारण इस त्रयी से भिन्न अथर्ववेद भी नहीं यह सिद्ध हुआ क्योंकि वह भी ऋग्यजूरूप ही है। और सामलक्षण मन्त्र जिस में अधिकांश हैं ऐसे सामवेद नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में पढ़े ऋग्रूप-

* चिन्त्यम्

मन्त्रों का ऋक्पन तथा यजुर्मन्त्रों का यजुपन स्वीकार योग्य ही है किन्तु उस के स्वीकार से उस का सामवेदत्व नष्ट नहीं होता वैसे ही अथर्वकृत्या जिस में अधिक हैं ऐसे अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में पढ़े ऋग्मन्त्रों का ऋक्पन वा यजुओं का यजुपन स्वीकार योग्य क्यों न हो ? और वैसा स्वीकार होने पर उस का अथर्ववेदत्व क्यों नष्ट हो ? इस प्रकार अथर्ववेद की स्वतन्त्रता रहो परन्तु उस के किन्हीं मन्त्रों का ऋक् होना वा किन्ही का यजु होना कोई कभी किसी प्रकार नहीं हटा सकता । तो यह सिद्ध होगया कि ग्रन्थ भेद से वेदों के चार होने पर भी रचना भेद से तीन होने में कुछ भी सन्देह नहीं है। इसी लिये सर्वानुक्रमी की वृत्ति में यह कहा है-"चारो वेद में ऋग्यजुः सामरूप से विनियोग में आनेवाले मन्त्र तीन प्रकार के दिखाये हैं" ॥

सम्पादक—इस पर्वोक्त लेख में हम को कुछ अधिक वक्तव्य नहीं क्योंकि "वेदों के तीन होने में रचना के तीन भेद कारण नहीं किन्तु विद्या के तीन भेदों का प्रधान होना कारण है" यह सिद्ध कर चुके हैं । अब केवल इतना और कहना है कि यज्ञादिकर्मकाण्ड में जिन का विनियोग किया जाता है वे पादबद्ध गायत्र्यादिछन्द मन्त्र ऋक्, गद्यरूप यजु और गीतरूप साम ये शब्दराशिस्वरूपवेद के तीन भेद भी विद्या के तीन भेदों को पुष्ट करने के लिये हैं । अर्थात् शब्दराशिरूपवेद के हम भी तीन भेद मानते हैं परन्तु वे विद्या की तीन संख्या को पुष्ट करने के लिये हैं क्योंकि स्तुति कर्म के साथ ऋक् का विशेष सम्बन्ध है इसी कारण व्याकरण के "ऋचस्तुतौ" धातु से ऋक्शब्द बनाया गया है । और यज्ञरूप उपासना के साथ यजु का विशेष सम्बन्ध है इसी कारण व्याकरण में "यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से यजुः शब्द बना है । उपासना शब्द का अर्थ सामान्य कर तन मन से उस काम में आसक्ति होना है । और सामशब्द "षोऽन्तकर्मणि" धातु से बना है इसी धातु से व्यवसाय वा अध्यवसायादि शब्द बनते हैं । कर्म का अन्त ज्ञान है क्योंकि उपासना ज्ञान के लिये और स्तुति वा कर्म उपासना के लिये है । इस कथन से जब ऋग्यजुःसाम शब्द ही वेद की शब्दराशि के तीन भेद दिखाने के साथ अर्थद्वारा त्रयीविद्या को पुष्ट करते हैं तो चारों वेद में तीन प्रकार का पाठ जताने के लिये सामश्रमी जी के दिये सब ग्रन्थान्तरों के प्रमाण त्रयीविद्या के पोषक होंगे यह हमारा आशय है ॥

यच्चोक्तम्-प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु छान्दोग्यादिषु त्रयीव्यवहारः, तदपेक्षयार्वाचीनेषु बृहदारण्यकादिष्वेवाथर्वनामेति, तदिदं तेषामेकदेशदर्शित्वमेवावेदयति सर्वत्र सर्वविधदर्शनात् । तथाहि-तत्रैव छान्दोग्ये-"ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं

चतुर्थम् (७।७)" इति च। तत्रैव मनुसंहितायामपि (९।२९०) "अभिचारेषु" "कृत्यासु" इति। तत्रैव शतपथब्राह्मणेऽपि–"त्रयो वेदा अजायन्त (११।५।८)" इत्यादि च। तत्रैव महाभारतेऽपि–"अग्निहोत्रं त्रयीविद्या (१।१००।६६)" "कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले (२।५।९८)," "न सामऋग्यजुर्वर्णाः (३।१५०।१३)" इत्यादि च। किं बहुना यत्र क्वच ग्रन्थे वेदस्य त्रित्वं दृश्यते तत्र सर्वत्रैव चतुष्ट्वमपि। तदेवं ग्रन्थानां प्राचीनत्वार्वाचीनत्वभेदएव वेदस्य त्रित्वचतुष्ट्ववर्णने बीजमिति मतं सर्वथैवापास्तम् ॥

अथर्ववेदस्याधुनिकत्वे पाणिनेरस्मरणमपि मानान्तरमित्युक्तिश्च तेषां तथैव। तथाहि–ऋग्यजुःसाम–इमानि तु मन्त्रलक्षणानि, ऋग्लक्षणो मन्त्रः, यजुर्लक्षणो मन्त्रः, सामलक्षणो मन्त्रइति, तादृशमन्त्रास्तु सर्वेष्वेव वेदेषु राजन्ते इति तेषां ग्रहणेनैव सर्ववेदानां ग्रहणं सम्पन्नम्। सूत्राणामेव ग्रहणेनैव यथा सर्वेषामेव पटानामिति। अथर्वेति तु न किंविधस्यापि मन्त्रस्य लक्षणम्, अपितु यथा शाकलादिशाखानां साधारणं नाम ऋग्वेदइति, यथा च कठादिशाखानां साधारणं नाम यजुर्वेदइति, यथा च कौथुमादिशाखानां साधारणं नाम सामवेदइति, तथैव शौनकादिशाखानां साधारणं नाम अथर्ववेदइति। शाकलादिसंहिताग्रन्थानां तु दृष्टत्वाभावः, अपि तु पाणिनेरतिपूर्वतनीयत्वादार्षत्वाच्च प्रोक्तत्वं पाणिनिसम्मतम्। अतएव यथाप्रयोजनं प्रोक्ताधिकारे एव शाकलादीनामुल्लेखः कृतः पाणिनिना–"शाकलाद्वा (४।३।१२८)" इत्यादिभिः सूत्रैः। तत्राथर्ववेदीयशौनकसंहितानामप्यस्त्येवोल्लेखः–"शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) इति"। तस्मिंश्च सूत्रे छन्दसीति दर्शनादिदं च ज्ञायते यत् प्रोक्तत्वेनैव ग्राह्योऽपि न छान्दसः, एवमप्यस्त्येव कश्चन ग्रन्थः पाणिनेर्विदितइति स च ग्रन्थः खल्वथर्ववेदीयशिक्षैव। ततएवं

तत्र प्रत्युदाहृतं नागेशेन "शौनकीया शिक्षा–" इति। अथर्ववेदीयकल्पस्यापि ग्रहणं कृतमेव तत्र प्रोक्ताधिकारे "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४।३।१०३)" इति। चतुरध्यायिकौशिकसूत्रस्याथर्ववेदीयत्वं तु सुप्रसिद्धमेव। किं च तत्रैव प्रोक्ताधिकारे यथैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ज्यः (४।३।१२९)" इति सूत्रितम्। तथैव "आथर्वणिकस्येकलोपश्च (४।३।१३३)" इत्यपि सूत्रितमेव। तथा च यथैव छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितं छान्दोग्यमिति, तथैवाथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितमेव आथर्वणइति पदम्। चरणाद्धर्माम्नाययोः (४।३।१२६) इति वार्त्तिकं च पाणिनितात्पर्याख्यानपरमेव नतु वाचनिकमित्यपि तत्रैव भाष्ये स्फुटम्। तथाहि–"नचेदानीमन्यदाथर्वणिकानां स्वं भवितुमर्हति, अन्यदतो धर्माद्वा आम्नायाद्वा"–इति। वस्तुतः सर्वत्रैव "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इत्येव भाष्यसम्मतम्। तदित्थमथर्ववेदास्तित्वज्ञानं पाणिनेरासीन्नवेति विचारस्तु दूरे आस्ताम् प्रत्युत अथर्ववेदीया शौनकसंहिता, अथर्ववेदीयकल्पसूत्रंचचतुरध्यायात्मकं कौशिकं नाम, अथर्ववेदीया शिक्षा, अथर्वेदीयानां पाठप्रकाराद्यात्मको धर्मश्चेति सर्वाण्येतान्यासन्नेव तस्य पाणिनेर्विदितानीति ॥

भा०–और जो उन विदेशी लोगों ने कहा है कि अतिप्राचीन छान्दोग्यादि ग्रन्थों में ही त्रयी शब्द से वेद का ग्रहण किया गया किन्तु उन छान्दोग्यादि की अपेक्षा नवीन बृहदारण्यकादि में अथर्व नाम भी आता है। सो यह कथन उन लोगों के एकदेशदर्शी होने को विदित कराता है क्योंकि सब ग्रन्थों में सब प्रकार तीन वा चार संख्या से वेदों का नाम दीखता है। जैसे यहीं छान्दोग्य में लिखा है कि "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को जानता है" उसी मनुसंहिता के अ० ९। २९ में चौथे वेद की सूचना है। उसी शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "तीन वेद उत्पन्न हुए"। तथा उसी महाभारत के तीन स्थलों में तीन वेद का नाम आया है इत्यादि। बहुत लिखने से क्या प्रयोजन जिस किसी

ग्रन्थ में वेदों का तीन होना दीखता है वहां सर्वत्र ही चार वेदों का नाम भी विद्यमान है। सो इस प्रकार ग्रन्थों के प्राचीन वा नवीन होने का भेद ही वेद के तीन और चार होने के वर्णन में कारण है यह मत सर्वथा ही खण्डित हो जाता है।

पाणिनि को अथर्व का स्मरण नहीं था यह भी उन लोगों ने अथर्व के आधुनिक होने में प्रमाणान्तर दिया है। यह भी उन का कथन वैसा ही है। क्योंकि ऋक् यजुः साम ये तीनों मन्त्रलक्षण हैं। ऋग्लक्षणमन्त्र यजुर्लक्षणमन्त्र और सामलक्षणमन्त्र, ऐसे तीन प्रकार के मन्त्र सभी वेदों में विराजमान हैं इस कारण उन ऋगादि तीन शब्दों के ग्रहण से ही सब वेदों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है। सूत के ग्रहण से जैसे सब वस्त्रमात्र का ग्रहण हो जावे क्योंकि सब वस्त्रों में वही सूत विद्यमान होता वा रहता है। और अथर्व यह पद किसी प्रकार के मन्त्रों का वाचक नहीं है किन्तु जैसे शाकलादि शाखाओं का ऋग्वेद सामान्य नाम, जैसे कठादिशाखाओं का साधारण यजुर्वेद नाम और जैसे कौथुमादि शाखाओं का साधारण सामवेद नाम है वैसे ही शौनकादि शाखाओं का साधारण नाम अथर्ववेद है। शाकलादि संहिता ग्रन्थ इस समय लुप्तप्राय होगये किन्तु पाणिनि से अतिप्राचीन होने से उन का प्रोक्त होना पाणिनि की सम्मति के भी अनुकूल है। इसी कारण प्रयोजनानुकूल प्रोक्ताधिकार में ही पाणिनिने शाकलादि वेदसंहिताओं का लेख किया है (शाकलाद्वा) इत्यादि सूत्रों से। वहां अथर्ववेदीय शौनक संहिताओं का लेख भी विद्यमान ही है जैसे (शौनका० ४। ३। १०६) और इस सूत्र में छन्दसि पद के ग्रहण से यह भी ज्ञात होता है कि प्रोक्तरूप से कहीं अथर्वसंहिता ग्राह्य है किन्तु छन्दःसम्बन्धिनी नहीं। शौनक रचित ऐसा ग्रन्थ भी कोई पाणिनि को ज्ञात अवश्य था जिस की निवृत्ति के लिये छन्दसि पद का ग्रहण किया और वह ग्रन्थ अथर्ववेदीय शिक्षा ही है। इसी से उस सूत्र की व्याख्या में नागेश ने प्रत्युदाहरण दिया है कि "शौनकीया शिक्षा" यहां छन्दोग्रहण से णिनिप्रत्यय नहीं होता। और अथर्ववेदीय कल्प ग्रन्थ का भी ग्रहण वहां प्रोक्ताधिकार में किया ही है जैसे (काश्यपकौशिका० ४। ३। १०३) सो चार अध्यायरूप अथर्ववेदीय कौशिक कल्पसूत्र अतिप्रसिद्ध ही है। तथा और भी उसी प्रोक्ताधिकार में जैसे (छन्दोगौक्थिक० ४। ३। १२९) सूत्र कहा वैसे ही (आथर्वणिक० ४। ३। १३३) सूत्र भी कहा ही है। और जैसे धर्म और आम्नाय अर्थ में छन्दोग से छान्दोग्य पद पाणिनि ने सिद्ध किया वैसे ही उन्हीं अर्थों में आथर्वणिकशब्द से आथर्वण पद सिद्ध किया है "(चरणाद्ध० ४। ३। १२६)" वार्त्तिक भी पाणिनि का आशय जताने के लिये बनाया गया है किन्तु कोई नया वचन नहीं है क्योंकि महाभाष्यकार ने भी ऐसा ही माना है कि आथर्वणिकों का स्वरूप ग्रन्थ विषय में धर्म वा आम्नाय से भिन्न और कुछ नहीं हो सकता।" और

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त के पाठक और ग्राहक महाशयों में से कईएकों का ऐसा परामर्श पाया जाता है कि जिन २ महामोहविद्रावण वा अज्ञानतिमिरभास्करादि पुस्तकों का उत्तर आरम्भ किया गया और अपूर्ण रहा हुआ है पूर्ण करके तब किसी अन्य बड़े काम का आरम्भ किया जावे—तथा यहा सम्पादक आर्यसिद्धान्त श्रीमान् पण्डित भीमसेन शर्म्मा जी के पास नित्य २ अनेक आवश्यक विषयों के प्रकाशित करने की प्रेरणा आती रहती हैं इस दशा में उन को मनुभाष्यादि का मासिक लेख तथा कृतारम्भ उपनिषद्भाष्य वा गीताभाष्यादि के पूर्ण करने की चिन्ता भी अवश्य है इस कारण उत्तर देने योग्य पुस्तकों की शेषपूर्त्ति मैं करना चाहता हूं इस में सन्देह नहीं कि आ० सि० के पाठकों को पं० जी ही के लेखों के पढ़ने की प्रबल उत्कण्ठा रहती है तथापि जहांतक हो सकेगा इन विषयों की पूर्त्ति में आप के सन्तोषजनक लेख लिखने का उद्योग किया जावे गा। परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह इस कार्य्य में सहायता दे उसी की कृपा से उस के सत्यसनातन वैदिकधर्म का मण्डन तथा तद्विरुद्ध मतान्तरों का निरास हो सकता है ॥

तुलसीराम स्वामी

भाग ४ अङ्क १२ पृष्ठ १८८ से आगे महामोहविद्रावण का संस्कृत लेख

यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टाभवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थेबहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् कुतः। द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात्। अतः विज्ञायते "न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञास्ति" इति वदन्सतामसम्भाषणीयोऽयं कपटकाषाय इति पुष्कलम् ॥

उत्तर—यदुच्यते मन्त्रच्छन्दसोर्द्वयोरपि वेदत्वे यथा "मन्त्रेश्वेतवहो० ३।२।७१ अवेयजः ३।२।७२ विजुपेच्छन्दसि" ३।२।७३ इत्यत्र पूर्वं मन्त्रपदोपादाने कृतेऽपि विजुपेच्छन्दसीति पुनश्छन्दःपदोपादानमिवैव पूर्वोक्तमपि द्वितीयाब्राह्मणे इति ब्राह्मणपदमुपादायापि छन्दसीत्युपादानं न विरुद्धं न वा व्याघातकं ब्राह्मणानां वेदत्वस्येति। अत्रोच्यते, यथा ब्राह्मणानां वेदत्वं छन्दस्त्वं वा साध्यमस्ति न तथा मन्त्राणां छन्दसां वा उभयेष्वन्यतमस्य वा वेदत्वं साध्यम्। मन्त्राणां छन्दसां च वेदत्वमुभयसम्मतं तथासति "मन्त्रेश्वेतव०" इत्यत्र मन्त्रपदेन सामान्य-

तथा सर्वोऽपि वेदो विषयीक्रियते पुन"र्विजुपेच्छन्दसी"ति छन्दोग्रहणं गायत्र्यादिच्छन्दोबद्धानामेवावधारणार्थम्। तदित्थं मन्त्रच्छन्दसोः किञ्चिदर्थान्तरं नास्मन्मतेऽनिष्टम्। एवमेव च "अन्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसी"ति छन्दःपदमुपादाय पुनः "भुवश्च महाव्याहृतेः" इति महाव्याहृतिग्रहणं सामान्यतः सर्वच्छन्दोविषयस्यात्राऽविषयीकरणार्थम्। तन्नात्राल्पश्रुतानामपि सन्देहस्याऽवकाशः कथं पुनर्वाराणसीस्थानां भाष्ये कृतश्रमाणां पण्डिताभिमानिनाम्। यच्चोच्यते छन्दःपदं सामान्यार्थवाचकं ब्राह्मणपदं च तस्यैव विशेषार्थपरम्। तदपि साध्यमेव। नहि किमपि प्रमाणमुपलभ्यते छन्दःपदस्य सामान्यवाचकत्वे, प्रत्युत तस्य विशेषार्थद्योतकत्वे सन्ति प्रमाणानि यथा–"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य" इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने निरुक्तकारेण स्पष्टमुक्तम्–सप्त हस्तासः=सप्त छन्दांसि। अत्र सप्तपदेन छन्दसां ग्रहणात्स्पष्टं प्रतीयते गायत्र्यादीन्येव सप्त छन्दःपदवाच्यान्यभीष्टानि। निरुक्तग्रन्थारम्भे चोक्तम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" निघण्टुस्थानि पदानि मूलवेदस्य गायत्र्यादिछन्दोभ्य एव संगृह्य पठितानीति प्रत्यक्षम्। नच निघण्टौ किमपि पदं ब्राह्मणपुस्तकेभ्य उद्धृतमुपलभ्यते इत्यादिप्रमाणैश्छन्दःपदं गायत्र्यादिपिङ्गलोक्तछन्दोवाचकं नच तद्व्यरूपाणां ब्राह्मणानां कथमपि वाचकं भवितुमर्हतीति ध्यायन्तु धीराः। तथा सति नास्ति छन्दोऽवयवीभूतं ब्राह्मणम् ॥

महामोहविद्रावण का भाषार्थः—

यदि उक्त दयानन्द का पक्ष ठीक माना जावे तो (मन्त्रे श्वेत०) सूत्र से अनुवृत्ति आने से कार्यसिद्ध हो जाता फिर "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ होगा क्योंकि उस के मत में मन्त्र और छन्दः एकार्थ हैं। जैसे ब्राह्मण शब्द का पाठ "द्वितीया ब्राह्मणे" सूत्र में किये पीछे "चतुर्थ्यर्थे०" सूत्र में "छन्दसि" पद पढ़ने से पाणिनि का आशय है कि ब्राह्मणपद छन्द का वाचक नहीं

इस पाणिनि के आशय की तू उत्प्रेक्षा करता है वैसे यहां भी मन्त्र कहने पश्चात् "विजुपेच्छन्दसि" सूत्र में छन्दः पद कहने से मन्त्र शब्द छन्द का वाचक नहीं यह आशय सिद्ध है सो यह ब्राह्मणों के द्वेषी तेरे मत में महाअनिष्ट है। ब्राह्मण पद का ग्रहण करके छन्दः सामान्य पद का कहना वा सामान्य छन्दःपद को कह कर कहीं महाव्याहृति आदि वेद के विशेष पद को कहना किसी के वेदत्व को नहीं हटाता अर्थात् छन्दःपद सामान्य वेद का पर्यायवाचक और मन्त्र वा ब्राह्मण आदि विशेष वाचक हैं इस से ब्राह्मण का वेद न होना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ऐसा कहता हुआ कपटमुनि सज्जनों को त्याज्य वा उपेक्षणीय है॥ यहां विशेष अक्षरार्थ न लिख कर केवल आशयमात्र भाषा संक्षेप से लिखदी है क्योंकि मुझे किसी प्रकार लेख बढ़ा कर पत्रे पूरे करने नहीं हैं॥

उत्तर—महामो० कहते हैं कि अष्टाध्यायी अध्याय ३ पाद २ सूत्र ७१ (मन्त्रे श्वेतवहो०) में मन्त्र पद आचुका था तब फिर इस से अगले (अवेयजः ३। २। ७२ विजुपेच्छन्दसि) सूत्र में छन्दःपद क्यों आया? स्वामी दयानन्द के मतानुसार भी मन्त्र और छन्द दोनों तो वेद हैं ही तब "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति से काम चल जाता। उत्तर यह है कि मन्त्रशब्द सामान्य कर समस्त वेद संहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही वाचक है इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहितामात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति रहती इस के निवारणार्थ, केवल गायत्र्यादिच्छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये "विजुपेच्छन्दसि" में छन्दः पद पढ़ा है—आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र तथा सामान्य गद्य यजु आदि सब ही हैं—परन्तु "छन्दसि" ग्रहण से केवल छन्दोबद्ध ही लिये जायगे—और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों में से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु उभयसम्मत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं इसी प्रकार "अन्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ८। २। ७० "भुवश्च महाव्याहृतेः" ८। २। ७१ यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाव्याहृति के अतिरिक्त समस्त वेद ("छन्दसि" की अनुवृत्ति से) विषय हो कर अतिव्याप्ति दोष आता। यहां भी छन्दः का "वेद होना" और महाव्याहृति का 'वेद का एक देश होना, दोनों का सम्मत है-यदि इसी प्रकार छन्द वा मन्त्रादि का "वेद होना" और ब्राह्मण का "वेद का एक देश होना" उभयपक्षसम्मत होता तब तौ इस दृष्टान्त से महामो० कर्त्ता को लाभ होता—यहां तौ ब्राह्मण को न तो सामान्य वेद का वाचक मानते हैं न वेद का एक देश मानते हैं इस दशा में ब्राह्मणों का वेदत्व वा वेदैकदेशत्व सभी साध्य है इसलिये महाव्याहृति आदि का दृष्टान्त उन का पक्षपोषक नहीं—और जो यह लिखा है

कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी छन्द का विशेष वाचक है। यह भी साध्य ही है—छन्दः पद के सामान्यवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता प्रत्युत विशेषवाचक होने में बहुत प्रमाण हैं यथा "चत्वारि शृङ्गा त्रयो०" इस मंत्र के व्याख्यान में निरुक्तकार ने स्पष्ट कहा है कि "सप्तहस्तासः=सप्तच्छन्दांसि" यहां सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं। और निरुक्त के आरम्भ में भी लिखा है कि "छदोऽभ्यःसमा०" केवल छन्दों से पद लेकर इस निघण्टुग्रन्थ में समाम्नान किया है। यह भी प्रकट है कि मूल वेदसंहिता के छन्दों में से ही संग्रह करके निघण्टुस्थ पद लिखे गये हैं, ब्राह्मणपुस्तकों से उद्धृत करके निघण्टु में कोई पद नहीं लिखा। इत्यादि प्रमाणों से छन्दः पद पिङ्गलोक्त गायत्र्यादि ७ छन्दों का वाचक होने से गद्यरूप ब्राह्मणों का वाचक नहीं होसक्ता इस कारण सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मण ग्रन्थ विशेषाऽवयव नहीं होसक्ते ॥

(महामो०) अत्रापरे ब्राह्मणविद्विषोऽमुष्यसंसर्गिणोऽनधीतशास्त्रा ग्रहिला अनभिज्ञा विवदन्ते। तथाहि—यदि ब्राह्मणानि छन्दांसि, तदा पाणिनिः कथं ब्रूते "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि"। ४।२।६६। यदि हि ब्राह्मणानि छन्दांसि तदा पर्य्याप्तं छन्दांसीत्येव, यावता ब्राह्मणान्यपि छन्दांस्येवेति। सत्यम्। ब्राह्मणानां मन्त्रैः सह छन्दोभावस्य समानत्वे पृथग्ब्राह्मणग्रहणमपार्थकमिति प्राप्तं तथापि ब्राह्मणग्रहणमिह "अधिकमधिकार्थम्" इति न्यायेन ब्राह्मणविशेषपरिग्रहार्थम्; तेनेह न याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि* सौलभानि। व्याकरणभाष्यकारोपि प्रकृतसूत्रे ब्राह्मणग्रहणप्रयोजनमिदमसूचयत् "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति वदन् ॥ अयमेवार्थः "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"। ४।३।१०५। इति सूत्रे पुराणप्रोक्तत्वविशेषणेन ब्राह्मणानि विशिंषतः पाणिनेरभिमतः। इतरथा ब्राह्मणविशेषस्यापरिजिघृक्षितत्वे पुराणप्रोक्तेष्वित्याचार्यप्रवृत्तिरनर्थिका स्यादिति ना(चिन्त्यमिदम् तु० रा०) परोक्तं किमपि भाष्ये श्रमजुषां

* प्रमादएवैष भाष्ये श्रमजुषामाकाशपुष्पीवनफल भूतः—आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६।४।१५२ इत्यस्य जागरूकत्वात्—याज्ञवल्कानीति साधुपदम्। तु०रा०

विदुषामिति बहुलेखादुदास्महे * ॥

सुबोधव्याकरणे † तूत्तरपञ्चकेऽमी पुनरर्थाः स्वच्छमसकृदसूत्रिपतेति शम् ॥

उत्तर अत्रापरे ब्राह्मणविद्विषोऽमुष्यसंसर्गिणोऽनधीतशास्त्रा अहिला इत्यादिकुवाच्यानां तु नोत्तरं दद्मो नच दातुमुत्सहामहे यतस्तेषामियं सभ्यता तानेव भूषयतु । परन्तु "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति ४ । २ । ६६" पाणिनिसूत्रेऽस्मत्पक्षपोषके यद्रेणुपुलिनायितमुच्यते तच्छ्रोतव्यं श्रोतृभिः । यद्दयादिस्वामिभिर्ब्राह्मणानामवेदत्वे उच्यते यदि छन्दःपदेन मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो युष्माकमिव पाणिनेरपि विवक्षितोऽभविष्यत् तर्हि कुतस्तत्र केवलं छन्दःपदोपादानं तन्नये न पर्य्याप्तमभविष्यत् ? तत्रोत्तरणार्थमुत्तरं रेणुपुलिनायितमिदमस्ति यत् "अधिकमधिकार्थम्" इति न्यायेन ब्राह्मणविशेषपरिग्रहार्थम्, तेनेह न याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि सौलभानीति । यद्यत्रोपात्तेऽपि छन्दःपदे ब्राह्मणपदग्रहणमधिकार्थं स्यात् तदातु भवदुद्धृतमेव वार्त्तिकं "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्य" इत्यात्मकं व्यर्थं

---

* यद्यप्येतत्खण्डनानर्हं, व्याकरणे तदीयाबोधस्यानेकैरितरैरेव पूर्वं प्रदर्शनात् + । तथाप्यनभिज्ञजनभ्रमनिराकरणाय किञ्चिदाम्रेडितमिवाऽनुष्ठितं क्षन्तव्यं विज्ञैः ।

† इदं हि व्याकरणमाधुनिकानां छात्राणामुपकाराय तत्रभवद्भिः सुमहद्भिः श्री ६ राममिश्रशास्त्रिभिर्निरमायि यस्य मुद्रणादिना प्रचारोऽचिरादेवाभ्यर्थ्यते शब्दतत्त्वमभिजिज्ञासमानैराधुनिकाल्पसारवैयाकरणजनाविलोक्तिभीरुभिर्जनैः ॥

\+ कारकान्तकौमुद्यध्ययनफलमिदम्—प्रदर्शितत्वादिति साधुपदम् ॥

स्यात् यतोऽधिकवचनेनैव तत्सिद्धेस्तदत्र वार्तिकस्यास्योद्धारः स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः ॥

यच्चेममेवार्थं पोषयन्त आहुः—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" ४। ३। १०५ इत्यत्र पुराणप्रोक्तेष्विति विशेषणेन कानिचिन्नूतनप्रोक्तानि ब्राह्मणानि नैवासन् जिघृक्षितानि इतरथा विशेषणं व्यर्थं स्यादिति तदत्र तु चतुर्वेदिनां षड्वेदित्वलिप्सूनां स्वस्यैव द्वयं परिहाय द्विवेदित्वं गतानामिवैवेयं चेष्टा तेषां यतो ब्राह्मणानामपि मन्त्राणामिवाऽपौरुषेयत्वं वेदत्वं च साधयितुमिच्छवस्तेहि स्वयमेव केषांचिद्ब्राह्मणानां पुराणप्रोक्तत्वमथान्येषां नवीनप्रोक्तत्वं च प्रतिपादयन्तो वेदत्वमसाधयन्तः पौरुषेयत्वं नूतनकृतत्वं च केषाञ्चिद् ब्राह्मणानांस्फुटयन्ति। अतोऽयं लेखो न तत्पक्षपोषकोऽपितु तेषामेव ब्राह्मणद्विट्त्वसूचकः। अस्मन्नये च पाणिन्यपेक्षया केषाञ्चिद्ब्राह्मणानां पुराणप्रोक्तत्वं केषाञ्चिच्च नूतनप्रोक्तत्वं तदुभयमपि संगच्छते तेषां पौरुषेयत्वात्। प्रोक्तत्वं च द्विविधं पौरुषेयाऽपौरुषेयपुस्तकभेदात्। अपौरुषेयेषु प्रोक्तपदेन प्रचारितत्वमध्यापितत्वं वा बोध्यम्। पौरुषेयेषु च व्याख्यातत्वमेवावगन्तव्यम्। एवं सत्येव (शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४। ३। १०६) इत्यादिप्रोक्ताधिकारपठितसूत्रोदाहरणानां संगतिः। छन्दसां ह्यपौरुषेयत्वस्योभयपक्षसम्मतत्त्वान्नहि केनापि शौनकादिव्याख्यातत्वं स्वीक्रियते। यदि कश्चिद्ब्रूयात्—यथा छन्दसां प्रोक्तपदेन प्रचारितत्वमध्यापितत्वं वा गृह्यते तथैव ब्राह्मणकल्पानामपि प्रचारितत्वग्रहे कोस्ति बाधः ? एवं प्राप्तेऽप्युच्यते—नहि प्रोक्तपदेन पौरुषेयाऽपौरुषेयेषु सर्वेषु प्रचारितत्वमेवार्थो युक्तः प्रतिभाति, तथाहि "तेन प्रोक्तम् ४। ३। १०१" इति प्रोक्ताधिकारे "तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४। ३। १०२" इत्यस्य भाष्ये छन्दःप्रत्युदाहरणभूतम् "तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः" इत्युक्तं न च छन्दसामिव श्लोकस्या-

पि अपौरुषेयत्वसाधनं कस्यापि पक्षे युक्तम् । ततश्च प्रोक्तार्थे यस्मात्प्रत्ययो विधीयते वाच्यश्चेत्पौरुषेयं तेन व्याख्यातं तद्बोध्यमपौरुषेयं चेत्तेन विशिष्टतया प्रचारितमित्येवाऽर्थोऽवगन्तव्यः, तस्माद्-ब्राह्मणानां कल्पानां च पौरुषेयत्वात् प्रोक्ताधिकारे तत्तद्व्याख्यातत्वं सुव्यक्तम् । यच्च टिप्पण्याम्—व्याकरणे तदीयाबोधस्येत्यादि व्यञ्जितम् तत्त्वाकाशष्ठीवनमेवेत्युदास्महे ॥

महामो० का भाषार्थ—यहां कोई ब्राह्मणशत्रु इस (दयान०) के संसर्गी अनपढ़ हठी अनभिज्ञ विवाद करते हैं कि यदि ब्राह्मण वेद हैं तो पाणिनि जी "छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि०" सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द क्यों लिखते क्योंकि छन्द शब्द से ब्राह्मण का अर्थ भी आजाता । यद्यपि यहां छन्द शब्द लिखना पर्याप्त (काफ़ी) था परन्तु ब्राह्मणशब्द लिखना विशेष प्रयोजन से है अर्थात् सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट नहीं है किन्हीं विशेष ब्राह्मणों का ग्रहण इष्ट है इसी लिये भाष्यकार ने " याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः " यह वार्त्तिक लिखकर याज्ञवल्क्यादिकृत ब्राह्मणों का इस सूत्र में ग्रहण नहीं किया इसी आशय के पुष्ट करने को पाणिनि जी ने " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु " इस सूत्र में "पुराणप्रोक्तेषु" यह विशेषण लिखा है—यदि सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट होता तो यह विशेषण "पुराने ऋषियों के प्रोक्त जो ब्राह्मण वा कल्प" व्यर्थ होता यह सब कुछ भाष्य में परिश्रम करने वालों से छिपा नहीं है इस लिये बहुत लेख से उदासीनता करते हैं * ॥ सुबोध व्याकरण † में तो ये पुनरर्थ बहुत स्पष्ट सूचित कर दिये हैं ॥

उत्तर—ब्राह्मणों के शत्रु, अपढ़, ग्रहिल (हठी) आदि कुवाच्यों का तो हम उत्तर नहीं देते न देना चाहते हैं यह सभ्यता तो उन्हीं का भूषण रहो । परन्तु हमारे पक्ष के पोषक "छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि०" इस सूत्र पर जो बालू का पुल उतरने को बांधा है वह श्रोताओं के सुनने योग्य है । श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी

* यद्यपि यह खण्डन योग्य नहीं, क्योंकि व्याकरण में उस (दयानन्द) का अबोध अन्य ही अनेकों ने दिखला दिया है तथापि अनभिज्ञ जनों के भ्रमनिवारणार्थ कुछ पुनरुक्ति सी कीगई उस को विद्वान् क्षमा करें ॥

† यह व्याकरण आधुनिक विद्यार्थियों के उपकारार्थ तत्रभवान् सुमहान् श्री ६ राममिश्र शास्त्री जी ने रचा है जिस के छपने आदि से शीघ्र प्रचार की, आधुनिक थोथे वैयाकरणों के अस्वच्छ वाक्यों से डरे हुए व्याकरण के तत्त्वजिज्ञासु जनों से प्रार्थना कीजाती है ॥

ने यह लिखा है कि "यदि ब्राह्मण भी वेद होते तो महर्षि पाणिनि जी ऊपर लिखे (छन्दोब्राह्म०) सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द क्यों लिखते इस से प्रतीत होता है कि महर्षि पाणिनि जी भी ब्राह्मण को वेद नहीं मानते थे" इस पर आप लिखते हैं कि [यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखे हैं कि "अधिकमधिकार्थम्" इस न्याय से पाणिनि जी को यहां सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था इसी लिये महाभाष्य में "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो- वक्तव्यः" इस वार्त्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इस सूत्र द्वारा की गयी है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मणग्रन्थ अभिमत वा अभीष्ट होते तो "पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋषियों के कहे" ब्राह्मण ग्रन्थ—ऐसा विशेषणयुक्त क्यों लिखते इस से प्रतीत हुआ कि छन्द और ब्राह्मण यद्यपि दोनों ही वेद हैं इस लिये यद्यपि छन्दः पद लिख कर ब्राह्मणपद लिखने की आवश्यकता न थी परन्तु किन्हीं २ ब्राह्मणों का ही ग्रहण होने और किन्हीं या- ज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से उक्त सूत्र में ब्राह्मण पद अधि- कार्थ है] हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मण पद लिखने ही से किन्हीं विशेष याज्ञ- वल्क्यादिवर्जित ब्राह्मण विवक्षित थे तो आप का लिखा "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो०" वार्त्तिक व्यर्थ भाष्यकार ने लिखा। परन्तु यथार्थ में आप का अ- भिमत तात्पर्य्य पाणिनि वा पतञ्जलि (महाभाष्यकार) का न था, यथार्थ में तो पाणिनि ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण न मान कर ब्राह्मणपद भिन्न लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणों का ग्रहण होता इस के निवारणार्थ "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषे०" वार्त्तिक लिख कर "याज्ञवल्कानि, सौ लभानि" इत्यादि उदाहरणों के द्वारा वार्त्तिक की सफलता दिखलाई है—और "पुराणप्रो०" इस सूत्र से जो उसी विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहा- वत हुई कि "चौबे चले छब्बे होने को, गांठ के दो खोकर दुबे रह गये" अर्थात् प्रतिपादन तो यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्रवा छन्द के तुल्य वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं और जैसे वेद मन्त्रसंहिता अपौरुषेय हैं वैसे ब्राह्मण भी हैं यह भी उन को प्रतिपादनीय था। उस के स्थान में ब्राह्मणों का याज्ञवल्क्यादि कृत होना लिख कर और कुछ ब्राह्मण पुराणप्रोक्त हैं कुछ नवीनप्रोक्त भी हैं ऐसा मान कर आपने तो ब्राह्मणों की प्राचीनता भी (किन्हीं की) खोदी केवल याज्ञवल्क्यादिवर्जितों की ही प्राचीनता आप के लेख से शेष रह गयी—हमारे पक्ष में तो पाणिनि की अपेक्षा किन्हीं ब्राह्मण पुस्तकों का प्राचीनप्रोक्त होना और किन्हीं का नूतनप्रोक्त होना दोनों ही ठीक हैं क्योंकि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय हैं। प्रोक्ताधिकार में प्रोक्त शब्द का गौण मुख्य भेद से दो प्रकार का अर्थ है एक अपौरुषेय पुस्तकों में दूसरा पौरुषेयपुस्तकों में। अपौरुषेयपुस्तकों में

सूचना ॥

सब ग्राहक महाशयों को विश्वास दिलाने की इच्छा से सूचित करता हूं कि पं० तुलसीराम स्वामी परीक्षितगढ़ निवासी के आ जाने पर लेखों सम्बन्धी सहाय मिलने का पूर्व से ही विश्वास था तदनुसार महामोहविद्रावणादि के अवशिष्ट आक्षेपों पर प्रत्येक अङ्कद्वय में एक २ फारम लेख पं० तुलसीराम स्वामी जी की ओर से सम्पादित होकर छपना आरम्भ हुआ है आशा है कि ग्राहक महाशयों को सन्तोष जनक होगा। शेष चार फारम मेरा लेख रहा करेगा। और ये ही महाशय इस सरस्वतीयन्त्रालय प्रयाग के प्रबन्धकर्त्ता (मेनेजर) नियत किये गये हैं इस कारण मेरे नाम के मनीआर्डरादि लेने हिसाब रखने पत्रादि पर हस्ताक्षर करने और जिन महाशयों से आर्यसिद्धान्तादि का मूल्य चाहिये उन से मांगने आदि का उक्त पण्डित जी को पूरा अधिकार मेरी ओर से है। आशा रखता हूं कि कोई महाशय पं० तुलसीराम स्वामी के मांगने पर दाम भेजने में कुछ भी सङ्कोच न करेंगे। और इन की हस्ताक्षरी रसीद प्रेस की ओर से पक्की समझी जायगी। अभी तक इस कार्यालय में कोई प्रबन्धकर्त्ता नहीं था इस कारण हिसाब की वैसी सफाई न थी जैसी अब रहेगी इस लिये सब ग्राहक महाशयों को उचित है कि अपना २ हिसाब साफ कराने का उद्योग करें। जिन का हिसाब साफ न होगा और जो पत्र का उत्तर भी न देंगे उन के नाम मासिक अङ्क आगे को न भेजे जाया करेंगे ॥

द्वितीय सूचना यह है कि एक नाम के कई ग्राहक होने से हिसाब आदि में सन्देह होता है ग्राहकों को उचित है कि कृपा करके अपने नाम के पूर्व छपा हुवा नम्बर का अङ्क स्मरण करके अवश्य लिख दिया करें ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव कोष छप कर तयार हो गया। यद्यपि मूल्य इस का १) रक्खा गया है तथापि तीन मास जून से अगस्त ९५ तक ॥।) में मिलने का नियम किया था जिस में जून व्यतीत होगया। शेष दो मास ही रहे हैं जो ग्राहक शिथिलता करेंगे पीछे १) में पा सकेंगे इसलिये जिन महाशयों को लेना हो वे शीघ्र मगा लेवें। संस्कृतशब्दों के अर्थ शुद्ध भाषा में लिखे गये हैं। अब मेरा शरीर बहुत अच्छा है रोग सर्वथा छोड़ गया। आशा है कि आगे २ अच्छा काम चलेगा ॥ ह० भीमसेन शर्मा–प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ३ । ४

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

२६ अगस्त सन् १८९५ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १)

१।२।९५ से मूल्यप्राप्तिस्वीकार ११।७।९५ तक

१०५४ पं० मिश्रीलाल जी शर्मा आबर १।)
१०७८ बा० बलदेवसिंह वर्मा सोजात १।)
८१६ ला० देवीदास खत्री लखनऊ १।)
१०६४ बा० चरणदास जी नवाशहर १।)
१०७१ बा० दुर्गादास जी राजबाड़ी १।)
१०३४ बा० कर्मचन्द जी कलकत्ता १।)
१५१॥ श्री कृष्णचन्द्रजीओव०पेशावर २॥-)
१०७४ लाला बसन्तलाल गुप्त पटना १।)
१०७३ श्री चतुर्भुज जी दफेदार जहाज़पुर १।)
१०८२ श्री नारायणदास जी नगीना १।)
२६२ श्री उजागरसिंह जी फैजाबाद २॥)
५४७ ठाकुर इन्द्रमणि जी लखनऊ १।)
९६२ श्री शिवप्रसाद छोटीविलासपुर १=)
८७९ श्रीहरिशंकरप्रसादजीशर्मानगीना १।)
७७५ श्री हीरालाल जी बान्दीकई २॥)
८९२ श्री हरदयालु जी सुखसेन गोंडा १।)
१०७८ श्री रामलगनसिंह जी सिहोरा १।)
१०७७ श्री शिवप्रसाद जी रईस नगला १।)
१९५ पं० तुलसीराम जी शर्मा नामनेर २॥)
६८८ श्री अयोध्याप्रसाद जी गोहाटी १।)
१०६६ पं० बेचेलाल घुरसेन १=)
१०८० मन्त्री आ०स० सिटी लखनऊ १।)
३८७ बा० रमादत्त शर्मा चकराता १।)
१००५ श्री साधूशान्त इन्द्रदेव मैनपुरी १।)
८१९ श्री देवकीनन्दन शर्मा भिनगा १।)
६३४ श्री देवराज जी जालन्धर ३)
६३० श्री बसन्तलाल बूढ़ा०जालन्धर ३=)
६६८ श्री रूढ़ामल जी जालन्धर २॥)
११० श्री मुंशीराम जी जालन्धर १।)
७२५ श्री रामकृष्ण जी वकील जालन्धर २॥)
६६३ श्री तेलूमल जी जालन्धर १।)
१०८४ पं० नारायणदत्त जी शर्मा तीतरों १।)
२२७ बा० सीताराम मथा जी किरांची १।)
६०१ श्री मन्त्री जी आ० स० किरांची २॥)

७८० श्री रामस्वरूप जी गहमर १।)
५०८ श्री रघुबरदयालु भदर्सा १।)
१०६१ श्री टोडरमल आ० स० खिरवा १।)
५११ श्री भगवन्तसिंह महोवा १।)
१०८२ श्री घनश्याम गुप्त कलकत्ता १।)
१०८५ श्री भैरवप्रसाद नीमच १।=)
१०८३ योगनारायण फुबा गडिवस्ती १।)
१०८६ श्री लैसनायक वानो, २॥=)
३२३ श्री गणेशीलाल चन्दोसी १।)
१२६ श्री होरीलाल जी एटा १।)॥
९८९ श्री शाकम्भरीदास जी जवलपुर १।)
१०८७ श्री रामप्रताप शर्मा जयपुर १।)
२८९ श्रीरामत्रिवेदी जी कुमिल्ला २॥)
७९८ मुं० कुंवरप्रसाद जी प्रतापगढ़ १।)
१४७ श्री चिरंजीलाल दूलीचन्द मुम्बई १।)
१०८९ पं०महाबली शर्मा मुम्बई १।)
१०९० ठाकुरदेवीसिंह वर्मा मुम्बई १।)
१०९१ बा० हरिशंकर चौवे मुम्बई १।)
१०८८ श्री कर्मचन्द जी क्वैटा २॥)
८३७ श्री वेणीप्रसाद जी कानपुर २॥)
३१७ श्री वालगोविन्द जी विगहपुर २॥)
७६६ प्राणजीवणदास नारा० राजकोट २)
३२२ बाबू बालमुकुन्द जी भूपाल १।)
१०९३ श्री दुर्गाप्रसाद वि०सिंकदरपुर १।)
१०६ श्री शिवदयाल जी तिगांव २)
७०८ श्री नारायणदत्त जी झांसी २॥)
५४श्री शिवराव मंगीशशर्मा मञ्जेश्वर १।)
३८१ श्री विसरामविष्णु जी मुम्बई २॥)
५४४ श्रीमनोहरसिंह जी उदयपुर २॥)
७७७ पं० रामदयालु शर्मा कामठी ॥।)
१७ श्री लच्छीराम खेमका चूरू ५)
९३३ श्री महावीरप्रसाद मुजफ्फरपुर १।)
१५७ श्रीगोमाजीरत्नाजी सायण १।)
५६१ श्री गोपालसहाय लश्कर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ३ । ४

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(भाग ७ पृष्ठ ३२ से आगे त्रयीविद्या)

वास्तव में सर्वत्र ही "व्याख्यान से विशेष का निश्चय होता है इस कारण सन्देह होने से लक्षण में त्रुटि वा न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये" यह भी महाभाष्यकार की सम्मत्यनुकूल ही है। सो इस प्रकार अथर्ववेद के होने का ज्ञान पाणिनि को था वा नहीं यह विचार तो दूर रहो प्रत्युत अथर्ववेदीय शौनकसंहिता, चार अध्यायरूप अथर्ववेदीय कौशिककल्पसूत्र, अथर्ववेदीयशिक्षा और अथर्ववेदी लोगों का पाठ प्रकारादिरूप धर्म ये सब उन पाणिनि को विदित अवश्य ही थे॥

सम्पादक–इस विषय में इतना वक्तव्य है कि शाकलादि सब शाखाओं का सामान्य नाम ऋग्वेदादि नहीं शाखा एक प्रकार का व्याख्यान हैं जैसे मूलवृक्ष को शाखा प्रख्यात करने वाली होने से व्याख्यान के स्थान में मानी जाती हैं वैसे मूल के आशय को विस्तृत करने वाली होने से वेद की शाखा हुई। जैसे उस २ वृक्ष में लगी रहने से उस २ की शाखा कहाती हैं इसी से षष्ठी विभक्ति का सम्बन्धार्थ घटता है वैसे ही मूल वेदाशय से विरुद्ध न चलने तक वे उस २ वेद की शाखा मानी जा सकती हैं विरोध में मेल न रहने से षष्ठी का सम्बन्धार्थ भी न घटेगा। व्याख्यानों का नाम भी वेद हो तो सम्बन्धार्थ नहीं घटेगा। जैसे आम की शाखा कहते और शाखाओं का आम ऐसा व्यवहार नहीं होता वैसे ही वेद की शाखा कहना चाहिये शाखा का वेद नहीं। यदि प्रत्येक वेद की सब समान शाखा ही मानी जायं शाखा से भिन्न मूल कुछ न हो तो शाखा का ऋग्वेद यह भी प्रयोग होना चाहिये पर होता नहीं तो शाखाओं से भिन्न वृक्षादि के तुल्य मूल मानना आवश्यक हुआ। संहिता पद अन्य शाखाओं के साथ भी वैसा ही लग सकता है जैसे मूल के साथ। पाणिनि की उत्पत्ति से भी

बहुत पहिले सृष्टि के ही आरम्भ में सब वेदों के साथ ही अथर्ववेद भी बना और पाणिनि को अथर्ववेद के सब अंशों का बोध भी था इस विषय में विदेशीय लोगों का परामर्श सर्वथा अज्ञानमूलक है इस में हमारी सर्वांश सम्मति है। काशिका और सिद्धान्त कौमुदी आदि के व्याख्याकारोंने "शाकलाद्वा" सूत्र लिखा है उस के अनुसार सामश्रमी जी ने भी लिखा सो ठीक नहीं क्योंकि गोत्रप्रत्ययान्तों से सङ्घादि अर्थों में (सङ्घाङ्क ४। ३। १२७) सूत्र से प्रत्यय विधान का यहां नियम है और चरणवाचियों से धर्म आम्नाय अर्थ में प्रत्यय होगा। चरणवाची मानें तो शाकल पाठ ठीक हो पर उस से संघादि अर्थों में प्रत्यय करना विरुद्ध है। गोत्रप्रत्ययान्त शकल से प्रत्यय कहें तो शाकल्य से प्रत्यय होगा। शाकल्य के लक्षण नाम सूत्र को महाभाष्यकार ने अनेक स्थलों में शाकल कहा है इस से भी निश्चय है कि गोत्र प्रत्ययान्त शाकल्य शब्द से लक्षण अर्थ में "शकलाद्वा" सूत्र से प्रत्यय होता है चरणवाची से नहीं तो ऐसी दशा में प्रोक्तार्थ न मिलने और सूत्र का "शकलाद्वा" शुद्ध पाठ होने से यहां प्रमाण में "शाकलाद्वा" लिखना सर्वथा व्यर्थ और अशुद्ध है। और " आथर्वणिकस्येकलोपश्च " भी वार्त्तिक है पाणिनिसूत्र नहीं काशिकाकारादि का सूत्र पाठ में लिखना प्रमाद है कैयट ने भी अपाणिनीय माना है तब पाणिनिसूत्र मान के प्रमाण देना भूल प्रतीत होती है॥

(सत्यव्रत) निरुक्तकारः खलु यास्कः पाणिनेः पूर्वतनः—इति वादिनां निरुक्तेऽसकृदेवाथर्ववेदीयनिगमोद्धृतिदर्शनात् तस्य यास्कबहुपूर्वदृष्टत्वनिर्णयेनैव पाणिनिविदितत्वं सुवचमेव। तदथर्ववेदस्य पाणिनिविदितत्वविचारस्त्वस्तु पेटिकाबद्धः, तन्मते हि तत्पूर्वजस्य यास्कस्यापि विदित एवासीत्स इत्युपपद्यते। तथाहि—"तथापि निगमो भवति—'यथा देवा अंशुमाप्यायन्ति'—इति (२भा० ५७ पृ०) "—इति। तावेतौ द्वावेव निगमौ अथर्ववेदत एव लब्धौ (अथ०सं०७।७।८।६)। अन्यत्र च "एकं पादं नोत्खिदतीत्यपि निगमो भवति (४भा०२९५पृ०)"—इति। एषोऽपि निगमोऽथर्वसंहितात एव लब्धः; श्रूयते हि तत्रैवैकादशकाण्डीयद्वितीयानुवाकान्त्यसूक्ताद्या ऋक् "एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंसमुच्चरन् "—इत्यादि। किञ्चात्र निघण्टुस्थितस्यैकपादित्यस्यैष एव निगमोऽन्यत्र वैश्वदेव्याद्यृक्षु तु निपातएवेति निर्णयात् निघण्टुसमाम्नायश्रवणात् पुराप्यासीदथर्ववेद इति यास्कसम्मतमेवेत्युप-

लभ्यते; निघण्टोश्च यास्कादिबहुपूर्वश्रुतत्वं प्रतिपादितमेव पूर्वम् (कौ पृ०) । तस्मात् सर्ववेदसमकालिकत्वमेवाथर्ववेदस्येत्यत्र सन्देहलेशोऽप्ययुक्त एवेत्यस्माकमिति ॥

वस्तुतएकएव वेदः, त्रिविधरचनात्मकस्त्रयीति प्रसिद्धोऽपि ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता, अथर्वसंहितेति चतुःसंहिताभिश्चतुःसङ्ख्यान्वितः । संहितालक्षणं तु प्रातिशाख्यादौ प्रसिद्धम्—"पदप्रकृतिः संहिता (ऋ०प्र० २।१)"—इति, "वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता (य०वा०प्रा० १।१५८)"—इति, "परः सन्निकर्षः संहिता (पा० १।४।१०९) " इति; एवमादि । तत्र ऋक्लक्षणानां (पद्यात्मकानां) मन्त्राणां चतुर्विधास्वपि संहितासु विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थेऽन्यलक्षण एकोऽपि मन्त्रो न दृश्यते, तस्यैव ऋक्संहितात्वम्। एवं तद्व्यतिरिक्तासु त्रिविधास्वपि संहितासु यजुर्लक्षणानां (गद्यात्मकानां) मन्त्राणां विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थे यजुषामेवाधिक्यम्, ऋचामपि यजुष्ट्वेनैव पाठो विनियोगश्च तस्यैव यजुःसंहितात्वम्; अतएवोक्तमध्वर्युब्राह्मणभाष्यभूमिकायां सायणाचार्येणापि—" तत्र यजुषामध्वर्युवेदेऽतिबहुलत्वात् क्वचित् क्वचित् ऋचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्येवाख्यायते"—इति। सामसंहितायास्तु स्तोमानां गानानाञ्च मूलीभूतानां कासाञ्चिदृचाम्, स्तोमलक्षणानां कतिपयानां यजुषां चाश्रयत्वेऽपि सर्वेषामेव साम्नामाधारभूमित्वं स्पष्टमेव । तदेवं गद्यपद्यगीतिभेदात् त्रिविधाएव रचना भवन्ति, तादृशरचनात्रैविध्यावलम्बेनैतानि त्रीणि नामानि सम्पन्नानि। ततश्चतुर्थसंहितायाः किं नाम* भवितव्यमिति चिन्तायामेवं विभागकारिणो नाम्नैवैतस्य नामकरणमुचितमिति सिद्धं नामाथर्वसंहितेति ॥

भाषार्थः—निरुक्तकार यास्कमुनि पाणिनि से पहिले हुए ऐसा कहने वाले

*चिन्त्यमत्र विभक्तिविधानस्खलनमाभाति, भी० शा०

विदेशियों के मत में भी निरुक्त में बार २ अथर्ववेद के वाक्यों का अनुवाद दीख पड़ने से अथर्ववेद यास्क ने पाणिनि से पहिले ही देखा यह सिद्ध हो गया। और जब पाणिनि से पहिले निरुक्तकार ने अथर्व को देखा तो पीछे हुए पाणिनि का अथर्व को देखना स्वतः सिद्ध हो गया। सो अथर्व का पाणिनि को ज्ञान था वा नहीं यह विचार तो पेटी में बांध के रक्खो किन्तु उन लोगों के मत में पाणिनि से पहिले हुए यास्क को भी अथर्ववेद का ज्ञान था यह सिद्ध है क्योंकि "तथापि निगमो भवति" (२ भाग० ५७ पृ०) में ऐसा कह के निरुक्तकार ने "यमक्षिलिमृ०" इत्यादि अथर्ववेद के कई मन्त्रों के व्याख्यान वा उदाहरण अनेक स्थलों में दिये हैं और वे मन्त्र (७ । ७ । ८ । ६) आदि स्थलों पर अथर्वसंहिता में प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। और निघण्टु में आये एकपात् शब्द का मूल "एकं पादं नोत्खिदति ॥ ११ । २" यह अथर्व में स्पष्ट है। क्योंकि अन्य वैश्वदेवी आदि ऋचाओं में आये एकपाद् शब्द का निपात होना ही निर्णय किया गया है इस से सिद्ध हुआ कि निघण्टु पुस्तक बनने से भी बहुत पहिले अथर्ववेद विद्यमान था यह निरुक्तकार यास्कजी के सहमत ही है और निघण्टु यास्क ऋषि से बहुत काल पहिले बना यह भी हम (सत्यव्रत) पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। इस से सिद्ध हुआ कि अथर्ववेद आधुनिक वा पीछे का बना नहीं किन्तु ऋग्वेदादि के साथ ही अथर्व भी बना इस में कुछ भी सन्देह करना हमारा अयुक्त ही है ॥

वास्तव में वेद एक ही है उस में तीन प्रकार की रचना होने से त्रयीशब्द से प्रसिद्ध हुआ भी ऋक्, यजुः साम, अथर्व इन चार संहिताओं से चार संख्यायुक्त हुआ। और संहिता का लक्षण प्रातिशाख्यादि में प्रसिद्ध ही है। "पद कार्य का होना संहिता, वर्णों का परस्पर मिलना संहिता, तथा पूर्व २ वर्णों का पर २ के साथ अत्यन्त समीप प्रयोग करना संहिता कहाती है" इत्यादि। उन में ऋग्लक्षण पद्यरूप मन्त्रों के चारों प्रकार की संहिताओं में विद्यमान होने पर भी जिस ग्रन्थ में अन्य यजु आदि के लक्षण वाला एक भी मन्त्र नहीं दीखता वह ऋग्वेदसंहिता कहाती है। इसी प्रकार ऋक् को छोड़ के अन्य तीन प्रकार की संहिताओं में यजु लक्षण वाले गद्यरूप मन्त्रों के विद्यमान होने पर भी जिस ग्रन्थ में यजुओं की अधिकता है और ऋग्लक्षण मन्त्रों का भी यजुःपन से ही पाठ वा कर्मों में विनियोग किया गया है वही यजुःसंहिता कहाती है। इसी लिये यजुर्वेद के ब्राह्मणभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने भी कहा है कि "यजुर्वेद में यजुर्लक्षण मन्त्रों के अधिक होने से कहीं २ ऋग्लक्षण मन्त्रों के होने पर भी यजुर्वेद ही कहा जाता है" और सामसंहिता के स्तोम और गानों की मूलरूप किन्हीं ऋचाओं और स्तोमरूप किन्हीं यजुओं का आश्रय होने पर भी सभी के आधार भूमि सामलक्षण मन्त्र स्पष्ट ही हैं। इस प्रकार पद्य गद्य और गान भेद

से तीन ही प्रकार की रचना होती हैं। उस तीन प्रकार की रचना के सम्बन्ध से त्रैदत्रय तीन वेद वा ऋग्यजुः साम त्रयी कहाते हैं। तब चौथी संहिता का क्या नाम होना चाहिये इस विचार में ऋगादि संहिताओं के विभाग करने वाले ऋषि के नाम से ही इस का नाम करना उचित है ऐसा मान के अथर्वसंहिता इस का नाम सिद्ध हुआ।

अथर्वा नामर्षिरेव हि यज्ञप्रक्रियायाः प्रथमप्रकाशकः, अतः सएव हौत्रादिकार्यसौकर्यायैवमृगादिनाम्ना वेदविभाजकश्चेत्यपि सम्भाव्यते। तथाहि—"यज्ञैरथर्वा प्रथमः, पथस्तते (ऋ० सं० १।६।४।५)"—इति, "अग्निर्जातो अथर्वणा (ऋ० सं० ७।७।४।५)"—इति, "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत (ऋ० सं० ४०।५।२३।३)"—इति, "अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः (अ०सं०७।१।२) "—इति चैवमादिमन्त्रलिङ्गात् प्रतीयत एवाथर्वणो यज्ञाविष्कर्त्तृत्वम्। "यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयीविद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् (ऐ०ब्रा०५।५।८)"—इत्यादिश्रुतेश्च स्फुटमेव प्रतीयते यज्ञकार्यनिर्वाहसौकर्यार्थमेव च ऋगादिसंहिताविभाग इति। किञ्चात्रैव च "अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते? त्रय्या विद्यया"—इत्यतः समग्रा एव त्रयी विद्या ब्रह्मत्वकरणे साधिकेति स्पष्टम्। न चाथर्वसंहिताध्ययनमन्तरा समग्रायास्त्रय्याः ज्ञानं भवितुमर्हति; होत्रध्वर्यूद्गातृव्यवहार्यातिरिक्तानामप्यृग्यजुर्मन्त्राणां तत्र सद्भावात्। अतएव "ऋचान्त्वः पोषमास्ते (ऋ०सं०)" इति मन्त्रस्य निर्वचनावसरे यास्कोऽप्याह—" ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (२भा०६६पृ०)"—इति। अथर्ववेदी एव ब्रह्मा भवति स एव च यज्ञं समन्तात् रक्षति। तथाहि—"ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्योऽन्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादाद् यदि वाप्यसान्निध्याद्

यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत्"—इत्यादिः, "तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्; स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्'-इत्यन्तो गोपथग्रन्थो द्रष्टव्यः (गो०ब्रा० २।२।५)। छन्दोगा अपि ब्रह्मणो भिषक्त्वमामनन्त्येव—"भेषजकृतो ह्वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति (छा०ब्रा०५।१७।८)"—इत्यादि। सामवेदभाष्यावतरणिकादौ सायणाचार्योऽप्यवोचत्—"त्रयाणामपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा"—इति। युक्ततरञ्चैतद् तदैव ब्रह्मर्त्विजि, यदा खलु तस्य चतुर्वेदवित्त्वेन समग्रत्रयीवेत्तृत्वं स्यात्; सर्ववेदवेत्तृत्वेनैव च तस्य विश्वव्यचाइति समुद्रइति चाख्यानं सङ्गच्छते। श्रूयते हि—"समुद्रोऽसि विश्वव्यचा (य०वा०सं०५।३३)"—इति यजुर्मन्त्रः। स्फुटतरञ्चैतदाम्नातं दृश्यते गोपथपूर्वार्द्धे एव। तथाहि—"तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युम्, सामविदमुद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्"—इति, "प्रजापतिर्यज्ञमकरोत्; स ऋचैव हौत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम् (गो०ब्रा०१।३।१२)"—इति च। एवञ्च यज्ञीयहौत्रादिकार्यानुसारतएव चतस्रः संहिताः सम्पन्नाः, यत्र च यदीयं विधानादिकं श्रूयते, तदेव तस्य ब्राह्मणमिति च। तदुक्तं सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायाम्, "विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्रइति चक्षते। विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि"-इति। एवमेकस्यैव वेदस्य चतुर्द्धा विभागः सम्पन्नस्तत्र कः संशयः?। सामवेदीयोहोह्यग्रन्थयोः प्रकरणसन्निवेशदर्शनेन च यज्ञकार्यसौकर्यायैवैकस्य वेदस्य चतुर्भेदाः कृता इत्याभाति स्फुटमेव; तयोरुभयोरेव हि ग्रन्थयोः क्रमात् दशरात्र-संवत्सर-एकाह-अहीन-सत्र-प्रायश्चित्त-क्षुद्रेतिसप्तपर्वात्मकत्वम्। एवमेव अध्वर्युवेदसंहिताभाष्ये प्रथमानुवाकव्याख्यावतरणिकायां यदाह सायणाचार्यः

"अस्मिन् वेदे समाख्याता दर्शपूर्णमासेष्टिमन्त्रास्त्रिविधाः, आध्वर्यवा याजमाना हौत्रकाश्चेति । ÷**। एतेषां मध्ये याजमानानां हौत्राणाञ्च चित्रस्थानीयत्वात् भित्तिस्थानीयानामाध्वर्यवाणामेवादौ पाठो युज्यते"—इत्यादि, तदपि सङ्गच्छते; यदि हि यज्ञकार्यानुक्रमेणैवैताश्चतस्त्र एव संहिताः ग्रथिता न स्युस्तर्हि तस्य तथोक्तिरसङ्गतित्वमेवोपगच्छेन्नामेति । वस्तुतस्तु यजुर्वेदीयमैत्रायणीयशाखाया परिच्छेदविन्यासानां प्रत्यक्षदर्शनेनैवास्तङ्गच्छेदेवैष संशयस्तत् किमत्र प्रमाणपारायणेनेति ॥

अथर्वा नामक ऋषि ही यज्ञक्रिया का प्रथम प्रकाशक हुआ । इस कारण उसी अथर्वा ने होता आदि के कामों की सुगमता के लिये ऐसा ऋगादि नाम से वेदों का विभाग किया ऐसी सम्भावना होती है । ऋग्वेदसं० (१।६।४।५) में लिखा है कि "अथर्वा ने यज्ञों से पहिले वेद का मार्ग विस्तृत किया" ऋ०सं० (७।१।४।५) में लिखा है कि "अथर्वा से अग्नि प्रकट हुआ" ऋ० सं० (४।५।२३।३) में लिखा है कि "हे अग्ने तुझ को पुष्कर में अथर्वा ने मथ के निकाला" इत्यादि मन्त्रों में अथर्वा का चिह्न होने से प्रतीत होता है कि अथर्वा ही यज्ञों का प्रकट करने वाला है। तथा ऐतरेयब्राह्मण (५।५।८) में लिखा है कि "ऋक् से होता का, यजु से अध्वर्यु का और साम से उद्गाता के काम का आरम्भ किया जाता है यह यज्ञ सम्बन्धी त्रयीविद्या है इसी त्रयी को ठीक २ पूरा जानने वाला ब्रह्मा हो सकता है । इस से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञसम्बन्धी कार्य को सुगमता से पूरा करने के लिये ऋगादि संहिताओं का विभाग किया गया है । क्योंकि इसी पूर्वोक्त प्रमाण में पूछा गया कि "किस से ब्रह्मापन किया जाता है ?" तो उत्तर हुआ कि "त्रयी विद्या से" इस कारण सपूर्ण ही त्रयीविद्या ब्रह्मापन के होने में साधक हेतु हुई । और अथर्वसंहिता पढ़ने विना सम्पूर्ण त्रयीविद्या का ज्ञान किसी को हो नहीं सकता क्योंकि होता अध्वर्यु और उद्गाताओं के व्यवहार करने योग्य मन्त्रों से भिन्न ऋक् यजुर्लक्षण वाले मन्त्र अथर्वसंहिता में विद्यमान हैं । इसी लिये "ऋचान्त्वः पोषमास्ते" इस ऋग्मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि—"सब विद्याओं का ज्ञाता ब्रह्मा होता वह सब जान सकता है" और अथर्व वेद को सम्यक् जानने वाला ही ब्रह्मा होना है और वही सब ओर से यज्ञ की रक्षा करता है। सो यह गोपथब्राह्मण (२।२।५) में स्पष्ट लिखा है कि "जो भृग्वङ्गिरस् नाम अथर्व वेद का जानने वाला है वह विद्वान् ही ब्रह्मा होता । वह ठीक २ नियमानुसार गुरु

परम्परा से वेद पढ़ा हो उस ने ठीक २ ब्रह्मचर्याश्रम किया हो उस के शरीर के अङ्ग पूरे हों लूला लंगड़ादि किसी अङ्ग से हीन न हो अधिकाङ्ग भी न हो प्रमादी भूलने वाला न हो सावधानी से कार्य में तत्पर रहे ऐसा ब्रह्मा यज्ञ की रक्षा करता है । उस ब्रह्मा के प्रमाद से वा समीप न रहने से जैसे टूटी नौका अगाध जल में डूबे वैसे यज्ञ की दुर्दशा होती है । इसलिये यजमान को चाहिये कि अथर्ववेद के सम्यक् ज्ञाता को ब्रह्मा बनावे क्योंकि वही यज्ञ को पार लगाता वा पूरा करता है यह ब्राह्मण है" छान्दोग्य ब्राह्मण (५ । १७ । ८) में भी ब्रह्मा को भिषक् कहा ही है "वह भेषज कृत यज्ञ होता जहां ठीक २ जानने वाला ब्रह्मा होता है" और सामवेदभाष्य की भूमिका के आरम्भ में सायणाचार्य ने भी कहा है कि "होता आदि तीनों की भूल वा दोष को सदा ब्रह्मा सुधारा करे" सो ब्रह्मा ऋत्विज में यह तभी ठीक घट सकता है जब वह चारों वेद का ज्ञाता होने से सम्पूर्ण त्रयीविद्या का विद्वान् हो । और सब वेदों का ज्ञाता होने से ही उस का विश्वव्यचा और समुद्र नाम यजुर्वेद (५ । ३३) में आया ठीक बन सकता है । और गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध (१ । ३ । १ । २) में स्पष्ट ही कहा दीखता है कि "इस से ऋग्वेदज्ञ को होता बनाओ, यजुर्वेद जानने वाले को अध्वर्यु, सामवेत्ता को उद्गाता और अथर्ववेद जानने वाले को ब्रह्मा नाम से स्वीकार करो । पहिले प्रजापति ने यज्ञ किया उस ने ऋग्वेद से होता के कर्म, यजु से अध्वर्यु के और साम से उद्गाता के तथा अथर्व से ब्रह्मा के काम वा होने को नियत किया ॥

इस प्रकार यज्ञसम्बन्धी होतादि के कर्मों के अनुसार ही वेद की चार संहिता सिद्ध हुईं । और जिस में जिस ऋक् आदि के कर्म का व्याख्यान सुना जाता है वही उस वेद का ब्राह्मण है । सो सर्वानुक्रमणी भाष्य की भूमिका में लिखा है कि " विधि और अर्थवादरूप शेष भाग को ब्राह्मण कहते हैं " इस प्रकार एक ही वेद के चार भाग सिद्ध हुए इस में कुछ सन्देह नहीं । और सामवेद सम्बन्धी ऊह वा ऊह्य ग्रन्थों के प्रकरण की परिपाटी देखने से भी यही भास होता है कि यज्ञसम्बन्धी कर्म की सुगमता के लिये ही वेद के चार भाग किये गये । क्योंकि उन दोनों ऊह ऊह्य ग्रन्थों में क्रम से दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त, और क्षुद्र इन सात विषयों का वर्णन है । इसी प्रकार यजुर्वेदसंहिताभाष्य के प्रथमानुवाक के व्याख्यान की अवतरणिका में जो सायणाचार्य ने कहा है कि "इस वेद में कहे दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि के मन्त्र तीन प्रकार के हैं १-अध्वर्यु २-यजमान और ३-होतासम्बन्धी, इन में यजमान और होतासम्बन्धी मन्त्रों के चित्र (तस्वीर) स्थानी होने से भित्ति (दीवार) स्थानी अध्वर्युसम्बन्धी मन्त्रों का ही पहिले पाठ होना चाहिये । क्योंकि "सति कुड्ये चित्रं भवति" भित्ति पहिले हो तब उस पर चित्रकारी खींची जा

सकती है” इत्यादि कथन भी इस में संघटित होता है। यदि यज्ञकार्यों के क्रम से चारों वेदसंहिताओं का विभाग न किया हो तो वैसा कथन भी असंगत हो जावे। और वस्तुतः यजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा के परिच्छेदों का रचना-प्रकार देखने से ही यह सन्देह दूर भाग जाता है तब बहुत प्रमाण खोजने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ नहीं॥

तथा च निष्पन्नमेतत्-होतृव्यवहार्यमन्त्रास्तु सर्वएव ऋचः; तासामृचां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव ऋक्संहितेति सम्पन्नः तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थ ऋग्ब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना ऋग्वेदइति प्रसिद्धौ। अध्वर्युव्यवहार्यमन्त्राः प्रायो यजूंषि, ऋचोपि सन्ति; तादृशर्ग्यजुःसंहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव यजुःसंहितेति सम्पन्नः; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थो यजुर्ब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना यजुर्वेदइति प्रसिद्धौ। उद्गातृव्यवहार्यमन्त्रास्तु ऋचो, यजूंषि, सामानि च। तादृशर्ग्यजुःसाम्नां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थएव सामसंहितेति सम्पन्नः; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थः सामब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना सामवेदइति प्रसिद्धौ। ये, खलु ऋग्वेदमात्रे कृतश्रमाः; अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च ऋग्वेदमात्रम्। तएवाख्यायन्ते ऋग्वेदिनइति। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः तेऽपि तदीयसंहितायामन्तर्निविष्टाः। ये खलु यजुर्वेदमात्रे कृतश्रमाः अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च यजुर्वेदमात्रम्, तएवाख्यायन्ते यजुर्वेदिनइति। किञ्च यजुःसंहितायामृचामपि सद्भावात् यजुर्वेदिनामृग्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते “द्विवेदी”-इत्यप्युच्यन्ते, भाषायां ‘दुवे’-इति च। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः, तेऽपि तदीयसंहितायामन्तर्निविष्टाः। ये खलु सामवेदमात्रे कृतश्रमाः, अध्यापयन्ति, व्यवहरन्ति च सामवेदमात्रम्, तएवाख्यायन्ते सामवेदिनइति; किञ्च सामसंहितायामृचां यजुषाञ्च विद्यमानत्वात्

सामवेदिनामृग्यजुषोर्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते "त्रिवेदी" इत्यप्युच्यन्ते; भाषायां 'त्रिवाडी'—'तिवारी'—इति च। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः तेऽपि तदीयसंहितायां ब्राह्मणे चान्तर्निविष्टाः। एभ्योऽवशिष्टमन्त्राणां पेटिकारूपा संहत्यैव निबद्धा चतुर्थसंहिता सम्पन्ना, तत्र ऋचोऽपि सन्ति यजूंषि अपि, सैवाथर्वसंहितेति प्रसिद्धा। तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थोऽथर्वब्राह्मणमिति। तावेव ग्रन्थावधुना अथर्ववेदइति प्रसिद्धौ। क्रतौ ब्रह्मत्वकार्ये कर्तव्ये सर्वासामेवर्चां सर्वेषामेव यजुषां सर्वेषाञ्चैव साम्नां बोधः प्रयोजनीयः; तादृशसर्वमन्त्रवेत्तृत्वञ्च ऋग्यजुःसामसंहिताध्ययनवतामपि अथर्वसंहिताध्ययनमन्तरा न सम्भवति, अतो यथा होत्रे ऋग्वेदः, यथा च आध्वर्यवे यजुर्वेदः यथैव औद्गात्रे सामवेदः तथैव ब्रह्मत्वेऽथर्ववेदः। किञ्च यथा ऋग्वेदस्य होतृवेदइत्यपरं नाम यथा च यजुर्वेदस्य अध्वर्युर्वेद इत्यपरं नाम, यथैव सामवेदस्य उग्द्रातृवेदइत्यपरं नाम, तथैवाथर्ववेदस्य ब्रह्मवेद इत्यपरं नाम। अपि च ब्रह्मत्वकरणायैवाथर्ववेदाध्ययनं विशेषतः सप्रयोजनम्, तच्च ऋगध्ययनमृते न सम्भवति, अतोऽथर्ववेदाद्यध्ययनेच्छूनामृग्वेदाध्ययनमप्यवश्यं कर्तव्यमित्यतो येत्वथर्ववेदिनस्त एव प्रायश्चतुर्वेदाध्यायिनो भवन्ति, ततः "चतुर्वेदी"—इत्याख्यायन्ते, भाषायां 'चौबे'—इति च। तदेवं मूलत एकस्यैव वेदस्य रचनाभेदमूलकत्रयीत्वेऽपि हौत्रादिकार्यसौकर्यार्थं कृतं चतुष्ट्वमवश्यमेव सर्वैरादरणीयम्। अतएव दृश्यतेऽत्र निरुक्तेऽपि—"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः (४ भा० ३४५ पृ०)"—इति। सिद्धमित्थं चत्वार एव वेदास्त्रयी शब्दवाच्याइति ॥

अब इस पूर्वोक्त सब कथन से यह सिद्ध हुआ कि होता के काम में आने वाले सब मन्त्र ऋच् कहाते उन ऋचाओं के समुदाय से युक्त ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता

हुआ और उन ऋचाओं के विनियोगादि का कहने वाला ग्रन्थ ऋग्ब्राह्मण हुआ ये ही दोनों ग्रन्थ सम्प्रति ऋग्वेद नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु के काम में आने वाले मन्त्र प्रायः यजुः कहाते किन्तु उन में ऋचा भी मिली हैं उन दोनों ऋग्यजुः समुदाय से बने ग्रन्थ का नाम यजुर्वेदसंहिता हुआ और उन के विनियोगादि को दिखाने वाला ग्रन्थ यजुर्ब्राह्मण कहाया ये ही दोनों ग्रन्थ इस समय यजुर्वेद करके प्रसिद्ध हैं। उद्गाता के व्यवहार करने योग्य मन्त्र ऋक् यजुः और साम तीनों हैं; उन तीनों के समुदाय से सम्बद्ध ग्रन्थ सामवेद हुआ और उस का विनियोगादि दिखाने वाला ग्रन्थ सामब्राह्मण कहाया, इन्हीं दोनों ग्रन्थों को सम्प्रति सामवेद कहते हैं। जिन लोगों ने ऋग्वेदमात्र पढ़ा उसी को पढ़ाते और उसी का व्यवहार करते वे ऋग्वेदी कहाते हैं उन ऋग्वेदियों के ब्रह्मयज्ञादि कर्मों की सिद्धि के लिये जो कुछ मन्त्र आवश्यक हैं वे उन की संहिता में विद्यमान हैं। जो लोग यजुर्वेदमात्र पढ़ के उसी को पढ़ाते और व्यवहार करते हैं वे यजुर्वेदी कहाते हैं; किन्तु यजुःसंहिता में ऋचाओं के भी विद्यमान होने से यजुर्वेदियों का ऋग्वेद का भी बोध हो जाता इस से वेही द्विवेदी वा दुवे कहाते हैं। उन के ब्रह्मयज्ञादि की सिद्धि के लिये जो कुछ मन्त्र प्रयोजनीय हैं वे उन की संहिता में विद्यमान हैं। और जो सामवेदमात्र को पढ़ के पढ़ाते और व्यवहार करते हैं वे सामवेदी कहाते हैं; सामसंहिता में ऋक् यजुः नामक मन्त्रों के भी विद्यमान रहने से ऋग् यजुः का भी सामवेदियों को बोध हो जाता इसी से त्रिवेदी वा तिवारी कहाते हैं। और उन सामवेदियों के ब्रम्हयज्ञादि की सिद्धि के लिये जो मन्त्र आवश्यक हैं वे भी उन की संहिता वा ब्राह्मण में विद्यमान हैं। इन से भिन्न मन्त्रों की पिटारी रूप से बनी चौथी संहिता है उस में ऋक् यजुः दोनों प्रकार के मन्त्र हैं उसी का नाम अथर्वसंहिता हुआ उस के विनियोगादि का अभिधायक ग्रन्थ अथर्व ब्राह्मण कहाता वेही दोनों ग्रन्थ सम्प्रति अथर्ववेद कहाते हैं। यज्ञ के समय ब्रह्मा का कार्य करने में सम्पूर्ण ऋक् यजुः साम तीनों का प्रयोजन पड़ता है। और ब्रह्मा होने योग्य सब मन्त्रों की जानकारी होना ऋग्यजुः साम तीनों के पढ़ने पर भी अथर्व पढ़े विना नहीं हो सकती। इस से जैसे होता बनने के लिये ऋक्, अध्वर्यु होने के लिये यजुर्वेद, और उद्गाता होने के लिये सामवेद का ज्ञान आवश्यक है; वैसे ब्रह्मा होने के लिये अथर्ववेद को पढ़ने जानने की आवश्यकता है। जैसे ऋग्वेद का होतृवेद, यजु का अध्वर्युवेद और सामवेद का उद्गातृवेद दूसरा नाम है वैसे अथर्व का ब्रह्मवेद यह नामान्तर है। अर्थात् ब्रह्मा होने के लिये ही अथर्ववेद का पढ़ना विशेष प्रयोजनीय है। सो ऋगादि वेदों को पढ़े विना ब्रह्मा नहीं हो सकता इस से जो लोग अथर्ववेद पढ़ना चाहें उन को ऋगादि वेद अवश्य पढ़ने चाहियें। इस से जो अथर्ववेदी हैं वे ही प्रायः चतुर्वेद पाठी होते जिस से वे चतुर्वेदी वा चौबे कहाते हैं। सो

इस पूर्वोक्त प्रकार से एक ही वेद के रचनाभेद होने से त्रयी होने पर होतादि के कार्यों की सुगमता के लिये चार वेद का होना सब को अवश्य मानना चाहिये। इसी लिये इस निरुक्त में भी कहा है कि "यज्ञ के चार शृङ्ग चार वेद हैं" इस प्रकार सिद्ध हुआ कि त्रयीशब्द से चारों ही वेद का ग्रहण वा बोध होता है ॥

सम्पादकीय समालोचना—सामश्रमी जी के उपरोक्त लेख को वा उस के भाषानुवाद को पाठक लोग विचार पूर्वक पढ़ेंगे तो उस का आशय जान लेंगे। इस लिये सब अंशों पर लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं। सब व्याख्यान का मुख्य सिद्धान्त यह निकला कि ऋगादि नाम से प्रसिद्ध चारों वेदसंहिता त्रयी करके लिये जाते हैं किन्तु वेदत्रय, ऋग्यजुः साम, वा, त्रयीविद्या कहने से तीन वेदपुस्तकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण "त्रयोवेदा अजायन्त" वा "वेदत्रयं निरदुहत्" इत्यादि प्रमाणों में चारों वेद का ग्रहण मानना चाहिये। और इसी लिये इस विषय में अथर्व की पीछे उत्पत्ति मानना विदेशी लोगों का भ्रम अवश्य है। अब हम को दो बातों पर विशेष विचार करना है। एक तो सृष्टि के आरम्भ में वेद एक था और पीछे अथर्वा ऋषि ने यज्ञों की सुगमता के लिये उस के चार भाग किये क्या यह सामश्रमी जी का परामर्श सत्य है? अथवा ईश्वरीयरचना के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से ही वेद के चार पुस्तक और त्रयीविद्या मानी गयी? इन दोनों में क्या सत्य है?। द्वितीय चौथे वेद का अथर्वनाम क्यों पड़ा? इन विषयों में सामश्रमी जी का परामर्श ठीक नहीं क्योंकि सामश्रमी जी यदि वेद शब्द को जातिवाचक मान कर एकत्व कहते तो जैसा एकत्व पहिले था वैसा अब भी वेदत्व सामान्य को लेकर एक ही वेद है। जैसे मनुष्यत्व सामान्य मनुष्य की सब व्यक्तियों में एक ही माना जाता है। इसी प्रकार सब ऋगादि के साथ सम्बद्ध जातिरूप से एक वेद सदा ही माना जायगा। और पुस्तक व्यक्तिरूप से वेद का विभाग सृष्टि के आरम्भ में ही परमेश्वर ने किया यह बात प्रथम तो वेद से ही सिद्ध है कि चार वेद परमेश्वर से हुए। अथर्व ११। ७। २४—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अर्थः—ऋग्यजुः साम और छन्दः पद से अथर्व (पुराणम्) ये प्राचीन वा सनातन चारों वेद सर्गारम्भ में उच्छिष्ट नामक परमात्मा से उत्पन्न हुए। और "बिभर्ति भर्त्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता" यह भी मन्त्र उसी सूक्त ११ काण्ड के सातवें अनुवाक का है जिस में उच्छिष्ट शब्द का अर्थ भी स्पष्ट खोल दिया कि जिस से कोई विवाद न करे अर्थात् जो सब जगत् का रक्षक वा उत्पादक तथा सब का धारण करने वाला है प्रलय के पश्चात् वही एक शेष रह जाता अन्य

सब नष्ट वा अदृश्य हो जाता है इस लिये उस ब्रह्म का नाम उच्छिष्ट है इसी कारण उस परमात्मा को शेष भी कहते हैं। उसी से चारवेद हुए। इसी प्रकार ऋगादि अन्य वेदों में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिन में परमेश्वर से चारों वेद का होना स्पष्ट दीखता है। और वेदों के अनुकूल ही अन्य ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों में प्रारम्भ से ही चारों वेदों का होना स्पष्ट सिद्ध होता है तब अथर्वा ऋषि ने वेदों का विभाग ऋगादि नाम से किया यह कैसे सिद्ध होगा क्या अथर्वा से वेदविभाग मानने वाले लोग सब वेद के मन्त्रों को अथर्वा से पहिले ही से नहीं मानेंगे? यदि मानेंगे तो ऋगादि की भिन्न २ उत्पत्ति परमेश्वर से दिखाने वाले मन्त्रों को क्या अथर्वा के बनाये मानेंगे? यदि मानें तो क्या प्रमाण है अर्थात् कुछ नहीं। इस लिये पहिले सर्गारम्भ से ही वेद चार हुए अथर्वादि किसी ने चार नहीं किये यही मन्तव्य ठीक है। और सभी ऐतिहासिक लोग सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा जी को चारों वेद का ज्ञाता वा वक्ता मानते हैं। चारों वेद जिस के मुख में हों वह चतुर्मुख इस अर्थ से ही ब्रह्मा चतुर्मुख कहाये यह सिद्ध होता है तो यह कैसे ठीक हो सकेगा कि अथर्वा ऋषि ने वेदों का विभाग किया। क्योंकि अथर्वा से पहिले हुए ब्रह्मा जी ने चारों वेद पहिले ही पढ़े जाने और पीछे हुए अथर्वा ने विभाग किया यह कहना ऐसा है कि जैसे "पिता के जन्म का दर्शन पुत्र ने किया" यह असम्भव कथन है। इस से अथर्वा को ऋगादि वेदों का विभागकर्त्ता मानना ठीक नहीं। अब विचारणीय विषय यह है कि अथर्व शब्द का अर्थ क्या है और ऋग्वेद में तथा अथर्व में आये अथर्वा पद से किस का ग्रहण होगा—इस का उत्तर यह है कि—

थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधो निपातः—इति निरुक्ते। चर-गतिभक्षणयोरिति भौवादिकः। चरसंशये चौरादिकः। यो न चरति न चलति न कुतोऽपि क्वापि गच्छति विभुत्वाद्यद्वा न किमपि भक्षयति "अनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति" इत्युक्तत्वात्, अथवा यो न संशयमाप्नोति सर्वदैव समाहितः सर्वज्ञत्वात्स्वाश्रयिणां सर्वसन्देहनिवारकः स परमेश्वर एवाथर्वपदवाच्यः। सामान्यनित्यार्थबोधका यौगिका एव वैदिकाः शब्दा इति सर्वार्षशास्त्रसम्मतमिति। तस्यैव नाम ऋग्वेदादिसंहितासु—अथर्वपदेन बोध्यम्। तथा च "यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते" इत्यस्य ऋग्मन्त्रस्यायमर्थः—प्रथमो विस्तृतो व्याप्तोऽनादिरुक्तार्थाथर्वपदवाच्यः परमात्मा

सर्गारम्भे मनुष्याणां प्राणिमात्रस्य वा कल्याणार्थं सुखेन जीवनाय यज्ञैर्वेदद्वारा कर्तव्ययज्ञादिधर्म्यकर्मभिः पथः पन्थानं धर्ममार्गं तते विस्तृतं कृतवान्। तथा "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत" पुष्करादधि आकाशे तमग्निमथर्वा परमेश्वरः सर्गारम्भे निरमन्थत निर्मथ्य निस्सारितवान्। तथा "अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ अथर्व०७।१।२" योऽथर्वपदवाच्यः परमेश्वर इमं यज्ञं यज्ञादिकं धर्मकृत्यं मनसा प्रकृष्टज्ञानेन चिकेत ज्ञातवान् सर्गारम्भे ज्ञात्वा च नोऽस्मभ्यं प्रवोच ऋग्वेदादिनोपदिष्टवांश्च तमथर्वाणमचलमसन्दिग्धं च पितरं सर्वरक्षकं सर्वोत्पादकं च देवबन्धुं देवानां धर्मात्मनां विद्याधर्मप्रचारकाणां पुरुषाणां बन्धुभूतं मातुर्गर्भमिव स्वान्तःकरणे ज्ञानिभिर्ध्रियमाणं पितुरसुं पितुः पुत्रमिव ज्ञानिनां प्रियतमं युवानं सदैवाजरमेकावस्थमेवंभूतमिहेहास्मिन्नस्मिन्कार्ये त्वं ब्रूहि प्रार्थय स्मर च। ब्रवइति लेट् प्रयोगः॥

भाषार्थः—थर्वशब्द का अर्थ निरुक्तकारों की सम्मति के अनुसार चलायमान, खाने वाला, वा सन्देह युक्त होना है और जो व्यापक होने से आकाश के तुल्य अचल है कहीं से चल के वा हट के कहीं नहीं जाता, जो कुछ नहीं खाता वा शुभाशुभ कर्मों के फल सुख दुःख नहीं भोगता क्योंकि वेद में उस को अभोक्ता कहा है। और जो संशय में नहीं पड़ता क्योंकि सर्वज्ञ है अल्पज्ञानी को अनेक सन्देह होते हैं, जो अपने आश्रित भक्तों के सब सन्देहों का दूर करने वाला है। उस परमेश्वर का नाम अथर्वा है। अर्थात् जिस में थर्व नाम सन्देह, चलायमानता और भक्षण वा भोग नहीं वह थर्व का निषेध अथर्व निपात पद वाच्य परमेश्वर है। और वेद के शब्द नित्य वा सामान्य अर्थ के वाचक यौगिक ही होते हैं यह सब आर्षग्रन्थों के अनुकूल है। तब उसी परमेश्वर का ग्रहण ऋग्वेदादि संहिताओं में अथर्व पद से करना चाहिये। इस के अनुसार (यज्ञैरथर्वा०) इस ऋग्वेद के वाक्य का यह अर्थ होगा कि (प्रथमः) व्यापक अनादि (अथर्वा) पर्वोक्त अचलादि अर्थ वाले परमेश्वर ने (यज्ञैः) वेद द्वारा कर्त्तव्य यज्ञादि कर्मों के प्रचार से (पथः) धर्म मार्ग को मनुष्य वा प्राणिमात्र के कल्याणार्थ सब के

सुखपूर्वक जीवन के लिये (तते) विस्तृत किया, तथा (त्वामग्ने०) सृष्टि के आरम्भ में अथर्वा नामक परमेश्वर ने इस अग्नि को मथ कर आकाश में उत्पन्न किया। तथा (य इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जिस अथर्वा नामक परमेश्वर ने इस यज्ञादि धर्म कार्य को अपनी सर्वज्ञता से महोपकारी जान के (नः प्रवोचः) सृष्टि के आरम्भ में ऋग्वेदादि द्वारा हमारे लिये उपदेश किया (ममधर्माणम्) उस अचल अमनिदन्य (पितरम्) सर्वरक्षक सर्वोत्पादक (देवबन्धुम्) विद्याधर्मप्रचारक धर्मात्माओं के बन्धुरूप हितैषी (मातुर्गर्भम्) माता के गर्भ के तुल्य सावधानी से ज्ञानी लोग जिस को अपने हृदय में धारण करते (पितुरसुम्) पिता को पुत्र के तुल्य ज्ञानियों को जो अत्यन्त प्रिय है जो (युवानम्) सदा अजर वृद्धावस्थारहित एकावस्था में स्थित ऐसे परमेश्वर को हे मनुष्य तू (इहेह) इन २ अपने सुख हेतु कामों वा विपत्ति आदि के समय (ब्रवः) स्मरण किया कर वा उस की प्रार्थना किया कर ॥

हम पहिले लिख चुके हैं कि ऋक् आदि संहिताओं के विभाग परमेश्वर की ओर से सृष्टि के आरम्भ में वेद वा विद्या के प्रधान तीन भेद जताने के लिये हुये। ऋक्शब्द से वाणीकर्म स्तुति नाम प्रथम कक्षा का कर्त्तव्य लिया जाता यजुः शब्द द्वितीय कक्षा के यज्ञरूप उपासना का वाचक और तृतीय सामशब्द "साम सान्त्वने। वा, षो अन्तकर्मणि" धातु से तृतीय कक्षा के कर्त्तव्य तप शान्ति वा ज्ञानबोधक है। अर्थात् विद्या वा वेद की तीन कक्षा वा अवस्था वा कोटि दिखाने के लिये तीन ऋगादि वेद परमेश्वर ने भिन्न २ बनाये। इन्हीं ऋग् यजुः साम तीनों का नाम वास्तव में त्रयीविद्या है इस त्रयी का विशेष व्याख्यान आगे २ किया जायगा। ऋगादि शब्द तीन प्रकार की विद्या के बोधक हैं इसी लिये पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ऋषि ने इन का लाक्षणिक अर्थ दिखाया है किन्तु शब्दार्थ नहीं अर्थात् जैसे-"गीतिषु सामाख्या" कहा तो यहां आख्या शब्द से यह जताया है कि गाये जाने वाले मन्त्रों को लोक सामपद से कहते हैं किन्तु सामशब्द का गान अर्थ नहीं है। ऋगादि शब्दों का अर्थ–कर्म, उपासना और ज्ञान हो सकता है जो कि त्रयी विद्या का विषय माना जाता है। हमारे इस कथन का आशय यह है कि सामश्रमी जी के कथनानुसार यज्ञसम्बन्धी कार्य की सुगमता के लिये ही केवल ऋगादि का विभाग हुआ यह ठीक नहीं किन्तु मुख्यकर विद्या के तीन भेद दिखाने के लिये ऋगादि वेदों का विभाग किया गया। जैसे त्रयीविद्या के नियमानुसार सर्वत्र तीन वा चार प्रकारों में विभाग करके कार्य करना सुगम होता है वैसे उसी नियमानुसार यज्ञ में भी होतादि के काम का विभाग त्रयी के अनुसार है। होता केवल होम कर्म करने वाला, अध्वरनाम यज्ञ का मन वचन कर्म से उपासक अर्थात् यज्ञ के ठीक होने के लिये यज्ञ कार्यों की सम्हाल रखने

वाला और उद्गाता नाम उपास्यदेव में शान्तिपूर्वक चित्त लगाकर और सब ओर से चित्त को एकाग्र करके वेद का गान करने वाला । इस प्रकार होतादि के कार्यों का विभाग भी त्रयीविद्या के भेद से हुआ वा त्रयी के लिये हुआ किन्तु होतादि के कार्य बांटने के लिये त्रयीभेद हुआ यह कथन उलटा है । इस के अनुसार " यदृचैव हौत्रं क्रियते । तथा तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व " इत्यादि ऐतरेय वा गोपथ ब्राह्मणादि के प्रमाण भी हमारे पक्ष में ठीक घट-जाते हैं कि प्रथम कक्षा की वेदविद्या में जो प्रवीण (पास) हो वह होतृ कर्म के लिये उपयोगी होता वा प्रथम कक्षा की ऋग्विद्या के ज्ञाता को होता बनाना चाहिये, इसी प्रकार द्वितीय कक्षा की यजु नामक वेद विद्या में प्रवीण अध्वर्यु के कर्म को ठीक वा अच्छा करने योग्य होता, और तृतीय साम नामक वेद विद्या में प्रवीण उद्गाता होने योग्य होता है । जैसे पहिली २ संख्या अगली २ अधिक में प्रविष्ट रहती है वैसे ही यजु में ऋक् तथा साम में ऋग्यजु दोनों और अथर्व में ऋग्यजुः साम तीनों का समावेश मानना चाहिये । इस उक्त प्रकार से सामञ्जस्यों के लिखे सभी प्रमाण हमारे पक्ष के पोषक बने हुए हैं इस लिये ऋगादि तीन वेद का विभाग त्रयीविद्या के लिये मानना चाहिये यह सत्य है । अब रहा चौथा वेद अथर्व उस का विभाग विद्या की तुरीयावस्था जताने के लिये है । चतुर्थ वेद का अथर्व नाम भी चौथी विद्या के प्रकाशनार्थ ही हुआ है क्योंकि चौथी विद्या पहिली तीन के मेल से हुई है । जैसे किन्हीं तीन वस्तुओं को एकत्र संघट्ट करके मिला दिया जाय तो वह उन एक२तीनों से भिन्न चौथा वस्तु बन जाता है किन्तु उस को किसी एक के नाम से नहीं कह सकते वैसे ही ऋगादि तीन प्रकार की विद्या के मेल से चौथा अथर्व वेद हुआ । इस का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना कि तीनों वेद के मन्त्र वा तीनों में से कहीं २ के वाक्य वा शब्द जोड़ का अथर्व वेद बना किन्तु अभिप्राय यह है कि तीनों प्रकार की विद्या के आशयों के संघट्ट का नाम चौथा वेद है। निघण्टु के पञ्चमाध्याय पञ्चमखण्ड में मध्यस्थान देवताओं के छत्तीस नामों में "अङ्गिरसः, अथर्वाणः" ये दोनों पद आये हैं । सो पृथिवीस्थान अग्निकोटि के देवताओं का प्रधानता से ऋग्वेद में व्याख्यान है और अन्तरिक्षस्थान वायुकोटि के देवताओं का प्रधान व्याख्यान यजु में तथा स्वःस्थान तीसरी सूर्य वा आदित्य कोटि के देवताओं की व्याख्या करना सामवेद का प्रधान विषय है । तथा पृथिवी और अन्तरिक्ष वा अन्तरिक्ष और दिव् इन दो २ के सन्धिगत देवताओं के वर्णन की प्रधानता अथर्व में है । सन्धिगतदेवता तीनों कोटि से सम्बद्ध रहते हैं । अङ्गिरस् और अथर्व भी सन्धिगत देवतावाचक लिये जायंगे। अग्नि आदि देवताओं की जिन सन्धिगत शक्तियों में थर्व नाम चलायमानता

खूबचन्द बुधोलिया कृत प्रश्नों के उत्तर ॥

आर्यसिद्धान्त के पाठक महाशयों की सेवा में निवेदन है कि महाशय श्री खूबचन्द बुधोलिया ने कई प्रश्न मेरे पास उत्तर के लिये भेजे हैं उन का उत्तर यहां छपाना इसलिये उपकारी समझा कि अन्य भी लोगों को ऐसे २ सन्देह हुआ करते हैं उन का उत्तर छपजाने से सब लोगों की शङ्का दूर होंगी ॥

१ (प्रश्न)—मंजारों और श्वान के बच्चों के नेत्र जन्मसमय बन्द रहने का क्या कारण है ? । और २ जन्तुओं के नहीं यह क्या कारण है ? ॥

उत्तर—प्रत्येक जाति के प्राणियों के प्राकृत वा स्वाभाविक गुण भिन्न २ हैं । इस का मूल कारण उस २ जाति के भिन्न २ आहार विहार तथा कर्म हैं । जो २ प्राणी जैसे २ पदार्थ खाता है जैसे २ कर्म करता है वैसी २ वासना उन की सञ्चित होती हैं वैसी ही उन की बुद्धि होती तदनुकूल उन के आचरण आगे २ बनते बिगड़ते हैं । इस प्रसंग में मानवधर्मशास्त्र का एक श्लोक १२ अ० का लिखते हैं ।

> शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
> वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥

भा०—जैसे मन, वाणी और शरीर इन्हीं तीनों से तीन प्रकार के शुभकर्म होते हैं वैसे इन्हीं तीन से मुख्यकर तीन ही प्रकार के पाप भी होते हैं । मानस पापों की अधिकता से चाण्डालादि अन्त्यज कुलों में जन्म होता, वाणीसम्बन्धी पापों के अधिक सञ्चय से तिर्यग्योनि पशु पक्षी आदि की योनि मिलती और चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार परस्त्रीगमनरूप शारीरिक पापों की सर्वोपरि प्रधानता से वृक्ष वनस्पत्यादि स्थावर योनियों में जन्म होता है । तात्पर्य यह है कि मानस से वाचिक और वाणी के पापों से भी अधिक बुरे वा प्रबल शारीरिक पाप हैं इसी लिये अगले २ का अधिक २ बुरा वा कठिन दण्ड लिखा है । मनुष्य की अपेक्षा तिर्यग्योनि में तमोगुण अधिक है और उस से भी अधिक तमोगुण स्थावरों में है जो सदा सुषुप्ति दशा में ही पड़े रहते हैं और इस तीसरी कक्षा के तमोगुण के कारण चोरी हिंसा और व्यभिचार हैं । जो मनुष्य बहुत काल तक वा जन्मभर लगातार निरन्तर चोरी हिंसा मांसभक्षण नित्य नियम से प्राणियों को मार २ कर करता है वह इतना तमोगुणी हो जाता है कि जिस से जन्मान्तरों में स्थावरयोनि मिले । इन तीन प्रकार के चोरी आदि पापों में भी हिंसा सब से बड़ा पाप है क्योंकि प्रत्यक्ष भी दीखता है कि जब किसी के घर में चोर डाकू घुस पड़ें तो वह अपने धनादि इष्ट पदार्थों की चोरी होजाने की अपेक्षा अपने जीवन को बड़ा समझता और धनादि पदार्थों को मारे जाने के

भय से बता देता और यथासम्भव अपने प्राणों की रक्षा करता है अर्थात् प्राण जाने की अपेक्षा चोरी को अच्छी मानता है। इसी प्रकार मान लो कि सब प्राणी अपने जीवन की रक्षा सर्वोपरि इष्ट समझते हैं। इसी लिये हिंसा सब से बड़ा पाप और अहिंसा वा हिंसा से बचाना सर्वोपरि पुण्य है। नित्यप्रति हिंसा कर२ मांस खाने वाले प्राणियों की मननशक्ति वा चेतनता घटती जाती है तमोगुण बढ़ता जाता है क्योंकि वे अन्य प्राणियों की चेतनता का जो नित्यप्रति नाश करते जाते हैं इस से उन के मन में नित्य२ धक्का लगते२ तमोगुण बढ़ता जाता है। जैसे कोई मनुष्य जलते हुये दीपकों को बुताने का स्वभाव डालले जहां दीपक जलते देखे वहीं बुताने को तत्पर हो तो मानो उस का आत्मा सत्त्वगुणरूप प्रकाश को मिटा कर अन्धकार को चाहता है यह सिद्ध होगा। वैसे ही सत्त्वगुणरूप अन्य प्राणियों की चेतनता को बिगाड़ने वाला नित्य२ तमोगुण की ओर झुकता जाता है। इसी लिये वह तमोगुण की अधिकता से जन्मान्तर में स्थावरयोनि को प्राप्त होता है। मांसभक्षण हिंसारूप अधर्म से पूरा सम्बन्ध रखने वाला है क्योंकि मांसभक्षी पुरुष कदाचित् अपने हाथ से हिंसा न करें तो भी मनु आदि के "खादकश्चेति घातकाः" इत्यादि प्रमाणों के अनुसार वह हिंसक अवश्य माना जायगा इसी लिये उस को सत्त्व गुणरूप मानस शक्ति की दिन २ हानि और तमोगुण की वृद्धि होती जायगी। इसी लिये वेद में भी स्पष्ट लिखा है कि। अथर्व० ६। ७०। १।

यथा॑ मां॒सं यथा॒ सुरा॒ यथा॒ऽक्षा अ॑धि॒देव॑ने।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒तः स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑ ॥

अर्थात् मांस मद्य खाने पीने जुआ खेलने वाले तथा स्त्री से मैथुन करने वाले पुरुष की मानस शक्ति घटती है। मांसादि चारों का सेवन धर्म की ओर से वा सत्त्वगुणरूप प्रकाश से सदा ही मन को हटाता और तमो गुणरूप अन्धकार की ओर झुकाता जाता है। इस की साक्षी निरुक्तकार ने भी मांस पद के अर्थपर दी है कि "मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा" निरुक्त पूर्वार्द्ध अ० ४ खण्ड ३। जिस के सेवन वा भक्षण करने वालों का मन नष्ट होता वा दुःखित मलीन तमोगुणी होता है। सीदति क्रिया का अर्थ बहुत स्पष्ट है धात्वर्थ से अवसाद वा हिंसा अर्थ होता है। मनुस्मृति में बीसों स्थलों में दुःखार्थ सीदति क्रिया पढ़ी गयी है। जैसे "पङ्के गौरिव सीदति ४। १९१" धर्म कर्म रहित अविद्वान् अपात्र ब्राह्मण यदि दान लेता है तो वह कीचड़ में फंसी गौ के समान दुःख पाता है। अर्थात् मन जिस में दुःखित नष्ट वा मलीन हो इस प्रकार के अर्थ में "म-

न-मद्" दो शब्दों को मिला कर निरुक्तकार ने मांस शब्द की सिद्धि की है और वह पूर्वोक्त वेदमन्त्र के अनुकूल है अर्थात् वेद में मांस पद का आशय देख कर ही निरुक्तकार ने वेदानुकूल वैसा अर्थ किया है । अब वेदादिप्रमाणों से तो यह सिद्ध हो गया कि हिंसा तथा मांसादि अभक्ष्य भक्षणादि शारीरिक दुष्कर्म धर्म से भुलाने चेतनता को घटाने और तमोगुण के बढ़ाने वाले कर्म हैं परन्तु सुनने में आता है कि अनेक अंग्रेज़ी डाक्टर तथा अन्य मांसाहारी लोग मांस को मन की शक्ति का बढ़ाने वाला मानते और आत्मिक उन्नति का सहायक बनाने का उद्योग करते हैं । इस का उत्तर यह है कि जो मनुष्य जिस मत वा जिस दशा में विद्यमान हैं वे सभी अपने २ व्यसन वा कामों को अच्छा कहते वा मानते हैं । अपने काम की स्वयं प्रशंसा करना प्रामाणिक नहीं गिना जा सकता । यदि मांस न खाने वालों में अधिकांश बुद्धिमान् लोग मांसभक्षण को आत्मोन्नति का कारण बताते तो अवश्य कुछ ध्यान देने योग्य होता । सब लोग प्रायः मानते हैं कि भारत वर्ष में ब्रह्मर्षि तपस्वी लोगों ने सृष्टि के आरम्भ से अध्यात्मविषय में जितनी उन्नति प्राप्त की उतनी आज तक किसी देश-देशान्तर के निवासियों ने नहीं कर पायी और इतिहासादि से यह भी सिद्ध है कि वे ब्रह्मर्षिलोग मांसाहारी नहीं थे । तो यह सिद्ध है कि भारतवर्ष में आत्मोन्नति वा आत्मज्ञान की अधिक प्रवृत्ति का कारण मांस मद्य तथा विषयासक्ति का त्याग भी अवश्य था और है । मद्य मांसादि का सेवन विषयवासना को बढ़ाने वाला प्रत्यक्ष है इसीलिये मद्य मांसादि की सहायता से विषयासक्त अन्य-देशवासियों ने अध्यात्म विषय में अब तक कुछ भी अधिकता नहीं प्राप्त की । इत्यादि अनेक हेतुओं से सिद्ध है कि मांसादि का सेवन आत्मोन्नति का साधक नहीं किन्तु बाधक अवश्य है । रहा अंगरेज़ आदि लोगों का दृष्टान्त कि इस जाति के लोग प्रायः मांस मद्य खाने पीने वाले हैं तथापि उन की उन्नति है । इस का उत्तर यह है कि इन लोगों में शारीरिक वा सामाजिक सुधार के बहुत से अच्छे २ नियम हैं जिन के कारण इन की कुछ उन्नति है किन्तु धर्म विषय वा अध्यात्मविषय में इन की कुछ भी उन्नति नहीं है। कार्यसाधन व व्यवहार-बुद्धि के अधिक होने से आत्मोन्नति नहीं कह सकते । इस विषय पर विवाद लिखना हमारा उद्देश्य नहीं है इसलिये इस को यहीं छोड़ के अपने प्रकृत विषय का विवेचन करेंगे ॥

हमारा उद्दिष्ट यह था कि मांसमद्यादि का सेवन तमोगुण की ओर झुकाता है और हिंसा कर २ अत्यन्त निरन्तर मांसभक्षणादि करने वाला पुरुष जन्मान्तर में वृक्षादिस्थावर योनि में जाता है कि जहां नित्य ही सुषुप्तिरूप तमोगुण महान्धकार में पड़ा रहता क्योंकि उसने हिंसादिद्वारा अन्य प्राणियों की चेतनशक्ति का विनाश किया तो जानो वह चेतनता को अच्छा

नहीं समझता "जो जैसा बीज बोये वह वैसा फल पावे" इस कहावत के अनुसार वह प्राणी स्थावर योनि में रहने योग्य हो जाता है। और यह प्रत्यक्ष भी है कि जब किसी प्रकार किसी से कोई प्राणी मर जाता है वा समझ पूर्वक मारता है तो मारने वाले के मन को उसी समय धक्का लगता है। यदि उसने दुर्गन्ध में रहने के समान प्राणियों के मारने में अपना अभ्यास बढ़ा लिया हो तो उस को कम जान पड़ेगा और कोई अनभ्यासी करे तो कुछ काल तक उस की धुकधुकी धड़कती रहेगी। और जिस के मन को बहुत काल से असंख्य धक्के लगते आये वह तो पूरा तमोगुणी होता जायगा। जिन के उत्तम कोटि के शारीरिक पाप हों और मानस वाचिक मध्यम वा निकृष्ट हों तो वे स्थावर बनते और जिन मनुष्यों के वाचिक पाप सब से अधिक हों तथा शारीरिक मध्यम हों तो वे कुत्ता बिल्ली आदि मांसाहारी तिर्यग्योनि में जाते हैं। जब कि यह सिद्ध हो चुका कि मांसभक्षण तमोगुण का बढ़ाने वाला है तो कुत्ता बिल्ली आदि मांसाहारी प्राणी मांसाहार न करने वालों की अपेक्षा तमोगुणी अवश्य ठहरे और तमोगुण में आंखों का बन्द होना सिद्ध ही है क्योंकि सुश्रुतकार ने भी शारीर स्थान में लिखा है कि—

निद्राहेतुस्तमः प्रोक्तं जागरणे सत्त्वमुच्यते ॥

निद्रा का हेतु तमोगुण और जागरण का कारण सत्त्वगुण है निद्रा में आंखें बन्द रहती ही हैं। इसलिये मार्जार वा कुत्ते आदि के बच्चों के जन्म समय नेत्र न खुलने का कारण उस जाति में मांसभक्षण तथा हिंसा का स्वाभाविक तमोगुण ही है। यदि कोई कहे कि मांसाहारी मनुष्यों के बच्चों के भी जन्म समय नेत्र बन्द क्यों नहीं रहते तो उत्तर यह है कि—एक तो उस मनुष्य का जब तक इतना तमोगुण संचित नहीं होता जिस से नेत्र बन्द बच्चे हों और अन्त समय इतना तमोगुण हो जाता है तब नीची योनियों में चला जाता है तथा मनुष्य अपने जातीय स्वभाव से कुछ ऐसे भी काम किया करता है जो सत्त्वगुण को उत्तेजना देते रहते हैं। इस कारण यहां इस दोष को अवकाश नहीं है। जैसे नशाबाज़ बैठते उठते ऊंघते हैं और जो नशा नहीं करते उन के नेत्र प्रायः बन्द नहीं होते। इसी प्रकार हिंसा मांसभक्षणादि के तमोगुण की अधिकता से कुत्ते आदि के बच्चों के नेत्र बन्द रहते तथा अन्य प्राणियों के जिन को वैसा वा उतना तमोगुण नहीं है नेत्र बन्द नहीं होते। तमोगुण की अधिकता से ही उन जातियों का नेत्र इन्द्रिय निर्बल वा कम शक्ति वाला स्वभाव से ही होता है इस लिये भी उन के नेत्र बन्द रहते अन्यों के नहीं।

प्रश्न (२)—पञ्जे वाले जन्तु जिह्वा से जल क्यों पीते हैं?।

उत्तर—जातीय स्वभाव से ही पञ्जे वाले जन्तुओं की रसना इन्द्रिय प्रबल

और बड़ी बनी है जिस से वे जिह्वा में पानी लपेट कर पीसकते । और उन का मुख भी अधिक फटा बना है जिस से वे उतना मुख पानी में नहीं घुमा सकते जो मुख से पानी पीसकें । जिह्वा के बड़ी वा प्रबल बनने तथा मुख के अधिक फटने का उन जातियों में हिंसा तथा मांसभक्षण का अधिक होना ही कारण है । अर्थात् फलाहारियों की अपेक्षा मांसाहारी मनुष्यों की जिह्वा भी कुछ प्रबल बड़ी और चटोर हो जाती है वे भी जिह्वा से अधिक काम लेने लगते हैं । क्योंकि मांस के अधिकांश सार से जिह्वा बनती है । इस कारण मांसभक्षण जिह्वा की उन्नति का कारण है जिन को श्वान आदि के तुल्य जिह्वा की उन्नति करना अभीष्ट हो वे मांस खाना आरम्भ करें ।

प्रश्न (३)—स्वाति के बूंद से सीपी के कीड़े मोती किस प्रकार बनते हैं ?

उत्तर—वर्षा ऋतु की वृष्टि से आकाश में छायी हुई सूक्ष्म धूलि सब नीचे पृथिवी पर आजाती है । इसी से आकाश निर्मल शुद्ध हो जाता है । और आश्विन (क्वार) मास की पौर्णमासी इसी कारण अमृतवर्षिणी मानी जाती है । अर्थात् क्वार की पौर्णमासी को चन्द्रमा के अमृतरूप जैसे उत्तम गुण किरणों द्वारा आकाश के अधिक शुद्ध होने से पृथिवी के पदार्थों पर सम्बन्ध करते वैसे अन्य किसी दिन नहीं । और अमृतवर्षिणी पौर्णमासी के थोड़ा ही आगे वा पीछे ज्योतिष के हिसाबानुसार स्वाति नक्षत्र के सूर्य होते हैं अर्थात् स्वाति नक्षत्र के साथ सूर्य की किरणों का विशेष सम्बन्ध होता उस काल में आकाश का जल जितना शुद्ध वा निर्मल मोती बनने योग्य होता है वैसा अन्य किसी समय नहीं होता । स्वाति नक्षत्र के सूर्य का होना ऋतु, उस काल का वृष्टि जल बीज और सीपीरूप खेत इन तीनों कारणों के संयोग से मोती की उत्पत्ति मानी जाती है । क्योंकि अन्यत्र मनुष्यादि प्राणी वा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति भी ऋतु बीज और खेत तीनों कारणों का संयोग मिलने पर ही होती है तीन कारणों में एक के भी अभाव में किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती । कोई न कोई नियत समय प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का हेतु होता है इस कारण कह सकते हैं कि काल ही सृष्टि का कारण है काल के विना कुछ नहीं होता । उस २ काल ही में बीज वा खेत में वैसे २ गुणों का प्रादुर्भाव होता है जिस से मनुष्यादि उत्पन्न होते जाते हैं । अर्थात् अन्य नक्षत्रों के समय अन्तरिक्ष जल ऐसा निर्मल नहीं होता जिस के सम्बन्ध से सीपी में मोती बने इसी कारण पपीहा का सन्तोष भी नहीं होता पपीहा क्या उस सर्वोत्तम जल से सभी का अधिक सन्तोष हो सकता वा होता है । वा यह भी कह सकते हैं कि स्वाति से पहिले सीपीरूप खेत भी ऐसा तयार नहीं हो जाता जिस में वृष्टि जल के सम्बन्ध से मोती बन सकें ॥

प्रश्न—(४) छोटे २ कीड़े मूंगे किस प्रकार बनाते और किस वस्तु से ? ॥

उत्तर—जिन कीड़ों के शरीर में मूंगों के परमाणु होते और प्रकृति के अनुसार वे कीड़े पृथिवी से खोज २ कर ऐसे पदार्थ खाते हैं जिन से मूंगे बन जाते हैं। वा यों कहो कि जिन को आप मूंगा कहते हैं वह कीड़ों का शरीर ही है। जिस पदार्थ वा प्राणी में स्वाभाविक जैसे गुण होते हैं वह अन्य वस्तुओं से अपने अनुकूलगुणों का स्वभाव से ही ग्रहण करता है। जैसे मधुमक्खी पुष्पादि में अपने अनुकूल उस अंश को लेलेती है जिस से मधु (शहद) बन जाता है। और जैसे रेशमके कीड़ों से रेशम बनता है तो उन में स्वाभाविक उपादान कारण से आयो शक्ति माननी पड़ेगी वैसे यहां भी जानो ॥

प्रश्न (५)—सीपी के कीड़े और पपीहा ने स्वाति के बून्द में क्या विशेषता पायी अन्य२ नक्षत्रों के जल से उन की सन्तुष्टता न होने का कारण क्या ? ।

इस का उत्तर तीसरे प्रश्न के उत्तर में आगया ॥

प्रश्न (६)—भूत मन का भ्रम किस प्रकार है इस बात की सिद्धता कैसे ? ॥

उत्तर—अन्य रोगों के तुल्य भ्रम वा भूत भी एक प्रकार की मानस व्याधि है। जैसे शारीरिक रोग शरीर को लगते वैसे मानस रोग मन में लगते हैं। जैसे शारीरिक चिकित्सा से शरीर के रोग छूटते हैं वैसे मानस चिकित्सा से मन के रोग भ्रान्ति वा भूतादि छूट जाते हैं। यदि मानस रोगों की चिकित्सा से भूत भी छूट जाता है तो इसी से भूत का मानस रोग होना सिद्ध होगया। और यह भी सिद्ध ही है अर्थात् सब कोई मानते हैं कि जैसे व्यायामादि शारीरिक उन्नति में तत्पर मनुष्यादि को शारीरिक रोग प्रायः नहीं होते वैसे ही विद्याध्ययन ईश्वरभक्ति सन्ध्योपासनादि उत्तम धर्मकर्मों के द्वारा जो लोग मन वा आत्मा का निरन्तर संस्कार वा संशोधन किया करते हैं उन को भूतादि नहीं सताते किन्तु ऐसे लोगों से भूत डरते हैं। " व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगाइव " यह सुश्रुत का वचन है। जैसे छोटे २ हरिणादि जीवभय से बलवान् सिंह के पास नहीं जाते वैसे ही व्यायामादि द्वारा बलिष्ठ हुए पुरुष से व्याधि अलग रहती हैं पास नहीं खड़ी होतीं। इसी प्रकार आत्मिकोन्नति करने वालों के पास भूत भी नहीं आते। इस से सिद्ध है कि एक प्रकार के मानसरोग का नाम भूत है। जैसे शरीर के रोग भी कोई ऐसे असाध्य होते हैं जो चिकित्सा से भी दूर नहीं होते वैसे ही भूतादि मानस रोग भी किन्हीं के असाध्य हो सकते हैं जो मानसचिकित्सा से भी नहीं जा सकते वहां अविद्या की अधिक प्रबलता माननी पड़ती है। जहां वैद्यकशास्त्र में भूत लगने पर भी शारीरिक ओषधियों का प्रयोग लिखा है वहां मानसभूतरोग को शारीरिक व्याधि का सहकारी कारण मानना इष्ट है कि उस कारणरूप रोग के हटने से मानसभूतरोग भी चला जाना सम्भव है। इसलिये भूतरोग से जो बचना चाहें उन को उचित है कि आत्मसंशोधक वेदादि धर्मशास्त्रों को पढ़ें और तदनुकूल धर्माचरण करें ॥

प्रश्न-७-रसना तो केवल एक मांस का टुकड़ा ही है किन्तु प्रत्येक रस का अलग २ ज्ञान किस प्रकार करती है ? ॥

उत्तर-मांस के टुकड़े का नाम रसना नहीं है किन्तु मांस के टुकड़े का नाम जिह्वा है । और रसना रसग्राहक इन्द्रियशक्ति का नाम है । सुश्रुत के शारीर स्थान में लिखा है कि-

कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ॥

कफ रुधिर और मांस का सार लेकर जिह्वा बनती है। उस जिह्वा में रहने वाली सूक्ष्म अदृश्य शक्ति का नाम रसना इन्द्रिय है । जैसे कर्ण नाम कान का है सुनने की सूक्ष्म शक्तिरूप इन्द्रिय का नाम श्रोत्र है । कान काट लेने पर भी शब्द सुनने की शक्ति बनी रहती और कान देखने में ज्यों का त्यों बना रहे तो भी श्रवणशक्ति श्रोत्रेन्द्रिय के नष्ट होजाने से बधिर मनुष्यादि कुछ नहीं सुनता इसलिये इन्द्रिय गोलक का नाम इन्द्रिय नहीं है किन्तु गोलक में रहने वाली उस २ रूपादि गुण की ग्राहकशक्ति का नाम इन्द्रिय है । इसीलिये कान से सुनता है यह कहना वास्तव में ठीक नहीं किन्तु औपचारिक प्रयोग हो सकता है जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" यहां मञ्चस्थ पुरुष समझा जाता वैसे यहां भी कर्णस्थ इन्द्रियशक्ति से सुनना माना जायगा । जिस धातु से रसनाशब्द बनता उसी से रसशब्द भी बना है सब प्रकार के रस का ग्रहण करने वाली होने से उस जिह्वास्थ इन्द्रियशक्ति का नाम रसना पड़ा है। कभी किसी की रसना इन्द्रियशक्ति नष्ट हो जाय तो जिह्वा के बने रहने पर भी रस का ज्ञान उस को नहीं हो सकता। जैसे नेत्र में सब प्रकार का रूप देखने की शक्ति श्रोत्र में सब प्रकार के शब्दों को सुनने की शक्ति तथा नासिका में रहने वाली घ्राणेन्द्रिय में सब प्रकार के गन्ध सूंघने की शक्ति उत्पत्ति के साथ ही सृष्टि के आरम्भ से परमेश्वर ने नियत की है वैसे रसनेन्द्रिय में सब प्रकार के रस को ग्रहण करने की शक्ति रक्खी है सो इन्द्रिय के साथ स्वाभाविक है ।

प्रश्न-८-साक्रेतीस का डीमन क्या शय था ? ॥

इस प्रश्न का उत्तर तब तक ठीक नहीं हो सकता जब तक इस का विशेष आशय ज्ञात न हो । और वास्तव में किसी निज (खास) पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले विषय के प्रश्न का विशेष उत्तर कोई दे भी नहीं सकता सामान्य उत्तर से सर्वसाधारण को कुछ लाभ भी नहीं हो सकता ।

प्रश्न-(९)-चन्दन सर्प के गुण को ग्रहण नहीं करता इस से सज्जन पद मिला पर सर्प भी तो चन्दन के गुण का ग्रहण नहीं करता ? ।

उत्तर-चन्दन सर्प के गुण का ग्रहण नहीं करता इस से यह आया कि श्रेष्ठ महात्मा धर्मात्मा शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष दुर्जनों का सङ्ग होने पर भी

उन के निकृष्ट गुणों का ग्रहण नहीं करते यही ठीक है इसी से वे लोग श्रेष्ठ धर्मात्मा बने रहते हैं यही उन का कर्त्तव्य है । और सर्पादि दुष्ट स्वभाव वाले श्रेष्ठ चन्दनादि का संग होने पर भी श्रेष्ठ गुण का ग्रहण नहीं करते इसी से वे दुष्ट बने रहते हैं । जातीय स्वाभाविक भले बुरों की पहचान का यही उदाहरण है जो जड़ से ही अच्छे हैं वे संगदोष से भी नहीं बिगड़ते और जो जड़ से ही बुरे हैं वे सत्संग से सुधरते भी नहीं । यही तात्पर्य "मूर्खस्य नास्त्यौषधम्" का भी है ॥

प्रश्न—(१०)—हंसों की समाज में बक शोभा नहीं पाता पर बकुला की समाज में हंस जाय तो वह भी शोभा न पावेगा इस में विशेषता क्या है ? ।

उत्तर—हंसों की समाज में बक शोभा नहीं पाता इसी से हंसों के तुल्य बक की प्रतिष्ठा नहीं होती यदि बक भी हंसों में शोभा पावे तो प्रतिष्ठा के योग्य हो जाय । बक का शोभा न पाना ही उस के अधम वा नीच होने का चिह्न है । और बक समाज में हंसों का शोभा न पाना ही उन के प्रतिष्ठित पुण्यात्मा वा धर्मात्मा श्रेष्ठ सज्जन होने का कारण है यदि बक समाज में हंस शोभा पाते तो वे भी नीच हो जाते । ये ९ । १० दोनों प्रश्न एक ही आशय के हैं इसलिये दोनों का उत्तर दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है ॥

(भाग ७ के पृष्ठ १६ से आगे संस्कार)

भी विद्यमान है इसी प्रकार छोटे २ साधारण कर्माङ्गों में परमेश्वर की प्रार्थना से चित्त में एक प्रकार की प्रसन्नता उत्पन्न होती जाती है वही ग्लानि को मेटने वाली शुद्धिरूप प्रसन्नता प्रार्थना का प्रत्यक्ष फल है ।

सन्ध्योपासन में "इन्द्रियस्पर्श" भी एक अङ्ग है । जैसे हम को सुखी रहने के लिये अनेक साधनाङ्गों की आवश्यकता है वैसे वाणी आदि कर्मेन्द्रियों और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का हमारे जीवनपर्यन्त यथावत् रहना भी हमारे सुख का एक बड़ा भाग है । हम को सन्ध्योपासन के समय नित्य २ परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे वाक् आदि इन्द्रिय धर्मानुकूल कार्य देने वाले रहें अर्थात् धर्मविरुद्ध कार्यों में वा विषयों में न फंसें । इन्द्रियस्पर्श के वास्तव में मूल मन्त्र ये हैं—अथर्व० १९ । ६७ ।

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् । शृणुयाम शरदः शतम् । प्रब्रवाम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् । बुध्येम शरदः शतम् । पुष्येम शरदः शतम् । भूयेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ॥

अभिप्राय यह है कि हम चक्षु आदि इन्द्रियों से सौवर्ष तक निर्विघ्न देखना आदि कर्म करते रहें। यद्यपि मन्त्रों में चक्षुरिन्द्रिय को प्रधान मानकर आरम्भ में दर्शनशक्ति की प्रार्थना लिखी है। तथापि ब्राह्मण वा सूत्र ग्रन्थों के धर्मशास्त्रकारों ने वर्णधर्म की प्रधानता के अनुसार वेदादि के पठनपाठन वा धर्मोपदेश [जो ब्राह्मणवर्ण का मुख्य वा प्रधान कर्त्तव्य है] आदि कर्म के साधन वाक्-इन्द्रिय को प्रधान मानकर इन्द्रिय स्पर्श की प्रधानता वाक् इन्द्रिय से आरम्भ की है उसी के अनुसार "ओंवाक् वाक्" इत्यादि प्रकार पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्म की पद्धतियों में लेख किया गया है। (पश्येम शरदः शतम्) कहने से चक्षु इन्द्रिय की प्रार्थना (जीवेम शरदः शतम्) कहने से प्राण के प्रधानस्थान नासिका का स्पर्श और जीवनस्वरूप प्राण की रक्षा की प्रार्थना है। क्योंकि प्राण धारण का ही नाम जीवन है। इसीलिये नासिका के स्पर्श में "प्राणः प्राणः" लिखा गया है। (शृणुयाम शरदः शतम्) कहने से श्रोत्रेन्द्रिय रक्षा की प्रार्थना (प्रब्रवाम शरदः शतम्) कहने से वाक् इन्द्रिय रक्षा की प्रार्थना करनी इष्ट है कि हम सौवर्ष तक सहर्ष वाणी से वेदों का गान करते परमेश्वर वा धर्म का जयजयकार पुकारते रहें क्योंकि प्रवचन अध्यापन वा धर्मोपदेश धर्मप्रचार आदि वाणी से सम्बन्ध रखता है इस से वाक्स्थानी मुख का स्पर्श करे (रोहेम शरदः शतम्) कहने से आरोहण सीधी उंचाई का मुख्य स्थान नाभिरक्षा की प्रार्थना है क्योंकि शरीर को ठीक वा सीधा रखने वाली सब नाड़ी वा नसों का आरोहण वा प्रसार [फैलाव] सब शरीर में नाभि से ही होता है इसीलिये केन्द्रस्थान को नाभि कहते हैं नाभिशक्ति के निर्बल पड़ने से ही वृद्धावस्था में मनुष्य बीच से लच के टेढ़ा हो जाता है। इसलिये नाभि रक्षा की प्रार्थना से नाड़ी नसों के ठीक प्रबल रहने की प्रार्थना अभीष्ट है (बुध्येम शरदः शतम्) कहने से हृदयदेशस्थ बुद्धि-रक्षा की प्रार्थना और हृदय का स्पर्श करना अभीष्ट है। क्योंकि बुद्धि वा बोध का स्थान हृदय ही माना जाता है (पुष्येम शरदः शतम्) कहने से पुष्टि वा बल के प्रधान स्थान बाहुरक्षा की प्रार्थना और बाहु का स्पर्श करना इष्ट है (भूयेम शरदः शतम्) कहने से शिरमात्र के स्पर्श की आज्ञा और शिरोरक्षा की प्रार्थना करना अभीष्ट है और (भूयसीः शरदः शतात्) का सब के साथ सामान्य सम्बन्ध है कि हमारी सौ वर्ष से अधिक भी यथासम्भव देखने आदि की शक्ति बनी रहें। इन मन्त्रों द्वारा प्रार्थना से केवल इतना ही प्रयोजन नहीं है कि हमारे चक्षु आदि इन्द्रिय सौ वर्ष तक बने रहें किन्तु मुख्य प्रयोजन यह है कि हम अन्य के पदार्थ को वा परस्त्री आदि को अनुचित अधर्म दृष्टि से न देखें धर्मानुकूल कल्याण वा सुख के साधनों को सौ वर्ष तक देखें इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों द्वारा भी अन्याय वा कुमार्ग की ओर न झुकें किन्तु धर्मानुकूल कल्याण के मार्गों में चलें। इन्हीं मूल वेद मन्त्रों का आशय लेकर ब्राह्मणादि पुस्तकों में

" ओं वाक् वाक् " आदि मन्त्रों की ऊहा की गयी ऐसा प्रतीत होता है तद्-नुसार पद्धतिकारों ने भी लिखा सो उचित ही है ॥

प्रश्न—परमेश्वर की प्रार्थना जो लोग करते हैं उन में से भी अनेकों के जीवन वा इन्द्रियशक्ति बराबर नहीं रहती अर्थात् प्रार्थना करने वाले भी जब अनेक लोग अन्धे वा बधिरादि होते और अनेक लोग नास्तिकादि जीवन भर भी कभी प्रार्थना नहीं करते तौभी उन के सब इन्द्रियों की शक्ति यथावत् बनी रहती है तो इस दशा में इन्द्रियस्पर्शपूर्वक प्रार्थना करना कैसे सफल हो सकता है ? ॥

उत्तर—लोक में भी जैसे प्रत्येक कार्य की सिद्धि के जितने साधन हैं उन के पूर्ण और यथोचित होने पर पूरा काम सिद्ध होता, प्रबल वा मुख्य साधनों के होने पर कार्य सिद्धि में इतनी कम न्यूनता रहती है जिस को न्यूनता न कह कर पूरी कार्य सिद्धि लोग मानते, तथा मध्यम साधनों वा कारणों से मध्यम कार्य सिद्ध होता है, और साधनों वा कारणों के अर्धांश से भी कम होने पर वा निर्बल तथा गौण साधन होने से कार्य इतना कम सिद्ध होता है जिस को लोग कहते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ सब निष्फल ही गया। इसी प्रकार वैदिक प्रार्थनादि कामों की सिद्धि के लिये भी वेद में उपदेश किये अनेक साधन हैं जिन सब में धर्म का आचरण प्रधान है। वेद में मनुष्य के लिये धर्मानुकूल आचरण करना सर्वोपरि प्रधान माना गया है। जैसे लोक में भी देखा जाता है कि सब मांगने वाले भिक्षुकों को बराबर भिक्षा नहीं मिलती वा यों कहो कि अपने २ योग्यताधर्माचरणादि साधन वा परिश्रमादिकर्मों के अनुसार सब को न्यूनाधिक मिलती है। तथा यह भी प्रत्यक्ष दीखता है कि किन्हीं २ मांगने वालों को कुछ भी नहीं मिलता वा इतना कम मिलता है जिस को कुछ न मिला कहते हैं और किन्हीं २ योग्य वा प्रतिष्ठितों को विना मांगे एकान्त में बैठे रहने पर भी आवश्यकता से भी अधिक भिक्षा प्राप्त होजाती है। जैसे यहां सर्वत्र ही पूर्व संचित वा वर्त्तमान के कर्म भी सम्मिलित हो कर कारण होते हैं वैसे प्रार्थना करने वाले के भी पूर्वसंचित वा वर्त्तमान के अथवा दोनों प्रकार के धर्मानुकूल अच्छे कर्म होने चाहियें तब ऐसे मनुष्यों की सत्यचित्त से श्रद्धा भक्ति के साथ कीई प्रार्थना को परमेश्वर तत्काल सुनता और उस को शीघ्र ही प्रत्यक्ष फल देता है। "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की कुछ आवश्यकता नहीं। जिस पुरुष की धर्मकार्यों में रुचि वा प्रीति हो, प्रायः अच्छे धर्म कार्य करता हो, उस पर कुछ विपत्ति अकस्मात् आजावे वा किसी दुष्ट कर्म के करने की प्रबल वासना मन में उत्पन्न हो वा अन्य किसी प्रकार का विशेष दुःख आपड़े तो यदि वह श्रद्धाभक्ति के साथ बार २ परमेश्वर की प्रार्थना करे तो उस का दुःख अवश्य दूर होगा प्रत्येक फल परमात्मा की कृपा का दीख पड़ेगा। यही अच्छे मनुष्य के

आस्तिक वा धर्मात्मा होने का पूरा चिह्न है कि उस को सब से अधिक परमात्मा की सहायता पर विश्वास होना । और ऐसा विश्वास जिस को होगा वह पहिले अधर्मी भी रहा हो तो आगे धर्मात्मा हो जायगा । अथवा यों कहो कि जब तक अधर्मकार्यों में रुचि रहेगी तब तक किसी को ऐसा विश्वास हो ही नहीं सकता । इस से सिद्ध हुआ कि धर्मात्मा की प्रार्थना सफल होती है दुष्टों की नहीं । यही बात मानवधर्मशास्त्र के अ० २ । ९७ में स्पष्ट लिखी है-

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

अर्थ-जिस के हृदयमें कुटिलतारूप अधर्म विद्यमान है, किसी प्रकार छल कपटादि से स्वार्थसाधन की वासना जिस के मन में बनी है, ऐसे पुरुष को वेद मन्त्रों के पाठ वा जप द्वारा परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करना, अग्निष्टोम ज्योतिष्टोमादि वा दर्श पौर्णमासादि यज्ञ करना, मौन होकर एकान्तवास करना, वा चान्द्रायणादिव्रतों का अनुष्ठान और तप करना आदि कर्मों के सेवन से कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती वा यों कहो कि ऐसा पुरुष वेदाध्ययनादि धर्मयुक्त कामों को दम्भ के साथ लोगों को अपनी बनावटी धर्मात्मता दिखा कर छल से स्वार्थ साधन के लिये करता है । इस लिये वह भी एक प्रकार का ठग है उस का कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता । यदि वह शुद्ध चित्त से अपना धर्म समझ कर वेदाध्ययनादि करने लगे तो उस के हृदय में विप्रदुष्टभाव नहीं रह सकता इसी लेख के अनुसार यह भी कह सकते हैं कि परमेश्वर कर्मानुकूल फल देता है अर्थात् अच्छे कर्म होने पर ही प्रार्थना का भी फल देता है ।

प्र०-इस दशा में शङ्का यह होती है कि जब कर्मानुकूल फल देता है तो जैसा कर्म हम ने किया है वा करते हैं वैसा ही फल प्रार्थना करें वा न करें दोनो दशा में देगा तो प्रार्थना करनी फिर भी व्यर्थ हुई न ? ।

उ०-इस का उत्तर यह है कि जैसे किसी पुरुष ने बी. ए., एम. ए. आदि नाम से अंगरेज़ी वा संस्कृत में उत्तम प्रकार की योग्यता परिश्रम करके प्राप्त की तो वास्तव में उत्तमाधिकाररूप फल प्राप्ति का भागी वह अवश्य है तो भी वह उच्चाधिकारी न्यायाधीशों [हाकिमों] के समीप जाकर अपनी योग्यता जताने पूर्वक प्रार्थना करता है कि मेरी योग्यतानुसार मुझे कुछ फल दीजिये । तब न्यायाधीश पहिली और वर्त्तमान समय की प्रार्थना सम्बन्धिनी योग्यता को भी मिलाकर उत्तम मध्यम निकृष्ट जैसी योग्यता वा जैसे कर्म आचरणादि देखता है वैसा उत्तमाधिकाररूप फल सौंपता है । यदि कहो कि वहां न्यायाधीश सर्वज्ञ नहीं इस से भूल जाना सम्भव मानकर प्रार्थना करनी पड़ती है और परमेश्वर सर्वज्ञ है वह सब को यथोचित जानता है तो इस का उत्तर यह होगा कि न्या-

याधीश जानता हो तो भी प्रार्थना की आवश्यकता है क्योंकि प्रार्थना करने से फलदाता पर भार पड़ता वा उस को शीघ्र उत्तम वा कुछ अधिक फल देने की आवश्यकता प्रतीत होती है । क्योंकि प्रार्थना भी एक वाणी का कर्म है वह पहिले उत्तम संचितकर्म के साथ प्रार्थनारूप उत्तम कर्म मिलकर अच्छा अधिक फल शीघ्र दिखाता है । यदि प्रार्थना न की जाय तो पहिले संचित नियतविपाक कर्म का कुछ फल यथोचित समय प्राप्त हो सकता है किन्तु उतना शीघ्र और वैसा फल प्राप्त नहीं होता । यदि अनियतविपाक संचित शुभकर्म हो तो प्रार्थना के विना उस का फल होना निश्चित नहीं कह सकते । तथा यदि यथोचित प्रार्थना की जाय तो अनियतविपाक भी कर्म प्रार्थनारूप शुभकर्म की सहायता पाकर नियतविपाक बन जाय और शीघ्र शुभफल का हेतु हो यह सभी सम्भव है । इस का दृष्टान्त यह है कि जैसे किसी मनुष्य ने कोई ऐसा कुपथ्य किया जिस से किसी रोग का मूल संचित होगया । अब यदि वह नया कुपथ्य न करे तो वह संचित रोग की जड़ शीघ्र रोग को उत्पन्न नहीं कर सकती कदाचित् सहायता न मिले तो बहुत काल तक रोग न होगा । यदि वह संचित रोगमूल अनियतविपाक हो तो अच्छा पथ्य करने से ही नष्ट भी होजाय और नियत-विपाक हो तो भी जब तक नये कुपथ्य की सहायता न मिले तब तक फल नहीं दे सकता । और यदि नया कोई संचित के अनुकूल प्रबल कुपथ्य हो जाय तो आगे जितना होता उस से भी बहुत प्रबल रोग तत्काल आकर दबा लेगा । यह प्रत्यक्ष में लोगों के अनुभव में आरहा है इसी प्रकार यहां परमेश्वर की विशेष आराधना वा भक्ति से संचित शुभकर्म शीघ्र ही प्रबल और उत्तम शुभ फल देने वाला हो जाता है इस प्रकार प्रार्थना और कर्मानुकूल फल होना दोनों सार्थक ठहरते हैं । और शब्द में भी कुछ शक्ति है यह साधारण प्रकार से सब कोई जान सकते हैं । जैसे गाली वा अन्य कोई अत्यन्त कठोर वाक्य किसी से कहे तो वह तीर के समान हृदय में लगता और दुःखदायी होता है । विदुरनीति में लिखा है कि-

वाक्सायका वदनान्निस्सरन्ति, तैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति, तान्पण्डितो नाऽवसृजेत्परेभ्यः ॥

कठोरवाणीरूप बाण मुख से निकलते हैं उन से मारा हुआ पुरुष दिन रात शोच करता है क्योंकि वे कटुवचनरूप बाण दूसरे के मर्मस्थान में लगते हैं इस-लिये बुद्धिमान् को चाहिये कि ऐसे कटुवचन दूसरों से न बोले । प्रत्यक्ष भी देखने में आता है शब्द के सुनते ही मनुष्य की आकृति बदल जाती है क्रोध वा हर्षरूप एक नया गुण तत्काल उत्पन्न हो जाता है यह शब्द शक्ति का ही प्रभाव है । ऐसे ही अनेक प्रकार के प्रभावोत्पादक वीरादि रस प्रधान शब्दों से अनेक

प्रकार के गुण लोक में प्रत्यक्ष प्रकट होते दीखते हैं। जब यह साधारण लौकिक शब्दों की दशा है तो वेद जो साक्षात् परमेश्वर का वाक्य अत्यन्त पावन शब्दों का समुदाय है उस में कुछ शक्ति न हो यह असम्भव है अर्थात् वेद के शब्दों में बड़ी शक्ति है पर उस को धर्मात्मा पुरुष जिस का वेद पर पूरा विश्वास हो वही जान सकता है उसी को वेद से लाभ होता है। क्योंकि सब कोई सब कामों के अधिकारी होते भी नहीं यह सर्वतंत्रसिद्धान्त है। इस लिये सन्ध्योपासन में इन्द्रियादि की रक्षा की प्रार्थना अवश्य ही हृदय की संशोधक सर्वोपरि लाभकारिणी होने से कर्त्तव्य में गणना करने योग्य है॥

इस से आगे प्राणायाम भी सन्ध्योपासन का एक अङ्ग है। प्राणायाम के विषय में विशेष विचार तो योगशास्त्र से ही सम्बन्ध रखता है। तथापि संक्षेप से कुछ लिखते हैं:—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥ साधनपादे।

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते। महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद्दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथाचोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति। इतिव्यासभाष्यम्॥

भा०—पूर्व २ यमनियमादि अङ्गों का सेवन करने पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी का अज्ञानान्धकार हटता जाता है। सत् असत् के विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाला दुष्टवासनारूप सञ्चित पाप कर्म कहा वा माना है। वही सञ्चित पापकर्म महामोह अत्यन्त अज्ञानान्धकाररूप इन्द्रजाल से प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण को ढांप कर मनुष्यादि प्राणियों को अकार्य में झुकाता है। सो वह प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण का आच्छादन [जैसे मेघ सूर्य के प्रकाश को ढांप लेते] करने तथा संसार में बांधने वाला कर्म प्राणायाम के नित्य २ अभ्यास करने से निर्बल होता और प्रत्येक क्षण में थोड़ा २ धीरे २ नष्ट होता जाता है। इसलिये अन्य किसी शिष्ट प्रमाण की साक्षी भी दिखाते हैं कि "प्राणायाम से परे अन्य कोई आत्मिक संस्कार वा शुद्धि का हेतु तप नहीं है अर्थात् आत्मा मन और इन्द्रियों की सर्वोपरि अध्यात्मशुद्धिकरने वाला प्राणायाम ही है। क्योंकि उस से तमोगुणरूप अज्ञानान्धकार अर्थात् दुर्वासनारूप से सञ्चित पाप की निवृत्ति और ज्ञान का प्रकाश होता है" इसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र में भी लिखा है कि—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥२॥

भा०—यमनियमादि के अनुकूल चित्त को ठीक सावधान करके योगशास्त्र में लिखे अनुसार तीन भी प्राणायाम ठीक २ कर ले तो जानो मुख्य तप किया। जैसे भट्ठी के अग्नि में रख कर धोंकनी द्वारा धोंकने से सुवर्णादि धातुओं के मल जल जाते वा छूट जाते और धातु शुद्ध हो जाते हैं वैसे ही प्राणरूप धोंकनी को शरीररूप भट्टी में वार २ चलाने से इन्द्रियों की मलिनता क्षीण वा नष्ट होती अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति शुद्ध होती जाती है। किसी प्राणायाम करने वाले को प्रत्यक्ष फल न दीख पड़े तो जानो कि प्राणायाम से पूर्व के साधनों का उस ने पूरा अभ्यास नहीं किया वा जैसे रात्रि के अन्धकार को खद्योत (जुगनू का प्रकाश अत्यल्प होने से दूर नहीं कर सकता और सूर्य का उदय भी नहीं हो पाता तब से पहिले ही अन्धकार नष्ट होता जाता है। इसी प्रकार प्राणायामादि किसी धर्मकार्य का इतना कम अभ्यास हो जो तमोगुणरूप अज्ञानान्धकार के पर्वत को न गिरा सके तो वह प्राणायामादि का दोष नहीं किन्तु समझने वाले वा सन्देह करने वाले का दोष होगा। इस पूर्वोक्त लेख से सिद्ध हुआ कि प्राणायाम अध्यात्मसंस्कार का प्रधान अङ्ग है। प्राणायाम में दो बातें प्रधान हैं एक तो प्राण ही इन्द्रियों का वाचक है। इसीलिये प्रश्नोपनिषद् में सब प्राण वा इन्द्रियों के साथ मधुकरराज का दृष्टान्त दिया है। मधु-शहद् बनाने वाली मक्खियों में एक मक्खी प्रधान वा राजा मानी जाती है अन्य सब मक्खियां उसी के पीछे रहती हैं जब वह कहीं बैठ जाती हैं तो उस के साथ पीछे से सब शीघ्र बैठ जाती हैं और उस के उड़ने पर सब झट ही उड़ जाती हैं जिधर को वह जाती है उधर ही सब चल देती हैं। उस को संस्कृत में मधुकरराज कहते हैं। अर्थात् मधुनाम शहद् बनाने वाली मक्खी मधुकर और उन का राजा मधुकरराज कहाता है। यही ठीक दशा ज्ञानेन्द्रियों वा कर्मेन्द्रियों की है जब तक प्राण चलता है तभी तक सब इन्द्रिय अपने २ विषयों की ओर चलते हैं जब प्राणायाम करने से प्राण ठहर जाता है तब इन्द्रियों की चञ्चलता भी मिट जाती है इन्द्रियों की वृत्ति विषयों की ओर नहीं भागती। और वास्तव में इन्द्रियों की चञ्चलता ही कुमार्ग में ले जाने वाली है। क्योंकि कठोपनि० में लिखा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥

जब पांचो ज्ञानेन्द्रिय मन के सहित अवस्थित हो जाते उन की लोलुपता छूट जाती वा विषय भोग का लालच शान्त हो जाता और ऐसा होने से बुद्धि भी शान्त हो जाती है विरुद्ध चेष्टा नहीं करती तब जानो मनुष्य परमगति वा मुक्ति के द्वार पर पहुंच जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्राणायाम द्वारा (शेष आगे)

(७वें भाग अङ्क २ से शेष महामोह०)—

जिन २ कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन २ ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम २ पढ़ाये हुए वे ग्रन्थ समझने चाहियें। और पौरुषेयपुस्तक जहां वाच्य हों वहां २ जिस ऋषि आदि के वाचकशब्द से प्रत्ययविधि है उस २ का व्याख्यान किया पुस्तक वा मूल अपौरुषेय से आशय लेकर अपने विचार को सम्मिलित करके वा यों कहो कि मूल के शब्दों के तात्पर्य्य को किन्हीं अपने दूसरे प्रकार के शब्दों में निबद्ध करना, प्रोक्तपद का अर्थ समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही "शौनकादि०" इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पढ़े पाणिनिसूत्रों के उदाहरणों की संगति हो सक्ती है। छन्दों (वेदों) के अपौरुषेय होने से किसी शौनकादि का व्याख्यात मूलवेद वा छन्द है ऐसा पक्ष हमारा वा प्रतिवादी का किसी का भी नहीं है अर्थात् दोनो पक्षवाले अपौषेय मानते हैं। यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेदों के वाच्य होने पर प्रोक्तपद से प्रचारादि तात्पर्य्य मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाच्य होने पर भी वही अर्थ (प्रचारादि) लेवें तो कौन हटा सक्ता है? तो उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारित आदि तात्पर्य्य समझना युक्त नहीं क्योंकि "तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१ तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४।३।१०२" इन सूत्रों के भाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि "तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः" जिस से स्पष्ट है कि श्लोक भी प्रोक्त होते हैं और श्लोकों का वेदत्व वा अपौरुषेयत्व सिद्ध करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं। बस जब पौरुषेय श्लोकों को भी भाष्यकार प्रोक्तपद से लेते हैं तो प्रोक्त शब्द के गौण मुख्य भेद से दो प्रकार के अर्थ सिद्ध ही हैं अर्थात् प्रोक्ताधिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है वे २ ग्रन्थ यदि पौरुषेय हों तो जिस २ शब्द से प्रत्यय किया है उस २ का व्याख्यान किया ग्रन्थ समझना चाहिये और यदि वह अपौरुषेय हों तो उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये इस कारण ब्राह्मण और कल्प पुस्तकों के पौरुषेय होने से उन २ के व्याख्यात वा सङ्कलित पुस्तकों का ग्रहण करना स्पष्ट है ॥

और टिप्पणी में जो लिखा है कि व्याकरण में इस (दया०) का अबोध बहुतों ने दिखाया है इत्यादि। सो यह तो आकाश में थूकने के समान होने से उत्तर देने योग्य नहीं है। समस्त संसार में क्या सहधर्म्मी क्या विधर्म्मी सभी उक्त स्वामी जी के पाण्डित्य को जानते हैं ॥

राममिश्र शास्त्रि रचित सुबोधव्याकरण का यहां पर नाम लेना कुछ आवश्यक न था परन्तु इसका यहां नाम लेना विवादास्पद्विषय के लिये तो निस्सन्देह व्यर्थ है तथापि अपने मित्र के रचे इस व्याकरण का इस रीति से समस्त सनातनधर्मसभाओं में रुचिपूर्वक विज्ञापन (नोटिस) पढ़वा देना बड़ा लाभ दायक समझा गया होगा यही कारण इस लेख का है अन्य कुछ नहीं ॥

(महामो०) यच्चासौ ब्रूते धर्मध्वजी ।

अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनाऽनुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसञ्ज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

इति, तदमुष्य गगननिष्ठीवनायितम् । केन वैदिकेनाभिहितं यत् कात्यायनोभिधत्ते "सहचारोपाधिना ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मता" इति, यच्चायमनालोचितशास्त्रोऽकृतगुरुकुलवासो ब्रूते "अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्" इति, तदप्यस्य हास्यास्पदम्। ब्राह्मणानां वेदभावस्य पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात् । यच्चैष कपटकाषायो ब्रूते—

किञ्च भोः। ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ताभावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येव ॥

इति, सोऽस्य सर्वशास्त्रविपरीतस्तावदुपसंहारः । ब्राह्मणप्रामाण्यस्य मन्त्राऽविशेषेणाऽसकृत्साधितत्वात् । अत एव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इत्याहस्म वात्स्यायनः । ब्राह्म-

णानां स्वतः प्रामाण्यविरहे कथमिव परकीयप्रामाण्यबोधकता-सम्भवस्तेषाम् । नहि प्रमाणभूमिमनधिरोहन्ति ब्राह्मणान्यलब्ध-पदानि इतिहासपुराणीयप्रामाण्यव्यवस्थापनायेशते । तस्माच्छ्रु-तिवेदशब्दाम्नायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्योपनिषदन्तानां वे-दानां बोधकानीति शास्त्रविदां परामर्शः । अत एव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः " इत्यास्तिकजनजीवातुर्भगवान् मनुर्मेने । अत एव तु वेदान्तचतुरध्याय्यां भगवान् व्यासोऽभि-धित्सुरुपनिषदः समाहृतेऽसकृच्छ्रुतिपदशब्दपदानि "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" अ०२पा०१सू०२७ । "परात्तु तच्छ्रुतेः" अ०२पा०३ सू०४१ । "भेदश्रुतेः" अ०३पा०४सू०१८ । "सूचकश्च हि श्रुतेरा-चक्षते तद्विदः" । अ०३पा०२सू०४ । "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः" अ०३पा०२सू०७ । "गुणसाधारण्यश्रुतेश्च" अ०३पा०३सू०६४। " वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः " अ०४ पा०३ सू०६ । इत्यादिसूत्रेषु । अत एव च भगवान् कणादो दशाध्याय्या अन्ते "तद्वचनादाम्ना-यस्य प्रामाण्यम्" इत्युपसंजहाराम्नायपदेन वेदप्रामाण्यम् । अत्र हि आम्नायपदं संहितामारभ्योपनिषदन्तनिखिलवेदबोधकम् । स-मानतन्त्रे गोतमीये "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रा-माण्यात्" इति सूत्रे तत्पदोपादेयसोपनिषत्कवाक्यकलापस्यैव प्रा-माण्याऽवधारणात् । तत्रत्यतच्छब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदबोध-कता च प्रागवधारितैव । मन्वादिस्मृतयोऽप्यस्मिन्नर्थेऽनुकूलाः । त-थाहि षष्ठेऽध्याये मनुः "एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः २९ ॥ अत्र "औपनिषदीः श्रुतीः" इत्युक्त्या उपनिषदां श्रुतिशब्दवाच्यत्वं, श्रुतिशब्दस्य च वेदाम्नायपदपर्यायत्वम् । यथाह मनुरेव "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" । इति ततश्च यद्युपनिषदः श्रुतय इत्य-भिमेने व्यवजहार च मनुस्तर्हि ब्राह्मणानां वेदभाव आवश्यकः ।

यतो ब्राह्मणानामेव तु शेषभूता उपनिषदः। अत एव तु ता वेदान्त इत्यभिधीयन्ते। अत एव "दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः। वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः" म० अ० ६ श्लो० ९४। इत्यादिमानवशास्त्रे वेदान्तपदेनोपनिषदां परिग्रहः। नचैकाम् ईशावास्योपनिषदमपहायाऽपराः सर्वा अप्युपनिषदो ब्राह्मणान्तर्गता आर्ष्यो न वेदरूपाः। किन्तु ऋषिभिः प्रणायिषत। ईशावास्योपनिषत्तु शुक्लयजुःसंहितान्तर्गता तदीयाऽध्यायेषु चत्वारिंशत्तमस्वरूपेति तामेवैकां वेदरूपां मन्ये। तत्तात्पर्य्येणैव तु मनोरुपनिषत्सु श्रुतिवेदादिपदव्यवहार इति वाच्यम्। तथा सति "विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इति मानवे बहुवचनाऽसङ्गतेः। तदुपनिषच्छ्रुत्यन्तर्गतबहुत्वतात्पर्य्येण कथञ्चिद् बहुवचनसमर्थनसम्भवेपि "विविधा" इति तद्विशेषणं कथमपि नाऽनुकूलयितुमर्हति, तथा सति "अनेकाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इत्येवोक्तं स्यादिति। एतेन एकामीशावास्योपनिषदमपहायाऽपरा उपनिषदो न वैदिक्यः किन्तु आर्ष्य इति पुण्यजनस्याऽमुष्य कपटकाषायस्य वचः परं हसनीयमेव विदुषाम्। किञ्च। तथा सति व्याससूत्रेषु सर्वत्र विषयवाक्यभूता उपनिषद एवेति तत्तात्पर्य्येण व्यासस्य "श्रुतेः" "शब्दात्" इत्यसकृत्तथाऽभिधानमसङ्गतं स्यादिति पूर्वमवोचामैव "यथा ऋषीणां नामोल्लेखपूर्वका इतिहासा ब्राह्मणेषु वर्तन्ते नैवं संहितासु तस्माद्ब्राह्मणानि न वेदाः" इत्येतद्भ्रमनिराकरणं तु प्रकीर्णके प्रपञ्चयिष्यते इति सर्वं चतुरस्रमवदातं च ॥

व्यासोऽथ जैमिनिर्नाम कणादो गोतमस्तथा। वात्स्यायनस्तथापस्तम्बश्च कात्यायनो मुनिः ॥ पतञ्जलिः पाणिनिश्चेत्येवमाद्या महर्षयः। प्राहुःस्म ब्राह्मणग्रन्थान्वेदं मन्त्रानिव स्फुटम् ॥

इत्यनभिज्ञजनमहामोहविद्रावणे श्रीमोहनलालप्रणीते ब्रा-

ह्मणानां वेदत्वव्यवस्थापनं नाम प्रथमः प्रबोधः ॥ १ ॥

(तुल० रा०) इदं प्रायश आर्यसिद्धान्तचतुर्थभागाऽवधि समाहितं यद्—व्याख्यानव्याख्येययोः सहचारसम्बन्धेन कथञ्चित्कात्यायनेनाऽन्येन वा यदि वेदव्याख्यानानां ब्राह्मणानामपि पारिभाषिकं वेदत्वमुक्तं न ह्येतेन तेषां मूलवेदत्वं सिद्ध्यति तेषां व्याख्यानत्वस्यासकृत्साधितत्वात् । ब्राह्मणानां वेदभावे पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात् इतिहेतुस्तु पूर्वोक्तरीतीनां प्रत्याख्याने प्रत्युक्त एव तदत्रालं बहुना पुनरुक्तेन । यच्च " प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते " इत्यादिवात्स्यायनवचसा ब्राह्मणानां स्वतः प्रामाण्यं साध्यते तत्तु अन्यदुक्तमन्यद्दान्तमिवैवाभाति—लोके हि परंपरातः प्रायः प्रामाण्यप्रतीतेः—पूर्वोक्तवात्स्यायनभाष्ये एतावदेव विवक्षितं भवति यत्पुराणेतिहासानां ब्राह्मणमूलकत्वात् परतःप्रामाण्यं मन्तव्यमिति। यथात्र पुराणस्य विषयो हि " सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ॥ वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षण " मित्यादिको ब्राह्मणमूलकत्वात्परतः प्रामाण्यमर्हति। तथैव ब्राह्मणानां विषयो यज्ञोऽपि मन्त्रमूलकत्वात्परतःप्रामाण्यमर्हतीति वात्स्यायनाशय ऊह्यः। नहि ब्राह्मणानां सर्वथाऽप्रामाण्यं स्वामिभिः प्रत्यपाद्यऽपितु वेदमूलकत्वाद्वेदानुकूलस्य प्रामाण्यमितरस्याऽप्रामाण्यमित्येव तदीयोक्तीनां सारः । अन्यच्च—पुराणेतिहासप्रतिपादितानां पुरावृत्तानां ब्राह्मणमूलकत्वे स्वीकृते तत्रांशे ब्राह्मणानां पुराणत्वमपि भवदुद्धृतवात्स्यायनवचसैव निष्पन्नं । यद्धि पुराणेतिहाससंज्ञकत्वादितिहेतुमुपन्यस्यद्भिर्दयादिस्वामिभिः पूर्वमभिहितम् । तदित्थं ब्राह्मणानां स्वतःप्रामाण्यसाधनाय प्रवृत्तास्तेषां पुराणत्वमेकांशे स्वीकुर्वन्तः प्रत्युक्ता भवन्ति महा० कर्त्तारः ॥

"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादि ब्रह्मसूत्रेषु श्रुत्यादिपदै-

रुपनिषदो विवक्षिता इत्यपि नियमो नावगम्यते । सम्भवति यत्–शङ्करप्रभृतयो वेदान्तसूत्रव्याख्यातारो हि श्रुतिपदेनोपनिषज्जिघृक्षावश एवैतस्या भ्रान्तेर्मूलभूता अभूवन्निति । यथाहि "मन्त्रवर्णाच्च" वे० सू० ४४ अ० २ पा० ३ एतद्भाष्ये "तावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि " इति शाङ्करमुदाहरणम्। वस्तुतस्तु " एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । यजुः अ० ३१ मं०३ " एवं यथार्थः संहितापाठः शक्यत उदाहर्त्तुम्–"अपिच स्मर्यते"। वे० सू० ४५ अ० २ पा०३ इत्येतद्भाष्येपि शङ्कराचार्येण "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति स्मृतावुदाहर्त्तव्यायां गीतोदाहृता नच गीतायाः स्मृतिषु मन्वादिषु परिगणनं केनापि लोके मन्यते। किञ्च श्रुतिस्मृतिशब्दपदानां सामान्यं यौगिकार्थमादाय श्रवणार्थसामान्येनोपनिषदां, स्मरणार्थसामान्येन च गीताया उदाहरणानि श्रुतिस्मृतिवाक्यत्वेनोपन्यस्तानि। भगवद्गीतायां च–प्रत्यध्यायान्ते "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" इति पाठो दृश्यते किमेतेन कश्चिदप्यप्रमत्तः श्रीमद्भगवद्गीतामुपनिषदं मंस्यते ? न कोपि। किन्तूपनिषदां सारसङ्ग्रहाद्यथा गीताया उपनिषत्त्वं प्रचरितमासील्लोके तथैव वेदार्थव्याख्यानानां ब्राह्मणानामपि श्रुतिशब्दाम्नायादिपदैः प्रचरितो व्यवहारो नहि तेषां वास्तविकं मूलवेदत्वमपौरुषेयत्वं च साधयति। एतेनैव "मन्त्रायुर्वे०" गोत० "तद्वचनादा०" काणादं च सूत्रद्वयमपि न तत्पक्षपोषकमित्यप्यायातम् । तदित्थं व्याससूत्रादौ कथञ्चिच्छ्रुतिशब्दाम्नायादिपदैः सत्यपि उपनिषद्ग्रहणे दुर्जनतोषन्यायेन स्वीकृते, श्रवणसामान्यार्थमादाय तथातथाऽङ्गीकृतत्वेपि न वस्तुतो ब्राह्मणानां मूलवेदत्वम्। "शेषे ब्राह्मणशब्दः मी०२।१।३३ शेषः परार्थत्वात्। मी०अ०३ पा०१सू०२"

इत्यादिप्रमाणशतैर्ब्राह्मणानां परार्थत्वात् कोर्थः वेदार्थव्याख्याना-र्थत्वादवेदत्वं वेदव्याख्यानत्वं च सिध्यति ॥

उपसंहारे च—यथा ऋषीणां नामोल्लेखपूर्वका इतिहासा ब्राह्मणेषु वर्त्तन्ते नैवं संहितासु अतो न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञेति दयादिस्वामिकृततर्कस्य तु "प्रकीर्णके प्रपञ्चयिष्यते" इत्यनुत्तर-मेवोत्तरं कृत्वा नाद्यावधि प्रकीर्णकोसौ प्रकाशितः । प्रकाशिते च तस्मिन्नितोऽपि खण्डयिष्यते वेदादिसिद्धान्तविरुद्धोंश इति शम् ।

मन्त्रब्राह्मणभेदो यो दयादिस्वामिदर्शितः ॥
स एव साधितोऽस्त्यत्र, खण्डयित्वा तदुक्तयरीन् ॥ १ ॥

यश्चास्यापरः प्रबोधोबोधरूपः स तु तद्गतविषयस्य वर्णव्यव-स्थापनस्याऽसकृदार्य्यसिद्धान्ते सुव्यक्तमुक्तत्वात् प्रत्युक्त एवेति न पुनः प्रत्युच्यते-इत्थं प्रत्युक्तोऽयं महामोहविद्रावणः ॥

(महामो० का भाषा संक्षिप्तार्थ—)

और जो यह धर्मध्वजी (दया०) कहता है कि "कात्यायन ने वेदों का सहचारी होने से सहचारोपाधि मान कर ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा उस कात्यायन ने नहीं कहा और कात्यायन के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने वेदसंज्ञा में ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया इत्यादि" सो यह इस का आकाश में थूकना सा है । किस वैदिक ने कहा है कि सहचारोपाधि मानकर कात्यायन ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी है ? ॥

और जो यह अनालोचितशास्त्र, और जिसने गुरुकुल में वास नहीं किया ऐसा (दया०) कहता है कि "अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया" सो इस की हँसी का स्थान है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से ब्राह्मणों का वेद होना सर्वऋषिसम्मत है । और जो यह कपटकाषाय कहता है कि "क्यों जी ! ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के तुल्य प्रमाण मानना उचित है वा नहीं ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि ब्राह्मण ईश्वरोक्त नहीं हैं इसलिये जहां तक वेदों के अनुकूल हों वहां तक ही परतःप्रमाण इन का भी मानना चाहिये" सो यह बात सर्वशास्त्रविपरीत है । क्योंकि मन्त्रसंहिता के समान ब्राह्मणों का प्रामाणिक होना वारंवार सिद्ध कर चुके हैं । अतएव पुराणों की प्रामाणिकता स्थापन के प्रसङ्ग से वात्स्यायन ने कहा है कि "ब्राह्मणों के प्रामाण्य से इतिहास पुराण भी मानने योग्य हैं" सो यदि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण न होते तो पुराण इतिहास आदि की उन से प्रामा-णिकता कैसे होती ? क्योंकि जो स्वयं प्रामाणिक नहीं वह दूसरे के प्रमाण में

आधार कैसे हो सक्ता है ? । इसलिये श्रुति, वेद, शब्द, आम्नाय, निगम पदों से मन्त्र से लेकर उपनिषत्पर्य्यन्त ग्रन्थों का ग्रहण है ॥

और इसी लिये जहां २ उपनिषद् अभिप्रेत हुई वहां २ व्यासजी ने वेदान्त के ४ अध्यायों में अनेक स्थलों पर "श्रुति" पद और "शब्द" पद का उच्चारण किया है जैसा कि—"श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्"इत्यादि अनेक सूत्रों में (श्रुति) वा (शब्द) पद कहा है। और इसी लिये कणाद ने दशाध्यायी के अन्त में "तद्वचनादाम्ना०" इस सूत्र में "आम्नाय" पद से वेद की प्रमाणता दिखायी है । यहां आम्नाय पद संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है । और गोतमसूत्र "मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च०" में भी "तत्" शब्द से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का बोध होना पूर्व वर्णन कर ही चुके हैं। मन्वादि स्मृति कार भी इस विषय में अनुकूल हैं—मनु अ० ६ श्लोक २९ में "औपनिषदीःश्रुतीः" ऐसा उपनिषदों को श्रुतिपदवाच्य मानते हैं। जब श्रुतिपद से उपनिषद् ली गईं तो ब्राह्मणों का वेद होना आवश्यक है क्योंकि ब्राह्मणों का शेष ही तो उपनिषद् हैं और इसी लिये वह वेदान्त कहाती हैं। मनु अ० ६ श्लोक ९४ में कहते हैं कि "विधिपूर्वक वेदान्त को सुनकर संन्यास लेवे " यहां वेदान्त शब्द से उपनिषदों का ग्रहण है यदि कहो कि यजुर्वेद के ४० वें अध्यायरूप ईशोपनिषद् का ही यहां ग्रहण है सो भी ठीक नहीं क्योंकि वहां "विविधाः" ऐसा बहुवचन है जिस से अनेक प्रकार की उपनिषद्अभिप्रेत हैं—यदि ईशोपनिषद् के अन्तर्गत अनेक श्रुतियां विवक्षित होतीं तो " विविधाः " के स्थान में " अनेकाः " ऐसा पाठ होता और व्यास सूत्रों में अनेक जगह जो "श्रुतेः" "शब्दात्" ऐसे पदों से उपनिषदों का ग्रहण है सो असङ्गत हो जावे यह पूर्व ही कह चुके हैं । " जैसे ऋषियों के नामलेखपूर्वक इतिहास ब्राह्मणों में हैं वैसे संहिताओं में नहीं इस से ब्राह्मण वेद नहीं" इस भ्रम की निवृत्ति अग्रीम अंक में करेंगे इत्यादि । यह महामोहविद्रावण का १ प्रबोध समाप्त हुआ ॥ १ ॥

(भाषा में उत्तर) जब कि "सहचारोपाधि मानकर कात्यायन ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा मानी" ऐसा स्वामी जी ने नहीं माना क्योंकि स्वामी जी ने तो इस पक्ष का भी खण्डन किया है और कहा है कि " कात्यायन ने ऐसा नहीं कहा और अन्य ऋषियों ने भी ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं किया " तो फिर जिस पक्ष को वादी पूर्वपक्ष करके स्वयं खण्डन करता है उस का प्रतिवाद करना व्यर्थ नहीं तो क्या है ।

और कि "ब्राह्मणों का वेद होना सर्वर्षिसम्मत है यह पूर्वोक्त रीति से सिद्ध कर चुके हैं" यह कहना इस लिये उत्तर देने के योग्य नहीं कि जैसा आप सिद्ध कर चुके हैं वैसा आर्य्यसिद्धान्त में पूर्वोक्त रीति से खण्डन कर चुके हैं इस लिये फिर पुनरुक्ति अनावश्यक है ॥

"और ब्राह्मणों का मन्त्र के तुल्य प्रामाणिक होना बारम्बार सिद्ध कर चुके हैं इन का परतः प्रमाण कहना सर्वशास्त्रविरुद्ध है। वात्स्यायनने पुराणों को ब्राह्मण-मूलक होने से प्रमाणता मानी है" इस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण परतः प्रमाण न हो कर स्वतः प्रमाण हैं—क्योंकि उत्पत्ति, प्रलय, वंशावली, मन्वन्तर, वंशावली का चरित्र ये ५ वर्णन पुराण इतिहास में होते हैं सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों से पुराणों में आई हैं इस लिये वात्स्यायन कहते हैं कि "ब्राह्मण के प्रामाणिक होने से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये" तौ इस अंश में ब्राह्मणग्रन्थों का पुराणपन तौ अवश्य सिद्ध हुवा जैसा कि स्वामी जी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है। बस जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशानुचरितादि लिया गया अतः पुराणों को ब्राह्मणाधीन प्रामाण्य रहा। वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया अतः ब्राह्मणों का संहिताधीन प्रामाण्य सिद्ध हुवा। यही स्वामी जी मानते हैं। रहा यह कि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण न होते तो पुराणों की प्रमाणता में आधार कैसे होते? यह नियम नहीं कि जो स्वतः प्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में आधार हो। हम देखते हैं कि हम किसी वस्तु के प्रमाण के लिये एक तोले भर का बाट बनाते और उस से दूसरी, दूसरी से तीसरी उस से चौथी आदि वस्तु की प्रमाणता परम्परा से आगे २ चलती जायगी। परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की प्रमाणता का स्वीकार करते हैं यदि वह अपने आधार से प्रतिकूल हो तौ प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार ब्राह्मणों के विरुद्ध इतिहास जिस प्रकार अमान्य है इसी प्रकार वेद संहिताओं के विरुद्धांश में ब्राह्मण भी अमान्य रहें गे ॥

और आगे जो व्यास सूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए 'श्रुति' 'शब्द' पदों से और वैसे ही मनुस्मृति में आये 'श्रुति' शब्द से भी यह अभिप्राय निकालते हैं कि यहां श्रुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद्वाक्य हो टीकाकारों ने लिखे हैं इस से व्यासादि के मतानुसार ब्राह्मण उपनिषद् पर्य्यन्त सब वेद हैं। सो प्रथम तौ यह सम्भव है कि—व्यासादि को श्रुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों और शङ्कराचार्य्यादि टीकाकार ही इस भ्रान्ति के कारण हो गये हों कि जैसे उन्होंने—

"मन्त्रवर्णाच्च" इस वेदान्त सूत्र पर "तावानस्य महि०" इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के "एतावानस्य महि०" इत्यादि मन्त्र का उदाहरण दे सक्ते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सक्ते कि व्यासादि को श्रुति आदि पदों से उपनिषद् ही विवक्षित हैं। फिर अगले सूत्र :—

"अपि च स्मर्य्यते" पर भी शङ्कर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि "ममैवांशो जी०" इत्यादि तौ क्या गीता को कोई मन्वादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सक्ता है वा मानता है?—अभिप्राय यह है कि श्रुति आदि का योगरूढ़ और मुख्य अर्थ तौ मन्त्रसंहिता ही है परन्तु अवयवसामान्यार्थ को

लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोगों ने श्रुति कहा—जैसा शङ्कर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्धृत किया। तो जिस प्रकार गीता मुख्य कर स्मृतिपद का वाच्य नहीं परन्तु स्मरणार्थसामान्य से ली गई इसी शब्दप्रमाणसामान्यान्तर्गत श्रवणार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण प्रकार शङ्कराचार्य्यादि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं—यूं तो गीता के प्रति अध्याय के अन्त में "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है तो क्या इस से "गीता" उपनिषद् हो जायगी? कदापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का सार ग्रहण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन किया गया है इसलिये गौणभाव से उस में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वेदों का व्याख्यान होने के कारण वा वेदाशय को स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौणभाव से श्रुति पद आदि से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। इसी से गोतमसूत्र के "तत्" शब्द से और कणाद सूत्र के "आम्नाय" शब्द से जो उपनिषदादि का ग्रहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर होगया। और मनु के उपनिषद् सम्बन्धी श्रुति पद का भी उत्तर इसी में आगया। रहा यह कि "उपनिषद् वेद का अन्त भाग ब्राह्मणों का शेष रूप हैं इसीलिये इन को वेदान्त कहते हैं"। यह भी अयुक्त है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तो तुम्हारे मत में भी तुम्हारे मुख से स्वीकार किये हुवे व्यासरचित सूत्रों को भी तो वेदान्त कहते हैं क्या वह भी वेद ही समझा जायगा? कह दो कि हां, (अनन्ता वै वेदाः) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद हैं!!! और यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वामी जी का यह मत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है किन्तु दश उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वामी जी भी वेदान्त मानते थे—तब वैसा मानकर लिखना व्यर्थ है। यथार्थ में वेदान्त पद का अर्थ यह है कि (वेद का अन्त्य भाग नहीं) किन्तु वेद का अन्त—अन्तिम—मुख्य तात्पर्य्य ब्रह्मप्रतिपादन है इसी विषय का प्रतिपादन जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त ग्रन्थ कहावेंगे चाहे उपनिषद् हों चाहे सूत्र हों चाहे अन्य कोई वेदानुकूल इस विषय का ग्रन्थ हो। अन्त में जो यह प्रतिज्ञा की है कि "जैसे ऋषियों के इतिहास ब्राह्मणों में हैं वैसे संहिता में नहीं इस लिये संहिता वेद हैं ब्राह्मण नहीं, इस का उत्तर प्रकीर्णक में देंगे" सो अभी प्रकीर्णक नहीं छपा अत एव छपने पर (यदि प्रतिवादी छपायेंगे तो) हम उस का भी उत्तर देंगे—यह महामोह० के १ प्रथम प्रबोध का खण्डन समाप्त हुवा ॥

द्वितीय प्रबोध वर्णव्यवस्था पर है उस के पृथक् उत्तर की इसलिये आवश्यकता नहीं रही कि प्रायः आर्य्यसिद्धान्त में इस विषय का पूर्ण आन्दोलन हुवा है जिस से कोई पक्ष इस में उत्तर देने योग्य प्रतीत नहीं होता। इति ॥

१०१ श्री मूलचन्द जी खैरागढ़ २।)

६७९ श्री लछमणदूला जी किरांची २॥)

८४७ श्री सहदेवप्रसाद जी कानपुर २॥)

८५५ श्री कर्णसिंह हवेली योधपुर २॥)

७६९ पं० आसाराम शर्मा गोराव घाणेराव पूर्वस्थान पाली योधपुर ॥)॥

१०९४ पं० चन्द्रधर बाजपेयी श्रीहट १।)

१०७ श्री हरिगोविन्द गिरि० बड़ोदा १।)

४११ चौधरी अनूपसिंह जी नहठौर २॥)

१०५९ श्रीचन्दनसिंह लोहाई मथुरा २॥)

७२१ श्री बधावामल जी हांसी २॥≡)

४७० श्रीहनुमानप्रसाद जी लखनऊ १।)

८२४ श्री मेघवर्ण सिंह जी रायबरेली १।)

३०८ श्री गौरीशङ्कर सहाय जी लखनऊ २)

७८ श्रीमन्त्री जी आ० स० लखनऊ २॥)

१०८० श्रीमन्त्री आ०स०सिटी लखनऊ १।)

५४७ डाक्टर इन्द्रमणि जी लखनऊ १॥।)

८९५ श्रीगोकुलप्रसादजी तिवारी घाहूर १।)

५०४ श्री नन्दनसिंह उपाध्याय बेरी २॥)

१०९५ बाबू मनमोहनलाल जी रांची १।)

२०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)

२२० श्री सेठ वेल जी लखमसी मुम्बई १।)

२४९ श्री रामचैतन्यब्रह्मचारी मुम्बई १।)

७१० श्री जगन्नाथ शर्मा मुम्बई १।)

७११ श्री प्रयागदत्त जी मुम्बई १।)

७०१ श्री कर्त्ताराम जी करनाल १।)

१०९७ श्री दुलारेराम भदौसी ठठिया १।)

१०९८ पं० बद्रीदत्त वैद्य काशगंज =)॥

९९६ श्री गयाप्रसाद जी बिहारीपुर २॥)

९१७ श्री माधवप्रसाद जी खैरीगढ़ १।)

६३८ कन्हैया लाल जी औरैया २॥)

२५६ श्री परमात्मादीन पुरवा उन्नाव २॥)

६४७ श्री पं० लालचन्द्र जी योधपुर २॥)

३२७ श्रीराजा राजेन्द्रसिंह जी पिठहरा ४)

१०९८ पं० बुलाकीराम जी अमृतसर १)

७५३ बाबू दीवानचन्द जी नाहन १।)

३९८ श्री जातीराम रावलपिण्डी २॥)

६४९ दीक्षित लक्ष्मीनारायण भिण्ड २॥)

७८३ श्री गदाधर सिंह मथुरापुर २॥)

७६४ श्री गणेशप्रसाद पटनहनखैरा २॥)

१०७० श्री पं० रामपदार्थ शर्म्मा सरैया १।)

३५० चौधरी पद्म सिंह इटावा २॥)

४१ श्री मेवालाल जी प्रयाग १)

१८० बा० गिरधारी लाल जी झांसी २॥)

१९३ बा० सनूलाल जी गुप्त अनूपशहर २॥)

४४५ बा० धरणीधर दास जी बरेली ३॥।)

८३६ श्री लालसिंह आ०स०देहरादून १।)

१६२ श्री सूर्यकुमार जी पु० कानपुर २॥)

१७८ श्री प्रतापसिंह जी काठगुदाम २॥)

५१४ डाक्टरविहारीलाल इन्दौर २॥)

४४७ ठा० जगन्नाथ सिंह जी चित्तौरगढ़ ५)

८० पं० रामनारायण जी रावतपुर २॥)

११५ पं० कमलनयन आ०स०अजमेर २॥)

१२ मुं० पद्मचन्द जी अजमेर २॥)

४०८ बा० गिरधारीलाल जी गढीदोबा ३॥।)

१०९९ बा० गिरधारीलाल जी ,, १।)

धर्मार्थप्राप्ति धन्यवादपूर्वकस्वीकृत

बाबू मनमोहन लाल जी रांची मनुस्मृतिभाष्य की सहायता में २०)

बा० राजाराम यमुनाप्रसाद, जी बलसार की भगिनी ललिता ने दिया १)

श्री गङ्गासेवक तेवारी कुन्दोली १)

मूल्य घटाया हुआ ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) अवधि ॥।) की बीत गई १) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) डाकव्यय ≈)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है। ईश ≡) केन ।) कठ ।॥) प्रश्न ॥≈) मुण्डक ।॥) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ।॥) ये ७ उपनिषद् सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित आश्चर्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य ≈) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्यसिद्धान्त १२ अङ्क का ३॥।) स्वर्गमेंसबजेक्टकमेटी ≡) ऐतिहासिक निरीक्षण ≈) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था ≈) तीर्थविषय -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद -)॥ सद्विचारनिर्णय ≈) ब्राह्मणमतपरीक्षा ≈) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शनमूलसूत्रपाठ ≡) कुमारी भूषण -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका ≈)॥ संस्कृत का प्रथम चौथीवार छपा)॥। द्वितीय पुस्तक -)। तृतीय फिर से छपा ≡) नवरत्नभूषण ≈) गणितारम्भ -)॥ विदुरनीति मूल ≈) जीवसान्तविवेक -) भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ पाखण्डमतकुठार ≈) जीवनयात्रा ≋) किरानीलीला–वेश्यालीला)॥ नीतिसार -)॥ हिन्दीका प्र० पु० -) द्वितीयपुस्तक ≡) शास्त्रार्थखुर्जा -) शास्त्रार्थकिराणा ≈) भजन पुस्तकें–भजनामृतसरोवर ≈)॥ सत्यसंगीत)। उपदेशभजनावली)। सदुपदेश)। भजनेन्दु -) वनिताविनोद ≈) संगीतरत्नाकर ≈) नारीसुदशाप्रवर्तक ४ भाग १) सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग ॥।)

सत्यार्थप्रकाश २) भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) निघण्टु ।≈) धातुपाठ ।≈) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त १) करपञ्जर्वी -) इशारों से बातचीत करने की विधि है। वेश्यानाटक उर्दू ≈)॥ व्याख्यानसागर ।-) बुद्धिवती (स्त्रियों को) ।) प्रबन्धार्कोदय ।-)

आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार अच्छे कागज़ पर। वा निकृष्ट कागज़ पर ≈)॥। सैंकड़ा १॥।) हज़ार। व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञापन जिस में चार जगह खाना पूरी कर लेने पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा ≈), डांक महसूल सब का मूल्य से पृथक् लिया जायगा ॥

भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त–प्रयाग

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ५ । ६

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

प्रयाग

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

१७ नवम्बर सन् १८९५ ई०

मूल्य प्राप्तिस्वीकार ॥

ता० १२ जुलाई सन् ९५ से १२ अगस्त ९५ तक ॥

८१ पं० हनुमान जी विगहपुर २॥)
७२० बा० अयोध्याप्रसाद् जी हरदोई २॥)
७६० ला० ठाकुरदास जी होशियारपुर २॥)
७७५ बा० हीरालाल जी बांदीकुई २॥)
७३२ बा० गण्डामल जी अमृतसर १।)
११४ बाला जी शिवप्रसाद् मुम्बई २॥)
८९० श्री द्वारकाप्रसाद् जी गाज़ीपुर १।)
६३७ ला० रामचन्द्र जी होशियारपुर २॥)
७०६ श्री पं० धर्मचन्द जी अमृतसर २॥)
१२१ पं० प्रेमनाथ जी शाहपुर पंजाब २॥)
१६३ बा० हरगोविन्दप्रसाद् जी
राठ हवेली फैज़ाबाद् २॥)
५१९ ला० रामशरण जी शिमला २॥)
७६७ श्री मन्नीलाल रघूभाई जी
भावनगर २॥)
७६८ श्री मूलजीप्रभूदास भावनगर २॥)
३६७ श्री अभयराजसिंह पकरैला १।)
५४२ श्री कृष्णलाल साह अलमोड़ा २॥)
१२० बा० भवानीदीन जी बहरायच २॥)
३९४ श्री हरिराम जी बिलाईगढ़ १।)
१६८ श्री नानाभाई दयाशंकर व्यास
अहमदाबाद् २॥)
५७४ श्री हकीम रेवतीवल्लभ जी
अनूपशहर २॥)
१५५ श्री गुलाबचन्दलाल दानापुर २॥)
६० श्री मंत्री जी आ०स० मिर्ज़ापुर २॥)
५३३ पं० गिरधारीलाल जी नागपुर २॥)
६४२ श्री भगवानदीन वैश्य मंधना २)
३१४ श्री सवायाराम जी मघान १॥।)
१५३ ला० जगन्नाथ जी कानठो २॥)
७०४ बा० चिम्मनलाल जी तिलहर २॥)
१९२ श्रीयुत मंत्री जी आ०स० मुलतान २॥)

२०७ श्री रामदीन जी वैश्य महेशपुरा १।)
८४२ बा० दुर्गाप्रसाद जी अहार १।)
८२७ श्री हीरालाल म० भरूच १।)
३९५ डा० गोपालदास जी अलवर १।)॥
९२८ श्री कुंदनलाल जी दिल्ली १-)
५८६ बा० हरनामसिंह जी थानो २॥)
१५६ त्रिभुवनदास भूलाभाई तलाजा २॥)
४९० बा० रामचन्द्र जी क्वैटा २॥)
७१६ पं० रामकरण ओझा परौना २॥)
५४ श्री शिवराव मंगेश जी मंजेश्वर ।=)
४७९ श्री गणपतिसिंह जी उज्जैन ३॥।)
७५७ श्री गोहरसिंह शालाबाग क्वैटा २॥)
५५८ श्री खूबचन्द जी हैदराबाद सिंध १।)
६०९ बा० कुंजविहारीलाल अमरावती २॥)
५८५ बा० गुलाबराय जी बांसी ३॥।)
७३९ श्रीमान् राजा बलभद्रसिंह जी
झालावाड़ झालरापाटन २॥)
५६६ बा० माधवराव जी छिंदवारा १।)
९३३ श्री महावीरप्रसाद् मुजफ्फरपुर १।)
६१७ पं० रामप्रसाद् जी गंडोला ॥।)
६११ श्री गोविन्दसिंह जी लिंगसगूर २॥)
९४६ पं० गंगाराम जी डलमऊ २)॥।
११०१ श्री विष्णुदत्त जी कलकत्ता ॥=)
११०३ श्री नारायणदास जी सोहपनी ॥=)
११६ श्री जेठमल जी सोढा अजमेर २॥)
११०२ श्री राजा पाटेश्वरी
प्रतापनारायणसिंह जी बस्ती १।)
११०४ पं० गंगासेवक तेवारी कुंदौली १।)
११०५ बा० कृष्णदासहरी मुम्बई १।)
४५१ पं० मुरलीधर अलखधारी चीचलीर॥)
५६८ श्री ख्यालीराम जी दुन्दरी १।)
५८९ श्री साईंदास जी लाहौर १॥।=)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ५ । ६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ३ । ४ के पृ० ५६ से आगे त्रयीविद्या—

नहीं उन का नाम "अङ्गिरसः, वा—अथर्वाणः" है उन्हीं के व्याख्यान से चौथे वेद का नाम अथर्व हुआ । और जैसे पूर्ण घड़ा का जल नहीं उछलता वैसे जिस में त्रयीविद्या पूर्ण हो वह अचलता वा गम्भीरता का हेतु होता इसी कारण जिस में त्रयीविद्या का समन्वय हुआ वह सन्देहों वा चञ्चलता का निवर्त्तक होने से शब्दार्थ के अनुकूल अथर्वपदवाच्य हुआ । अर्थात् वेद में आने वाले अथर्वपद का वा जो वेद पुस्तक का नाम अथर्व है उस का एक अर्थ अग्नि आदि पदों के समान वेद के सिद्धान्त से ही नियत है और वह सामान्य विशेष रूप से सर्वत्र व्याप्त जानना चाहिये । अर्थात् अथर्वपद का जो कुछ अर्थ पूर्व लिखा गया वा जो वेदाशय के अनुकूल ब्राह्मणादि पुस्तकों में मिल सकता है [जैसे गोपथब्राह्मण के प्रथमप्रपाठक ४ ब्राह्मण में लिखा है कि—"तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम्" किसी परमेश्वरादि पदार्थ को यथावत् जानने वा किसी कार्य को सिद्ध करने अथवा अनेक कार्यों की सिद्धि के लिये जो २ विद्या के प्रकार वा उपाय नियत किये जांय उन सब के होने पर भी किन्हीं वस्तुओं का ज्ञान वा किन्हीं कार्यों की सिद्धि न हो तो उन के लिये कोई भिन्न प्रकार वा उपाय नियत किया जाता है । लोक में भी यही चाल है कि जैसे हिसाब आदि के लिये आय वा व्ययादि को बहुत शोच समझ के अच्छे २ विचारशील कई मध्यें नियत करते हैं तथापि कोई २ आय वा व्यय ऐसा होता है जो उन में से किसी मध्य में नहीं आता और आता भी है तो उस के कई २ भिन्न २ अंश कई मध्यों से सम्बन्ध रखते हैं किसी एक के साथ सर्वांश

सम्बन्ध नहीं लगता इस कारण ऐसे मध्यों के लिये एक फुटकर के नाम से वा अन्य मिश्रितादि यथोचित नाम से एक नया प्रकार नियत करने पड़ता है जिस में उस प्रकार के सभी अंशों का समावेश होजाता है जो नियत विभागों में न आ सकते हों। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक किसी कर्त्तव्य के लिये जितने नियम भिन्न २ नियत किये जा सकते हैं उन से भिन्न एक सामान्य नियम भी अवश्य रखने पड़ता है जो अनेकों से मिश्रित हो और किसी एक में उस का समावेश न हो सके इस कारण उस को सब से अलग भी मानने पड़े। इसी प्रकार वेदाशय के अनुसार प्रायः तीन २ भागों में विभाग किये हुए सब तीन द्रव्य गुण और कर्मों को जानने वा उन के ज्ञान से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का त्याग करने के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वेदनामक विद्या के तीन भाग किये अर्थात् त्रयीविद्या नियत की तीन प्रकार के ज्ञेयविषय उस में नियत किये तब कुछ विषय वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य ऐसे शेष रह गये जो उन में से किसी एक में न आ सके जिन के लिये चौथा वेद बनाया। इसी से गोपथब्राह्मण का यह कथन बनता है कि [त्रयीविद्यासम्बन्धी नियत किये सब प्रकारों में से किसी के द्वारा अर्थ जो ज्ञातव्यविषय न जाना जाय जिस का सम्बन्ध किसी के साथ प्रतीत न हो (एनम्) उस को (अथ) त्रयीविद्या देखने के अनन्तर (अर्वाङ्) उन सब से उलटी ओर उन्हीं हृदयावकाशों वा अन्तरिक्षस्थानदेवताओं की सन्धियों में खोजो। इस प्रकार (अथ–अर्वाङ्) इन दो शब्दों को मिला कर यहां पृषोदरादि के समान अथर्व शब्द को सिद्ध किया है इस से भी पूर्व लेख के अनुसार ही आशय वा अर्थ निकलता है] उस निरतिशयार्थ को परमात्मा का वाचक और परिच्छिन्न वा अल्पव्यापक अर्थ से सृष्टि के यथोचित वाच्य विषयों वा वस्तुओं का ग्रहण होगा। और जो कुछ अथर्वपद का अर्थ होता वा हो सकता है उसी विषयक विद्या के व्याख्यान का नाम अथर्ववेद जानो।

भिन्न नियत किये कितने ही मध्यों में सर्वाभीष्ट की सिद्धि न होने पर एक मिश्रित मध्य नियत करने का जो प्रचार है यह हमारा कथन दृष्टान्त के लिये नहीं है किन्तु वास्तव में इस प्रकार का भी मूलसृष्टि के आरम्भ में अथर्व वेद हुआ कि त्रयीविद्या के भिन्न २ तीन प्रकारों में से किसी में जो विषय न आसका उस को (अर्वाङ्) उन भिन्न २ तीन से उलटी चौथी मिश्रितविद्या में रक्खा क्योंकि तीन से भिन्न चौथी कोई केवल दशा खड़ी नहीं हो सकती और जो हो सकती है उसी का नाम मिश्रित है। और वेद के पश्चात् बनने वाले ग्रन्थों में भी वेद की प्रक्रिया के अनिवार्य स्वाभाविक नियम को लेकर मिश्रित विषय लिखने का प्रचार हुआ। इस से हमारा यह प्रयोजन नहीं कि सब ही ग्रन्थों में वा सभी न्यायव्याकरणादिविषयों में मिश्रित प्रकरण वा पुस्तक बने ही हैं किन्तु कहीं बने हों वा न हों सर्वत्र ही हो सकते हैं। जहां नहीं हैं वहां विशेष में सामान्य मिला-

दिया हो वा मिश्रित विषय छूट गया हो। जैसे विद्या के १४ भेद भिन्न२ नियत करें तो एक पन्द्रहवां मिश्रित भेद भी खड़ा होगा। अथवा जैसे सामान्य विशेष दो पदार्थ भिन्न२ माने जाते हैं परन्तु सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य सदा ही मिले रहते अर्थात् सामान्य का व्याख्यान करने वाला एक पद में भी विशेष का त्याग नहीं कर सकता और विशेष का व्याख्याता सामान्य को भी नहीं छोड़ सकता दोनों में दोनों सदा व्यापक ही बने रहते हैं ऐसा होने पर भी सामान्य विशेष दोनों भिन्न २ माने जाते और कभी एक नहीं हो जाते क्योंकि उन में स्वाभाविक भेद है। विशेष पदार्थ का विशेष व्याख्यान करने वाला होने से छः शास्त्रों में एक वैशेषिक शास्त्र कहाता है वह सामान्य से कदापि अलग नहीं। इसी प्रकार त्रयीविद्या में तीन विशेष वा विद्या के तीन भेद नियत हैं और अथर्व में सामान्यत्रयीमिश्रित विद्या का विशेष व्याख्यान है तथापि अथर्व में त्रयीविद्या और त्रयीविद्या में सामान्य अथर्वविद्या सदा ही मिश्रित है कभी भिन्न नहीं हो सकती और सामान्य विशेष के तुल्य सदा ही भिन्न है कभी एक नहीं हो सकती। इस प्रकार सामान्यविद्या का नाम अथर्व है क्योंकि सामान्य एक ही होता और विशेष अनेक होते हैं इसी से अथर्व एक और त्रयीविद्या के तीन पुस्तक ऋगादिनामक वेद हैं।

अथ सामश्रमिकृत छन्दः पद का व्याख्यान—

(छन्दः) छन्दइत्यपि वेदस्यैवान्यतममतिप्राचीनं नाम। (१) छन्दःशब्देन पुरा खलु ऐशप्रबन्धानामेषांवाय्वादीनांसर्वेषामेवबोधो भवतिस्म। तत एवैवमाथर्वणिका आमनन्ति—"त्रीणि छन्दांसि कवयो०-०आपो वाता ओषधयः(१८।१।२।७)" इति। तत्र छन्दांसि बन्धनानीत्यर्थः। अत्राप्युपपद्यतएवैतन्निरुक्तम्—'छन्दांसि छादनात् (३ भा० ३६८ पृ०)' इति। छादनं नाम बन्धनमेव, बन्धनान्येव हीमाः*सर्वे विषयाः। तदुक्तं हि सांख्यतत्त्वकौमुद्याम्—"विषएवन्ति विपयिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्, विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्चास्मदादीनाम् (५ श्लो० कौ०)" इत्यादि॥

भावार्थः—छन्दः यह भी वेद का ही एक अति प्राचीननाम है—सब से पहिले अतिप्राचीन समय में ईश्वरीयसृष्टि के वायु आदि सभी पदार्थों का बोध

* चिन्त्यमिमाइति, विषयविशेषणे पुंस्त्वे इमे इति साधुः।

छन्दःपद से होता था अर्थात् सभी को छन्दः कहते थे । इसी से अथर्व वेद १८। १। २। ७ में जल वायु और ओषधियों को तीन छन्द करके लिखा है । और छन्दःशब्द का अर्थ बन्धन ही ठीक बनता है। और इस में निरुक्तकार का कथन भी घट जाता है निरुक्त में छादन नाम बन्धनार्थ से छन्दःपद सिद्ध किया है । ये सब दृश्यमान विषयबन्धन ही हैं । सो सांख्यतत्त्वकौमुदी ग्रन्थ के ५ वें श्लोक में भी कहा है कि "पृथिव्यादि वा सुखादि हम मनुष्यादि प्राणियों को बांधने वाले होने से विषय कहाते हैं अर्थात् विषयमात्र का नाम छन्दः है ॥

सम्पादकीयविचार—हमारी समझ में सामश्रमी जी का यह परामर्श ठीक नहीं क्योंकि सब ग्रन्थों में अन्य शब्दों के तुल्य छन्दःपद भी वेदाशय के अनुकूल ही लेने पड़ेगा । अर्थात् जब संहितामात्र वेद ही थे अन्य कोई ग्रन्थ नहीं बने थे तब ऋषि लोगों ने जो २ ग्रन्थ बनाये उन में वेदाशय को ही लेकर व्याख्यान किया यह मानने पड़ता है । जैसे किसी ग्राम में एक ही कूपादिजलाशय हो तो वहां के मनुष्य जितना जल लेंगे वह उसी जलाशय से ले सकते हैं । तो वेद में छन्दःपद का क्या अर्थ संघटित हो सकता है यही विचारणीय है । यजुःसंहिता १५ अध्याय के ४ । ५ यजुओं में ४० चालीश वार अनेक शब्दों के साथ छन्दःपद की आवृत्ति की गयी है वहां "काव्यं छन्दः" यह भी वाक्य है जिस के मूलाशय और ब्राह्मण ग्रन्थ की सम्मत्यनुसार महीधर ने भी काव्य शब्द से वेदत्रयी रूप शब्द ही लिया है क्या सामश्रमी जी वेदत्रयी को भी बन्धन रूप विषय ही मानें गे ? कदाचित् यह भी स्वीकार करलें तो "मनश्छन्दः" में मन विषयि है विषय नहीं क्योंकि मन से ही सब जाना जाता है । ज्ञेयमात्र सब विषय है मन कर्त्तृ साधन होने से कर्त्तृ वा ज्ञाता कोटि में गिना जा सकता है कर्माङ्ग वा विषयाङ्ग नहीं हो सकता यदि कोई कहे कि " प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" के अनुसार जैसे प्रमाण भी प्रमेय हो जाते, साधन भी साध्य हो जाते, तोलन के साधन वटखरे भी तोलनीय हो जाते, रूप देखने के साधन चक्षु भी रोगादि दशा में साध्य वा दृश्य हो जाते हैं वैसे मन भी विषय हो सकता है तो हम कहें गे कि अब तुम्ही किसी को विषयी वा ज्ञाता बताओ । यदि तुम जीवात्मा वा परमात्मादि को विषयी वा ज्ञाता कहो गे तो क्या वे विषयी से विषय न होंगे ? यदि न हों गे तो फिर मन भी न होगा । और जितने अंश में मन को विषयत्व हो सकता है उस से भी अधिकांश परमेश्वर को विषय माना गया है क्योंकि वह ज्ञेय है "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या" यहां बुद्धि विषयिणी और परमात्मा उस का ज्ञेय विषय है । तो सामश्रमी जी के कथनानुसार परमेश्वर भी एक बन्धन हुआ । यद्यपि विषयों को बन्धन हम भी मानें गे तथापि सब विषय बन्धन नहीं किन्तु इन्द्रियों के भोग्य विषय बन्धन हैं । वेद के मूलाशय को ध्यान पूर्वक शोचने से छन्दः शब्द का अर्थ रक्षार्थ प्रतीत होता है ।

जैसे " कृषिश्छन्दः, हिरण्यंछन्दः, गौश्छन्दः " इत्यादि कथन के अनुसार खेती, सुवर्ण और गौ आदि, अनेकों की अपेक्षा अधिक रक्षा के हेतु लोक में भी माने जाते हैं। और प्रत्यक्ष में भी कृषि आदि प्राण रक्षा के हेतु हैं। १। ३५। २ अथर्ववेद में हिरण्य को आयु रक्षक वर्धक स्पष्ट ही लिखा है तदनुकूल आयुर्वेद में भी सुवर्ण चूर्ण को मेधायुष्करणीय माना है। इत्यादि कारण छन्दःपद का अर्थ रक्षा का हेतु करना ही उत्तम है। इसी के अनुसार व्याकरण के आदि निर्माता पाणिनि आचार्य ने भी वेद के गूढाशय को समझ कर संवरण और अपवारण दो ही अर्थ छद वा छदि धातु के धातुपाठ में नियत किये हैं संवरण नाम ढांपना अपवारण विरोधी को हटाना वा दूर करना दोनों रीति से रक्षा होती है। जैसे वस्त्र से शरीर को ढांपने का यही प्रयोजन है कि अनिष्ट शीत उष्णादि से रक्षित किया जाय। घर बनाने का भी यही प्रयोजन है कि गृहस्थादि के सुख साधन शरीरादि की वा अन्य वस्तुओं की यथोचित रक्षा रहे। इसी आशय को लेकर छान, छप्पर, छत्त और छाता आदि शब्द संवरणार्थ वा अपवारणार्थ छद धातु के ही अपभ्रंश हुए हैं क्योंकि इन सब का भी यही प्रयोजन है कि अनिष्ट को हटा कर इष्ट शरीरादि की रक्षा हो " छन्दांसि छादनात् " इस निरुक्त का भी यही प्रयोजन है कि छादन नाम छान आदि के तुल्य अनिष्ट से बचाने वाले होने से वेद मन्त्रों का भी छन्द नाम है। अपवारण और संवरण दोनों शब्दों का बन्धन अर्थ वा आशय कदापि नहीं हो सकता किन्तु रक्षार्थ तो स्पष्ट ही है। जैसे शीत उष्ण ओला आंधी आदि के दुःख से बचने के लिये छादन (छप्पर) है वैसे कुसंस्कार कुकर्म कुवासना रूप पापों से मन और आत्मा को बचाने के लिये वेदमन्त्र हैं। छप्पर आदि से अध्यात्म दुःखों की कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती उस के लिये अनन्य साधन एक वेद ही है। जैसे छाये घर में निरन्तर रहने वाले घामादि के तापादि अन्य दुःख से बचते हैं वैसे वेदरूप वृक्ष की छाया में निरन्तर बसने वाले ब्राह्मणादि भी अन्य प्रकार से अनिवार्य बड़ी २ आपत्ति और दुःख से सदा ही बचते हैं इस आशय को लेकर वेद का छन्द नाम हुआ है। यद्यपि इस अर्थ से अन्य रक्षा हेतु पदार्थों का नाम भी छन्द ठहरता और ठहरता ही क्या किन्तु वेद में खेती, सुवर्ण, गौ आदि को स्पष्ट ही छन्दः पदवाच्य कहा ही है तथापि रक्षा के हेतु सब पदार्थों में मुख्य वेदमन्त्र ही हैं क्योंकि मन और आत्मा की वैसी रक्षा अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती जैसी कि शुद्ध वेदाशय के समझ पूर्वक निरन्तर अभ्यास से हो सकती है इस कारण छन्दः पद का प्रधान अर्थ वेद है तथा अन्य सब वेद की अपेक्षा गौण हैं। इसी के अनुसार अथर्व वेद में कहे "आप" आदि का नाम भी गौणार्थ से छन्द रहो पर बन्धनार्थ नहीं होगा किन्तु जलादि रक्षा के हेतु होने से वेद में छन्द माने गये यही सिद्धान्त ठीक रहेगा। और पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्रों में छन्दःपद

"चन्देरादेश्च छः" इस सूत्र में चन्द्धातु के च् को छ आदेश करके भी सिद्ध किया है । यहां आनन्द वा सुख के हेतु का नाम छन्द होता है सो भी पूर्वाशय के अनुकूल है क्योंकि खेती आदि सुख के हेतु हैं हीं और वेद सर्वोपरि आनन्द का हेतु होने से भी छन्दः कहाता है । परन्तु बन्धनार्थ छन्दःशब्द न कभी था न हो सकता है आशा है कि विचारशील ध्यान पूर्वक शोचेंगे ॥

सामश्रमी जी—

(२) तत उत्तरं सर्वेषामपि अक्षरसमाम्नायानामर्थतस्तु सर्वेषां येन केनापि जीवेन कृतानां शब्दानामकारादीनां छन्दःशब्देन व्यपदेशो भवतिस्म । तत एवैवं तैत्तिरीया आमनन्ति "छन्दः पुरुषइति यमवोचाम, अक्षरसमाम्नायएव, तस्यैतस्याकारो रसः (३।२।३।४)" इति। तत्राप्युपपद्यत एवैतन्निरुक्तम्–'छन्दांसि छादनात्, छादनान्येवं हि शब्दा अकारादयोऽर्थानाम्॥

भाषार्थः–तदनन्तर सब आर्ष अथवा किसी सामान्य पुरुष के भी बनाये ग्रन्थमात्र का ग्रहण छन्दःशब्द से होता था । क्योंकि तैत्तिरीय लोगों ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि "छन्द पुरुष है कि जिस को हम अक्षरसमाम्नाय कहते हैं उस का अकार रस है" इस के साथ भी छादनार्थ से छन्द मानना निरुक्तकार का कथन घट जाता है क्योंकि अकारादि वर्ण अर्थों के ढांपने वाले वा बांधने वाले हैं ही उन में अर्थ बद्ध रहता है ॥

सम्पादक–सामश्रमी जी का यह भी भ्रम ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि रक्षार्थ से भी सब ग्रन्थों का नाम हमारे कथनानुसार हो सकता है तथापि ऐसा कभी नहीं हुआ । कदाचित् तैत्तिरीयशाखा वा आरण्यक बनते समय मूलवेद से भिन्न वेद के ढर्रा के अनुसार मुख्य ब्राह्मणादि बहुत थोड़े पुस्तक बने थे जिन को अब तक भी अनेक लोग वेद ही मानते हैं उन्हीं पुस्तकों में सब अक्षर समाम्नाय था वा यों कहो कि वेद भी अकारादि वर्णरूप में ही थे वा हैं इस कारण वेद का भी मूल मान कर तैत्तिरीय लोगों ने अक्षरसमाम्नायरूप वर्णमाला को छन्दः कह कर प्रशंसा की और वर्णों में भी अकार को प्रधान वा मुख्य बतलाया तो कुछ भी अनुचित नहीं है। क्योंकि महाभाष्यकार ने तो इस से भी अधिक प्रशंसा की है । यथा–

सोयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति ॥

अकारादि वर्णों से भिन्न कोई पदवाक्यादि कहीं नहीं है इन्हीं के संनिवेश विशेष से सब वेदादिग्रन्थमात्र बने हैं । अन्तरिक्ष में चन्द्र तारों के समान अकारादि वर्ण ही वेदादिशास्त्रों में सर्वत्र चमक रहे हैं । इस कारण यही अक्षर समाम्नाय वेद का ढेर है इस का ठीक ज्ञान होने में वेद से होने वाला पुण्यफल हो सकता है जैसे बीज का ठीक ज्ञान होना यही है कि वृक्ष के तत्त्व का बोध हो वैसे अकारादि जो वेद के भी मूल हैं उन का ठीक बोध होने पर वेद के तत्त्व का ज्ञान होना सम्भव है इस कारण वेदसम्बन्धी अक्षरसमाम्नाय का तत्त्वज्ञान वेद के तुल्य पुण्यफल का देने वाला है । इसी प्रकार वहां तैत्तिरीय लोगों ने भी अक्षर समाम्नाय की प्रशंसा की सो ठीक है किन्तु जब उन्हों ने यह नहीं लिखा कि अब तक अमुक २ इतने ग्रन्थ बने हैं उन सब का नाम छन्द है तो सामश्रमी जी ने यह क्यों निकाल लिया ? । यह वैसा ही है कि जैसे कोई कहे कि "अग्निर्माणवकः" तो कोई प्रमाण दे कि किसी समय अग्निशब्द लड़के का भी वाचक समझा जाता था जैसे अग्नि जलादि किसी न किसी रूप से सर्वत्र सब पदार्थों में व्याप्त हैं तथापि "अग्निमानय" कहने पर पत्थर नहीं लाया जाता । यद्यपि पत्थर में अग्नि है तथापि पत्थर और अग्नि दो हैं पत्थर अग्नि नहीं । इसी प्रकार छद धातु के संवरण वा अपवारण सामान्यार्थ प्रायः सभी पदार्थों वा ग्रन्थों वा अक्षरमात्र में हैं तथापि सब छन्द नहीं होते छन्दः केवल वेद का ही नाम था और है तथा उन का छन्दःपद वाच्य वेद में जिन वस्तुओं को यौगिकार्थ से छन्द कहा है तो सर्वथा मान्य ही है । और अकारादि वर्ण अर्थों के छादन वा छप्पर नहीं हैं किन्तु वेदमूलक वा वेद के मूलरूप होने से अनिष्ट से बचाने और इष्ट के रक्षक हैं इस कारण प्रशंसा बुद्धि से वे भी छन्द माने गये । शब्दार्थ का प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध नैयायिक लोगो ने नहीं माना यदि कोई ऐसा माने तो अग्नि शब्द को मुख से बोलते ही मुख में दाह होना चाहिये सो ऐसा नहीं होता तथा जो अग्नि शब्द के वाच्यार्थ को नहीं जानता उस को सुनने बोलने से अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती इस से वर्णों को अर्थ के छादन कहना भी ठीक नहीं ॥

सामश्रमी जी-

(३) ततः पश्चात् ऋषीणां प्रबन्धेषु ऋगादित्रिविधेषु मन्त्रेष्वपि व्यवहृतं छन्दइति । ततएवैवमप्याथर्वणिका आमनन्त्युच्छिष्टसूक्ते-"अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधिसमाहिताः (११।४।१।८)" अन्यत्र च "दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन । समि-

न्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन (६ । १२ । ११ । १)" इति । तत्राप्युपपद्यतएतदेव निरुक्तम् "छन्दांसि छादनात्" छादनान्येव हि ते मन्त्रा मनोभावादीनाम्। निरुक्तारम्भेऽपि यद्यापितम्–"छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः "(२ भा०७ पृ०)" इत्यादि । तत्रापि मन्त्रेभ्य इत्येव तस्यार्थः तत्र हि निघण्टौ मन्त्रमात्रत एवोद्धृतानां पदानां दर्शनात् । अतएव तस्य वृत्तौ "छन्दांसि=मन्त्राः" इत्येवोक्तं दुर्गाचार्येणापि। श्रूयते चेदं तैत्तिरीयारण्यके "यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः ०—० भूर्भुवश्छन्दश्रोम् (१०।६)" इति। "यः प्रणवः छन्दसां वेदानां मध्ये ऋषभः श्रेष्ठः" इत्यादि च तद्भाष्यं सायणीयम् । तथैव छान्दोग्यब्राह्मणेपि–"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (३ । ४ । २)" इति । शतपथेऽप्येवमेव–"यदेभिरात्मानमाच्छादयन्, देवा मृत्योर्बिभ्यत, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (४ । ५ । १ । १)" इति । निघण्टुश्रुतस्य (१ भा० २०२ पृ०) कान्तिकर्मणोऽपि भवति छन्दइत्येके। तथा च सर्वएव वेदाः काम्यमानाश्चास्माकं सर्वकामपूरकाः कमनीया वा। अर्चतिकर्मण एव (१ भा० ३३४ पृ०) भवति छन्दइति केचित् । तथा च सर्वेषामेव वेदमन्त्राणामर्चायां गतिरिति छन्दस्त्वम् । अर्चनीया वा सर्ववेदा अस्माकं ततोऽपि छन्दो वेदस्त्रयीत्याद्यभिन्नार्थः । तदित्थं पुरा सर्वेषामेव वेदमन्त्राणां साधारणं नाम छन्दइत्यासीदिति तु सर्वसम्मतमेव। अतएव च निघण्टौ स्तोतृनामसु (१ भा० ३४३ पृ०) छन्दः– इति । पाणिनीयसूत्रेषु, कात्यायनीयवार्त्तिकेषु, पतञ्जलेरिष्टिषु, अन्यत्रान्यत्र चैवमादिषु ग्रन्थेषु सर्ववेदपरं छन्दोवचनं सर्ववादिसम्मतं सुप्रसिद्धं चेत्यतएव सर्वएव वैदिकाश्छान्दसाइत्यभिधीयन्तेऽपीति ॥

भावार्थ—तत् पश्चात् ऋषि लोगों के प्रबन्ध ऋगादि तीन प्रकार के मन्त्रों के अर्थ में भी छन्दः पद का व्यवहार हुआ अर्थात् ऋगादि नामक वेदमन्त्रों को भी पीछे छन्द कहने लगे। सो वैसा अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त में कहा भी है कि "अग्न्याधेय दीक्षादि कर्म छन्दोनामक मन्त्रों सहित उच्छिष्ट में ही धरे हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक स्थलों में छन्दः पद से वेदमन्त्रों का ग्रहण इष्ट है। यहां भी छादनार्थ से छन्द मानना निरुक्तकार का विचार सघटित है, क्योंकि वेदमन्त्र मन की भावनादि के छादन हैं ही। तथा निरुक्त के आरम्भ में जो लिखा है कि छन्दों से ले २ कर निघण्टु में पदों का संग्रह किया है वहां भी छन्दः पद से मन्त्रों का ही ग्रहण इष्ट है। क्योंकि मन्त्रों से उद्धृत किये पद स्पष्ट ही निघण्टु में दीखते और वैसा ही निघण्टु निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने भी अर्थ किया है। तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि जो प्रणव छन्दोनामक वेदमन्त्रों में श्रेष्ठ है। तथा छान्दोग्य और शतपथ ब्राह्मणों में लिखा है कि "जब देवता लोग मृत्यु से भयभीत हुए तब त्रयीविद्या नामक वेदमन्त्ररूप घर में जा छिपे वेदमन्त्रों को छादन (छत्त वा छप्पर) के समान माना कि यहां मृत्यु न मार सकेगा। उन देवताओं ने जिस कारण वेदत्रयी को छादन बनाया इस कारण उस का छन्द नाम हुआ" निघण्टु २। ६ में छदि धातु की (छन्त्सत्) क्रिया कान्तिकर्मा आयी है जिस के अनुसार कोई लोग छन्दःपद को भी कान्तिकर्म कहते हैं। क्योंकि श्रद्धापूर्वक स्वीकार किये सभी वेद हमारी सब कामनाओं के पूरक हैं। तथा निघण्टु ३। १४ की अर्चतिकर्मा क्रियाओं में छन्दति छदयते क्रिया हैं। तदनुसार अर्चार्थ वाला छदि वा छद धातु से छन्दःपद को कोई लोग मानते हैं सो भी ठीक है क्योंकि सब वेद मन्त्रों का पूजा करने में प्रधान उद्देश है अथवा सब वेद हम को पूज्य वा मान्य हैं इस से भी छन्दः वेद और त्रयी शब्द एकार्थ ही सिद्ध हैं। सो इस प्रकार पूर्वकाल में सभी वेदमन्त्रों का साधारण नाम छन्द था यह सर्वसम्मत ही है। इसी से निघण्टु ३। १६ के स्तोतृ नामों में छन्दःपद पढ़ा गया है। पाणिनि सूत्रों कात्यायन के वार्त्तिकों और भाष्यकार पतञ्जलि की इष्टियों में तथा अन्यान्य इत्यादि ग्रन्थों में सब वेदों का वाचक छन्दःपद सब वादियों के सहमत और अतिप्रसिद्ध है अर्थात् मन्त्रसंहिता ब्राह्मण उपनिषद् शाखा आरण्यकादि सभी का नाम सर्वसम्मत छन्द है इसी कारण सभी वेदमार्गों के पढ़ने पढ़ाने वाले वैदिक लोग छान्दस कहाते हैं ॥

सम्पादक—इस पर विशेष विप्रतिपत्ति न होने से कुछ अधिक लेखनीय नहीं तथापि इतना वक्तव्य है कि ऋगादि वेद मन्त्रों वा गायत्र्यादि पद्यों का छन्द नाम कभी बीच में से नहीं हुआ किन्तु सृष्टि के आरम्भ से वेदमन्त्रों में आये छन्दः पद के अर्थ से छन्द वेदों का नाम चला आता है। जब वेदमन्त्रों में आये छन्दः पद के अर्थ से ही वेदत्रयी का वाचक होना सिद्ध है जैसे "काव्यं छन्दः" इस ऊपर

लिख चुके हैं और इस विचार को सामश्रमी जी भी मानते हैं तथा मानें गे तो वेद के संसार में प्रकट होने समय से ही छन्दःपद वेदवाचक सिद्ध हुआ। फिर वेद वा जगत् की उत्पत्ति से पहिले ऐसा कौन समय था जब विषयबन्धनों वा पुस्तक मात्र का नाम छन्द माना गया हो। सामश्रमी जी यदि अन्य कल्प की बात कहते हों तो वे ही जानें वेद से पहिले जब किसी पुस्तक का बनना सामश्रमी जी भी नहीं मानते और फिर यह भी कहते हैं "पहिले जिस किसी मनुष्य के बनाये अकारादि वर्णबद्ध सभी पुस्तकों का नाम छन्द हुआ जिस में तैत्तिरीय का प्रमाण है। तदनन्तर वेदमन्त्रों का नाम छन्द हुआ जिस में मूल संहिता का ही प्रमाण है" शोचने का स्थान है कि यह कैसा पूर्वापर विरोध है! जब सब से पहिले हुए वेद में ही वेदमन्त्रों का वाचक छन्दःपद विद्यमान है तो उस से भी पहिले जिस किसी ने कौन २ ग्रन्थ बनाये थे जिन का नाम छन्द था?। छान्दोग्य और शतपथ ब्राह्मण के जो प्रमाण सामश्रमी जी ने दिये उस का तात्पर्य यह नहीं है कि वेदों के पश्चात् ब्राह्मण पुस्तक बनते समय वा उस से भी पीछे जब देवताओं ने मृत्युभय से बचने का उपाय वेदमन्त्रों को जाना तब से उन का छन्द नाम हुआ किन्तु हमारे पूर्व लेखानुसार अनिष्ट से बचा के इष्ट की रक्षा करने वाले अर्थ का सूचक छन्दः शब्द परमात्मा ने पहिले ही से वेद में रक्खा था। पीछे धीरे २ देव कोटि के मनुष्यों ने जब अन्य २ दुःखों के हटाने और सुखों को प्राप्त करने के उपाय जान लिये। परन्तु सब अनिष्टों में बड़ा अनिष्ट मृत्यु और सब इष्टों में सर्वोत्तम इष्ट जीवन है उस प्रबल अनिष्ट मृत्युभय से बचने और अत्यन्त इष्ट जीवन की रक्षा का हेतु संसार में कोई वस्तु उन को न मिला फिर अधिक शोच विचार से वेदमन्त्रों को ही मृत्यु से बचाने वाला पाया तो वेदरूप छादन (छप्पर) की आड़ में जा घुसे और मृत्यु का भय दूर हुआ तब उन देवकोटि के लोगों ने यह निश्चय जान लिया कि वेदों का छन्द नाम इसी लिये सत्य है कि उन की छाया का शरण लेने वाला मृत्यु जैसे प्रबल भय से भी बच सकता है जो काम अन्य किसी उपाय से साध्य हो ही नहीं सकता यही छन्दों का छन्दस्त्व है। हम अपने पाठक महाशयों को विश्वास दिलाते हैं कि आप कहीं इस विचार को साधारण वा असम्भव न समझिये क्योंकि आज कल अविश्वास बढ़ा हुआ है। क्या मृत्यु के पञ्जे से कोई बच सकता है? नहीं कदापि नहीं शरीर जैसा अनित्य पदार्थ भी कभी किसी प्रकार नित्य हो सके तो फिर अनित्य कौन कहावे गा?। इस का उत्तर यह है कि यद्यपि यह असम्भव है कि उत्पत्तिधर्मक वस्तु अविनाशी हो तथापि जैसे कहीं २ कभी २ सम्भव असम्भव और असम्भव भी सम्भव हो जाता है वैसे किसी देहधारी के शरीर को मृत्यु न मार सके और यह भी असम्भव सम्भव हो जाय तो भी सब देहधारी नित्य नहीं हो जाते तब "उत्पत्तिधर्मकमनित्यम्" यह नियम

अनित्य शरीरों वा पदार्थों में चरितार्थ रहेगा। वेद की छाया में ठीक २ आ-जाना वेद को अपना सर्वांश में पूरा रक्षक बना लेना यह कोई सहज काम नहीं यह साधारण बात नहीं, यह सब किसी का काम नहीं, यह बड़ा कठिन मार्ग है। वेद की ठीक छाया में आने का उद्योग करने वालों में से भी कभी कोई नि-र्विघ्न आसकता है उस मार्ग में असंख्य आसुरीमाया विघ्न करने के लिये प्रतिक्षण विद्यमान हैं। उन से बच के निष्कलङ्क पार हो जाना सब किसी का काम नहीं, है। इस दशा में कोई २ कभी २ मृत्यु के पञ्जे से बचा भी तो शेष असंख्य अनित्य बने ही रहे। द्वितीय उत्तर यह है कि मृत्यु का सर्वथा भय छूट जाय तत्त्वज्ञानपूर्वक जीवन्मुक्तदशा हो जाय तो यथासमय शरीरत्याग होने पर भी वह मृत्यु से बचा ही माना जायगा वा उस का मृत्यु नहीं हुआ यही कहेंगे क्योंकि वह भी अपना मृत्यु नहीं मान सकता। हम को पूर्ण विश्वास है कि जगत् में जो दुःख २ है जिस का अन्य कोई साधन नहीं, जो सुख अन्य किसी प्रकार वा वस्तु से नहीं मिल सकता जो दुःख धनादि सब साधनों के एकत्रित हो जाने पर भी अन्य किसी प्रकार से नहीं हट सकता वह सभी काम वेदवृक्ष की छाया का शरण लेने से सिद्ध हो सकता है। इस लिये वेद सर्वोपरि छादन वा घर अविनाशी है। कान्ति वा पूजार्थ छदिधातु से छन्दःशब्द की सिद्धि मान-ना यह एकदेशी विचार है क्योंकि निघण्टु का आशय उन आई हुई क्रियाओं को ही उन अर्थों में सिद्ध करने का प्रतीत होता है किन्तु छन्दःशब्द का नहीं पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि की सब इष्टियों में छन्दःपद से ब्राह्मणादि सहित का ग्रहण इष्ट नहीं क्योंकि (छन्दो ब्राह्मणानि०) सूत्र को सामश्रमी जी ने भी प्रमाण दिया है कि पाणिनि आचार्य भी ब्राह्मण से भिन्न मन्त्र संहिताओं को छन्द मानते थे। एक काल में पाणिनि के दो निश्चय वा सिद्धान्त नहीं हो सकते यदि कदाचित्कहीं ब्राह्मणादि को भी छन्द मानना पाणिनि का आशय हो तो वेद के तुल्य छादनार्थ मान कर गौण छन्दस्त्व ब्राह्मणादि की प्रशंसार्थ मानना होगा। तथा कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि सूत्रों के व्याख्याकार हैं उन का सिद्धान्त पाणिनि के अनुकूल ही हो सकता है ॥

सामश्रमीजी--

(४) अस्तीहापरमपि ज्ञेयम्-"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे० (अ० सं० ११। ४। २। ४)" इत्याथर्वणे, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत (ऋ० सं० १०। ९)" इत्यृचि च "छन्दांसि" इति पदेन सामवेदी-

यच्छन्दोनामग्रन्थीयमन्त्राणामेव ग्रहणमिष्यते छान्दसैरेकमत्येति सामवेदीयानां हि संहिताग्रन्थो गानम्। छन्दइति च द्विधाभिन्नः। गानं तत्र गेयारण्योहोह्येति चतुर्विधम्। छन्दस्तु ग्रामारण्येति द्विविधमेव, तयोर्द्वयोश्चार्चिकइति च व्यवहारोऽनतिप्राचीनो वैयाकरणतोपकरः। एवं हि यथैव तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् ऋचः—ऋग्वेदीया यजुर्वेदीया अथर्ववेदीयाश्च, यजुः—यजूंपि वृत्तगीतिवर्जितासवाक्यानि यजुर्वेदीयानि सामवेदीयानि अथर्ववेदीयानि च, सामानि—सामवेदीयानि यजुर्वेदीयानि च जज्ञिरे तथैव तस्मात्तएव यज्ञात् छन्दांसि—सामवेदीयगानमूलीभूताश्छन्दोनामकमन्त्राश्च जज्ञिरे इति तदर्थः। यदि च तेषु छन्दस्स्वपि ऋग्लक्षणं विद्यतएवेति पुनश्छन्दोग्रहणमानर्थक्यं भजतेव, परं तेषां प्राधान्यख्यापनाय ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन पृथग्ग्रहणं च न दोषावहम्। अन्यथा ऋग्वेदोद्धृताएव ते मन्त्राइति तेषामप्राधान्यमेव स्यादिति॥

एतेन ऋग्वेदतएव साममूलीभूतास्ता ऋचस्तत्र संगृहीता इति च मतं दूरोत्सारितमेव। पुनर्विशदयिष्यामश्चैतदिहैवोपरिष्टान्मन्त्रनिरुक्तिप्रकरणे। वस्तुतो यज्ञार्थमेव हौत्रं यज्ञार्थमेवौद्गात्रम्, तत्र होतृकार्यनिर्वाहाय ये मन्त्राश्चितास्ते हि सर्वएव ऋक्संहितायां दृश्यन्ते, औद्गातृकार्यनिर्वाहाय च ये मन्त्राश्चितास्ते सामरूपा ऋग्रूपाश्च तएव च सामसंहितायां दृश्यन्ते। तत्र हि सामसंघातात्मग्रन्थानां सामेत्येव प्रसिद्धिश्चिरन्तनी, इदानीन्तु गानमित्यपि, ऋक्संघातात्मग्रन्थयोस्तु छन्दइत्येवप्रसिद्धिः पुरातनी। आर्चिकइति तु पाणिनीयानामिति विशेषः। इत्थन्त्वत्र पश्यतु तावत्—ऋक्संहितातः सामवेदीयगुद्धरणे कोऽवसरः? यदैव यथैव यतएव येनैव ऋक्संहितायां ऋचां सङ्ग्रहः सम्पन्नः, तदैव तथैव ततएव तेनैव सामसंहितायाश्छन्दसां च सङ्ग्रहः इत्येतत्ख्यापनायैव "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् इति कृतः पृथगुपन्यासइति ॥

भावार्थः—इस प्रसंग में और भी विचारणीय है कि (ऋचः सामानि छन्दांसि०) इस अथर्व मन्त्र में और (छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्०) इत्यादि ऋक् वा यजु में आये मन्त्र में छन्दांसि पद से सब वेदानुयायी लोगों ने एक मत हो कर सामवेद के छन्दोनामक पूर्वार्द्ध के मन्त्रों का ग्रहण किया है। सामवेदीय संहिताग्रन्थ के दो भेद हैं एक छन्द और द्वितीय गान, इस में गेय, आरण्य, ऊह, ऊह्य ये गान के चार भेद हैं। और योनि, उत्तर ये छन्द के दो ही भेद हैं। इन दोनों छन्द और गान भेदों के साथ आर्चिक शब्द के बोलने का व्यवहार (छन्दआर्चिक, उत्तरार्चिक कहने की चाल) अतिप्राचीन नहीं किन्तु आधुनिक वैयाकरण लोगों की इच्छानुसार है। इस प्रकार जैसे (तस्मात्, यज्ञात्) उस यज्ञ से (ऋचः) ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्वसम्बन्धी ऋचा (यजुः) यजुः साम और अथर्व में आने वाले छन्दोगानवर्जित अप्रवाक्य यजु और (सामानि) साम वा यजुर्वेद में आने वाले गान वाक्य (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए वैसे ही उसी यज्ञ से (छन्दांसि) सामवेद-सम्बन्धी गान के मूलरूप छन्दोनामक मन्त्र भी उत्पन्न हुए यह उन मन्त्रों का अर्थ है। यदि उन छन्दोनामक मन्त्रों में भी ऋचाओं का लक्षण विद्यमान ही है तो ऋचाओं की उत्पत्ति कहने में उन की भी उत्पत्ति आजावे फिर (छन्दांसि) पद उन मन्त्रों में पुनरुक्त होने से व्यर्थ ही होजाय पर उन छन्दोनामक मन्त्रों की प्रधानता जताने के लिये पृथक् ग्रहण "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय के अनुसार दोषयुक्त नहीं। यदि पृथक् ग्रहण न करते तो वे छन्दोनामक मन्त्र ऋग्वेद से ही उद्धृत किये हैं इस कारण उन की अप्रधानता होजाती। "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय यह है कि—जैसे किसी ने कहा कि सब ब्राह्मणों को बुलाओ और वसिष्ठ को भी तो सब ब्राह्मणों के बुलाने में वसिष्ठ का भी बुलाना आगया क्योंकि वसिष्ठ भी ब्राह्मण है फिर वसिष्ठ का पृथक् नाम लेना व्यर्थ नहीं किन्तु उन की प्रधानता वा प्रतिष्ठा जताने के लिये है इसी प्रकार यहां भी ऋचः कहने से छन्द भी आगये फिर (छन्दांसि जज्ञिरे) कहना उन छन्दों की प्रधानता दिखाने के लिये है। इस कथन से सामवेद के मूलमन्त्र ऋग्वेद से ही सङ्गृह किये गये यह मत खण्डित हो जाता है इस का विशेष विचार आगे मन्त्र शब्द के विचारप्रकरण में करेंगे। वस्तुतः यज्ञ के लिये ही होता और उद्गाता के कर्मों का वा भावों का विभाग है। उस में होता के कार्य निर्वाहार्थ जो मन्त्र छांटे गये वे सब ऋग्वेदसंहिता में दीखते तथा उद्गाता के कार्यनिर्वाहार्थ जो मन्त्र छांटे गये वे सामरूप या ऋग्रूप सभी सामसंहिता में दीखते हैं। उस में सामसम्बन्धी सब ग्रन्थों का नाम साम ही प्राचीन है पर अब गान भी कहाता है और ऋक्सम्बन्धी ग्रन्थों का प्राचीन नाम छन्द है। और ऋक् को आर्चिक कहना यह पाणिनीय व्याकरण वालों का ही विशेष अभिमत है। इस प्रकार देखो सोचो कि ऋक्संहिता से सामवेदीय ऋचाओं के उद्धृत करने का क्या अवसर था ?। जभी जैसे ही जिसी से जिसी करके ऋक्संहिता की

ऋचाओं का संग्रह हुआ तभी वैसे ही उसी से उसी करके सामसंहिता के छन्दों का भी संग्रह हुआ इस बात को जताने के लिये ही "उसी यज्ञ से छन्द भी उत्पन्न हुए" यह पृथक् निर्देश किया गया है ॥

(सम्पादक—आ० मि०) हमारे विचार में सामश्रमी जी के इतने अधिक श्रम से भी कुछ विशेष फल नहीं निकला, अच्छा सन्तोषकारी वेद का गौरव बढ़ाने वाला उत्तम समाधान भी नहीं हुआ। जैसे किसी मूषक (चूहे) को पकड़ने के लिये सेना चढ़े वैसा ही यहां भी हुआ। अस्तु—वेदों में मन्त्रों की पुनरुक्ति का विचार हम यथावसर आगे कहीं विस्तारपूर्वक लिखेंगे। यहां केवल ऋक् यजुः साम तीन वेदों की उत्पत्ति के साथ (छन्दांसि यज्ञिरे तस्मात्) इत्यादि में छन्दःपदवाच्यों की पृथक् उत्पत्ति क्यों दिखाई गई छन्दः शब्द से यहां किस का ग्रहण होना चाहिये। यहां सामश्रमी जी का समाधान ठीक नहीं। बहुत टीकाकार सायणादि एकमत हैं इससे छन्दः करके साम के पूर्वार्द्ध का ग्रहण करना यह कोई प्रमाण कोटि के योग्य मान्य ही हो ऐसा नियम नहीं है। कहीं भेड़ चाल पर चलने वाले अनेकों का विचार भी निर्मूल अमान्य हो सकता और कहीं एक का भी धर्मानुकूल विचार सर्वमान्य हो सकता है। बहुपक्षानुसार विचार वा निर्णय होने का नियम पूर्ण धर्मात्मा आप्त परीक्षक विद्वानों में होना चाहिये कि जिस में अनेक आप्तों की एक सम्मति हो वह मान्य वा सर्वहित है। और अतत्त्वज्ञ साधारण सहस्रों मनुष्यों की सम्मति से भी एक तत्त्वज्ञ आप्त की सम्मति सर्वहित वा मान्य हो सकती है। सर्वथा एक के पीछे दूसरे के चलने का व्यवहार जब से अधिक प्रचरित हुआ तभी से भारतवर्ष की अवनति और वैदिक धर्म की हानि अधिक हो गयी। वेद का आश्रय सर्वांश में सर्वथा सर्वदा लेना और द्वितीय कक्षा में वेदानुकूल धर्मात्मा आप्त विद्वानों के वाक्य का आश्रय करना यही विद्वान् धर्मात्मा पुरुषों का कर्त्तव्य है। अस्तु, इस विचार को यहीं छोड़ के अपने प्रकृत विषय को देखें—सामश्रमी जी "छन्दांसि" पद को "ब्राह्मणवसिष्ठ" न्याय से व्यर्थ न होने के लिये जो समाधान देते हैं वह सत्य भी हो तो छन्दो ग्रहण का दोष मात्र हटाया गया कि "पृथग् ग्रहणं च न दोषावहम्" छन्दः पद का ग्रहण दोषकारी नहीं इस से यह नहीं आया कि छन्दोग्रहण इस विशेष प्रयोजन के लिये है। वेद जैसे महामान्य ईश्वरीय पुस्तक में एक अक्षर भी सामान्य प्रयोजन के लिये नहीं होना चाहिये। मान लीजिये कि उन मन्त्रों में "छन्दांसि" पद न होता तो क्या "सामानि" पद के कहने से सामवेद के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों का ग्रहण न हो जाता? क्या ऐसे ऋग्वेद में वा यजु में कोई प्रकरण वा मन्त्र नहीं हैं जिन की प्रधानता दिखायी जाय जो अन्य प्रकरणों के मूल माने जायं। हम सिद्ध कर सकते हैं कि ऋगादि सब वेदों में ऐसे मन्त्र और प्रकरण अनेक हैं जो अन्यवेद भागों के मूल वा सर्वो-

परि प्रधान माने जायं। जैसे ब्राह्मणउपनिषद् सूत्र आरण्यक शाखा और मनु-स्मृति आदि सब आर्षग्रन्थों की एक सम्मति है कि प्रणव और व्याहृतियों सहित (तत्सवितु०) मन्त्र ऋगादि तीनों वेद वा त्रयीविद्या का सारांश मूल तथा सर्वोपरि प्रधान मान्य है। इतनी प्रतिष्ठा वा प्रधानता सामवेद के छन्दोभाग की किसी प्रमाण से कदापि सिद्ध नहीं हो सकती जितनी कि प्रणव वा व्याहृति सहित सावित्री मन्त्र की की गयी है। तब हम पूछ सकते हैं कि उस की प्रधानता दिखाने के लिये कोई पद उस (छन्दांसि जज्ञिरे) मन्त्र में क्यों नहीं पढ़ा गया? वा छन्दोग्रहण से सामश्रमी जी ने उसी मन्त्र की प्रधानता क्यों न मानली? यदि वे ऐसा भी मान लेते तोभी छन्दोग्रहण विशेषप्रयोजनसाधक नहीं ठहरता। क्योंकि ऋग्यजुः साम तीन ही शब्दों से सब वेदों के प्रधान अप्रधान सभी भागों का निस्सन्देह ग्रहण आजाता है फिर सामश्रमी जी के समाधान से भी छन्दोग्रहण इतना कम कार्यसाधक ठहरता है जिस को निस्सन्देह व्यर्थ मान सकते हैं। तथा सामश्रमी जी के पूर्वापर सब लेख को विचार पूर्वक अवलोकन करने से भी यही ध्वनित होता है कि छन्दोग्रहण व्यर्थ है। अस्तु—अब हमारा समाधान सुनिये :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि ज-ज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

इत्यादि सब में वा किसी वेद में आये वेदत्रयी के साथ छन्दों की पृथक् उत्पत्ति दिखाने वाले मन्त्रों में भी ऋगादि तीनों शब्द हमारे पूर्व लेखों के अनुसार त्रयीविद्या के वाचक हैं कि ऋक् नाम स्तुति वा कर्मकाण्ड विषयात्मक प्रथम कक्षा की विद्या, यजुः नाम यज्ञ उपासना विषयात्मक द्वितीयकक्षा की विद्या, तथा साम नाम ज्ञान शान्ति—प्रार्थना—भक्ति विषयात्मक तृतीयकक्षा की विद्या उस परमात्मा से उत्पन्न हुई अर्थात् ऋगादि शब्द विद्यासम्बन्धी प्रधान वा सर्वविद्याओं के मूल तीन विषयों के नाम हैं। ऐसे ही वेदमन्त्रों के आशयों को लेकर ब्राह्मणोपनिषत् तथा मनुस्मृत्यादि आर्षपुस्तकों में ऋगादि तीन ही शब्दों से चारों वेद पुस्तक-स्थविद्याओं वा चारों वेदों का ग्रहण ऋषि लोगों ने किया अर्थात् ऋगादि तीन शब्दों से तीन प्रकार की विद्या के ग्रहण का बोध भी पहिले महर्षियों को वेद से ही हुआ क्योंकि वेद ही सब का मूल है। जब ऋगादिशब्द त्रयीविद्या वाचक हुए तो यह सन्देह शेष रहा कि वह त्रयी किस रूप में प्रकट हुई अर्थात् गद्य में वा भिन्न २ पदवाक्यों में वा पद्य में? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कहा गया कि "छन्दांसि" वह ऋग्यजुःसाम नामक त्रयीविद्या गायत्र्यादि छन्दोबद्ध ही परमेश्वर से हुई अर्थात् छन्दोरूप में पदवाक्यों का समावेश भी किसी देहधारी पुरुष विशेष ने नहीं किया पद्यरचना भी परमात्मा से ही प्रकट हुई। इसी लिये "तेन प्रोक्तम्" पाणिनि सूत्र पर महाभाष्यकार का कथन "नहि छन्दांसि क्रियन्ते

नित्यानि छन्दांसि" वेद के गायत्र्यादि छन्द बीच में कभी किसी ने नहीं बनाये किन्तु वे नित्य हैं इत्यादि सत्य सङ्घटित होजाता है । इसी लिये " अग्निमीडे पुरोहितम् " यही संहिता पाठ वैदिकवाक्य वा साक्षात् वेद माना जाता और हम इस में थोड़ा भी लौटपौट वा पदच्छेद कर दें तो वह वेद वा वैदिक वाक्य नहीं माना जायगा । जैसे (पुरोहितमग्निमीडे) वा (ईडेऽग्निं पुरोहितम्) वा (अग्निम् । ईडे । पुरोहितम्) इत्यादि वैदिक वाक्य वा वेद नहीं कहाता किन्तु ये लौकिक वाक्य माने जाते हैं । इसी लिये महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में वैदिक शब्दों के उदाहरण छन्दोबद्ध और लौकिक (गौरश्वः पुरुषः) इत्यादि भिन्न २ पद पढ़े हैं । यदि लौटपौट होने पर भी वेद बना रहे तो (आयंगौः०) आदि में आये "गौः" आदि शब्द भी वैदिक हो सकते हैं तब लौकिक वैदिक में भेद मिलना ही दुस्तर है क्योंकि जिन अकारादि वर्णों से वेद समाविष्ट हैं उन्हीं से सब लौकिकपद वाक्य तथा छन्द वा ग्रन्थ बने हुए हैं तो हम जिस को वैदिक कहेंगे वह भी लौकिक और जिस को लौकिक ठहरावेंगे वह भी वैदिक हो जायगा । इस से सिद्ध हुआ कि जैसे २ पूर्वापर अक्षरपदवाक्य संघटित गायत्र्यादि छन्दोबद्ध संहिता पाठरूप वेद सम्प्रति विद्यमान हैं वैसे ही सर्गारम्भ में परमात्मा से हुए किन्तु ब्राह्मसमाजियों के मनमाने विचारों के अनुसार जिन किन्हीं शब्दों में परमेश्वर ने उपदेश नहीं कर दिया । इसी बात को जताने के लिये ऋग्यजुः साम के साथ उक्त मन्त्रों में छन्दों की उत्पत्ति दिखायी गयी । और वेदों के गायत्र्यादि छन्द कब बने किस ने बनाये ? ऐसे बड़े सन्देह का उत्तर भी वेद से मिलना पहिले आवश्यक था और है । इस प्रकार छन्दोग्रहण महत्प्रयोजनीय है किन्तु व्यर्थ नहीं है और ऋगादि शब्दों से त्रयीविद्या का बोध होने पर अथर्व भी उसी में अन्तर्गत है और छन्दःपद के अर्थ में अथर्व के भी छन्दों का समावेश समझ लेना चाहिये ॥

सामश्रमी जी -

पुरैव गायत्र्यादीनामपि छन्दस्त्वं व्यवहृतं मन्त्रेष्वपि । तद्यथा—"छन्दांसि च दधतोऽध्वरेषु (ऋ०स०८।१६।५) इत्यादि । तत्रापि छादनमेव बीजम् । भवति हि शब्दानां छादनं गायत्र्यादिभिः । किञ्च यथा खलु पद्यैर्भवति शब्दानां छादनं तथैव गद्यैर्गानैरपीति सर्वविधरचनानामेव छन्दस्त्वं चिरात्प्रतिष्ठितम् । कालभेदाल्लौकिकव्यवहारो विभिन्नइत्यन्यदेतत् । अतएव " छन्दांसि छादनात्" इति व्याख्यानावसरेऽप्युक्तं दुर्गाचार्येण—" ते

सब महाशयों को विदित हो कि हमारे पास कुछ ऐसे प्रश्न आगये जिन का उत्तर छापना अन्य सर्वसाधारण लोगों के लिये भी उपकारी समझा इस कारण क्रम से प्रश्न लिख२ कर उत्तर लिखते हैं—

यद्यपि वेदानुयायी आस्तिक धर्मात्मा विद्वानों का सिद्धान्त है कि "तर्कोऽप्रतिष्ठः" वा "नैषा तर्केण मतिरापनेया" तर्क स्थिर नहीं तथा तर्क से बुद्धि को चलायमान मत करो। और यह सत्य भी है कि तर्क से कोई बात स्थिर सिद्ध नहीं होती। जब कोई प्रबल तर्क से स्थिर सिद्धान्त ठहरा देता है तो वह तभी तक ठहर सकता है जब तक उस से भी प्रबल तर्क वाला उस पर ध्यान नहीं देता। जैसे पहिले तर्कवाद को उस से प्रबल अगले तार्किक ने हटा दिया वैसे ही आगे२ होने वाले प्रबल तार्किक पिछले२ तर्कवादों को काटते जायंगे इस प्रकार केवल तर्क से निश्चित होने वाले परोक्ष सूक्ष्म धर्मादि विषयों की कभी स्थिर व्यवस्था नहीं हो सकती इस लिये तर्क को अप्रतिष्ठित माना है। और जब तर्क स्वयं ही स्थिर नहीं तो उस का आश्रय करने वाले का बुद्धि वा विचार एक स्थिर होजाय यह असम्भव है। जैसे लगातार घूमने वाले चाक वा निरन्तर चलते हुए वाष्पयान (रेलादि) में बैठा हुआ कोई प्राणि चाहे कि मैं चलायमान न होऊं वा मेरा शरीर किञ्चित् भी न हिले तो यह असम्भव है। इसी प्रकार अस्थिर तर्क पर सवार रहने वालों के बुद्धि विचार सदा ही चलायमान रहेंगे वे किसी सूक्ष्म परोक्ष विषय का ठीक निश्चय भी नहीं कर सकेंगे तब उन को इष्ट की प्राप्ति वा अनिष्ट की निवृत्ति होना भी दुर्लभ है। इस लिये कहा गया कि तर्क से बुद्धि को चलायमान मत करो तथापि यह विचार केवल पूरे आस्तिक पुरुषों के लिये लिये है। उन आस्तिक पुरुषों में भी दो भेद हैं। एक पूरे वेदादि शास्त्रज्ञ और द्वितीय साधारण विद्वान् वा सर्वथा शास्त्रज्ञान रहित। उन में शास्त्रज्ञ पूर्ण विद्वानों के लिये प्रमाणानुकूल तर्क से धर्मादि विषयों को मानने समझने समझाने वा सिद्ध करने के लिये शास्त्रों की आज्ञा है और साधारण आस्तिक पुरुषों को वेदादि शास्त्रों में लिखे विषयों पर निर्विवाद मान लेने की आज्ञा है और वास्तव में वैसे आस्तिक उन२ विषयों को निर्विवाद स्वयमेव मान ही लेते हैं वे अपने स्वभाव से ही विवाद को प्रसन्न नहीं करते ऐसे लोगों के लिये तो केवल वेदादिशास्त्र प्रमाण की ही केवल आवश्यकता है। जैसे यजु० १९। ४७

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

अर्थ—मध्यकोटि के प्राणियों वा चन्द्रलोकस्थ पितृनामक प्राणियों की दो प्रकार की गति होती है। यदि वे उत्तम कर्म करें तो अपने से उत्तम देवयोनि में जन्म

लें और यदि निकृष्ट कर्मों की ओर झुकें तो मनुष्यों में जन्म लेवें। अर्थात् ब्रह्माण्ड भर के सब प्राणी अपने २ कर्मों के अनुसार इन्हीं दो उत्तम निकृष्ट मार्गों से चलते हैं कि जो उत्तम वा निकृष्ट पिता माता के बीच जन्म लेना है। तथा—

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥१॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधा स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥२॥

यह निरुक्त के तेरहवें अध्याय में कहीं के अतिप्राचीन श्लोक लिखे हैं। ये भी पूर्वोक्त वेदमन्त्र के अनुकूल ही हैं कि—मैं मर के फिर उत्पन्न हुआ उत्पन्न होकर फिर मरा। सहस्रों योनियों वा गर्भाशयों में वास किया भिन्न २ जन्मों में नानाप्रकार के भोजन खाये अनेक स्तनों के दूध जन्म ले २ कर पिये अनेक माता पिता और मित्रों को देखा अनेक बार अनेक माता पिताओं का मैं पुत्र बना इत्यादि सहस्रों प्रमाण वेदादिशास्त्रों में भरे हुए हैं। परन्तु ये प्रश्न केवल प्रमाण पूछने के लिये नहीं किये गये किन्तु जिन में सर्वोपरि आस्तिकता नहीं जिन में दोनों प्रकार के भाव विद्यमान हैं उन्हीं के भाव से प्रश्न किया गया है तथा समयानुसार भी तर्क ही प्रधान है इस कारण अब आगे तर्कानुकूल छान बीन के साथ उत्तर लिखा जाय गा ?। क्योंकि यही संशयात्मा आस्तिकों और परोक्ष विषयों पर विश्वास न रखने वाले दोनों ही के लिये उत्तर अच्छा होगा। इस पूर्व प्रस्ताव के लिखने से हमारा प्रयोजन यही है कि केवल तर्कवाद को हम भी अच्छा नहीं मानते। इस से हमारा वक्ष्यमाण लेख तर्क प्रधान भी पुनर्जन्म रूप वेदोक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये समझिये किन्तु प्रमाण शून्य केवल तर्क नहीं मानना चाहिये ॥

प्रश्न (१)—आवागमन किस प्रकार सिद्ध है। आवागमन सत्य है तो आज तक जितने मनुष्य हुए हैं किसी को इस बात का स्मरण नहीं है कि हम कौन थे वा कौन होंगे ? जैसे कि हम एक चिराग़ जलायें फिर उस को गुल कर दें फिर वही रोशनी जो हो रही थी लौट आवे ?

उत्तर—यह प्रश्न विना जड़ वा नींव की भित्ति के समान है जब तक यह निश्चय न हो कि आवागमन किस का पूछना इष्ट है ? तो क्या उत्तर दिया जाय। यदि मान लें कि जीव, जीवात्मा वा जिस को रूह कहते हैं उसी का आवागमन पूछना है तब प्रश्न होगा कि वह कोई नित्य पदार्थ है वा अनित्य, जैसे घटाकाश मठाकाश के तुल्य आधुनिक वेदान्ती मानते हैं वया वैसा तोजीव नहीं ? अथवा जैसा डाक्टर लोग रुधिर से भिन्न कोई जीव नहीं मानते वैसा तो

नहीं ? अर्थात् जब तक निश्चय न हो कि कोई जीव वा जीवात्मा वास्तव में देह से भिन्न वस्तु है वा नहीं यदि है भी तो वह नित्य है वा अनित्य ? अथवा इन्द्रियों वा मन में से किसी का नाम तो जीवात्मा नहीं ? इत्यादि प्रकार जीवात्मा का निश्चय हो जाने पर उस के आवागमन का विचार चल सकता है इस लिये हम पहिले उन्हीं बातों का विचार क्रम से लिख कर पीछे यथोचित उत्तर दें गे ॥

१-अस्तिनास्तिवाद

अनेक लोग शरीर की प्रत्यक्ष चेतनता को संयोगजन्य गुण मानते हैं कि जैसे अनेक वस्तुओं के संयोग में एक नया गुण वा नयी शक्ति उत्पन्न होती है वैसे ही शरीर के संबन्धी वीर्य रुधिरादि के संयोग से चेतनता शक्ति हो जाती किन्तु शरीर के रुधिरादि धातुओं से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है ॥

इस का उत्तर हम यह देते हैं कि संयोगजन्य गुण वा शक्ति का नाम कोई कुछ और भी माने वा रक्खे तथापि वह बुद्धि वा ज्ञान से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं ठहर सकता। तो यही आशय होगा कि बुद्धि वा ज्ञान संयोगजन्य शक्ति है और उस से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं तब हम पूछते हैं कि वह बुद्धि रूप शक्ति एक ही है वा अनेक वह जन्म से मरण तक एक ही सी बनी रहती वा बदल २ भिन्न २ होती जाती है अर्थात् शरीर के साथ नित्य है वा अनित्य। यदि नित्य मानो तो जन्म से जाने हुए सब विषयों का सदा ही एक सा स्मरण रहना चाहिये और पहिले ज्ञान वा बुद्धि आगे कभी बदलना नहीं चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता न हो सकता है। इस को कोई सिद्ध भी नहीं कर सकता कि सब विषयों का सदा किसी को स्मरण रहे वा बुद्धि न बदले। सुने जाने अच्छे बुरे विषयों का प्रत्येक समय किसी को स्मरण रहता नहीं दीखता तथा प्रत्यक्ष में सभी की बुद्धि नित्य २ बदलती जाती है तो शरीर के समान बुद्धि भी अनित्य सिद्ध हुई इस दशा में कोई नहीं कह सकता कि हमारी बाल्यावस्था में जो बुद्धि थी वही अब युवावस्था वा वृद्धावस्था में भी बनी है। और बुद्धि से भिन्न नित्य आत्मा कोई उस के मत में है नहीं तो उस के मत में प्रत्यभिज्ञा नहीं बने गी और प्रत्यभिज्ञा होती सब को प्रत्यक्ष में ही है। जैसे जिस प्रकार का सुख वा दुःख किसी इन्द्रियद्वारा विषय के साक्षात् करने से कभी इस मनुष्यादि प्राणी को प्राप्त होता उस का संस्कार इस के आत्मा में हो जाता है जब फिर कभी उसी पूर्वज्ञात विषय के तुल्य वस्तु को देखता वा किसी इन्द्रिय से अनुभव होता है तब पहिले जाने विषय का स्मरण आकर उस के ग्रहण वा त्याग की इच्छा होती है यदि पहिले उस से कभी सुख भोग चुका है तो उसी लोभ से फिर उस को राग होता और दुःख हो चुका है तो द्वेष होता है इस प्रकार सांसारिक सब प्राणियों की पूर्व दृष्ट अनादि के अनुसार ही प्रवृत्ति निवृत्ति होती है अब

यदि बुद्धि अनित्य है और नित्य आत्मा कोई है नहीं तो किसी को पूर्व का स्मरण नहीं रहना चाहिये। जैसे एक राजा मर जाय तो उसी के स्थान में दूसरा गद्दी पर बैठे तब कोई पहिले राजा का मित्र आकर अगले से कहे कि मैं अमुक हूं अमुक समय आप से मिला था अमुक विचार हुआ था तो इन प्रथम राजा के साथ हुए व्यवहारों का स्मरण दूसरे को नहीं हो सकता वैसे ही पूर्व काल के विषय ज्ञान समय की बुद्धि तभी नष्ट हो गयी उस बुद्धि के ज्ञात विषय का स्मरण यदि अब की नवीन उत्पन्न हुई बुद्धि को हो सकता है तो हमारे जाने हुए विषयों का स्मरण तुम को भी होना चाहिये वा सब के अनुभूतविषयों को सब जान सकते हैं क्योंकि अब यह नियम नहीं रहा कि जिस ने जिस को देखा हो उसी को उस का स्मरण आवे। इस का समाधान अनात्मवादी पर है। यदि कहो कि पूर्वानुभूत के स्मरण से बुद्धि को ही नित्य क्यों न मानलो क्योंकि यदि बुद्धि अनित्य होती तो हम को स्मरण ही क्यों रहता। तो हम कहते हैं कि बुद्धि जो क्षण २ में नई उत्पन्न होती प्रत्यक्ष दीखती है उस का नित्य मान लेना तो ऐसा ही असम्भव है जैसे आज जिस भोजन को तुम बना कर खाते हो उस को सिद्ध करो कि ५०। वा १०० वर्ष पहिले जो भोजन बना था वही यह है अर्थात् जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता उस को भी नित्य ठहराने का उद्योग करना सर्वथा असम्भव है इस कारण स्मरण रहने से ही आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है कि जो विचारपूर्वक शोचने से भी बुद्धि से भिन्न पदार्थान्तर सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि—

यथाऽनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन्, अविशेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयंदृष्टस्य स्मरणं नान्यदृष्टस्येति। एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्ये न स्मरन्तीति। तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति, एवमुपपन्नमस्त्यात्मेति। न्यायशास्त्रे वात्स्यायनभाष्यम् ॥

भाषार्थः—जैसे भिन्न २ शरीरों में नियत हैं विषय जिन के, ऐसे बुद्धि के भेदों का प्रतिसन्धान अनात्मवादी के मत में नहीं होता अर्थात् जैसे किसी एक मनुष्य ने किसी वृक्ष के मीठे फल को खा कर जिस बुद्धि से उस फल का स्वाद जाना वह उसी बुद्धि का विषय नियत है उसी वृक्ष के वैसे ही फल को यदि कोई अन्य मनुष्य देखे जिस ने पहिले कभी न देखा न खाया है तो उस को उस के स्वाद का स्मरण कदापि विना खाये नहीं आवेगा कि इस में ऐसा स्वाद होता है क्योंकि वह स्वाद उस मनुष्य की उसी बुद्धि का नियत विषय है जिस

ने उस को खाया है वैसे ही एक शरीर में भी अन्य बुद्धि के अनुभूत नियत विषय को कालान्तर में उत्पन्न हुई अन्य बुद्धि स्मरण कदापि नहीं कर सकती कि यह वही पदार्थ वा फल है जिस का स्वाद मैंने अनुभूत किया था। क्योंकि जैसे देहान्तर में बुद्धि भेद है वैसा ही एक शरीर में अनित्य होने से बुद्धि भिन्न २ है दोनों प्रकार के बुद्धि भेदों में कोई विशेषता नहीं है। सो जैसे अपने देखे का अपने को स्मरण रहता अन्य के देखे का अपने को स्मरण नहीं होता वैसे ही अन्य किन्हीं के देखे का अन्य किसी को स्मरण नहीं होता सो इन दोनों बातों के समाधान का भार अनात्मवादी के शिर है जो समाधान केवल बुद्धि के मानने पर तीन काल में भी नहीं हो सकता इसलिये बुद्धि से भिन्न आत्मा का होना सिद्ध है। यह विषय कठिन है सर्वसाधारण के समझने में यथावत् आना कठिन है इसलिये इस का संक्षेप यह है कि जब तुमने चलते फिरते बैठते उठते आदि प्रत्येक समय क्रम से पहिले एक मनुष्य को देखा तो मनुष्य का ज्ञान हुआ, पीछे एक पशु को देखा तब उस का ज्ञान हुआ, फिर एक पक्षी को देखा तब उस का ज्ञान हुआ, पशु का ज्ञान होते समय मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो गया और पक्षी के ज्ञान होने के समय मनुष्य पशु दोनों का ज्ञान नष्ट हो गया ऐसे ही आगे २ नया २ ज्ञान होता जाता और पिछला २ सब नष्ट होता जाता है ज्ञान और बुद्धि एक ही वस्तु है। तब जो लोग जानने वाले आत्मा को ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न जानने वाला नित्य मानते हैं कि जो मनुष्य पशुपक्षी आदि के ज्ञान के बदल जाने पर भी नहीं बदला उस आत्मा में मनुष्यादि के ज्ञान का संस्कार होता गया इस से आत्मवादी के मत में तो पूर्वानुभूतविषयों का पुनः स्मरणद्वारा आगे प्रवृत्ति निवृत्ति बन सकती है परन्तु ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न जिस के मत में कोई आत्मा नहीं और ज्ञान क्षण २ में नया२ बदलता जाता है तो मनुष्य पशु पक्ष्यादि के ज्ञान समय कोई एक जानने वाला न मानने से अनात्मवादी के मत में किसी पूर्वानुभूत विषय का किसी को स्मरण न होना चाहिये इस का समाधान कोई अनात्म वादी नहीं कर सकता और पूर्वानुभूतविषयों के स्मरण द्वारा ही आगे २ सब प्राणियों का व्यवहार प्रत्यक्ष दीखता है इस कारण बुद्धि वा ज्ञान से भिन्न शरीर के भीतर एक कोई वस्तु अवश्य सिद्ध है जिस का नाम जीव, जीवात्मादि है ॥

आत्मनित्यानित्यविचार

यद्यपि यह मान लिया जाय कि ज्ञान से भिन्न जानने वाला भी कोई शरीर में है तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वर्त्तमान शरीर के उत्पन्न होने से पहिले भी वह कहीं था और देहान्त होने पश्चात् भी वह कहीं रहेगा। ऐसा ही क्यों न मानलें कि वह शरीर के साथ ही उत्पन्न होता और शरीर के नाश

के साथ ही वह भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि शरीर के उत्पत्ति नाश से आगे पीछे उस का कहीं पता भी नहीं लगता कि वह पहिले कहां था और पीछे कहां गया ? ।

इस का उत्तर यह है कि जिस का पक्ष है कि शरीर के उत्पत्ति नाश के साथ आत्मा के भी उत्पत्ति नाश हैं उसी को सिद्ध करना चाहिये कि जैसे माता पिता के रजवीर्य से शरीर बना तो आत्मा किस वस्तु से बना ? आत्मा का उपादान कारण कौन है ? यदि कहो कि जैसे माता पिता के स्थूल शरीर के अंश से स्थूल शरीर बना और उस के आत्मा चेतन से चेतनांश आकर सन्तान का आत्मा बन गया क्योंकि वेद में भी लिखा है कि "आत्मा वै जायसे पुत्र" हे पुत्र तू मेरा आत्मा है। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे पितादि के स्थिर रोगादि शारीरिक गुण उपादान कारण से पुत्रादि के शरीर में अवश्य आते हैं इसी से कुष्ठी के सन्तान का कुष्ठी होना सर्वत्र ही माना जाता और लोक में प्रत्यक्ष भी है यदि कोई सन्तान कुष्ठी न हो तो मानने पड़ेगा कि या तो उस रोग के वीर्य में व्यापक होने से पहिले का वह सन्तान है अथवा जिस का माना जाता है उस का नहीं अन्य किसी से उत्पन्न हुआ है। वैसे ही पिता के आत्मा से भी उपादान कारण आत्मगुण के आना चाहियें तब जिस भाषा का विद्वान् पिता हो उसी भाषा में उस का सन्तान विना ही पढ़े पण्डित हो जाया करे वा जैसे २ ज्ञान सम्बन्धी आत्मिक गुण पिता में हों वैसे २ ही पुत्र में विना किसी उद्योग के स्वयमेव आ जाया करें मूर्ख माता पिता के सन्तान सदा मूर्ख ही हुआ करें कोई पढ़ाने पर भी विद्वान् न हो सके पर ऐसा नहीं होता यह सब प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध है। रहा वेद का प्रमाण सो उस का अभिप्राय स्वरूपबोधन में है अर्थात् पिता कहे वा माने कि पुत्र मेरा आत्मा मेरा स्वरूप मेरे शरीर का भाग होने से है। मनु जी ने भी मानवधर्मशास्त्र के चतुर्थाध्याय में कहा है कि—

भार्या पुत्रः स्वका तनूः ।

स्त्री और पुत्र को अपना ही शरीर मानना चाहिये। यह सब आत्मशब्द के अनेकार्थ होने से होता है। जब तुम नहीं बता सकते कि आत्मा किस उपादान से शरीर के साथ उत्पन्न हुआ तो तुम्हारा पक्ष कैसे सिद्ध हो सकता है। यदि कहो कि रजवीर्यादि उपादान के संयोग में एक ऐसी शक्ति वा गुण उत्पन्न हो जाता है जिस का नाम जीव वा आत्मा हो और शरीर का वियोग होते ही वह शक्ति भी वहीं नष्ट हो जाती है तो हम कहेंगे कि उस शक्ति को ज्ञान वा बुद्धि से भिन्न अन्य कोई वस्तु न ठहरा सकोगे तो वही पूर्वोक्त अनात्मवाद का बखेड़ा तुम पर फिर आवेगा जो आत्मा के विना केवल ज्ञान के मानने में पूर्व लिखा गया। यदि कहो कि रजवीर्य के संयोग से आत्मशक्ति हो जाती

फिर उस का गुण वा शक्ति ज्ञान होता तो शक्ति वा गुण किसी शक्तिमान् वा गुणी में से होते और उसी में रहते हैं किन्तु किसी शक्ति वा गुण से शक्ति वा गुण न उत्पन्न होते और न रह सकते हैं इस की सिद्धि के लिये जगत् में तुम को कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलेगा। जैसे जल से तरङ्ग उत्पन्न होते वा जल में तरङ्ग रहते हैं यह व्यवहार होता वैसे तरङ्गों से तरङ्ग होते वा तरङ्गों में तरङ्ग होते यह नहीं होता अर्थात् तरङ्गों का आधार सदा जल ही रहेगा। कदाचित् कभी यह व्यवहार भी बन जाय कि तरङ्गों से तरङ्ग होते जाते हैं तब भी शोचने से तरङ्गरूप गुण का उपादान वा आधार सदा जल द्रव्य ही रहेगा और उस व्यवहार से सजातीय अनेक तरङ्गों का होना सिद्ध होगा और विजातीय वस्त्वन्तर होना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। वैसे यहां भी ज्ञान वा बुद्धि के अवान्तर सजातीय भेदों का होना सिद्ध हो सकेगा। कि जिन का नाम बुद्धिवृत्ति है अर्थात् वृत्ति अनेक होती हैं। अस्तु इन विचारों को छोड़ कर हम तुम्हारे कथन को मान भी लें कि किसी न किसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा भी उत्पन्न होजाता है तो जो लोग ईश्वरवादी हैं अर्थात् परोक्ष कोई अनादि अनन्त अविनाशी दयालु न्यायकारी सर्वनियन्ता ईश्वर है ऐसा मानते हैं उन्हीं के लिये अधिकांश यह लेख है क्योंकि ईश्वर को न मानने वालों के साथ ईश्वर का अस्तित्व ठहराने का व्याख्यान चलाना प्रकरणान्तर है। और ईश्वर को माने विना आत्मा का नित्यत्व मनवाने का उद्योग करना निष्फलसा है। इस कारण उस विषय को सर्वथा छोड़ देते हैं और हमारे प्रश्नकर्त्ता भी ईश्वर मानने वाले आस्तिकों में ही हैं। और महुम्मदी तथा ईसाई मतावलम्बी मनुष्य भी ईश्वरवादी ही माने जाते हैं इस कारण हमारे लेख के पूर्वपक्षी वे सभी लक्ष्य समझने चाहियें। तब हम पूछ सकते हैं कि इस सब जगत् के उत्पत्ति नाश जन्म मरणादि की व्यवस्था करने वाला तुम भी परमेश्वर को मानते हो तो बताओ वह न्यायी है वा अन्यायी, यदि न्यायी कहो तो उस ने भिन्न २ प्रकार के सुख दुःख विना कारण उत्पन्न कर २ सब प्राणियों को क्यों दिये? कोई राजा विना ही अपराध अनेकों को भिन्न २ प्रकार का दण्ड नियत कर दे और किन्हीं को अच्छे २ सुख के सामान देदे तो क्या वह न्यायी कहा जा सकता है? तब ईश्वर ने किन्हीं को सुख किन्हीं को दुःख भिन्न २ प्रकार का प्रत्यक्ष दिया दीखता है फिर वह न्यायी कैसे हो सकता है?। यदि कहो कि जो उस के भक्त हैं उन को सुख अन्यों को दुःख देता है तो यह पीछे बन सकता है जब कि समझदार होके भक्ति करने योग्य हों जन्म से पहिले तो वे कोई भी जीव तुम्हारे मत में थे ही नहीं जो उस की भक्ति करते फिर जन्म से ही भिन्न २ सुखदुःख क्यों दिये?। यदि कहो कि हम उस के काम में दखल नहीं दे सकते उस को सब कुछ अधिकार है जो चाहे कर सकता है। तब हम कहते हैं कि फिर तुम्हारा यह कथन वा विश्वास कि अमुक २

प्रकार से चलने वालों को वह स्वर्ग (बहिश्त) देगा और ऐसा २ न करने वाले सब नरक (दोज़ख़) में भेजे जायंगे। यही परमेश्वर का वाक्य (कलाम अल्ला:) है इत्यादि सभी मानना व्यर्थ होगा क्योंकि उस को अधिकार है वह चाहे अच्छे को भी नरक में और बुरे को भी स्वर्ग में भेजे तो तुम कुछ भी अच्छा बुरा नहीं मान सकते उस की इच्छा पर रहा वह चाहे वैसा करे पर यह भी तुम को स्वीकार नहीं हो सकता क्योंकि सभी लोग भलाई बुराई पाप पुण्य धर्म अधर्म को अच्छा बुरा मानते हैं और मानने पड़ता ही है कि परमेश्वर पापी अधर्मी को बुरा फल देता और न्यायी धर्मात्मा को अच्छा फल देता है ऐसा मानते ही वह न्यायी हो जाता है और न्यायी रह कर वह संसार की व्यवस्था तभी कर सकता है जब जीवात्माओं के जैसे कर्म हों वैसा फल उन को देवे इस दशा में तुम को मानने पड़ेगा कि उस ने सब जीवों को उन २ वैसे २ पाप पुण्यों के अनुसार वैसा २ भिन्न २ सुख दुःख का सामान भोगने के लिये दिया है और वे पाप पुण्य आत्मा को शरीर के साथ उत्पन्न हुआ मानें तो नहीं बन सकते किन्तु पहिले जन्मों में ही पाप पुण्यों का करना बन सकता है इसलिये आत्मा को नित्य मानना चाहिये यही सिद्धान्त ठीक है अनित्य मानने में जो २ आपत्ति वा दोष हैं उन का निराकरण सर्वथा असम्भव है ॥

कृतहानमकृताभ्यागमदोष

तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते सति तु सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति। तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। वात्स्यायनः ॥

यदि शरीरोत्पत्ति से पहिले कोई नित्य आत्मा न मानें तो मरणान्त समय तक मनुष्य ने जो २ पाप वा पुण्य किये वे सब व्यर्थ हुए जैसे किसी ने बहुत दिनों तक बड़ा परिश्रम करके किन्हीं वृक्षों को तयार किया जब उन में फल लगने का समय आया तभी वह मर गया और एक किसी ने ऐसा धीरे २ बहुत दिनों तक पाप किया जब उस पाप के फल भोगने का समय आया तभी मर गया तो ये सब मनुष्यों के पुण्य पापों का कुछ भी फल न मिलना यह कृतहान कहाता और नये २ उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को नये २ पाप पुण्य के फलों का प्राप्त होना कि जिन फलों के पाने योग्य पहिले कभी कोई काम उन्होंने नहीं किया यह कैसी शोचनीय अनवस्था है? क्या आत्मा के नित्य माने विना ऐसी अनवस्थाओं का कोई और समाधान हो सकता है?। क्या अब जगत् में कोई मनुष्य ऐसा है? जो अपने परिश्रम वा पुण्य धर्म को व्यर्थ जाते देख और विना किये पापों का फल पाकर अनवस्था वा अन्य न कहे और ऐसे को सुख मानें

हमारी समझ में ऐसा मनुष्य होना असम्भव है तब जो लोग आत्मा को अनित्य मानते हैं उन को अपने परिश्रम से कमाये अन्न धनादि को कोई छीन ले वा विना अपराध कोई जेलखाना कर दे तो बुरा न मान कर सुख ही मानना चाहिये। जब शरीर के साथ आत्मा के उत्पत्ति नाश मानें तो विना ही कर्मादि कारण के प्राणियों की उत्पत्ति मानना हुआ। फिर मुक्ति आदि के लिये उपाय भी करना व्यर्थ होगा। और जब विना कारण कुछ होता नहीं न इसके लिये कोई दृष्टान्त ही मिल सकता है तो उत्पन्न होते ही बालक को हर्ष भय शोकादि क्यों होते हैं? जिस विषय के ज्ञान का संस्कार जिस के भीतर पहिले से कुछ भी नहीं उस वस्तु की प्राप्ति से उस प्राणी को कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता जैसे पशुओं को चांदी वा सुवर्ण की प्राप्ति से कुछ हर्ष नहीं होता तो विना कारण उस बालक को जिस ने उत्पन्न होने पश्चात् उन वस्तुओं का कभी कुछ भी अनुभव नहीं किया उन से हर्ष शोक वा उन की इच्छा क्यों होती है? इस का भी समाधान अनित्यात्मवादी पर निर्भर है ॥

यदि कोई कहे कि जैसे कमलादि कभी खिल जाते और कभी कुमला जाते हैं क्या उन्हों ने कभी खिलनें कुमलाने का अनुभव किया है क्या उन के भीतर ऐसा कोई संस्कार है? तो इस का उत्तर यह है कि शीत उष्ण वर्षा तथा सूर्य चन्द्रमा के उदय अस्त आदि उन कमलादि के प्रबुद्ध वा सम्मीलित होने में कारण हैं किन्तु कमलादि का निष्कारण प्रबोध सम्मीलन मानो तो जैसे सूर्योदय में कमल खिलना और चन्द्रोदय में सम्मीलित होता है तब इस से उलटा क्यों नहीं होता? विना नियम अकस्मात् जब चाहे तभी प्रबोध सम्मीलन कमलादि में होता तो निष्कारण कहने का अवसर था। सूर्य चन्द्रादि के होने न होने में ही वैसे होने न होने का नियम उन की सकारणता में बड़ा प्रमाण है। परन्तु बालक के हर्ष शोक में पूर्व जन्मों का संस्कार ही कारण हो सकता है इस से जीव नित्य है। तथा बालक को उत्पन्न होते ही माता का स्तन चूंसने की अभिलाषा होती है इस से भी सिद्ध होता है कि इस ने पहिले अनेक २ जन्मों में उत्पन्न होते समय अनेक माताओं का दूध पिया है उस का सूक्ष्म संस्कार इस के भीतर बना है इसी कारण मुख के पास स्तन पहुंचते ही झट मुख में देकर उसी विधि से चूंसता है जैसे जानो अच्छे प्रकार इस ने यह काम सीख लिया हो। और अन्य कोई अन्न दाल भात आदि उस के मुख में देना चाहो तो वैसे प्रसन्न चित्त से सीखे हुए के तुल्य कदापि नहीं खाता क्योंकि ऐसी छोटी अवस्था में सब जन्मों में उस ने दूध ही पिया है इस से उस अवस्था में वही संस्कार उद्बुद्ध होता अन्य संस्कार दबे रहते हैं। इस में यदि कोई कहे कि जैसे अयस्कान्त नाम चुम्बकपत्थर के पास पहुंचते ही लोहे में क्रिया होती है क्या उसी लोहे के टुकड़े ने पहिले कभी अभ्यास किया है? जिस संस्कार से वह चुम्बक का सम्बन्ध

होते ही उस में चिपक जाता है। जैसे लोहे के पास चुम्बक के आते ही संस्कार वा अभ्यास के विना भी लोहा चुम्बक को झट ही पकड़ता है वैसे ही मान लो कि बालक के मुख के पास स्तन किया जाय तो वह उस को पकड़ के चूंसने लगता है॥

इस का उत्तर यह है कि यद्यपि लोहे ने पहिले कभी अभ्यास नहीं किया न उस के भीतर सञ्चित संस्कार है तथापि लोहे का सरकना निष्कारण नहीं किन्तु सकारण अवश्य है। और हमारा पक्ष भी यही है कि निष्कारण कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है उस का कुछ न कुछ कारण (सबब) वा हेतु अवश्य होता है। यदि चुम्बक के साथ लोहे का सरकना निष्कारण है तो ईंट पत्थर ढेला जो कुछ चुम्बक के समीप लेजाया जाय सभी क्यों नहीं चुम्बक में लग जाते? वा लोहा किसी के पास ले जाया जाय वहां भी सरकने लगे ऐसा क्यों नहीं होता? इस का उत्तर केवल यही हो सकता है कि चुम्बक में ही लोहे को आकर्षण करने की शक्ति है अन्य किसी में नहीं तथा चुम्बक में लोहे को ही खेंचने की शक्ति है अन्य के खेंचने की नहीं। अर्थात् क्रिया का होना जैसे सर्वत्र क्रिया के अदृष्ट कारण वा हेतु को सिद्ध करता वैसे क्रिया के नियम का होना भी क्रियानियम के हेतु को सिद्ध करता है। इस से चुम्बक के साथ लोहे की नियत क्रिया अकारण नहीं परन्तु बालक जो स्तन का दूध पीने की अभिलाषा करता है उस का कारण पूर्व संस्कार से भिन्न अन्य कोई कदापि ठहर नहीं सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में जिस वस्तु वा प्राणि को जिस ने कभी नहीं देखा उस को पहिले २ अकस्मात् देख कर किसी को कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। और तत्काल जन्में बालक का पूर्व जन्म न माना जाय तो बाल्य दशा में दूध पीने का संस्कार हो ही नहीं सकता। इसलिये उस का पूर्व जन्म मानना आवश्यक हुआ। इस आत्मनित्यानित्य विचार में और भी बहुत सा विचार लिख सकते हैं परन्तु अधिक बढ़ाना अच्छा नहीं। जैसे एक वर्तमान जन्म से पूर्व जन्म सिद्ध होता वैसे पूर्व जन्म से और पहिला फिर उस से भी और पहिला। इस प्रकार अनादि काल से जन्म मरण सिद्ध होने से आत्मा वा जीवात्मा नित्य अविनाशी ठहरता है॥

इन्द्रियमनसोरात्मभावप्रतिषेधः

कोई कहे कि ज्ञानेन्द्रियों में से किसी को आत्मा के स्थान में क्यों न मान लिया जाय? जब इन्द्रियां चेतन हैं तो अन्य किसी चेतन आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह है कि "जिस को मैं ने आंख से देखा था उस का त्वचा से स्पर्श करता हूं वा जिस को कान से सुना था उस को अब आंख से देखता हूं" यह व्यवहार नहीं बनेगा क्योंकि यहां इन्द्रियों से भिन्न देखने सुनने वा स्पर्श करने वाला सिद्ध है। जैसे कुल्हाड़ी से काटने वाला और कुल्हाड़ी दोनों अलग २ हैं किन्तु काटने वाला कुल्हाड़ी नहीं है वैसे यहां भी जो इन्द्रियां

से काम लेने वाला है वही आत्मा है। तथा किसी फल को एक समय किसी ने खाया और आंख से भी देखा तो दोनों इन्द्रियों से उस के स्वाद तथा रूप के ज्ञान का संस्कार आत्मा में हो गया। फिर कभी उसी जाति के फल को आंख से देख कर स्वाद का स्मरण आने से जिह्वा में जल छूटने लगता है यदि इन इन्द्रियों में ही कोई आत्मा होता और इन्द्रियों से भिन्न आत्मा कोई न होता तो जैसे अन्य के चाखे का अन्य को स्वादज्ञान नहीं होता वैसे चक्षु को रूप का ज्ञान होने से जिह्वा में विकार क्यों होता? जिह्वा में विकार होने से सिद्ध होता है कि देखने और स्वाद लेने वाला चक्षु और रसन इन्द्रिय से कोई भिन्न ही है और वही आत्मा है॥

और जैसे आंख से देखता घ्राण से सूंघता है वैसे ही मन से मनन करता वा सुख दुःख का अनुभव करता है। चक्षुरादि इन्द्रिय बाह्य साधन और मन आत्मा का भीतरी साधन है। जैसे बाह्य साधनों के विना आत्मा के बाहरी कार्य नहीं होते वैसे मन के विना भीतरी कार्य भी नहीं हो सकते। जैसे बाहिरी साधनों को भिन्न मानने पड़ता है वैसे भीतरीसाधन भी आत्मा नहीं हो सकता। जैसे आंख से सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं होता तो उस के लिये घ्राणेन्द्रिय भिन्न मानने पड़ता वैसे ही चक्षु आदि से सुखादि का ज्ञान नहीं होता इसलिये मन आत्मा से भिन्न वस्तु है। कोई कहे कि मन को मानने की आवश्यकता ही क्या है? आत्मा स्वयमेव सुख को जान लेगा तब हम कहेंगे कि फिर चक्षु आदि के विना रूपादि क्यों नहीं देख सकता तब चक्षु आदि को भी क्यों मानते हो? तथा मन कोई वस्तु आत्मा से भिन्न न हो तो एक काल में सब इन्द्रियों से सब विषयों का ज्ञान होने लगे तो निश्चयात्मक ज्ञान कोई भी न हो और एक काल में सब से ज्ञान होता नहीं इस से भी मन का भिन्न होना सिद्ध ही है॥

अभिनिवेश

मृत्यु का भय भी प्राणीमात्र के पीछे ऐसा लगा है जिस से और बड़ा दुःख जगत् में कोई भी नहीं कहा जा सकता। चींटी से लेकर बड़े से बड़े वा विद्वान् से भी अधिक विद्वान् सब प्राणी सब अभीष्टों से अधिक जीवन को चाहते सब से अधिक बुरा मृत्यु को ही समझते हैं किसी से कहा जाय कि तुम संसार के सब सुख मांग लो पर अपना प्राण हम को देदो तो कदाचित् प्राण से प्यारा किसी को भी कोई न मानेगा न लेगा। सब प्राणीमात्र यही चाहते हैं कि ऐसा न हो कि हम न रहें कहीं मृत्यु न हो जाय। ऐं! मृत्यु!! मरण!!! क्या ऐसा बड़ा मरणभय पूर्व संस्कार के विना कभी हो सकता है? जो मरणदुःख को नहीं जानता न कभी भोगा उस को भय क्यों हो? जब किसी का कोई इष्ट मित्रादि मर जाता है तब जो शोक होता उस का भी प्रधान कारण अपने मरण

का भय ही है कि इसी प्रकार हम को भी इस जगत् से चल देना है ऐसे संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से मलिनता और उदासीनता छाजाती है। यदि कोई कहे कि अन्यों को मरते देख कर भय होता है तो ठीक नहीं क्योंकि तत्काल के उत्पन्न हुए प्राणियों को भी वैसा ही भय प्रत्यक्ष होता है यदि कोई ऐसा वस्तु उन के सामने ले जाया जाय जो वास्तव में उन के मृत्यु का हेतु हो वा कोई ऐसा काम किया जाय जिस से उन का मृत्यु हो सकता है और उन को अपने मारक का बोध भी हो जाय तो उन को भी वैसा ही वा और भी अधिक मरणभय होगा कांपने लगें गे आकृति मलिन हो जायगी आकृति पर भय छाजायगा। प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र आदि से भी उन तत्काल जन्मे प्राणियों को मरणभय का जब कुछ भी अनुभव नहीं हुआ तो भय का होना पूर्वजन्म के अनुभूत मरण दुःख का अवश्य अनुमान कराता है इस से भी आत्मा का नित्यत्व और पुनर्जन्म होना दोनों सिद्ध होते हैं॥

जब यह कहा जाय कि रागद्वेषादिदोष वा अविद्यादि क्लेशों के छूटने पर मुक्ति होती है तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि दोषों वा क्लेशों के बने रहने पर मुक्ति नहीं होती किन्तु वार २ जन्ममरण भोगने पड़ते हैं। इस से भी आत्मा का आगे पीछे वार २ जन्म होना सिद्ध है॥

पुनर्जन्म, पुनरुत्पत्ति, प्रेत्यभाव ये सब एकार्थ ही शब्द हैं। प्रेत्य नाम पूर्व शरीर को छोड़ कर फिर उत्पन्न होना पहिले ग्रहण किये शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि को छोडना मरण और नये शरीरादि को ग्रहण करना जन्म कहाता इसी का नाम प्रेत्यभाव वा पुनर्जन्म है। इसी कथन से यह भी शङ्का निवृत्त हो जाती है कि नित्य आत्मा का जन्ममरण कैसा? वा जो जन्मता मरता है वह नित्य कैसा? क्योंकि घटादि पदार्थों के तुल्य बनने बिगड़ने का नाम जन्ममरण नहीं किन्तु एक शरीर का छोड़ना मरण, द्वितीय का ग्रहण जन्म कहाता है। जैसे कोई बिगड़ते नष्ट होते हुए किसी घर को छोड़ कर नये घर में जा बसे तो यहां घरों का उत्पत्ति नाश माना जायगा बसने वाले का नहीं इसी प्रकार जन्ममरण का अर्थ उत्पत्ति नाश भी हो तो वे शरीर के हुए, आत्मा के नहीं इस से आत्मा के सम्बन्ध में जन्ममरण बन सकते हैं और आत्मा के लिये यह भी कथन बन जाता है कि "न जायते म्रियते वा०" वह आत्मा कभी उत्पन्न वा नष्ट नहीं होता किन्तु नित्य है। अनादि काल से अपने किये कर्मों के अनुसार उत्तम मध्यम निकृष्ट योनियों में नाना प्रकार के शरीरों को धारण कर २ वैसे २ सुख दुःख अनादि काल से भोगता आता है॥

कर्म वा फल का नित्यानित्यत्वविचार॥

प्रश्न-प्रवृत्तिरूप कर्म अनित्य पदार्थ है। जब इस जन्म का किया कर्म यहीं

नष्ट हो गया फिर उस कारणरूप कर्म के अभाव में जन्मान्तर में सुख दुःख प्राप्ति रूप फल कार्य कैसे हो सकता है ? क्या तेल के न रहने पर कभी दीपक जलना सम्भव है ? और पूर्वजन्म के शेष कर्मों का सुख दुःख फल भोगने के लिये ही पुनर्जन्म तुम मानते हो सो जब अनित्य होने से कर्म ही न रहे तो उन के भोगने को जन्म मानना भी व्यर्थ है ॥

उत्तर—यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना संगृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्त्तयति स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण संनिविशमानः पर्णादिफलं निर्वर्त्तयति । एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत् न च विनष्टात् फलनिष्पत्तिः । तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयतीति ॥ वात्स्यायनभाष्यम् । अ० ४ । १ । ४७ ॥

भाषार्थः—जैसे वृक्षों से होने वाले छायादि फलों का अभिलाषी वृक्ष की जड़ में जल देना खात डालना गोड़ना आदि कर्म करता है उस कर्म के नष्ट हो जाने पर उस कर्म का परिणाम वृक्ष की जड़ों में संचित हो जाता अर्थात् जल सेचनादि कर्म से ही पृथिवी और जल का सारांश एक रूपान्तर में हुआ पृथिवी की भीतरी उष्णता से पका हुआ रसरूप पहिला धातु बनता है वही द्रव्यरूप रस वृक्षाकृति बनने का मूल कारण है वह वृक्ष में प्रविष्ट हुआ एक भिन्न प्रकार से परिपक्व हो कर वृक्षाकृति रूप बनता हुआ पत्ते आदि फलों को उत्पन्न करता है इस प्रकार जल सेचनादि कर्म सार्थक होता है निरर्थक नहीं किन्तु कर्म के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता । इसी प्रकार शुभाशुभकर्मों के सेवन से जो आत्मा के साथ संस्कार होते और काल पाकर उन्हीं का नाम वासना भी पड़ता है वे अच्छे कर्मों से हुई शुभवासना वा संस्कार धर्म और अशुभकर्मों से हुई निकृष्ट वासना वा संस्कार अधर्म कहाते वे दोनों प्रकार के संस्कार आत्मा के साथ संचित हुए संचित पुण्य पाप कहाते हैं मरण समय वे संचित पाप पुण्य आत्मा के साथ ही रहते और उन्हीं पाप पुण्यों के अनुसार उत्तम मध्यम वा निकृष्ट समुदाय में जन्म हो कर संचित कर्मानुकूल ही सुख दुःख के सामान भोगने को मिलते हैं । इस प्रकार यद्यपि कर्म अनित्य है तथापि जैसे कि सुपथ्य वा कुपथ्यरूप पदार्थ की भोजनरूप क्रिया खा चुकते ही नष्ट हो जाती है परन्तु खाया हुआ पदार्थ उदर के जाठराग्नि द्वारा पकता और जैसा अच्छे वा बुरे गुणों वाला पदार्थ खाया

गया वैसा ही अच्छा वा बुरा परिणाम रूप रसधातु बनता यदि वह कुपथ्य हुआ तो रसादि धातुओं को विकारी करता हुआ रोगों को प्रकट करने वाला हो जाता है और यदि सुपथ्य हुआ तो इसी प्रकार धीरे २ धातु पुष्टि द्वारा शरीर में सुख हेतु अच्छे फल को उत्पन्न करता है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि कर्म के अनित्य होने पर भी उस का शुभ वा अशुभ फल अवश्य भोगने पड़ता है ॥

अब हम को विश्वास है कि पूर्वोक्त इतने लेख से प्रश्न कर्त्ता के "आवागमन किस प्रकार सिद्ध है" इतने प्रश्नांश का उत्तर आगया क्योंकि जीवात्मा का अस्तित्व, नित्यत्व और परमेश्वर की न्यायशीलता ही मुख्य कर जीवात्मा के आवागमन को सिद्ध करते हैं । अब यह विचार शेष रहा कि किसी को स्मरण क्यों नहीं रहता कि हम पूर्वजन्म में कौन थे और आगे कौन होंगे ? इस का उत्तर यह है कि बुद्धि मन वा ज्ञान सब प्राणियों का एक ही प्रकार का नहीं है किन्तु कर्मों के अनुसार प्राणधारियों के असंख्य होने से उन में भिन्न २ असंख्य प्रकार के सुख दुःख और असंख्य ही प्रकार का ज्ञान भी है । अर्थात् स्मरण रहने की शक्ति भी सब में भिन्न २ है सब को एक सा स्मरण जगत् में भी नहीं । ऐसे भी प्राणी प्रत्यक्ष विद्यमान हैं जिन को एक ही शरीर में कल के किये वा भोगे विषय का किञ्चित् भी स्मरण आज न रहे अर्थात् स्मरण दिलाने पर भी न हो तथा और आगे चलो तो ऐसे भी मिल सकें गे जिन को तत्काल के देखे जाने का तत्काल ही कुछ भी स्मरण न रहे तथा ऐसे भी प्राणी विद्यमान मिल सकें गे जिन को बाल्यावस्था में २ वा २॥ वा ३ वर्ष की अवस्था में किये देखे जाने विषयों का यथावत् स्मरण हो और उन्हीं के साथी कुछ ऐसे भी मिलें गे जिन को ८ । १० वर्ष की अवस्था के किये देखे जाने विषयों का भी कुछ स्मरण न हो । इसी प्रकार अधिक २ शोचते जाओ तो कुछ आत्मा वा जीव की ऐसी दशा भी मिलती है वा मिले गी जिस को जड़ मानो वा कहो जिस को अपनी वर्त्तमान दशा का भी स्मरण नहीं कि मैं कौन हूं और कहां हूं किस दशा में पड़ा हूं । और ऊपरी कक्षा की ओर ध्यान दो तो तुम को ऐसे भी प्राणी दीख पड़ें गे कि जो ज्ञान और बुद्धि की अधिक तेजी से विना देखे जाने विषयों को भी आंख मींच के हेतुओं द्वारा ठीक शोच कर ऐसा जान लें और तुम को बता दें कि जानो इन ने साक्षात् आंखों से ही देखा हो । इस लेख से हमारा यह प्रयोजन है कि ज्ञान के तारतम्य=न्यूनाधिक भाव की जब सीमा नहीं हो चुकी और प्रत्यक्ष अनुभव करने से जगत् में भी अवधि नहीं दीखती कोई भी मनुष्य प्रतिज्ञा के साथ नहीं कह सकता कि मैंने अब तक जितने वा जैसे ज्ञानवान् देखे हैं उन से अधिक ज्ञानी अब सृष्टि में कोई नहीं है अथवा वर्त्तमान समय में जिस कक्षा तक के ज्ञानवान् विद्यमान हैं उन से अधिक न कभी हुए थे और न आगे हो सकते हैं जब इन में से किसी बात की प्रतिज्ञा कोई नहीं कर सकता

तो फिर यह भी कहना वा मानना नहीं बन सकता कि पूर्वजन्म का किसी को स्मरण नहीं क्या किसी ने सृष्टिभर के प्राणियों की परीक्षा करली ? वा कोई ऐसा कभी कर सकता है ? हम कहते हैं भूत भविष्य वर्त्तमान तीनों काल में ऐसे मनुष्यादि होने सम्भव हैं जिन को पूर्वजन्म का स्मरण हो कि पूर्वजन्म में हम अमुक थे, पर इस में इतना भेद अवश्य है कि आर्यावर्त्त देश में आत्मज्ञान वा अध्यात्म बोध विषय में जितनी उन्नति पूर्वकाल में हो चुकी है उस की अपेक्षा अब लक्षांश भी नहीं यदि कभी कोई आत्मज्ञान विषय में उन्नति कर सकता है तो भारतवर्ष के पूर्वकालीन ब्रह्मर्षियों से आगे बढ़ के कहीं नहीं जा सकता अर्थात् अध्यात्म विषय में मनुष्य जिस शिखर तक चढ़ सकता है उस प्रथम संख्या (अव्वल नम्बर) की उन्नति तक ये ही पहुंचे इस से आगे फिर मनुष्य की शक्ति नहीं किन्तु आगे फिर परमेश्वर ही है । पहिले काल में जिन अध्यात्म विषयों को साक्षात् करने वाले सैकड़ों थे वैसा अब एक भी नहीं दीखता तभी तो अभाव देख कर यह कहा गया कि किसी को स्मरण नहीं । अध्यात्म विद्या की उन्नति पहिली कक्षा है और अब वर्त्तमान काल में शिल्प वाणिज्य कला कौशल धन दौलत आदि की उन्नति तीसरी वा चौथी कक्षा की है द्वितीय कक्षा में ब्रह्मचर्यादि द्वारा शारीरिक बल की उन्नति हो सकती है उस का भी सम्प्रति अभाव है । सो जैसे दिन रात का विरोध है वैसे ही ऐश्वर्य वा विषयानन्द के भोग और अध्यात्मज्ञान योगाभ्यासादि का विरोध है अध्यात्मविचार योगाभ्यास समाधि में विषय भोगों से वैराग्य और विषयभोग में गोता लगाने वाले परमार्थ ज्ञान से विरक्त हो जाते हैं दोनों में एक साथ कोई नहीं चल सकता जैसे कि एक मनुष्य पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओं को एक काल में नहीं जा सकता । प्रयोजन यह है कि अब स्मरणशक्ति को बढ़ाने का समय नहीं रहा । कागज़ लेखनी कालिमा (श्याही) द्वारा लेख से ही काम लेने की क्रमशः जो उन्नति हो रही है वह स्मरण द्वारा कार्यों को न करो स्मरण रखने की आवश्यकता नहीं इस उद्देश्य को सिद्ध करती जाती है । पहिले समय में ऐसा नहीं था । अस्तु हमारा आशय यह है कि पूर्वजन्म का स्मरण किसी को आज तक नहीं हुआ यह ठीक नहीं क्योंकि पहिले काल में ऐसे सैकड़ों थे पर अब कोई २ कहीं २ ऐसे होने सम्भव हैं । यदि कहो कि हम ने तो अब तक ऐसा कोई न देखा न सुना तो यह शोचो कि तुम ने वा मैंने वा किसी एक ने जितना देखा सुना है उस से आगे क्या कुछ अधिक नहीं हो सकता ? तुम किसी मनुष्य को जब बताओगे कि इस ने जितना देखा जाना है वह सर्वोपरि है तो कदाचित् झट ही दूसरा कोई किन्हीं अंशों में ऐसे मनुष्य को बता सकता है कि इस की अपेक्षा इतने अंशों में वह अधिक जानकार है इस से यह अभिमान रखना सर्वथा भूल है कि जो हम ने देखा सुना नहीं वह नहीं है । यदि कहो कि ऐसा मनुष्य तुम्हीं बताओ कि जिस को पूर्वजन्म का स्मरण हो तो उत्तर

यह है कि जैसे तुम अनेक विषयों को सम्भव वा सत्य समझते हो कि इन का यथावत् जानने वाला भी कोई हो सकता है पर तुम ने स्वयं उन को जाना भी नहीं और असम्भव प्रतीति न होने वा सन्देह न होने से वैसे मनुष्य की तलाश में भी उद्योग नहीं करते वैसे हम को भी पुनर्जन्म में सन्देह नहीं है हम सत्य और सम्भव ही समझते हैं कि पूर्वजन्मों का ज्ञान भी अवश्य हो सकता है इसी लिये वैसे मनुष्य को हम खोजते भी नहीं क्योंकि हम को सन्देह कुछ नहीं है। यदि कहो कि प्रत्येक विषय के जानकार अनेक२ उपलब्ध होते हैं यदि पूर्वजन्म का स्मरण रखने वाला कोई होता तो कहीं दीख सुन न पड़ता ?। तो उत्तर यह है कि तुम को स्वयं भी छः महीने वा एक वर्ष की अवस्था का कुछ भी स्मरण न होगा और ऐसा मनुष्य कभी देखा सुना भी न होगा। तो क्या उस के बुद्धि विचारों का उस काम में अभाव हो सकता है ?। यह निश्चय रक्खो कि अच्छे वा उत्तम सदा ही कम होते हैं सूर्य चन्द्रमा एक ही एक हैं राजा एक होता प्रजा अनेक होती है। जब एक वर्ष के भीतर अत्यन्त बाल्यावस्था का ही स्मरण रखने वाला मिलना कठिन है कि जब इन्हीं आंख आदि इन्द्रियों से सब देखनादि काम होता था और यही शरीर भी है तो पूर्वजन्म का न शरीर रहा न इन्द्रियां रहीं सब साधन बदल गये उस समय का स्मरण रहना कठिन वा दुर्लभ सा हो तो आश्चर्य ही क्या है ?। पूर्वजन्म की जाति का स्मरण कैसे मनुष्य को हो सकता है सो मानवधर्मशास्त्र के अ० ४। १४८। १४९ में लिखा है-

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

अ०-जो शौच और तप आदि नियमों और अहिंसादि योगशास्त्र में कहे यमों का यथावत् निरन्तर सेवन करने के साथ बहुत काल तक निरन्तर वेद का अभ्यास करता है वह पूर्वजन्म के सब वृत्तान्त को जान लेता उस को पूर्वजन्म का सब स्मरण हो जाता है। उस पूर्वजन्म के स्मरण से फिर भी वेद का ही अभ्यास करता जाता है उस नियमानुसार निरन्तर जन्मभर किये वेदाभ्यास से मरणानन्तर अनन्त मुक्ति सुख को भोगता है॥ क्या कोई मनुष्य कह सकता है कि यमनियमों के ठीक २ अनुष्ठान के साथ १०। २० वर्ष भी किसी ने सब काम छोड़ कर एकान्त बैठ जितेन्द्रिय होके केवल वेद का निरन्तर अभ्यास किया हो वा कोई कर सकता हो। जब तुम देखते हो कि हाईकोर्ट के वकील बारिष्टरादि होने के लिये कितना२ परिश्रम कितना धन खर्च आदि करते हैं तब संसार के छोटे २ कामों

भाग ५ पृष्ठ १४८ से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर ॥

इस के आगे साधुसिंह ने जीवादि को ब्रह्म का अंश ठहराने के लिये यजुर्वेद अ० ३१ । ३ का प्रमाण दिया है कि-

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

अर्थः-तिस परमेश्वर सर्वान्तरयामी की यावत् प्रपंच है सो संपूर्ण महिमा नाम विभूति है भाव यह है परमेश्वर विभूतिमान् है और प्रपंच विभूति है ॥

समीक्षक—विचारशीलों को ध्यान देना चाहिये कि साधुसिंह ने मन्त्र का अर्थ कैसा समझा वा किया है। इन से कोई पूछे कि व्याकरण के अनुसार प्रपञ्च शब्द का क्या अर्थ है तो अभीष्ट के साथ कदापि ये लोग शब्दार्थ की संगति को नहीं मिला सकेंगे। प्रपञ्च शब्द का अर्थ है कि विशेष वा उत्तम फैलाव, क्योंकि प्रउपसर्गपूर्वक "पचि व्यक्तीकरणे" धातु से यह शब्द बनता है। साधुसिंह ने महिमा, विभूति और प्रपंच तीनों शब्दों को एकार्थ कहा है परन्तु इन तीनों के अर्थ में वस्तुतः भेद अधिक है। विशेष व्याख्यान का नाम प्रपञ्च, महत्व वा बड़प्पन का नाम महिमा और ऐश्वर्य सम्पत्ति वा सिद्धि का नाम विभूति है। इस प्रकार इन शब्दों का लोकप्रसिद्ध अर्थ सर्वसाधारण के सम्मत कोषादि के अनुसार भिन्न २ है तो तीनों को एकार्थ मानना कितनी बड़ी भूल है! संस्कृत के शब्दार्थवेत्ता सभी लोग इस को जानते हैं कुछ छिपा नहीं है। उक्त मन्त्र में कोई भी ऐसा पद नहीं है जिस से जीव ब्रह्म में अंशांशिभाव निकल सके यदि होता तो साधुसिंह को अपने पक्ष की पुष्टि के लिये घटा कर दिखाना चाहिये था। और जब "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" ऐसे वैशेषिकादि के प्रमाणानुसार वेद के सब उपदेश वा कथन युक्तियुक्त हैं किन्तु ऊटपटांग नहीं तो यह कैसे हो सकता है कि विभु व्यापक पदार्थ में अंशांशिभाव माना जावे। क्या आकाश विभु पदार्थ है तो उस में परिच्छिन्न वस्तु के तुल्य अंशांशिभाव हो सकता है ?। अर्थात् कदापि कोई पुरुष आकाश के खण्ड वा टुकड़ेरूप अंशों को नहीं दिखा सकता फिर वेद में ऐसी अयुक्त वार्त्ता क्यों कही जाती कि व्यापक परमेश्वर में अंशांशिभाव है यदि कहैं कि उपाधिकृत है. वास्तविक नहीं तो अंशांशिभाव की कल्पना मिथ्या हुई सो मिथ्या को ठीक मानना अज्ञानियों का काम है किन्तु विचारवानों का नहीं ॥

और मन्त्र का स्पष्ट अर्थ यह है कि (एतावान्, अस्य, महिमा) यह जो कुछ चराचर जगत् दृष्टिगोचर होता है वह सब इस पूर्ण व्यापक परमात्मा का

महिमा नाम महत्त्व है अर्थात् परमेश्वर के सर्वोपरि महान् होने के ज्ञान में प्रत्यक्ष जगत् हम लोगों के लिये हेतु है। जगत् में अनेक प्रकार की चित्रविचित्र आश्चर्यरूप रचना दीख पड़ती है जिस से निश्चित होता है कि इस सब का नियन्ता वा उत्पादक कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है जिस की शक्ति और विद्या अचिन्त्य वा अप्रमेय है। (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) यद्यपि वह व्यापक पुरुष इस सब कार्य जगत् में व्याप्त है तथापि इस सब से अत्यन्त बड़ा है (पादः, अस्य, विश्वा, भूतानि) सब प्राणी अप्राणी रूप जगत् (जिस की रचना की अवधि हम लोगों की बुद्धि से बाहर है वह) एक चतुर्थांश की कल्पना में है और (त्रिपाद्, अस्य, अमृतम्, दिवि) तीन भाग वह अपने प्रकाश स्वरूप में सदा अवस्थित रहता है अर्थात् इस सब ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के करने में अपनी शक्ति के केवल एक भाग को काम में लाता है। इस कथन से परमेश्वर के स्वरूप में किसी प्रकार की अंश कल्पना नहीं आसकती ॥

*आशय यह है कि संसार की रचना से रचने वाले की जितनी शक्ति अनुभव की जा सक्ती है, वास्तव में उस में उतनी ही शक्ति नहीं किन्तु उस से अधिक है जिस को योगी भी नहीं जान सक्ते जिस प्रकार एक चित्र को देख कर चित्र बनाने वाले की समस्त शक्ति विद्या बुद्धि का अनुभव हम को नहीं हो सक्ता किन्तु केवल इतना ही हम समझ सक्ते हैं जितना कि चित्र निर्माण से झलकता है परन्तु यदि विचार की आंख को फैलावें तो यह भी अनुमान से विपरीत नहीं कि चित्र बनाने वाला ही पुरुष वैद्य हो, ज्योतिषी हो, याज्ञिक हो, नैयायिक हो, योगी हो, वेदान्ती हो, इत्यादि जाने कितने ही गुण उस में ऐसे हों, जो चित्र देखने से समझ में नहीं आसक्ते। इसी प्रकार (एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः) इतनी तो उस की महिमा हम में से कोई कठिन से जान सक्ते हैं परन्तु उस का यथार्थ स्वरूप शक्ति और ज्ञान इस हमारी समझ में आये हुवे से अत्यन्त अधिक है ॥

इस से यह तो अवश्य सिद्ध हुवा कि ईश्वर को जितना हम जगत्कर्तृत्वादि गुणों से जान सक्ते हैं इतना उस का चतुर्थांश जानना है परन्तु यह नहीं सिद्ध हुवा कि जीवादि पदार्थ ईश्वर के अंश हैं। जिस प्रकार एक जीवात्मा एक शरीर में अन्तःकरणोपाधि से घिरा हुवा है इसी प्रकार वह ब्रह्म प्रकृत्युपाधि से घिरा हुवा नहीं किन्तु उस का अंशमात्र प्रकृति में व्याप्त है और प्रकृति से चराचर की रचना करता है किन्तु समस्त ब्रह्म इस जगत्कर्तृत्वाद्यनुमेयांश से अत्यन्त अधिक है इसी से उस को " जगत् के भीतर और बाहर भी है " ऐसा कहते हैं। और चित्र ही को चित्र बनाने वाले का अंश मानना बुद्धिमानों और विचारवानों का काम नहीं ॥

---

* यहां से तुलसीराम स्वामी का लेख आरम्भ हुआ है ॥

आगे साधुसिंह जी पृष्ठ ५३ से निम्नलिखित मैत्र्युपनिषद् के प्रमाण से ब्रह्मादि की मूर्त्ति सिद्ध करने में लिखते हैं कि:—मैत्र्युपनिषद् अ० ५। का० २।

तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत् परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्त्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्त्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः संप्रास्रवत्। सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः॥ अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा वोद्भूतः॥

इस से साधुसिंह जी यह तात्पर्य्य निकालते हैं कि—सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व तमः था तमः को परमात्मा ने प्रेरणा की तब वह विषमता को प्राप्त हो कर रजः हुआ उस को भी विषम किया तब सत्त्व हुआ सत्त्व से रस=आनन्द हुवा वह आनन्द ही एक अंश है जो चेतनमात्र क्षेत्रज्ञ आदि विशेषणविशिष्ट है उसी के ये पूर्वोक्त सत्त्वरजस्तमोमय वक्ष्यमाण ब्रह्मा विष्णु आदि देह हैं इत्यादि॥

परन्तु वे आप ही तो कहते हैं कि प्रथम तमः को परमात्मा ने प्रेरित किया तब उत्तरोत्तर रजः सत्त्व रस आदि की सृष्टि हुई फिर यह कैसा कि वह रस ही चेतनमात्र पुरुष ईश्वर है। "परमात्मा ने तमः को प्रेरित किया" इस से प्रतीत हुवा कि परमात्मा तमः से भिन्न वा अन्य है। अब हम इस मैत्र्युपनिषद् के वाक्य समुदाय का अर्थ लिखकर यथार्थ तात्पर्य पाठकों के सामने रखते हैं जिस से भ्रान्ति दूर हो:—

(अग्रे तदिदं तमः वै एकं परे आसीत्) सृष्टि से प्रथम वह यह जगत् अन्धकारमय निश्चित एक परे=परमात्मारूप आधार में आधेय रूप था (तत् परेणेरितं स्यात् [तदा] विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजोरूपम्) वह तम परमात्मा से प्रेरित हो कर विषमता को प्राप्त होता यही रजः है (रजः खलु ईरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपम्) वह रजः निश्चित प्रेरित हुआ विषमता को प्राप्त होता यही सत्त्व का स्वरूप है (तत्सत्त्वमेव ईरितं रसः सम्प्रास्रवत्) वह सत्त्व ही ईश्वर से प्रेरित हुवा रसः=आपः रूप (जिस को—

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्याऽयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'

इत्यादि श्लोकों में वर्णन किया है जो जगत् की उत्पत्ति में प्रथम कार्य्य और उत्तरोत्तर होने वाले अन्य कार्य्यों का कारण है) हुवा ॥

(सोंऽशो यश्चेतामात्रः, प्रतिपुरुषः, क्षेत्रज्ञः, संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः, प्रजापति, विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः) वह अंश जो चेतन, इस सब सत्वादिमय में व्यापक, सर्वज्ञ, अपने सङ्कल्प और विचार से मानने वाला कि मैं इस जगत् का स्रष्टा हूं और यह जगत्कर्त्तृत्व ही जिस का लिङ्ग=पहिचान है, प्रजा का पति, सब में है, उस चेतनादि विशेषणविशिष्ट की पूर्वोक्त सत्वादिमय सृष्टियां तनुस्थानी हैं। "उस चेतन परमात्मा की यह सत्वादिमय रचना तनु है" इस से भी सिद्ध है कि जिस प्रकार हमारी तनु देह हम जीवात्माओं का अंश नहीं किन्तु स्थान है वैसे ही यह सृष्टि परमात्मा का अंश नहीं किन्तु स्थान है अर्थात् वह इस में रहता है परन्तु पूर्वोक्त यजुर्मन्त्र के अनुसार जितना वह इस जगत् के भीतर है यथार्थ में उतना ही नहीं है उस से बाहर भी है। (हे ब्रह्मचारिणः अथ यो ह खलु वाव अस्य, तामसः, अंशोऽसौ सः, योऽयं रुद्रः) हे ब्रह्मचारियो ! जो प्रसिद्ध निश्चित उस परमात्मा का तमोगुण में व्याप्त अंश है वह रुद्र है (हे ब्रह्मचारिणः अथ यो ह वाव अस्य राजसोंऽशः असौ सः योऽयं ब्रह्मा) और हे ब्रह्मचारियो ! जो उस का रजोगुण में व्याप्त अंश है वह ब्रह्मा है (अथ हे ब्रह्मचारिणः योह खलु वाव अस्य सात्विकोंऽशः असौ सः योयं विष्णुः) और हे ब्रह्मचारियो ! जो उस का सत्वगुण में व्याप्त अंश है सो वह है जो कि विष्णु कहाता है (स वै एषः एकस्त्रिधाभूतः अष्टधा एकादशधा द्वादशधा अपरिमितधा वा उद्भूतः) वही एक परमात्मा ब्रह्मा विष्णु रुद्र तीन प्रकार का है, अष्टवसुओं में रह कर अष्टधा, एकादश रुद्रों में रह कर एकादशधा, द्वादश आदित्यों में रह कर द्वादशधा है ॥

अर्थात् परमात्मा (उस की ज़ात वा स्वरूप) में तो सत्व रजः तमः कोई गुण नहीं अतः वह निर्गुण है परन्तु वह प्रकृति के तीनों गुणों में व्यापक है अतः सगुण है। रजोगुण उस शक्ति का नाम है जिस से कोई वस्तु बने और सत्वगुण वह शक्ति है जिस से कोई वस्तु अपने स्वरूप में कुछ काल तक रहे पालित हो और तमोगुण वह शक्ति है जिस से किसी वस्तु का नाश अर्थात् अदृश्यता वा अवयववियोग हो, सो परमात्मा प्रलयकाल में प्रकृति के तमोगुण को लेकर प्रलय करते हैं, अतः रुद्र हैं। सृष्टिकाल में रजोगुण को लेकर सृष्टि रचते हैं अतः ब्रह्मा हैं। और स्थितिकाल में सत्वगुण को लेकर पालन करते हैं अतः विष्णु हैं। जिस प्रकार इन तीन प्रकार के कारणों को लेकर कार्य्य करने

से वे ब्रह्मा विष्णु रुद्र कहाते हैं इसी प्रकार आठ प्रकार के पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, इन के आठों कारणों से अष्टवसुओं को रचकर उन में व्यापक होने से परमात्मा वसु कहाते हैं। और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा इन ग्यारह प्रकार के पदार्थों को लेकर उन में व्यापक होने से वे रुद्र कहाते हैं। और चैत्रादि द्वादश मास रूपी कालविभागों में व्यापक होने से वे द्वादशधा आदित्य कहाते हैं तथा संसार के अन्य अपरिमित प्रकार के कारणों से अपरिमित प्रकार के कार्यों को रच कर उन में व्यापक होने से वे परमात्मा अपरिमितधा कहाते हैं॥ यदि कोई यह शङ्का करे कि जब रजः, सत्त्व, तमः तीनो गुण प्रकृति में हैं और उन तीनों गुणों से उत्पत्ति स्थिति प्रलय होते हैं तब परमात्मा के जगत्कर्तृत्वादि मानने की क्या आवश्यकता रही ? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार बालू में तेल नहीं और तिलों में तैल है इस लिये कह सक्ते हैं कि तिलों में तैलोत्पादन शक्ति है बालू में नहीं परन्तु तिलों में से तैल पुरुषार्थ करने (पीडन) से निकल सक्ता है और पुरुषार्थी पुरुष तिलों से भिन्न है जो तिलों को पेल (पीडन) कर तैल सम्पादन करता है इसी प्रकार प्रकृति में उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप तीनों प्रकार का सामर्थ्य तिलों में तैलोत्पाद शक्ति के समान रहते भी परमात्मा की प्रेरणा की आवश्यकता है यही बात इस मैत्र्युपनिषद् में (परेण ईरितम्) आदि पदों से दिखलाई गई है ॥

यद्यपि सत्त्व रजस् तमस् की व्यवस्था जो हम नीचे लिखते हैं कुछ साधुसिंह जी के प्रतिवाद में सम्मिलित नहीं है परन्तु हमारे पाठकों को किसी दूसरे प्रसङ्ग में शङ्का न हो इस लिये कुछ लिखते हैं—मुख्य कर विचार ने से यह ज्ञात होता है कि सत्त्व और तमस् एक दूसरे से भिन्न दो गुण हैं जिन में से सत्त्व गुण से उत्पत्ति और तमोगुण से प्रलय, परमात्मा करते हैं सत्त्वगुण और तमोगुण का मध्यवर्त्ती रजोगुण है। जिस प्रकार उदात्त अनुदात्त दोनों स्वरों को मिला कर एक तीसरा स्वरित---मध्यम स्वर होता है इसी प्रकार सत्त्व और तमस् के मिलाने से रजोगुण होता है और उत्पत्ति तथा प्रलय का मध्यवर्त्ती स्थिति कार्य्य रजोगुण से परमात्मा करते हैं जब यह सिद्धान्त है तो पूर्वोक्त मैत्र्युपनिषद् में यह सन्देह हो सक्ता है कि यहां रजोगुण से सृष्टि, सत्त्व गुण से स्थिति, तमोगुण से प्रलय, क्यों माना गया जो उक्त सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ता है इस का उत्तर यह है कि बहुग्रन्थानुकूल होने से सिद्धान्त पक्ष तो वही है और मैत्र्युपनिषद् कर्त्ता ने भी तमोमयी प्रलयावस्था के अनन्तर मध्यवर्त्ती रजस् को और पश्चात् सत्त्व की उत्पत्ति लिखने से यही सूचित किया है कि मध्यवर्त्ती रजोगुण है। परन्तु आगे चल कर जो राजस को ब्रह्मा और सात्त्विक को विष्णु कहा है इस का कारण यह प्रतीत होता है कि सत्त्व रजस् तमस् इन तीनों में

भी प्रत्येक में तीनों कुछ २ बने रहते हैं ऐसा है तब विवक्षाधीन वाक्य होने से कहीं सत्त्व के अन्तर्गत रजोगुण की प्रधानता लेकर ब्रह्मा को सात्त्विक लिखने के बदले राजस लिखना भी बन सकता है । इस विषय को अधिक विशद करें तो लेख बढ़ कर प्रसङ्ग बहुत दूर छूट जायगा अतः यहीं समाप्त करके आगे सत्यार्थविवेक के पृष्ठ ५६ से लेकर जो रुद्र की महिमा साधुसिंह ने लिखी है उस की समीक्षा करेंगे ॥ साधुसिंह जी ने पृष्ठ ५६ से ७२ तक जो कुछ लिखा है उस में यह नीचे लिखे संक्षिप्त दोष श्री स्वामी जी वा आर्य्यसमाज के सिद्धान्त पर आरोपित किये हैं । यथा—

१—नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमऽउगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यश्च वो नमः ॥ यजुः अ० १६ मं० २४ ॥

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव । परमे वृक्षआयुधं निधाय कृत्तिं वसानआचर-पिनाकं बिभ्रदागहि ॥ यजुः अ० १६ मं० ५१ ॥

इन मन्त्रों में जो आर्य्य लोग स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के लेखानुसार मानते हैं कि इस अध्याय भर में राजप्रकरण है उस पर साधुसिंह जी का कथन है कि इस में रुद्र जो ईश्वर का अंशावतार है उस का वर्णन है इस की पुष्टि में ये हेतु देते हैं कि—

(क) अथोऽएवꣳहैतानि रुद्राणां जातानि ॥

शतपथ ९ । १ । १ । १९ ॥ से सिद्ध है कि ये इस अध्याय में कहे शब्द रुद्रों के जात अर्थ में हैं ॥

उत्तर—यथार्थ में इस अध्याय में राजप्रकरण का ही विशेष वर्णन है । यह कहना कि शतपथ के प्रमाण से रुद्रजातों का वर्णन है हमारे सिद्धान्त का

विरोध नहीं करता क्योंकि हमारे सिद्धान्त में इन मन्त्रों में आये रुद्रादि पद मनुष्य जातीय राजादि के वाचक हैं शतपथ के प्रमाण से केवल यही सार निकलता है कि ये अध्यायोक्त रुद्रों के जात हैं अब विचारणीय यह है कि रुद्र क्या वस्तु हैं जिन के ये जात हैं रुद्र नाम ईश्वर का भी है, रुद्र नाम देवताविशेष का भी है जो रौद्र स्वभाव वाले प्राणी अप्राणी रूप जगत् में रुद्रत्व एक गुण है वही रुद्र देवता है वह देवता वायु आदि अन्तरिक्षस्थानी देवतों में भी हो यह सम्भव है तथा द्युस्थानी देवतों में भी हो परन्तु मनुष्यो में भी है जैसा कि शतपथ में इसी प्रकरण में लिखा है:-

देवानां वै विधामनु मनुष्यास्तस्माद् हेमानि मनुष्याणां जातानि ॥ शतपथ । ९ । १ । १ । १९ ॥

अर्थात् रुद्रजात का अर्थ मनुष्य जात है क्योंकि देवतों का प्रकार=आकार मनुष्य का सा है अर्थात् दिव्यगुण युक्त मनुष्य देवता होते हैं जब कि मनुष्य जात ही रुद्रजात हैं ऐसा स्पष्ट लेख है तो फिर सेनापति आदि मनुष्यार्थ ग्रहण करना शतपथ के भी अनुकूल होने से स्वामी जी का किया अर्थ कुछ निज कल्पित ही नहीं किन्तु आर्ष सम्प्रदायानुकूल है । यदि इतने से भी सन्तोष न हो तो उसी शतपथ में नवम काण्ड में यह भी लिखा है कि—

स एष क्षत्रं देवः । तस्मा एतस्मै क्षत्रायेमा विशोऽमुं पुरस्तादुद्धारमुदहरन् इत्यादि ॥ श० ९ । १ । १ । २५ ॥

सो यह रुद्र क्षत्रदेव है सो इस रुद्र क्षत्रिय के लिये ये विशः=प्रजागण उपायन रूप अन्नादि पदार्थ सामने रखते हैं अर्थात् कररूप से देते हैं । इस से और भी स्पष्ट हो गया कि सेनापति आदि देवता हैं इस से सिद्ध हुवा कि मन्त्रार्थ यही ठीक है कि:—

ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो तुम (सभाभ्यः) न्यायादि सभाओं को (नमः) नमस्कार करो (च) और (सभापतिभ्यः) उक्त सभाओं के सभापतियो (वः) तुम को (नमः) नमस्कार है ऐसा कहो (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये (नमः) अन्न (च) और (अश्वपतिभ्यः) घोड़ों के पालने वालो (वः) तुम को (नमः) अन्न तथा (आव्याधिनीभ्यः) शत्रु को वेधन करने वाली सेनाओं तथा (विविध्यन्तीभ्यः) विविध प्रकार से शत्रुसंहारिणी वीराङ्गनाओ (वः) तुम को (नमः) अन्न वा सत्कार (उगणाभ्यः) तार्किक स्त्रियों को (नमः) सत्कार (च) और (तृंहतीभ्यः) युद्ध में मारती हुईयो (वः) तुम को (नमः) अन्नादि सत्कार है ऐसा कहो और करो ॥

(मीढुष्टम) हे अत्यन्त पराक्रम युक्त (शिवतम) कल्याणकारिन् ! (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न (शिवः) सुखकारी (भव) होओ (आयुधम्) शस्त्र को (निधाय)

धारण करके (कृत्तिं वसानः) सन्नाह पहरे हुए (पिनाकम्) धनुष् को (बिभ्रत्) धारण किये (आगहि) आइये (परमे वृक्षे) प्रबल छेदनीय शत्रुगण में (आचर) आचरण कीजिये अर्थात् अपने धनुर्बाणादि धारण का काम कीजिये इति ॥

(ख) इस अध्याय में आये चतुर्थ्यन्त पदों से जो नमः पद का सम्बन्ध है उस नमः शब्द को स्वामीदयान० ने अन्न वज्र आदि अनेक अर्थों में लिया है सो अयुक्त है क्योंकि पूजार्थक नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है अन्यार्थ के योग में नहीं इस से नमः शब्द यहां अन्न वज्रादि वाचक नहीं किन्तु पूजार्थ है जो देवता के लिये है ॥

(ख) उत्तर—इस में कोई प्रमाण व्याकरणादि का भी नहीं कि अन्नादि अर्थ वाले नमस् के योग में चतुर्थी नहीं होती तथा यदि व्याख्यान तो विशेष प्रतिपत्ति० परिभाषानुसार ऐसा माने भी तो शतपथ में इस प्रकरण में अन्नार्थ ग्रहण किया है । यथा—

अथातः शतरुद्रियं जुहोति । श० ९।१।१।१ ॥ अन्नमस्मै सम्भराम ......तस्मा एतदन्नं समभरन् । इत्यादिश० ९ । १ । १ । २ ॥

अर्थः—अथ शतरुद्रिय यज्ञ कहा जाता है और अन्न द्वारा इस रुद्र देवता को उपहार भेंट दें और इस अन्न द्वारा ही उस रुद्र के लिये उपहार दिया । इस से सिद्ध है कि अन्नोपहार रुद्र के लिये लिखा है तब रुद्रत्व गुणधारी स्त्री पुरुषों के प्रति अन्नादि सत्कारार्थ स्वामी जी ने लिया सो शतपथ के अनुकूल ही है । यदि अन्नार्थ नमस् के योग में चतुर्थी विधान इष्ट न हो तो शतपथ का लेख क्या आप को प्रामाण्य नहीं ? वा आप कहीं कोई वेद का ऐसा उदाहरण बता सक्ते हैं जहां नमस् का अन्न वज्रादि अर्थ हो परन्तु उस के योग में चतुर्थी न हो कर द्वितीया विभक्ति हो ? कदापि नहीं ॥

(ग) यदि यह प्रकरण राजप्रसङ्ग का है तो स्वामीदया० ने भी अपने भाष्य में इन मन्त्रों का रुद्र देवता क्यों लिखा सेनापति ही देवता लिखना था क्योंकि—

यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता । आश्वलायनसूत्र ॥

जो मन्त्र का द्रष्टा है वह ऋषि और जिस का उस मन्त्र में वर्णन है वह देवता है ॥

(ग) उत्तर—जब कि हमारे लिखे शतपथ के दोनों प्रमाणों से रुद्र शब्द का अर्थ मनुष्य जाति वा क्षत्र जाति सिद्ध है तो स्वामीदया० ने अपने भाष्य में इन मन्त्रों का रुद्र देवता लिखा, सेनापति न लिखा इस में क्या दोष आया ? जिस प्रकार अभ्र और मेघ शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं इस दशा में कोई मेघ शब्द के स्थान में अभ्र लिखे वा उच्चारण करे तो क्या भेद पड़े ? कुछ नहीं ।

श्रीमद्दयानन्दविश्वविद्यालयपाठशाला प्रयाग

यह तो सब महाशयों को ज्ञात ही है कि यह पाठशाला बहुत थोड़े खर्च से केवल विद्यार्थियों को भोजनादि के दानमात्र से कई विद्यार्थियों को पण्डित बना कर वैदिकधर्मप्रचार में सहायता करती आई है। यद्यपि जितना बड़ा इस का नाम है वैसा अधिक काम इस से नहीं बना परन्तु चन्दे की सहायता पर ही सब कार्य्य निर्भर है। धनाभाव के कारण कोई अध्यापक भी वैतनिक नहीं है जो अपना सम्पूर्ण समय इस में लगावे इस दशा में पं० भीमसेन शर्म्मा जी ने ही उपनिषद् मनुभाष्य, आर्य्यसिद्धान्तादि का सम्पादन भी किया और समय निकाल कर पाठशाला में पढ़ाया भी तब इतना फल हुआ कि कई विद्यार्थी अच्छे योग्य होगये जिन का वर्णन आ० सि० के भाग ६ अङ्क १२ में प्रकाशित कर दिया है। परन्तु ऐसी दशा में पाठशाला में अधिक छात्र रह कर पढ़ें यह नहीं हो सक्ता और वैदिकधर्मप्रचारक पण्डितों की इतनी अधिक आवश्यकता है जो सब को प्रत्यक्ष है। इस लिये वैदिकधर्म के प्रेमियों से निवेदन है कि यदि आप उद्योग करके चन्दे की अधिक सहायता करें तो एक स्वतन्त्र अध्यापक रक्खा जावे जिस से अधिक विद्यार्थियों के पढ़ाने में सुभीता हो अर्थात् उच्चकक्षा के विद्यार्थियों का ही पढ़ाना पं० भी० श० जी को रहे और नीचे की कक्षाओं से विद्यार्थी तैयार करके पाठशाला का नियत अध्यापक सहायता दिया करे। आशा है कि धर्म्मात्मा सज्जन इस में सहायता करके यश और पुण्य के भागी होंगे। १। ७। ९५ से ३१। १०। ९५ तक निम्नलिखित महाशयों ने पाठशाला को दान देकर सहायता की है अतः उन सब को धन्यवाद देकर ईश्वर से प्रार्थना है कि वह सब को ऐसी ही धर्म में रुचि दे॥ ह० तुलसीराम स्वामी

१ मुं० मनमोहनलाल जी रांची २०)
२ आर्य्यसमाज रांची ने उत्सव पर पं० भीमसेन शर्म्मा जी को बुलाया तब पाठ शाला को १०)
३ पं० बालकृष्णद्वारा बावन से ५)
४ पं० शालिग्राम रायगढ़ ३)
५ बा० रामचन्द्रलाल जी रायगढ़ २)
६ ला० गङ्गासागर जी चूरू वाले २)
७ बा० जगदम्बाप्रसाद जी मिर्ज़ापुर १)
८ पं० भीमसेन शर्म्मा जी ने मार्च से जुलाई तक के पुस्तक विक्रय से ६।≡)
९ पं० सूर्य्यप्रसाद शर्म्मा औनहा १)
१० सूद पाठशाला के १००) का बाबत जुलाई अगस्त १)
११ बा० जयलाल जी देवली १)
१२ मुं० रामस्वरूप जी परीक्षितगढ़, गौड़ब्राह्मणार्थ छात्रवृत्ति १)
१३ बा० मनकू लाल जी मुंगेली १)
१४ पं० गंगासेवक तिवारी कुन्दौली ॥।≈)॥
१५ पं० गङ्गासेवक तिवारी कुन्दौली पुनः ॥)
१६ बा० बदरीनारायण जी देवली ॥)

विशेषसूचना ॥

१-इस बार मनु और आर्यसिद्धान्त दोनों के निकलने में जो अति काल हुआ उस का कारण एक तो कुछ रोग हो जाना और द्वितीय एक वेद पारायण का होना था आशा है कि आगे ऐसे विशेष कारण के विना अति काल नहीं होगा ॥

२-इस बार आर्यसिद्धान्त में पुनर्जन्म आवागमन विषय पर बड़ा प्रस्ताव छपा है और अभी कुछ छपना शेष भी है इस लिये पुनर्जन्म विषय में जिन २ महाशयों को जो २ सन्देह हों वा पुनर्जन्म न मानने वालों के जो प्रबल तर्क सुने जाते हों वे सब लिख भेजें सब का यथोचित समाधान किया जायगा ।

३—भगवद्गीताभाष्य अब शीघ्र ही पूरा किया जायगा जिन लोगों के पास तीन २ अध्याय पहुंचे हैं उन को सम्हाल कर रक्खें छप के तयार होते ही सब को सूचना दी जायगी ।

४—तीन महीने के लिये कुछ पुस्तकों का मूल्य कम किया जाता है जो लोग ता० १७ नवम्बर ९५ से अन्त फर्वरी ९६ तक नगद दाम से पुस्तक लेंगे उन को कम किये दाम पर दिये जायं गे । बदले में पुस्तक लेने वालों के लिये कम दाम नहीं है । तथा पुस्तक विक्रेताओं के लिये अलग हिसाब होगा । इस लिये जिन लोगों को कम दाम खर्च कर पुस्तक लेने हों वे इस बीच में मंगा लेवें ॥

आयुर्वेदशब्दार्णव १) से ॥) मनुस्मृति भाष्य की भूमिका १॥) से १) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य और तैत्तिरीय सातों उपनिषद् एक साथ लेने पर ३) से २॥) गणरत्नमहोदधि पाणिनीय गणों की संस्कृतव्याख्या ३३२ पेज पुष्ट रायल है मूल्य १॥) से १) में आर्यसिद्धान्त ६ भाग के ७२ अङ्क ३॥।) से ३) में मिलें गे जिन को लेना हो शीघ्र मगालेवें । ह० भीमसेन शर्म्मा

धन्यवाद ॥

१० । ८ । ९५ ई० से ३१ । १० । ९५ ई० तक

इन महाशयों ने उदारता पूर्वक मनुभाष्यादि कार्य्यों की सहायतार्थ धन दिया है सो सब महाशयों को धन्यवाद देने के साथ स्वीकृत है ॥

श्री सीताराम जी शर्मा मुम्बई	२)	श्री गणेशप्रसाद जी पटमहनखेरा	।)
पं० गंगासेवक जी तिवारी कुंदौली	।)	श्री अभयराज सिंह जी पकरैला	१)
श्री व्रजभूषण जी पिनाहट	२)	श्री मातादीन जी दिल्ली	५)
श्री जंगासिंह जी व्यावर	२॥।-)	श्री मूलचन्द रामप्रताप जी	१)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाकनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युनराँश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥
सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ७ । ८

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

मार्च सन् १८९६ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १)

१३ अगस्त सन् ९५ से ३० नवम्बर ९५ ई० तक । मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

६२ मुं० जयन्तीप्रसाद जी—बलिया ३)॥
४०७ पं० रामाधीन जी मिश्र—मुंगेली २॥)
३५५ बा० रामसहाय जी—फीरोजाबाद ५)
६८५ बा० रघुनन्दनप्रसाद—सोनपुर १)
२ बा० मिट्ठनलाल जी मन्त्री-कानपुर २।=)
११०८ श्रीअर्जुनसिंह जी दीनानगर १)
९२३ पं० भगवानसहाय शर्मा-कासगंज॥=)
१७४ पं० कृपाराम जी शर्मा—देहरादून२॥)
३९३ बा० रघुनाथसहायजी—हिसार २॥)
५०९ बा० रलाराम जी भंडारी—मुरार २॥)
६२९ रामसहाय जी—बान्दीकुई २॥)
३२७ पं० बालगोविन्दजी विगहापुर १)
११०६ बा०शीतलप्रसाद जी—आर्काट १)
११०९ बा० गंगासहाय पारसौल १)
५४ पं० शिवराम संगीशजी—मंजेश्वर ॥)
५९४ बा० आनन्दस्वरूप जी—कानपुर २)
५०८ बा० रघुवरदयालु जी—भदरसा २॥)
९२५ बा० भूपनारायण जी-किशनपुर १)
२८२ श्रीकुमार ज्वालाप्रसाद जी जज मिर्जापुर ३॥)
३३० ला० मदारीलाल जसवन्तनगर १॥)
३९९ बा० केवलप्रसाद सिवनीछपारा १)
२७८ पं० मूलचन्द जी शुक्ल मुड़बाड़ा २॥)
७८४ श्री रावराजा रघुनाथसिंह जी योधपुर २॥)
८०६ श्री सेठ शोभाराम जी चांवर नरसिंहपुर २॥)
१०२९ श्री अयोध्याप्रसाद जी एटा ॥=)
४६६ बा० तुलसीराम जी देहरादून २॥)
५३५ पं० मेघराज जी योधपुर १)
५५५ रामलाल—जोधपुर २॥)
३९६ श्री मन्त्रीआर्य्यसमाज गुजरांवाला २॥)
२६६ श्री भूपनारायण जी कानपुर ३॥)
८०८ पं० कर्त्तीराम जी जगरावां २॥)
३१८ बा० सीताराम जी लखनऊ १)
३१२ बा० बालकृष्ण जी बाबन हर्दोई १)
११११ बघाबासिंह हेराईस्माईलखां २॥)
२४४ श्री लक्ष्मीनारायण खेतरी २॥)
११०७ श्री बालूराम जी मास्टर लखनऊ १)
२६९ श्री सूर्य्यप्रसाद जी टेहा २॥)
३१६ पं० शिवनाथ वाजपेयी सातन २॥)
४१७ श्री ज्ञानीराम विद्यार्थी ब्यावर २॥)
४६३ श्री गंगाराम जी ओ० विजनौर २॥)
३४६ श्री पं० कालूराम जी रामगढ़ २॥)
५०४ श्री नन्दूसिंह उपाध्याय बेरी १)
११०० श्री दुर्गाप्रसाद जी रीवां १)
८१८ श्री रामचन्द्र जी अर्जालसर २॥)
२९३ श्री रामप्रसाद तिहारी ग्वालपुर २॥)
२९१ ज्वालाप्रसाद लूणमियानी २॥
२२७ श्री कुंवर योधसिंह जी सुरायां ३॥)
२३१ पं० किशनलाल जी मथुरा २॥)
८०५ पं० बासुदेव जी हैदराबाद २॥)
२३४ श्री वृन्दावन जी कुकुल कुमिल्ला २॥)
१०३८ श्री मूलचन्द जी मुनीम सागर १।=)
३५४ श्री दयालुचन्द्र जी शर्मा अतरौला२॥)
८२६ श्री मिश्रीलाल जी पटना २॥)
३८० श्री मन्त्री आ०स० सिकन्दराबाद २॥)
७९३ विश्वेश्वरदयालु शर्मा लसवेला १)
९३९ श्री लक्ष्मण सिंह जी जयपुर २॥)
८०१ श्री जगन्नाथप्रसाद जी कन्नौज २॥)
५६१ बा० गोपाल सहाय जी लश्कर १)
१११२ शिवमंगल वाजपेयी जौनपुर १)
३६० ला० किशनलाल नसीराबाद ३।)
३६४ श्री रसैय्यालाल जी सीकर २॥)
२५० श्री पं० जयगोपाल जी तरिगमा २)
३०० बा० प्रभुदयालु जी चम्बा २॥)
२०३ प० कुंजविहारीलाल कनखल २॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ७ । ८

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्रह्मा॑ मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क ५ । ६ के पृ० ९६ से आगे त्रयीविद्या—

मन्त्राश्छन्दोमयाः, नाच्छन्दसि वागुच्चरति" इत्यादि । अतएव गद्यात्मकस्य यजुर्मन्त्रस्यापि छन्दोनिर्णयं कुर्वन्ति वैदिकाः । याजुषीति गायत्र्यादिभेदोऽपि वर्णितः पिङ्गलेन (३ । ३ । ८) तदित्थं निश्छन्दो यजुरिति त्वापेक्षिकमेव, कात्यायनेन यजुर्वेदीयमन्त्राणां सर्वेषामेव छन्दोज्ञानस्य विधानात् (अनुक्रमणिका १ । १) माध्यन्दिनीभाष्यकारेण महीधरेणाप्युक्तम् । तत्र यजुर्वेदमन्त्रेषु कानिचिद्यजूंषि काश्चन ऋचः, 'तत्र ऋचां नियताक्षरपादावसानानामावश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम् । यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन दैव्येकमित्यादिनोक्तं छन्दो बोध्यम्, इति ॥

भावार्थः—पहिले ही समय में गायत्र्यादि का मन्त्रों में भी छन्दः पद से व्यवहार होता था । जैसे "यज्ञों में छन्दों का धारण करते हुए" इत्यादि । वहां भी छादन अर्थ ही छन्दः पद का मूल है क्योंकि गायत्र्यादि छन्दों से शब्दों का आच्छादन होता ही है । तथा जैसा पद्यों से शब्दों का आच्छादन होता वैसा

ही गद्य और गानों से भी होता है इस कारण सब प्रकार की रचना का ही छन्द नाम चिरकाल से स्थिर हो गया। काल पाकर लौकिक ग्रन्थ रचना में छन्दः पद का व्यवहार नहीं रहा यह और बात है। इसी लिये छादनार्थ से छन्द माने हुए निरुक्त के व्याख्यान में उस के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने कहा है "वे मन्त्र ही छन्दोरूप हैं जो छन्द नहीं उस को वेदवाणी नहीं कहती" इसी लिये गद्यरूप यजुर्वेद के मन्त्रों के भी छन्द वेदानुयायियों ने माने वा निश्चित किये हैं। तथा गायत्र्यादि के याजुषी आदि भेद यजुर्वेद में भी पिङ्गल आचार्य ने दिखाये हैं। इस दशा में "यजु छन्दरहित है" ऐसा कहने मानने वालों का विचार ऋगादि की अपेक्षा निश्छन्द कहना जानो क्योंकि यजुर्वेदीय उपक्रमणिका पुस्तक में कात्यायन ने यजुर्वेदीय सभी मन्त्रों का छन्दोज्ञान होने की आवश्यकता दिखायी है। उस पर यजु के भाष्यकार महीधर ने भी लिखा है कि "यजुर्वेद के मन्त्रों में कोई यजु हैं और कोई ऋचा हैं उस में अक्षर, पाद और अवसान [रुकावट] जिन में नियत है ऐसी ऋचाओं का छन्द कात्यायन ने अवश्य कहा है और एक अक्षर से लेकर एक सौ छः अक्षर तक संख्या वाले यजुर्वेदीय मन्त्रों का छन्द पिङ्गलाचार्य ने (दैव्येकम्) इत्यादि सूत्रों द्वारा अपने छन्दःशास्त्र में कहा है ॥

सम्पादक–हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि छन्दःपद वेद का नाम क्यों हुआ इस का विवेचन हम गताङ्क में लिख चुके हैं कि छप्पर, छत्त वा छाता के तुल्य आपत्तियों से बचा कर सुख पहुंचाने वाला होने से वेद को छन्द कहते हैं इसलिये जो लोग दुःखों से बचने और सुखों को प्राप्त होने की अभिलाषा रखते हैं वे वेदवृक्ष की सघन अविनाशिनी छाया के शरण में आने का विशेष उद्योग करें। यद्यपि छप्पर आदि के तुल्य अनेक आपत्तियों से बचाने वा सुख पहुंचाने वाले अन्य भी ब्राह्मण वा मनु धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ किसी प्रकार हैं तथापि वे वेदमूलक होने से ही कार्यसाधक होते हैं अन्यथा नहीं इस लिये उन में जितना छन्दस्त्व है वह वेद का ही हुआ इस कारण वेद ही मुख्य छन्द है और गौणार्थ से प्रशंसा के लिये वेद के तुल्य मान के यदि कोई वेदानुगामी ग्रन्थों को छन्द कहे वा लिखे तो कुछ दोष नहीं परन्तु जैसे गुरु के सामने पण्डित हुआ भी शिष्य पण्डित नहीं माना जाता वैसे वेदों के साथ अन्य कोई भी ग्रन्थ छन्द नहीं माना जा सकता। इस के अनुसार सामश्रमी जी का यह कथन ठीक नहीं

है कि "जैसा छन्दस्त्व वेदमन्त्रों को है वैसा ही लौकिक पद्यों को भी है" क्योंकि छन्दः पद का वास्तविक अर्थ ही उन को ज्ञात नहीं हुआ। अब एक बात और विचारणीय है कि पिङ्गल नामक छन्दःशास्त्र के अनुसार सब प्रकार की वैदिक लौकिक रचना का नाम छन्द है किन्तु प्रचलित नागरीभाषा में बनाये भजनादि को भी छन्द कहने का जो व्यवहार है इस में भी गौण मुख्य का विचार शास्त्र के अनुकूल अवश्य अपेक्षित है इसी लिये पिङ्गल पुस्तक के द्वितीयाध्याय के आरम्भ में ग्रन्थकार ने "छन्दः" अधिकार किया क्योंकि द्वितीयाध्याय से लेकर चौथे अध्याय के सात सूत्रों तक वेद विषयक छन्दों का ही केवल वर्णन किया है और आगे चल कर पञ्चमाध्याय के आरम्भ में "वृत्तम्" अधिकार किया है सो पिङ्गल के टीकाकार हलायुध के कथनानुसार मान भी लिया जाय कि छन्दः का ग्रन्थ भर में सामान्याधिकार है और पञ्चमाध्याय से छन्दः का विशेषण वृत्त है तथापि वेद के गायत्र्यादि मन्त्रों का निरुपाधिक छन्द नाम और लौकिक पद्यों के जाति-छन्दः वृत्तछन्दः सोपाधिक नाम होने से वेद मन्त्रों का ही छन्द नाम मुख्य हुआ। और वास्तव में तो ग्रन्थकार की शैली से प्रतीत होता है कि गायत्र्यादि वेद मन्त्रों के लिये ही छन्दः अधिकार है और लौकिक पद्य भाग का नाम वृत्त आदि है। इसी से वैदिक विचार छोड़ कर केवल लौकिक पद्य रचना की रीति जताने को बनाये ग्रन्थ का नाम "वृत्तरत्नाकर" रक्खा गया। रहा छन्दोमञ्जरी आदि नाम सो प्रशंसार्थ गौण प्रयोग मानने पर सार्थक हो सकता है। और यह भी असम्भव नहीं कि शास्त्र के सिद्धान्त वा मर्यादा से विरुद्ध भी लोक में जो ढर्रा चल जाता है उसी के अनुसार नाम रख लिये जांय क्योंकि विशेष ज्ञान प्राप्त करके किसी विषय का तत्त्वालोचन करना सब किसी का काम नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि पिङ्गल में आया छन्दः पद भी मुख्य कर वेद मन्त्रों का वाचक है और गौण रीति से अन्यों का भी प्रशंसार्थ नाम छन्द होने में कुछ चिन्ता नहीं। रहा पाणिनीय व्याकरणादि में छन्दः पद कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों का भी बोधक प्रतीत होता है सो जब भाषा के भजनादि तक में प्रशंसार्थ गौण प्रयोग छन्दः शब्द का होता है तो ब्राह्मण ग्रन्थ जो वेद के अति निकट हैं उन को प्रशंसार्थ छन्द कहना वा मानना क्यों अनुचित हो पर यहां छन्दः पद का यौगिक छादनार्थ ही लिया जायगा किन्तु रचना विशेष का नाम छन्द मानें तो गौण भाव से भी गद्यरूप ब्राह्मण ग्रन्थों को छन्द नहीं मान सकते इस से मुख्य छन्दस्त्व वेद का

और अन्य ग्रन्थों का वेद की अपेक्षा गौण छन्दस्त्व है वा यों सही कि जैसे लोक में ईश्वर नाम राजा का भी है इसी से चक्रवर्त्ती राजाधिराज को भी परमेश्वर कह सकते हैं तथापि असीम (अनहद्द) ऐश्वर्य वाले परमात्मा के प्रसंग में वा साथ में ईश्वर शब्द किसी राजादि का वाचक नहीं होता वैसे तो अपने से अधिक सामर्थ्य वा बुद्धि वालों के सामने अनेक लोग प्रशंसा करते समय हाथ बांधकर कहते हैं कि आप तो ईश्वर हो इस से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता कि आप परब्रह्म परमात्मा हैं। वैसे ही असीम छन्दस्त्व वेद में है वही मुख्य छन्द है उस के सामने वा उस के साथ में कोई ग्रन्थ छन्द नहीं और वेद की अपेक्षा छोड़ कर अन्य ग्रन्थों को प्रशंसा के लिये कहना बन सकता है॥

सामश्रमी जी—यतः प्रभृति मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्यभूत्सुदृढम्, ततः प्रभृत्येव ब्राह्मणग्रन्थानामपि छन्दःशब्देन च ग्रहणीयता सुतरां सम्पन्ना एवमपि मन्त्रभागानामेव मुख्यं छन्दस्त्वमिति तु न ततोऽपि विलयमुपगतम्। अतएव यास्को मन्त्रार्थ एव छन्दःशब्दं प्रायुङ्क्त (२ भा० ७ पृ०) मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेवाविशेषेण छन्दःशब्दव्यवहारं कृतवता भगवता पाणिनिनापि क्वचित्प्रायोजि मन्त्रेष्वेव च छन्दइति। तथाहि—"छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४ । २ । ६६)" इत्येवमादीनि समालोच्यानि। नहि तत्र छन्दःशब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानां पृथग्ग्रहणमुपपद्यते॥

ततो वेदाङ्गानामपि वेदत्वातिदेशात् छन्दस्त्वमप्यनिवार्यमेव। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति (१ अ० ५ पा० २ आ०)" इति परं तत्रापि ये केचित् शौनकीयशिक्षादयः, तेषां वेदाङ्गत्वमस्तु नास्तु वा छन्दस्त्वन्तु नास्त्येव। तथा च दर्शितं प्रत्युदाहरणम् "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) इति सूत्रीयशेखरे—छन्दसि किम्? शौनकीया शिक्षा—

इति । अपि वा तत्र सूत्रे मुख्यछन्दस्त्वमेवापेक्षितम्, नच तद्दे-दाङ्गानामित्येव तथोक्तं नागेशेनेति । प्रातिशाख्यादावपि व्यवहृतएव छन्दःशब्दः पतञ्जलिना—“छन्दःशास्त्रेषु (१ अ० २ पा० १ आ०)” इति प्रातिशाख्यादिष्वेव तदर्थो गम्यते। अपि वा छन्दसां शास्त्रेषु इत्येव तदर्थः ॥

नागेशादिभिस्तु भिक्षुसूत्रनटसूत्रयोरपि छन्दस्त्वं स्वीकृतम्। तथाहि—“तित्तिरि० । इत आरभ्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तेनैकदिगित्येतत्पर्यन्तं छन्दसि वाच्ये इष्यन्ते । शौनकादिभ्यश्छन्दसीत्यतश्छन्दोग्रहणस्य पूर्वमपकर्षादुत्तरत्रानुवृत्तेश्च” इति लघुशब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यम् । तित्तिर्यादिषु तेनैकदिगिति सूत्रतः पूर्वेषां (४ । ३ । १०२–१११) दशानां सूत्राणां नवमएव “भिक्षुनटसूत्रयोः” ग्रहणं दृश्यते । तदेवं क्रमादिदानीमार्षेति प्रसिद्धग्रन्थमात्रस्यैव छन्दस्त्वमुररीकुर्वन्ति विपश्चित इत्यलं छन्दोविचारेणेति ॥

भावार्थः—जब से “मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है” यह व्यवहार दृढ हुआ तभी से ब्राह्मण ग्रन्थों का भी छन्दः शब्द से ग्रहण होना निरन्तर सिद्ध हो गया । परन्तु मन्त्रभागों का मुख्य छन्द होना ब्राह्मणों के छन्दः कहे जाने से नष्ट नहीं हुआ । इसी लिये निरुक्तकार यास्काचार्य ने मन्त्रार्थ में ही छन्दः शब्द का प्रयोग किया है तथा मन्त्र ब्राह्मण दोनों का सामान्य कर छन्दः पद से व्यवहार करते हुए भगवान् पाणिनि आचार्य ने भी कहीं २ छन्दः शब्द से केवल मन्त्रभाग का ग्रहण किया है जैसे (४ । २ । ६६) सूत्र में छन्दः पद से मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का ग्रहण हो तो ब्राह्मण पद का पृथक् ग्रहण व्यर्थ हो जावे ।

तदनन्तर वेद के अङ्ग भी वेद के तुल्य माने जाने से उन का भी छन्द होना अनिवार्य है सो महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने (१ अ० ४ पा० २ आ०) में कहा है कि “छन्द के तुल्य सूत्र होते हैं” पर उन में भी शौनकीय शिक्षादि कई ग्रन्थ वेद के अङ्ग हों वा न हों पर वे छन्द नहीं माने जांयगे । जो (४।३।

१०६) सूत्र पर शेखरकार ने कहा है कि "शौनकीया शिक्षा, इत्यादि में छन्दोग्रहण से णिनि प्रत्यय नहीं होता। अथवा उक्त सूत्र में मुख्य छन्द का ग्रहण इष्ट है वैसा छन्दस्त्व वेदाङ्गों में नहीं है" यह भी नागेश ने कहा है। तथा पतञ्जलि ने प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में भी छन्दः पद का व्यवहार किया ही है अथवा पतञ्जलि के कथन का आशय यह माना जाय कि छन्दः सम्बन्धी शास्त्रों में-

और नागेशादि ने तो भिक्षुनट सूत्रों को भी छन्द माना है "तित्तिरि० सूत्र से लेकर (तेनैकदिक्) सूत्र पर्यन्त कहे प्रत्यय छन्दवाच्य होने पर होने अभीष्ट हैं क्योंकि (शौनकादिभ्यश्छन्दसि) सूत्र से पूर्व सूत्रों में छन्दोग्रहण के आकर्षण से और अगले सूत्रों में अनुवृत्ति करने से उक्त प्रयोजन सिद्ध है" यह सब लघुशब्देन्दुशेखर में देखना चाहिये। तित्तिरि० सूत्र से लेकर तेनैकदिक् से पूर्व दश सूत्रों में से नवम सूत्र में भिक्षुसूत्र और नटसूत्रों का ग्रहण दीखता है। सो इस क्रम से सम्प्रति आर्ष नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थमात्र का पण्डित लोग छन्दः पद से स्वीकार करते हैं इस लिये छन्द का विचार अब समाप्त करते हैं।

सम्पादक-अब छन्दः पद का यह अन्तिम विचार है। सामश्रमी जी का अभिप्राय स्पष्ट है कि अति प्राचीन समय से अब तक छन्दः शब्द से मुख्यकर मन्त्र संहितारूप वेदों का ग्रहण होता है। और ब्राह्मणग्रन्थ बनते समय से व्यवहार चल जाने से पण्डित लोग ब्राह्मणादि ग्रन्थों को भी छन्दः कहने वा मानने लगे सो गौण है। हम अपने पाठकों को सूचित करना चाहते हैं कि वेद आदि पदों पर सामश्रमी का अनुवाद कर २ हम ने जो इतना लेख बढ़ाया और बढ़ाते जाते हैं उस को आप व्यर्थ न समझिये क्योंकि हमारा एक तो प्रयोजन यह है कि श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वती जी महाराज ने वेद आदि कई शब्दों पर थोड़ा २ विचार अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखा था तदनन्तर विपक्षियों (महामोहविद्रावणादि) ने अनेक प्रकार के कुतर्क खड़े किये तब आर्यसिद्धान्त के आरम्भ से ही वेद ब्राह्मण के विषय में अनेक प्रकार का लेख लिखा गया। अब उस विषय में अनेक प्रमाणों के संग्रह से तथा साम्प्रतिक सामश्रमी आदि विद्वानों की भी सम्मति से यह विषय "कि वेद आदि शब्द मन्त्र संहिताओं के ही वाचक हैं और जैसे किसी श्रीमान् वा राजादि की प्रशंसा के लिये कोई कहे कि "आप ईश्वर हैं आप सर्वशक्तिमान् हैं" इत्यादि जैसे वह वास्तव में ईश्वर वा सर्वशक्तिमान् नहीं वैसे ब्राह्मणादि ग्रन्थ भी वेद, निगम, आगम,

आम्नाय, स्वाध्याय तथा छन्द आदि पदों के वाच्य वास्तव में नहीं हैं" इतना दृढ़ सिद्ध हुआ और हो जायगा कि जिस में फिर किसी प्रकार की हिल चल शेष न रह जायगी । और द्वितीय प्रयोजन यह है कि हम ने "त्रयीविद्या" शीर्षक दे कर जो लेख चलाया है उस में वेद सम्बन्धी प्रायः सभी सन्देहों की निवृत्ति होने की आशा है और प्रायः वेद के गूढ़ सिद्धान्त वा आशयों को खोलने का उद्योग किया है उस में सब से पहिले यह सिद्ध हो जाना अत्यावश्यक है कि वेद वा छन्द आदि किन २ ग्रन्थ वा पुस्तकों के नाम हैं और उन का क्या अर्थ वा अभिप्राय है । यह जनश्रुति कहावत प्रसिद्ध है कि "सति कुड्ये चित्रं भवति" पहिले भित्ति बन के तयार हो तब उस में चित्रकारी हो सकती है। इसी प्रकार यहां भी पहिले यह सिद्ध हो जावे कि वेद वा छन्द आदि कौन हैं तब उन के सिद्धान्तों का विवेचन हो सकता है ।

अब छन्दः पद के ऊपर इतना और कहना है कि छन्दःशास्त्र जो एक वेदाङ्ग है उस में आने वाला छन्दःपद वेद पर्यायवाचक छन्दः से भिन्न है ? वा दोनों एक ही हैं ? । इस का उत्तर यह है कि दोनों छन्द एक ही हैं वेद के पर्यायवाची छन्दःपद का व्याख्यान करने के लिये ही पिङ्गलाचार्य ने द्वितीयाध्याय में "छन्दः" अधिकार किया है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में मूलमन्त्र समूहरूप जो वेद उत्पन्न हुए थे उन गायत्री आदि नामक मन्त्रों की पद व्यवस्था और अक्षर संख्या जताने के लिये छन्दःशास्त्र नामक वेदाङ्ग बनाया गया । उस में प्रसङ्गवशात् लौकिक रचना का व्याख्यान किया गया वह गौण है । इसी लिये वेदाङ्ग माना गया लोकाङ्ग नहीं । ग्रन्थकार पिङ्गलाचार्य को भी छन्दः पद से वेद का ही ग्रहण इष्ट था इसी लिये वैदिक प्रकरण के आरम्भ में "छन्दः" अधिकार बांधा और पञ्चमाध्याय के आरम्भ में "वृत्तम्" दूसरा अधिकार किया जिस से सिद्ध हुआ कि वेद के पद्यों वा मन्त्रों का नाम छन्द माना गया और लौकिक श्लोक रचना का नाम, वृत्त माना गया इसी अभिप्राय को लेकर केवल लौकिक पद्यों का व्याख्यान जिस में किसी पण्डित ने किया उस पुस्तक का नाम वृत्तरत्नाकर रक्खा । अब रहे छन्दोमञ्जरी आदि नामक ग्रन्थ सो छन्दःशब्द के अर्थ का तत्त्वालोचन किये विना ही बनाये गये यह अनुमान ठीक ही है । परन्तु इन सब दशाओं में भी छन्दः शब्द का छादनार्थ नष्ट नहीं होता दुःखों आपत्तियों से बचाने तथा इष्ट के रक्षक गौणभाव से लौकिक पद्य भी हैं और वेदमन्त्र प्रधानता से इस अर्थ के साधक हैं

इस से उन २ का गौण वा प्रधानभाव से छन्द नाम मानना चाहिये । वास्तव में छन्दःपद का अर्थ पद्य नहीं किन्तु पहिले छादनार्थ से वेदमन्त्रों का नाम छन्द हुआ वे प्रायः सभी मन्त्र किसी न किसी प्रकार की पद्य (श्लोक) रचना में ही बने थे इस कारण छन्दः शब्द का वाच्यार्थ पद्य भाग में ही प्रचार पा गया । यदि पद्यभागमात्र में छन्दःपद की प्रवृत्ति मानें तो गौणभाव से भी ब्राह्मण ग्रन्थों (जो प्रायः गद्यरूप में बने हैं) । को छन्द नहीं कह सकते इसलिये केवल छादनार्थ से ही छन्द मानना मुख्य है । इसी के अनुसार वेदाङ्ग व्याकरण सूत्रादि को भी छन्दोवत् मानना बन सकता है । अर्थात् वेद के प्रायः सभी शब्द सामान्य व्याप्तार्थ के बोधक हैं यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसादि शास्त्रों के अनुकूल होने तथा विशेष ध्यान दे कर शोचने से बहुत ही सत्य निश्चल ठहरता है । छन्दः शब्द भी वैदिक है इस का जिस २ अंश में जितना २ छादनार्थ जहां २ संघटित हो उस को उतने अंश में छन्द मानना चाहिये । अब रहा यह कि किन्हीं को छन्द माना जाय किन्हीं को छन्द होने का निषेध किया जाय यह सब विचार लोकानुसार शास्त्र में भी सापेक्ष माना जाता है । जैसे बहुत अपढ़ मनुष्यों में कुछ थोड़ा पढ़ा भी उन मूर्खों की अपेक्षा से पण्डित मान लिया जाता वा कहाता है फिर वही कुछ पढ़ा मनुष्य उस से अधिक पढ़े वा ज्ञानवान् विद्वानों के समुदाय में मूर्ख माना जाता किन्तु पण्डित पद वाच्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहां भी साहित्य काव्य आख्यायिका इतिहासादि पुस्तकों की अपेक्षा से वेदाङ्गग्रन्थ भी किसी प्रकार छन्दः पद वाच्य होते वा कहाते हैं । तथा वेदाङ्गों की अपेक्षा से गृह्य श्रौत सूत्र तथा ब्राह्मणादि वेद वा छन्द अथवा आम्नाय आदि पदों के वाच्य होते तथा साक्षात् मूलमन्त्र समूहरूप वेद के सामने ब्राह्मणादि कोई भी पुस्तक वेद आम्नाय वा छन्द कहाने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि ब्राह्मणादि सब पुस्तकों में ससीम छन्दःपन है और मूल ईश्वरीयवाणीरूप वेद में असीमवेदत्व आम्नायत्व तथा छन्दस्त्व आदि है इसलिये वह वेद ही मुख्य छन्द है उसी की छाया का शरण लेने से हमारा ठीक २ कल्याण हो सकता है । अब छन्दःपद का विचार समाप्त किया जाता है ॥

(स्वाध्यायः) स्वाध्यायइति च तस्यैव वेदस्य नामान्तरम् । स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै० आ० २–१५–७) इत्यादिश्रुतिषु "यः

स्वाध्यायमधीतेऽब्दम् (२-१०७) "इत्यादिस्मृतिषु च तथैव व्यवहारात् द्विजातिभिः सम्यगध्येय एष इत्येवासौ स्वाध्याय इति कथ्यते। अतएवाह भगवान् मनुः-योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः (२, १६८) इतीति ॥

भाषार्थः—"स्वाध्याय" यह शब्द भी वेद का ही एक नाम है। तैत्तिरीय आरण्यक (२।१५।७) में लिखा है कि स्वाध्याय-वेद पढ़ना चाहिये तथा मनुस्मृति (२।१०७) में लिखा है कि जो स्वाध्याय नाम वेद को पढ़ता है इत्यादि प्रमाणों में स्वाध्याय पद से वेद के ही पढ़ने का विधान किया गया है। द्विज लोगों को सु नाम सम्यक् पढ़ना चाहिये इस से वेद का नाम स्वाध्याय है। इसी लिये मनु भगवान् ने कहा है कि "जो वेदों को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों के पढ़ने में श्रम करता है वह जीवितदशा में ही अपने कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है" इस से वेद का ही अध्ययन सर्वोपरि प्रयोजनीय है ॥

(आगमः) आगम इति च वेदस्यैव नामान्तरम्। रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्-इति पाणिनीयवार्तिककारकात्यायनाद्युक्तेः, आगमः खल्वपि ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च-इति च तत्र पातञ्जलम्। भट्टकुमारिलेनाप्युक्तं स्वश्लोकवार्त्तिकभूमिकायामेव-आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि-इति। साङ्ख्यकारिकायामीश्वरकृष्णेनापि यदुक्तम्-तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्-इति तदप्येतदभिप्रायेणैवेति ॥

भाषार्थः—"आगम" यह भी वेद का ही नामान्तर है (रक्षोहागम०) इत्यादि पाणिनीय ग्रन्थ के वार्त्तिककार कात्यायन के कथन पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि "ब्राह्मण को छः अङ्गोंसहित आगम नाम वेद पढ़ना चाहिये" तथा कुमारिलभट्ट ने भी अपने श्लोक वार्त्तिक की भूमिका में कहा है कि "आगम नाम वेद की ओर झुकने वाले मेरी कहीं भूल भी हो तो मुझे लोग कुदृष्टि से न देखें" तथा सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने जो कहा है कि "परोक्ष असिद्ध विषय भी

आप्तोक्त आगम प्रमाण से सिद्ध ही है अर्थात् आगमोक्त नाम वेदोक्त होने से परोक्ष विषय को भी प्रत्यक्ष के तुल्य निर्भ्रान्त मानना चाहिये" यह कथन भी उक्त आशय को सिद्ध करने वाला ही जानो ॥

(निगमः) निगम इति च आगमइति चानर्थान्तरम् । यास्कीयेऽत्र निरुक्ते यावन्ति खलूदाहरणानि दर्शितानि प्रायस्तावतां सर्वेषामेव निगमइत्युपन्यासो दृश्यते । तथाहि–तत्र खलु इत्येतस्य निगमा भवन्ति–इत्यादि (२भा० २८४ पृ०) अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः–कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः क्षेत्रसाधाइति, अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं घृतमिति (२ भा० १५६ पृ०) इति चाह सएव यास्कः । निगमाः–निगमनात् (२ भा० ७ पृ०),,– इति च नैरुक्तमिति ॥

अत्र चेदं तत्त्वम्–आदौ नु निगमइति मन्त्रभागस्यैवाभिधानमासीन्न ब्राह्मणभागस्यापि; निरुक्तग्रन्थे सर्वत्रैव मन्त्राणां मन्त्रांशानाश्चैव निगमत्वेनोपन्यासात्, तत्प्रदर्शितयोः "दमूनाः" 'क्षेत्रसाधाः,–इत्यनयोः पदयोः मन्त्रभागेएव दृश्यत्वाच्च । मन्त्रभागत उद्धृतानामेव पदानाम्, तदाश्रयग्रन्थानां चास्ति निगमइति व्यवहारः । तथाहि मनुसंहितायाम्–"निगमांश्चैव वैदिकान् (४, १९)"–इति अत्र चोक्तमिदं कुल्लूकेन–"तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान् निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्"–इति । तत उत्तरं कालात् ब्राह्मणेष्वप्युपसङ्क्रान्तं निगमाभिधानम्; ततएव भागवतादौ निगमपदेन मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकस्य वेदस्यैव बोधो भवति तथाहि–"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् । पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः (भा० पु० १।१।३)"–इति "निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः,

सर्वपुरुषार्थोपायत्वात्; तस्य फलमिदं भागवतं नाम"—इति तत्र श्रीधरस्वामी। "निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठमप्यध्यारूढस्य वेदरूपतरोः"—इति च तत्र क्रमसन्दर्भः। "निगमो वेदः सएव कल्पतरुः"-इत्यादि च तत्रैव विश्वनाथः। वस्तुतो मन्त्रभागस्यैव निगमत्वं चिरादेव व्यवहृतम्। ब्राह्मणभागस्य तथा व्यवहारस्त्वनतिप्राचीनएव निगमव्याख्यानादिपरा ग्रन्था एव ब्राह्मणाख्या ऐतरेयादिनामभिः प्रसिद्धा भाष्याणीत्येवाख्यातुं युज्यन्ते। यदा ह्यतीते बहुतिथे काले मन्त्रार्थोऽतीव दुर्बोधः सम्पन्नः तदैव यज्ञकाले यज्ञानुष्ठानतत्परैः तदानीन्तनैर्ब्राह्मणैः तेषां मन्त्राणां विधानादिव्यवस्थया च सह मन्त्रान्तर्गतदुर्बोधपदानामर्था अपि भाषिताः, अतो ब्राह्मणान्येवादिवेदभाष्याणि भाषा भाष्यमितीमावेकधातुमूलकावेव शब्दौ तेन चैषु ग्रन्थेषु यतस्तत्कालप्रचलितया भाषयैव बोधिता वेदार्था अतएवैषां भाष्यत्वम्—तथाहि श्रूयतेऽसौ ऋङ्मन्त्रः—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० सं० २. ३.२३.४;८.४.१९.६) इति—तद्व्याख्यानपरश्चैतदैतरेयकं ब्राह्मणम्—यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाइत्युत्तमया परिदधाति***छन्दांसि वै साध्या देवाः तेऽग्निनाग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च (ऐ० ब्रा० १।३।५) इत्यादि एतदेव व्याख्यानं निरुक्तादौ विशदीकृतं च दृश्यते (४ भा० ३२०–३५२ पृ०) तथैव योऽयं शुक्लकृष्णयोरुभयोरेव यजुषोरारम्भमन्त्रः—इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (१.१.१.) इति

तस्यैतस्य च दुर्गमपदव्याख्यानानि कृतानि दृश्यन्ते शुक्लकृष्ण-योरुभयोरेव ब्राह्मणयोः तथाहि शतपथब्राह्मणे-"वृष्ट्यै तदाह-यदाह इषेत्त्वेति" इति "यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह" इति "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"-इति च (१.७.१.१-५) तैत्ति-रीये तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् इत्यारभ्य श्रेष्ठतमाय कर्म्मण इत्याह यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म्म तस्मादेवमाह इति यावत् (तै० ब्रा० ३.२.१.१-४) द्रष्टव्यो ग्रन्थसन्दर्भः ॥

तथा श्रूयन्ते सामवेदे सर्वसामस्वेव ये स्तोभाः, ते खलु व्या-ख्याता दृश्यन्तएव तद्ब्राह्मणे-अयं वावलोको हाउकारो वायु-र्हायिकारश्चन्द्रमा अथकारः। आत्मेहकारोऽग्निरीकारः। आदित्य उकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग् विराट्। अनिरुक्तस्त्रयोदश स्तोभः स-ञ्चारो हुङ्कारः (छा० ब्रा० ३।१३।१-३) "-इति वज्रले-पायितश्चायमर्थो मीमांसादर्शने तथाह्यस्ति तत्र मन्त्रलिङ्गाधिक-रणे सूत्रम्-" विधिशब्दाच्च (१।२।५३)" इति। विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति,-'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जी-व्यास्मेत्येतदेवाह,-इति "-इति तद्भाष्यं शबरस्वामिकृतम्। "मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्द इत्युच्यते" इति च तत्राह सायणाचार्योऽपि। तत्रैवोदाहृत्य व्याख्यातञ्च तेनापि तथैव ब्राह्मणम्। तथाहि-"सचैवमाम्नायते-'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह,-इति। तत्र 'शतं हिमा (ऋ० स० १।५।८।४।इ०)'-इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्; अव-शिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्" इत्यादि। तद्भाष्येऽप्युक्तम्-

'अत्र हिमशब्देन तद्युक्ता हेमन्तर्त्तवोऽभिधीयन्ते, तथा च ब्राह्मणम्'–इत्यादि । भगवता कात्यायनेनापि यजुःप्रातिशाख्ये निगमापरपर्यायस्य मन्त्रभागस्यैव वेदत्वं तद्व्याख्यापरस्य ब्राह्मणभागस्य भाष्यत्वमिति मन्त्रब्राह्मणयोः पार्थक्यं स्फुटं सूचितम् । तथाहि–"ओंकारं वेदेषु (१।१८)। अथकारं भाष्येषु (१।१९)"–इति यदि च तत्र तद्भाष्यकारः खलु उव्वटो वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव ग्रहणं स्वीचकार, भाष्यशब्देन च कल्पाद्यङ्गानाम् परं तत्रैवानुपदमेव "सप्त । त्रीन् । द्वौ । एकम्"–इति स्वरविधायकेषु सूत्रेषु (१।१२७–१३०) सामस्वर–नैगमस्वर–भाषिकस्वर–यज्ञकर्मस्वराणां विधानस्य पर्य्यालोचनयेह श्रुतभाष्यशब्देन ब्राह्मणानामेव बोधने कात्यायनाभिप्रायोऽनुभूयते; "अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कारनियमः"–इत्यारभ्य "तानएवाङ्गोपाङ्गानाम्"–इत्यन्तेन परिशिष्टग्रन्थेन भाषिकादिस्वराणां सुष्ठुपरिचायितत्वात् । ब्राह्मणग्रन्थानां हि भाष्यत्वेनैव तदीयस्वराणां भाषिकत्वसिद्धिः, ब्राह्मणस्वरएव भाषिकस्वरइत्युच्यते इति तु सर्वसम्मतम् । अतएवोक्तम् "एकम्"–इति सूत्रस्योव्वटभाष्यस्य टीप्पन्याम्–"मन्त्रकाण्डपठितानामपि ब्राह्मणभागानामश्वस्तूपरइत्यादीनां त्रैस्वर्यम् (निगमस्वरत्वम्) एव, ब्राह्मणकाण्डपठितानां विश्वेदेवाः शोस्तनमयथे हेत्यादीनां भाषिकस्वर एवेति"–इति । तथा तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायामपि स्पष्टमेवाभिचख्यौ सायणाचार्य्यो ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्याग्रन्थत्वम् । "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः"–इति । तदित्थं सिद्धमेव सर्वेषां किल मन्त्रग्रन्थाना-

मसाधारणं नाम मन्त्रइति निगमइति च; एवं सर्वेषामेव ब्राह्मणग्रन्थानामसाधारणं नाम ब्राह्मणं भाष्यमिति च, तथा मन्त्रग्रन्थेषु श्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च नैगमत्वम्, ब्राह्मण ग्रन्थश्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च भाषिकत्वमिति। अत एव "प्रोक्षणन्तु हिरवता पाणिना दर्भपिञ्जूलवता वेति भाषिकम् (६.२)" इत्युक्तं सङ्गच्छते साङ्ख्यायनगृह्यकारस्येति "अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा.***; अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः (२ भा० १५६ पृ०)" इत्यादौ निरुक्ते श्रुतं भाषिकपदं यदि भाषाशब्दमूलकमेव, तथापि न क्षतिः; भाषाभाष्ययोरेकधातुजत्वात्। किञ्च भाषयोपनिबद्धमेव भाष्यं भवति; मूलार्थबोधने एव हि सर्वभाष्यस्य तात्पर्यम्; न च चलितभाषया कथनमन्तरा मूलस्य स्पष्टतया बोधः सञ्जायते। तदेवं वेदस्य दुर्बोधत्वपरिहाराय यदा ब्राह्मणग्रन्था विरचिताः, तदा तादृश्या एव भाषया व्यवहार आसीत् यादृश्या रचितानि वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानि; एवञ्च तदानीं ब्राह्मणग्रन्थीयानां वाक्यादीनां यथासीद् भाषिकत्वम्, तथैवाद्यतनीयानामस्मद्वाक्यादीनामपीति सममेवेति तन्नैरुक्तञ्च न विरुद्ध्यते। वस्तुतस्तु पुराकल्पे ब्राह्मणग्रन्थरचनाकाले मन्त्राणामेव वैदिकत्वेन ग्रहणमासीद्योग्यम्; ब्राह्मणानान्त्ववश्यं लौकिकत्वेनैव, परमिदानीन्तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव वैदिकत्वेनाभ्यर्च्चनं समानम्; सौत्रिकाणामपि वचनानां वैदिकत्वम्; ततः परस्थानामेव लौकिकत्वमिति। शास्त्रकृतां व्यवहारएवात्र निदानम्; तत्रापि कालस्यैव प्राधान्यमित्यभ्युपगन्तव्यमतएव आसूत्रकालात् सिद्धमविशेषेण "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति ॥

भावार्थः—निगम और आगम शब्दों का एक ही अर्थ है। इस यास्कप्रणीत निरुक्त में जितने उदाहरण दिखाये हैं प्रायः उन सब में निगमपद का प्रयोग दीखता है। "यहां इस विषय के निगम हैं इत्यादि"। इस में तत्व यह है कि आदि में निगम यह शब्द मन्त्रभाग का ही वाचक था किन्तु ब्राह्मणभाग का नहीं। निरुक्त ग्रन्थ में सर्वत्र ही मन्त्रों वा मन्त्रांशों का ही निगम शब्द से ग्रहण किया है। उस निरुक्त में दिखाये दमूनाः और क्षेत्रसाधाः दोनों पद मन्त्रभाग में ही दीखते हैं। मन्त्रभाग से ही लिये पदों वा मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों को निगम कहने का व्यवहार है जैसे मनु संहिता में (निगमांश्चैव०) इस श्लोक पर कुल्लूक भट्ट ने कहा है कि "पर्यायवाचक दो पदों के ग्रहण से वेदार्थ बोधक निगम नामक ग्रन्थों का ग्रहण अभीष्ट है इस के पश्चात् बहुत काल से ब्राह्मणग्रन्थों को भी निगम कहने का प्रचार हुआ। इसी से भागवतादि ग्रन्थों में निगमपद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही बोध होता है। भागवत के (निगमकल्पतरोर्गलितं०) श्लोक पर श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि "निगम नाम वेद ही सब पुरुषार्थों का साधन होने से कल्पवृक्ष है उस वृक्ष का फल यह भागवत है। इत्यादि। वास्तव में मन्त्रभाग को निगम कहने का प्रचार अति ही प्राचीन है किन्तु ब्राह्मणभाग को निगम व्यवहार पीछे थोड़े ही काल से चला है। निगम नाम मन्त्ररूप वेद के व्याख्यानग्रन्थ ही ऐतरेयादि नामों से प्रसिद्ध वेद के भाष्य कहने मानने योग्य हैं। वेद मानने के पश्चात् बहुत काल बीत जाने पर मन्त्रों का अर्थ जानना अत्यन्त कठिन हो गया तभी यज्ञ के समय यज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर उस समय के ब्राह्मण लोगों ने उन मन्त्रों का विधान और व्यवस्था बांधने के साथ मन्त्रों में आने वाले कठिन पदों का जिन ग्रन्थों द्वारा अर्थ भाषण किया इस से वे ब्राह्मणग्रन्थ ही पहिले २ वेदभाष्य हुए। भाषा और भाष्य ये दोनों एक ही धातु से निकले हैं दोनों का अर्थ भी एक ही है। तिस से इन ब्राह्मणग्रन्थों में उस समय की प्रचरित भाषा से ही वेद के अर्थ जताये इस से भाष्य हुए। जैसे ऋग्वेद का मन्त्र (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः० २। ३। २३। ४) इस का व्याख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में यह किया है कि "गायत्र्यादि छन्दों का नाम ही साध्यदेव है वे यज्ञनाम अग्नि से अग्नि की पूजा करते थे वा करते हैं इत्यादि—ऐ० १। ३। ५। यही व्याख्यान इस मन्त्र का निरुक्तादि में स्पष्ट किया दीखता है। वैसे ही जो शुक्ल कृष्ण दोनों यजुर्वेदों

के आरम्भ का मन्त्र (इषे त्वोर्जे त्वा०) है इस के कठिन पदों का व्याख्यान शुक्ल कृष्ण दोनों ब्राह्मणग्रन्थों में किया दीखता है। शुक्ल यजु के शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "इषे नाम वृष्टि के लिये तथा ऊर्जे नाम रस के लिये श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है" इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी जानो।

सामवेद के स्तोभ नामक गाने योग्य "हाउ, हाइ" आदि अंशों का भी छान्दोग्य ब्राह्मण में स्पष्ट ही व्याख्यान किया है। और इस विषय को कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यानभाष्य हैं मीमांसादर्शन में और भी दृढ कर दिया है। वहां मन्त्र लिङ्गाधिकरण में (विधिशब्दाच्च) सूत्र पढ़ा है उस पर भाष्यकार शबर स्वामी ने कहा है कि "विधि शब्द विवक्षित अर्थ वाले मन्त्रों का ही अनुवाद करते हैं जैसे "शतंहिमाः" सौ वर्ष हम जीवें। तथा "मन्त्र के व्याख्यानरूप ब्राह्मण वाक्य विधि शब्द कहाते" यह सायणाचार्य का मन्तव्य है (शतं हिमाः) ये मूल मन्त्र के पद हैं। तथा यजुः प्रातिशाख्य के निर्माता कात्यायन ने भी निगमपद से मन्त्रभाग का ही ग्रहण किया है और मन्त्र के व्याख्यान परक ब्राह्मणभाग को भाष्य मान कर दोनों का भेद स्पष्ट ही दिखाया है। "ओम् का प्रयोग वेदों में और अथ शब्द का भाष्यों में होता वा होना चाहिये" इस अवसर पर यद्यपि उस प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट ने वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण स्वी किया और भाष्य शब्द से कल्पादि अङ्ग लिये हैं तथापि प्रातिशाख्य के स्वरविधायक प्रायः सभी सूत्रों में—साम, नैगम, भाषिक और यज्ञकर्म सम्बन्धी स्वरों के भिन्न २ पर्यालोचन करने से सूत्रपठित भाष्य शब्द करके ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण जताने में ही कात्यायन का अभिप्राय प्रतीत होता है क्योंकि (अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कारनियमः) यहां से लेकर (तानएवा०) यहां तक के प्रकरण से भाषिकादि स्वर अच्छे प्रकार निर्णीत किये हैं। और ब्राह्मणग्रन्थों के भाष्य मान लेने पर ही उन उन के स्वरों को भाषिक स्वर कह वा मान सकते हैं ब्राह्मण स्वर ही भाषिक स्वर माने वा कहे जाते हैं यह सर्वसम्मत है। तथा तैत्तिरीय संहिता की भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि "यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है तथापि मन्त्र का व्याख्यानरूप ब्राह्मण है इस से पहिले मन्त्ररूप ही वेद उत्पन्न हुए"। सो इस प्रकार सब मन्त्रग्रन्थों का सामान्य कर मन्त्र, निगम वा वेद नाम सिद्ध ही है। और सामान्य कर सब ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण वा भाष्य भी सिद्ध ही है। तथा

गताङ्क पृ० ११२ से आगे पुनर्जन्म विचार ॥

को सिद्ध कर पाते हैं तो एक ऐसे बड़े पारमार्थिक ज्ञान में घर बैठे बातों २ में कोई कृतकार्य हो जाय क्या यह सम्भव है? अर्थात् कदापि नहीं। और यह कहना भी ठीक नहीं कि जलाये दीपक को बुता के फिर वही प्रकाश नहीं लौट कर आसकता वा वही दीपज्योति लौट कर नहीं आसकती। इस का समाधान यद्यपि पूर्वलेख में आगया तथापि उत्तर देते हैं कि हम भी उसी ज्योति वा रोशनी का लौट आना नहीं मानते। जैसे तेल बत्ती आदि के साथ अग्नि के संयोग से जो रोशनी वा ज्योति हो रही थी वह फिर के नहीं आसकती वैसे जिस शरीर इन्द्रिय वा मन आदि के साथ आत्मा का जैसा संयोग था उस से जैसा जीवन चल रहा था वही जीवन फिर नहीं लौट कर आसकता जो मनुष्यादि जैसे रूप वाला जैसी बुद्धि वाला था वैसा ही लौट कर तभी जन्म लेसकता है जब उस का वही शरीर वही २ मन बुद्धि उसी आत्मा को फिर प्राप्त हो ऐसा कभी हो नहीं सकता क्योंकि शरीरादि सब पृथिव्यादि भूतों में मिल जाते हैं। परन्तु जैसे दीप जलने से पहिले भी अग्नि कहीं दीवासलाई आदि में था जो तेल बत्ती के संयोग से ज्योति रूप से जलने लगा और बुत जाने पर भी आकाश पृथिव्यादि में अवश्य कारणरूप से बना रहता है ऐसे ही जीवात्मा भी जीवनरूप संयोगजन्य कार्य का कारण है वह भी आगे पीछे अपने स्वरूपमात्र में रहता है इस से यह दृष्टान्त ठीक नहीं। योगशास्त्र के विभूतिपाद में भी लिखा है कि पूर्वजन्म का स्मरण इस प्रकार हो सकता है कि—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ सूत्र ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपास्ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टा निरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्मास्तेषु संयमः साक्षात्क्रियायै समर्थः। नच देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् ॥

भावार्थः—इस जन्म मरण प्रवाह में अनादि काल से पड़े हुए आत्मा के साथ दो प्रकार के संस्कार पूर्वजन्मों के शुभाशुभ कर्मों से संचित हुए विद्यमान हैं एक तो स्मरण वा क्लेशों के हेतु वासनारूप संस्कार कहाते उन से किसी बात का स्मरण हो और बुराई का स्मरण आवे तो मन में ही क्लेश हो वा अविद्यादि क्लेशों की पुष्टि के लिये संचित रहें और द्वितीय धर्म अधर्मरूप से संचित संस्कार प्रारब्धरूप फल देते हैं। उन दोनों प्रकार से संचित संस्कारों में संयम नाम धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास करने से साक्षात्संस्कारों का बोध हो जाता है अर्थात् जैसे हमने दश वर्ष पहिले कोई वस्तु देख सुन के जाना था पीछे अन्य व्यापारों में चित्त लगता गया उस को सर्वथा भूल गये फिर कभी उसी प्रकार का स्थान वा वही स्थान कि जिस में देखा था सामने आवे वा वही काल हो और उस पूर्वदृष्ट विषय का स्मारक कोई निमित्त चिन्ह भी प्रत्यक्ष में आजावे तो उस भूले हुए १० वर्ष पहिले देखे विषय का जैसे हम को सब साङ्गोपाङ्ग स्मरण आजाता है वैसे ही पूर्वजन्म का भी सब वृत्तान्त हम प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में अज्ञानान्धकार से आच्छादित तिरोभूत दबा हुआ विस्मृत हो रहा है। जब योगाभ्यास से आत्मशुद्धि क्रमशः की जाती है तब वे सब संस्कार धीरे २ खुलते जाते हैं इस से योगी पुरुष को पूर्व के सैकड़ों जन्मों का पूरा २ साक्षात् ज्ञान हो जाता है यह सब विचार पूर्वजन्म के यथावत् स्मरण पर है अर्थात् यथावत् साक्षात् विशेष स्मरण किसी योगी ज्ञानी ही को पूर्वोक्त साधनों से हो सकता है और वैसे कुछ २ न्यूनाधिक सामान्य स्मरण तो सब को है हमने पूर्वजन्म में मरण दुःख का जो अनुभव किया है उस का सूक्ष्म स्मरण ही तो हम प्रत्येक प्राणी को मरण का नाम भी विशेष भय दिला रहा है। तथा जो लोग प्रारब्ध को प्रबल मानते जिन का सिद्धान्त है कि "कर्म रेख नहि मिटे मिटाई" अर्थात् पूर्वजन्मों में जैसा किया है वैसा ही फल मिले गा इस प्रकार का जिन को विश्वास है वह भी सामान्य प्रकार के स्मरण को जताता है। तथा आस्तिक विद्वानों को साधारण मनुष्यों की अपेक्षा जितना अधिक स्मरण है उतना ही उन को पुनर्जन्म के होने का अधिक निश्चय और विश्वास है। अर्थात् स्मरण अनेक प्रकार का होता है। अनेक विषय हमने इसी जन्म में कभी २ ऐसे देखे जाने सुने हैं जिन का हम को सामान्य सूक्ष्म स्मरण तो है जिस के अनुसार हम उन विषयों को असम्भव नहीं मानते जैसे किसी बालक को अक्षराभ्यास से पूर्व ही तीन चार वर्ष की अवस्था

में किसी पुस्तक में लिखे कई विषय कण्ठस्थ बताये जावें और उस समय वह अपनी बोलने की शक्ति के अनुसार कह भी सकता हो फिर खेल आदि में भूल जावे दश वा पन्द्रह वर्ष तक भूला ही रहे मानो उसने वह पुस्तक कभी पढ़ा ही नहीं ऐसा भूल जाय तब १५ वा २० वर्ष की अवस्था में फिर उस को वही पुस्तक पढ़ाया जाय तो पहिले सामान्य स्मरण के अनुसार वह बालक उस पुस्तक को उस अन्य बालक की अपेक्षा शीघ्र कण्ठस्थ कर लेगा जिस को बाल्यावस्था में वह पुस्तक नहीं पढ़ाया गया था। यद्यपि उसे यह स्मरण नहीं है कि मैंने तीन वा चार वर्ष की अवस्था में इसी पुस्तक के वाक्य पढ़े थे परन्तु पढ़ते समय पूर्व संस्कारों ने सहायता अवश्य दी इस से सामान्य सूक्ष्म स्मरण का होना सिद्ध हो गया। वैसे ही जिन किन्हीं बालकों को इस जन्म में कुछ नहीं पढ़ाया गया ऐसे अनेक बालक किसी भाषा को पढ़ाने के लिये एकसाथ बैठाये जावें सब के साथ एक सा ही पढ़ाने आदि में श्रम भी किया जावे तो भी उन में कोई उस भाषा में अति शीघ्र अत्यन्त प्रवीण हो जाते एक बात बताने से दो वा चार बातें उस विषय के सम्बन्ध की स्वयं समझ जाते हैं कोई मध्यम और कोई अतिनिकृष्ट दशा के होते हैं इस में भी जो जितना शीघ्र जिस विषय को पढ़ समझ लेता है उस को उतना ही पूर्वजन्म के पढ़े का सामान्य स्मरण है यदि पूर्व जन्म का सामान्य स्मरण इस का कारण न मानें तो एक साथ एक विषय के पढ़ने वाले सब विद्यार्थी एक से ही प्रवीण होने चाहिये सो नहीं होते। इस से सिद्ध हो गया कि सामान्य स्मरण सब को है, तो पूर्वजन्म का किसी को स्मरण नहीं यह कहने वा मानने का अभिप्राय होगा कि विशेष स्मरण जैसा होना चाहिये वैसा किसी को नहीं है। क्योंकि लोक में सर्वत्र विशेषार्थ में शब्दों का व्यवहार होता है सामान्यार्थ में नहीं। जैसे १ सेर अन्न का भोजन करने वाला दश बीश दाने अन्न चाब कर भी कहे कि मैंने आज भोजन नहीं किया तो भोजन शब्द विशेषार्थ बोधन पर हो जाने से सामान्य में भोजन का अभाव सत्य मान लिया जाता है यदि उस ने एक भी अन्न का दाना न चाबा हो तो भी सामान्य भोजन का सर्वथा अभाव कभी नहीं हो सकता क्योंकि उस ने श्वास द्वारा वायु का भोजन अवश्य किया उस वायु में अग्नि जल तथा पृथिवी के सूक्ष्म अणु भी उस के भीतर अवश्य गये जो सब मिल कर कुछ काल जीवन के हेतु हुए। इसी प्रकार अन्न का एक दाना देने वाला दाता वा दानशील नहीं कहाता एक दाना किसी का उठालाने वाला चोर

भी नहीं माना जाता क्योंकि दान वा चोरी आदि शब्द विशेष अर्थों में लिये जाते हैं परन्तु जैसे वास्तव में एक दाने का खाना वा देना वा चुराना भोजन दान और चोरी अवश्य है वैसे सूक्ष्म सामान्य स्मरण भी स्मरण अवश्य है लोकव्यवहार में बोला वा माना नहीं जाता यह अन्य बात है। अज्ञानी कौन है ? क्या जिस को लोग अज्ञानी कहते मानते हैं उस में कुछ भी ज्ञान नहीं यदि ऐसा ही तो पत्थर अज्ञानी हो सकता है इसी प्रकार जिस को ज्ञानी मानो गे उस में भी कुछ अज्ञान अवश्य रहे गा विशेष ज्ञान के न होने से अज्ञानी तथा होने से ज्ञानी कहाते हैं वैसे यहां भी विशेष स्मरण न होने से कहा वा माना जाता है कि पूर्व जन्म का किसी को स्मरण नहीं है। अब यह पहिले प्रश्न का उत्तर होगया आगे द्वितीय प्रश्न—

प्र०—२—आवागमन की रू से माना कि एक जीव मुर्गी का कबूतर होगा फिर वह जीव अण्डे में आया दैवसंयोग से मर गया अन्दर ही अन्दर हज़ारों कीड़े पड़ गये देखा गया इस का क्या कारण है ? ।

उत्तर—वह जीव दैवयोग से अण्डे में मर गया यहां तक तो कुछ शङ्का नहीं, प्रश्न केवल यह है कि फिर उस अण्डे में अनेक जीव कहां से आगये ? । इस का उत्तर यह है कि सृष्टि भर में असंख्य जीवधारी प्राणी विद्यमान हैं उन में लाखों ही प्रतिदिन वा प्रतिक्षण मरते और लाखों ही जन्म लेते रहते हैं । मरे हुए सब जीवों को अपने२ कर्मानुकूल सुख दुःख भोगने के लिये उन२ योनियों में जन्म मिलता रहता है । जब वह अण्डे वाला जीव मर गया तो उस अण्डे के भीतर का सामान सड़ जाता उस में एक प्रकार की ऊष्मा गर्मी उठती है वह ऊष्मा ही जिन जीवों के देहधारण का कारण है वे जीव उस ऊष्मयुक्त विकृतगर्भाशयरूप कारण में अपने २ कर्मों से प्रेरित परमेश्वर के नियमानुसार सब ओर से आकर शरीरधारण कर लेते हैं । जैसे लोक में प्रत्यक्ष देखलो कि कहीं सदावर्त्त वा भोजन बांटने का प्रबन्ध हुआ तो दूर २ के भिक्षुक अन्नार्थी दीन दुःखी शीघ्र ही चारों ओर से आटूटते हैं । कहीं मधु (शहद) खुला धरा हो तो चींटी आदि वा मक्खी थोड़े ही काल में सहस्रों आकर उस में फस जाते यदि कोई पशु आदि का शरीर जंगल में मरा पड़ा हो तो गृध्रादिमांसाहारी जिन में से वहां पहिले एक भी नहीं दीखता था थोड़े ही काल में चारों ओर से सैकड़ों एकत्रित हो जाते हैं । यदि वर्षा ऋतु में वर्षा हो कर बन्द हो जावे

पर खुले अवकाश में दीपक जला दिया जाय तो सहस्रों पतङ्ग जन्तु जाने कहां २ से शीघ्र इकट्ठे हो जाते हैं जिन का दीप जलने से पहिले वहां चिन्ह भी नहीं था। नाच तमाशे गानादि जिन २ प्रकार के जिन २ कामों में जो २ मनुष्यादि आसक्त हैं उन २ प्रकार के अच्छे वा बुरे काम जहां २ होते हैं वहां २ वैसे २ मनुष्यादि अपनी २ संचित वासनाओं से आकर्षित हो कर शीघ्र ही पहुंचते हैं जैसे यह सब अन्तःकरण के संचित वासनारूप कर्मों के अनुसार होता है वैसे ही जहां २ अण्डे आदि में स्वेदज प्राणियों के देहाधारण का सामान होता है वहां २ वे अपने २ संचित वासनारूप संस्कारों के अनुसार शीघ्र आकर्षित हो कर पहुंच जाते और शरीरधारण कर लेते हैं। जैसे किसी मेला में सब प्रकार के मनुष्य सब स्थानों से जावें और वहां सब प्रकार के सामान वा अड्डे भी नियत किये गये हों तो जो कोई पण्डित विद्वान् होगा वह पुस्तकालय में वा विद्वानों की सभा में जाना स्वीकार करेगा क्षत्रिय होगा वह युद्ध सम्बन्धी सामान की ओर झुके गा वैश्य व्यापार के वस्तु देखना चाहे गा, चर्मकार अपनी गोष्ठी में आयगा और महतर पुरीषालय पाखाने के समीप महतरों की जमाअत में चला आयगा अपने २ संचित संस्काररूप कर्मों के अनुसार सब लोग उस मेले (मुमाइश) में फैल जायंगे इसी प्रकार इस जगत्रूप मेले में सब प्रकार के प्राणी अपने २ पूर्वशरीरों को छोड़ २ कर अपने २ पूर्व संचित कर्मों के अनुसार भिन्न जमाअतरूप योनियों वा कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। आशा है कि अब यह सन्देह निवृत्त हो जायगा कि उस अण्डे में भीतर ही भीतर इतने जीव कहां से आगये?। यदि यह भी विचार हो कि अण्डे में घुसने को अवकाश वा छिद्र नहीं था तो उत्तर यह है कि अण्डे में घुसने का अवकाश वा छिद्र तो अवश्य हैं पर वे इतने सूक्ष्म हैं कि जिन को हम छिद्र नहीं मानते जैसे मनुष्य के शरीरस्थ रोमकूप छिद्र नहीं माने जाते और इन्द्रियों को छिद्र माना है। जीव इतना सूक्ष्म है जो सब प्रकार के वस्तुओं में प्रवेश कर सकता है क्योंकि वह सूक्ष्म अणुओं से भी अधिक सूक्ष्म है। उस के लिये ऐसी शंका नहीं हो सकती॥

प्रश्न—३—वर्षा काल में नाना प्रकार के जीव जन्तु जैसे भिंडुया गिजाई वगैरह उत्पन्न होते हैं यदि ये जीव आवागमन के हैं तो क्या इन का नम्बर बरसात ही में लगता है?।

उत्तर—इस प्रश्न का कुछ उत्तर तो पूर्व प्रश्न में आगया। और शेष यह है कि ईश्वर की सृष्टि अनन्त है एक २ योनि में असंख्य प्राणी हैं केवल पृथिवी

मात्र सप्त द्वीप में जो सृष्टि प्रत्यक्ष हो सकती है उतनी ही नहीं है पृथिवी के समान सहस्रों लोक हैं जिन के प्राणियों का परिवर्त्तन भी होता रहता है। वर्षाकाल में मिढ़िया गिजाई आदि जो जीव एक साथ सहस्रों प्रकट हो जाते हैं उन में जो प्राणी अपनी जाति के अनुसार पूरे २ शरीरों वाले एक साथ दीखने लगते हैं वे तो गर्मी की अधिकता से पहिले से पृथिवी में घर बना कर रहते हैं जैसे पृथिवी में हम मनुष्यादि के घर होते वैसे सभी पार्थिव प्राणियों का पृथिवी और जल जन्तुओं का जल तथा वायव्य प्राणियों का वायु स्थान है। जैसे ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न दुपहर के समय वा अर्द्धरात्रि के समय प्रायः मनुष्यादि प्राणी अपने २ घरों में प्रवेश कर जाते हैं इधर उधर चलते फिरते नहीं दीखते वैसे ही वसन्तादि अन्य ऋतुओं में वर्षाकाल के जीव पृथिवी के भीतर निवास करते हैं। जैसे पशु पक्षी वा मनुष्यादि सभी प्राणियों में वर्ष में एक वार वा किन्हीं में दो वार नवीन सन्तान होते हैं कि जब २ उन २ जातियों में उत्पत्ति के योग्य ऋतु आदि साधनों का अधिकांश संचय होता है। वैसे ही वर्षाकाल में नये २ मण्डूकादि प्राणी भी उत्पन्न होते हैं मण्डूकादि का प्रधान कारण जलतत्त्व है उस की वृद्धि वर्षाकाल में ही होती है। तभी मण्डूक गिजाई आदि के छोटे २ बच्चे भी उत्पन्न हुए चलते फिरते दीख पड़ते हैं। जैसे मनुष्य के बच्चों को देख कर बड़े शरीर वालों के लिये यह अनुमान सत्य होता है कि पूरे शरीरों वाले सभी मनुष्य पहिले २ बच्चे हुए और काल पाकर बढ़ते २ पूरे होगये वैसे ही मिढ़िकिया आदि के बहुत छोटे २ बच्चों को देख कर यह मान लेना चाहिये कि जो बड़े २ मण्डूकादि दीखते हैं ये सभी पहिले कभी बच्चे हों गे धीरे २ बढ़े हैं। हम को जो बड़े २ मनुष्य हाथी ऊंट आदि दीखते हैं उन सब को छोटे से बड़े होने तक बराबर खाते पीते चलते फिरते कहीं रहते हमने नहीं देखा तोभी यह सन्देह नहीं होता कि ये कहां से आगये। किसी समय हम को कहीं अकस्मात् सहस्रों हाथी घोड़े आदि प्राणी दीख पड़ें तो जैसे वे कहीं थे वैसे मण्डूकादि भी कहीं थे। अब रहा नई उत्पत्ति के विषय में विचार कि मिढ़िया गिजाई आदि लाखों जीवों का वर्षात में ही उत्पत्ति का सम्वर क्यों आता है तो यह सन्देह अन्य पशु पक्षी आदि में भी हो सकता है जैसे कुत्ते बिल्ली भेड़ बकरी आदि प्रायः सभी प्राणीयों के गर्भ धारण का कोई समय नियत है और उस नियम का कारण यही है कि उन २ प्राणियों के शरीरों का जो उपादान कारण

है उन के सहायक साधन जैसे उस २ समय में मिलते हैं वैसे २ साधन अन्य समय में नहीं मिलते इस लिये वे जीव उन्हीं समयों में अधिक जन्मते हैं। जो २ जीव किसी योनि में जन्म लेते हैं वे सब पहिले किसी योनि के शरीरों को छोड़ कर अवश्य आये हैं इस लिये वे आवागमन के जीव हैं यह ठीक है। जो मनुष्य कहीं मेले सभा वा बाजार आदि में आते हैं वे आने से पहिले पृथिवी के किसी भाग में किसी स्थान में किसी घर में रहते थे जहां से आये यह निस्सन्देह मानने पड़ता है किन्तु यह कोई नहीं मानता कि ये कहीं नहीं थे वा इन के रहने का कोई स्थान नहीं था वैसे जो जीव नवीन शरीर धारण करते हैं उस से पहिले वे अन्य किसी योनि के शरीर में अवश्य थे। जैसे अपने २ घरों को छोड़ कहीं जाने के लिये रेलवेस्टेशनों के मुसाफिरखानों में टिकट ले २ कर लोग इकट्ठे होते जाते हैं और फाटक खुलने की ओर ध्यान लगाये बैठे वा खड़े रहते हैं फाटक खुलते ही रेल पर चढ़ने के लिये एक साथ भागते हैं वैसे अनेक स्थानों वा योनियों से अपने २ शरीररूप घरों को छोड़ २ शुभाशुभ कर्मों की गठरी बांध कर अपने २ संचित कर्मों के अनुसार अव्वल दोयम इंटर वा थर्डक्लास का टिकट परमेश्वर के नियमानुसार लेकर उन २ मण्डूकादि योनियों में जन्म लेने के लिये सन्नद्ध रहते हैं। वर्षादि उत्पत्ति का फाटक खुलते ही झटपट अपने २ क्लासों में घुस कर शरीर धारण करलेते और फिर उसी शरीररूप रेल पर चढ़े भागते चले जाते हैं। अर्थात् आवागमन वाले सभी जीवों का भिन्न २ योनियों में जन्मने का किसी २ नियत समय पर ही नम्बर आता है। इस में इतना भेद है कि जैसे सदा ही सभी जातियों में अच्छे सुकर्मी श्रेष्ठ वा प्रतापी प्राणी कम होते और बुरे सदा ही अधिक होते हैं थर्डक्लास की अपेक्षा इंटर में कम बैठते उस से द्वितीय कक्षा में कम और उस से भी कम अव्वलदर्जे में बैठने वाले होते हैं सब से नीची कक्षा में सब से अधिक बैठते हैं इसी के अनुसार मनुष्यादि उत्तम जातियों में कम प्राणी जन्म लेते उन में भी शूद्र की अपेक्षा वैश्यपन वाले कम होते वैश्यपन से क्षत्रिय गुणकर्मों वाले कम होते और ब्राह्मणत्व की योग्यता वाले क्षत्रियों से भी कम होते और ब्राह्मणों से भी कम पितृ देव और ऋषि होते हैं। इस के अनुसार मनुष्यादि की अपेक्षा नीच वा क्षुद्र योनियों में प्राणी बहुत ही अधिक उत्पन्न होते और शीघ्र २ जन्मते मरते हैं। अच्छी योनि में जन्म लेकर अधिक आयु वाला होना भी अच्छे कर्म का फल है और शीघ्र २ मरना जन्मना भी बुरे कर्मों

का फल है । इसी से चींटी गिजाई आदि योनियों में छोटे २ निकृष्ट देहधारी जीव अधिक वा असंख्य दीखते हैं । आशा है कि अब इस प्रश्न का उत्तर भी कुछ सन्तोषजनक होगया होगा । अब इसी प्रसंग में समाधान करने योग्य कई नवीन प्रश्न उपस्थित हो गये हैं उन का संक्षेप से कुछ थोड़ा २ समाधान हम लिख कर तब पूर्व प्रश्न कर्त्ता के शेष प्रश्नों का उत्तर लिखेंगे ।

१–प्रश्न–अंग्रेज़ी डाक्टरी और चरक वाग्भट्टादि ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि सन्तान को कुष्ठ वा गलित कुष्ठादि रोग होते हैं उस का कारण उस के माता पिता का दोष है और वैदिकसिद्धान्त यह है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है तो इस में क्या माना जावे ? जो जीव के पूर्व संचित पाप मानों तो माता पिता का दोष कहना व्यर्थ है और माता पिता का दोष मानो तो सन्तान को अपराध विना भोगना पड़ता है यह अन्याय है फिर जीव के पूर्व पाप का फल है यह कहना नहीं बनता ॥

उत्तर–यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर स्वतन्त्र संस्कार सम्बन्धी आर्यसिद्धान्त के लेख में आचुका है तथापि हम फिर से स्पष्ट उत्तर देते हैं कि माता पिता का दोष और सन्तान को पूर्व संचित कर्मानुसार फल मिलना ये दोनों बातें सत्य हैं इन में परस्पर विरोध नहीं है पूर्वापर का भेद अवश्य है जिस जीव के पूर्वजन्म के जैसे कर्म हैं वह अपने कर्मों के अनुसार ही फल भोगने के लिये वैसे ही माता पिताओं के यहां आकर परमेश्वर की व्यवस्थानुसार जन्म लेता है कि जिन माता पिताओं से उस के कर्मानुसार उस को सुख दुःख भोगने पड़ें । जिस सन्तान को पिता के शरीर के कुष्ठांश से कुष्ठी हो कर दुःख होना सम्भव था उस का कुष्ठी पिता के यहां जन्म हुआ । परमेश्वर कर्मों के फल संसार में ही एक से दूसरे को दिलाता है किन्तु विना किसी निमित्त के सुख दुःख किसी को मिलते नहीं अब रहा यह कि सन्तान के कर्मानुसार कुष्ठ वा गलित कुष्ठ हुआ तो माता पिता का दोष क्यों कहा वा माना जाता है इस का उत्तर यह है कि हमने कोई कुपथ्य किया वा अनुचित किया तो वह हमारा दोष अवश्य माना जावेगा उस दोष से फल चाहें केवल हम को हो वा हमारे सम्बन्धी अन्यों को भी हो यह दूसरी बात है दोनों दशा में हम दोषी हैं क्योंकि कुपथ्य हमने किया उस से हम को रोग हो गया हम रोगी न होते तो कहीं से कुछ भोजनादि के लिये उपार्जन करके अन्नादि लाते और लड़के वाले खाते सो भूखे रहे यहां भी

उन लड़के वालों को पूर्वकर्मानुसार हमारा साथ मिला और कुपथ्य के दोषी हम अवश्य रहे। यदि पिता वैसे कुपथ्य न करता जिस से उस को और उस के सन्तान को कुष्ठ हुआ तब आप कहेंगे कि सन्तान भी कुष्ठी न होता फिर सन्तान के कर्म मानने व्यर्थ हैं तब हम कहते हैं कि जिन के माता पिता में कुष्ठादि नहीं क्या ऐसे किन्हीं मनुष्यों को नया कुष्ठादि असाध्य रोग नहीं होता ? यदि होता है तो सन्तान को कुष्ठ का दुःख मिलना अपने ही कर्मों का फल रहा। संसार में प्रत्यक्ष भी ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल सकेंगे कि जहां अपने किये कर्मों का अन्य के द्वारा फल मिलता है। कोई मनुष्य किसी की सेवा वा नौकरी करता है उस को अपने कर्म का वेतनफल स्वामी के दिये बिना नहीं मिलता वैसे निकृष्ट कर्मों का फल भी परमेश्वर किसी निमित्त द्वारा दिलाता है। और पिता इस लिये भी दोषी है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने क्रियमाण कर्मों को सुधारने, अच्छे कर्म करने, बुरे कर्मों से बचने का शास्त्र में आज्ञा है उस के अनुसार पिता ने क्यों ऐसे कुपथ्यादि किये जिन से स्वयं रोगी हुआ और सन्तान को भी रोगी बनाया। यदि कहो कि पिता कुष्ठी न होता तो भी सन्तान अपने कर्मानुसार नवीन कुष्ठ से दुःख भोगता तो इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक रोगों की जैसे औषधि बतायी गयी हैं वा यों कहो कि प्रत्येक दुःख के हटाने के उपाय वेद शास्त्र द्वारा बताये हैं तब यदि कोई रोग वा दुःख हो और उस का प्रतीकार करना जो न जाने वा दुःखनिवृत्ति का पूरा २ उद्योग न करे तो वही दोषी है। पूर्वजन्म के अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्मों से होने वाले दुःखों की निवृत्ति का उपाय भी बाल्यावस्था पर्यन्त करना पिता माता का ही काम है क्योंकि असमर्थ दशा में सन्तान अपने दुःखों को हटाने का कुछ भी उपाय नहीं कर सकता। सन्तान की सब प्रकार औषधि और रक्षा वा शिक्षा करना माता पिता का ही काम है यदि वे न करें वा न कर जानें तो दोषी हैं इसी लिये बड़ा हो कर पिता माता का प्रत्युपकार न करे तो वह सन्तान भी पापी वा दोषी माना जाता है। यदि प्रारब्धानुसार सन्तान का कुष्ठी होना निश्चित भी हो तथापि यदि माता पिता उस को सर्वथा नीरोग रखने के लिये अपने वा सन्तान के खान पान आदि द्वारा पूरा २ रक्षा का उद्योग करें तो सन्तान को प्रारब्धानुसार कुष्ठ होने पर भी इतना कम वा ऐसे प्रकार से कुष्ठ होगा जिस से दुर्बल और दुःखी न हो अर्थात् न होने के समान हो माना जावे तो माता पिता का

सन्तान के लिये क्रियमाण और सन्तान का प्रारब्ध दोनों सफल हो गये । जैसे किसी मनुष्य ने कोई ऐसा कुपथ्य किया जिस से उस को असाध्य रोग होने का कारण संचित हो गया फिर उस असाध्य रोग के प्रकट होने से पहिले वही मनुष्य वा उस का सम्बन्धी अन्य कोई सर्वथा नीरोग रहने के लिये अच्छे पथ्य के साथ रोगनाशक आरोग्यवर्द्धक वस्तुओं का सेवन करे तो उस निश्चित प्रारब्धरूप असाध्य रोग की जड़ ऐसे धीरे २ भोग हो कर कट जायगी कि जिस से भोगने वाले को इतना कम दुःख व्यापे जिस को वह दुःख ही न माने और प्रारब्ध भोग भी हो जावे । जैसे प्रत्येक मनुष्य वा प्रत्येक प्राणी के भीतर सदा ही किन्हीं रोगों के कारण संचित होते रहते हैं उन से विरुद्ध होने वाले पथ्यभक्षणादि से किन्हीं २ की निवृत्ति भी होती रहती है । अनेक कारणों से रोग भी क्षीण २ हो जाते हैं इस लिये प्रत्येक मनुष्य को सदा आरोग्यवर्द्धक और रोगनाशक उपाय करने की आज्ञा सार्थक ठहरती है इसी के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में ज्ञात वा अज्ञात अनेक पाप संचित हैं इसी लिये सदा उस को वेद की आज्ञानुसार कुसंस्काररूप पापों को हटाने और अच्छे संस्काररूप पुण्य का संचय करने के लिये उद्योग करना चाहिये जो ऐसा नहीं करता वह दोषी है अथवा जो यह मानता है कि मैं निष्पाप हूं वा मैं पुण्यात्मा हूं यह भी उसी का दोष है । इस से यह सिद्ध हो गया कि सन्तान को जो कुष्ठादि होते हैं वह उस के दृष्ट वा अदृष्ट कर्मों का फल है । यदि वह कुष्ठादि पिता के वा माता के रोगी होने के कारण हुआ हो तो माता पिता भी दोषी हैं । जहां किसी कार्य के होने में कई शामिल होते हैं तो वे सभी अच्छे वा बुरे फल के भागी माने जाते हैं । चोर के साथ में जो खड़े भी हों वा चोरी को जो सम्मति दें वे सभी चोर के तुल्य अपराधी माने जाते हैं । वैसे ही जहां पापी सन्तान हों वे माता पिता भी दूषित पापी होंगे और जहां माता पिता निकृष्ट होंगे वहां पूर्व के पापी सन्तान जन्मेंगे जैसे का तैसे ही से प्रायः मेल होता है । पुण्यात्माओं के अच्छे सन्तान होते हैं ॥

२–प्रश्न–आपण ने गरीब के ऊपर उपकार किया तो क्या माना जावे कारण जीव जैसी क्रिया करता है वैसा फल पाता है जो उस के कर्म का फल उस को मिला तो उपकार करने वाले को क्या लाभ ? और उस के ऊपर उपकार हुआ तो उसी गरीब को सिवाय कर्म के फल मिला ॥

उत्तर—किसी गरीब पर उपकार करना उपकार ही माना जायगा। उपकार करने वाले को अवश्य पुण्य होगा। किसी मनुष्य ने ऐसा कुपथ्य किया जिस से रोग हो कर अत्यन्तपीड़ित हो रहा हो और स्वयं उस रोग की निवृत्ति का उपाय जानता न हो वा जानता हो तो साधनों के न होने से हटा न सकता हो और कोई धर्मात्मा वैद्य उस को मिल जावे तथा ऐसी ओषधि देवे जिस से शीघ्र ही उस का दुःख निवृत्त हो तो जितना ही उस को सुख होगा वैसा ही वैद्य को पुण्य होगा। इस प्रकार के सन्देह जो लोगों को उत्पन्न होते हैं उस का कारण यह प्रतीत होता है कि कर्मों की व्यवस्था का ठीक २ बोध नहीं है अथवा कुछ है तो लोग इतना ही समझे हैं कि जो जैसा करता है उस को उतना ही फल भोग लेना पड़ता है बिना भोगे बीच में किसी का कोई दुःख निवृत्त नहीं हो सकता और यदि कुछ दुःख निवृत्त हो सकता है तो जिस ने जैसा किया है वैसा ही सुख दुःख उसे भोगने पड़ेगा यह सिद्धान्त नहीं ठहर सकता। इस का संक्षेप से समाधान यह है कि ये दोनों बातें सत्य हैं। जो जैसा करता सो तैसा फल पाता है इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जो करता है वही भोगता है अन्य के किये का फल अन्य को नहीं होता तथा नियतविपाक कर्मों का फल बिना भोगे भी नहीं छूटता अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं एक नियतविपाक जिनका फल अवश्य भोगने पड़ेगा जैसे असाध्यरोग और दूसरे अनियतविपाक हैं जिन के फल होने का नियम नहीं। जैसे कोई बीज तो ऐसे हैं जिन में उगने की प्रबल शक्ति है वे अवश्य उगते हैं तथा कोई ऐसे हैं जो अनुकूल जल पृथिवी आदि के मिलने और प्रतिकूल उगने के विरोधी कारणों के अभाव में किसी प्रकार सर पच के उग जाते और प्रतिकूल कारणों के दबा देने से नहीं उगते बीज शक्ति भी नष्ट हो जाती है। वैसे ही नियतविपाक कर्मों का अवश्य फल होता है और अनियतविपाक कर्मों का फल कुछ हुआ तो हुआ और कोई विरोधी औषधादि मिल गया तो कुछ नहीं होता जैसे नियतविपाक असाध्य रोगों की ओषधि करने से यद्यपि रोग सर्वथा निर्मूल न हो जावे तो भी जैसा रोगनाशक प्रबल उपाय होगा वैसा ही रोग के निर्बल होने से दुःख कम होता जायगा। असाध्य रोग को दबाने का यहां तक उपाय हो सकता है कि वह इतना निर्बल और कम पड़ जावे कि जिस से वह असाध्यरोग वाला अपने को रोगी भी न माने न अन्य लोग उस को रोगी कहें वा मानें। इसी के अनुसार

असाध्य कुछ नहीं ठहरता जो जिस की शक्ति से बाहर है जिस उपाय वा काम को जो नहीं कर सकता वही उस के लिये असाध्य है । असाध्य और नियतविपाक प्रारब्ध एक ही बात है इसी से क्रियमाण वा संस्कार प्रबल ठहरता है । आज कल प्रारब्धवाद के लोक में अत्यन्त प्रबल हो जाने के कारण ऐसी ऐसी शंका अधिक उत्पन्न होती हैं । प्रारब्ध को सर्वांशों में सर्वोपरि प्रबल मानें तो कोई मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता किसी गरीब का उपकार होना है वा नहीं इस को तो अलग रहने दो प्रथम तुम्हीं कुछ नहीं कर सकते किसी रोग की औषधि न करनी चाहिये घर में दीपक जलाना व्यर्थ है किसी से विद्याशिक्षा लेना कोई पुस्तक पढ़ना धर्मोपदेशग्रहण करना तथा वेदादिशास्त्रों का उपदेश कि ऐसा करो ऐसा न करो इत्यादि सभी व्यर्थ है क्योंकि यदि इन सब से कुछ उपकार होता है तो जैसे पहिले कर्म किये विना फल मिलना चाहिये यह नहीं रहा और यदि पहिले के अनुसार ही सब होता है तो अब कुछ नहीं करना चाहिये । इसलिये यह सिद्धान्त यों मानना चाहिये कि पूर्वसञ्चित पाप पुण्यों का फल वर्त्तमान के कर्मों को मिला कर होता है जैसे किसी ने कोई कुपथ्य किया उस के संचित रोग कारण को जब तक कोई सहायक अन्य कुपथ्य नहीं मिलता तब तक वह पूर्वसंचित कुपथ्य रोग नहीं करेगा । यदि उस से विरुद्ध पथ्य करने लगे तो वह रोग का संचित कारण धीरे २ नष्ट हो जायगा । इसी प्रकार पूर्व के सञ्चित कर्मों को जगाने के लिये वैसे ही कर्म वर्त्तमान में हों तो फल होगा विरुद्ध होने से पहिला पड़ा रहेगा परन्तु दोनों में जो प्रबल पड़ जायगा उस का भोग होगा पहिला प्रारब्ध कहीं प्रबल है तो उस से विरुद्ध काम करने पर भी पहिले का ही भोग होगा । पर अधिकांश यही है कि प्रारब्ध और क्रियमाण दोनों को मिला कर भोग होता है । इस से जैसा करता है जैसा किया है और जैसा करेगा वैसा फल मिलेगा यह मानना चाहिये किन्तु यह नहीं कि जैसा किया है वैसा ही मिले । कर्म व्यवस्था को अलौकिक नहीं मानना चाहिये लोक में प्रत्यक्ष जैसे रोगादिक के विषय में फलों के होने की व्यवस्था होती है वैसे ही जन्मान्तरीय कर्मों में भी जानें । जैसे किसी ने परिश्रम से संचित कर के कुछ धन कहीं गाड़ दिया वह उस को शुभ फल मिलने के लिये संचितकर्म है पर यदि उस को अन्य कोई चोरादि ले जावे तो नहीं । ऐसे ही प्रत्येक प्रारब्ध कर्म के साथ इतना लगा लेना चाहिये कि यदि आनियतविपाक कर्म है तब

तो सर्वथा ही दुःख निवृत्ति का उपाय सार्थक है और यदि नियतविपाक कर्म है तो क्रियमाण से भावी दुःख निर्बल वा कम हो जायगा। और किया कर्म भोगना अवश्य पड़ेगा। इस के साथ यों लगा लेना चाहिये कि यदि रोग हटाने की औषधि न करेगा वा व्यर्थ के स्नानदर्शनादि से छुड़ाना चाहेगा तो छूटेगा नहीं उस कर्म को भोगने पड़ेगा। संसार में ऐसा कोई सामान्य वा उत्सर्ग नहीं जिस का विशेष अंश में कहीं कोई अपवाद बाधक न हो इस लिये जितने सामान्य नियम हैं उन सब में न कहने पर भी अपवाद का अंश पहिले से छोड़ देना पड़ता है जैसे कोई कहे कि "प्रातःकाल मथुरा को अवश्य जाऊंगा, यदि उसी समय कोई ऐसी रुकावट हो जिस से रुकने ही पड़े तो न जाऊंगा" यह अपवाद है वैसे ही यदि पाप छुड़ाने का कोई विशेष उपाय न किया जाय तो नियतविपाक कर्म का फल भोगने ही पड़ेगा। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" किया हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ेगा इस का स्पष्ट अभिप्राय है कि तुम बुरा कर्म करके दुःख से न बचोगे। यदि प्रायश्चित्तादि उपाय से छुड़ाओगे तो वह भी एक प्रकार का भोग है। किसी गरीब का कोई दुःख छुड़ावे तो छुड़ाने वाले को पुण्य अवश्य हुआ पर जैसा ही उस दीन का दुःख छूटा वैसा उस पर दुःख छुड़ाने वाले का कुछ ऋण भी हो गया उस ऋण को न चुकावे तो ऋणी होने से पापी रहेगा और प्रत्युपकार करके ऋण छुड़ावे गा तो वह भी एक प्रकार का फल भोग है। इस से उपकार वा लाभ होना और कर्त्ता को अपने किये का अवश्य फल मिलना दोनों ही बातें सत्य हैं॥

३-प्रश्न-जो जीव पाप कर्मों का फल दुःख भोगता है तो उस को यह ईश्वर के तरफ़ से शिक्षा सज़ा है फिर आपस में उस को दुःख से छुड़ाने का उपाय क्यों करना॥

उ०-ईश्वरीय नियमानुसार अपने कर्म का फल भोगता है। ईश्वर ने यह आज्ञा नहीं दी कि अपने कर्म का दुःख फल भोगता हो उस को दुःख से मत बचाओ किन्तु वेद में यह आज्ञा अवश्य दी है कि परोपकार करो दुःख से बचाओ "देहि मे ददामि ते" तुम मुझ को और मैं तुमको सुख हेतु पदार्थ देवें जिस से परस्पर का उपकार हो इस प्रश्न का विशेष उत्तर पूर्व आ चुका।

ये तीन प्रश्न एक महाशय के थे जिन का संक्षेप से उत्तर लिख दिया अब एक महाशय का एक प्रश्न बड़ा लम्बीभूत है उस का भी थोड़ा सा उत्तर लिखते हैं।

प्रश्न—जीव और ईश्वर की सिद्धि निम्नलिखित हेतुओं से नहीं होती इस से पुनर्जन्मविषयक विवाद ही निर्मूल है। यथा—

१—ईश्वर की आवश्यकता पूर्वकृत कर्मों के भोगाने के लिये है। २—जीव की कर्म भोग कराने के लिये है। परन्तु जीव कोई संयोगजन्य पदार्थ से अन्य सिद्ध ही नहीं क्योंकि जब हम एक गुलाब, मुनक्का के अनेक खण्ड कर और पृथक् २ लगाते हैं वह सब ही अनेक जीव वृक्ष हो जाते हैं। इस से एक जीव के अंशरूप अनेक जीव कैसे हो गये ईश्वर से अतिरिक्त मनुष्यों ने उस एक वृक्ष के अनेक वृक्ष कैसे कर दिये इस से सिद्ध है कि जीव नाम संयोग से उत्पन्न हुई एक शक्ति का है और वह अपने तारतम्य के कारण अनेक रूप में रहती है जैसे कि मिर्च और मिश्री मिलावे तो उस में एक संयोग से उत्पन्न रस गुण वीर्य विपाक प्रभाव आदि पृथक् २ ही रहेंगे और काल के प्रभाव से न्यूनाधिक भी होते जावेंगे यही दशा जीव की जानो। ईश्वर विषय में तो एक बड़ी हंसी की बात यह कही कि पहले पहिल सृष्टि में कोई एक ईश्वर नाम हुआ था उसने सब वस्तु स्थावर जंगम के बीज मिलाकर स्थूल कर दिया देखो अब उन्हीं वीर्य बीजों में गेहूं से गेहूं जौ से जौ मनुष्य से मनुष्य होते जाते हैं और कभी २ गधी घोड़े से खच्चर, जौ को लहसुन के मध्य में बोय कर गाड़ने से दूंदूना का वृक्ष, तूमा को तीन बार उलटा के गाड़ने से बेला का वृक्ष आदि आप से आप हो जाते हैं इस से अब ईश्वर की आवश्यकता न रही और ईश्वर मर गया अब है भी नहीं जीव तो माता पिता के रज वीर्य के मिलने से उत्पन्न हो जाता है यदि क्षेत्रादि साधन शुद्ध हों जैसे गेहूं आदि के बीज जातरूप पृथिवी में पड़ के जमते हैं यदि भूमि ऊषर आदि गुणवती न हो और बीज भी घुना न हो तो। परन्तु एक आश्चर्य है कि वीर्य एक ही छोड़ा जाता है खेत में यहां माता पिता दोनों के वीर्य पतित होते हैं रति समय तो क्या वह दोनों वीर्य और रज मिल कर शरीररूप जीव बनता है यहां दो वीर्यों के मिलने का क्या कारण कभी २ स्वप्न में स्त्री हो का वीर्य पात होता वही अपान वायु से खींचा गर्भाशय में मूढगर्भ हो जाता है और अनस्थि उत्पन्न होता यहां बीज का भी अनियम हो गया इस प्रकार कभी नियम से कभी अनियम से पदार्थ मिल कर जीव होते और भिन्न २ होकर जीवशक्ति का ह्रास होता है इस से संयोगजन्य पदार्थ से भिन्न जीव वा ईश्वर कोई नहीं यह उन नास्तिकों का सिद्धान्त है।

उत्तर-पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये ईश्वर के सिद्ध करने की ऐसी आवश्यकता नहीं जैसी कि जीवात्मा के सिद्ध होने की आवश्यकता है यदि जीवात्मा कोई अनादि वस्तु न ठहरे तो सब विवाद बिना नींव की भित्ति के समान अवश्य है परन्तु ईश्वर के मानने की आवश्यकता पूर्वकृत कर्म फल भुगाने के लिये ही नहीं है किन्तु परमेश्वर के मुख्यकर तीन काम हैं कि जो "जन्माद्यस्य यतः" इस वेदान्त सूत्र में दिखाये हैं। इस जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय जिस से होते हैं ऐसे बड़े चित्र विचित्र ब्रह्माण्ड को जो बनाता और बना कर बराबर नियमानुसार स्थिर रखता और रात्रि के समान नियत समय हरबार होने वाले प्रलय समय में जो सब को अपने कारण में लय करता वह परमेश्वर वा ब्रह्म है। जैसे बड़े ये तीनों काम हैं इन के लिये वैसे ही सर्वशक्तिमान् अनादि अनन्त परमात्मा को मानने की आवश्यकता है। जो ईश्वर को नहीं मानता उस के लिये यदि कोई ऐसा दृष्टान्त मिल सके कि ईक्षण पूर्वक वा किसी प्रकार के नियमों से युक्त पदार्थ जगत् में विना कर्त्ता के कहे बना सिद्ध हो जावे तो अनीश्वरवादी को कुछ कहने का अवसर मिल सकता है। हम देखते हैं कि बागों में जहां पलवार लगाकर इतना २ बीच देकर आम वा अन्य वृक्ष नियम वा क्रम से खड़े होते हैं वैसा नियम वा क्रम जङ्गलों वा बनों में कहीं भी नहीं दीखता। इस सृष्टि में भी सूर्य वा चन्द्रादि की रचना का एक बड़ा नियम वा क्रम प्रत्यक्ष विद्यमान है उस से जो नियन्ता वा कर्त्ता सिद्ध होता है वह विद्वानों से अधिक विद्वान् सब बलिष्ठों से भी बलिष्ठ है उस को अनीश्वरवादी नहीं हटा सकता। पूर्वोक्त संसार के सर्वोपरि बड़े अनन्यसाध्य कामों में मनुष्यादि को पूर्वजन्मकृत कर्मफल भुगाना भी परमेश्वर का काम आजाता है इस विषय पर अधिक विचार लिखना प्रकरणान्तर है इस लिये ईश्वर की सिद्धि में यहां अधिक नहीं लिखेंगे।

अब जीव विषयक प्रश्न का उत्तर यह है कि संयोगजन्य पदार्थ सब अनित्य नाशवान् होते हैं। जीवात्मा के नित्य होने का विचार हम पहिले लिख चुके हैं और अनेक युक्तियों से सिद्ध हो चुका कि जीवात्मा नित्य पदार्थ है उस का यहां फिर लिखना पिष्टपेषणवत् व्यर्थ होगा। अब रहा गुलाब वा मुनक्का के खण्ड २ कर लगाने से अनेक जीवों का वृक्ष हो जाना इस का भी उत्तर स्थावर सम्बन्धी जीव विचार विषय में आचुका है वहां सारांश यही लिखा गया है कि

यद्यपि जीव और बीज शब्दों का अति निकट सम्बन्ध है एक अक्षर की लौट फेर होने से बीज का जीव हो जाता है जो शरीर वा वृक्षादि बीज से बनते उन में जीव रहता है जिन में जीव रहता है वे सब बीज से बनते हैं बीज में वह शक्ति है जिस से आत्मा जीवित रहता है जीवन शरीर में होता है जीवन प्राणधारण दोनों का एक ही अर्थ है । शरीर में रहकर प्राणधारण करने से ही आत्मा का जीव नाम है । डिपटी वा मुंसिफ़ आदि का काम छोड़ देने पर घर बैठे भी जैसे अनेक लोग डिपटी वा मुंसिफ़ आदि नामों से पुकारे जाते हैं वैसे शरीर छोड़ने पर भी आत्मा का नाम जीव वा जीवात्मा बना रहता है । इस प्रकार बीज से जीव का अति निकट मेल है तथापि बीज जीव नहीं किन्तु दोनों भिन्न २ हैं वा यों कहो कि बीज में जीव नहीं है किन्तु बीज बोने के पश्चात् अपने कर्मानुसार जीव उस में प्रवेश करता है इसी लिये सुश्रुत के शारीरस्थान में गर्भाधान होने पश्चात् जीव का प्रवेश लिखा है । जैसे आम निम्ब आदि का एक २ बीज भिन्न २ होता वैसे किन्हीं स्थावरों की लकड़ी वा डाली में बीज शक्ति होती है उन वस्तुओं के प्रत्येक खण्ड वा टुकड़े एक २ बीज है जितने खण्ड उस के जम सकते हैं उतने ही उन गुलाब आदि में बीज हैं किन्तु वे जीव के खण्ड नहीं बीज के हैं जीव और बीज भिन्न २ वस्तु हैं गुलाब आदि के भिन्न २ बीजरूप खण्ड बोने पर उस प्रत्येक में एक २ जीव पीछे से प्रवेश करता है तब वे बीज वृक्षरूप बनते हैं किन्तु जीव वृक्षरूप नहीं बनता जीव वृक्षादि में भी तमोगुण से आच्छादित व्याप्त हो कर अखण्डरूप से रहता है शरीर वा वृक्षादि का भी जीव नाम नहीं है किन्तु शरीर और वृ-क्षादि में जीव अपने भिन्नरूप से रहता है । गुलाब आदि स्थावरों के खण्डों को जीव के खण्ड मानना भूल है । जैसे ईश्वरीय नियमों के अनुसार प्रत्येक आम आदि के वृक्ष में अनेक फल लगते अनेक बीज होते और वे सब बीज वा फल वृक्ष के अवयव कहे जा सकते हैं वैसे जिन वृक्षों की लकड़ी वा डाली ही बीज रूप है उन के जितने टुकड़े उग सकते हैं वे सब भी ईश्वरीय नियमानुसार उस वृक्ष के बीज हैं मनुष्य ईश्वर के नियमों से विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता जिस ईख आदि की एक गांठ वाली एक पोई काटकर बोने से उगती है उस एक पोई के मनुष्य कई टुकड़े करके बोये जिन एक २ में गांठ किसी में न हो तो वे एक भी टुकड़े न उगेंगे । जिस के जितने बड़े खण्ड में बीज शक्ति है उतना

गताङ्क पृ० १२० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर ॥

रुद्र देवता लिखना उपक्रमणिका के भी अनुकूल है और रुद्र न लिख कर सेनापति लिखते तो सेनापति के अतिरिक्त रौद्र गुण वाली स्त्री, अश्व, अश्वपति आदि भिन्न २ देवता लिखने पड़ते रुद्र कहने से सब का ग्रहण होता है अतः रुद्रदेवता ही लिखना ठीक है अन्य नहीं ॥

(घ)—इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने॥ अषाढाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥ इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायान्नवतेऽषाढायान्नैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण आयुधमायोधनात्तस्यैषा परा भवति ॥ निरुक्तदैवतकाण्ड । अ० १० पा० १ खं० ६ ॥

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृढ धनुषधारी आदि विशेषणों वाले रुद्र देवता हैं ।

उत्तर—यह तो हम भी स्वीकार करते हैं कि रौद्र गुणयुक्त स्त्री पुरुष आदि रुद्रदेवतापदवाच्य हैं इस के विरुद्ध आप कुछ सिद्ध करें तो हम को लिखने की आवश्यकता है नहीं तो हमारे पक्ष में तो प्रत्यक्ष धनुषधारी आदि का देवतापन रुद्रपन अभीष्ट है अतएव इस के खण्डन की आवश्यकता नहीं ॥

(ङ)—जैसे इन्द्र का वज्रायुध, अर्जुन का गाण्डीव धनुष्, आदि सब मनुष्य वा देवतों के आयुध प्रसिद्ध हैं इस प्रकार पिनाक धनुष् शिव जी का ही प्रसिद्ध है किसी मनुष्य का नहीं ।

उत्तर——इन्द्रादि देवतों के वज्रायुधादि आयुधविशेष होने से हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आता क्योंकि जैसे इन्द्र नाम सूर्य्य का वज्र नाम बिजुली शस्त्र है उसी के द्वारा वह वृत्र अर्थात् मेघों को हनन करता है तथा पर्वतों अर्थात् मेघों को तोड़ता फोड़ता है इसी प्रकार अन्य दिव्यगुणयुक्त पदार्थों में भी सूर्य्य में बिजुली के समान ऐसी शक्ति वा सामर्थ्यरूप आयुध हैं जो उन २ देवताओं के विशेष आयुध प्रसिद्ध हैं । कदाचित् साधुसिंह जी को यह शङ्का हो कि उक्त निरुक्त में भिन्न २ देवतों के भिन्न २ आयुध होने सिद्ध हैं तब चक्रवर्त्ती राजा आदि अर्थ में मनुष्य के आयुध विशेष कैसे संघटित होंगे ? । इस का उत्तर यह है कि उपरोक्त निरुक्त कुछ इसी यजुर्मन्त्र के ऊपर नहीं है किन्तु

सामान्य इन्द्रदेवता आदि के वज्रादि आयुधों का प्रतिपादक है इस से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि रुद्रत्व गुणयुक्त स्त्री वा पुरुष हो तो उस के आयुधों का वह नाम न हो। किन्तु जिस २ पदार्थ वा मनुष्यादि में जितना २ रुद्रत्व है उस २ के आयुध में उतना २ पिनाकत्व है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ॥

(च)-इन्द्राय स्वाहा। शचीपतये स्वाहा। वज्रभणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशमनाय स्वाहा ॥ यमाय स्वाहा। प्रेताधिपतये स्वाहा। दण्डपाणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशम० ॥ वैश्रवणाय स्वाहा। यक्षाधिपतये स्वाहा। हिरण्यपाणये स्वाहा। ईश्वराय स्वाहा। सर्वपापशम० ॥

इत्यादि षड्विंश ब्राह्मण में उस २ देवता के भिन्न २ आयुध लिखे हैं वैसे ही पिनाक शिव का धनुष् है मनुष्य का नहीं ॥

उत्तर—ऊपर लिखे षड्विंश ब्राह्मण में भी जो भिन्न २ देवतों के साथ भिन्न २ आयुधों का वर्णन है इस का भी वही उत्तर है कि वे २ देवता जिस २ मनुष्य आदि में वास करते हों अर्थात् जो २ मनुष्यादि उस २ प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त हो उस २ मनुष्यादि का भी वह २ आयुध समझना चाहिये इसी लिये कुछ विशेष उत्तर लिखने की आवश्यकता नहीं ॥

(छ)-इन्द्र ज्येष्ठन्न आभर ओजिष्ठं पपुरिश्रवः। यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥ सामवेद आरण्यसंहिता मं० १॥

इस में इन्द्र को वज्रहस्त स्पष्ट लिखा है अतएव सिद्ध हुआ कि भिन्न २ देवतों के भिन्न २ आयुध हैं और पिनाक धनुष् किसी क्षत्रिय विशेष का प्रसिद्ध नहीं अतएव सेनापति का अर्थ करना ठीक नहीं ॥

उत्तर—इस साम आरण्यक में भी जो इन्द्र का वज्रायुध लिखा है इस पर हमारी ओर से वही समाधान है कि स्वामी जी ने भी किसी क्षत्रिय विशेष का नाम रुद्र नहीं माना, न वेद में कहीं किसी विशेष ब्राह्मण क्षत्रिय के नाम हैं किन्तु सामान्य यौगिकार्थ से जिस २ क्षत्रियादि में रुद्रत्वादि गुण हों उस २ के आयुध का नाम पिनाकादि जानना चाहिये। स्वामी जी ने युधिष्ठिरादि किसी विशेष क्षत्रियपरक अर्थ तो नहीं किया जो उस के पिनाकादि आयुध विशेष

प्रसिद्ध न होने से शङ्का होती । सामान्यार्थ में लोक प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं होती ॥

(ज)-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् । महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १ ॥

इस भाष्य के अनुसार व्याख्यान से विशेष निश्चय करने से नमः शब्द जिस का ग्रहण—

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २ । ३ । १६

इस पाणिनीय सूत्र में किया है और जिस के योग में चतुर्थी विभक्ति का विधान इष्ट है वह नमः शब्द पूजार्थ है, अन्न वज्र आदि णम् धातु से लाक्षणिक बनाये गये नमस् शब्द के अर्थ हैं इस लिये—

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ।

महाभाष्य । अ० १ पा० १ । सूत्र १५ आ० ५॥ के अनुसार प्रतिपदोक्त—पूजार्थ नमः शब्द के योग में ही पूर्व सूत्र से चतुर्थी होती है अन्नादि लाक्षणिकार्थ वाले नमः के योग में नहीं ॥

उत्तर—इस से पूर्व हम प्रश्न (ख) के उत्तर में सिद्ध कर चुके हैं कि यदि पूजार्थक नमः शब्द के योग में ही चतुर्थी विभक्ति का विधान होता तो—

अन्नमस्मै संभराम । इत्यादि । शतपथ ९ । १ । १ । २

के अनुसार जब अन्नार्थ लेना सिद्ध है तो क्या शतपथ कार को यह ज्ञान न था कि अन्नार्थक नमः पद के योग में चतुर्थी नहीं होती और मूल मन्त्रों में चतुर्थ्यन्त पद हैं तो हम नमः पद को अन्न वाचक क्यों लिखें ? यथार्थ में—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्—इस परिभाषा के अनुसार कभी कहीं भी महाभाष्यादि कृत ऐसा व्याख्यान नहीं है कि पूजार्थक के अतिरिक्त अन्यार्थ वाचक नमः पद के योग में चतुर्थी न हो और यदि आप के कहने से विना किसी आर्षग्रन्थ के प्रमाण के भी हम यह मानलें कि पूजार्थक नमः पद के ही योग में चतुर्थी विभक्ति का विधान है अन्य अर्थवाले नमः पद के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती । तो भी हमारी कोई हानि नहीं क्योंकि अन्न से भी तो पूजा सत्कार ही होता है तब तो यह कहावत हुई " भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" लहसुन खा कर धर्मभ्रष्ट भी हुवे और रोग भी न गया अर्थात्

व्याकरण विरुद्ध यह कल्पना भी खड़ी की कि पूजार्थक के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थवाले नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती और हम विपक्षियों ने इस कपोलकल्पना को दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया तथापि मन्त्रार्थ में पूजार्थ बना रहने से साधुसिंह जी की साधुता न चल सकी ॥

(क)—"देवान् नमस्यति" इस प्रयोग पर भाष्य में शंका की है कि यहां नमस् के योग में देवेभ्यः ऐसा चतुर्थ्यन्त प्रयोग होना चाहिये देवान् ऐसा द्वितीयान्त नहीं—इस का समाधान यह किया है कि—

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ३ । १ । १९

इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है कि—"नमसः पूजायाम्—" नमस् शब्द से पूजार्थ में क्यच् हो—इस से यद्यपि पूजार्थक नमः शब्द से क्यच् विधान है और पूजार्थ नमः शब्द के योग में उपपद विभक्ति चतुर्थी होती परन्तु—"उपपद विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इस नियमानुसार द्वितीया हो जाती है तथा जहां दो सूत्र प्राप्त होते हैं, वहां पर कार्य होता है इस से भी पर होने से चतुर्थी प्राप्त है परन्तु नमस्यति क्रिया में जहत्स्वार्थावृत्ति पक्ष लेकर नमस् शब्द सार्थक स्वतन्त्र नहीं किन्तु नमस् इतना प्रकृति भाग है और क्यच् तिप् (यति) प्रत्यय भाग है अतएव नमस्यति इतना एक शब्द होने से नमस् शब्द स्वतन्त्र पूजार्थ नहीं इसलिये "देवान् नमस्यति" में द्वितीया होती है चतुर्थी नहीं ॥

उत्तर—नमस्यति और नमः पदों में यथार्थ में बड़ा भेद है । नमस्यति क्रियापद में जो "नमस्" है वह यथार्थ में स्वतन्त्र कोई पद नहीं किन्तु नमस्यति क्रियापद का प्रकृतिभाग नमस्=यति इतना प्रत्यय भाग है इस दशा में चाहे पूजार्थक नमस्यति हो वा अन्यार्थ परन्तु उस के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं हो सकती क्योंकि नमस् यह कोई पद नहीं किन्तु पद का अर्ध प्रकृति भाग है तब—न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः—इस परिभाषानुसार प्रकृति प्रत्यय दोनों मिलकर अर्थ देते हैं एकली प्रकृति वा एकले प्रत्यय में पूजा अन्न वज्र आदि कुछ भी अर्थ नहीं निकल सकता तो निरर्थक नमस् के योग में यथार्थ में चतुर्थी विभक्ति कैसे होती किन्तु जैसा भाष्यकार ने कारक विभक्ति होने से "नमस्यति" के कर्मकारक "देवान्" पद में द्वितीया होनी सिद्ध की है सो तो ठीक है परन्तु इस से पूजार्थक अपूजार्थक नमः पद का विवाद कुछ सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि मन्त्र में नमः पद और उस के योग

में चतुर्थी पठित है । न तो मन्त्र में नमस्यति क्रिया है न उस के कर्मकारक में " देवान् " यह पद है तब इस प्रकरण पर यह विवाद लिखना ही वृथा पाण्डित्य बरबाद करना है ॥

(ज)-"वाहगुरु" शब्द का अर्थ यह है ।

वाहयन्ति जगत्कार्य्यमुत्पत्तिपालनासंहाररूपमिति वाहा ब्रह्मादयस्तेषां गुरुरुपदेष्टा परमेश्वरो वाहगुरुः ॥

अर्थात् जगत् उत्पत्ति स्थिति प्रलय के वाहक ब्रह्मादिकों का गुरु होने से वह परमेश्वर "वाहगुरु" है ॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ।

योगसूत्र २६ पा० १॥ इस सूत्र से भी परमेश्वर को पूर्वों का गुरु कहा है । वादी का यह तर्क कि-

वाहयन्ति भारमिति वाहाः पश्वादयस्तेषां गुरुः वाहगुरुः ।

खण्डित है क्योंकि स्वा० दया० ने-

वेवेष्टि चराचरं जगत्स विष्णुः ।

ऐसी व्युत्पत्ति कर के विष्णुशब्द ईश्वर वाचक सिद्ध किया है तो हम पूंछते हैं कि क्या " वेवेष्टि सर्वेषु प्राणिषु स विष्णुः कामादिः । सब प्राणियों में व्याप्त होने से काम क्रोधादि की विष्णु संज्ञा क्यों नहीं हो जाती इस का उत्तर यही दोगे कि "व्याख्यानतो विशेषप्रति०" अर्थात् व्याख्यान से परमेश्वर का बोध होगा तो हम कहते हैं कि इसी प्रकार व्याख्यान से वाहगुरु भी ईश्वरवाचक है भारवाहगुरु वाचक नहीं ॥

उत्तर—हम को इस प्रश्न का उत्तर देते हंसी आती है क्योंकि आज कल के पण्डितों की पण्डिताई हिन्दू शब्द को संस्कृत ठहराने तथा वाहगुरु की व्युत्पत्ति करने में ही पूर्णता को पहुंचती दिखाई देती है हम पूंछते हैं कि क्या किसी संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ में वाहगुरु शब्द आया है ?, जिस का आप अर्थ संस्कृत में करते हैं विष्णु शब्द तो वेदादि सभी सच्छास्त्रों में ईश्वरादि वाचक सदा से प्रसिद्ध है । दूसरा प्रश्न यह है कि आप सत्यार्थविवेक पुस्तक तो सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में ही बनाते हैं सो जब कि वाहगुरु वाक्य का आप के समान

निन्दितार्थ स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने कहीं भी सत्यार्थप्रकाश में नहीं लिखा तब वृथा पक्ष खड़ा करना भी निष्फल है वा नहीं ? । तीसरी बात यह भी विचारणीय है "वाहगुरु" वाक्य यथार्थ में अधूरा सिद्ध किया पूर्ण वाक्य सिक्ख लोगों में प्रसिद्ध है कि "वाहगुरु दी फतह" यथार्थ में यह वाक्य संस्कृत भी नहीं किन्तु स्पष्ट पंजाबी भाषा का है क्योंकि गुरुनानक जी पंजाब में हुवे और उन का मत विशेष कर पंजाब में प्रचलित हुआ इस कारण अपनी पंजाबी भाषा में सिक्खों का यह वाक्य है कि "वाहगुरु दी फतेह" और सिक्खों के निवास स्थान पंजाब देश का यवन देश से सीमा सम्बन्ध है इस कारण वहां की भाषा में फारसी शब्द भी अधिक सम्मिलित हो गये हैं इसी से इस वाक्य में "फतह" शब्द विजय का वाचक फारसी शब्द है । यदि ऐसी ही पण्डिताई उमड़ती थी तो पूर्णवाक्य "वाह गुरु दा खालसा, वाह गुरु दी फतह" को संस्कृत सिद्ध करना था सोभी न कर सके । सिक्खों से यदि पूछा जाय कि "वाह गुरु दी फतह" का क्या अर्थ आप लोग समझते हैं तो आबालवृद्ध यही उत्तर मिलेगा कि "धन्य गुरु का विजय" यह तात्पर्य है इस दशा में सिक्खों के अभिप्राय से भी आप का अर्थ विरुद्ध है ॥

सत्यार्थविवेक पृ० ७३

अथ वादी का मतान्तर प्रवेश तथा निरुक्त मन्त्र प्रमाण कर के देवता प्रभाव तथा निरूपितार्थानुवाद और ऋग्वेद मन्त्रादि कर के शंकर मत को वैदिकत्व निरूपण पूर्वक वादि मत को अवैदिकत्व निरूपण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—क्या दयानन्द ऐसा अव्युत्पन्न तो न था जो नमः शब्द के विवेचन को भी न जानता क्योंकि दयानन्द ने तो व्यवहार में भी परस्पर बड़े छोटे में नमस्ते शब्द का प्रयोग कराया है और नमस्ते शब्द का अर्थ तो महाभाष्यकार पतंजलि जी के मत से यह होता है जो मैं तेरे से निकृष्ट नाम नीचा हूं तो क्या दयानन्द के अनुयायी सम्पूर्ण अपने मुख से नीच बनते हैं क्योंकि अन्न आदि अर्थ तो नमस्ते शब्द में हो नहीं सक्ता क्योंकि चतुर्थी विभक्ति नमः शब्द के नति अर्थ का बोधक देखी जाती है ॥ उत्तर—हे तो वार्त्ता अवचनीय परन्तु प्रश्न का उत्तर तो लिखना चाहिये दयानन्द जब किसी के जाल में फंस गया तब उस ने कहा जो तुम हमारे मत का प्रचार करो तब दयानन्द ने कहा जो मैं स्पष्ट होकर तुम्हारे मत का प्रचार करूंगा तो सम्पूर्ण लोक एक संग चौंक कर मेरे

उपदेश में से प्रच्युत हो जायंगे धीरे२ होगा तब उसने कहा तो हम कैसे जानेंगे जो हमारा मत तूं प्रचार करेगा तो दयानन्द उस मतान्तर वाले पुरुष से पूछा जो तुम अपना आशय कहो तुम्हारे मत में जैसे प्रविष्ट हो जायें तो उस मतान्तरवर्ती पुरुष ने कहा जो हम यह चाहते हैं जो इन का तीर्थ देवता श्राद्ध तर्पण आदि से चित्त उत्थान हो जाय तब दयानन्द ने कहा जो तीर्थ आदि से उत्थान करा दूंगा क्योंकि जब अपने मुख से ही नीचता का अनुसन्धान करेंगे तो कहीं तक नहीं छोड़ेंगे इस वास्ते सब छोटे बड़े यवनादि तक नमस्ते प्रयोग कराया यह वार्ता मैंने अनुमान से कहा करी है क्योंकि दयानन्द के मुख से सुना हैं जो यह कहता था—गंगातीरं न त्यजामि और शिवः कैलाशे तिष्ठति और नमस्ते भी उस समय में न था पीछे पाच शरीर का पास रैल की सवारी वास्ते हो गया सो भी मैंने देखा और वेद पुस्तक देख कर भी देवताओं का निषेध करा क्योंकि वेद मन्त्रों में अनन्त देवता प्रतीत होते हैं सो पूर्व दिखलाय दिये औरएक मन्त्र और भी दिखलाता हूं जिस से देवता स्पष्ट प्रतीत हों ॥

उत्तर—यह कहा करना कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने दूसरे ईसाई आदिमत के प्रचारार्थ तीर्थ देवता आदि का खण्डन करना स्वीकार किया निरी निर्मूल है क्योंकि ईसाई वा मुसल्मान आदि मतों का सत्यार्थप्रकाश में जिस प्रबलता से खण्डन किया है वह किसी से छिपा नहीं। रही यह बात कि नमस्ते का अर्थ यह है कि "मै तुम से नीच हूं" प्रथम तो वेद में स्पष्ट कहा है कि—

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो वृहते च वर्षीयसे च--इत्यादि

यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र ३० अर्थ—नमस्कार छोटे के लिये और नमस्कार बड़े के लिये---इत्यादि तब छोटे बड़े सब एक दूसरे को नमस्ते करें तो यह व्यवहार वेदानुकूल है द्वितीय संस्कारविधि में स्वामी जी ने आचार्य्य के प्रति शिष्य को "अभिवादयेऽमुकशर्माऽहं भोः" इत्यादि वाक्यों द्वारा अभिवादन भी लिखा ही है परन्तु नमस्ते वाक्य को सामान्य दशा में समानधर्मावलम्बी होने से सब सब को करें किन्तु आचार्य्य माता पिता शिष्य पुत्र पुत्री आदि को अभिवादन आशीर्वाद आदि करें ऐसा विधान स्वामी जीकृत ग्रन्थों से स्पष्ट सिद्ध है। और "मै तुम से नीच हूं" यह अर्थ "नमस्ते" इन पदों से किसी रीति से निकल भी नहीं सक्ता किन्तु "ते" आप के लिये "नमः" नमस्कार यह सत्कार सूचक वाक्य

हुआ तथापि यदि "चाद्रीभद्रं न पश्यति" के अनुसार साधुसिंह जी कहैं कि हमें अक्षरार्थ से क्या काम इस कारण यदि उन का लिखा अर्थ ही मान लिया जावे कि "मैं तुम से नीच हूं" तौ भी एक प्रकार से यह वाक्य एक के प्रति दूसरे के अभिमान को दूर कराके परस्पर प्रेम तथा भ्रातृभाव का उत्पादक है जिस की मनुष्यमात्र को बड़ी आवश्यकता है जिस प्रेम और भ्रातृभाव के अभाव से आज संसार में कटाकटी मची है उस की कितनी आवश्यकता है और अभिमान पिशाच के दूर करने की भी कितनी अधिक आवश्यकता है यह बात निरभिमान लोकोपकारी सज्जन ही जान सकते हैं. दुरभिमान दग्धहृदय इस के रस को क्या जाने । स्वामी जी ने देवतों का खण्डन नहीं किया किन्तु अदेव में देवबुद्धिरूप अविद्या का निवारण अवश्य किया है । इस विषय में कोई प्रमाण नहीं कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी मोक्षदायक समझ कर "गंगातीरं न त्यजामि" ऐसा कहते हों "शिवः कैलाशे तिष्ठति" ऐसा उक्त स्वामी जी ने कहीं कभी कहा वा लिखा नहीं झूंठ बात जो चाहे उड़ासकता है न उन के पास ५ शरीरों का रेल का पास था ॥

सत्यार्थविवेक पृ० ८४

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मघवा बोभवीतीत्यपि निगमो भवति ॥ निरुक्त । अ० १० पा० २ । खं० ४। अथ निरुक्तभाष्यं । यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । अस्त्येतदैश्वर्य्यं देवताया यद्यदिच्छति रूपं तत्तत् करोति निगमोऽपि हि भवत्यैश्वर्य्यप्रख्यापकः रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् । त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतपाऋतावा ॥ ऋ० । सं० । मं० ३ । अ० ४ । सू० ५३ । मं० ८। इति विश्वामित्रस्यार्षम् । यावन्ति कानि चिद्रूपाणि मघवा इन्द्रो भवितुमिच्छति तानि सर्वाण्यप्रतिबन्धेन बोभवीति पुनः पुनर्भवतीति । कथम् मायाः कृण्वानः इदम्भवामीदम्भवामीत्येवम् तन्वं परि स्वां तनुं तत्तदाकृत्यानेकविधां विकुर्वा-

८४ पं० मुन्नालाल जी अफजलगढ़ १।)	३३९ बा० गोविन्दसिंह जी खेराड़ २॥)
१०६६ श्री बैंचेलाल शर्मा घुग्सेन ≠)	६१६ श्री गणेशसिंह जी कटनीमुड़वाड़ा २॥)
१०६० बा० गोपालदास जी योधपुर १।)	२१३ बा० रुस्तमसिंह जी पटियाली २॥)
९१४ बा० दूलहासिंह जी योधपुर १।)	१८५ श्री चन्द्रदत्त जी अलवर १।)
७८८ बा० हनुमानप्रसाद जी विजय राघव गढ़ २॥)	१२५ रुद्रप्रसाद जी एटा ३॥≡)॥
२२४ मुं० रामअनुग्रहलाल कुरंटाडीह २॥)	४२ बा० बद्रीदास बांकेलाल आगरा १।)
१०१५ बा० भगवानदास जी बनारस १।)	१०७८ बा० रामलग्नसिंह जी सिहोरा १।)
१०३ प० ज्वालादत्त जी अमरपुरा १।)	१५० बा० लक्ष्मणप्रसाद जी फतहगढ़ २।)
१११३ श्री देवीप्रसाद जी शर्मा रायपुर १।)	१२२ पं० गोवर्द्धनलाल शर्मा देहरादून २॥)
७३५ बा० गुरुदईलाल जी पिनाहट १।)	१००८ डा० रसिकलाल जी मांजीपढ़ा १।)
२२६ मुं० अवधविहारीलाल गाजीपुर २॥)	७९५ कुंवर श्यामलालसिंह सिहोर २॥)
२२१ बा० रामप्रसाद जी मन्त्री हर्दोई२॥)	११३ लाला द्वारिकाप्रसाद मिर्जापुर १॥।)
१११४ पं० टीकाराम शर्मा स्योंडारा १।≈)	२१९ गोवर्द्धनदास नगीनदास मुम्बई १।)
१११७ गंगासागर लोहिया कलकत्ता १।)	१३५ डा० मोरेश्वर जी मुम्बई २॥)
९३७ श्री हनुमानप्रसाद जी मुंगेली १।)	९३६ बा० सेवकलाल जी मुम्बई २॥)
५१ बा० बालकृष्ण सहाय जी रांची १।)	१३८ श्री प्राणजीवन दास कहानदास२॥)
१११८ श्री रामभरोसे शुक्ल सरवन १।)	१४३ श्रीरामजी भगवान सोनी मुम्बई २॥)
२८७ महतारतनशंकरभाईशंकरमांडवी२॥)	१४६ श्रीहरिश्चन्द्र श्यामरावजी मुम्बई २॥)
६८ श्री चौबे केशवदेव जी मथुरा १॥≈)	१५१ श्रीजीवनलाल जी मुम्बई २॥)
१०३८ श्री मूलचन्द जी मुनीम सागर ॥)	१६० शास्त्री रणछोरजी वहुवर्णा मुम्बई१।)
१११६ श्री साधुसिंह जी भानपुर १।)	१५७ श्री सेठ गोमाजी रताजी मुम्बई १।)
२१४ श्री मगनसिंह जी धोकड़ो २॥)	७५३ श्री दीवानचन्द्र जी नाहन १।)
९५ श्री रंगापन्तजी जबलपुर १।)	३०१ बा० सुन्दरलाल गणेशीलाल जी मुम्बई १।)
३१२ पं० भैरवलाल जी इन्दौर १।)	४५६ जयदेव भवानीदत्त जी नैनीताल १।)
७३० रामसिंह बनारस ।≡)	२९ पं० रमादत्त जी नयनीताल १।)
६२१ बा० सतीप्रसाद जी मैवमू १॥≈)।	९०८ श्री जयमंगल जी गोंडा १।)
५४० पं० डालचन्द्र मिश्र दातागंज १॥।)	११२ श्री बद्रीप्रसाद जी लहरा २॥)
९६ बा० गिरधारीलाल जबलपुर १।)	३२३ बा० गणेशीलाल जी चन्दोसी १।)
९९२ पं० ब्रह्मदत्त शर्मा जबलपुर १)	१२८ बा० देवीदयालु जी टोंक १।)
१०३८ श्री मूल चन्द जी मुनीम सागर)॥	७५५ बा० नारायणप्रसाद चरखारी १।)
८०० श्री गोविन्दप्रसाद मुरादाबाद ३॥।)	१००९ बा० गंगाराम जी वजीराबाद २॥)
५०१ श्री वृजनाथ जी मेरठ १।)	३६८ पं० पुत्तूलाल जी मैनपुरी १।)
३८९ बा० सूर्य्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद १।)	४०८ बा० मथुरासिंह जी मैनपुरी १।)
	२५८ श्री राजा फतहसिंह जी पुवायां २॥)

ओ३म् ॥ विदित हो कि २१।२।९६ से पं० भीमसेन शर्मा, सरस्वतीयन्त्रालय और श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला प्रयाग छोड़ कर नगर इटावा (पश्चिमोत्तर देश) में चले आये हैं इस लिये उक्त पं० जी वा यन्त्रालय वा पाठशाला के सम्बन्ध में जो महाशय पत्र व्यवहार करें वे सब स्मरण रख कर प्रयाग न लिखा करें किन्तु इटावा (पश्चिमोत्तरदेश) लिखा करें। और यह भी प्रार्थना है कि श्रीमद्द० विश्ववि० पाठशाला को अब अधिक उन्नत करना चाहते हैं विशेषकर एक अध्यापक नियत करने की बड़ी आवश्यकता है। इटावा आकर इस पाठशाला के लिये मासिक चन्दे का रजिस्टर भी खोला गया है किन्हीं महाशयों ने मासिक चन्दा नियत कर दिया है और आशा है कि आगे और भी चन्दा बढ़ जायगा। बाहर के धर्म हितैषी सज्जनों से भी प्रार्थना है कि वह लोग इस पाठशाला की ओर पूर्व की अपेक्षा अब अधिक कृपादृष्टि करें तो चारों ओर से जो पण्डितों तथा उपदेशकों की मांग है और पण्डितों के अभाव वा न्यूनता के कारण जो वैदिक धर्म की उन्नति में बाधा है वह शनैः२ पाठशाला द्वारा पण्डित उपदेशक अध्यापक तैयार होने से निवृत्त होकर धर्म के प्रचार में सहायता होगी अब तक इस पाठशाला में जो छात्र रहते हैं उन को भोजनादि देनेमात्र की सहायता धन की न्यूनता के कारण होती रही है कोई वेतन पाने वाला अध्यापक नहीं रहा केवल पं० भीमसेन शर्मा ही अपने कार्यों में से समय निकाल कर विद्यार्थियों को भी पढ़ाते रहे आप जानते हैं कि उन के आरम्भ किये कार्य भी समयाभाव तथा अस्वास्थ्य के कारण यथासमय नहीं हुये अतः एक अध्यापक के लिये चन्दे की आवश्यकता है आशा है कि इस ओर ध्यान दीजियेगा।

तुलसीराम स्वामी

पं० भीमसेन शर्मा सरस्वतीयन्त्रालय और पाठशाला इन सब का

पता प्रयाग न लिखा करें किन्तु "इटावा," लिखा करें।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ९ । १०

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ
३० मई सन् १८९६ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १।)

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

३० नवम्बर से २९ फरवरी ९६ तक

५४८ श्री रामप्रसाद जी जगाधरी १)
११२० मन्त्री आर्य्यसमाज मवाना १॥)
७९७ श्री विनायक नारायण मारटो हुशंगाबाद २॥)
५९५ माधोराम जी दुबे अजमेर २॥)
१०५२ पं० कृष्णविहारी वाजपेयी प्रयाग १)
५१५ बाबा सन्तदास जी बुगावाई किरांचीबन्दर २॥)
७८९ महतायादवनाथ आगरा-फोर्ट २॥)
११२३ श्री वासुदेव वाजपेयी पुरावली १)
३६५ श्री मोतीलाल जी लालगंज १)
७९२ श्री सुखरामदास झंग २॥)
११२१ श्री सतीचरण राय जी कलकत्ता १)
११२२ श्री जयकृष्णलाल कलकत्ता १)
१०४४ श्री जगमोहनलाल बस्ती १)
२२७ श्री सीताराम जी किरांची १)
मन्त्री आर्य्यसमाज-किरांची १)
७६६ श्री प्राणजीवन नारायणदास राजकोट १)
६७४ पं० सीताराम जी मुम्बई १)
८११ सेठ तुलसीराम मंछाराम-सूरत १)
९ बा० आनन्दीप्रसाद जी बान्दीकुई ≈)
१११९ श्री श्यामसुन्दरलाल उज्जैन १)
११२७ श्री कालीचरण जी मुहम्मदी १)
१०७६ नारायणदास वैष्णव श्री ब्राह्मणवाला १)
९७७ नामदेवतुकाराम शर्म्मा यवला १)
११२६ टेकचन्द आर्य्य बनारस १)
५८ पं० रतीराम पांडे पुराना कानपुर २॥)
१९३ छन्नूलाल जी गुप्त अनूपशहर १)
११२९ श्री दामोदरदास जी आगरा १)
११३० श्री म शेष भट्ट जी मंजेश्वर १)
५३० पं० बालकृष्ण जी एरण्डोल १)
११३१ राव रोशनसिंह जी रईस बगरा १)
४३१ सुलतानी राम जी जन्डियाला ॥।-)
११२८ पं० रामनारायण शर्मा जलेसर १)
४८५ श्री रामनाथ जी योधपुर १)
१८० श्री गिरधारी लाल जी झांसी १)
१०७० श्री पं० रामपदार्थ शर्मा सरैया २॥)
१००१ श्री मूलचन्द राव जी खैरागढ़ २)
११३२ श्री बलदेवसहाय जी लहरापुर १)
१४७ श्री चिरञ्जीवलाल जी मुम्बई २॥≈)
८६१ श्री लक्ष्मणदास जी जफराबाद १)
६७६ रघुनाथदास जी मलानी नागौर २॥)
२०५ रा० बा० दुर्गाप्रसाद जी फर्रुखाबाद १)
४० प्रसिद्धनारायण जी कादिराबाद ॥।≈)
४५४ गुरुदत्तामल जी अजमेर १)
११३४ श्री चन्द्रवली जी मुम्बई १)
६७८ श्री अम्बालाल जी सागवाड़ा १)
११३० मुक्ताप्रसाद जी वाजपेयी शिमला १)
११३३ श्री लच्छीराम जी रोपड़ १)
७७३ श्री दत्त शर्मा जी तालणी १)
२९६ श्री काशीराम जी वकील मुलतान १)
११३५ श्री चिम्मन सिंह जी ब्यावर १)
१३५ श्री मोरेश्वर देशमुख मुम्बई २॥)
११३६ श्री रामभरोसे जी लाहौर १)
१०८४ श्री शम्भुनाथ जी तीतरों १≈)
१०४७ श्री चेतसिंह वर्मा आगरा १)
२६२ श्री उजागर सिंह जी फैजाबाद १)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ अङ्क ९ । १०

यत्र॑ ब्रह्मविदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत अङ्क ७ । ८ पृ० १३६ से आगे त्रयीविद्या ।

मन्त्रग्रन्थों में आनेवाले पदों वाक्यों और स्वरों का नाम नैगम है । तथा ब्राह्मण ग्रन्थस्थ पद वाक्य वा स्वरों का भाषिक नाम भी प्रसिद्ध है । इसी से "प्रोक्षन्तु०–भाषिकम्" यहां ब्राह्मणग्रन्थों के पदों को जो शाङ्खायन गृह्यसूत्रकार ने भाषिक कहा वह ठीक बन सकता है । (अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः) इत्यादि निरुक्त में आया भाषिकपद यद्यपि भाषाशब्द से बना माना जाय तथापि कुछ हानि नहीं क्योंकि भाषा और भाष्य दोनों पद एक ही धातु से बने हैं । और भाषा से ही बनाया भाष्य कहाता है क्योंकि मूल के अर्थ जताने में ही सब भाष्यों का तात्पर्य होता और प्रचलित भाषा में व्याख्यान किये बिना मूल का स्पष्ट बोध किसी को होता नहीं । सो इस प्रकार मूल वेद की कठिनता मिटाने के लिये जब भाष्यरूप ब्राह्मणग्रन्थ बनाये गये तब वैसी ही भाषा के बोलने का लोक में व्यवहार था जैसी भाषा में वेद के भाष्यरूप ब्राह्मणग्रन्थ अब विद्यमान हैं । इस प्रकार उस काल में ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यादि जैसे भाषिक थे वैसे इस समय के हमारे वाक्यादि भी निरुक्तार्थेनुसार भाष्य वा भाषिक हैं । वास्तव में पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों की रचना के समय मन्त्रों का ही वैदिकशब्द से ग्रहण करना योग्य था और ब्राह्मण तो लौकिक ही थे । पर अब तो मन्त्र ब्राह्मण दोनों ही का वैदिक पद से समान ही आदर है । अब सूत्र वाक्यों को

भी वेदत्व है उन से भिन्न सब लौकिक हैं शास्त्रकारों का व्यवहार ही इस का हेतु है। इस में भी काल ही प्रबल वा प्रधान है इसी कारण सूत्र बनने के समय से मन्त्र ब्राह्मण दोनों का वेद नाम सिद्ध है ॥

सम्पादक--यह सब निगम पद का व्याख्यान है। इस पर भी हम को कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। सामश्रमी जी का आशय गुप्त नहीं है पाठक लोग समझ ही लेंगे। तथापि इतना अवश्य कहना है कि जैसे कोई मनुष्य किसी काम को करते समय किसी के भय से हिचकिचाया जाता है वैसे अनेक प्रसङ्गों में सामश्रमी जी ठीक २ कहते लिखते भी हिचकिचाते गये हैं वा गोल माल करते गये हैं तथापि आशय खुल ही जाता है। भागवत के (निगमकल्पतरोः०) श्लोक में आये निगम पद से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण मूल वा टीका में किसी ने स्पष्ट नहीं लिखा किन्तु प्रचार चल जाने से आधुनिक भागवताध्यायी निगम पद से दोनों को मानते हैं उन की प्रसन्नता के लिये ऐसा लिखना प्रतीत होता है। ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के भाष्य वा व्याख्यान होना तो अनेक युक्ति प्रमाण और प्रत्यक्ष उन की लेख शैली से भी सिद्ध ही है इस पर विशेष कथन की आवश्यकता नहीं। मन्त्रों का व्याख्यानरूप ब्राह्मणान्तर्गत वाक्य विधि शब्द हैं इस सायण के वचनानुसार ही सामश्रमी जी भी मानते हैं सो ठीक नहीं। "विधिर्विधायकः" इस न्यायसूत्र के अनुसार "यद्वाक्यं विधायकं चोदकं प्रेरकं स विधिः" जो वाक्य विधायक है कि ऐसा करो वा ऐसा न करो वे सब विधिवाक्य होंगे सो क्या मन्त्रों में ऐसे वाक्य नहीं हैं यदि कोई कहे कि नहीं हैं तो ठीक नहीं हम सैकड़ों ऐसे वाक्य दिखा सकते हैं जो विधायक हों जैसे "समिधाग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन"॥ इसी गायत्री मन्त्र में तीनों विधिवाक्य हैं कि हे मनुष्यो! तुम समिधाओं से अग्नि का सेवन करो, अतिथिरूप अग्नि को घृतों से सचेत प्रज्वलित करो, तथा इस अग्नि में होमने योग्य वस्तु छोड़ो, तथा "यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ०१०।१४।२)" राजा यम का हविष्य से सेवन कर। तथा "यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः (ऋ०१०।१४।१३)" इत्यादि सहस्रों मन्त्रों में स्पष्ट ही विधिवाक्य विद्यमान हैं तब यह नियम कहां से आया कि ब्राह्मणग्रन्थों के विधिवाक्य माने जावें और साक्षात् वेद के न माने जावें? विशेष विचार करने से यही प्रतीत होता है कि जब वेद के पठन पाठन और जानने का अभ्यास ज्यों २ छूटता गया त्यों २ वेद और ब्राह्मण के भेद का भी

विचार न रहा इन्हीं से दोनों को एकसा वेद मान के मूल की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों को सुगम देख उन्हीं को विधिवाक्य मान लिया ।

अब सायणाचार्यादि के अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र संहितारूप मूल वेद के व्याख्यान वा भाष्य हैं इस विषय को सामश्रमी जी ने अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिया कि जब पूर्व काल में वेदार्थ जानना कठिन हुआ तब उस समय के वेद वेत्ता ब्राह्मण लोगों ने वेदों का जो भाष्य बनाया उस का नाम ब्राह्मण हुआ । हम को आशा है कि बनारस आदि के पण्डित अब हठ दुराग्रह छोड़ कर ठीक सिद्धान्त को मान लेंगे । और यह सत्य ही है कि जिस मूल का आश्रय लेकर जो ग्रन्थ उस समय की प्रचरित भाषा में बने वही व्याख्यान वा भाष्य कहाता है इस के अनुसार मूल वेद की अपेक्षा ब्राह्मण तथा श्रौत गृह्यसूत्रादि वा व्याकरण सूत्रादि सभी भाष्य वा व्याख्यान हैं और महाभाष्यादि की अपेक्षा व्याकरण सूत्रादि मूल भी माने जावें तो कोई दोष नहीं है । क्योंकि मूल और भाष्य वा टीका अब भी सापेक्ष ही माने जाते हैं । कैयट कृत भाष्यप्रदीप की अपेक्षा महाभाष्य भी मूल कहाता और विवरण की अपेक्षा कैयट भी मूल वा व्याख्येय होता है। पर वेद ही सब का मूल है उस का मूल अन्य कोई ग्रन्थ नहीं किन्तु वेद का मूल वेद ही है । इति ॥

(मन्त्रः) तत्र,तयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरादौ तावत् मन्त्रस्य लक्षणमनुसन्धेयम् ,–किन्नाम मन्त्रत्वम् ?। इति, लक्षणस्योपयोगो हि पूर्वाचार्यैः प्रदर्शित–एव"ऋपयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः"–इति । ततोऽनुसन्धीयमानश्च दृश्यते–उक्तं खलु भगवता यास्केनैव"मन्त्राः मननात् (३ भा० ३६७ पृ०)" इति मन्त्रनिर्वचनम्; ततएव सिद्धश्च मन्त्रलक्षणम्–'मननहेतुर्मन्त्रः' इति। तथा च तत्र वृत्तिः–"तेभ्यः मन्त्रेभ्यः हि अध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम्"–इति । दूषितश्चैतत् सायणेन ऋग्भाष्यभूमिकायाम्–'मननहेतुर्मन्त्र' इत्युक्ते ब्राह्म-

ऍऽतिव्याप्तिः,–इत्युक्त्वा; परं न च तत्रोदाहृतं तादृशं ब्राह्मण-वाक्यमेकपि । तथाचावगम्यते—"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (जै०-सू० २.१-३२)"–इति सूत्रानुगतम् "अभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्"–इति विवक्षया,–'विहितार्थाभिधायको मन्त्रः'–इत्यस्य पूर्वाचार्यविहितस्य,प्रसिपदान्तादीनां पञ्चदशानाञ्च मीमांसावृत्तिकृदुदाहृतानां, मन्त्रलक्षणानां मीमांसाभाष्यकारकृतखण्डनेभ्यः सोदाहरणेभ्यः कतिचिदुद्धृत्य दिदर्शयिषया चोद्विग्नचित्तस्तत्रैवैकाग्रमना यास्कोक्ते विचारावसरं नालभत स इति । प्रतिपादितमस्माभिर्मीमांसाकारस्य खलु जैमिनेः यास्काग्रजत्वम् (चू०पृ०) तथात्र जागरितेपि हि तादृशे लक्षणे यदुक्तं यास्केन मननान्मन्त्रः–इति ततः सम्भाव्यमेवैतल्लक्षणमदुष्टमिति । अपि च सायणतः प्राचीनेन उद्धृतासिनापि हि शवरस्वामिना तत्सूत्रस्य भाष्ये विहितार्थाभिधायकत्वादीनि मन्त्रलक्षणानि खण्डखण्डीकृतानि, परं न तस्मिन्निहवेऽस्य यास्कीयलक्षणस्यावतरणमर्पिष्टं तेन, इतश्च ज्ञायते नैतल्लक्षणं दुष्टमिति । अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (जै० सू० १. २. ४०) इति सूत्रस्य, विधिशब्दाच्च (जै० सू० १. २. ५३) इति सूत्रस्य च व्याख्यानावसरे मन्त्राणां मननसाधनत्वं स च स्वयं व्यनक्ति–तु–शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति०-० तस्मान्मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्–इति" तस्माद्विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः–इति च । मन्त्राणां मननहेतुत्वलक्षणमनुलक्ष्यैवोक्तिरेषा भगवतो यास्कस्य–यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमि-

च्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (३ भा० २८५पृ०) इति। तदेवं मननहेतुर्मन्त्रः, इति, मन्त्रोयमित्यभियुक्तोपदिष्टो-मन्त्रः इति च द्वेएव मन्त्रलक्षणे निर्दिष्टेइति गम्यते, तद्यस्मै-यद्रोचेत, तदेव स गृह्णात्वित्यलमिह नीरसविवादेनेति ॥

अथवात्रैतत्सुष्ठुसमाधानम्-जैमिनिकृतं मन्त्रलक्षणं ग्रन्थ-परम्, यास्ककृतं लक्षणं तु वाक्यपरमिति। तथा च जैमिनि-नये वैदिकसमाख्यासिद्धानां मन्त्रेति प्रसिद्धानां संहिताग्रन्थाना-मेव मन्त्रग्रन्थत्वम्; न त्वन्येषां ताण्ड्यादीनाम्; यास्कमते तु ग्रन्थानां तथा लक्षणेऽपि न क्षतिः; परं ताण्ड्यब्राह्मणाद्याध्या-यगतानां महन्मे वोचः,–इत्यादीनाम् छान्दोग्यब्राह्मणाध्याय-द्वयगतानाञ्च (देव सवितः प्रसुव) –इत्यादीनाम्, तथातैत्तिरी-यारण्यकादिपठितानाञ्चोङ्कृतासीत्यादीनां वाक्यानां मन्त्रत्वसि-द्धये खल्विदमवश्यं वक्तव्यम्--मननहेतुर्मन्त्रः–, इति। तदेवमु-भयलक्षणयोर्विषयभेदात् नैवास्ति विवादविषयइत्यस्माकमिति।

"आनन्दपुरवास्तव्य–वज्रटाख्यस्य सूनुता। मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति"–इत्युक्त्या स्वपरिचयमुक्तवताखिल-मन्त्रभाष्यं कृतवता उव्वटेन तत्रैव भूमिकायां प्रदर्शिताश्चैते मन्त्रभेदाः;–,,न्यायविदः पठन्ति—

"विध्यर्थवादयाच्ञाशीःस्तुतिप्रैषप्रवह्लिकाः।
प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम् ॥
अवधारणं चोपनिषत् वाक्यार्थास्तु त्रयोदश ॥
मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृश्रुतिचोदिताः–इति।

अथ तेषामुदाहरणानि। तत्र,–परमेष्ठ्यभिहितः"–अश्व-स्तूपरो गोमृगस्ते (या० वा० स० २४. १)–इति। अर्थवादः–"देवा

यज्ञमतन्वत (य० वा० स० १९. १२.)"—इत्यनुवाकः। याच्ञा "तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि (य० वा० स० ३. १७.)"—इति। आशीः—"आ वो देवास ईमहे (य० वा० स० ४.५.)" इति। स्तुतिः—"अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् (य०वा०स०३,१२)" इति। प्रैषः—"होता यक्षत् समिधाग्निम् (य० वा० स० २१. २९)"—इति। प्रवल्हिका—"इन्द्राग्नीअपादियम् (य० वा०स० ३३ ९३)"—इति। प्रश्नः—"कः स्विदेकाकी चरति (य० वा० स० २३. ९ इ०)"—इति। व्याकरणम्—"सूर्यएकाकी चरति य० वा० स० २३. १० इ०)"—इति। तर्कः—",मा गृधः कस्य-स्विद्धनम् (य० वा० स० ४०. १)"—इति। पूर्ववृत्तानुकीर्तनम्—"ओषधयः समवदन्त (य० वा० स० १२. ९६)"—इति। अवधारणम्—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वे० उ० ६ १५) इति। उपनिषत्—"ईशावास्यमिदं सर्वम् (य० वा० स० ४०. १)"—इति।" शावरभाष्येऽपि आशीरादयस्त्रयोदशैव मन्त्रभेदाः प्रदर्शिताः, परं तत्त्वन्यथैव; द्रष्टव्याश्च ते तत्रैव (जै० सू० २, १, ३२ भा०)। ऋग्भाष्यभूमिकायाञ्च सायणेन तत्रएव कतिचिदुद्धृत्यप्रदर्शिताः। उव्वटेन ह्येतानि सर्वाण्येव यजुर्वेदाधिकृत्योदाहृतानि; निरुक्तकारेण भगवता यास्केन त्वेवमृग्वेदेऽपि दर्शितानि बहून्युदाहरणानि। तथाहि—"तास्त्रिविधाः ऋचः,—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च" इत्युपक्रम्य, परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः"—इत्युक्त्वा, "अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः***; अथाप्याशीरेव न स्तुतिः; तदेतद्बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु" इति

प्रदर्श्य, उदाहृतानीमानि—"अथापि शपथाभिशापौ०—०अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा०—०, अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्०—०; एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति" इति, "अक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च (३ भा० ३९६ पृ०)"—इत्येवमादीनि ॥

(मन्त्र) अब मन्त्रब्राह्मण दोनों में से प्रथम मन्त्र पद का व्याख्यान करते हैं। मन्त्रत्व क्या है ? इस अपेक्षा में मन्त्र का लक्षण कहना चाहिये क्योंकि पूर्वाचार्यों ने सामान्य कर लक्षण का उपयोग दिखाया ही है कि पदों के अर्थों का अन्त ऋषि लोग भी पृथक् २ करके नहीं जान सकते किन्तु सभी विद्वान् लोग लक्षण से सिद्ध हुए पदार्थों का अन्त पा सकते हैं। इस के अनुसार मन्त्र शब्द का लक्षण भी अपने निरुक्त पुस्तक में यास्क ने किया है कि मनन से मन्त्र कहाते हैं। इस से सिद्ध हो गया कि मनन का हेतु मन्त्र है। तथा निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी वहीं लिखा है कि अध्यात्म, अधिदेव और अधियज्ञ के मानने वाले मन्त्रों से ही विचार किये विषयों को मानते हैं इसी से वे मन्त्र कहाते हैं। यद्यपि ऋग्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने लिखा है कि मनन हेतु ब्राह्मण भी हो सकता है इस से मन्त्र के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है तथापि सायण ने ब्राह्मणग्रन्थ का ऐसा एक भी वाक्य उदाहरण में नहीं दिखाया कि इस प्रकार इस वाक्य में दोष आवेगा इस कारण सायण का कथन ग्राह्य नहीं है। मीमांसादर्शन में मन्त्र के जो २ लक्षण "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" आदि किये हैं उन में से कई को दिखाने की इच्छा से उद्विग्नचित्त उसी में एकाग्र मन सायण को यास्क के कथन पर विचार का अवसर नहीं मिला। हम (सत्यव्र०) ने पूर्व (च० पृ०) में सिद्ध कर दिया है कि मीमांसाकार जैमिनि यास्क से पहिले हुए। तब जैमिनिकृत मन्त्र लक्षण के विद्यमान होने पर भी जो यास्क ने कहा कि मनन से मन्त्र कहाते हैं इस से सम्भव मानना चाहिये कि यास्क का लक्षण ठीक ही है। और सायण से प्राचीन शबर स्वामी ने उस सूत्र के भाष्य में "विहितार्थ को कहने वाले मन्त्र कहाते" इत्यादि मन्त्र के लक्षणों का खण्ड २ कर खण्डन किया है पर उस शास्त्रार्थ में इस यास्ककृत मन्त्रलक्षण का शबर स्वामी ने नाम भी नहीं लिया इस से निश्चित है कि यास्क का लक्षण दुष्ट नहीं है।

और (अवशिष्टस्तु वाक्यार्थः) तथा (विधिशब्दाश्च) इन जैमिनि सूत्रों के व्याख्यान में शवर स्वामी ने स्वयं प्रकट किया है कि मनन के साधन मन्त्र हैं। और तु शब्द से अदृष्ट परोक्ष प्रयोजन के लिये ही यज्ञ में मन्त्र बोले जाते इस का निषेध किया है किन्तु उस २ कर्म विषयक फलादि अर्थ का प्रकाश होना मन्त्रोच्चारण का प्रत्यक्ष ही फल है इस से यज्ञादि करने के समय जिन का अर्थ कहना अभीष्ट है ऐसे मन्त्र स्वार्थ प्रकाशन के लिये ही उच्चारण करने चाहिये। और मन्त्रों के मनन हेतु होने रूप लक्षण को विचार में रख के ही भगवान् यास्क मुनि का यह कथन है कि "जिस कामना वाला ऋषि जिस देवता से कार्यसिद्धि चाहता हुआ स्तुति करता है उसी देवता वाला वह मन्त्र होता है"। सो इस प्रकार एक तो मनन हेतु मन्त्र और द्वितीय यह मन्त्र है ऐसे नियत उपदेश किया मन्त्र कहाता ये दोनों मन्त्र के निर्दोष लक्षण हैं इस में जिस को जो अच्छा लगे सो माने इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है॥

अथवा यहां यह अच्छा समाधान है कि जैमिनिकृत मन्त्र लक्षण ग्रन्थ परक और निरुक्तकार यास्क का लक्षण वाक्यपरक है। और जैमिनि के मत में वैदिक नाम से सिद्ध मन्त्र कर के प्रसिद्ध संहिता ग्रन्थ ही मन्त्र पद वाच्य हैं किन्तु अन्यतावत्तर ब्राह्मणादि के गद्य वा पद्य भाग मन्त्र नहीं हैं। तथा यास्क के मत में संहिता ग्रन्थों को मन्त्र मानने पर भी कुछ हानि नहीं। परन्तु तावत्तर ब्राह्मण के प्रथमाध्याय में कहे (महम्मे वोचः०) इत्यादि तथा छान्दोग्य ब्राह्मण के दो अध्यायों में कहे (देव सवितः०) इत्यादि और तैत्तिरीयारण्यकादि में पढ़े (उद्धुतामि०) आदि वाक्यों को मन्त्रत्व ठहराने के लिये यह अवश्य कहना चाहिये कि "मनन का हेतु मन्त्र है" सो इन दोनों लक्षणों का विषय भिन्न २ होने से विवाद का प्रसङ्ग कुछ नहीं यह हमारा (सत्यव्रतका) विचार का आशय है।

आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उव्वट ने राजा भोज के समय में वाजसनेयी संहिता यजुर्वेद पर भाष्य बनाया, इस प्रकार अपना परिचय देते हुए उव्वट ने वेदभाष्यभूमिका में निम्नलिखित मन्त्रों के तेरह भेद दिखाये हैं। जैसे–१ विधि–ऐसा करो वा मानो जानो इत्यादि। २–अर्थवाद–जैसे देवताओं ने यज्ञ किया यह यज्ञ का प्रशंसारूप अर्थवाद है। ३–प्रार्थना वा याच्ञा–जैसे हे अग्ने तुम शरीररक्षक हो मेरे शरीर की रक्षा करो। ४–आशिष्–जैसे हे देवो

हम आप को चाहते हैं । ५–स्तुति–जैसे अग्नि स्वर्ग का शिर है । ६–प्रैष आज्ञा देना–जैसे–होता यज्ञ करे । ७–प्रवह्लिका जैसे–इस ने इन्द्र और अग्नि की रक्षा की । ८ प्रश्न–जैसे अकेला कौन विचरता है ? । ९–व्याकरण–जैसे सूर्य अकेला विचरता है । १०–तर्क—जैसे विशेष तृष्णा मतकर, किस का धन है ? । ११–पूर्ववृत्त का कीर्त्तन—जैसे ओषधियों ने संवाद किया । १२—अवधारण निश्चय जैसे उसी पुरुष परमेश्वर के ज्ञान से मुक्ति हो सकती है । अन्यथा नहीं १३–उपनिषत्—जैसे यह सब जगत् ईश्वर से आच्छादित है वह सर्वोपरि है । इत्यादि मीमांसा के शबर भाष्य में भी तेरह ही मन्त्र भेद दिखाये हैं पर वे इन से भिन्न ही प्रकार से वर्णित हैं सो वहीं देखना चाहिये । ऋग्भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने भी वहीं से लेकर कई मन्त्रों के प्रकारों का वर्णन किया है । उवट ने मन्त्र के सब भेदों में यजुर्वेद के ही उदाहरण दिये हैं । परन्तु निरुक्तकार यास्क भगवान् ने ऋग्वेद के भी बहुत उदाहरण दिखाये हैं । "वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं एक परोक्ष विषय प्रतिपादक द्वितीय प्रत्यक्ष विषय प्रतिपादक और तीसरे अध्यात्म विषयक, इन में परोक्ष विषयक और प्रत्यक्ष विषयक मन्त्र बहुत हैं किन्तु अध्यात्म विषयक मन्त्र बहुत थोड़े हैं । ऐसा कह कर कहीं स्तुति ही है प्रार्थना याचना नहीं कहीं याचना ही है स्तुति नहीं । सो यह प्रायः यजुर्वेद के यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में है" ऐसा दिखा कर उदाहरण दिये हैं कि कहीं "शपथ—प्रतिज्ञा, अभिशाप, कहीं किसी भाव को कहने की इच्छा, कहीं किसी भाव से दुःख मानना, अक्षसूक्त में जुआ की निन्दा और खेती की प्रशंसा है इस प्रकार अच्छे बुरे वा ऊंचे नीचे छोटे बड़े अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्र दृष्टि होती हैं" यह सब निरुक्त (३ भा० ३९६ पृ०) में लेख है ॥

स चैव एव मन्त्रभागः संहितेत्युच्यते । तल्लक्षणं चोक्तं पुरस्तात् समासतः (ठ० पृ०) । सा चाऽसौ द्विविधा,–निर्भुजसंहिता, प्रतृण्णसंहिता चेति । "अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० स० १.१.१.१)"–इत्यादयः पाठा एव निर्भुजसंहिताया उदाहरणानि । यैव निर्भुजसंहिता, सैव आर्षी संहितेत्यप्युच्यते । प्रतृण्णसंहितापि द्विविधा;–पदसंहिता, क्रमसंहिता चेति नाम । तत्र, "अग्निम्, ईडे,

पुरःऽहितम्"–इत्येवं पठ्यते पदसंहिता, "अग्निम्, ईडे, ईडे, अग्निम्, पुरोहितम्; पुरोहितमिति पुरःऽहितम्,,–इत्येवं क्रमसंहितेत्युच्यते। इमामेव क्रमसंहितामवलम्ब्य जटाद्या अष्टविधाश्च विकृतयः पठ्यन्ते । तदुक्तं विकृतवल्ल्याम्–जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो रथो घनः । अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः (१.५.)"-इति ततो जटादीनामपि क्रमात्मकत्वेन प्रतृण्णसंहितात्वमेव। तदेवमेकैकमन्त्रस्य एकादशप्रकाराः संहितापाठा भवन्ति । तत्त्वतस्तु पाठप्रकारभेदात् बहुग्रन्थापि सार्षी संहिता प्रतिवेदमेकैकेवेति ॥ तासाञ्च सर्वासामेव संहितानां बहुप्राचीनत्वात् कालभेददेशभेदव्यक्तिभेदादिभिरध्ययनाध्यापनयोरुच्चारणादिभेदाः पाठभेदाश्च सम्पन्नाः, पाठन्यूनातिरिक्तता च किञ्चित्* सञ्जाता, आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् स्वस्वदेशकालाद्यनुरोधाच्च, अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्च सम्पन्नाः; अतएवैकैकापि सा बहुशाखात्वमापन्ना । तदेवोदाहृतञ्च प्राचीनभाषितं चरणषट्कं षड्गुरुशिष्येण–एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः । सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ॥ नवाध्वाथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्–इति । अध्वा देवता गतिः शाखाइति पर्यायवाचकाः–इति च तत्रोक्तं तेनैव । अत्र च कासाञ्चित् शाखात्वम् कासाञ्चिदनुशाखात्वं निर्णीतं चरणव्यूहकारादिभिस्तत्तत्रतत्रैव द्रष्टव्यम् । इत्थं बहुशाखत्वेऽप्येकैकस्य वेदस्य कस्या अप्येकस्याः शाखाया अध्ययनेनैव भवेदेवाधीत एकैको वेदः सर्वास्वेव शाखासु संहितायाः प्रायोऽभेदात् । किञ्चित् पाठन्यूनातिरिक्तेन किञ्चिदुच्चा-

* किञ्चिदिति चिन्त्यं विपश्चिद्भिः ॥

रणभेदेन किञ्चिदनुष्ठानपद्धतिपार्थक्येन च नह्येव भवेत् संहितायाः स्वरूपतो विभिन्नत्वम्। जागर्त्यैव ह्येष न्यायः "एकदेशविकृतमनन्यवत् (पा० सु०१. १.७२ भा०)–इति भवत्येव हि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारो लोके। अतएव सायणाचार्यादिभिरेकैकामेव शाखामवलम्ब्य कृतैर्भाष्यैरेवावाप्ता तत्रकृतकृत्यतेति। अतएव च "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः (२. १६५)"–इति "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम् (३. १.) „–इति "वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् (३-२)" इति च मनुवचनानि सङ्गच्छन्ते; मूलतः प्रकृतपार्थक्ये हि तासां कथं सम्भवेन्नामाध्ययनं द्वादशस्वेवाब्देषु सहस्रशाखस्य सामवेदस्येति तादृशस्मृतिवचनानामुन्मत्तप्रलपितत्वमेव प्रसज्येतेति। अतोऽत्र त्वेवमेवावधार्यम्,–एषखलु वेदशाखाभेदो न मन्वाद्यध्यायभेदतुल्यः, प्रत्युत भिन्नकाललिखितानां भिन्नदेशीयानामेकग्रन्थीयानामपि बहुतरादर्शपुस्तकानां यथा भवत्येव पाठादिभेदः, तथैवेति। अथाप्यत्र संशयश्चेत् कस्याप्येकस्यवेदस्यकयोरपि शाखयोराद्यन्तपाठसन्दर्शनेनैव तद्दूरोत्सारणं सुकरमेवेति भवेन्निवृत्तः कोलाहलः। परन्त्वेवमपि यजुषस्तु कतिपयशाखाभिः कतिपयशाखानामेवमस्ति भेदः, यत्तयोरुभयोरेव शाखासमूहयोर्मिथः शुक्लकृष्णत्वममंसत प्राचीनाः। तथा च माध्यन्दिनीप्रभृतीनां यजुःशाखानां शुक्लयजुरिति ख्यातिः, तैत्तिरीयादीनान्तु यजुःशाखानां कृष्णयजुरिति समाख्या चेति। ईदृशास्तदृशभेदकारणादिकन्तु वैदिकग्रन्थसमूहतः स्वस्वधिषणापरिचालनतश्च यथानुभवमेव वेदितव्यम्; किञ्च तत्र शुक्लयजुषः कति शाखाः किन्ना-

मन्त्राश्च कृष्णयजुषोऽपि कति शाखाः किन्नामकाश्चेति चरणव्यूहादिभ्यएवावगन्तव्यमिति ॥

भाषार्थः—जो यह मन्त्रभाग ही संहिता कहाता है उस का लक्षण हम ने संक्षेप से (८० पृ०) में कह दिया है। सो संहिता पहिले दो प्रकार की मानी जाती है। एक निर्भुजसंहिता और दूसरी प्रतृणसंहिता उस में "अग्निमीळे पुरोहितम्" इत्यादि प्रकार का यथावस्थित पाठ निर्भुजसंहिता के उदाहरण हैं। जो निर्भुजसंहिता है वही आर्षीसंहिता भी कहाती है। और प्रतृणसंहिता भी दो प्रकार की है। एक पदसंहिता और दूसरी क्रमसंहिता उस में "अग्निम्, ईळे, पुरःऽहितम्" इत्यादि प्रकार पदसंहिता कहाती तथा "अग्निम्, ईळे, ईळे, अग्निम्, पुरोहितम्, पुरोहितमिति पुरःऽहितम्" इत्यादि प्रकार क्रमसंहिता कहाती है। इसी क्रमसंहिता का आश्रय लेकर जटादि आठ प्रकार की विकृति पढी हैं सो विकृतवल्ली में कहा है "जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजः, दण्डः, रथः, घनः, यह क्रम जिस के साथ लगा हो ऐसी आठ विकृति विद्वानों ने कहीं हैं (१, ५)" इस कारण जटादि को भी क्रमरूप होने से प्रतृणसंहितापन है। सो इस प्रकार एक २ मन्त्र के ग्यारह प्रकार के संहिता पाठ होते हैं। वास्तव में तो पाठ के अनेक प्रकार होने से बहुत ग्रन्थों वाली भी वह आर्षीसंहिता प्रत्येक वेद में एक ही एक है। उन सब संहिताओं के अतिप्राचीन होने से कालभेद, देशभेद, और व्यक्तिभेदादि के साथ पढने पढाने के उच्चारणादि भेद और पाठ भेद हो गये और पाठों की न्यूनाधिकता भी कुछ २ हो गई, आचार्यों के स्वभाव की विषमता से और अपने २ देश कालादि के अनुरोध से वेदसंहिता में अनुष्ठान के यज्ञ कार्यों के भेद और प्रयोग भेद भी हो गये इसी कारण एक २ वेद की एक २ संहिता की भी बहुत शाखा हो गयीं सो प्राचीन भाषितचरणषट् अर्थात् षड्गुरु शिष्य ने पुराने विद्वानों का कहा डेढ श्लोक छः पाद कहे हैं "ऋग्वेद की २१ सामवेद की १००० यजुर्वेद की १०० तथा अथर्ववेद की नव वा किन्हीं के मत में १५ शाखा हैं" इन में से कोई शाखा और कोई अनुशाखा कहाती हैं सो चरणव्यूहग्रन्थ की कारिकाओं से वहीं निर्णय किया देखो। इस प्रकार एक २ वेद की बहुत शाखा होने पर भी किसी एक शाखा के पढने से ही एक २ वेद का पढ लेना हो जाता है क्योंकि सब शाखाओं में संहिता का प्रायः अभेद है।

कुछ २ पाठ के न्यूनाधिक होने और कुछ २ उच्चारण के भेद से और कुछ २ अनुष्ठान की परिपाटी के पृथक् होने से संहिता की स्वरूप से विभिन्नता नहीं हो सकती क्योंकि यह न्याय जागृत वा विद्यमान ही है कि "जिस का अंग कम वा अधिक हो जाय वह अन्य नहीं हो जाता। कुत्ते की पूंछ कट जाने पर भी कुत्ता ही बना रहता है" इसी कारण सायणाचार्यादि लोगों ने एक २ शाखा का आश्रय लेकर किये भाष्यों से उस २ पूरे वेद के वे भाष्यकार कहाये। और इसी से "सम्पूर्ण वेद पढ़ना जानना चाहिये, गुरु के पास ब्रह्मचर्य से रह कर छत्तीश वर्ष पर्यन्त तीनों वेद का अध्ययनरूप व्रत करे, और तीनों दो वा एक वेद को पढ़े" ये मनु जी के वचन संगत होते हैं। यदि उन संहितारूप शाखाओं की मूल से ही प्रक्रिया भिन्न २ हो तो उन एक सामवेद की हजार शाखाओं का अध्ययन ही बारह वर्षों में भी नहीं हो सकता तो स्मृति के वचन भी उन्मत्त दशा का सा व्यर्थ बकवाद हो जावें इस कारण यहां पूर्वोक्त प्रकार से ही निश्चित सिद्धान्त जानो। और यह वेद की शाखाओं का भेद मनु आदि के अध्यायों के तुल्य नहीं है किन्तु एक ही पुस्तक भिन्न २ काल में लिखा जाने से लेखक भेद ऐसा ही हुआ है जैसे भिन्न २ देश वाले एक ग्रन्थ की भिन्न २ कापी लिखें तो उस में पाठादि भेद हो वैसा ही वेदसंहिताओं का पाठादि भेद हो कर एक वेद की अनेक शाखा हो गईं। यदि इस विषय में किसी को संशय हो तो वह किसी वेद की किन्हीं दो शाखाओं के आदि अन्त का पाठ मिला कर देखने से ही अपने सन्देह को सहज में निवृत्त कर सकता है। और इसी से शाखा विषयक सब झगड़ा शान्त हो सकता है। परन्तु ऐसा होने पर भी यजुर्वेद की कई शाखाओं का कई शाखाओं के साथ वास्तविक भेद है और उन दो प्रकार के शाखासमूहों को प्राचीन लोगों ने शुक्ल कृष्ण शब्दों से माना है। सो माध्यन्दिनी आदि यजुर्वेद की शाखाओं का नाम शुक्ल यजुर्वेद और तैत्तिरीयादि यजुः शाखाओं का नाम कृष्णयजु है। ऐसे असमान भेद के कारणादि को अनेक वैदिकग्रन्थों के देखने और अपनी बुद्धि के चलाने से जैसा जिस की समझ में आवे वह वैसा जाने माने हम इस पर कुछ नहीं कहते। और शुक्ल वा कृष्ण यजुर्वेदों की किस २ नाम की कितनी २ शाखा हैं यह बात चरणव्यूहादिग्रन्थों से ही जाननी माननी चाहिये॥

सम्पादक—इस प्रकरण में पहिले मन्त्र शब्द के ऊपर सामश्रमी जी ने जो विचार लिखा है वह तो पाठकों के अवलोकनार्थ ऊपर लिखा ही गया परन्तु

इस विषय पर हम भी कुछ अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं। यद्यपि सर्वसाधारण विद्वानों के समान सामश्रमी जी ने भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा वेदों को अधिक प्रतिष्ठित माना और वेद के विषयों पर विचार भी इतना अधिक लिखा है जितना प्रायः किसी आधुनिक विद्वान् का लेख वेद विषय पर नहीं देखा सुना गया तथापि वेदमतानुयायी आस्तिक विद्वानों के चित्त में वेद का जितना गौरव और महत्व होना चाहिये वैसा सामश्रमी जी के चित्त में भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक विषय में सब विद्या वा कर्त्तव्यों के मूल वेद का प्रमाण शिरोमणि मानना चाहिये वेद ही एक स्वतः सिद्ध प्रमाण है जिस के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं। जो छन्द आदि वेद के नामों की समालोचना करते समय वेद का प्रमाण न खोज कर इधर उधर भागना यह वेद का पूरा गौरव न मानने में त्रुटि दिखलाता है। अस्तु अब विचारणीय यह है कि मन्त्र शब्द वेद में कैसे अर्थ वा प्रसङ्ग में आता है?

"विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः, स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥ ऋ० ६ । ५० । १४ ।

भा०—मन्त्र के इस उत्तरार्द्ध भाग में मन्त्र शब्द के साथ पांच विशेषण हैं (ऋतावृधः) ऋत नाम यथार्थ कर्त्तव्य वा सत्यों के बढ़ाने वाले (हुवानाः) मनुष्यों ने अपनी इष्ट सिद्धि के लिये ग्रहण किये (विश्वेदेवाः) सब देवता सम्बन्धी विचार का आश्रय ऐसे (कविशस्ताः) कवि नाम सर्वदर्शी सर्वज्ञ परमात्मा ने उपदेश किये वा जगत् के कल्याणार्थ प्रकाशित किये (स्तुताः) प्रशंसनीय (मन्त्राः) छन्दोरूप वेदवाक्य हमारी (अवन्तु) रक्षा करें। वास्तव में वेद का ही पठन पाठन जो लोग अपना कर्त्तव्य धर्म समझ के सदा करते हैं उन के मन और आत्मा में जैसी सत्य की वृद्धि होती है वैसा अन्यों के भीतर सत्य का प्रभाव नहीं ठहर सकता इस कारण वेद के मन्त्र ऋतवर्धक हैं। अविद्या अन्धकार पक्षपात अज्ञान से सर्वथा रहित होने के कारण जैसा वेद से मनुष्य का हित सिद्ध हो सकता वैसा अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं इस लिये 'हुवानाः, विशेषण है। और मन्त्र ही सब देवता हैं देवताओं से जो कार्य सिद्धि मानी जाती है वह मन्त्रों के विना नहीं हो सकती पूर्वमीमांसाकार जैमिनिने इसी अभिप्राय से मन्त्रों को ही देवता माना है। जो कवि नाम परमेश्वर ने कहे वे ही मन्त्र हैं किन्तु मनुष्य निर्मितछन्द वा पद्यादि वास्तव में वेद के सामने मन्त्र नहीं हैं। इसी से ब्राह्मणादि किसी

ग्रन्थ में अतिव्याप्ति दोष नहीं आसकता क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रन्थ कविशस्त नहीं हैं। यदि सामश्रमी जी के अनुसार "मन्त्रा मननात्" केवल इतना ही मन्त्रशब्द जी का अर्थ मान लिया जाय तो अतिव्याप्ति दोष कैसे हट सके गा ?। सामश्रमी जी ने इस अतिव्याप्ति का कुछ समाधान नहीं किया और करते हों कहां से जब मूल वेद अपने पदों का स्वयमेव व्याख्यान दिखाता है उस का आश्रय नहीं लिया। अर्थात् ईश्वरोक्त छन्द मनन हेतु होने से मन्त्र हैं ऐसा मानने से ही अतिव्याप्ति दोष का समाधान हो जाता है।

कवि शब्द परमेश्वर का वाचक है इसी से "कविना निर्मितं काव्यम्" कवि नाम परमेश्वर ने निर्माण वा प्रकाशित किया काव्य वेद का नाम है। सो काव्य शब्द "काव्यं छन्दः" इत्यादि प्रकार वेद में वेद का नाम काव्य आया है और वेद का काव्य नाम महीधरादि के भी सहमत है यह हम छन्दः पद के व्याख्यान में पूर्व लिख चुके हैं। स्तुति के योग्य भी वेद के तुल्य अन्य कोई नहीं इस कारण स्तुतः विशेषण भी सार्थक है। द्वितीय-

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ॥ ऋ० ७।३२।

भा०-हे मनुष्यो ! (यज्ञियेषु) परमेश्वर की पूजा उपासनादि उत्तम कामों में (अखर्वम्) बड़ी प्रतिष्ठा के योग्य महत्कार्यसाधक (सुधितम्) जगत् का अच्छा धारण वा पोषण करने वाले (सुपेशसम्) अच्छे रूप से उच्चारण किये (मन्त्रम्) वेदवाक्य को (आदधात) प्रयुक्त करो। इत्यादि वेद के अनेक स्थलों में मन्त्र शब्द आता है जिस की विशेषणों द्वारा व्याख्या देखने से सब प्रकार के अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति दोष दूर हो जाते हैं। हमारा आशय यह नहीं है कि निरुक्त में किया मन्त्र शब्द का निर्वचन किसी प्रकार दूषित है। किन्तु तात्पर्य यह है कि वेद में आये मन्त्रपद के व्याख्यान को जानते हुए वा मानते हुए निरुक्तकार ने शब्द का निर्वचन किया है सो ठीक है निरुक्त का आशय यह नहीं है कि मननार्थ मात्र से ही मन्त्र मानो किन्तु कविशस्त वेद के छन्द मनन के हेतु होने से मन्त्र कहाते हैं यह निरुक्त का अभिप्राय है तब ब्राह्मणादि में अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। अब रहा यह कि प्रायः विद्वान् लोग भी उपनिषत् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के छन्दों को भी मन्त्र कहते हैं सो छन्द आदि पदों के समान मन्त्रों के तुल्य कार्य साधक मानकर गौण रीति से कहने वा लिखने का प्रचार चलगया है। प्रशंसार्थ उपनिषदादि के छन्दों को मन्त्र कहना कुछ

बुरा भी नहीं परन्तु वेद के सामने वा कविप्रोक्त मान कर उन को मन्त्र कहना मानना ठीक नहीं है। और ताण्ड्य महाब्राह्मण वा तैत्तिरीयादि ग्रन्थों में आने वाले छन्दों को मन्त्र ठहराने का उद्योग करना यह सामश्रमी जी की एक बात है किन्तु निरुक्त का अभिप्राय यह नहीं है कि कविशस्त ईश्वरोक्त से भिन्नों को भी मन्त्र मानो। और उन ब्राह्मणादि ग्रन्थों में "देव सवितः प्रसुव०" इत्यादि वेद के ही मन्त्र जो २ नकल हुये हैं उन को ईश्वरोक्त होने से ही मन्त्रत्व स्वतः सिद्ध है क्योंकि "प्रकृतिवदनुकरणं भवति" प्रकृति मूल के तुल्य ही नकल होती है इस कारण ब्राह्मणादि में नकल करने पर भी वे पद्य ईश्वरोक्त मन्त्र बने रहेंगे। और ब्राह्मणोपनिषदादि के निज पद्य गौण भाव से प्रशंसार्थ अन्य ग्रन्थस्थ पद्यों की अपेक्षा मन्त्र कहे जा सकते हैं। तथा निरुक्तकार और जैमिनि के दो प्रकार के मन्त्र लक्षणों पर विवाद वा शङ्का समाधान लिखना व्यर्थ है क्योंकि जब मान लिया गया कि मूल वेद में आये मन्त्र शब्द के लक्षण की अपेक्षा रख के निरुक्तकार वा जैमिनिने विशेष एकांश का लक्षण किया है तो विवाद स्वयमेव मिट गया अब रहे विध्यर्थवादादि मन्त्रों के भेद उन में कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है॥

अब द्वितीय विचार संहिता शब्द के ऊपर है क्योंकि मन्त्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है। उस में अनेक लोगों की सम्मति ले कर सामश्रमी जी ने पद पाठ, क्रम पाठ और क्रम से होने वाले जटा आदि आठ विकारों को भी एक प्रकार की संहिता माना है हमारी समझ में यह ठीक नहीं है क्योंकि वर्त्तमान काल में संहिता शब्द का जो अर्थ व्याकरण कोषादि में प्रसिद्ध है वह वेद के अनुकूल है "सथं हितासि विश्वरूप्यूर्जा० यजु० अ० ३। २२।" इस मन्त्र में महीधर ने भी संहिता शब्द का अर्थ संयुक्ता किया है। और वास्तव में ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में संहिता शब्द का संयुक्तार्थ वाची माना जाना वेद मूलक होना ही चाहिये। वेद से ही प्रत्येक शब्दों के अर्थ पहिले २ व्याकरणादि लौकिक ग्रन्थों में लिये गये जैसे अर्थ में जो शब्द वेद में आया प्रतीत हुआ वैसे ही अर्थवाले सामान्य वा विशेष पदार्थों का नाम ऋषि लोगों ने रक्खा यह सिद्धान्त बहुत ठीक है। दधि+अत्र इन दो शब्दों को मिलाकर बोलना चाहें तो यही संहिता कहाती है और संहिता पक्ष में इक् के स्थान में यण् हो कर दध्यत्र बोला जाता है। किसी श्लोक के पदच्छेद कर डालें तो वहां संहिता

गताङ्क पृ० १५२ से आगे पुनर्जन्म विचार ॥

ही काट कर बोने से उगना यही ईश्वरीय नियम है। मिर्च मिश्री आदि में जीव वा जीवन का कोई अंश नहीं। उन के खाने से जीवन को सहायता मिले यह और बात है। ऐसे तो सभी जड़ पदार्थों में कुछ न कुछ शक्ति है वह सब ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही काम देती है। संयोग से उत्पन्न होने वाले गुण भी ईश्वरीय नियमों से विरुद्ध नहीं होते जिन वस्तुओं के संयोग से ईश्वरीय नियमानुसार जैसा गुण प्रकट हो सकता है उस से विपरीत मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। गधी घोड़े के मेल से जो खच्चर होता उस की आकृति कुछ गर्दभ जाति और कुछ अश्व जाति दोनों से मिलती है। दो के मेल से तीसरा वस्तु उन दोनों से कुछ विलक्षण होना यह भी ईश्वरीय नियम है घोड़े और गधी के मेल से ऊंट वा बिल्ली उत्पन्न क्यों नहीं होती? इस का कारण तुम क्या बता सकते हो यदि कारण का नियम कहोगे तो उस के लिये भी नियन्ता की आवश्यकता है। यदि यह आशय हो कि विना नियम के काम दीखते हैं तो यह भूल है क्योंकि किन्हीं वस्तुओं में किसी अंश का नियम न होना भी एक नियम है। जैसे किसी वस्तु का किसी के साथ मेल होने से कई प्रकार के वस्तु बन जाते हैं तो वहां एक नहीं बनना अनेक बनना भी एक नियम है। और सब नियमों का नियन्ता भी मानना ही पड़ता है जैसे कोई कर्म कर्त्ता के विना नहीं होता वैसे नियम का होना भी नियन्ता को सिद्ध करता है।

जो मरता जीता है उस का नाम ईश्वर नहीं और जो ईश्वर है वह कभी मरता जीता नहीं। जो जन्मते हैं वे ही मरते हैं ईश्वर का जन्म लेना ही पहिले सिद्ध नहीं है कोई नहीं सिद्ध कर सकता कि ईश्वर के माता पिता अमुक२ थे तब जिस का जन्म नहीं उस का मरण मानलेना वा कहदेना केवल लड़कपन है। क्षेत्रादि साधनों के ठीक २ होने से गेंहूं आदि का उगना और साधनों के यथावत् न होने से न उगना यह भी ईश्वरीय सृष्टि के नियम को जतलाता है कि सृष्टि के आरम्भ में भी ठीक २ साधनों के होने पर ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई वैसे ही सदा सृष्टि होती है॥

सृष्टि के आरम्भ में जैसे प्रकृति में स्त्री पुरुष दोनों की शक्तियों को प्रकट कर परमेश्वर ने उन दोनों के संयोग से सब जगत् को बनाया। इस का विशेष

वर्णन मनु के प्रथमाध्याय में और रयि प्राण आदि शब्दों से प्रश्नोपनिषद् में वर्णन है। जैसे सर्गारम्भ में स्त्री पुरुष दोनों शक्तियों के संयोग से संसार की उत्पत्ति हुई वैसे अब भी कहीं प्रकट कहीं गुप्त दोनों शक्तियों का वा स्थूल स्त्री पुरुषों का मेल हो कर सृष्टि होती है और आगे होगी दोनों के संयोग हुए विना न कभी कोई पदार्थ जगत् में उत्पन्न हुआ न हो सकता है। अर्थात् संयोगजन्य कोई भी वस्तु उन २ कारण पदार्थों का संयोग हुए विना कदापि उत्पन्न नहीं होता बहुत से सूत मिला कर कपड़ा बनता है वह कभी एक सूत से नहीं बन सकता। ऐसे ही पृथिवी में जो बीज बोया जाता है वहां बीज पुरुषरूप वा सूर्य की किरणों द्वारा प्राणशक्ति जो पृथिवी में प्रवेश करती है जिस के विना कोई बीज नहीं उग सकता वह पुरुष रूप और पृथिवी वास्तव में स्त्री है उन दोनों के संयोग से गेहूं जौ आदि ओषधियां वा वनस्पति वृक्षादि होते हैं। एक बीज मात्र से कभी नहीं ओषधि वृक्षादि हो सकते। इस में कोई यह कह सकता है कि कभी २ पृथिवी में बोये विना ही टोकरे आदि बर्तन में धरा २ चनादि अन्न केवल ही जमने लगता है। तो इस का उत्तर यह है कि यहां जो जल का संयोग बीज के साथ होता है वह जल स्त्री शक्ति प्रधान और पुरुष शक्ति प्रधान बीज दोनों का संयोग ही उगने का कारण है वह जल चाहे मनुष्य ने मिलाया हो वा स्वयं पड़ गया हो वा ईश्वरीय नियमानुसार वर्षा काल में सभी पदार्थों में स्वयमेव विशेष कर जल प्रवेश करता है तभी प्रायः पृथिवी में बोये विना भी बीज उगने लग जाता है। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ वैशाख में वर्षादि हुए विना बीज नहीं उगता। इस से सिद्ध होगया कि केवल बीज से गेहूं जौ आदि नहीं उगते। प्रायः सजीव स्थावर तथा जंगम सभी प्राणियों की उत्पत्ति के चार कारण प्रधान कर सुश्रुतकार ने माने हैं कि—सुश्रुत शारीरस्थाने—

ध्रुवं चतुर्णां सामर्थ्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥ १ ॥

भा०—जैसे ऋतु-समय, खेत, जल और बीज इन चारों के एकत्र होने से अवश्य गेंहू आदि उगते हैं वैसे ही मनुष्यादि की उत्पत्ति में स्त्री का रजोधर्म होना रूप ऋतु-समय, स्त्री का गर्भाशयरूप खेत, गर्भाधान के पश्चात् दूध वा जल का पीना जल अथवा पुंसवनसंस्कार के नाम से दूध में पकायी ओषधि का रस नासिका द्वारा जो पिलाया जाता है वह जल और पुरुष का वीर्य इन

चारों का यथावत् निर्दोष संयोग होने पर विधि पूर्वक ठीक २ गर्भस्थिति हो जाती है। सामान्य कर सभी पार्थिव मनुष्यादि पदार्थों की उत्पत्ति में मुख्य कर सूर्य पिता और पृथिवी माता है वा सूर्य पुरुष और पृथिवी स्त्री है वेद में भी स्पष्ट लिखा है कि "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" तथा "द्यौष्पिता पृथिवीमाता" मनुष्य की उत्पत्ति में प्राणशक्ति प्रधान होने से पुरुष सूर्यरूप और अपानशक्ति प्रधान स्त्री पृथिवीरूप है तथा सूर्य और पृथिवी की साक्षात् भी बाहिरी सहायता मिलने से मनुष्य उत्पन्न होते हैं। तथा वृक्ष वनस्पत्यादि में सूर्य से वर्षा हो कर पृथिवी में सब स्थावर उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि स्त्री पुरुष दोनों का संयोग हुए विना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होता। इस से भिन्न एक वार्त्ता यह भी है कि सब जगत् में मनुष्यादि के शरीरादि सभी स्त्री पुरुष दोनों के संयोग से बनते हैं तो स्त्री वा पुरुष तथा पृथिवी वा सूर्यादि सभी में स्त्री पुरुष दोनों का भाग मिला है। पुरुष के शरीर में मांस रुधिरादि कोमल भाग स्त्रीरूप माता का और हड्डी आदि कठोरांश पुरुषरूप पिता के शरीर का भाग है इसी प्रकार स्त्री वा कन्या के शरीर में भी दोनों का भाग जानो। भेद केवल यह है कि स्त्री के शरीर में पुरुष का अंश कम वा गौण है और पुरुष में स्त्री का अंश कम वा गौण है अपना २ अंश दोनों में प्रधान है इसी प्रधानता के कारण स्त्री पुरुष के भेद का व्यवहार बनता इसी से स्त्री सूत्रङ्गी कहाती है। ऐसी दशा में यदि कहीं बीज वा खेत किसी एक से भी किसी वस्तु की उत्पत्ति हो जावे तो भी स्त्री पुरुष दोनों के संयोग से उत्पत्ति होने का नियम ठीक ही माना जायगा क्योंकि बीज में खेत और खेत में बीज दोनों दोनों में व्याप्त हैं तथापि जिस की जिस में प्रधानता होती है वह अपनी प्रधानता से प्रायः गौण को इतना वा ऐसा दबाये रहता है कि मानो द्वितीय इस में नहीं है इसी से स्त्री वा पुरुष किसी एक से सन्तान नहीं होते। और स्त्री स्वप्न में मैथुन करे तो वास्तव में गर्भ नहीं होता किन्तु भ्रान्तिमात्र हो जाती है। हमारे पास एक प्रश्न आया था कि दक्षिण में एक स्त्री गर्भवती थी प्रतिमास उस का गर्भ धीरे २ बढ़ता गया। वह जिस ग्राम में रहती थी वहां से बाजार दूर पर था इस कारण नववां मास जब आरम्भ हुआ और उस के पतिने प्रसूति का समय निकट समझा तो उस का पति बाजार से सब ओषधि आदि लेआया कि जो प्रसव के समय स्त्री की रक्षा के लिये काम पड़ती हैं। नववां महिना पूरा होने में जब थोड़े

दिन शेष रहे तो एक दिन अकस्मात् कान में से मरोहट के साथ वायु निकल गया पेट खाली हो गया गर्भ का पता भी न लगा कि कहां गया। इस आश्चर्य का कारण मुझ से पत्र द्वारा पूछा गया तो यही उत्तर मैंने दिया था कि—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् ।
आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥ १ ॥
मासिमासि विवर्द्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ २ ॥

भा०—रजोदर्शन के बाद स्त्री स्नान कर शुद्ध हो पुरुष की चाहना रखती हो और पति देशान्तर जानेआदि कारण से न मिल सके तभी यदि स्त्री को सोते समय मैथुन का स्वप्न हो तो उदरस्थ वायु आर्त्तव रुधिर को लेकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर गर्भ रूप से बढ़ता है वायु की गांठ बंध जाती है। अन्त में जब प्रसव का समय आता है तब वह वायु की गांठ खुल जाती है और किसी मार्ग से बाहर निकल जाती है। रहा आर्त्तव रुधिर का जमजाना सो पीछे पिघल २ कट २ निकल जाता है इस कारण स्वप्न के गर्भ से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जब दो स्त्री मिल कर मैथुन करें और गर्भ रह जाय तो हड्डी रहित सर्पादि के तुल्य विलक्षण कोई जन्तु हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि बीज के विना कोई उत्पन्न नहीं होता जहां कुछ होता है वहां वैसी बीजशक्ति खेत वा स्त्री में हो व्याप्त है। पूरी वा प्रधान न होने से ठीक सन्तान भी नहीं होते इस से बीज खेत दोनों का नियम सर्वत्र सिद्ध है। सब काम नियम से होते विना नियम कुछ नहीं होता यह सब सिद्ध हो गया अब इस पर लिखना समाप्त है ॥

प्रश्न (४) अन्य योनियों में भी क्या पाप वा पुण्य का विचार है? क्योंकि उन में बुद्धि नहीं होती।

उत्तर—जैसे सब संसार में पाप पुण्य की व्यवस्था भिन्न २ प्राणियों में न्यूनाधिक भाव से चढ़ती उतरती दीखती है किन्तु सब को एक से ही पापपुण्य नहीं लगते। सो यह बात भिन्न २ जातियों के लिये ही अलग २ हो सो नहीं किन्तु एक २ जाति में भी देशकाल और अवस्थादि के भेद से वा मुख्य कर ज्ञान के न्यूनाधिक भेद से पाप पुण्य न्यून वा अधिक लगते हैं। मनुष्य जाति में बाल्यावस्था में पाप पुण्य लगना नहीं माना जाता। आज कल अंगरेजी राज में

भी दश वर्ष तक का बालक कुछ अपराध करे तो उस के लिये कुछ भी दण्ड नियत नहीं किया । अठारह वर्ष से पहिले रियासत वा गद्दी का अधिकारी नहीं होता इतनी अवस्था तक किसी विषय में प्रतिज्ञा पत्र (इकरारनामा) लिखे तो वह ठीक (जाइज़) नहीं माना जाता । इसी प्रकार आर्यों के धर्मशास्त्र में भी दशवर्ष के भीतर की अवस्था वाले को कोई प्रायश्चित्त नहीं लगता, १०–१५ तक आधा प्रायश्चित्त लगता है । सो यह बात युक्ति से भी ठीक है कि कोई प्राणी अच्छे वा बुरे जो कुछ काम करता है उस से जो मन में अच्छे बुरे संस्कार (ख़्यालात) उत्पन्न होते हैं उन्हीं का नाम संचित पाप पुण्य है उन का लगना न लगना यही है कि स्मरण बना रहे । सो छोटे बालकों को वा उन्हीं के तुल्य दशा वाले अत्यन्त मूढ मनुष्यों को अपने किये भले बुरे कामों का कुछ भी स्मरण नहीं रहता यही पाप न लगने का चिह्न है । इसी प्रकार अन्य पश्वादि योनियों में भी प्रायः अत्यन्त मूढ दशा बालकादि के समान ही है । जैसे अत्यन्त मूढ को विशेष सुख दुःख वा हर्ष शोक नहीं व्याप्त होते वैसे उच्च कक्षा के ज्ञानी परमार्थी सत्तम पुरुषों को भी निन्दा स्तुति मानापमानादि से सुख दुःख हर्ष शोक नहीं लगते उन के हृदय वा मन में बाह्य विषयों की छाया वा प्रतिबिम्ब चिरस्थायी नहीं पड़ता इस से उन को पाप पुण्य विशेष नहीं लगते । और ज्ञानी वा योगी पुरुषों का पाप कर्मों में भी चित्त लगे तो वे ज्ञानी वा योगी कहने मानने योग्य नहीं हो सकते तात्पर्य यह कि पाप कर्म वे करते ही नहीं और जो कुछ स्वाभाविक देखना सुननादि करते हैं उन से कुछ विशेष दोष उन को नहीं लगता । इस लेख का तात्पर्य यह हुआ कि पश्वादि मनुष्य से नीची योनियों में पाप पुण्यों का विशेष संचय नहीं होता यदि किन्हीं कामों से कुछ २ कभी २ होता भी है तो वह इतना कम होता है कि जिस की गणना न हो सकने से यही कहा वा माना जाय कि पाप पुण्य नहीं लगते । और पश्वादि योनि में बुद्धि नहीं यह कहना कम बुद्धि होने के कारण माना जाय तो ठीक है । जैसे प्रत्येक मनुष्य में बुद्धि कुछ न कुछ अवश्य होती है पर जिन में बहुत कम होती है उन्हीं को निर्बुद्धि वा बुद्धि हीन (बेअक़ल) मूर्ख आदि शब्दवाच्य कहते हैं तात्पर्य यह कि पश्वादि में भी बुद्धि तो अवश्य है जिस के अनुसार वे अनेक काम निश्चयात्मक विचार से करते हैं उस निश्चयात्मक विचार का नाम ही बुद्धि है ॥

प्रश्न–५ अहिंसा यदि पाप है तो अश्वमेध गोमेध करना क्यों लिखा है ?

उ०—प्रश्नकर्त्ता की लिखने में भूल है अभिप्राय उन का यही मालूम होता है कि हिंसा यदि० इत्यादि तात्पर्य ही ठीक है। इस का उत्तर यह है कि अहिंसा तो पाप नहीं परन्तु हिंसा अवश्य पाप है। परन्तु वेद में अश्वमेध गोमेध जो लिखे हैं उन का अभिप्राय यह नहीं था न है कि घोड़ा वा गौ को मार कर यज्ञ में चढ़ाये जायँ। वेद में लोगों को जब भ्रान्ति हुई और वेद का गूढ़ाशय नहीं समझा तब यह सीधा अर्थ समझ लिया कि घोड़ा गौ आदि को मार कर होम करना चाहिये तभी से यह विरोध लोगों को प्रतीत होने लगा कि वेद का सिद्धान्त इधर हिंसा को पाप मानना और इधर गोमेधादि में हिंसा भी कराना यह परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त क्यों है ?।

इस विषय पर पहिले से श्रीमत्स्वामि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में समाधान लिखा है सो तो सब महाशयों को ज्ञात ही होगा। तदनन्तर मैं भी आर्यसिद्धान्त में यथावसर भिन्न २ प्रसंगों में समाधान लिख चुका हूं। इस कारण पिष्टपेषणवद्दोष देख कर विशेष वा वही समाधान बार २ लिखना तो आवश्यक नहीं तथापि यहां संक्षेप से कुछ समाधान लिखते हैं। वेद में प्राकृत नियमों से यज्ञ का वर्णन अनेक स्थलों में स्पष्ट ही आता है उस में कोई सामान्य और कोई विशेष हैं। जहां सामान्य यज्ञ का वर्णन है वहां सृष्टि के सब प्रधान भाग यज्ञसम्बन्धी भिन्न २ कार्य करने वाले वा यज्ञ के साधनों में वर्णन किये जाते हैं। जैसे कल्पना करो कि यह सब ब्रह्माण्ड एक यज्ञस्थल है। उस में यह पृथिवी सब वेदी यज्ञकुण्ड है "इयं वेदिः परो अन्तः-पृथिव्याः (यजु० २३। ६२) प्राकृत महान् यज्ञ के लिये यह पृथिवी ही वेदि—यज्ञ-कुण्ड है। अग्निर्होता कविक्रतुः" अग्नि सब पदार्थों को भस्म करने वाला है पार्थिव मनुष्यादि जड़ चेतन सभी को पृथिवी रूप वेदी में होम कर २ अग्नि भस्म कर रहा है। सब नक्षत्र और चन्द्रमा सहित नीलवर्ण अन्तरिक्ष मण्डल इस यज्ञ का मण्डप है जिस से रात्रि के समय पृथिवीरूप वेदि शोभित विभूषित होती है। वायु इस यज्ञ का अध्वर्यु है सब वस्तुओं की चेष्टा कर्म द्वारा संचय कर २ होम के लिये यथोचित स्थानों में धरता पहुंचाता है। सूर्य इस यज्ञ के होम्य पदार्थों को भस्म करने वाला अग्नि है। इत्यादि प्रकार जगत् के सब पदार्थ इस प्राकृत यज्ञ के साधन हो जाते हैं। तथा

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् यजु० अ० ३१।१५

अग्नि वायु आदि देवता स्वाभाविक यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुष नाम विराट् जगत् रूप शरीर को पशु नाम यज्ञ के लिये दुग्धादि के तुल्य हविष्य बनाने के लिये बांधते हैं अर्थात् जैसे होम्य वस्तुओं में प्रधान वस्तु घृत पशु से ही निकलता है वैसे नैसर्गिक यज्ञ के होमनीय मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्षादि सब पदार्थों को दुहने वा उत्पन्न करने के लिये देवतों ने विराट् जगत् रूप एक पुरुष पशु नियत किया है कि इस विराट् पशु से मनुष्यादि उत्पन्न हो कर पृथिवीरूप वेदि में होम (लय) होने के लिये नित्य २ सामग्री तयार होती रहे। इस सामान्य यज्ञ की सात परिधि अर्थात् मेखला हैं। गायत्र्यादि सात छन्द इस की परिधि हैं। अथवा सप्तव्याहृति नामक सप्तविध लोक इस यज्ञकुण्ड की मेखला हैं। तथा बारह महिने छः ऋतु तथा भूत भविष्य वर्त्तमान ये तीन काल के भेद ये २१ इक्कीश समिधा इस महान् यज्ञ के लिये नियत की गई हैं। जैसे समिधारूप ईंधन से यज्ञकुण्ड में पड़ने वाला सब सामान भस्म होता जाता है वैसे इन काल विभागों के चक्र से सब मनुष्यादि प्राणी वा स्थावर वृक्षादि जीर्ण वृद्ध हो २ पृथिवीरूप यज्ञकुण्ड में समाते जाते हैं इस लिये यह स्वाभाविक यज्ञ ईश्वर की सृष्टि में स्वयमेव नियमानुसार प्रतिक्षण हो रहा है। यह यज्ञ कल्पभर होता और ब्राह्मरात्रिरूप प्रलय में यज्ञानुष्ठाताओं को विश्राम मिलने के लिये बन्द रहता है। इस प्राकृतयज्ञ के वर्णन विषय में वस्तुतः विशेष लिखने की अपेक्षा है सो यथावसर फिर कभी लिखेंगे। यहां प्रयोजन यह था कि जैसे प्राकृत सामान्य यज्ञ का वर्णनहै वैसे विशेष भी प्राकृत यज्ञ वेद में दिखाये हैं जिन में अग्नि आदि एक २ देवता से ही विशेष सम्बन्ध दिखाया है। "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त" अग्नि को पशु नियत किया उस से यज्ञ हुआ। जैसे पशुजन्य घृतादि से होम होता वैसे आग्नेय पदार्थ जहां होम की सामग्री हो वहां अग्निसाध्य यज्ञ होगा। "अग्निर्वा अश्वः" अग्नि का ही नाम अश्व है। वेद में जैसे सभी शब्द यौगिक सामान्यार्थ बोधक हैं वैसे अश्व शब्द भी वेद का हीं है। अश्व शब्द का अर्थ आशु नाम शीघ्र चलने वा बढ़ने वाला वा चलाने वाला है। इस सामान्यार्थ से जितने २ अंश में जो २ वस्तु आशुगामी हों उन सब का नाम अश्व होगा। लोक में घोड़े का अश्व नाम भी अन्य वृषभादि पशुओं की अपेक्षा शीघ्रगामी होने से हुआ है। परन्तु अग्नि में जो विद्युत् शक्ति है उस के समान आशुगामी अन्य पदार्थ नहीं हैं। आकाश से विद्युत् जब किसी पार्थिव वृक्षादि पर

पहुंची है तो वह इतने सूक्ष्म काल में अपना काम कर जाती है कि जिस को ध्यान में लाना भी कठिन है। साम्प्रतिक अंग्रेज़ी राज्य में तो तड़ित्तन्त्रादि अति शीघ्र होने योग्य सभी काम विद्युत् के आधीन रक्खे गये हैं वेद में भी अग्नि के तुल्य शीघ्रगामी अन्य कोई वस्तु नहीं इसी लिये इस को सब देवताओं का दूत वेद में माना है। यह अग्नि ही होम किये वस्तुओं को लाखों क्रोड़ों कोश तक सब देवताओं के पास अति शीघ्र पहुंचा देता है। इत्यादि कारण अग्नि का ही नाम मुख्य कर अश्व है। इस अश्व नामक अग्नि के सम्बन्धी अतिप्रशस्त गुणों को अपने शरीर मन आत्मा पुत्र इष्ट मित्र कलत्रादि में उन्नति के लिये जो मेध नाम यज्ञ है उस का नाम अश्वमेध जानना चाहिये। इस यज्ञ में अग्नि का ही मुख्य उद्देश है इस से इस को अग्निमेध कहना भी विरुद्ध नहीं। इस लेख से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि वेद के सिद्धान्तानुसार अश्वमेध का केवल यही तात्पर्य है अन्य कुछ नहीं। किन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि यदि अन्य भी कुछ अधिक आशय हो तो इस लेख के अनुकूल अवश्य होगा किन्तु विरुद्ध नहीं होगा।

इसी प्रकार गौनाम पृथिवी का है भूमि सम्बन्धी प्रशस्त गुणों की वृद्धि के लिये जो भूमि देवता के उद्देश से पार्थिव पदार्थों का ही विशेष होम किया जाय उस का नाम गोमेध यज्ञ है। पृथिवी का गो नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस कारण इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न (६) ईश्वर और मुक्ति पाये हुए जीव में क्या अन्तर है ? ॥

उत्तर-(प्रश्नः) कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि, सन्ति च बहवः केवलिनः ? (उत्तरम्) ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः—ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ॥ तथा-यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य, स सर्वज्ञः सच पुरुषविशेषइति। योगभाष्यसमाधिपादे सू० २४। २५ ॥

भाषार्थः—योगभाष्य में भी यह ही प्रश्न किया गया है कि जो हमारे मित्र ताल ग्राम निवासी ने किया है कि-यदि अविद्यादि क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों के फल भोग से जो अलग है उस का नाम ईश्वर है तो ऐसे मुक्ति को प्राप्त जीव भी अनेक हैं जो अविद्यादि क्लेशों और शुभाशुभ कर्म फल भोगों से निवृत्त होकर

ही मुक्त हुए हैं उनको भी ईश्वर क्यों न मान लिया जावे ? वे भी ईश्वर हो जांय तो अनेक ईश्वर मानने पड़ें गे और उन में लड़ाई बखेड़ा होना भी संभव है ॥

इस प्रश्न का उत्तर वहां यह दिया गया है कि जैसे केवली पुरुष तीन प्रकार के बन्धनों को काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं वैसे ईश्वर को न कभी कोई बन्धन हुआ न होगा, तथा जैसे मुक्तपुरुष मुक्ति होने से पहिले जन्म मरण के प्रवाह में पड़ा महादुःख भोगता रहा वैसे ईश्वर कभी जन्म मरण में नहीं पड़ता। तथा ईश्वर सर्वज्ञ है जीव फिर भी ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञ ही है। ईश्वर में असीम ज्ञान, असीम विद्या, असीम शक्ति है उस की विद्या वा शक्ति के तुल्य वा उस से अधिक विद्वान् शक्तिमान् बलवान् अन्य कोई है ही नहीं तो मुक्त जीव उस की बराबरी कैसे कर सकें गे। चाहे यों कहो और मानो कि जिस के तुल्य वा जिस से अधिक शुद्ध निष्पाप निर्लेप मुक्त स्वभाव तेजोमय ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप अनादि अनन्त, अनन्तशक्ति न कोई कभी हुआ न कोई है और न हो सकता है उसी का नाम ईश्वर है। इस दशा में सोचने से जान लोगे कि मुक्त जीवों तथा ईश्वर में कितना वा क्या अन्तर है ॥

प्रश्न (७) वेद ईश्वरकृत किस प्रकार है ? । अन्य कोई ग्रन्थ क्यों नहीं । उन चार ऋषियों पर ही वेद क्यों नाज़िल हुए ? ॥

उत्तर—वेद ईश्वरकृत हैं इस का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रत्येक कल्प के आरम्भ में परमेश्वर इस सब जगत् को प्रकट करता वैसे ही अपनी अनादि विद्या वेद को भी किन्हीं योग्य पुरुषों के द्वारा प्रकट कर देता है यही वेद का ईश्वरकृत होना है। वास्तव में तो वेद नित्य अनादि है उस की नवीन उत्पत्ति कभी नहीं होती। केवल संसार की रचना के साथ वेद का आविर्भाव होना ही वेद की उत्पत्ति है इसी से वेद ईश्वरकृत कहाता है। जगत् में सभी पदार्थ जो मनुष्य की विद्या बुद्धि परिश्रम से बन सकते हैं उन को बनाने के लिये ईश्वरस्रष्टा मानने की आवश्यकता नहीं होती किसी के उत्तम घर को बनाने वाला परमेश्वर है वा परमेश्वर के बिना ऐसा घर आदि कोई नहीं बना सकता ऐसा कोई नहीं मानता किन्तु सूर्य चन्द्र तारागणादि की विचित्र रचना देख कर बड़े २ विद्वान् मनुष्यों की भी बुद्धि चकराती है कोई नहीं मानता वा मान सकता कि सूर्य चन्द्रादि जगत् को कोई मनुष्य बना सकता है। इसी प्रकार विद्या सम्बन्धी जो २ पुस्तक मनुष्यों के बनाये हैं उन को देखने विचारने से यह भी प्रतीत होता है कि यह किसी मनुष्य ने किसी निज देश और

[illegible]

च्छेद स्पष्ट ही पाया जाता है कि यह किसी खास देश और किसी खास काल में किसी खास पुरुष ने बनाया है क्योंकि उस देश वा काल के अनुसार उस पुरुष के अनुभव उस पुस्तक में लिखे होते हैं विद्या सम्बन्धी विषयों पर भी मनुष्यकृत व्याख्यान किसी देशकाल के अनुभव से शून्य नहीं होते। तथा वह पुस्तकनिर्माता मनुष्य किसी निज जाति वा समुदाय में उत्पन्न हुआ वहीं पालन पोषण को प्राप्त हो समर्थ हुआ उस के विचार प्रायः अपनी जाति की ओर अवश्य झुके होते हैं। चाहे यों कहो कि मनुष्यकृत विचार वा पुस्तक सर्वथा पक्षपात से शून्य नहीं होता। और देश काल तथा वस्तु का परिच्छेद ही पक्षपात होने का कारण है। अन्य मनुष्यों की अपेक्षा किसी में अत्यन्त कम पक्षपात होना ही मनुष्य का निष्पक्ष होना है। इसी कारण सर्वथा निष्पक्ष एक ईश्वर ही सदा से है और मुक्ति में मनुष्य भी सर्वथा निष्पक्ष हो जाता है। इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार जिस पुस्तक को कोई मनुष्य नहीं बना सकता उस का बनाने वाला सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही हो सकता है। वेद में किसी देश काल और निज पुरुष का परिच्छेद नहीं है वेद के विषय किसी निज देश काल वा वस्तु से सम्बन्ध नहीं रखते, सब देशों सब कालों और सब प्राणीमात्र के लिये वेद संबन्धी विचार हैं। वेद किसी एक जाति वा समुदाय का घरू पदार्थ नहीं है। जैसे मनुष्य के सब विचार सावधिक ससीम होते हैं। ईश्वर के सब काम उन के परिणाम तथा उस की शक्ति असीम है। मनुष्य के विचार से बना पुस्तक जैसे सर्वव्याप्त बातों से भरा नहीं होता क्योंकि मनुष्य के बुद्धि आदि सब साधन ससीम हैं मनुष्य अल्पशक्ति अल्पज्ञ है उस के विचार व्याप्त नहीं हो सकते वैसे ही ईश्वरीय सब साधन असीम वह सर्वज्ञ सर्वशक्ति है उस के विचार वा काम व्याप्त होते हैं। आकाश में सब रहते चलते फिरते हैं किन्तु किसी निज के अधिकार में आकाश नहीं है वायु में सभी प्राणी श्वास ले २ कर जीवित रहते हैं। अग्नि जल और पृथिवी भी सब प्राणियों के लिये हैं। जैसे ये पृथिव्यादि ईश्वरकृत होने से सब के साथ एकसा सम्बन्ध रखते हैं। वैसे वेद भी सब के साथ एकसा है इसी से वह ईश्वरकृत है। वेद को ईश्वरकृत ठहराने के लिये किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण वा युक्ति देने की विशेष आवश्यकता इस लिये नहीं है कि वेद स्वतःप्रमाण है वेद के विषयों को कोई ठीक २ समझ ले तो उस का मन वा आत्मा संतुष्ट हो कर स्वयमेव निस्सन्देह मान लेगा कि वास्तव में ऐसे अव्याहत व्याप्त सर्वविद्या सम्बन्धी विषयों का इतने संक्षेप से वर्णन करना अल्पज्ञ मनुष्य का काम नहीं है जिस का बनाया वेद है वह वास्तव में सर्वज्ञ

ईश्वर है। जैसे वेद में एक वर्णव्यवस्था का विषय है इस को शोचो तो मालूम होगा कि वर्णव्यवस्था सब चराचर जगत् में व्याप्त है। इस जगत् में अग्नि ब्राह्मण वा शिर है क्योंकि।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। मुखादग्निरजायत। अग्निं यश्चक्र आस्यम्। इत्यादि वेदवाक्य और "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"

इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों से अग्नि का ब्राह्मणाङ्ग से पूरा सम्बन्ध है तथा (ब्राह्मणोऽस्य०) इस वेद वाक्य में सब ब्रह्माण्डरूप विराट् शरीर 'अस्य, पद से लिया जाय तो सूर्यरूप महान् कारणाग्नि उस देह का शिर वा मुख ठहरता है। तब यह आशय होगा कि इस विराट् देह का मुख ब्राह्मणांश सूर्याग्नि है। मुख का एक काम खाना भक्षण है सो सूर्याग्नि काल विभाग द्वारा सब पदार्थों को जीर्ण करता हुआ भक्षण करता है। जैसे मुख से पिया जल भीतर जाकर प्रस्राव हो के नीचे को निकलता है वैसे सूर्याग्नि सृष्टि के सब पदार्थों से जलखींच २ कर फिर नीचे मेघ द्वारा छोड़ा करता है।

वायु क्षत्रिय है बल सम्बन्धी सब क्रिया वायु से ही सिद्ध होती हैं। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का प्रधान काम है वायु के समान सब प्राणियों का रक्षक कोई नहीं है। द्युलोक वा स्वर्लोक ब्रह्माण्डरूप देह का शिर वा मुख है उस में सूर्य नेत्र के तुल्य है। स्वर्लोक और अन्तरिक्ष लोक की सन्धि विराट् पुरुष का सदरा वा बाहू हैं यही क्षत्रिय प्रधान लोक है। पृथिवी और अन्तरिक्ष की सन्धि में विराट् पुरुष के जङ्घा नाभि से नीचे और घोंटू से ऊपर का वैश्य भाग है अर्थात् जल तत्त्व का नाम मुख्य कर वैश्य है। वैश्य के सभी काम मुख्य कर जलतत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं। रूक्षता रूखापन वायु का प्रधान गुण है यही गुण क्षत्रिय है कोमलता जल का प्रधान गुण है वैश्य वर्ण में भी कोमलता तथा संयोजकपन प्रधान है सामाजिक उन्नति भी मुख्यकर वैश्य वर्ण से सम्बन्ध रखती है उस में भी परस्पर संयोग वा मेल प्रधान है और जलतत्त्व के बिना भी संयोगजन्य घटपटादि कोई पदार्थ नहीं बनता। आत्मिक उन्नति ब्राह्मणपन है। मन बुद्धि ज्ञान आदि नामक आग्नेय सूक्ष्म गुण हैं तभी यह कथन सङ्घटित होता है कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।
मानसोऽग्निः शरीरेषु जीवइत्यभिधीयते ॥

ये दो महाभारत के श्लोकार्द्ध हैं। ज्ञानरूप अग्नि सब दुष्कर्मों को भस्म कर डालता है। मन सम्बन्धी अग्नि शरीरों में मुख्य कर जीवन का हेतु है। शारीरिक उन्नति क्षत्रियपन है वायु के ठीक अनुकूल हुए बिना शारीरिक बल नहीं होता।

पृथिवीतत्त्व विराट् पुरुष का पाद है इसी का नाम शूद्र है। सुश्रुत में पार्थिव प्रकृति मनुष्य अत्यन्त स्थूल बुद्धि माना गया है उस में जड़ता अधिक और चेतनता कम होती है। इस प्रकार सब जगत् में व्याप्त सर्वरूप बने हुए ये तत्त्व ही ब्राह्मणादि चारो वर्ण हैं। सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण, सत्त्वगुण रजोगुण के मेल में क्षत्रिय, रजोगुण तमोगुण के मेल में वैश्य और तमोगुण प्रधान शूद्र है। ये सत्त्वादि गुण सब जड़ चेतन चराचर जगत् में व्याप्त हैं वैसे ब्राह्मणादि वर्ण भी सर्वव्याप्त जानो पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्ष वनस्पत्यादि सभी में चार कक्षा (दर्जे) हैं उन्हीं का नाम चार वर्ण है। बिल्व और पलाशादि वृक्ष ब्राह्मण, बट और खैर आदि क्षत्रिय तथा पीपल और गूलर आदि वैश्य वृक्ष हैं इस का व्याख्यान मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में यथास्थान मिलेगा। जैसे प्रत्येक मनुष्य के शरीर में शिर, मदरा, जङ्घा, पग ये चार भाग मिले हुए हैं इन में से एक २ भाग के बिना शरीर के सब काम नहीं चल सकते वैसे चारो वर्ण मिलकर यथोचित धर्म कर्म का वर्त्ताव करने वाले हों तो सृष्टि की ठीक २ स्थिति वा सुखपूर्वक निर्वाह चल सकता है। पर इस में यह भी विवेक अवश्य करने पड़ता है कि जो जैसा प्रधान वा श्रेष्ठ भाग है उस के बिगड़ने बनने में वैसा ही न्यूनाधिक जगत् में बिगाड़ बनाव होता है। जैसे शिर वा मुख शरीर भर में सब से अत्यन्त उत्तम भाग है। और शिर बनने में जैसा उत्तम कारण लगाया गया है वैसा अन्य बाहु आदि के बनाने में नहीं बुद्धिपूर्वक बड़े २ गम्भीर विषयों को शोचने जानने का मुख्य स्थान शिर ही है किसी मनुष्य की विशेषता (खासियत) हाथ पांव आदि अन्य किसी अङ्ग से नहीं समझी जाती यदि किसी का हाथ वा पांव काट कर कोई जानना चाहे कि यह कौन मनुष्य है तो जानना भी कठिन है परन्तु एक शिर से प्रत्येक मनुष्य की ठीक पहचान हो सकती है कि यह अमुक मनुष्य है। इसी कारण शिर की तसवीर प्रायः उतारने की चाल है शरीर के अन्य किसी एक अंश की प्रतिकृति नहीं उतारी जाती तात्पर्य यह है कि जैसे शिर में किसी प्रकार का रोग होने वा शिर की अधोगति से सब शरीर को जैसी हानि वा दुःख पहुंचता है वैसे ही जगत् में ब्राह्मण वर्ण की अधोगति वा अवनति होने से संसार की हानि होती इसी प्रकार क्षत्रियादि के बाहू आदि भागों की उन्नति अवनति में देह वा जगत् की उन्नति अवनति जानो। जैसे शूद्र एक निकृष्ट भाग है इसी कारण घोंटू से नीचे का भाग कट जाने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है पर लुंज तो अवश्य हो जाता है। इसी प्रकार वर्णव्यवस्था का विषय व्याप्तरूप से वेद में है।

और ऐसे ही विद्या के प्राकृत अंशों को साथ लिये सब धर्मसम्बन्धी अंशों का वेद में वर्णन है ऐसा पुस्तक आज तक किसी मनुष्य ने न बना पाया न कोई बना सकता है । इस कारण वेद ईश्वरकृत है इस पर अधिक व्याख्यान लिखें तो वेद के अगाध विषयों की समाप्ति होना ही दुस्तर है इसी व्याख्यान में यह भी आगया कि वेद से भिन्न कोई ग्रन्थ ईश्वरकृत नहीं हो सकता । अब रहा यह कि वेद उन चार ही ऋषियों द्वारा परमेश्वर ने प्रकट क्यों किये अर्थात् अन्यों द्वारा क्यों नहीं किये । इस का एक तो उत्तर यही है कि जिन ऋषियों के द्वारा और जितनों के द्वारा वेद का प्रकट होना तुम ठीक समझते हो हम थोड़ी देर को वैसा ही मानलें कि उन उतने ही ऋषियों द्वारा ईश्वर वेद को प्रकट करता तो क्या तुम्हारे समान हम शङ्का नहीं कर सकते कि उन उतने ही ऋषियों द्वारा वेद क्यों प्रकट हुआ ? । फिर इन से भिन्न अन्यों के द्वारा वेद प्रकट होता तोभी वही शङ्का होती । जैसे बहुत से कहार कहीं इकट्ठे हो रहे हों उन में से अपनी आवश्यकता के अनुसार कोई मनुष्य किन्हीं चार कहारों को ले आवे तब दूसरा कोई प्रश्न करे कि इन्हीं चार को तुम ने क्यों लिया तो अन्य किन्हीं चार वा छः को लेने पर भी यही प्रश्न हो सकता है तो वास्तव में ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है ।

और द्वितीय उत्तर यह है कि जैसे किसी नगर में से एक मनुष्य को कलक्टर का अधिकार किसी ने दिया और कोई प्रश्न करे कि उसी को यह अधिकार वा काम क्यों सौंपा गया तो मेरी समझ में सब लोग यही उत्तर ठीक समझेंगे कि उस काम वा अधिकार के योग्य उस से अधिक अच्छा अन्य कोई नहीं समझा गया तो यही उत्तर यहां भी ठीक समझो कि उन ऋषियों के तुल्य अन्य कोई अधिकारी नहीं समझा गया ॥

प्रश्न (८) स्वर्ग और नरक की निस्बत क्या ठीक राय है ? ॥

उत्तर—स्वर्ग और नरक के विषय में वेद के सिद्धान्तानुसार जो कुछ हमारी समझ में अब तक आया है वैसी ही ठीक सम्मति यहां संक्षेप से लिखेंगे— जैसे प्रत्येक विषय में वैदिक शब्दों के वाच्यार्थ किसी देश वा काल में बंधे नहीं हैं किन्तु सामान्य देश काल से यथा योग्य एक सा सम्बन्ध रखने वाले हैं। जैसे सब देश कालस्थ सब प्राणियों का उत्तमाङ्ग शिर ब्राह्मण और शिर से होने वाले अच्छे काम ब्राह्मणपन के प्रकाशक हैं । उन सब में उत्तम मध्यम निकृष्ट भेद होने से ब्राह्मणपन के अनेक अवान्तर भेद होंगे पर वे सभी ब्राह्मण सम्बन्धी

कार्यों में प्रधान क्षत्रियादि की अपेक्षा ब्राह्मण ही कहावेंगे । इस प्रकार जैसे सामान्य कर ब्राह्मणपन सर्वत्र व्याप्त है वैसे ही वेद के सिद्धान्तानुसार स्वर्ग नरक भी सब देशों सब स्थानों सब कालों और सब वस्तुओं से सामान्य कर सम्बन्ध रखते हैं । जैसे प्रधानांश को लेकर सर्वत्र व्यवहार होता अर्थात् जहां पृथिवी है वहां सर्वत्र ही जल भी व्याप्त है पर रूखे सूखे काष्ठादि पार्थिव पदार्थों में पृथिवी प्रधान है इस से उन को जल नहीं कहते और नदी कूप आदि में जहां जल प्रधान है और पृथिवी गौण है वहां जल का ही व्यवहार होता है वैसे ही स्वर्ग नरक सर्वत्र होने पर भी जहां जिस की प्रधानता है वह २ स्वर्ग वा नरक कहाता है । विशेष कर स्वर् शब्द वेद में आता है और वह आदित्य तथा द्यौ का नाम है । यह वही स्वर् शब्द है जो " भूर्भुवः स्वः " इन तीनों व्याहृतियों में है । व्याहृतियों के भी अध्यात्मादि विषय में अनेक अर्थ हैं । अध्यात्म विषय में प्राण का नाम भूर् अपान का नाम भुवर् और व्यान का नाम स्वर् है "व्यानः सर्वशरीरगः" सब शरीर में रहने वाले प्राण का नाम स्वर् है वैसे स्वर् वा स्वर्ग भी सब ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । आधिदैविक विषय में अग्नि का नाम भूर् वायु का नाम भुवर् और आदित्य का नाम स्वर् है । आदित्य एक कारणाग्नि का नाम है जिस से दिन रात्रि आदि काल विभाग होते हैं वह आदित्यरूप तत्त्व सामान्य कर सर्वत्र व्याप्त है उस का भी नाम वेद में स्वर् वा स्वर्ग है इस से स्वर्ग सर्वत्र ही सामान्यता से है और विशेष कर आदित्य का स्थान द्यु लोक है उस का नाम स्वर्ग है आधिभौतिक विषय में पृथिवी का नाम भूर् अन्तरिक्ष का नाम भुवर् और द्यौः का नाम स्वर् है। वास्तव में शुद्ध निर्मल सत्त्वगुण कारण प्रकाश का नाम स्वर् वा स्वर्ग है उस में चित्त वा मन को ग्लानि वा तमोगुण नहीं घेरता । और तमोगुण की प्रधानता विशेष अन्धकार का नाम नरक है । जैसे प्रधानता से आदित्य वा द्युलोक का नाम स्वर् है । वैसे पृथिवी के भी अनेक स्थानों में जहां शुद्ध सत्त्वगुणी प्रकाश और सुख के साधनों की अधिकता है वे २ स्थान विशेष उन से निकृष्ट स्थानों की अपेक्षा स्वर्ग हो सकते हैं तात्पर्य यह हुआ कि आदित्य तथा द्यौ का स्वर नाम होने पर भी पृथिवी में स्वर्ग होने का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि कोई नियम नहीं है कि अन्यत्र ही स्वर्ग हो और पृथिवी पर न हो अब इस विषय पर विशेष लिखने पर भी यही सिद्धान्त होगा इस लिये व्याख्यान बढ़ाना आवश्यक नहीं । यहां तक तालग्राम वाले सब प्रश्नों के उत्तर समाप्त होगये इति ॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य-

हमारे पाठक सब महाशयों को विदित हो कि इस नाम का एक लेख लिखने की जो काङ्क्षा प्रकट हुई उस का कारण यह है कि जब से आर्यसमाज की नींव पड़ी वा जन्म हुआ तभी से क्रमशः बालक के समान दिन २ इस की वृद्धि होती आई और अब भी होती जाती है। इस वर्त्तमान काल में सब से अधिक भूमण्डल के सुधार के लिये आर्यसमाज ने ही बोझा उठाया है इस कारण भविष्यत् में भी इस समाज से जगत् के सुधार की कुछ आशा हो सकती है। इसी लिये हम ने इस समाज का भावीकर्त्तव्य लिखना आरम्भ किया किन्तु अन्य सर्वसाधारण के लिये यह लेखनिषिद्ध नहीं है। भावी कर्त्तव्य लिखने का प्रयोजन यह है कि भूतकाल का कर्त्तव्य होना था सो हो चुका वर्त्तमान क्षण में जो हो रहा है वह आगामी भविष्यत् क्षण में त्याज्य हो सकता है इस कारण मनुष्य के सुधार के लिये जो कुछ उपाय हो वह सब भविष्यत् से सम्बन्ध रखता है।

यद्यपि आर्य और समाज दोनों ही शब्द अति प्राचीन वा अनादि हैं इन का सम्बन्ध भी नया नहीं क्योंकि अच्छे सज्जन पुरुष पहिले भी मिल कर अनेक अच्छे २ काम किया करते थे तब २ उन २ श्रेष्ठ लोगों के समुदाय को कोई आर्यसमाज कहते वा कह सकते थे यह सम्भव है। तथापि अब आर्यसमाज का वाच्यार्थ कृत्रिम वा रूढ समझा जाता है किन्तु यौगिक नहीं इस रूढि आर्यसमाज का जन्म वा आविर्भाव श्रीमत्स्वामिदयानन्द सरस्वती जी ने किया वे इस समाज के प्रधान आचार्य वा उपदेशक गुरु हुए। इस प्रसङ्ग में सब से पहिले हमें यह लिख कर प्रकट करना अच्छा प्रतीत होता है कि इस समाज के मूल आचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने किस विचार वा किस अभिप्राय से आर्यसमाज का आरम्भ किया था वह अभिप्राय कैसा था अब आर्यसमाज उस का पालन कहां तक करता है। जो कल्याण का मार्ग तपस्वी महात्मा ने बतलाया था क्या उसी मार्ग पर ठीक २ आर्यसमाज चला जाता है वा इस में कुछ हिल चल हुई है इत्यादि विचार प्रथम करना है।

इस में किञ्चित् भी सन्देह नहीं हमारा मन वा आत्मा निर्विकल्प स्वीकार करता है कि स्वामी जी महाराज का विचार वा अभिप्राय निष्पक्ष शुद्ध निस्स्वार्थ जगत् के कल्याणार्थ ही था उन्हों ने आर्यसमाज का आरम्भ मनुष्यों को ऐहिक

तथा पारमार्थिक सुख मिलने के लिये ही किया था । आर्यसिद्धान्त वैदिकसि-द्धान्त वेदोक्तधर्म ये सब एक ही आशय के शब्द हैं. स्वामी जी वैदिकधर्मरूप सूर्य के प्रकाश से ही अधर्मान्धकार की निवृत्ति तथा सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होना समझते थे सो उन का विचार बहुत शुद्ध था । धर्म से ही संसार की स्थिति है धर्म ही सब प्रकार की उन्नति का प्रधान कारण है । वेदोक्त कर्म ही वास्तव में संसार का ठीक धारक होने से धर्म पदवाच्य है । यदि अन्य पुस्तक मन्वादि में कहा भी धर्म है तो वह वेद को मूल मान कर कहा जाने से धर्म है । वेद से विरुद्ध को कोई धर्म माने तो वह धर्माभास होगा यह हमारा पूर्ण निश्चय है । स्वामी जी का यह अभिप्राय नहीं था कि हम वेद को टट्टी बनावें और उस की आड़ में रह कर राजनैतिकादि विषय का उपदेश करें जो लोग ऐसा मानते वा समझते हैं अवश्य उन पर ईशाइयों की छाया पड़ी मालूम होती है क्योंकि ईशाई लोग अपने निर्मूल मत को टट्टीमात्र मान कर प्रचार करते हैं और राजनैतिक विचारों से वास्तविक अपने देश तथा जाति की उन्नति मानते हैं सो उन लोगों का मानना किसी अंश में ठीक वा सत्य इस लिये है कि वास्तव में उन का धर्म वा मत निर्मूल है । स्वामी जी महाराज वास्तव में वेद को निर्भ्रम सत्य ईश्वर की अनादि विद्या मानते थे उसी से संसार का कल्याण हो सकता है ।

वे लोग बड़ी भारी भूल में हैं जो वेदोक्त धर्म वा वेद विद्या के प्रचार को सब प्रकार की उन्नति और सब सुखों का कारण नहीं मानते । हमारी समझ में वे लोग ग्रीष्म काल की छाया को छोड़ ग्रीष्मऋतु के अनन्त घाम की ओर भागे जाते हैं । यद्यपि आर्यसमाज वैदिकमार्ग की ओर ही कुछ २ झुका और उसी को अपनी उन्नति का कारण मानता यथाशक्ति वेदोक्तधर्म की उन्नति के लिये कुछ २ उपाय भी करता है जिस को कुछ न करने वालों की अपेक्षा बहुत किया वा करता है यह कह सकते हैं परन्तु जब हमारा ध्यान इस नियम की ओर जाता है कि " वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" जिस उत्साह से हम पर भार डालने के लिये महात्मा ने यह नियम बनाया था उसी प्रकार के वा उस से भी अधिक उत्साह के साथ मनु जी ने अनेक वाक्य अपने धर्मशास्त्र में कहे हैं यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ।
वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥

मनु में इत्यादि बहुत वचन हैं । सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है अर्थात् मनु जी ने अखिल शब्द से यह जताया है कि जैसे तिल वा सरसों के प्रत्येक अंश में तैल भरा होता है वैसे वेद के प्रत्येक वाक्य मन्त्र पद वा अक्षर २ में धर्म भरा है । अन्य ऐसा कोई पुस्तक नहीं जिस में धर्म व्याप्त हो । विचारशील ब्राह्मणादि द्विज परम तप करना चाहे तो नित्य नियम से श्रद्धा के साथ वेद का अभ्यास करे वेदाभ्यास से बड़ा अन्य कोई तप नहीं है । सर्वथा हिंसा अर्थात् किसी प्राणी के साथ द्रोह बुद्धि को छोड़ योगशास्त्र में कहे यम नियमों सहित नित्य नियम से वेद का अभ्यास अधिक काल तक करने से पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है । अन्य धर्मसम्बन्धी कर्म श्रेयस्कर कल्याणकारी हैं । और साक्षात् वेदोक्त कर्म अत्यन्त कल्याणकारी है । तथा—

श्रेष्ठतमाय कर्मणे आप्यायध्वम् । यजु०

कर्म के चार भेद किये जायेंगे १—प्रशस्य, २—श्रेष्ठ, ३—श्रेष्ठतर, ४—श्रेष्ठतम । इन में वेदोक्त कर्म श्रेष्ठतम है उस के लिये मनुष्यों को उत्साह बढ़ाना चाहिये । वेदोक्त कर्म में अन्यशास्त्रोक्त वा लौकिक सब अच्छे काम अन्तर्गत हो जाते हैं जैसे चार संख्या के अन्तर्गत तीन दो एक सब रहती हैं वैसे वेदोक्त सर्वोत्तम धर्म में छोटे २ सब धर्म अन्तर्गत हैं । तथा—

बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ १ ॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥२॥

मनुस्मृति के भिन्न २ स्थलों में ऐसे अनेक श्लोक हैं कि वेदरूप सनातन शास्त्र सब प्राणियों का धारण कर रहा है । वेद से ही संसार की स्थिति है जैसे अन्न

अन्नादि के बिना किसी का जीवन वा प्राणिमात्र की स्थिति नहीं रह सकती वैसे वेदोक्त सामान्य वा विशेष नियम जो सृष्टि के आरम्भ से ही जगत् में अनेकरूप से प्रचरित हो गये हैं उन्हीं से संसार चल रहा है और जितना ही वेदोक्त विषयों का कम प्रचार है उतनी ही अवनति वा पाप दोष दुःख बढ़ रहे हैं। इस से मनुष्य के परम कल्याण का साधन वेद ही है इस से मैं (मनु वा भृगु) इस वेद को परमोत्तम मानता हूं। सेनापति होना दण्ड (सजा) नियत करना राजा वा चक्रवर्ती राजा होना यह सब वेद शास्त्रज्ञ होना चाहिये वा यों कहो कि सेनापति आदि के काम को वेदज्ञ जैसा कर सकता है वैसा अन्य नहीं कर सकता। हम आशा करते हैं कि इन पूर्वोक्त मनु के वचनों पर हमारे पाठक ध्यान देंगे तो शीघ्र ही जान लेंगे कि वेद का कितना बड़ा गौरव मनु जी के मन में था क्या हम आधुनिक आर्य वा आर्यसमाजस्थ लोगों के हृदय में स्वा० द०ा० जी तथा मनु जी की अपेक्षा वेद का सहस्रांश भी गौरव है ?। वेद का गौरव वास्तव में हमारे भीतर नहीं है यदि कुछ है भी तो इतना कम है कि जिस का होना न होने के समान है।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति ॥

जो जिस के बड़े २ उत्तम गुणों को नहीं जानता वह उस को कुछ बड़ा नहीं मानता वा उस में दोषारोपण करता है। हम लोग सहस्रों वर्ष से वेद की ओर से विमुख होते आये। वेद नित्य २ हम से दूर छूटता गया वेद को पीठ दिये हम बहुत दूर चलते २ पहुंच गये। जैसे कोई प्यासा मनुष्य जलाशय कूपादि को पीठ पीछे छोड़ आगे २ जल पीने के लिये भागता जावे वैसी दशा हमारी होगई थी। ऐसे अवसर में एक महात्मा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को बोध हुआ कि ये आर्यसन्तान सब के सब मार्ग भूल गये सब दुःख के मार्ग को सुख का मार्ग समझ कर भागे जाते हैं इन को सुख मिलना दुर्लभ है चलो इन को मार्ग बतलावें। उन महात्माने वेद को कल्याण का मार्ग बतलाया वेद की ओर हमारा मुख फेरा और कहा कि इधर को चलो। पर हम ऐसे मन्दभाग्य निकले कि आज तक भी कटिबद्ध हो कर वेद की ओर न चले। जैसे कोई समुदाय सर्वथा सो रहा हो और उन सब के सुख साधन धनादि का नाश हो रहा हो उन को प्रबल उपाय से कोई जगावे तो भी वे न जागें वा कुछ २ जागें भी तो बैठे २ ऊंघते रहें यही दशा आज हमारी है। हम नित्य नियम से वेद का पढ़ना

पढ़ाना सुनना सुनाना यदि अपना अल्प धर्म भी मानते तो कहीं २ वेद का पठन पाठन नियमानुसार अवश्य दीख पड़ता। आर्यसमाज के आरम्भ को १९। २० वर्ष हो गये इस भारतवर्ष में कई सौ आर्यसमाज हो गये और होते जाते हैं पर साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने पढ़ाने के लिये आज तक कहीं एक भी पाठशाला नहीं दीखती। यदि हम विद्या की उन्नति के लिये कुछ उत्साह दिखाते चन्दा इकट्ठा करते हैं तो उस से अंगरेजी की उन्नति करते हैं सो ठीक यही है कि उस भाषा के गुणों को हम कुछ जानते हैं इसी कारण उधर को चलने में उत्साह होता है। अंगरेजी के लिये जो हम बड़े २ उपायों से फल सिद्ध करते हैं। उस से सहस्रों गुणा वर्त्तमान गवर्नमेण्ट राज्य के साधारण प्रबन्धों द्वारा हो रहा है। तथापि यदि हमे अंगरेजी के प्रचार की आवश्यकता है तो कुछ वेद प्रचार की आवश्यकता भी होनी चाहिये। हम अंगरेजी भाषा के विरोधी नहीं हैं हमारी सम्मति में भी सामयिक राजविद्या राजभाषा से लोगों को अभिज्ञ होना चाहिये। परन्तु यह काम आर्यसमाज के कर्त्तव्य में परिगणित नहीं होना चाहिये हमारे किसी नियम वा उद्देश्यों में नहीं लिखा कि "सामयिक राजभाषा वा अंग्रेजी विद्या का पढ़ना पढ़ाना भी आर्यों का परमधर्म है वा अल्प धर्म है" राजविद्या का जानना यह प्रत्येक हितकारी काम है किन्तु सर्वोपकारी सामाजिक काम नहीं है। हमारी समझ में प्रायः सभी मनुष्य अर्थ नाम धनसंचय वा कामभोग में आसक्त हैं। और उस की विशेष सिद्धि राजकीय विद्या से सम्बन्ध रखती है और मनुजी ने लिखा है कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

धनलाभ और कामभोग में जो लोग आसक्त लिप्त नहीं उन के लिये धर्म जानने का उपदेश है जो लोग धन वा काम को ही सर्वोपरि इष्ट समझते हैं वे धर्म का मर्म नहीं जान सकते। धर्म का मर्म जानना वेद के पठन पाठन को सर्वोपरि इष्ट समझना ये दोनों एक ही बातें हैं। प्रत्यक्ष देखलो कि जो लोग विलायत में बैरिष्टरी आदि पास करने जाते हैं उन का उद्देश विशेष धनसंचय का ही होता है। अन्य देशी वकीलों की अपेक्षा उन की फीस अधिक होती है। अपनी जाति वा कुटुम्ब के आचार विचारों से उन को घृणा हो जाती है सब बातें विलायती अच्छी लगती हैं सामाजिक उपकार की उन से कुछ आशा

शेष नहीं रहती । इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि द्वीपान्तरगमन बुरा है वा बैरिष्टरी आदि उच्चाधिकार प्राप्त करना अच्छा नहीं । यदि धर्म को न भूलो तो यह सभी अच्छा है करना भी चाहिये । धर्म को मत छोड़ो । हमें बड़ा दुःख यह है कि उच्च कक्षाओं तक सौ मनुष्य अंगरेजी पढ़ के तयार होते हैं उन में एक भी वेदपारग नहीं होता जो वैदिक धर्म की जड़तक पहुंचता इस से अनुमान होता है कि शतांश भी वेद का गौरव नहीं है तब हम अपने दुःख को कैसे शान्त करें । अरे भाई! थोड़ा तो इधर को ध्यान दो यदि आप लोगों को कुछ भी विश्वास है कि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का वाक्य है तो क्या उस से अधिक गौरव के योग्य अन्य कोई वाक्य हो सकते हैं । अब ही सही कुछ तो इधर को चलो जैसे ही बहुत काल से वेद को पीठ देकर तुम दूर चले गये हो वैसे ही अब वेद की ओर मुख करके चलोगे तो बहुत काल में पहुंचोगे । ज्यों २ वेद की ओर चलते जाओगे त्यों २ वेद के शुद्ध निर्मल अतिपवित्र गुणों का गन्ध लगता जायगा जिस से आगे २ रुचि बढ़ती जायगी । तात्पर्य यह है कि अब तक भूल में रहे सो रहे अब एक केवल बड़ी वैदिक पाठशाला सब आर्यसमाजों की ओर से होनी चाहिये जिस में अन्य सहकारी ग्रन्थों के सहित वेद पढ़ाये जाया करें जिन में बहुत से मनुष्य पढ़ाये जांयगे तो कोई न कोई वेद का सूर्य भी निकल सकता है जो सब भारतवर्ष के अज्ञानान्धकार को ध्वस्त कर के प्रकाश फैलावे भविष्यत् में आर्यसमाज यदि अपने मूल को चिरस्थायी करना चाहता है तो उस के लिये परम कर्त्तव्य यही है कि वेद के पठन पाठन का प्रारम्भ करे । वेद के पठनपाठन से हमारा प्रयोजन यह है कि जब तक पाणिनीय व्याकरण नहीं बना था तब तक जैसा चारो वेद पढ़ने के लिये ४८ अड़तालीश वर्ष [प्रत्येक वेद के पढ़ने को १२ । १२ वर्ष] समय लगाने की आवश्यकता थी वैसे समय की आवश्यकता व्याकरण बनने पश्चात् अब नहीं रही । अब यदि कोई मनुष्य व्याकरणादि वेद के अङ्गों में चार पांच वर्ष परिश्रम कर के बोध करले तो प्रत्येक वेद को एक २ वर्ष भी पढ़ लेना थोड़ा नहीं है इन चार वर्षों में भी वेद के विषयों का इतना ज्ञान हो सकता है कि वह कुछ भी बुद्धि रखता होगा तो बाकी वेद की भी व्यवस्था लगा सकता है । और एक वर्ष मीमांसाशास्त्र में श्रम कर लेवे तो १० वा ११ वर्ष भी परिश्रम करलेने से वेद का ऐसा विद्वान् हो सकता है जैसा सम्प्रति कोई भी वेदज्ञ मिलना दुस्तर है । वास्तव

में संस्कृत पढ़ने का मार्ग ऐसा ही बिगड़ा है जैसा अंगरेजी फारसी. पढ़े हुए लोग प्रायः समझते हैं कि संस्कृत के पढ़ने वाले कोई भी लोग आज कल सभ्य वा बुद्धि पूर्वक कार्य चलाने वाले नहीं होते किन्तु पढ़ के भी एक प्रकार के असभ्य वा मूर्ख ही रहते हैं संस्कृत बहुत कुछ लिखते बोलते हैं यदि प्रचरित नागरी भाषा में कोई विषय कहलाना चाहो वा लिखाना चाहो तो वे लोग युक्तियुक्त सभ्यतापूर्वक कदापि न कह सकते न लिख सकते हैं विद्या ग्रन्थ पढ़ कर विद्वान् होना चाहिये पर वे एक प्रकार के मूर्ख ही बने रहते हैं जैसे बुद्धि पूर्वक कार्य करने से मनुष्य में मनुष्यपन आता पशुपन दूर होता है वैसी दशा संस्कृत पढ़ने वालों की अब नहीं दीखती। बनारस आदि के संस्कृत पढ़े पण्डितों की आज कल यही दशा है। ऐसी दशा में जो मूर्ख वा निर्बुद्धि बनना वा रहना चाहे वह संस्कृत पढ़े ऐसे विचारों से प्रायः लोगों ने संस्कृत वेदादि शास्त्र पढ़ना व्यर्थ मान रक्खा है।

इस का समाधान हम यह देते हैं कि वास्तव में यह दोष संस्कृत पढ़ने की परिपाटी बिगड़ जाने का है जैसे सब काल में शरीर वस्त्रादि का संशोधन होते रहना आवश्यक है बहुत काल तक स्नान न किया जाय तो शरीर अतिमलिन हो जाता है वैसे ही पठन पाठनादि का संशोधन भी समय २ पर होना आवश्यक है। बहुत काल से धीरे २ पठन पाठन का मार्ग बिगड़ता आया अब इस के सुधार का उपाय किया जाय तो धीरे २ कुछ काल में सुधरना सम्भव है। तथा संस्कृत की शिक्षाप्रणाली के बिगड़ने का प्रधान हेतु नित्य २ नये २ अनेक पुस्तकों का बनते जाना और उन्हीं का पठन पाठन दिन २ विशेष प्रचरित होते जाने से मूल वेद तथा वेदानुयायी आर्ष पुस्तकों के पठन पाठन की चाल छूटती गयी। जैसे गङ्गा नामक नदी हिमालय से निकली है उस का जल जैसा शुद्ध वा नीरोग निर्जन पर्वतीय प्रदेश में है वैसा शुद्ध आगे २ जनपदों में नहीं रहा। जैसे २ ग्राम नगरादि के समीप हो कर गङ्गा पूर्व को बहती गयी वैसा २ उन ग्रामादि के मनुष्यादि प्राणियों का मल मूत्रादि वा मुर्दा शरीरादि उस में पड़ते २ आगे २ जल बिगड़ता गया। तथा अन्य नदियों का जल उस में मिलता गया उस के साथ अन्यों के दोष भी उस में मिलते २ समुद्र में मिलने से पूर्व गङ्गा का जल इतना निकृष्ट हो गया कि जिस को गङ्गा जल कहने मानने में भी संकोच होना अनुचित नहीं है इसी से आर्य लोग अब गङ्गा की पूर्ववत् प्रशंसा

नहीं मानते। सो प्रायः यह सामान्य नियम ही है कि जो प्रवाह अधिक दूर देश तक अधिक काल तक भिन्न २ प्रकार के अनेक मनुष्यादि के सम्बन्ध से बुराई भलाई अपने साथ लेता हुआ चलता है वह वैसा कदापि नहीं रह सकता कि जब जहां से चला था तब जैसा शुद्ध था वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से वेदविद्यारूप प्रवाह चला वह आगे २ ज्यों २ बढ़ता आया त्यों २ उस में काम क्रोध लोभादि ग्रस्त मनुष्यों के कुसंस्कार अनेक व्याख्यानों द्वारा मिलते गये। जैसे नदी के प्रवाह का स्थान पृथिवी है वैसे वेदविद्या के प्रवाह के चलने का स्थान मनुष्यों का हृदय है। जैसे नदी के प्रवाह का संशोधन किया जाय अधिक मलिनता डालने से रुकावट हो तो देश काल भेद से कुछ बिगड़ने पर भी ऐसा अधिक नहीं बिगड़ सकता जो अधिकांश बिगड़े में गिना जाय वैसे ही वेदविद्या के प्रवाह का संशोधन होता गया होता तो आज इतना नहीं बिगड़ जाता कि वेदादि शास्त्र पढ़ना ही जिस से व्यर्थ माने जाते। पहिले जब तक वेद का ही आश्रय लेकर ब्रह्मर्षि आदि लोगों ने कुछ २ ब्राह्मणादि पुस्तक बनाये तब तक इतना दोष वेद को नहीं लगा था जिस से वेद के महत्त्व में बाधा होती पीछे जब से मनुष्यकृत ग्रन्थों का आश्रय ले २ कर लोगों ने ग्रन्थों पर ग्रन्थ बनाना आरम्भ किया तब से वेद दूर छूटता गया मनुष्यकृत ग्रन्थों में मनुष्यों के कुसंस्कार मिलते २ अत्यन्त बिगड़ गये। वेदमतानुयायियों का राज्य न रहना राजाओं का वेदज्ञ न होना इस का प्रधान कारण है। अनधिकारियों को अधिकार मिल गया जिन को ग्रन्थ बनाने की योग्यता कुछ भी नहीं थी वेभी मनमुखी कपोल कल्पित ग्रन्थ बनाने लगे। अब से सौ दो सौ वर्ष पहिले जैसे मनुष्यों को कुछ संकोच भी था सो भी ब्रिटिश राज्य में धर्मविषयक अधिक स्वतन्त्रता मिलने से मिट गया अब कोई नहीं पूछता कौन किस काम के योग्य है। अविद्वानों ने सैकड़ों सहस्रों पुस्तक मन माने बनाडाले वा बनाते जाते हैं। गुण कर्मों के बिना वर्णाश्रम व्यवस्था तथा पुस्तक बना छपा देने आदि की भरमार लूट हो रही है अनेक मूर्ख लोग वैद्य बन बैठे तथा बनते जाते हैं उन में प्रत्येक अपने को धन्वन्तरि का दादा ही ठहराने को तयार है। मूर्ख लोग धन वा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये प्रायः पुस्तक बनाते वा उस २ विषय का विद्वान् होने का दावा करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अनधिकारी अयोग्यों के बनाये सहस्रों पुस्तक वेद के शुद्ध विषयों में भ्रान्ति कराने वा उन को कलङ्कित करने वाले हो गये उन्हीं नवीन

पुस्तकों में से न्याय व्याकरण कोष काव्यादि के अनेक पुस्तक पठन पाठन के लिये नियत किये गये वेद पढ़ने का नाम भी छूट गया कहीं २ मूर्खों में पाठमात्र पढ़ने का प्रचार भी रहा वह कुछ अधिक कार्यसाधक इस से भी नहीं हुआ कि उन का पाठमात्र पढ़ना धर्मार्थ निष्कारण नहीं था किन्तु जीविकादि स्वार्थ साधन के लिये पढ़ते आये। तथा जिन लोगों ने कुछ अर्थ पर भी ध्यान दिया वा वेद पर भाष्य किया उन को भी सामयिक बिगड़ी दशा के ग्रन्थों से जैसा बोध वा संस्कार हुआ वैसे भाष्य किये वैसा ही वेद को माना। चाहे यों कहो कि बहुत काल से संस्कृत के पण्डितों में स्वतन्त्रता न रही। नवीन ग्रन्थों का आश्रय छोड़ ईश्वरीय विद्या वेद का यथार्थ गौरव जानने वा प्रचार करने के लिये सर्वथा उद्योग ही छोड़ दिया गया इस से वेद का गूढाशय न रहने के तुल्य लुप्त होगया। सूर्य के अस्त होते ही जैसे अन्धेरा सब ओर से घेर आता है वैसे वेदरूप सूर्य के आच्छादित होने से वेदोक्त शुद्ध धर्म पर अन्धकार छा गया। ऐसे अवसर में स्वामी दयानन्दसरस्वती जी हुए उन को अपने पूर्वजन्मों के शुद्ध संस्कारों से बोध हुआ वे जागे तो वेद की ओर से सब को सोते देख कर जगाना आरम्भ किया इस पर कोई २ लोग सर्वथा सोते हुओं की अपेक्षा कुछ २ जागे पर ऐसे अभी तक नहीं जागे कि जिस को जागना कहा वा माना जावे। आर्यसमाज में जो लोग सम्मिलित हुए उन सबने वेद के शुद्ध पतित पावन सिद्धान्तों का यथार्थ प्रचार वा प्रकाश करने का भार अपने ऊपर लिया। जो कोई जिस काम का भार लेता है वह उस को न करे तो अयोग्य (नालायक) माना जाता है। इस लिये आर्यसमाजस्थ भारवाह पुरुषों को अब सचेत होना चाहिये भूल प्रमाद में पड़े रहने का अब समय नहीं है। अत्यन्त पावन वेदसिद्धान्त का मर्म जब तक आप लोग स्वयं न जानेंगे तब तक वेद में ठीक प्रीति न होगी इसी से आप लोग उस के प्रचार वा प्रकाश करने में भी असमर्थ रहोगे।

यदि आप में से अनेकों वा किन्हीं २ महाशय का यह निश्चय हो कि वेद का जितना सिद्धान्त हम को जानना था उतना स्वामी जी महाराज सत्यार्थप्रकाश, भूमिका वा वेदभाष्यादि पुस्तकों तथा उपदेशों द्वारा हम को समझा गये अब वेद पढ़ के हमें कुछ अधिक जानना आवश्यक नहीं रहा वा स्वा० जी वेद का सारांश खोल गये तो इस पर हमारा परामर्श यह है कि किसी एक अंश

को लेकर आप का यह वक्तव्य ठीक है और मैं भी उस अंश में ठीक मानता वा कहता हूं। जैसे किसी अत्यन्त भुक्खड़ मनुष्य को कभी नियत समय पेट भर भूख भर भोजन नहीं मिलता प्रत्येक समय भोजन की चिन्ता में भूखा २ पुकारता है उस को यदि नियत समय सामान्य प्रकार का भूख भर भोजन मिलने लगे और वह मानले कि मुझे तो सब कुछ मिल गया अब मुझे कुछ अधिक मिलने की आवश्यकता नहीं तो उस दशा की अपेक्षा उस का मानना यह ठीक है कि मुझे सब कुछ मिल गया जब अन्न मिलने का कुछ भी ठिकाना नहीं था तब से सब मिल जाना भी ठीक है पर यदि अत्युत्तम भोजन तथा धनादि ऐश्वर्य जो बड़े २ श्रीमानों को प्राप्त होते हैं उन की अपेक्षा उस को कुछ भी प्राप्त नहीं मुझे सब कुछ मिल गया यह उस का कहना मानना भी व्यर्थ सा है। जैसे अत्यन्त मूर्खों में किन्हीं दो चार मनुष्यों को विद्या सम्बन्धी किसी विषय का लेशमात्र बोध हो जाय तो वे अपने को सर्वोपरि विद्वान् मानने लगें वा कृतकृत्य हो जावें परन्तु विद्या सम्बन्धी अनेक अनन्त गूढ़ाशयों की अपेक्षा वे मूर्ख ही हैं वैसे थोड़े से काल में यथासम्भव स्वामी जी महाराज ने वैदिकसिद्धान्त का बहुत कुछ प्रकाश किया जिस को पहिले की अपेक्षा वेद सूर्य का उदय होगया ऐसा कहें वा मानें तो मिथ्या नहीं परन्तु अनन्त शक्तिमान् परमात्मा की विद्या वेद के अथाह गूढ़ाशयों की ओर ध्यान दिया जाय तो स्वामी जी महाराज का लेख वा उपदेश समुद्र में एक बिन्दु के समान भी नहीं ठहरता। इस लेख वा कथन से स्वामी जी के महत्त्व की कुछ हानि नहीं है किन्तु परमात्मा की सर्वज्ञता वा सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा वा स्थिति है। स्वामी जी की प्रशंसा वा उन का महत्त्व हमारी अपेक्षा है हम अपनी अल्पज्ञता के सामने स्वामी जी वा अन्य मनु आदि महर्षियों को सर्वदर्शी सर्वज्ञ कहें मानें तो कुछ अत्युक्ति नहीं है। वैसे परमेश्वर की अपेक्षा कैसा ही उन को अल्पशक्ति कहें वह सब ठीक है। इस प्रसंग में यह भी वक्तव्य है कि इस आर्यावर्त्त में जब से अविद्या का अधिक वास हुआ तभी से गुरु परम्परा भी बिगड़ी, जिस प्रकार से गुरु परम्परा माननी चाहिये वैसी नहीं चली। अनेक मूर्खमण्डली ने तो गुरु को ही ईश्वर मान लिया। तब गुरु से भिन्न किसी को ईश्वर मानना भूल गये यही अवतार मानने का कारण हुआ। गुरु की प्रशंसा इतनी अधिक की गयी कि अनेक ग्रन्थ गुरुगीतादि बन गये। इसी अति के कारण कुछ मनुष्य समझदार हुए उन्हों ने उतने

धन्यवाद ॥

पं० केदारनाथ जी मैनपुरी १२) एक वर्ष के प्रति मास १) के हिसाब से । मन्त्री आर्यसमाज सीखड़ ॥।=) लाला मथुरादास जी मवाना २) गौड़ ब्राह्मणार्थ । बा० धरणीधरदास जी बरेली १) आर्यसमाज बरेली २) श्री प्यारेमोहन जी खत्री झांसी १) श्री दत्तात्रेय शर्मा असिस्टेन्ट स्टेशनमास्टर नालखी अनेकों से चन्दा संग्रहकर भेजा १०।=) सुकुल सरयूप्रसाद जी मिर्जापुर वाले वि० भोजनार्थ १) पाठशाला के रुपयों का सूद ३।=) सितंबर ९५ से १५ फरवरी ९६ तक ।• बा० बलदेवप्रसाद जी इंजिनियर मास फरवरी का २) रेलगाड़ी में कालीमिर्च पड़ी मिली उन को बेंच कर जमा किये ।-) हरदयालु महाजन तोसरां ॥) राजाराम वर्मा ग्वालियर उपनयनसंस्कार में १) धनीराम ठेकेदार इटावा १) श्री लक्ष्मी-नारायण जी जेलदरोगा रायबरेली ५) दुर्गाप्रसाद जी मनौता पुत्र के विवाहोत्सव में २) चौ० पद्मसिंह जी इटावा मार्च अप्रेल के २) डाक्टर प्रभुलाल जी अप्रेल के चन्दे में १) तुलसीराम स्वामी मार्च का चन्दा ।-) यह सब धन ५०) मात्र नौम्बर ९५ से मार्च ९६ तक ५ महिने का आय है और इन पांच महिनों में ८१ ।=)॥ सब व्यय हुआ । अब हमारे सहायक लोग ध्यान देंगे तो निश्चय होगा कि संस्कृतविद्या की उन्नति में लोगों की कैसी रुचि है । तथापि हम अपने सहायकों को धन्यवाद देते हैं कि जो इस पाठशाला की सहायता का कुछ तो ध्यान वा स्मरण रखते हैं । और परमेश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि वह जगत् का कल्याण और वेदादि शास्त्रों का प्रकाश होने के लिये लोगों को रुचि करावे कि जिस से अन्य लोग भी इधर को दृष्टि करें ॥

सूचना ॥

१-"यमयमीसूक्त" नया पुस्तक छपा है वेद का गूढ़ाशय जहां तक बुद्धि चली अच्छे प्रकार खोला गया । इस सूक्त का भाष्य भावी वेद भाष्य का उदाहरण (नमूना) होगा जो पाठक महाशय इस सूक्त के भाष्य को ध्यान देकर विचार पूर्वक पढ़ेंगे उन के मन में वेद का गौरव अवश्य हो जायगा । हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस सूक्त के द्वारा हमारे प्रतिपक्षियों को वेद पर आक्षेप करने का जैसा अवसर मिला था वैसा अन्य द्वारा नहीं मिला सो आक्षेप रसातल को गया इस पुस्तक का नाम "यमयमीसूक्त" ही है मूल्य प्रति पुस्तक =) है ।

"आयुर्वेदशब्दार्णव" कोष इस में संस्कृत से नागरी भाषा वा उर्दू में अकारादि क्रम से शब्दों का अर्थ लिखा है । इस का मूल्य पहिले १) था अब सर्वसाधारण की सुगमता के लिये घटा कर ॥=) कर दिया है ।

२-हम अपने पाठकों को यह भी जताना चाहते हैं कि आर्यसिद्धान्त वा मानवधर्मशास्त्र के निकलने में जो ढील हुआ करती है इस से आप ह्रास न हों किन्तु आर्यसिद्धान्त आगे २ वेद के गूढ़ सिद्धान्तों का पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होगा ऐसी आशा है इस बात को सुन समझ कर आप लोगों को सोत्साह होना चाहिये आशा है कि विघ्न सदा नहीं रहेंगे । आगे शीघ्र निकलने की भी सम्भावना है क्योंकि सम्पादक का उत्साह कम नहीं हुआ किन्तु वृद्धि पर है ॥ आप का भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त-इटावा

पुस्तकों की सूची

यमयमीसूक्तम् =) प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य्यधर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है ॥ आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) डाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है ॥ ईश उपनि० भाषा व संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ॥।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ॥।) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥।) इन ७ उपनिषद् पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है । सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्यसिद्धान्त ६ भाग ७२ अङ्क का ३॥।) प्रति भाग ॥।) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ तथा द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद (जीवब्रह्म पर) -)॥ सद्विचारनिर्णय =) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡) कुमारीभूषण (स्त्रियों का पढ़ाना) -) देवनागरी की वर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पु० चौथीबार छपा)॥। द्वितीय तीसरी वार छपा-)। तृतीय फिर से छपा =)॥ भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ सत्यार्थप्रकाश २) वेदभाष्यभूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) निघण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त१) इत्यादि आर्यधर्मसम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूची मँगाकर देखिये ॥

पता-भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस-इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्यसमाजसहायक।

भाग ७] मासिकपत्र [अङ्क ११ । १२

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ
१२ जुलाई सन् १८९६ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

१ मार्च से ३० जून ९६ तक

६७९ श्री लक्ष्मण दुला जी किरांची १॥)
११३८ श्री महेशप्रसाद जी कुराडा १)
११४० रणधीरसिंह जी स्यालकोट १)
४१६ पं० गणेशदत्त जी डिबाई १)
६२३ श्री मूलचन्द्र जी अलीगढ़ २)
८६५ मुकुन्दीलाल जी काजिमाबाद १)
८६७ उमरावसिंह जी लुधियाना १)
१०४५ गंगाप्रसाद शर्मा गोहाटी १)
६४९ पं० लक्ष्मीनारायण जी भिंड ॥)
४८३ टीकाराम जी कासगंज २॥)
११४४ कुंजविहारी जांजगिर विलासपुर १)
५९ खूबचन्द जी बुधौलिया कौड़िया १)
९१८ यमुनादास जी बलमार १॥।≡)
१७९ जगन्नाथप्रसाद जी हौस कोटा १)
६०९ कुंजविहारीसिंह जी अमरावती ॥।)
४९९ गणपतिराव जी निम्बाहेड़ा २॥)
११४३ सो० वा० तलपदे मुम्बई १)
११४२ सरदार विशनसिंह भागूवाला १)
२९ पं० रमादत्त जी त्रिपाठी नैनीताल १)
८८७ डा० लखनलाल जी माडौन १)
११४५ पं० शङ्करदत्त जी शर्मा भैंसा १)
११४६ बा० गुलाबसिंह जी जबलपुर १)
१७७ बा० शिवशरणलाल जी पाटन १)
गोकुलचन्द्र सुनार बुलन्दशहर १)
११४७ मुंशीराम जी मुकेरियां १)
९०० स्वा० रामपुरी नदौली १)
१४ श्री रामचन्द्र जी नैष्ठा २॥)
६५७ पं० गोवर्धनलाल शर्मा जयपुर १)
१०५४ पं० मिश्रीलाल शर्मा जी आवर १)
११४९ बा० हरिजीराम फीरोजपुर १)
३०५ ला० द्वारिकाप्रसाद जी दिल्ली २)
५७ विहारीलाल बुकसेलर बुलन्दशहर २॥)
११५० श्री शङ्करलाल जी जबलपुर ॥)=
११५३ पं० रामगोपाल जी सिलहट १)
१०५५ बा० बनवारीलाल जी इटावा १)
११४८ पं० चिरंजीलाल शिकोहाबाद १)
११५१ डा० अयोध्याप्रसाद जयपुर १)
७५६ बा० गंगाप्रसाद जी कसूर २॥)
१६९ बा० रामभरोसेलाल गाजीपुर २≡)
३८८ पं० तिलोकचन्द्र शर्मा सोरहा ३॥।)
७९ श्री रामचरण दीक्षित घाटमपुर २॥)
१४० सेठ सुन्दरदास धर्मसी मुम्बई २॥)
११५२ बा० विष्णु राजाराम गर्वादे १)
२९८ बा० बलदेवप्रसाद जी राजापुर २॥)
११५५ बा० गोकुलचन्द्र जी कलकत्ता १)
११५४ श्री महराज शम्भूसिंह जी सुठालिया १)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ७ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११।१२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क ९।१० के पृ० १७६ से आगे त्रयीविद्या-

नहीं कहाती न संहिता का कोई काम होता है किन्तु उस का नाम विग्रह माना जाता है । इस कारण सामश्रमी जी ने पदपाठ और क्रमपाठ को जो संहिता माना यह ठीक नहीं । हम यह मानलें कि अन्य लोगों ने माना वैसा ही इन्हों ने मान लिया तो भी ये अन्धपरम्परा दोष से मुक्त नहीं हो सकते ।

अब तृतीय विचार यह है कि वेद की शाखाओं का भेद क्यों हुआ ? इस विषय पर हम पहिले अङ्कों में कुछ लिख चुके हैं । हमारे पाठकों को स्मरण होगा । वेद की अनेक शाखा होने का कारण देश काल भेदादि से उच्चारण वा पाठादि का भेद मानलें यह सम्भव है हमे कोई द्वेष नहीं कि सामश्रमी जी के सब अंशों का हम खण्डन ही करें परन्तु हमारी समझ में यह नहीं आता कि शाखा नाम क्यों पड़ा और शाखा शब्द यौगिक है वा रूढि अन्वर्थ है वा अनर्थक इस का आन्दोलन पूर्वक यदि सामश्रमी जी निर्णय कर देते तो कदाचित् कोई सन्देह शेष न रहता । यदि पाठ भेदादि के कारण ही शाखाओं का होना ठहर जावे तब हमारे सिद्धान्त में कुछ बाधा नहीं इसी से हमारा आग्रह कुछ नहीं है । परन्तु शाखा शब्द मूल वेद में भी किसी मूल से निकले मूल को प्रकाशित करने वाले भेदों का नाम है । दश शाखा शब्द से वेद में दश अङ्गुलियां ली गयी हैं । जैसे शरीर का मूल शिर सदृश पिछली उस में दो हाथ दो

गोड़े मिल के चार स्कन्ध गट्टे वा काण्ड हैं और हाथ पगों के नुक्कड़ों पर दश अङ्गुलीरूप शाखा हैं वैसे एक वेदमूल है उस के ऋगादि नामक तीन विषय काण्ड वा गट्टे हैं उन काण्डों में निकलने वाली शाखा होनी चाहिये जैसे आम्र वा निम्ब की पहिचान जैसी शीघ्र वा सहज में शाखाओं द्वारा होती है वैसी मूल से नहीं होती इस कारण शाखा मूल की व्याख्या वा प्रकाशक माननी चाहिये। और पुस्तकों के सम्बन्ध में व्याख्यान वा भाष्य टीका से भिन्न कोई शाखा मूल की प्रकाशक नहीं हो सकतीं केवल व्याख्यान वा भाष्यरूप ग्रन्थ ही शाखा हो सकते हैं। और ब्राह्मण वा निरुक्तादि ग्रन्थों का नाम शाखा नहीं पड़ा यह लौकिक व्यवहार है इसी से वेद के सम्बन्ध में शाखा पद योगरूढ मानने पड़ेगा पर वेद में आने वाले शाखा शब्द का केवल यौगिकार्थ यही होगा कि जो मूल से सम्बन्ध रखने के साथ मूल को प्रकाशक हों वे शाखा उस २ मूल पदार्थ की होंगी। यह सामान्यार्थ वृक्ष, शरीर तथा वेदादि सब के साथ घट जायगा। तथा व्याख्यान वा भाष्य अनेक प्रकार के होते हैं किन्हीं २ पदों को बदल कर उन के पर्यायवाचक पद रख देना वैसे ही छन्द भी बने रहें यह भी एक प्रकार का व्याख्यान है। कहीं २ पद्य बद्ध ही किसी मूल का व्याख्यान होता है। हमारा अनुमान है कि पहिले जब तक जगत् में वेदों से भिन्न कोई पुस्तक नहीं बने थे तब तक वेदपाठी ऋषि लोगों का सिद्धान्त भी यही था कि बड़े २ व्याख्यान ग्रन्थ न बनावें जहां तक सम्भव था उस समय कठिन समझे जाने वाले पदों का संक्षेप से अर्थ कर दिया शेष पद वेद मन्त्रों के वैसे ही रक्खे जिन वेद पुस्तकों में ऐसा किया गया वे पीछे वेद की शाखा कहायीं और मूल वेद पृथक् बने रहे। सो यह संक्षेप से ग्रन्थ बनाने की चाल पाणिनीयव्याकरण बनने के समय तक भी चली आयी। इस का मुख्य प्रयोजन यही था कि बहुत बड़े २ व्याख्यान ग्रन्थों के देखने पढ़ने में मनुष्य का बहुत समय नष्ट न हो बहुत जगज्जाल में बुद्धि भ्रान्त हो जाती है सारांश शीघ्र समझ लेना सर्वसाधारण का काम नहीं है। जैसे किसी को शारीरिक बल सम्बन्धी बहुत काम करने पड़ें तो उस का बल सब कामों में बंट जाता किसी एक काम को ठीक २ अच्छा नहीं कर सकता इसी प्रकार जब अनेक वाद विवाद के ग्रन्थों में बुद्धि फैल गयी तो अवश्य ज्ञातव्य वेद के पढ़ने जानने में पूरा काम नहीं दे सकती। अथवा अन्य ग्रन्थों से अवकाश न मिलने वा उन में फस जाने से वेद को कुछ भी पढ़ वा जान नहीं सकता

जैसी कि आज कल काशी आदि के पण्डितों की दशा शोचनीय हो गयी है कि जो सिद्धान्तकौमुदी शेखर मनोरमादि व्याकरण और मुक्तावली गदाधरी जागदीशी व्युत्पत्तिवादादि आधुनिक न्याय इत्यादि वाद ग्रन्थों में ही जन्म भर शिरपच्ची किया करते उसी से अपने को बड़ा पण्डित मान अहङ्कार की मूर्त्ति बन बैठते हैं और वैदिकसिद्धान्त के ज्ञान से सर्वथा ही शून्य होते हैं। ऐसी दशा होने से वेद का गूढ़ाशय जो ब्राह्मणादि आर्य जाति की उन्नति का मूल कारण था धीरे२ लुप्त होता गया जिस से आर्य लोग महाअधोगति को प्राप्त हो गये। इसी लिये पूर्वज महर्षि लोग वेद पर अति संक्षिप्त पुस्तक बनाते थे जिस से वेद पढ़ने का ब्राह्मणादि को ठीक समय मिलता था उन्हीं संक्षिप्त वेद के व्याख्यानों का नाम शाखा हुआ यह प्रतीत होता है।

और " षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यम्० " इन मनु आदि के वचनों में वेद शब्द से सब शाखाओं का ग्रहण करना कुछ आवश्यक नहीं मूल के जानने में शाखा वा व्याख्यान साथ ही जान लिये जाते हैं वा मूल के ठीक समझ लेने पर व्याख्यान स्वयं बना सकते हैं। जैसे अब व्याकरणादि के प्रत्येक ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़े विना ही उन २ विषयों के प्रधान ग्रन्थ पढ़कर प्रक्रिया का ठीक बोध हो जाने से उस विषय का पूरा पण्डित माना जाता है। महाभाष्य नवाह्निक मात्र ठीक पढ़ समझ लेने से पूरा भाष्यान्त वैयाकरण हो जाता वा माना जाता है वैसे ही वेद की शैली वा प्रक्रिया का सिद्धान्त सहित ठीक बोध हो जाने से सब वेद पढ़ा माना जायगा। प्रत्येक वेद की सब शाखा गुरुमुख से पढ़नी आवश्यक ही नहीं तो मनु के विचार में कोई दोष भी नहीं आसकता॥

नयाविचार

हम अपने आर्यसिद्धान्त के पाठक वा ग्राहक महाशयों को सूचित करते हैं कि सामश्रमी के वेद विषयक लेख का अनुवाद अब से हम इस लिये बन्द करते हैं कि वह अभी बहुत शेष है बहुत काल लगना सम्भव है ग्राहक महाशय भी घबराते होंगे। और त्रयीविद्या विषय में जो २ विषय लिखना हम आवश्यक समझते हैं जिस से वेद का सूक्ष्म गूढ़ाशय वा परमेश्वर की सर्वज्ञता प्रतीत होगी उन का समय दूर पड़ता जाता है। इस लिये उन का संस्कृत तथा भाषानुवाद छोड़ करके उन के विरुद्ध लेख पर अपनी सम्मतिमात्र लिख कर समाप्त करेंगे। जिस से व्यर्थ समय जाना प्रतीत न हो॥

आगे सामश्रमी जी ने द्वीपान्तरीय लोगों के इस " कोई वेद पहिले बना कोई पीछे तथा ऋग्वेद में कोई मण्डल पहिले कोई बहुत काल पीछे बनाया गया है " विचार का प्रतिवाद करते हुए बहुत कुछ लिखा है सिद्धान्त सब का यह है कि वेद मन्त्र पहिले सम्बद्ध (सिलसिलेवार) ऋगादि संहिता रूप नहीं थे किन्तु जहां तहां फैले हुए थे उन का किसी एक समय ऋगादि नाम वा रूप से संग्रह किया गया किन्तु भिन्न २ काल में ऋगादि संहिता नहीं बनायी गयीं ।

इस पर हमारी सम्मति यह है कि यद्यपि सामश्रमी का वेद विषय में यह सिद्धान्त नहीं कि वेद अनादि सर्वज्ञ परमात्मा की नित्य विद्या है वेद का आदि कोई नहीं वाक्यावली के पौर्वापर्य क्रम का ही नाम वेद है वह अपौरुषेय है तथापि बनारस आदि के बड़े २ नामधारी पण्डितों को जिन बातों का स्वप्न में भी ध्यान नहीं ऐसे अनेक वेद सम्बन्धी गूढ़ विषयों पर सामश्रमी ने अच्छा वा अधिक आन्दोलन किया है इस लिये हम उन को हृदय से धन्यवाद देते हैं । ऋगादि वेद जिस रूप में अब विद्यमान हैं वैसे ही क्रम सहित अनादि नित्य अपौरुषेय हैं केवल उन का कल्पारम्भ में प्रादुर्भाव और प्रलय काल में तिरोभाव मात्र होता है । उन वेदों की गणना पूर्वापरीभाव विषय क्रमानुसार है । ऋच् आदि शब्द भी विषय बोधक हैं जैसे कर्म, उपासना, ज्ञान वेद के तीन काण्ड या तीन सीढ़ी हैं इस लिये उन की प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ गणना क्रमानुसार हुई है किन्तु आगे पीछे बनने के कारण नहीं इस अंश पर हम पहिले लिख भी चुके हैं उस का सारांश यही था कि ऋच् नाम स्तुति वा कर्मकाण्डरूप पहिली कक्षा है कि जिस में पदार्थों के गुणों का श्रवण कर वा वाणी द्वारा अभ्यास करके जानना जैसे गुरु मुख से पढ़ना यह प्रथम कोटि वा पहिला कर्त्तव्य है । द्वितीय जो कुछ श्रवण द्वारा सुनकर वा अभ्यास करके जाना है उसी को करके देखना लिखे अनुसार अनुभव कर २ निश्चय करना (आजमाइश) द्वितीय कोटि उपासनारूप यजुर्वेद है । तृतीय सामनाम शान्ति सन्तोष ज्ञान वा आनन्द का है यही वेदत्रयी है । इसी से प्रथम द्वितीयादि गणना है ।

आगे " ब्राह्मण " शब्द का हेडिंग देकर सामश्रमी ने बहुत कुछ लिखा है जिस का सारांश यह है कि—"कर्मचोदना वा विधायक वाक्य ब्राह्मण हैं "

हमारी समझ में सामश्रमी का यह विचार ठीक नहीं क्योंकि कर्मचोदनारूप विधि वाक्य जब मन्त्रों में भी स्पष्ट ही विद्यमान हैं तो इस लक्षण में अति-व्याप्ति दोष अनिवार्य है। विधिवाक्य मूल वेद मन्त्रों में विद्यमान हैं इस के उदाहरण भी हम आर्यसिद्धान्त भा० ७ अङ्क ९।१० पृष्ठ १६२ में दे चुके हैं इस लिये—

"ब्रह्मणो वेदस्य मन्त्रसंहितात्मकस्येमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानीति शैषिकोऽण् प्रत्ययः"

ब्रह्म नाम मन्त्रसंहितारूप वेद के व्याख्यान ब्राह्मण हैं यही शाब्दिक अर्थ ठीक है। रहा आपस्तम्बादि का लक्षण सो वह इस शब्दार्थ का अवयवरूप माना जाय तो कोई दोष नहीं न अतिव्याप्ति दोष ही आ सकता है। ऐसा ही सामश्रमी जी भी मान लें तो अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं और ऐसा न मान कर अधिक विवाद लिखने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

आगे सामश्रमी जी ने जो गोपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है (इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः० ” इत्यादि) सो यहां वेद शब्द जब स्पष्ट ही पढ़ा है तो उस से केवल ब्राह्मणों वा मन्त्र ब्राह्मण दोनों का ग्रहण करना बड़ी भारी भूल है। क्योंकि पीछे सामश्रमी जी स्वयमेव सिद्ध कर चुके हैं कि ब्राह्मण पुस्तक बनने के समय तक वेद शब्द के अर्थ में ब्राह्मण पुस्तक नहीं लिये जाते थे किन्तु सूत्र ग्रन्थ जो ब्राह्मणों के पश्चात् बने हैं तब से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद कहने मानने की चाल चल गयी सो यह ठीक है तब ब्राह्मणग्रन्थों के लेख से ही ब्राह्मणों को अब वेद क्यों मानने लगे? यदि नहीं मानने लगे तो गोपथ का प्रमाण लिखना सर्वथा व्यर्थ है। गोपथ में जो कल्पादि के सहित वेद बनने का व्याख्यान किया सो ठीक है। वहां कल्प और ब्राह्मणादि शब्द किसी पुस्तक के वाचक नहीं हैं किन्तु विषय वाचक हैं क्योंकि उन २ कल्पादि नामक ग्रन्थ बनने से पूर्व भी कल्पादि शब्द विद्यमान थे जैसे अब भी किसी बालकादि का नाम वा पुस्तक का नाम रखते हैं तो वे शब्द पहिले से ही विद्यमान रहते हैं वैसे वे कल्पादि शब्द भी विद्यमान थे और उन कल्पादि का वाच्यार्थ विषय मूल वेद मन्त्र संहिताओं में सृष्टि के आरम्भ से वा पूर्वकल्पों से ही चला आता है इसी से साङ्ग वेद नित्य है यह मानना वा कहना सत्य ठहरता है। व्याकरण अष्टाध्यायी बनने से पूर्व भी व्याकरण नामक वेद का अङ्ग वेद में ही मूलरूप से

विद्यमान था । इसी विचार के अनुसार व्याकरणादि वेदमूलक ठहरते हैं । महाभाष्यकारने वेद के कई मन्त्र पस्पशाह्निक में उदाहरण के लिये लिखे हैं जिन में व्याकरण विषय स्पष्ट ही है । इसी प्रकार कल्पादि भी जानो सो कल्पादि विषयों के सहित सर्वारम्भ में वेद बने वा प्रकट किये यह गोपथ ब्राह्मण का प्रयोजन है । ब्राह्मण नाम वेद का व्याख्यान भी वेद में है कोई मन्त्र वा प्रकरण मूल हैं कोई उस के व्याख्यान हैं । केवल भेद इतना ही है कि जैसे ब्राह्मण निरुक्तादि वेद के भाष्य होने पर भी वेद के अन्य भाष्य की आवश्यकता है वा जैसे अष्टाध्यायी व्याकरण पर महाभाष्यरूप व्याख्यान होने पर भी काशिकादि की आवश्यकता अल्पबुद्धि वा अल्पाभ्यासियों के लिये है वैसे वेद में ही वेद का व्याख्यान होने पर भी ब्राह्मणादि ग्रन्थरूप व्याख्यानों की आवश्यकता जानो । तात्पर्य यह कि गोपथ का प्रमाण ग्रन्थ के लक्षण विषय में लिखना सामश्रमी की सरासर प्रत्यक्ष भूल है ।

आगे सामश्रमी ने निरुक्तादि को अर्थवाद कहा और मन्त्र, ब्राह्मण, अर्थवाद, इन को वेदत्रय वा त्रयीविद्या कहा माना सो भूल है । यदि कोई उक्त महाशय से पूछे कि जब तक निरुक्तादि पुस्तक नहीं बने थे तब तक अर्थवाद पदवाच्य कौन पुस्तक थे वा अर्थवाद शब्द ही न था । जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों को बीच से लोगों ने वेद मान लिया वैसे निरुक्तादि को अब तक भी कोई वेद नहीं मानता तो वेदत्रय में निरुक्तादि का परिगणन प्रमादिक अवश्य है । मन्त्र नाम निज वेद का है । अर्थवाद वा ब्राह्मण विषय यद्यपि वेद में हैं तथापि वेद नहीं । जैसे किसी घर में अनेक वस्तु हैं पर उन एक २ वा सब वस्तुओं का नाम घर नहीं वैसे यहां भी स्तुति प्रार्थनादि वेद प्रतिपाद्य विषय वेद वा उस के भाग नहीं कहे वा माने जा सकते । और निरुक्तादि का अर्थवाद नाम कहीं प्रसिद्ध भी नहीं है । जैसे वेद ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों में अर्थवाद है वैसे निरुक्तादि सभी ग्रन्थों में स्तुति निन्दादि रूप अर्थवाद है । भाष्य वा व्याख्यान पुस्तक मूल के भाग नहीं हुआ करते न उन का कोई स्वतन्त्र विषय होता है किन्तु मूल के पीछे चलने वाले होते हैं इस लिये ब्राह्मणादि को वेद का भाग कहना वा मानना भी भूल है किन्तु मण्डलादि को वा अङ्गादि को वेद का भाग कहना वा मानना अवश्य बन सकता है ।

इस से आगे आरण्य तथा उपनिषद् शब्दों पर सामश्रमी जी ने प्रतिपत्तियों के प्रतिवाद में लिखा है उस पर हमें कुछ वक्तव्य नहीं है। आरण्यक ग्रन्थों में यद्यपि ब्राह्मण लक्षण कहीं २ वा बहुधा मिल सके तथापि वे ब्राह्मणों से भिन्न शाखान्तर्गत पुस्तक हैं यह प्रतीत होता है और आरण्यक उन का विशेष नाम है। उपनिषद् ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र नहीं था किन्तु गीतादि के समान ब्राह्मण वा शाखाओं के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी भागों का नाम उपनिषद् रक्खा गया था। पीछे तत्तुल्य ग्रन्थ भी स्वतन्त्र लोगों ने बना लिये। अब सामश्रमी जी के विचारणीय विषयों में एक अन्तिम बड़ा उपयोगी विषय यह है कि वेद कब उत्पन्न हुए इस के समय का निर्णय हो सकता है वा नहीं ? इस में सिद्धान्त यह किया है कि वेदोत्पत्ति का समय निर्णीत नहीं हो सकता। हमारी समझ में यह प्रस्ताव ठीक इस लिये नहीं कि वेद के निर्माता का पहिले निर्णय करना आवश्यक था। यदि वेद ईश्वरीय रचना का एक अंश है तब तो जैसे पृथिवी जल वायु आदि पदार्थों का काल निर्णय आज तक किसी ऐतिहासिक वा फिलासफर ने नहीं किया न कोई कभी कर सकता है कि अमुक संवत् में पृथिवी बनी। वैसे ही वेद का भी काल निर्णय नहीं हो सकता और करना व्यर्थ भी है। सृष्टि का स्थिति प्रवाह चलते हुए भिन्न २ मनुष्यों द्वारा जो २ काम होते वा पुस्तक बनते जाते हैं उन २ का आगे २ कालनिर्णय हुआ करता है। आगे लिखे अनुसार सामश्रमी का जब ऐसा विश्वास है कि वेद मनुष्य कृत है तो कालनिर्णय हो सकता है। ऐसी दशा में कालनिर्णय न कर सकना निर्बलता है। पर वेद के ईश्वरीय मानने पर एक ऐसा कालनिर्णीत हो सकता है जैसा कि ईश्वर के सृष्ट पदार्थों के लिये होना उचित है अर्थात् अमुक वर्ष मास पक्ष तिथि वार के इतने बजे अमुक काम हुआ ऐसा समय का निर्णय ईश्वर रचित पदार्थों विषय में हम नहीं कर सकते परन्तु यह कह सकते हैं कि आजदिन की जो वर्षसंख्या है उस में से सर्गारम्भ का सन्ध्यांश समय घटा कर सौ पचाश वर्ष के भीतर ही वेद को ईश्वर ने प्रकट किया। इस से वेद किस युग वा मन्वन्तर में बने यह शङ्का नहीं हो सकती तो एक प्रकार कालनिर्णय हो भी गया "सभी धर्म ग्रन्थों के विषय में कोई न कोई अलौकिक कहावत प्रसिद्ध है" इस लेख से सामश्रमी का अभिप्राय यह है कि बाइबल कुरान आदि की इस अंश में तुल्यता है। सो यह बड़ी भूल है क्योंकि बाइबल वा कुरान के मानने वाले भी

जब अपने २ धर्मपुस्तक को अनादि नित्य नहीं मानते किन्तु ईसामसीह और महुम्मद साहब के समय से मानते हैं उन का समय प्रसिद्ध ही परिगणित है तब हमारे सामश्रमी जी न जाने क्यों बाइबल कुरान के साथ में वेद को घसीटने का श्रम करते हैं ? । वेद अपौरुषेय है किसी पुरुष का बनाया नहीं यह मीमांसा का और वेद ईश्वरकृत है यह वेदान्त का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि अपौरुषेय कहने का आशय यह है कि किसी पुरुष ने वा ईश्वर ने अन्य ग्रन्थों के तुल्य पदवाक्य जोड़ कर कभी वेद को नहीं बनाया । तथा ईश्वरकृत मानने का प्रयोजन यह है कि सर्गारम्भ में परमेश्वर ने प्रकट किया ।

तथाचास्मत्पूर्वपुरुषैः ऋषिभिरेव कृत एष वेदमन्त्रभागोऽपीति सुस्थिरम् ।०००० तत पुरा तु बहुकालमभिव्याप्य बहुभिऋषिभिर्बहुभिरेवोच्चावचैरभिप्रायैः प्रणीता बहवो वेदमन्त्राः । तदेवं बहुयुगपूर्वमेवारब्धा वेदमन्त्ररचनाः । तत्कथङ्कारमद्यतनैः शक्यो निर्णेतुं तत्कालः ।

भा० पूर्वोक्त प्रकार हमारे पूर्वज ऋषि लोगोंने ही मन्त्र भागरूप वेद भी बनाया यह दृढ निश्चय है । जगत् के सब ग्रन्थ बनने से पहिले अब से अनेक युग पूर्व अनेक ऋषियों ने अनेक ऊंचे नीचे अभिप्रायों के साथ बहुत से वेदमन्त्र पहिले बनाये । सो इस प्रकार अब से अनेक युग पूर्व मन्त्र रचना का आरम्भ किया गया । सो अब के मनुष्य उस के बनने के समय का निर्णय कैसे कर सकते हैं । यह सामश्रमी का सिद्धान्त है । इस से पूर्व प्राचीन लोगों का सिद्धान्त दिखाते समय सामश्रमी जी लिखते हैं कि "आम्नानकृतयोर्विभिन्नार्थत्वात्" ऋषियों ने वेद का आम्नान अभ्यास पठन पाठन प्रचार किया किन्तु वेद ऋषि कृत—ऋषिप्रणीत अर्थात् ऋषियों का बनाया नहीं । इस लेख का सामश्रमी जी ने कुछ समाधान किये विना ही उस से विरुद्ध दूसरा सिद्धान्त ठहरा दिया । तथा द्वीपान्तर निवासी प्रतिपक्षियों के उत्तर में बहुत वाद विवाद कर के सामश्रमी जी ने सिद्धान्त किया है कि सब वेद एक ही काल में बने अब यहां प्रतीत कराते हैं कि भिन्न २ ऋषियों ने भिन्न २ कालों में वेद मन्त्र बनाये । पाठक लोग शोचें कि यह कैसा पूर्वापर विरोध है ? । इस से तो यही ठीक था कि वेद विषय

में अंगरेज़ लोगों का सिद्धान्त मान लेते। तथापि हम अपने सामर्थ्यी जी को अच्छा इस लिये समझते हैं कि उन्हों ने अपने भीतर का सत्य अभिप्राय प्रकट कर दिया। प्रायः आधुनिक पण्डितों [जिन को कुछ लेशमात्र बुद्धि हुई जिस के कारण वे अपने को बड़ा पण्डित समझते हैं] का ऐसा ही विश्वास है परन्तु प्रकट नहीं करते यह और भी बुरा है। अस्तु अब हमारा विचार यह है कि वेद अनादि अपौरुषेय हैं कभी किसी ने नहीं बनाया और यदि वेद को किसी का निर्मित भी माना जाय तो वह ईश्वरकृत ही मानना पड़ेगा। रहा यह कि ईश्वर ने निराकार रह कर कैसे बनाया तो उत्तर यही है कि जैसे जगत् को, यह जगत् कार्यरूप है सब कार्य वस्तु सकर्तृक होते हैं। वास्तव में परमेश्वर में यही परमेश्वरता है कि वह " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता " अपने स्वाभाविक शक्ति या नियमों से विना साकार साधनों के भी ठीक २ अपना काम कर सकता है इसी से वह सर्वशक्तिमान् है। वेदों के मनुष्यकृत ऋषिप्रणीत होने की जो शङ्का हुई वा अब होती है उस का मूल कारण यही है कि वेद ऋषियों के द्वारा प्रकट हुए। जैसे मनुस्मृति वा अष्टाध्यायी पुस्तक जो अब विद्यमान है जिस के अध्यायों की समाप्ति में भृगुप्रोक्ता विशेषण दिया है उस को सोचा जाय तो प्रतीत होता है कि पहिले कभी मनु जी ने वाणी द्वारा वेदाशय का लोगों को उपदेश किया हो वा सूत्रादि द्वारा कुछ वाक्यावली बनायी हो उसी आशय को लेकर भृगु ने यह पुस्तक बनाया पर मनुस्मृति ही नाम बना रहा भृगुस्मृति नहीं रक्खा गया। ऐसे ही परमेश्वर की प्रेरणा वा स्वाभाविक इच्छा से ऋषियों के हृदय में वेद भी भासित हुआ उन्हों ने प्रकाशित किया पठन पाठन द्वारा वेद का प्रचार किया साकार से होने योग्य काम साकार से ही होते हैं। वाणी द्वारा वेद का प्रकाशित होना साकार साध्य है सो मनुष्यों द्वारा परमेश्वर ने कराया। जिन ऋषि महर्षि लोगों ने वेद को अनादि नित्य अपौरुषेय माना या ईश्वरकृत माना था और अपने मीमांसादि ग्रन्थों में लिख गये उन्हों ने वेद के सिद्धान्त का मर्म वास्तव में जान लिया था वेदरूप अगाध समुद्र में उन लोगों की बुद्धि प्रविष्ट हुई यह निश्चय होता है। अब जिन लोगों को वेद के ईश्वरीय होने में सन्देह होता वा बना रहता है उन की बुद्धि वेद के गूढाशयों तक नहीं पहुंचती और वेद का तत्त्व न समझ पाने का एक बड़ा कारण यह है कि वेद विषय में पीछे २ अनेक ग्रन्थ बन गये उन में देश कालानुसार लोगों ने अपने २ अनुभव प्रकाशित किये। अनेक पुस्तक ऐसे लोगों ने भी बना डाले जिनका वेद में ठीक प्रवेश नहीं हुआ था। ऐसे पुस्तक ऋषियों के नाम से भी बने हैं। इन पुस्तकों द्वारा ही अब कोई २ लोग वेद की ओर झुकते हैं उन को वेद का मर्म ठीक कभी ज्ञात नहीं होता न हो सकता है इस लिये जो लोग वेद

के तत्त्व को जानना चाहें उन को केवल व्याकरणादि छः अङ्गों का सहारा लेकर सीधा मूल वेद का अभ्यास बहुत काल तक करना चाहिये । जैसे हम कार्य जगत् की दशा दूर तक शोध कर निश्चय करते हैं कि इस का स्रष्टा सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है वैसे ही जब हम को वेद का महत्त्व प्रतीत हो तो जान सकते हैं कि ऐसा पुस्तक कोई मनुष्य नहीं बना सकता यह सर्वज्ञ का काम है। जगत् में सब अनर्थों का मूल अविद्या को मानना सर्वथा सत्य ही है । इसी अविद्या से वेद विषय में अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान प्रचरित हो गया ।

वसिष्ठादि नाम जो वेद में आते हैं इस विषय में बड़ा अज्ञान चल गया। वास्तव में जब वेद का ईश्वरीय होना अनेक युक्ति प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुका तो वसिष्ठादि ऋषियों की उत्पत्ति से पूर्व ही वसिष्ठादि नाम वेद में विद्यमान थे यह ठीक है । जैसे प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति से पहिले उस २ का नाम अब के तुल्य सदा ही पहिले विद्यमान रहता है जब केवल वेद ही शब्दों का भण्डार था तब जो २ मनुष्यादि उत्पन्न हुए उन २ के नाम वेद से लेकर रक्खे गये । इस प्रकार वसिष्ठादि नाम वेद से लेकर उन २ ऋषि सन्तानों के रक्खे गये किन्तु वसिष्ठादि ऋषियों का नाम वेद में उन के होने पश्चात् नहीं लिखा गया । वेद में वसिष्ठ नाम अग्नि का है । तत्त्वों में अग्नि ब्राह्मण वर्ण है इस कारण वशिष्ठ नाम मनुष्यों में सामान्य ब्राह्मण का हो सकता है जिस में ब्राह्मणपन की अति प्रबलता हो वह वशिष्ठ है इस वेद के अर्थांश को लेकर ऋषि का नाम वशिष्ठ हुआ । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, मनो वै विश्वामित्रऋषिः" चक्षु का नाम जमदग्नि और मन का नाम विश्वामित्र ऋषि है । इत्यादि प्रकार सिद्ध है कि किसी व्यक्ति विशेष का नाम वेद में नहीं और इसी कारण उन नामों से वेद की नवीनता सिद्ध नहीं हो सकती । जैसे कोई मनुष्य अपने पुत्र का नाम "विपश्चित्" वा "कवि" रख लेवे और वह बड़ा प्रतापशाली हो तो कालान्तर में वेद में विपश्चित् शब्द को देख कर कोई कहे कि अमुक विपश्चित् नामी पुरुष का चरित्र वेद में है और उस पुरुष ने वेद में मेधावी वाचक समझ के जो अपने सन्तान का नाम रक्खा हो उस का विचार सर्वथा छोड़ देवे तो जैसे यहां विपश्चित् वा कवि नाम से वेद में कोई दोष नहीं आता वैसे वशिष्ठादि नामों के विषय में भी जानो । अब सामश्रमी जी के सम्बन्ध में यहां तक लेख समाप्त हुआ आगे त्रयीविद्या पर अपना विचार लिखेंगे ॥

[आ० सि० भाग ६ अङ्क ९।१० के पृ० १५२ से आगे मांसभोजन ३ खण्ड का उत्तर]

चलाना नहीं होता वहां अन्त्य में पूरी तुक लिख देते हैं। इस नवम काण्ड के अगले चतुर्थ सूक्त में भी यही बात है। मूल अथर्व के पुस्तक को जो लोग लौट पौट कर देखेंगे उन को यह नियम ठीक मालूम हो जायगा। छठे काण्ड के इक्कीशवें प्रपाठक के इस तृतीय सूक्त में केवल नव मन्त्र हैं उन सब का यथार्थ पाठ हम यहां पाठकों के अवलोकनार्थ लिख देते हैं जिस से अनुवृत्ति का नियम ज्ञात होगा।

इष्टं च वा एष पूर्त्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३१॥ पयश्च वा एष रसं च० ॥ ३२ ॥ ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥३३॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ३४॥ कीर्त्तिं च वा एष यशश्च ॥३५॥ श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥३६॥ एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् ॥३७॥ अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम् ॥३८॥ एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ३९ ॥

अब पाठक लोग ध्यान देकर सोचें कि सूक्त के प्रथम ३१ मन्त्रस्थ (गृहाणा०-ति) वाक्य की अनुवृत्ति ३६ वें मन्त्र तक लाई गयी इसी लिये छत्तीशवें मन्त्र

में फिर से पूरा वाक्य लिखा गया । और इन छः मन्त्रों में नियम वा उचित में विरुद्ध अतिथि से पहिले भोजन करने वाले का निन्दारूप अर्थवाद दिखाया है। और " अतिथि से पहिले भोजन न करना चाहिये वा अतिथि को खिला कर खाना चाहिये" यह विधि वाक्य है । और वेद शास्त्र का यथावत् पढ़ने जानने वाला शुभाचरणसम्पन्न अतिथि हो सकता है उस से पहिले भोजन गृहस्थ न करे, यह सैंतीसवें मन्त्र से दिखाया इस से सिद्ध हुआ कि अतिथि वेषधारी मूर्ख से पहिले भोजन करने में दोष नहीं । अड़तीशवें मन्त्र से यह दिखाया कि अतिथियज्ञ की अनुकूलता और उस में विच्छेद वा विघ्न न होने के लिये अतिथि के भोजन कर लेने पर गृहस्थ पुरुष भोजन करे यही व्रत वा नियम है । यदि गृहस्थ पुरुष स्वयं भोजन कर के विद्वान् अतिथि को भोजन कराया चाहे तो अश्रद्धा देख वा अपना अपमान समझ के न करे यह सम्भव है इस दशा में अतिथियज्ञ का विच्छेद होगा । अब रहा उनतालीशवां मन्त्र उस में गृहस्थ तथा अतिथि के भक्ष्याभक्ष्य का नियम किया है वा यों कहो कि भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य के निषेधार्थ यह मन्त्र है जिस का अक्षरार्थ स्पष्ट लिखते हैं ।

अ०-(यदधिगवम्) गवि सम्भवमधिगवमिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (क्षीरं वा) क्षीरमिवान्यदपि मधुरप्रायं हिंसादिदोषशून्यं च वस्तु भक्ष्यमात्रम् (एतद्वाउस्वादीयः) एतदेव स्वादिष्ठं शास्त्रानुकूल्येन भोक्तुमिष्टमतोऽतिथिरश्नीयात् गृहस्थश्चाशयेदिति (मांसं वा) मांसमिव हिंसाद्यधर्मसम्पाद्यमभक्ष्यं वस्तु (तदेव,नाश्नीयात्) अतिथिर्न भुञ्जीत गृहस्थश्च नाशयेदिति ।

भा०-अत्र मन्त्रे वाक्यद्वयं बोध्यम् । उत्तरवाक्ये निषेधपाठात्पूर्ववाक्ये प्रतिप्रसवत्वेन विधिक्रियाया अध्याहारः । विकल्पानवक्लृप्त्युपमानद्वन्द्वसमुच्चयेषु वाशब्दइति गणरत्नमहोदधिः। क्षीरमिति भक्ष्यमात्रस्योपलक्षकं मांसं चाभक्ष्यमात्रस्य तेन भक्ष्यविधिरभक्ष्यप्रतिषेधश्चोभयमनेन प्रतिपाद्यते । ये चात्र सप्तत्रिंशन्मन्त्रात्पूर्वो नाश्नीयादित्यनुवर्त्तयन्ति ते तावदिदं प्रष्टव्याः किंच

भोः ! अष्टत्रिंशत्तमं मन्त्रमुल्लङ्घ्य कथमप्रासङ्गिकमनुवर्त्तनम् ? पूर्वस्मादेव नाश्नीयादित्यस्यानुवर्त्तनं मन्त्रकारस्यार्थ एवं चेत् किमर्थं नाश्नीयादित्यस्य पुनः पाठः ? तथा च दधिदुग्धनवनीतघृतमांसानि भवत्परिगणितानि मधुपर्कीयवस्तून्यतिथेः पूर्वं नाश्नीयादिति भवदभिमतं तदा गोधूमशष्कुल्यपूपादीनि त्वतिथेः पूर्वमपि किमश्नीयात् ? न चेयमर्थापत्तिराचार्यानार्येणापि वारयितुं शक्या । अप्रासङ्गिकपदानुवर्त्तनमपि वेदस्यानर्थस्तस्येदं दूषणं फलम्बोध्यम् । नचास्मदर्थे किमपि दूषणमस्ति तस्मादाचार्यकृतोऽर्थो रक्तमांसादिवदेव निह्नोतव्य इति किं बह्वालापेनेति ॥

भावार्थः-(यद्दधिगवम्) जो यह गौ के शरीर में उत्पन्न होने वाला (क्षीरंवा) दूध, उस के तुल्य मधुरप्राय हिंसादि दोष रहित अन्य भी भोज्य वस्तु जिस को खाने की धर्मशास्त्र में आज्ञा है (एतद्वा उ स्वादीयः) यही सब शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल स्वादिष्ठ खाने को अभीष्ट है इस कारण ऐसे भक्ष्य पदार्थ को अतिथि खावे और गृहस्थ खवावे (मांसंवा) और जो मांस के तुल्य हिंसादि अधर्म से प्राप्त होने योग्य अभक्ष्य वस्तु हो (तदेव नाश्नीयात्) उसी को अतिथि न खावे और न गृहस्थ उस को खवावे ।

भा०-इस मन्त्र में दो वाक्य हैं पिछले वाक्य में निषेध वाचक नकार का पाठ होने से प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध का निषेध कि मांसादि अभक्ष्य को जैसे न खावे वैसे दुग्धादि भक्ष्य को भी न खावे सो नहीं किन्तु दुग्धादि को अवश्य खावे इस प्रकार पहिले वाक्य में विधान की क्रिया का उचित अध्याहार किया गया । इस अतिथियज्ञ के प्रकरण में भक्ष्याभक्ष्य का विधि निषेध कहीं अन्य मन्त्र में दिखाया भी नहीं गया जिस का सूक्तान्त में दिखाना अत्यन्त उचित है । जिन लोगों के मत में मांसादि सभी कुछ भक्ष्य है अभक्ष्य कुछ नहीं उन को भक्ष्याभक्ष्य के विधिनिषेध की आवश्यकता भले ही न हो पर धर्माधर्म का विवेक मानने वालों के लिये वेद से ऐसे उपदेश के मिलने की आवश्यकता अवश्य है । वाशब्द उपमा वाचक गणरत्नमहोदधि में लिखा है । इस मन्त्र में क्षीर शब्द सब भक्ष्यमात्र वस्तु के उपलक्षणार्थ और मांस शब्द अभक्ष्यमात्र के

सूचनार्थ है इस कारण भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य का निषेध दोनो प्रकार की आज्ञा इस मन्त्र में है। जो लोग सैंतीशवें मन्त्र से इस मन्त्र में (पूर्वोनाश्नीयात्) इन पदों की अनुवृत्ति लाते हैं। इस पर उन लोगों से हम यह पूछते हैं कि क्योंजी ? बताइये तो सही कि अड़तीशवें मन्त्र को बीच में छोड़कर असंबद्ध अनुवृत्ति कैसे कूद पड़ी ? तथा पूर्व से ही जब (नाश्नीयात्) की अनुवृत्ति लाना मन्त्रकार को भी अभीष्ट था तो फिर (नाश्नीयात्) ये दोनों पद इस ३९ वें मन्त्र में क्यों पढ़े ? यहां आचार्य की बुद्धि को लोभने ऐसा दबाया कि कुछ भी न सूझ पड़ा कि हम से कोई पूछेगा तो क्या उत्तर देंगे ! जब एक नाश्नीयात् पहिले से लाये एक इस मन्त्र में पढ़ा था तो दो हो गये तो क्या अर्थ करो गे कि दूध दही घी मांस अतिथि से पहिले न खावे सो नहीं किन्तु अवश्य खावे ?। हम अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि इस का उत्तर पं० ठाकुरप्रसाद जी से अवश्य मांगें। तथा एक दोष यह भी है कि दूध दही घी मांस इन मधुपर्क योग्य वस्तुओं को अतिथि से पहिले न खावे यह मांस भोजन विचार के तृतीय खण्ड में लिखा है। तो क्या गेहूं आदि के पूरी पुआ आदि अतिथि से पहिले भी गृहस्थ खालेवे न ? क्या आचार्य को इतनी ही वेदार्थ समझने की शक्ति है ? इस अर्थापत्ति से आने वाले दोष को आचार्य के आचार्य भी निवृत्त नहीं कर सकेंगे। अयुक्त असंबद्ध पदों की अनुवृत्ति मूल के अभिप्राय से विरुद्ध करना भी वेद का अनर्थ करना है उसी का यह फल हुआ कि इन का अर्थ अनेक दोषों से दूषित हो गया। और हमारे अर्थ में कोई दोष नहीं है इस लिये विचारशीलों को चाहिये कि रुधिर मांसादि के ही तुल्य आचार्य के किये अर्थ को त्याग दें॥

अब इस से आगे एक मन्त्र १८ वें सूक्त का ४३ वां है सब से अधिक विवाद इसी मन्त्र पर है। सब से बड़ा प्रमाण मांसाहारियों का यही है। पर हम सब महाशयों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि आप लोग हठदुराग्रह को छोड़ कर न्यायदृष्टि से पहिले वेद के सिद्धान्त को शोचें कि वेद में हिंसा को कहीं कर्त्तव्य माना वा ठहराया है वा नहीं किसी ग्रन्थ में परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त नहीं हो सकते यदि वेद अहिंसा को धर्म मानेगा तो हिंसा को धर्म नहीं मान सकता। हमारा विचार यह तो दृढ़ और व्याकरण तथा मीमांसादि शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है कि वेद के शब्द सामान्यार्थपरक हैं विशेषार्थ वा

रूढि अर्थ के वाचक नहीं हैं इसी के अनुसार मांसशब्द के अर्थ पर यहां अन्तिम विचार लिखते हैं—मांस शब्द सृष्टि के आरम्भ से ही वेद में था तब कोई निरुक्तादि पुस्तक भी नहीं बना था निरुक्त व्याकरण वा धर्मशास्त्रादि वेद से भिन्न ग्रन्थों में वेद में आने वाले मांसपद का अभिप्राय देख कर प्रकृति प्रत्यय वा निर्वचन द्वारा ऋषि लोगों ने अर्थ की कल्पना प्रकाशित की यह विचार निश्चित ही समझिये। मांसपद का सामान्यार्थ भक्ष्य पदार्थ का तृतीय परिणाम है उसी को तीसरा धातु भी कह सकते हैं। किसी वस्तु को खाने वाले चर वा अचर प्राणी वृक्षादि स्थावर प्रथम उस २ पदार्थ का भक्षण वा भोजन करते हैं वह आहार परिपक्क हो कर उस से जो पहिला परिणाम अवस्थान्तर (एक अन्य हालत) बनती है उस का नाम रस होता, उस रस के परिपक्क होने पर जो द्वितीय परिणाम वा विकार उत्पन्न होता है उस का नाम रक्त वा रुधिर धातु है। जिस के विषय में सुश्रुत में लिखा है कि—

तेजसा रञ्जितास्त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः शरीरेण रक्तमित्यभिधीयते ॥

वह पहिला रसनामक धातु शरीरस्थ पित्तनामक अग्नि से रंगा जाता है और जब तक वह जमकर शरीर के साथ मांसरूप से न जुड़जावे तब तक उस का नाम रक्त है। संस्कृत में रंगे हुए पदार्थ का नाम रक्त है और रंगा हुआ रुधिर प्रायः लाल होता है इस कारण लाल वस्त्रादि को भी रक्त कहते हैं। इसी लिये रुधिरादि कई शब्दों में रंगा वा लाल अर्थ न होने पर भी वे उसी वस्तु के वाचक माने जाते हैं। वही रुधिर जब काल पाकर शरीर में जम जाता और शरीरके जमे हुए धातुओं के साथ जुड़ जाता है तब उस तृतीय परिणाम वा अवस्थारूप विकार का नाम मांस होता है। सो इस प्रकार वृक्ष वनस्पत्यादि के भी तृतीय परिणाम का नाम मांस है। इसी लिये सुश्रुत ग्रन्थ के शारीरस्थान में स्पष्ट लिखा है कि—

अपक्के चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्के त्वाभिभूता उपलभ्यन्ते ॥

अर्थात् आम्रादि के कच्चे फल में नसें हड्डी और मज्जा चरबी प्रतीत नहीं होती किन्तु पक जाने पर गुठली के ऊपर जो रोम से निकलते हैं वे नसें

गुठली का कठोर भाग हड्डी तथा उस में चिकना अंश मज्जा होती है अर्थात् जैसे कच्चे फल वा अति छोटे वृक्षादि में सब धातु होते हैं पर जिस का आविर्भाव नहीं होता वह प्रसिद्ध में नहीं दीखता जैसे पुत्र वा कन्या के शरीरों में भी वीर्य तथा आर्त्तव रुधिर होता है पर वह सूक्ष्म दशा में रहने से प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता । इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म में स्थावरों में सब सातों धातुओं का होना स्पष्ट ही लिखा है तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा लेख अनेक स्थलों में खोजने से मिलेगा । वह सब वेद के सामान्य अर्थांश को लेकर लिखा गया है । सुश्रुत के प्रमाण में मांस शब्द इस लिये नहीं आया कि कच्चे और पके दोनों प्रकार के फलों में गूदारूप मांस तो विद्यमान ही है । वास्तव में गूदा का नाम मांस है । जैसे स्थावरों के फलादि में गूदा होता वैसे ही मनुष्य पशु पक्षी आदि के शरीरों में भी जो गूदा है उसी का नाम मांस है । लोक में वा लौकिक ग्रन्थों में फलादि का गूदा मास नहीं कहाता यह लौकिक भ्रम है अर्थात् किन्हीं कारणों से मनुष्यादि के शरीरों में रसादि धातु प्रधान माने गये और स्थावरों में गौण हो गये तो गौण और मुख्य में से मुख्य वा प्रधान को लेकर व्यवहार होता है । पर यह व्यवहार अधिक कर लोक में ही घटता है वेद में नहीं । वेद के शब्द सामान्यार्थ बोधक हैं तथापि प्रधान का प्रधानता से और गौण का गौण रीति से विधि वा निषेध माना जायगा । और उत्सर्गापवाद लोक के समान वेद में भी हैं क्योंकि लौकिक ग्रन्थकारों ने वेद से ही सब नियम सीखे वेद ही सब का आदि कारण है । अब वेद में दो प्रकार का लेख मांसभक्षण विषय में मिलता है । एक तो विधि दूसरा निषेध और हिंसा करने का निषेध भी वेद में स्पष्ट ही है "मा सेधे त्रायस्व सैनयं हिंसीः" इत्यादि । हिंसा शब्द की प्रवृत्ति भी मुख्य कर चर प्राणियों के मारने में होती है । यद्यपि स्थावरों के काटने तोड़ने में भी उन को कुछ दुःख पहुंचता है तथापि वह मनुष्यादि चर प्राणियों की अपेक्षा इतना कम है जिस को न होने के समान ही मान सकते हैं यह पहिले स्थावर विचार में अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं । तात्पर्य यह निकला कि जहां मांसभक्षण का निषेध है वहां हिंसारूप अधर्म के भय से चर प्राणियों के मांस का निषेध मानना चाहिये और जहां मांस के भक्षण का वेद में विधान है वहां अचर वा स्थावरों के गूदारूप मांस की विधि है । इस प्रकार वेद के दोनों विधि निषेध अपने भिन्न २ अंशों में चरि-

सार्थ हो जाते संगति ठीक लग जाती है कोई दोष नहीं आता। और जो लोग जङ्गम प्राणियों के ही तृतीय परिणाम का ग्रहण करते हैं उन के मत में यह बड़ा दोष आवेगा कि वेद में जहां २ मांस का निषेध आवे वहां २ उसी का निषेध और जहां २ विधि आवे वहां २ उसी मांस का विधान मानें ये दोनों मन्तव्य परस्पर विरुद्ध पड़ेंगे इस का समाधान अन्य प्रकार से होना दुर्लभ है। और निरुक्त का प्रमाण कि-

"माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा"

यह सर्वत्र बराबर दोनों के तृतीय परिणाम में घट जाता है। क्योंकि स्थावरों में भीतर २ मननशक्ति चेतनता विद्यमान ही है जिस को भाग ६ में अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अठारहवें सूक्त के चौथे मन्त्र का संक्षेप से अर्थ लिखा जाता है-

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे ताव-देनेनावरुन्धे ॥ अथर्व० ९। ६। ४३ ॥

अ०-सोऽतिथियज्ञस्य मर्मज्ञः पूर्वोक्तरीत्या कर्तुं श्रद्दधानो गृहस्थो विद्वान् पुरुषः (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) अतिथेः पूर्वमभुक्त्वा मांसं फलादेस्तृतीयं परिणामं सम्यक् सम्पाद्य पक्त्वा वाऽतिथये समर्पयति तस्य सुसमृद्धेन सम्यक्साङ्गोपाङ्गसाधन-युक्तेन द्वादशाहनामकयज्ञेन यावदनिष्टं दुःखमवरुन्धेऽवरुध्यते तावदनिष्टमेनेनातिथियज्ञसेवनेनावरुन्धेऽवरुध्यते ॥

भा०-अस्मिन्नेवातिथियज्ञप्रसङ्गे पूर्वं मांसभक्षणं प्रतिषिद्धं तत्र हिंसाधिक्याज्जङ्गमप्राणिमांसस्य निषेधोऽत्र तु कन्दमूलफ-लादिस्थस्य तृतीयपरिणामस्य भक्षणविधिरिति सर्वमवदातम् ॥

भावार्थः-(स यो विद्वान्) अतियज्ञ का मर्म जानने वाला सो जो गृहस्थ विद्वान् पुरुष (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) इस पूर्वोक्त प्रकार अतिथि से पूर्व-

स्वयं न खाकर मांस नाम फलादि के तीसरे परिणामरूप गूदा को अच्छा यथा-योग्य काट बना वा पका कर अतिथि के लिये समर्पण करता है उस का (यावत्) जितना अनिष्ट दुःख (सुसमृद्धेन) अच्छी सम्हाली हुई साङ्गोपाङ्ग सामग्री से युक्त (द्वादशाहेन) बारह दिन में होने वाले द्वादशाह नामी यज्ञ से (अवरुन्धे) निवृत्त होता (तावदेनेनावरुन्धे) उतना अनिष्ट दुःख इस अतिथियज्ञ से रुकता वा निवृत्त हो जाता है । इस लिये अतिथियज्ञ अवश्य करना चाहिये ॥

भा०—इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में विधि और उत्तरार्द्ध में अर्थवाद है । इस अठारहवें सूक्त में दूध, घी, मीठामात्र वा मधु (शहद) मांस और जल ये पांच वस्तु अतिथि सत्कार के लिये गिनाये हैं इस का अभिप्राय यह नहीं है कि इन से भिन्न अन्य कोई पदार्थ का भोजन अतिथि को न करावे किन्तु इन का ग्रहण उपलक्षणार्थ है । यदि अन्य भोज्य पदार्थ प्राप्त न हों तो इन में से जो अपने पास हो उसी से अतिथि पूजन करे सब के अन्त में उदक इस लिये पढ़ा है कि और कोई पदार्थ न मिले तो केवल जल से भी अतिथि की सेवा करे । मनुस्मृति में लिखा है कि—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

जो कोई अतिथि गृहस्थ के घर आवे तो ठहरने को स्थान आसन, हाथ पांव धोने तथा पीने को जल और प्रिय कोमल वाणी यह चार प्रकार का आये हुए का सत्कार अच्छे सज्जन लोगों के घर में कभी दूर नहीं होता अर्थात् अन्य भोजन वस्त्रादि से सत्कार नहीं भी बने तो भी उक्त चार वस्तुओं से सत्कार अवश्य करे । इसी अतिथियज्ञ के प्रकरण में पूर्व मांसभक्षण का निषेध १७ वें सूक्त के अन्त में किया है वहां हिंसारूप अधर्म की अधिकता से घर प्राणियों के मांस का निषेध है और कन्द घुइयादि मूली आदि जड़ और अमरूद आम आदि फलों के तृतीय परिणामरूप मांस नाम गूदा के खाने का यहां विधान है । इस प्रकार सब प्रकरण का निर्दोष अर्थ लग जाता है ॥

हम उन महाशयों से पूछते हैं कि जो मांसभक्षण निषेध तो वेद में मानते नहीं किन्तु विधान मात्र सामान्य कर मानते हैं तो उन के मत में सभी का मांसभक्ष्य ठहरता है क्या ये लोग गौ वा मनुष्यादि प्राणियों का भी मांसभक्ष्य मानते हैं ? । अब मांसभक्षण विषय में यह अन्तिम सिद्धान्त हो चुका इस में

किसी प्रकार का सन्देह अब शेष नहीं रहा अब इस सिद्धान्त में केवल उन लोगों को सन्देह रहे तो सम्भव है कि जो वेद के सामान्यार्थपरक होने को न समझें तथा वेद के सिद्धान्तरूप मूलाशय में जिन की बुद्धि न चले उन को सन्देह रह सकता है । और जो मनुष्य पक्षपाती वा हठी दुराग्रही हैं उन को तो सभी सन्देह है उन के लिये कहना ही क्या ॥

अब इस से आगे मांसभोजन विचार तृतीयखण्ड ८६ पृष्ठ में एक मन्त्र "अजमनज्मि पयसा घृतेन०" इत्यादि लिखा है जिस का भावार्थ आचार्यजी ने किया है कि "मैं जल से और घी से उत्तम गुण वाले अच्छे पार्श्व वाले पुष्टिकारक खाने को बड़े को बकरा को पाकद्वारा व्यक्त करता हूं" क्या मैं शब्द से व्याकरणाचार्य जी स्वयमेव पाचक बनते हैं ? अच्छी बात है आप बकरे को पकाइये । हमारे पाठक इन के भावार्थ को देखें कैसा अटपटांग वा असंबद्ध है इसी से हमने अनुवाद लिख दिया है कि जिस से लोग जान लें कि वेदार्थ करने की ऐसी योग्यता हमारे आचार्यजी को है ! इस अर्थ में "पाकद्वारा" यह पद ऊपर से जोड़ा है अर्थात् मन्त्र में कोई ऐसा पद नहीं जिस का पकाना अर्थ हो । यदि इन से कोई पूछे कि "पाकद्वारा" इस में कहां से आया किस प्रमाण वा युक्ति से ऐसा अर्थ किया तो आकाश की ओर देखने बिना और क्या कहें गे ? यदि कोई कहे कि घोड़ा ला तो क्या घोड़े का मांस कोई लावे गा ? यहां बकरा कहने से बकरे का मांस कैसे ले लिया गया ? यदि कोई कहे कि "मैं जल वा दूध मिला घी खिला कर बकरे को प्रकट करता अर्थात् पुष्ट कमनीय दर्शनीय बनाता हूं" तो इस अर्थ को मिथ्या कहने के लिये उन के पास क्या प्रमाण है ? यदि इस को मिथ्या ठहराने के लिये कोई प्रमाण हो सकता है तो उसी प्रमाण से उन का अर्थ भी मिथ्या अवश्य ठहर जायगा । और वह प्रमाण यह है कि-

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः । अजस्तमांस्यपहन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ अथर्व० ९।५।७॥

अर्थ-इस वर्त्तमान शरीर में रह कर जो श्रद्धा पूर्वक अग्नि को रखता है [दत्तः, यह पद देङ् रक्षणे, धातु से बना है] अर्थात् जो नित्य नैमित्तिक नियम से

अग्निहोत्रादि करता है उस के तमोगुण सम्बन्धी कुसंस्कारों को वह अग्नि नष्ट वा दूर कर देता है। इसी अर्थ के कारण अग्नि का नाम अज है तथा इसी अभिप्राय से सूर्यादि ज्योतियों को भी अज कहते हैं। व्याकरण में (अज गतिक्षेपणयोः) धातु का क्षेपण नाम अन्धकार को दूर करना अर्थ भी इसी वेद के मन्त्र से लिया गया है। अग्नि और सूर्यादि प्रसिद्ध में भी रात्रि आदि के अन्धकार को दूर करते हैं। प्रकाश गुण अग्नि का है वही सूर्यादि अनेकरूप हो कर अन्धकार का नाश करता है। निघण्टु अ० १ खण्ड १५ में अजाः शब्द आया है वहां भी "अजन्ति सर्वतस्तमः क्षिपन्ति ते अजाः पूषवाहाः सूर्यरश्मयइति यावत्" यह निर्वचन निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा ने किया है अर्थात् अन्धकार को दूर करने के कारण सूर्य की किरणों का नाम अज माना है जिस को सन्देह हो वह निघण्टु में देख लेवे। इस के उदाहरण में देवराज यज्वा ने "अहेडमानो रयिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व। ऋ० सं० २। २। २। ४" यह मन्त्र ऋग्वेद का लिखा है इस में (अजाश्व) शब्द सम्बोधन है जिस का अर्थ यह है कि अज नाम अन्धकार को दूर करने वाले अश्व नाम शीघ्रगामी जिस के किरण हैं ऐसे पूषा का नाम अजाश्व है। इसी मन्त्र को हमारे व्याकरणाचार्य ने बकरा के प्रमाण में लिखा है और अजाश्व के स्थान में अजाश्च ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा है। पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि कितना अन्धकार है। जो प्रमाण इन के पक्ष को काटने वाला था उसी को अज्ञान से अपना पोषक समझा। ऐसे ही अविद्याग्रस्त लोग अनिष्ट को इष्ट मान कर महा विपत्ति भोगते हैं। अब इसी अथर्ववेद के प्रमाण से तथा शब्दार्थ और निघण्टु की साक्षिता से सिद्ध हो गया कि अज नाम वेद में अग्नि का है बकरे का नहीं और आचार्य का किया अर्थ सर्वथा प्रमाण शून्य है अर्थात् अज शब्द से बकरे का ग्रहण करने के लिये आचार्य जी ने कोई प्रमाण भी नहीं दिया। लोक का प्रमाण वेद में इस से नहीं लग सकता कि वेद में अज शब्द पहिले ही था पीछे लोक में अज नाम बकरे का रक्खा गया। पिता के जन्म की साक्षी पुत्र नहीं दे सकता। जब अज नाम अग्नि का वेद में सिद्ध है तब इस के अनुसार उक्त मन्त्र का अर्थ यह होगा कि—

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्। तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं

स्वरारोहन्तो अभिनाकमुत्तमम् ॥ अथर्व० ४ । १४ । ६ ॥

भ० -अहं पयसा रात्र्या सायंकालेन घृतेन [घृ क्षरणदीप्त्योः] दीप्तेन प्रकाशितेन दिनेन प्रातःकालेन चाजं तमसः क्षेप्तारं दिव्यं दिवि द्युलोके भवं सुपर्णं शोभनपतनं पयसं जलवर्षकं बृहन्तं महान्तं सूर्यरूपेणावस्थितमग्निं सूर्योज्योतिरित्यादिमन्त्रैरग्निर्ज्योतिरित्यादिभिश्च पार्थिवमग्निमनज्मि प्रकटीकरोमि प्रज्वालयामि वा । तेन नित्यनैमित्तिकेनानुष्ठितेन होमकर्मणोत्तमं नाकमभि-उत्तमलोकस्याभिमुखं स्वरारोहन्तः स्वः सुखविशेषं प्रादुर्भावयन्तो वयं सुकृतस्य पुण्यकर्मणो लोकं लोक्यं फलं गेष्म गच्छेम ॥

पयइति रात्रिनामनिघण्टौ १ । ७ । तत्सहचारेण यौगिकार्थेन च घृतपदेन दिवसस्य ग्रहणं बोध्यम् । यथा चाग्निना सिञ्चतीत्ययुक्तं वाक्यमेवं पयसोदकेन दुग्धेन वाग्निं प्रज्वालयतीत्ययुक्तमेव स्यात्, तेन चाग्नेर्निर्वाणसम्भवस्तस्मादयमेवार्थः साधुः । दिव्यमिति [द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्] इति सूत्रेण भवार्थे शैषिको यत् प्रत्ययः । उत्तमगुणयुतमिति प्रमाणशून्योऽनर्थएव सुपर्णइतिपदं सूर्यस्य चन्द्रमसो वा कुत्रचिद्विशेषणं सर्वत्र वेदेऽस्ति तत्सम्बन्धेन सूर्यकिरणानां वा ग्रहणं नान्यस्य कस्यापि । यः कोऽपि प्रतिजानीतास्त्यन्यस्य विशेषणं स निघण्टौ निरुक्ते च दर्शयेदेतदिति । दिव्यं सुपर्णमिति पदद्वयं न कथमपि वर्करस्य विशेषणं भवितुमर्हति । तस्मादाचार्यकृतोऽर्थः सर्वथाऽज्ञानान्धकारग्रस्तएव ॥

भाषार्थः-मैं (पयसा, घृतेन) अन्धकारमय रात्रि और प्रकाशरूप दिन के आरम्भ में सायं प्रातःकाल (दिव्यम्) द्युलोक में रहने वा अपने प्रकाश स्वरूप में

अवस्थित तथा (सुपर्णम्) अच्छे प्रकार अपनी परिधि में घूमने वा चलने अथवा होम किये यज्ञपदार्थों को लेकर शीघ्र उड़ने वा सर्वत्र पहुंचाने वाले (पयसम्) जल वर्षा के हेतु (बृहन्तम्) बड़े महत्परिमाण से युक्त सर्वत्र व्याप्त सूर्यरूप से अवस्थित अग्नि को [सूर्योज्योति०] इत्यादि मन्त्रों से और पार्थिव अग्नि को [अग्निर्ज्योति०] इत्यादि मन्त्रों से (अनज्मि) होम द्वारा संस्कृत वा प्रज्वलित करता हूं (तेन) उस सेवन किये नित्य नैमित्तिक होम कर्म से (उत्तमं-नाकमधि) उत्तम दुःख रहित स्थान की ओर चलें और (स्वरारोहन्तः) उत्तम सुख को प्रकट करते हुए हम लोग (सुकृतस्य, लोकम्, गेष्म) सुकृत पुण्य कर्म के दर्शनीय उत्तम फल को प्राप्त होवें । इसी अभिप्राय को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि "अग्निहोत्रंजुहुयात्स्वर्गकामः" स्वर्ग चाहने वाला पुरुष साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र यज्ञ नित्य नियम से किया करे ॥

निघण्टु में पयः नाम रात्रि का है उसी के सम्बन्ध से वा यौगिकार्थ के कारण घृतपद से दिन का ग्रहण किया गया । जैसे अग्नि से सींचता है यह वाक्य अयुक्त है वैसे पय नाम दूध वा जल से अग्नि को प्रज्वलित वा प्रकट करना कहा जाय तो यह भी अयुक्त है क्योंकि दूध वा जल से अग्नि का बुत जाना सम्भव है जलना सम्भव नहीं इस कारण पयः शब्द का रात्रि अर्थ करना ही ठीक है । दिव्य शब्द (द्युप्रागपा०) सूत्र से भव अर्थ में शैषिक यत् प्रत्यय हो कर बना है किन्तु उत्तम गुण वाले यह अर्थ सर्वथा प्रमाणशून्य होने से व्यर्थ है । सुपर्ण शब्द वेद में सूर्य तथा कहीं चन्द्रमा का वाचक है सूर्य के सम्बन्ध से सूर्य की किरणों का नाम भी सुपर्ण है किन्तु अन्य किसी का विशेषण सुपर्ण नहीं हो सकता यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि अन्य का विशेषण भी हो सकता है तो वह निघण्टु और निरुक्त में अन्य अर्थ दिखावे । दिव्य और सुपर्ण ये दोनों पद बकरा के विशेषण कदापि नहीं हो सकते इस से आचार्य का किया अर्थ सर्वथा अज्ञानान्धकार से भरा है ॥

इस पूर्वोक्त मन्त्र से आगे (पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलीभिः०) इत्यादि दो मन्त्र मांसभोजनविचार तृतीयखण्ड के पृष्ठ ९० से ९९ तक लिखे हैं जिन का अर्थ आचार्य ने किया है कि "मांस घी और जल से सिद्ध पञ्चविध विभक्त भात को करछी से निकाल । इस भात को पांच अंगुलियों से पांच प्रकार से विभक्त कर । बकरा का पूर्व दिशा में शिर अर्थात् जो भात शिर के मांसादि सहित पकाया

है वह धरो । दक्षिण दिशा में दहिने पार्श्व के मांसादि से पकाये भात को धरो । इस बकरे के जघनमांससिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो । उत्तर दिशा में दक्षिण से दूसरे भाग के मांस से पकाये भात को और पार्श्व अर्थात् उत्तर कुक्षिस्थ मांस से पकाये भात को । ऊर्ध्व दिशा में बकरे के वंशी वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को धरो । ध्रुव वा भूमि जो पादतलस्था है अर्थात् अपने पाद के इधर उधर स्थित यद्वा नीचस्थान जो उत्तमों के बैठने का अपेक्षा से है उस तर्फ में बल के लिये जो अङ्ग उन के मांस से पकाये भात को धरो । बीच से मध्य भाग के मांस से पकाये भात को आकाश में धरो ” यह दो मन्त्रों का अर्थ जैसा संगत है सो तो पाठक लोग जान ही लेंगे । तो भी संदेह यह है कि ऐसा कौन करे कब करे क्या जब २ मांसाहारी लोग मांस खाने को बनावें तब २ ऐसी कवायद किया करें ? फिर कोई पूछे कि ऐसा क्यों करे ? ऐसा करने से क्या प्रयोजन है ? तो क्या उत्तर दोगे ? आचार्य लिखते हैं शिर के मांसादि सहित, सो पाठकगण शोचिये तो सही शिर में कहीं मांस होता है शिर में से कोई मांस निकालता है ? तथा शिर के मांसादि यहां आदि शब्द से क्या चरबी हड्डियों का ग्रहण करोगे ? । मुझे निश्चय है कि कसाई लोग भी शिर में से कुछ खाने को नहीं निकालते । पूर्वदिशा में मांस मिला भात क्यों धरे ? मांस समेत भात ऐसा अर्थ मन्त्र के किस पद से लिया गया ? । ऊर्ध्व दिशा और अन्तरिक्ष में मांस युक्त भात को कैसे लटकावे ? कौन लटकावे क्यों लटकावे ? यदि छीं के आदि पर लटकावे तो वह आकाश में न हुआ उस का आधार छींका होगा । वैसे तो कहीं धरो सभी अवकाश में होगा । इस प्रकार इन का अर्थ रोम २ संदेहों से भरा है जिस का समाधान जन्मान्तर में भी होना दुस्तर है । हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि अज नाम अग्नि का है वह अग्नि अनेकरूप से ब्रह्माण्डभर में व्याप्त है “ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव” यहां ब्रह्माण्ड जगत् भर को अग्नि का साकार पशुरूप मान कर अवयवों की कल्पना समझने के लिये वेद में लिखी है जिस के लिये अथर्ववेद के ही हम दो मन्त्र प्रमाण में लिखते हैं ॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योरइयमभवद् द्यौः पृष्ठम् । अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥

ऋतं च सत्यं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः। एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः॥ अथर्व० ९।५।२०।२१

भा०—(अग्ने) सृष्टि के आरम्भ में ही अन्धकार को दूर करने वाला अग्नि सर्वत्र फैला वा व्याप्त हुआ यह पृथिवी उस अग्नि का उरः स्थल पेट हुई द्युलोक उस अग्नि का भाग ऊपरी पीठरूप हुआ, अन्तरिक्ष उस के उदर का मध्यभाग हुआ, सब दिशा उस की पार्श्व पसलियों के स्थान में हुईं समुद्र कुक्षि स्थानी, मन के अनुकूल वाणी से व्यवहार सत्य और शास्त्र की आज्ञा के अनुसार काम करना ऋत दो आंखें हैं आकाशरूप निर्मल शुद्ध होने से उस के सभी अङ्ग सत्य-स्थानी हैं मिथ्या कुछ नहीं श्रद्धारूप उस का प्राण और प्रकाशमान अन्धकार तमोगुणरहित सूर्य उस का शिर है। अपरिमित जिस का परिमाण वा नाप नहीं हो सकता ऐसा यह यज्ञरूप अग्नि एक पशु के आकार तुल्य है। जैसे यज्ञ में पांच प्रकार का ओदन अर्थात् आर्द्र पदार्थ अग्नि के जलाने को होता अर्थात् घी मिष्ट, पुष्ट, सुगन्धित और रोगनाशक ये पांच प्रकार के ओदन नाम जलाने योग्य वस्तु होते हैं वैसे ही जगत् भर में मुख्य दो पदार्थ हैं एक भक्ष्य द्वितीय भक्षक वा इन्हीं दो का नाम भोग्य भोक्ता है जिन में सर्वत्र अग्नि भक्षक वा भोक्ता तथा शुष्क छेदक है और भक्ष्य सर्वत्र जल सम्बद्ध आर्द्र होने से ओदन तथा छेद्य है। वह पांच प्रकार का भक्ष्य ओदन अग्नि का भक्ष्य है। इस ओदन का विशेष व्याख्यान इस अथर्व के ११ काण्ड के द्वितीयानुवाक में विस्तार पूर्वक है उस की महिमा यहां लिखने लगें तो दो चार फारमां भर यही लेख चला जाय प्रकरण छूट जाय इस से यथावसर ओदन का व्याख्यान फिर कभी लिखेंगे। इस प्रकार वेद में अज नामक अग्नि के अवयवों की कल्पना सुगम बोधार्थ दिखायी है इसी के अनुसार उक्त दो मन्त्रों का अर्थ जानो यथा—

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्। प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्॥७॥

आर्यसि० भा०७ अं०३१४ के पृ० ७१ से आगे संस्कार ॥

इन्द्रियों के चञ्चलतादि दोषों की निवृत्ति हो कर वे निर्दोष शुद्ध शान्त स्वगुणस्थ हो जाते हैं। अर्थात् प्राणायाम से बड़ी भारी मलिनता इन्द्रियों की दूर हो जाती है जिस मलिनता को सब पापों का मूल कहें तो ठीक है और उस की निवृत्ति वा शुद्धि को सब पुण्यों का मूल कहना भी अनुचित नहीं है इस प्रकार प्राणायाम से बड़ी अधिक दोषों की शुद्धि वा संस्कार होता है ॥

अब सन्ध्योपासन में अघमर्षण भी एक कर्माङ्ग माना जाता है। वास्तव में अघमर्षण किसी कर्म वा क्रिया का नाम नहीं है किन्तु यह शब्द कर्तृवाचक है। व्याकरण में " नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्यचः " सूत्र से नन्द्यादि गण में यह शब्द बनता है। "अघस्य पापस्य मालिन्यास्याज्ञानस्य तमसो मर्षणो नाशको निवारयिताऽघमर्षणः " यद्यपि इस अघमर्षण शब्द का मुख्य वा प्रधान निरपेक्ष वाच्यार्थ केवल एक परमेश्वर ही हो सकता है क्योंकि उस के समान निष्पाप निर्दोष निष्कलङ्क अन्य कोई वस्तु वा मनुष्यादि नहीं हो सकता वा यों कहो कि जो सर्वोपरि निर्दोष निष्पाप है वही परमेश्वर है। इसी लिये उस का नाम निरञ्जन है। अञ्जन नाम कालेपन अज्ञानान्धकार तमोगुण वा पापरूप मलिनता का है उस से जो सर्वथा रहित हो वह निरञ्जन कहाता है तथापि गौणांश में मनुष्य का भी नाम हो सकता है उस सर्वदोष रहित परमेश्वर के सूक्त का नाम ही अघमर्षण सूक्त है। और इस अघमर्षण सूक्त में जैसा परमेश्वर का वर्णन है वैसा ही यथार्थरूप से स्मरण करता तथा सूक्त का पाठ करता हुआ जो हाथ में जल लेकर सूक्तपाठ के अन्त में बांयीओर जल छोड़देना रूपक्रिया करता है उस का भी अघ नाम पाप नष्ट अवश्य होता है। इस लिये परमेश्वर के स्मरणपूर्वक सन्ध्योपासन में क्रिया विशेष का नाम अघमर्षण कर्म है। शब्द प्रयोग का नियम मनुष्यों के व्यवहाराधीन है इसी लिये कर्तृवाचक अघमर्षण शब्द एक कर्म का नाम पड़गया है। और जब अघ नाम पापदोषों को हटाने तथा अपने साथ जो बुराई करे उस को सहने वाला क्षमाशील रहे क्रोध में भरकर आपे से बाहर न हो वह भी अघमर्षण कहा वा माना जायगा परन्तु मनुष्य में ऐसा गुण मुख्यकर अघमर्षण सूक्तद्वारा परमेश्वर के स्मरण से होगा। जैसे परमेश्वर सर्वोपरि क्षमाशील है वैसे ईश्वर का उपा-

सक भी क्षमाशील होगा। वह क्रोध रहित शान्तस्वरूप है उस का भक्त भी क्रोध रहित शान्त होगा। परमेश्वर नास्तिकादि अपने निन्दकादि के सहस्रों अपराधों का सहने वाला है उस की ओर झुकने वाला मनुष्य भी विरोधियों के अपराधों का सह सकेगा। ईश्वर ज्ञानप्रकाशस्वरूप है उस के सामने अज्ञानान्धकार लेशमात्र भी नहीं ठहर सकता। जैसे सूर्य का उदय होते ही रात्रि का सब अन्धकार नष्ट हो जाता वा दीपक जलते ही उस स्थान का अन्धकार तत्काल दूर हो जाता है। लोहा यद्यपि काला होता है तथापि प्रकाशरूप अग्नि का उस में प्रवेश होते ही प्रकाशमय हो जाता कालापन उस में से दूर हो जाता है वैसे प्रकाशमय सूर्य वा अग्नि के तुल्य परमेश्वर का संग-उपासना मेल वा समीपता प्राप्त होते ही मनुष्य के हृदय का अज्ञानान्धकार सब नष्ट भ्रष्ट हो जाता उस के हृदय में ज्ञान के कपाट खुल जाते हैं। परन्तु जितने मनुष्य ईश्वर के उपासक होंगे उन में न्यूनाधिक भेद अवश्य रहेगा। अर्थात् उत्तम मध्यम निकृष्ट जैसी जिस की उपासना होगी वैसी कक्षा का वह मनुष्य अघमर्षण हो सकेगा। फिर उत्तमादि के भी तीन २ भेद होंगे उत्तम में उत्तम, उत्तम में मध्यम और उत्तम में निकृष्ट इत्यादि। तात्पर्य यह कि परमात्मा के संग मेल वा उपासना से जैसी मनुष्य की शुद्धि वा संस्कार हो सकता है वैसा अन्य प्रकार से नहीं हो सकता सत्संग शुद्धोपासना इन का एक ही अभिप्राय है।

अग्नि के पास जाने वाले का शीत और जल में प्रवेश करने वाले की गर्मी जैसे शीघ्र ही मिट जाते हैं जैसे का संग करो वैसा गुण प्रत्येक चराचर प्राणि आदि में आता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वैसे ज्ञानस्वरूप निर्दोष निष्पाप शुद्ध शान्त क्रोध रहित क्षमाशील पाप नाशक परमेश्वर का उपासक भी वैसे गुणों वाला होता है। ऐसे ईश्वर विषयक अघमर्षणादि का व्याख्यान लिखते हुए जैसे हमारे मन और आत्मा में शुद्धि पवित्रता वा आनन्द स्थान पाते और कुसंस्कार मलिनता वा दुःखों को धक्का देते हैं इसी से हम को कुछ आनन्द का लेश प्रकट हो कर ऐसे कर्त्तव्य की ओर उत्साह को बढ़ाता है वैसे हमारे पाठक लोग जो एकाग्र चित्त हो मन लगा कर इस लेख को पढ़ेंगे उन को भी कुछ आनन्द प्रतीत होगा उस समय उन के हृदय से मलिनता वा ग्लानि कुछ हटेगी इसी से ऐसा व्याख्यान देखने पढ़ने में कुछ रुचि वा उत्साह बढ़ेगा यह भी अघ नाम पाप दोषों के दूर होने का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है इस से परोक्ष का अनुमान कर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर विषयक चर्चा के लिखने पढ़ने आदि में मन लगना भी अघमर्षण है। अब आशा है कि हमारे पाठक लोग इतने ही लेख से अघमर्षण का ठीक अभिप्राय समझ लेंगे।

अब इस प्रसंग में हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ तथा अघमर्षण की सार्थकता दिखाने के लिये अघमर्षण सूक्त का संक्षेप से व्याख्यान करना उचित वा आवश्यक समझते हैं। ऋग्वेद के अन्त में मण्डल १० का १९० सूक्त (ऋतं च सत्यं चा०) तीन मन्त्र का है। इस की उपक्रमणिका में इस सूक्त का अघमर्षण ऋषि लिखा है। और अघमर्षण इस का ऋषि है इसी से इस सूक्त का नाम अघमर्षण सूक्त हुआ। हम यहां प्रसंगानुसार ऋषि शब्द पर कुछ लिख कर सूक्त का अर्थ लिखेंगे।

मन्त्रों वा वेदसूक्तों के साथ जो ऋषि लिखे जाते हैं इस विषय में प्रायः सभी वेदानुयायी वा वेदभाष्यकारों का एक मत है कि चतुर्युगी वा मन्वन्तरादि के बदलने के समय जब २ अवान्तरप्रलय होते हैं तदनन्तर फिर से जब मनुष्य सृष्टि का प्रवाह चलता है तब जो २ पूर्वज ऋषि जिन २ सूक्तों वा मन्त्रों को अपने हृदय में ज्ञानचक्षु से देखता और पूर्व सृष्टि में जैसे २ वे मन्त्र वा सूक्त थे वैसे ज्यों के त्यों प्रचार पठन पाठनादि द्वारा करता है वह २ उन २ सूक्त मन्त्रादि का ऋषि वेद में लिखा गया है परन्तु इस सिद्धान्त को हम ऐसा नहीं मानते। हम पहिले भी लिख चुके हैं कि अवान्तर प्रलयों में सर्वथा मनुष्य सृष्टि का अभाव नहीं होता कुछ पुण्यात्मा तपस्वी ऋषि लोग अवान्तरप्रलय सम्बन्धी आपत्तियों से बच जाते हैं उन के द्वारा कुछ सृष्टि प्रवाह पुत्र पौत्रादि में होते जाते हैं उन में वेदों का पठनपाठन चला रहता है पीछे उन्हीं से फिर सृष्टि बढ़ जाती है इस कारण एक ब्राह्म कल्प के बीच में वेदों के पठनपाठनादि का सर्वथा उच्छेद वा नाश कभी नहीं होता सो यह हमारा मन्तव्य कुछ मनगढ़त का नहीं किन्तु पूर्वज ऋषि लोगों ने भी ऐसा ही माना है। न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में लिखा है कि—

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् ॥

अ० २ आ० १ सूत्र ६७ ॥

अर्थ—एक कल्प में जो २ मन्वन्तर युगान्तर हो चुके वा जो २ आगे आने वाले हैं उन २ में वेद की पठनपाठन परम्परा का विच्छेद नाम नाश न होना भी वेदों का नित्यत्व है और पूर्व काल से ही आप्त सत्यवादी धर्मात्मा महर्षि लोगों ने प्रमाण माना इस से वेद का प्रमाण है। इस से सिद्ध हो गया कि अवान्तरप्रलयों में वेद के प्रचार का सर्वथा अभाव नहीं होता। यदि कोई कहे कि अवान्तरप्रलयों में थोड़े अच्छे ही विद्वान् क्यों बचते हैं निकृष्ट क्यों नहीं बच जाते ? तो उत्तर यह है कि धर्मात्मा विद्वान् लोगों को छोटे २ प्रलयों से विद्या ज्ञान वा धर्म बचाता है। सदा ही नीच अधर्मियों पर आपत्ति अधिक आती हैं प्रलय भी एक अन्धकार तमोगुण में अधिक काल तक पड़ा रहना अधर्म अज्ञान वा अविद्या का ही फल है। महाभारत युद्ध भी द्वापर युगान्त में एक छोटा सा अवान्तरप्रलय हुआ उस में बड़े २ अधर्मियों का ही पहिले २ नाश हुआ पाण्डव और श्रीकृष्ण आदि कई धर्मात्मा बच गये। और परमेश्वर सर्वोपरि विद्वान् धर्मात्मा शुद्ध ज्ञानी है उस की बराबर वा उस से अधिक शुद्ध विद्वान् आदि कोई कभी न हुआ न हो सकता है इसी कारण महाप्रलय में भी उस का प्रलय कभी नहीं होता वह एक ही सब प्रलयों से बच जाता इसी से उस का नाम वेद में उच्छिष्ट वा शेष है। इस से सिद्ध हुआ कि जिस की धर्म विद्या वा ज्ञान सम्बन्धी जैसी वा जितनी आंखें खुल गयीं वह वैसे ही प्रलयादि आपत्ति सम्बन्धी अन्धकूप में नहीं गिरता प्रलयादि से बच जाता है इस से अवान्तरप्रलयों में अच्छे ही बचते हैं बुरे नहीं और कुछ बचने पर भी (प्रलय हो गया सर्व नाश हो गया) इत्यादि कथन में बिगाड़ की अधिकता दिखाने के लिये व्यवहार की शैली है। किसी के घर में चोरी हो जाय वा आग लग जाय और बहुत पदार्थों में कुछ बच भी जाय तो भी यही कहा जाता है कि सर्वनाश हो गया वा सब लेगये कुछ नहीं छोड़ा वैसे ही यहां भी जानो। इस से सिद्ध हो गया कि अवान्तरप्रलयों में वेदप्रचार का अभाव ही नहीं होता तो फिर मन्त्र वा सूक्तों का उन २ ऋषियों को अनुभव (इलहाम) होना भी नहीं मान सकते तो वेदमन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम इस प्रयोजन से नहीं हैं। और यदि यह मानें कि सृष्टि के आरम्भ से ही लाखों करोड़ों अरबों वर्ष तक कभी जब २ जिसने वेद के उन२ मन्त्र सूक्तादि का आशय जान कर प्रचार किया तब से उस २ ऋषि का नाम उन २ मन्त्रादि के साथ लिखा गया तो यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि

ऐसा मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि सृष्टि के आरम्भ में हुए ब्रह्मा वा मनु आदि ने भी वेद के सब मन्त्र वा सूक्तादि का अर्थ नहीं जाना सो भी अनिष्ट है। मनुस्मृति के आरम्भ में लिखा है कि—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ! ॥

इस श्लोक का निर्विवाद सर्वसम्मत अर्थ भी यही है कि हे मनुजी ! आप इस सब अचिन्त्य वेद के मर्मों तक जानने वाले हो इस से सिद्ध है कि सर्गारम्भ में हुए ब्रह्मा आदि अनेक लोगों ने सर्वांश वेद को जाना था तो कभी २ किसी २ ने कुछ २ वेद जाना यह नहीं कह वा मान सकते। और ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्तों पर जो २ ऋषि लिखे हैं कि—ऋ० मण्डल १० सूक्त १० के १।३। ५–७।११।१३ मन्त्रों का यमी ऋषि है। २।४।८–१०।१२।१४ मन्त्रों का यम ऋषि है। और यमयमी करके यहां दिन रात लिये गये हैं। ऋ० १०।१३ सूक्त का विवस्वान् आदित्य ऋषि लिखा है सो सूर्य का नाम है। ऋ० १०।१४० सूक्त का पावक अग्नि ऋषि है। ऋ० १०।१५१ सूक्त का श्रद्धा ही ऋषि और श्रद्धा ही देवता है। ऋ० १०।१५८ सूक्त का सूर्य का अपत्य चक्षु ऋषि है वास्तव में चक्षु इन्द्रिय का उपादानकारण सूर्य है "सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु०" यहां मन्त्रान्तर में चक्षु कार्य का अपने कारण सूर्य में लय दिखाया है इसी प्रकार सैकड़ों सूक्तों में ऐसे ऋषि भी लिखे हैं जिन को वेद का पूर्वापर आशय समझने से देहधारी मानना नहीं बन सकता। तो अब विचारणीय यह है कि वेदमन्त्रों के साथ जो ऋषि लिखे हैं वे कौन हैं वा क्या हैं ?। इस का उत्तर वा समाधान यह है कि—वेदमन्त्रों के साथ जो ऋषि देवता छन्द लिखे जाते हैं वे कोई भी किसी मनुष्यादि निज व्यक्ति के नाम नहीं हैं किन्तु कहीं २ वे मनुष्यों के नाम भी हैं तो उस शब्द के यौगिक वाच्यार्थ सामान्य मनुष्य के नाम हैं किसी निज के नहीं। ऋग्वेद मण्डल १० के सूक्त १० के आरम्भ में सायणाचार्य ने लिखा है कि—

यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवतेति न्यायात् ॥

जिस का वाक्य हो वह ऋषि और जो विषय वा वस्तु वा मनुष्यादि उस वाक्यरूप मन्त्र से कहा जाय वह देवता कहाता है। यह संस्कृत सायणाचार्य का

यद्यपि है तथापि "इतिख्यायात्" लिखने से प्रतीत होता है कि किसी अप-क्रमणिकादि आर्ष ग्रन्थ का आशय लेकर सायणाचार्य ने यह लिखा है जिस का वाक्य हो इस कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि उस का बनाया वह सूक्त वा मन्त्र माना जाय किन्तु जो सामान्य वा विशेष उस को कहने की योग्यता रखता हो जिस को वैसा वाच्यार्थ कहना चाहिये वा जो कहता है वह जड़ वा चेतन कोई वस्तु हो उस सूक्त वा मन्त्र का ऋषि माना जायगा। जैसे यमी नाम रात्रि की ओर से जहां यम के प्रति कथन है वहां यमी ऋषि और जहां यम की ओर से यमी के प्रति कथन है वहां यम नामक दिन ऋषि है। यहां यदि यमयमी शब्दों से मनुष्य जातीय सामान्य स्त्री पुरुषों का ग्रहण हो तो वे ही ऋषि होंगे। प्रार्थना करने में प्रार्थना करने वाला ऋषि और प्रार्थनीय पदार्थ देवता, स्तुति करने में स्तोता ऋषि और परमेश्वरादि स्तोतव्य पदार्थ देवता है। वर्णन करने में जो वर्णन करे वह ऋषि और जिस बात का वर्णन हो वह देवता है। इस प्रकार जैसे देवता नित्यपदार्थ है वैसे ऋषि भी कोई न कोई नित्य वस्तु है अर्थात् किसी निज २ देहधारी का नाम ऋषि हो तो वह अनित्य हो सकता है। जहां जड़ पदार्थ दिन आदि ऋषि हैं वहां किसी चेतन पर ढाल कर जड़ में कथन का आरोपण मात्र जानो वा उन जड़ वस्तुओं में सृष्टिक्रमानुसार स्वाभाविक वैसे २ गुण कर्मों को प्रकाशित करने के लिये उन २ की ओर से वैसा २ वर्णन वेद में है। चाहे यों कहो कि वेद की शैली ही ऐसी है। इस विषय पर बहुत व्याख्यान लिखने की आवश्यकता है सो यथावसर फिर लिखेंगे यह विषय विचार मात्र के लिये लिखा है। इस विचार के अनुसार विश्वामित्र वशिष्ठ भरद्वाजादि जिन २ सूक्त मन्त्रों के ऋषि लिखे हैं वहां २ यौगिक सामान्यार्थ वाचक वे २ शब्द माने जायंगे। जैसे (तत्सवितु-र्वरेण्यम्) मन्त्र का विश्वामित्र ऋषि अर्थात् सब संसार जिस का मित्र हो किसी के साथ जिस की शत्रुता न हो ऐसा अहिंसादि धर्म में तत्पर मनुष्य इस का ऋषि है अर्थात् ऐसा मनुष्य इस मन्त्र द्वारा स्तुति प्रार्थना उपासना करने का अधिकारी है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अघमर्षण सूक्त का अघमर्षण ऋषि वह है जो स्वयमेव पापदोष बुराइयों के छोड़ने हटाने में प्रवृत्त हो और इस (ऋतं च सत्यं चा०) सूक्त द्वारा भी परमेश्वर के स्मरण से निर्दोष बनने की चेष्टा करे वही अघमर्षण है वही इस सूक्त को पढ़े और शोचे समझे। जो अपने

दोषों को छुड़ाने के लिये स्वयं प्रवृत्त नहीं जो पापों से बचने की स्वयं इच्छा वा चेष्टा नहीं करता वह इसी सूक्त से अघमर्षण क्रिया करे तो व्यर्थ ही जानो वह इसी से अघमर्षण ऋषि नहीं हो सकता। अब अघमर्षण सूक्त का अर्थ लिखते हैं—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

अ०—(अभीद्धात्) अभितस्तेजसा ज्ञानप्रकाशेन जाज्वल्यमानात् (तपसः) ज्ञानमयात्परमेश्वरात्। यस्य ज्ञानमयं तप इति ब्राह्मणम्। यदासावीश्वरो जगत् स्रष्टुमीक्षते पर्यालोचयति तदा तपः करोतीति शास्त्रेषु गद्यते। "तपश्चात्र स्रष्टव्यपर्यालोचनलक्षणमिति सायणः" तादृशात्तपसः (अधि) ऊर्ध्वं सर्गपर्यालोचनरूपप्रादुर्भावानन्तरम् (ऋतं, च, सत्यं, च) ऋतमिति वेदप्रतिपाद्यं याथार्थ्यं मानसं शुद्धसंकल्पनं वा सत्यमिति वाचा यथार्थभाषणम्। चकारद्वयेनान्यदपि सर्वं धर्मकृत्यम् (अजायत) प्रादुर्बभूव (ततो, रात्र्यजायत) ततस्तस्मात्सत्यादेव रात्रिः प्रकाशहीना पृथिवी याऽऽधारभूता सती रमयति प्राणिनः सा रात्रिः। रात्रिरिति पृथिवीस्थानदेवतासु (निघण्टौ ५। ३) पठितम्। देवतापदेनात्र रमणहेतुकं पार्थिवं प्रधानं तत्त्वं ग्राह्यम् (ततः समुद्रो अर्णवः) ततस्तस्मात्पार्थिवसर्गादूर्ध्वमनन्तरमर्णांस्युदकानि विद्यन्तेऽस्मिन्सोऽर्णवः समुद्रोऽन्तरिक्षमजायत। समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु (निघण्टौ १। ३) पठितम्॥

भा०—सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्। सत्यमेव धर्मस्य मूलं सर्वधर्मलक्षणेषु व्याप्तम्। प्राधान्यादुपलक्षणार्थमेतत्। तेन सर्वो धर्मः प्रकृत्या शुद्धः शुद्धिहेतुश्च शुद्धस्य शुद्धादेवोत्पत्तिर्न्याय्या यथा

मृदएव घटउत्पादयितुं शक्यते नचोदकादेवं शुद्धो धर्मः शुद्धादेवेश्वरादुत्पद्यते । तयोर्धर्मेश्वरयोरुपासकोऽपि शुद्धएवाघमर्षणो भवति । सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौरित्यत्र मन्त्रान्तरे पृथिव्याः स्वस्य सत्ये कारणे स्थितिरुक्ता सर्वं वस्तु स्वस्यस्वस्य कारणएव स्थातुमर्हति कारणादन्यत्र स्थितिरसम्भवा । यथा पार्थिवानि मनुष्यादिशरीराणि पृथिव्यामेव स्थितिं लभन्ते नान्यत्र तेन सिद्धं सत्यमेव पृथिव्याः कारणम् । अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योर्मध्यं तच्च पृथिवीसर्गानन्तरमेव व्यवस्थापयितुं शक्यते । यस्मिन्सति यत्सम्भवत्यसति च न सम्भवति तत्तस्य कारणं कार्यमितरदिति सत्यामेव पृथिव्यामन्तरिक्षं सम्भवति तस्मादन्तरिक्षस्य पृथिवीकारणम् । रात्रिपदेनात्र तमःप्रधानाः पापदोषाः पृथिव्यां मनुष्यादिषु सूचितास्तएवाघपदवाच्यास्तेषां मर्षणं निवृत्तिर्धर्मेश्वरयोरुपासनया कार्येत्याशयः ॥ १ ॥

भावार्थः-(अभीद्धात्तपसः) ज्ञानरूप प्रकाश से जाज्वल्यमान ज्ञानस्वरूप परमेश्वर से [जब सृष्टि के आरम्भ में जगत् रचने के लिये परमेश्वर अपने स्वाभाविक ज्ञान में आलोचन करता है कि अमुक २ वस्तु इस २ प्रयोजन के लिये ऐसा २ बनाना चाहिये उसी को शास्त्रों में तप करना कहते हैं सायणाचार्य ने भी लिखा है कि "रचने योग्य पदार्थों का पर्यालोचनरूप यहां तप लेना है"] (अधि) पश्चात् (ऋतं च सत्यं च) वेदोक्त सत्य धर्म वा मन का शुद्ध संकल्प ऋत, मन तथा आत्मा में जैसा हो वैसा वाणी से बोलना सत्य कहाता तथा दो चकारों से अन्य भी धर्मसम्बन्धी व्यवहार (अजायत) प्रकट हुए (ततो रात्र्यजायत) उसी सत्य से प्रकाश हीन आधाररूप हो कर सब प्राणियों को अपने ऊपर रमण कराने वाली रात्रि नामक पृथिवीस्थ देवता प्रकट वा उत्पन्न हुई । रात्रि यह पृथिवी स्थान देवता का नाम निघण्टु में है । देवता कहने से पृथिवी तत्त्व का प्रधानांश यहां लेना है (ततः समुद्रो अर्णवः) उस पृथिवी सृष्टि के अनन्तर सूक्ष्म धूमरूप से जिस में जल विद्यमान हैं ऐसा समुद्र नाम अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ । समुद्र नाम निघण्टु में अन्तरिक्ष का है ॥

गत अं० ९।१० के पृ० २०० से आगे आर्यस० का भावीकर्त्तव्य ॥

बढ़े हुए गुरु माहात्म्य को जगत् की अवनति का कारण समझ कर खण्डन किया सो ठीक ही है "सर्वमत्यन्तगर्हितम्" सब बातों की अति बुरी होती है। गुरु के अतिमाहात्म्य ने परमेश्वर से विमुख किया। ईश्वरीय विद्या वेद से शून्य रह कर अज्ञानी होगये अविद्या छागयी। और गुरु की प्रतिष्ठा भक्ति यथोचित करनी भी आवश्यक है सो मिथ्या भक्ति बढ़ जाने से उस को बुरा समझने वालों ने यथोचित भक्ति वा प्रतिष्ठा भी छोड़ दी इस से दोनों प्रकार के मनुष्य इष्ट प्राप्ति से वञ्चित रहे—इस आर्यसमाज के भावीकर्त्तव्य के व्याख्यान में गुरु विषय पर लिखने से हमारा प्रयोजन यह है कि श्रीमत्स्वामि दयानन्दसरस्वती जी महाराज हम आर्यसमाजस्थों के गुरु हैं क्योंकि उन्हों ने सच्चा वेद का मार्ग हम सब को बतलाया वास्तव में सत्यमार्ग का जताने वाला ही गुरु होता है। सब मनुष्यों को सत्यासत्य के विवेचन की शक्ति नहीं होती जो प्रबल विद्वान् सत्यवादी सत्य प्रिय धर्मज्ञ धर्मात्मा हो वह गुरु होने योग्य होता है उस को अपने कल्याण के लिये गुरु मानना हमारा काम है। अब हम को भी उचित है कि सार्थक यथोचित गुरु परम्पारा को मानते हुए हम श्रीस्वामी जी के बताये सत्य वेदमार्ग में चलें वेद के पठन पाठन को अपना परमधर्म समझें वेद में लिखे सिद्धान्तों को निर्भ्रान्त मानें। स्वामी जी महाराज का नाम लेते उन को गुरु कहते मानते हुए भी हम अन्य भाषाओं का ही केवल पठन पाठन करें वा कोई भाषा न पढ़ें न अपनाकुछ धर्म कर्म सुधारें तो कहिये हम ने क्या गुरु को माना वा केवल नाम लेकर भक्ति की तो हमारा क्या सुधार होगा। स्वामी जी के लेख वा पुस्तकों को वेद से अधिक वा वेद की बराबर कदापि नहीं मानना चाहिये। किन्तु उन लेख वा पुस्तकादि को वेद की ओर चलने के लिये साधन मानें कि इन में लिखे प्रकारों से हम वेद को पढ़ें जानें तो हमारा कल्याण अवश्य हो सकता है। तात्पर्य सब का यह है कि यदि हम केवल गुरुभक्ति करें और गुरु के कहे अनुसार वेद के पढ़ने पढ़ाने समझने में श्रम न करें तो उसी बिगड़ी गुरु परम्परा के अनुसार हम भी चले तो हमारा सुधार कुछ न होगा। द्वितीय यदि गुरुकृत उपदेश वा ग्रन्थों को अन्य लोगों के समान वेद से भी बढ़ कर मान बैठें वेद के पठन पाठन की कुछ आवश्यकता न समझें तो जिस कारण वेद से विमुख

पहिले से हुए और हमारी अत्यन्त अधोगति हो गयी वही दोष अब भी बना रहे तो हम कदापि नहीं सुधर सकते। इस कारण बिगड़ी गुरुपरम्परा को ठीक २ सुधारना भी हमारा (आर्यसमाज का) एक प्रधान भावीकर्त्तव्य है।

इसी प्रसंग में हम को एक बात यह भी वक्तव्य है कि जैसे बिना नींव की भीत उठायी जाय तो अधिक काल तक नहीं ठहर सकती प्रत्येक समय उस के गिर जाने की सम्भावना बनी ही रहती है जैसे बिना मूल वा जड़ का वृक्ष लगाया जाय तो हराभरा हो कर खड़ा नहीं रह सकता वैसे ही इस संसार में निर्मूल कोई बात वा कोई वस्तु चिरस्थायी रह कर कार्यसाधक नहीं हो सकता। जगत् में जो सच्ची बातें फैलती हैं वे समूल होने से चिरस्थायिनी होतीं और मिथ्या निर्मूल बातें उड़ जाती हैं वे अधिक काल तक नहीं चलतीं। इसी के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से अब तक संसार में विद्या और धर्म के नाम से सैकड़ों वा सहस्रों मत मतान्तर उत्पन्न हुए बीच २ नष्ट होते गये सैकड़ों वा सहस्रों ही निर्मूल वा ऐसे निर्बल अल्प मूल [जड़] वाले ग्रन्थ बने और नष्ट होते गये। इस का अनुमान हमारे पाठक लोग इस रीति पर कर सकेंगे कि अब से दश वर्ष पहिले साधारण मनुष्यों ने कौन २ पुस्तक बनाये थे कौन २ कैसे २ समाचारपत्र निकलने आरम्भ हुए थे उन में से अब कितने विद्यमान हैं ?। इस का पता लगाया जाय तो आधे भी पुस्तक वा समाचारपत्र दश वर्ष से पहिले के अब न होंगे। बीश वर्ष से पूर्व के चतुर्थांश भी मिलने दुस्तर हैं। और कोई पुस्तक सैकड़ों सहस्रों वर्ष के बराबर चले आते मिलें गे। इस से यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो ग्रन्थ वा जो मत वा सिद्धान्त जितने कम वा अधिक काल तक जैसी दृढ़ता से और जैसी प्रतिष्ठा वा रुचि के साथ जगत् में ठहरता है वैसा ही वह समूल वा निर्मूल है वा यों कहो कि वैसा ही न्यून वा अधिक उस में सत्य है जो समूल है वह सत्य और निर्मूल है वह असत्य है। इसी अंश पर मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥२॥ अ० १२

जो २ वेद से विरुद्ध पुस्तक वा उपदेशादि बीच २ संसार में नये २ बनते वा प्रचरित होते हैं वे निर्मूल वा असत्य होने से जल में उठने वाले बलबूलों के समान थोड़े काल में नष्ट होते जाते हैं । इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि जैसे इस समय भी सैकड़ों मतमतान्तर निर्मूल असत्य होने से वेदविरुद्ध कहने योग्य चल गये हैं जिन का पर्यालोचन करो तो शीघ्र ही उन की निर्मूलता वा मिथ्यापन प्रसिद्ध होता जाता है अच्छे २ विचारशील पुरुषों में उन का कुछ भी गौरव नहीं जमता दिन प्रतिदिन खण्डन होता जाता है । वैसे आर्यधर्म वा आर्यसमाज का सिद्धान्त वेदविरुद्ध नहीं इसी से वह समूल वा सत्य कहने मानने योग्य अवश्य है परन्तु इस आर्यसमाज में अबतक जो २ भिन्न २ स्वभावों के भिन्न २ विचारों के भिन्न २ प्रदेशों के जितने मनुष्य प्रविष्ट हुए हैं उन में से अधिकांश मनुष्यों का वर्त्तमान काल में जैसा प्रवाह दीखता है उस से यह अनुमान अवश्य होता है कि आर्यसमाज की दशा हिलचल होती जाती है । सो प्रत्यक्ष आप देख लीजिये कि वृक्ष की डालियों पर जो पक्षी आदि बैठते हैं वे थोड़े वायु से भी डालियों के साथ डमाडोल होते रहते हैं उन का दृढ़तापूर्वक स्थिर रह सकना दुर्लभ है । यदि कोई मनुष्यादि वृक्ष के दृढ़मूल को पकड़े हो तो बड़ी प्रबल आंधी के चलने में भी कदापि न हिलेगा । वैसे ही आर्यसमाज का उद्देश यही था और है कि जिस की जड़ परमेश्वर है जो सब मूलों का मूल सब सत्यों का सत्य है जिस के स्वरूप में महाप्रलय के समय भी किञ्चित् भी हिलचल नहीं होती उस की अनादि विद्या वेदरूप मूलवृक्ष को पकड़ें, जिस की जड़ें पाताल से भी आगे अनन्त व्यापक परमेश्वर में विद्यमान हैं जिस वेदवृक्ष को जड़ से उखाड़ने के लिये आज तक सैकड़ों वार नास्तिकादि असुर दलों की बड़ी २ भयङ्कर आंधी चलीं पर किसी की शक्ति न हुई कि वेदरूप मूल को किंचित् भी हिला सकता उसी वेदवृक्ष की सघन छाया का आश्रय लेना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य था और है इसी की ओर मुख कराना उसी सच्चे दृढ़ मार्ग पर लाने के लिये हमारे गुरु श्रीमद्दयानन्द स्वामी का उद्योग वा परिश्रम था । यदि आर्यसमाज के अधिकांश मनुष्य वा प्रधान २ प्रबल बुद्धिमान् विचारशील लोग एक चित्त हो कर वेद को पकड़ें और आगे २ लोगों को वैसे ही वेद की ओर झुकाते चलें तो निश्चय है कि आर्यसमाज की हिलचल दशा मिट जाय। आर्यसमाज यदि वेद की ओर यथावत् नहीं झुका

तो बहुत काल पीछे यह भी मत अन्य मतों के समान निर्मूल हो कर अस्त सा हो जाय तो आश्चर्य नहीं। इस लिये आर्यसमाजस्थ महाशयों से हम सविनय निवेदन करते हैं कि आप सचेत हों वेद की ओर मुख फेरें आर्यसमाज के वेदमूलक उद्देश को सफल करें। और उस की रीति यह है कि आप लोगों के हजारों सन्तान १०। १०। १५। १५ वर्ष अन्य भाषाओं के पढ़ने में परिश्रम करते हैं उन में से दशांश वा शतांश ही लोगों को वेद वेदाङ्ग पढ़ाइये अधिकांश लोगों की सम्मति वा सहायता से एक केवल वैदिक पाठशाला खोलिये जिस में कम से कम ५००) मासिक व्यय का प्रबन्ध कीजिये। और उस के साथ एंग्लो की पूंछ न लगाइये। निश्चय मानिये कि जहां अंगरेजी संस्कृत दोनों को मिला कर रक्खेंगे वहां अंगरेजी का पठनपाठन शिक्षा अतिप्रबल पड़ कर शीघ्र ही संस्कृत को दबा लेगी। अंगरेजी इस समय महाराणी बड़ा प्रबल राजा है राजा के सामने प्रजा सदा ही दब जाती है वा यों नहीं कि एक ही स्थान में दो प्रकार के उत्तम २ सामान विषयासक्ति और वैराग्य वा ज्ञान धर्म के एकत्र किये जायं तो वहां जाने वाले प्रायः सभी लोग अतिप्रिय रोचक विषयभोग के साधनों पर गिरेंगे। और ज्ञान वैराग्य वा धर्म के रूखे सूखे फीके साधनों को कदाचित् कोई विरला ही पुरुष ग्रहण करे यह सम्भव है। वैसे ही अंगरेजी को संस्कृत के साथ करना ऐसा है जैसे किसी को ब्रह्मचारी बनाना अभीष्ट हो उस के साथ एक सुन्दरी युवति कन्या करदी जाय तो जैसे उस का ब्रह्मचर्य यथावत् रह सकना कठिन वा दुस्तर है वैसे अंगरेजी के साथ होने पर कोई पुरुष वेद वेदाङ्ग पढ़कर कृतकार्य हो जाय यह दुर्लभ है। वेद की महती पाठशाला सब आर्यसमाजों की ओर से कहीं मध्यस्थान में एक हो इस की अत्यन्त ही आवश्यकता है।

आर्यसमाज का द्वितीय कर्त्तव्य परमावश्यक यह है कि सब प्रान्तों के विशेष परिगणित पुरुषों की एक उपसभा नियत की जाय उस में अधिकांश वेही लोग सम्मिलित किये जावें जो आर्यसमाजों में दीर्घदर्शी, गम्भीर, धर्मानुरागी, वेद के पूर्ण विश्वासी, वैदिक धर्म के सूक्ष्मांशों के शोधन में जिन की बुद्धि कुछ वा अधिक चलती हो ऐसे मनुष्य भले हों अधिक न मिलें दश हों पांच हों वा चार हों छः हों। तो कोई चिन्ता नहीं क्योंकि बहुतों से अच्छा विचार वा निर्णय नहीं होता और अच्छे बहुत होते भी नहीं। इस अंश में मनु का यह सिद्धान्त बहुत ठीक है कि—

एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद के अगाध सिद्धान्त में जिस की बुद्धि तरती हो डूब न जाती हो ऐसा वेदज्ञ एक भी पुरुष जिस धर्म का निर्णय करे उस को सर्वोत्तम धर्म मानना चाहिये । और अज्ञानी लोग लाखों मिल कर भी बहुसम्मत्यनुसार जो निर्णय करें वह कुछ निर्णय नहीं मानना चाहिये न वह धर्म हो सकता है । इस लिये थोड़े मनुष्यों की सभा होना अनुचित नहीं किन्तु उचित ही है । यह सभा सब आर्यों वा आर्यसमाजों की ओर से नियत होनी चाहिये । इस को सब आर्य वा आर्यसमाज अपना नेता मानें । यह सभा धर्मादि जिन विषयों का जैसा निश्चय करदे वैसा ही सब आर्यसमाजों में प्रचार किया जाय । यह सभा जिन किन्हीं धर्मादि विषयों को विचारसाध्य जितने काल तक रक्खे तब तक कोई आर्य वा आर्यसमाज उन विषयों का कुछ भी प्रचार न करे । इस सभा का अधिवेशन कम से कम छः मास में हुआ करे । वार्षिक अधिवेशनों में सदा ही आर्यधर्मोपदेशकों की परीक्षा इसी सभा में हुआ करे योग्यतानुसार उपदेशकों को प्रशंसा पत्र तथा उपाधि देना सभा का ही काम रहे । सभा के अन्य नियम वा कर्त्तव्य सभा के लोग मिल कर स्वयमेव निर्णय करलें । ऐसी सार्वदेशिक सभा जो आर्य वा आर्यसमाज मात्र की अधिष्ठात्री मानी जाय जिस के होने से आर्यसमाज बिना सेनापति की सेना न रहे अवश्य होनी चाहिये ।

आर्यसमाज का तीसरा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि अपने लिये अनेक अंशों में साध्य कोटि को प्रधान माने सिद्ध कोटि में प्रविष्ट हो जाने वालों की आगे २ उन्नति नहीं होती । अर्थात् यह मानना चाहिये कि जिन सामान्य विषयों में सिद्धान्त निर्णय वा पक्का हो चुका है कि—एक अनादि निराकार परमेश्वर की उपासनाभक्ति करना, वेद को ईश्वरीय विद्या मानना उस में लिखी आज्ञाओं का स्वीकार इत्यादि सिद्धान्त निश्चित हो चुके इन में कुछ विकल्प नहीं रखना चाहिये । और ईश्वर की भक्ति उपासना कैसे २ करनी चाहिये, हमारे मन में परमेश्वर का दृढ़ विश्वास कैसे जमे, हमारा पूरा प्रेम पूरा मेल ईश्वर से कैसे हो, वेद में किन २ बातों वा विषयों का किस २ रीति से व्याख्यान है, वेद के ईश्वरीय विद्या होने में हम को पूरा दृढ़ निश्चय कैसे हो जिस

में फिर किसी प्रकार का विकल्प शेष न रहे इत्यादि बातें सदा ही मनुष्यों को विचार साध्य माननी चाहिये और सदा ही उनके सूक्ष्मांश को जानने के लिये वेद का पठनपाठन वा सत्सङ्गादि उद्योग करना चाहिये ।

चौथा कर्त्तव्य यह है कि वेद को स्वतः प्रमाण मानने का प्रयोजन यह मानना चाहिये कि किन २ विषयों में वेद के निर्विवाद प्रकरणानुकूल अक्षरार्थ से क्या सिद्धान्त सूचित होता है उस का निर्णय वेद से जैसा हो वैसा ही मानें और जैसा वेद का आशय प्रतीत हो उस में युक्ति भी खोजें किन्तु हम को जो बातें युक्ति से ठीक प्रतीत होती हों उन के पीछे वेद को चलाने का उद्योग न करें अर्थात् अपनी राय में वेद की राय न मिलावें किन्तु वेद की राय में अपनी राय मिलाने का सदा उद्योग करें तभी वेद का स्वतःप्रमाण मानना ठीक बन सकता है । और यदि अपने विचार के पीछे हम वेद को चलावें तो हमारा विचार स्वतःप्रमाण हुआ और वेद परतःप्रमाण हो जायगा । वेद को जब हम ने ईश्वरीय विद्या मान लिया तो उस में कोई बात हमारी समझ से भिन्न वा विरुद्ध भी प्रतीत हो तो हम को यह मानना चाहिये कि हमारी बुद्धि थोड़ी है वहां तक न पहुंची होगी कालान्तर तक शोचें विचारें विद्वानों के द्वारा निश्चय करते रहें । यदि वास्तव में वेद ईश्वरीय है तो उस में लिखी कोई बात किसी काल में मिथ्या नहीं हो सकती और हम को जो अपनी बुद्धि वा युक्ति के अनुसार ठीक भी प्रतीत हो वह भी मिथ्या हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और हम अल्पज्ञ हैं । तात्पर्य यह है कि हम अब तक जो कुछ अच्छा समझ चुके हैं उस को वेद से मिलाने का उद्योग करें वेद का पर्यालोडन करते हुए अनेक वार वेद को आद्योपान्त देख२ विचार२ अपने मन्तव्यों को वेद से मिला कर पक्का दृढ़ करें यदि हमारा समझा हुआ कोई विषय वेद से विरुद्ध निकले तो हम उसे छोड़ दें और वेद के सिद्धान्तानुसार सत्य का ग्रहण करें । और जिन को अब तक हम बुरा समझ चुके हैं उन को भी वेद के सूक्ष्मसिद्धान्तों से मिलान करें यदि उन में कोई बात ऐसी निकले जिस को सत्य वेदानुकूल मानना चाहिये तो हम को अपने नियमों के अनुसार अत्यन्त उचित है कि उस को ठीक मानने लगें । ऐसा होने पर ही हमारा यह नियम सत्य ठहर सकता है कि "सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना इस समाज का मुख्य उद्देश है ।" ऐसा होने वा मानने पर ही आर्यसमाज पूर्ण आस्तिक लोगों की मण्डली कहा वा माना जा सकता है ।

इस में कोई यह प्रश्न करे कि पाषाणादि मूर्त्तियों की पूजा, शैव वैष्णवादि मत, उन के कण्ठी तिलकादि का धारण इत्यादि बातों में से कोई वेद में वा वेद के सिद्धान्त के अनुकूल ठहरें तो क्या आर्यसमाज ऐसी बातों को मानने लगेगा ? और ऐसा मानने पर क्या आर्यसमाज कहा जा सकेगा ? वा हिन्दूसमाज हो जायगा ? ।

इस का उत्तर वा समाधान हम यह देते हैं कि वास्तव में हिन्दुसमाज की दशा बहुत बिगड़ गयी है हिन्दुसमाज के अधिकांश मनुष्यों का किसी मन्तव्य धर्मादि विषय पर पूर्ण विश्वास नहीं है । इसी के अनुसार आज कल के पढ़े लिखे वा संस्कृत के पण्डित लोग वेद को पूर्वज ब्राह्मण ऋषियों का बनाया मानते हैं । उन्हीं हिन्दुओं में से कुछ लोग छट कर आर्य बने हैं उन में से हिन्दुपन अभी गया नहीं और न ठीक आर्यपन अभी आया है इस के लिये कुछ समय चाहिये सो भी यदि मार्ग न भूलें आर्यत्वाभास को आर्यत्व मान कर न चलने लगें वेदरूप नौका पर सवार होने का पूरा उद्योग करते जावें तो कुछ काल में आर्य बन सकते और हिन्दुपन छूट सकता है । वेद पर जैसा सत्य २ विश्वास होना चाहिये वेद की ओर जैसा झुकना चाहिये वेद का जैसा पठन पाठन वा प्रचार करना कराना चाहिये वैसा होने लगे तो ऐसी शङ्का स्वप्न में भी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती । इसी लिये मैंने पूर्व लिखा है कि हम आर्यसमाजी लोग यदि इस समाज को चिरस्थायी करना चाहते हैं तो अपने उद्देशों के अनुसार वेद के पठन पाठन का शीघ्र ही प्रारम्भ करें । अदृष्टमार्ग में सब सन्देह हुआ करते हैं जो मार्ग देखा होता है उस के मान्य वस्तुओं का बोध होने से विशेष बातों का विशेष निर्णय न होने पर भी ऐसे सन्देह नहीं रहते । यदि किसी मूर्ख मनुष्य से कोई कह दे कि पाणिनि ऋषि की बनायी अष्टाध्यायी में लिखा है कि वेद मन्त्रों से सन्ध्या करना अच्छा नहीं किन्तु सायं प्रातःकाल किसी पीसने की चक्की को हाथ जोड़ ले तो बड़ा पुण्य होगा । तो सम्भव है कि मूर्ख मनुष्य को ऐसा सुन कर सन्देह होजाय परन्तु जिस को यह ज्ञात है कि प्रकृति प्रत्यय की कल्पना द्वारा शब्दों की सिद्धि दिखाना अष्टाध्यायी व्याकरण का विषय है उस में ऐसी बात कब लिखी जा सकती है उस को ऐसी बात सुन कर भी कुछ सन्देह नहीं हो सकता । वैसे ही वेद का विषय जिस को कुछ भी ज्ञात नहीं उस को जो कुछ सन्देह हो सो ही थोड़ा है ।

मान लो कि कोई वैष्णव पुरुष ऐसा प्रश्न करता है कि वेद में मूर्त्तिपूजा लिखी हुई कहीं कभी निकल आवे तब तुम मान लोगे ? क्योंकि तुम ने तो सब वेद देखा नहीं है। तो हम भी उस वैष्णव से प्रश्न करेंगे कि विष्णु की मूर्त्ति बनाकर पूजना कण्ठी तिलक और छाप लगाने को वेद में पाप लिखा कहीं कभी निकल आवे तो तुम मान लोगे तब यदि वह कहे कि ऐसी बातें वेद में होगी असम्भव हैं तो फिर मूर्त्तिपूजा का होना हम भी असम्भव कहते हैं। जब वेद ईश्वरीय विद्या है तो उस में ईश्वरता से विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता और यदि हो सकता है तो वेद ईश्वरीय नहीं ठहराया जा सकता इस लिये ऐसे प्रश्नों को अवकाश नहीं है। वेद के सामान्य विषयों को भी जब हम जान लें तो ऐसे सन्देह न हों। और वेद को पठन पाठन किये विना जान नहीं सकते। जब वेद को कुछ जानें तब सन्देह मिटें बुद्धि निश्चयात्मक हो सङ्कल्प विकल्प दूर हों। "बुद्धेः फलमनाग्रहः" बुद्धि होने का फल यह है कि हठ दुराग्रह छूट जाय। ऐसी दशा में वेद में लिखा हो कि अमुक २ काल में तुम प्राण दे दो तो प्राण दे देना भी हमारा परम कर्त्तव्य है तब आर्यपन हम में आवे तो सन्देह भी स्वतएव दूर हो जावें जैसे प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं ठहर सकता वैसे वेद के सिद्धान्त का बोध होने पर सब सन्देह भी दूर भाग जाते हैं।

वेद के सम्बन्ध में हमारा पञ्चम कर्त्तव्य यह है कि हम विधि पूर्वक नियमानुसार वेद के पठन पाठन को अपना परमधर्म अवश्य मानें। मानवधर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में लिखा है कि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१॥

अर्थः—जो ब्राह्मणादि द्विज पुरुष विधि के साथ अर्थात् एकान्त शुद्ध देश में जा शौच स्नानादि कर इन्द्रियों को वशीभूत करके परमेश्वर की भक्ति में ध्यान लगा सब कामों से मन और आत्मा को हठाकर मार्जन आचमन प्राणायामादि नित्यक्रिया करके एक वर्ष तक भी बराबर नियत समय वेद का पाठ उसी ओर मन लगा कर करता है उस के धर्मार्थ काम मोक्ष सभी चारो फल सिद्ध हो जाते हैं। यहां पय दधि घृत मधु इन चार शब्दों से धर्मार्थ काम मोक्ष का ग्रहण अन्य टीकाकारों ने किया है सो अनुचित नहीं किन्तु यह

धन्यवाद ॥

१॥) पं० गंगाप्रसाद शर्मा गोहाटी, २) बा० बलदेवप्रसाद जी इटावा, १) पं० दंगीलाल जी इटावा, ।) मास्टर गुन्दीलाल जी इटावा, २) बा० बलदेवप्रसाद जी इटावा, ५) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर धर्मार्थ, १) दाऊ प्यारेलाल जी इटावा, ५॥) भीमसेन शर्मा इटावा, =) भगवद्दत्त इटावा, =) निरञ्जनदेव इटावा, २) बा० शिवप्रसाद जी इटावा, ५) बा० द्वारकाप्रसाद रजिष्ट्रार कानूनगो गाजीपुर, १) चौ० जंगसिंह जी गढ़िया जि० मैनपुरी, १) पं० दंगीलाल जी इटावा ।) बा० प्यारेलाल जी रेंजर इटावा, २) पं० जगन्नाथ सुकुल ने पुत्र के चूड़ाकरण में दिये, १) पं० लेखराम ओवरसियर इटावा, २) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर, १) लल्लू मिस्त्री इटावा १) चौ० पद्मसिंह जी, १-) पुस्तकों के, १) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा, २) बा० युगलबिहारीलाल जी इटावा, १) पं० मातादीन जी वकील इटावा, १) मास्टर गुन्दीलाल के भतीजे ने दिया, १॥।=) जगमोहनलाल वर्मा बस्ती ने विवाहोत्सव में दिया—

यह सब ४१।॥≡) धन अप्रेल मई दो महिनों में पाठशाला सम्बन्ध में धर्मार्थ आया। उक्त महाशयों को धन्यवाद है परमेश्वर उन का अभीष्ट सिद्ध करे। और आशा है कि अन्य लोग भी यथाशक्ति कुछ २ सहायता करते रहेंगे। और इन दो महिनों में ५२।≡)। सब खर्च हुआ। इस में १२)॥ पाठशाला के छप्पर आदि मकान के ठीक करने में और ६-)॥ एक विद्यार्थी का यज्ञोपवीत कर ब्रह्मचारी बनाने में व्यय हुए तो शेष ३४।-)। दो मास में ५ विद्यार्थियों के भोजनादि में व्यय हुए।

सूचना ॥

हम अपने प्रियपाठक महाशयों को सविनय सूचित करते हैं कि आर्यसिद्धान्त में वेद सम्बन्धी विषयों के नये २ लेख अब छपते और आगे २ वेद सम्बन्धी विचार ही अधिकांश छपा करेंगे। आपलोग विशेष ध्यान दे २ कर उन लेखों को लौट २ पढ़ा करेंगे तो कोई सन्देह भी किसी अंश में होगा वह उस को विचारपूर्वक पढ़ने से स्वयमेव निवृत्त हो जायगा। यदि इतने पर भी सन्देह निवृत्त न हो तो मनमाने संकल्प विकल्प न उठा कर उस का उत्तर पत्र द्वारा मुझे पूछा कर आशा है कि ठीक २ समाधान हो जाया करेगा। मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय में ब्राह्मणादि वर्णों के लिये गायत्र्यादि मन्त्र मैंने भिन्न २ लिखे वा दिखाये हैं। सो इस विषय में कई महाशयों को कुछ २ सन्देह हुए हैं। ब्राह्मणादि वर्णों के लिये दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत, वस्त्र आदि प्रायः

सभी चिन्हों का भेद मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में लिखा है उस पर कोई सन्देह किसी को नहीं हुआ न होता है केवल मन्त्रभेद में सन्देह होने का कारण यह प्रतीत होता है कि--कुछ काल पहिले से किन्हीं ब्राह्मणों ने यह प्रचार चला-दिया था कि (तत्सवितुर्व०) इस गायत्रीमन्त्र का क्षत्रिय वैश्यों को अधिकार नहीं। इसी दूध के जले मट्ठे को भी फूंक २ पीने लगे। महाशयो! ये सब झगड़े गुण कर्म स्वभवों का मिलान छोड़ कर केवल जातिमात्र से ब्राह्मणादि वर्णों का मानना चल गया तब से उत्पन्न हुए थे। मेरा लेख लौकिक विचार वा व्यवहार परक नहीं है किन्तु मैं शास्त्रों का सिद्धान्त लिखता हूं। वेदादि शास्त्रों में गुण कर्म स्वभावानुसार ब्राह्मणादि वर्ण माने जाते हैं जिस में ब्राह्मण-पने के गुण कर्म स्वभाव अधिक वा प्रबल हैं वह चाहें क्षत्रिय वैश्यादि के किसी समुदाय में उत्पन्न क्यों न हो वही ब्राह्मण है उस को ब्राह्मणपन की वृद्धि वा उन्नति के लिये जो उचित है वैसी प्रार्थनोपासना करनी चाहिये। जो स्वभाव से ही क्षत्रियपन के गुण कर्मों का धारण वा चाहना रखता है वह वैश्य शूद्रादि किसी जाति में उत्पन्न हो शास्त्रानुसार क्षत्रिय कहा वा माना जायगा उस को क्षत्रि-यपन की उपासना प्रार्थना करनी चाहिये, जब भिन्न २ कामना चाहना गुण कर्मादि से ब्राह्मणादि वर्ण भिन्न २ नियत होते हैं तब चाहना वैश्यपन की हो और ब्राह्मणपन मांगा जाय क्या यह उलटा वा व्यर्थ न होगा? इसी दोष को मि-टाने के लिये वेद में ही मन्त्रभेद लिखा है। यजुर्वेद अ० १० । मन्त्र १० । ११ । १२ ।

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु० ब्रह्म द्रविणम्। त्रिष्टुप्ऽत्वावतु०-क्षत्रं द्रविणम्। जगती त्वाऽवतु० विड् द्रविणम्।

यहां तीन वर्ण के लिये तीन गायत्री आदि छन्द भिन्न २ कहे हैं। यदि कोई कहे कि इस का यह अर्थ नहीं तो वसन्त में ब्राह्मण के, ग्रीष्म में क्ष-त्रिय के, वर्षा में वैश्य के यज्ञोपवीत का जो कालभेद सूत्रादि में लिखा है उस के लिये भी ये मन्त्र प्रमाण वा मूल न हो सकें गे। इसी के अनुसार शतप-थब्राह्मण में भी लिखा है कि "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यम्।" इस प्रकार प्रमाण और युक्ति दोनों के अनुकूल है। गुण कर्म स्व-भावानुसार वर्णव्यवस्था मानने पर पक्षपात का भी लेश नहीं फिर ऐसे निर्दोष विचार को न मानना वा दोष देना ठीक नहीं है। जब वेद पढ़ने का क्षत्रिय वैश्यों को अधिकार है तो गायत्री का अधिकार भी स्वतएव आगया। जैसे ब्र-ह्मचारी हो कर धन पुत्रादि मांगना विरुद्ध है। वैसे क्षत्रियपन वा वैश्यपन की चाहना रखने वाला ब्राह्मणपन को मांगे यह भी विरुद्ध है मन्त्रभेद न होने पर यह दोष आवेगा। इति शम्— आपका भीमसेन शर्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत्।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत्॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १। २

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ
४ अक्टूबर सन् १८९६ ई०

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

१ जुलाई से ३१ अगस्त तक ९६

७४४ बा० रघुनाथ जी—छपरा १।)
११५६ जेजीराम जीणाभाई देलवाड़ा १।)
३९५ बा० गोपालदास जी अलवर २)
६८७ बा० हेमराज पारूलम हैदराबाद २॥)
१०८२ बा० घनश्यामदास कलकत्ता १॥।)
७०५ बा० बहादुरसिंह जी नाहन २।)
४७१ लीलापति तुलसीराम आगरा ३॥।)
११५९ मंगुलाल पद्मसिंह पारावठी १।)
२७० परमेश्वरदीन शुक्ल भगवन्तनगर २॥)
११६४ बा० दीवानचन्द जी शिमला १।)
११६० बा० चूड़ासिंह जी रावलपिण्डी १।)
६७७ बोदोमल पुसूमल हैदराबाद २॥)
१०१९ बा० भोलानाथ जी झांसी २॥)
८०४ श्री० कृष्णराव रेगे हर्दा २॥)
१०२९ श्रीरामनारायण जी जलसिर १।)
९०१ श्रीजयराम जी शर्म्मा मेरठ २॥)
१०४० श्रीगंगादीन जी जबलपुर २॥)
४१८ बा० लक्ष्मणप्रसाद जबलपुर ॥)
५७३ दिवाकरदत्त जी शर्म्मा हिसार २॥)
९४३ श्रीनन्दकिशोर जी जयपुर २॥)
५३८ बा० टाँकनलाल जी—कोटा २॥)
८७१ पं० विश्वनाथ फीरोजपुर २॥)
९१६ राना दुर्गासिंह रियासत—भज्जी २॥)
८७६ प्यारेलाल जी सोनी पिनहट २॥)
९९९ बा० मुकुन्दलाल जी आरा २॥)
९४२ बा० भैरवप्रसाद जी जयपुर २॥)
७५१ बा० गभवतलाल मोतीहारी २॥)
३७० श्री० मानसिंह जी एटावाद २॥)

९०२ बा० मतवालाराम जी—झंग २॥)
५४ शिवराव मंगीश मंजश्वेर १।)
१०२५ रामलाल जी वजाज खुर्जा २॥)
६८० गोपालसहाय सिकन्दपुर २॥)
८९२ बा० हरदयालुसिंह जी गोंडा २॥)
५९३ लक्ष्मणदास पुजारी नाहन २॥)
३८७ बा० रमादत्त जी चकराता २॥)
४८८ बा० कुन्दनलाल जी ब्यावर २॥)
४६२ श्री० बालासिंह जी उजैनि २॥)
८५८ बा० भगवानचन्द नालागढ़ २॥)
१८८ बा० भण्डारीलाल शिमला २॥)
४४९ ला० नाथूराम जी अलीगढ़ २॥)
९१ ला० रामसिंह सो० अमृतसर २॥)
१०३४ कर्मचन्दजालाथ कलकत्ता १।)
७५ ला० जीवनदास जी लाहौर २॥)
९७८ राधाकृष्ण वैश्य समसाबाद २॥)
८३३ पं० शङ्करनाथ जी कलकत्ता २॥)
१२३ पं० वंशीधर जी कोंच २॥)
११४३ श्रीसीतालपदे मुम्बई १।)
१४७ चिरंजीवलाल दुलीचन्द मुम्बई १।)
४७० बा० हनुमानप्रसाद लखनऊ १।)
१०७८ ठा० रामलगनसिंह सिहोरा १।)
८९४ भानुशंकररणछोर पालीताणा २॥)
२३५ मन्त्री आर्यसमाज फीरोजपुर २॥)
२९० मोतीलाल कुबेरदास मेराई २॥)
४३० बा० खुशीराम जी शिमला २॥)
४७३ भगवानदीन शिवशंकर मुम्बई २॥)
४४३ शिवलाल मलबल २॥)
४६४ बा० बिहारीलाल कामठी २॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १ । २

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

मन्त्रभेदविचार ॥

हम अपने पाठक महाशयों को प्रथम यह जताना चाहते हैं कि इस मन्त्र-भेद विषय को यहां लिखने की क्या आवश्यकता हुई ? तो निवेदन यह है कि हम ने मनुभाष्य के द्वितीयाध्याय में प्रकरणानुसार मन्त्रभेद का कुछ प्रस्ताव संक्षेप से लिखा है उस पर जैसे कई आर्य लोगों को कुछ २ शङ्का हुईं वैसे अन्य लोगों को भी सन्देह न हों तथा जो कुछ सन्देह हुए हों वे शीघ्र निवृत्त होजावें इस लिये हम यहां इस विषय पर कुछ संक्षेप से लिखना आवश्यक समझते हैं। यद्यपि ऐसे सब विषयों पर क्रमानुसार त्रयीविद्या के व्याख्यान में आन्दोलन स्वयमेव आजाता तथापि सन्देहों का अधिक काल तक ठहरना अच्छा न समझ कर यहां लिखने की शीघ्रता की गयी आशा है कि सन्देह अवश्य दूर होंगे ।

प्रश्न—क्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये गुरुमन्त्र आप भी अन्य लोगों के समान भिन्न २ मानते हैं ? यदि यह सत्य है तो आर्यसमाज में भी वही पोप-लीला फिर चल जायगी जिस को श्री स्वामी जी महाराज ने छुड़ाया था और ब्राह्मणों के जाल से बचाया ।

उ०—इस बात का उत्तर लिखने से पहिले हम यह लिखते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों को लौकिक व्यवहार की बोल चाल में तो हम भी लोकप्रवाह के अनुसार व्यवहार करते हैं परन्तु ग्रन्थों का भाष्य करने वा पुस्तकादि में लेख

लिखने के समय हम वेद के सिद्धान्त को निःशङ्क हो कर लिखना प्रकाशित करना अपना परमधर्म समझते हैं उस समय लौकिक प्रवाह का कुछ भी ध्यान रखना हम अच्छा नहीं समझते और न ऐसा किसी विचारशील धर्मज्ञ को करना उचित है। लोक में ब्राह्मणादि समुदाय जातिमात्र के विचार से माने जाते हैं किन्तु यह विचार नहीं रक्खा जाता कि जिस २ को हम ब्राह्मणादि कहते मानते हैं वह २ वेदादि शास्त्र के सिद्धान्तानुसार वास्तव में भी ब्राह्मणादि है वा नहीं और वेद का सिद्धान्त यह है कि जिस में ब्राह्मणपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह ब्राह्मण जिस में क्षत्रियपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह क्षत्रिय और जिस में वैश्यपन के गुण कर्म स्वभाव प्रधान हैं वह वैश्य है। शास्त्रीय विचार वा सिद्धान्त को एक ओर छोड़ कर मेरे लेख को भी वे लोग लोकप्रवाह में घसिटी हुई अपनी बुद्धि से मिलाना चाहते हैं जब वह लेख उन की बुद्धि से नहीं मिलता तो उस को विरुद्ध समझते हैं यदि वे लोकप्रवाह की तरङ्गों में बहती हुई बुद्धि को उस प्रवाह से निकाल स्वस्थ कर वेद के सिद्धान्त में लगा कर उस लेख या प्रस्ताव को देखें तो निश्चय है कि लेशमात्र भी सन्देह न रहे। वेद के सिद्धान्तानुसार मैं मानता हूं कि सृष्टि भर जड़ चेतन स्थावर जङ्गम सब में वर्ण व्यवस्था व्याप्त है। सब संसार में चार ही वर्ण हैं प्राणिमात्र का विचार छोड़ कर केवल मनुष्य जाति में चार ही वर्ण हैं पांचवां वर्णसंकर भी सभी समुदायों सभी देशों और सभी कालों में है। परमेश्वर जैसे किसी निज [खास] देश काल वा समुदाय से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु सब देशों सब कालों और सब समुदायों सब जातियों में एकरस व्याप्त रहता है वैसे उस देशकालाद्यनवच्छिन्न अनन्त सनातन परमात्मा की अतिपवित्र अनादि वेद विद्या के सब सिद्धान्त सब मन्तव्य विषय भी सब देशों सब कालों और सब समुदायों जातियों में एकरस सदा रहते हैं। लोकप्रवाह के अनुसार प्रायः लोग आर्यावर्त्त [हिन्दुस्तान] में ही ब्राह्मणादि वर्ण मानते हैं पर वेद के सिद्धान्तानुसार सब द्वीपों के मनुष्यों में सब वर्ण मानने चाहिये। अंगरेज मुसलमान आदि संसार भर की सब जातियों में वेदमतानुसार चारो ही वर्ण हैं।

यद्यपि वेद के साथ साक्षात्सम्बन्ध छूट जाने से अन्य द्वीपों में रहने वाली मनुष्यजातियों की अपेक्षा आर्यावर्त्त में वैदिक धर्म कर्मों का साक्षात् वा अधिक प्रचार प्राचीन काल से चले आने के कारण आर्यावर्त्त में ब्राह्मणादि

उत्तम मनुष्य अधिक हैं वा उन द्वीपान्तरवासी ब्राह्मणादि की अपेक्षा यहां के ब्राह्मणादि अनेक अंशों में अच्छे श्रेष्ठ हैं तथापि इतने से अन्य द्वीपों में ब्राह्मणादि नहीं यह हम नहीं मान सकते क्योंकि मुख का काम पठन पाठन ईश्वर की स्तुति प्रार्थना वा धर्मोपदेशादि काम करने में जो प्रधान हो उसी काम को करने में स्वभाव से ही अधिक तत्पर रहता हो वह ब्राह्मण है यह ब्राह्म सामान्य लक्षण शास्त्रों में किया गया तो उस में यदि कोई यह आशंका लगावे कि आर्यावर्त्त का निवासी ब्राह्मण कहाने वाला ही जो ऐसा काम मुख से करे उसी को ब्राह्मण मानें यह पक्षपात होगा। तथा सत्य भाषण की परीक्षा में जो सब से उत्तम कक्षा में उत्तीर्ण (पास) हो वह सब से उत्तम ब्राह्मण है इत्यादि ब्राह्मणपन के लक्षणों वाले पुरुष किसी निज देश में ही हों किसी में सर्वथा ही नहीं यह नहीं हो सकता किन्तु यह माना जा सकता है किसी देश में वैसे पुरुष अधिक हों कहीं न्यून हों। इसी प्रकार जो बलवानों से निर्बलों की रक्षा करने में स्वभाव से ही तत्पर हो तथा धर्मानुकूल युद्ध करने से कभी न हटे शरीर जाने का भय जिस को स्वप्न में भी न रहता हो वह किसी देश का निवासी क्यों न हो किसी नाम से क्यों न बोला जाता हो अर्थात् चर्मकार महतर भंगी डोम वा मुसलमान, अंगरेज नाम कोई कहाता हो पर वेद के सिद्धान्तानुसार वह क्षत्रिय है। इसी प्रकार स्वभाव से ही जो व्यापारादि में तत्पर हो वह वैश्य है। अब शोचने का स्थान है कि जब हम वेद के सिद्धान्तानुसार संसार भर के मनुष्यों में चारो वर्ण मानते हैं और हमारे भाई हिन्दु लोग ऐसा नहीं मानते किन्तु अंगरेज मुसलमान आदि जातियों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सभी हैं यह मानना तो दूर रहा किन्तु वैश्य शूद्रादि नाम से प्रसिद्धों में भी वे लोग ब्राह्मण क्षत्रियादि मानने से बहुत डरते वा घबराते हैं। और इन्हीं हिन्दुओं में से अपने को कुछ कर्मों के कारण भिन्न मान कर आर्य कहाने लगे हैं। इन आर्यों में भी अबतक प्रायः लोग ऐसे छोटे विचार के हैं कि लोकप्रवाह के अनुसार जो जिस जाति में कहाता है वह शास्त्रीय सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले गुण कर्म स्वभावों की अपेक्षा को छोड़कर अपनी सब जाति को वा अपने को केवल ब्राह्मणादि नाम से बड़ा बनाना चाहता है वा किसी उत्तम वर्ण के नाम से श्रेष्ठ बनने का उद्योग कर रहा है सो उत्तम बनने का उद्योग तो वास्तव में अच्छा है परन्तु यदि गुण कर्म स्वभावों को सम्हालते हुए किया जाय तो, किन्तु मनमाना करना वेद विरुद्ध है।

अब हम फिर भी यही कहते हैं कि पाठक महाशयो ! ध्यान दीजिये शोचिये ! वेदानुकूल हमारा सिद्धान्त है कि नीच से नीच जाति में भी उत्पन्न हुआ पुरुष यदि ब्राह्मणपन के ही प्रधान गुण कर्म स्वभाव धारण करने वाला वास्तव में है तो हम प्रसिद्ध डंका बजाकर उस को ब्राह्मण मानने को तत्पर हैं और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए शूद्र वा अतिशूद्र के गुण कर्म स्वभाव वास्तव में धारण करने वाले को शूद्र वा अतिशूद्र मानते हैं तो इस सिद्धान्त के अनुसार लोकप्रवाह बुद्धि से चलने वालों के माने हुए चर्मकार महतर मुसलमान अंगरेज आदि नाम से प्रसिद्ध सभी को हमने (तत्सवितुर्वरेण्यं०) सावित्री गायत्री मन्त्र का अधिकार दिया वा माना और हमारे पौराणिक अनेक पण्डित लोग ब्राह्मण जाति से अतिनिकट क्षत्रिय जाति को भी अधिकार (तत्सवितु०) मन्त्र का नहीं बताते तो हमारा उन का मन्तव्य कहां मिला ? । जब हम मनुष्य सृष्टि भर को वेद के पढ़ने पढ़ाने मानने और वेदानुकूल चलने का अधिकार मानते हैं तो फिर यह शङ्का किस मनुष्य को हो सकती है कि आर्यसिद्धान्त के सम्पादक (तत्सवितु०) गायत्री का अधिकार क्षत्रिय वैश्यों को नहीं बताते । शोचिये तो सही जिस को ऐसा सन्देह हो वह कितनी और कैसी बुद्धि रखता है जैसे सामान्यरूप मनुष्यपन सब में एकसा है वैसे गायत्री भी एक छन्द की जाति है । जिस में प्रायः २४ अक्षर और अष्टाक्षर वाले तीन पाद हों वह गायत्री छन्द कहाता है सो ऐसे गायत्री छन्द वेदों में हजारों ही हैं ।

अग्निमीडे पुरोहितम्० । २–अग्न आयाहि वीतये० । ३–शन्नो देवीरभिष्टये० । विश्वानिदेव सवितर्०

जैसे इत्यादि मन्त्र सब गायत्री कहाते वैसे ही (तत्सवितुर्वरेण्यं०) यह भी एक गायत्री है । जो लोग वेद के ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं वे प्रायः आर्यसमाजस्थ भी गायत्री शब्द से केवल (तत्सवितु०) इसी मन्त्र का ग्रहण समझते हैं यह समझना ऐसा ही है जैसे मनुष्य कहने से किसी एक देहधारी को समझें । अब शोचिये तो सही कि जहां वेद के ऐसे स्थूल विषयों में तो जगत् में इतना अन्धेर है कि अतिप्रसिद्ध गायत्री शब्द के वाच्यार्थ को भी नहीं समझते तो किसी गम्भीर सूक्ष्म वेद विषयक लेख में जितनी और जैसी शङ्का हों वे सभी सम्भव हैं । और हम तो (विश्वानि देव सवितर्०) इत्यादि गायत्रियों के समान ही (तत्सवितु०) इस गायत्री को भी मानते हैं । अर्थात् जैसे मनुष्यत्व सामान्य में सब मनुष्य

एक से हैं जैसे सामान्य गायत्रीपन में सब गायत्री एकसी ही हैं । जिस को (अग्निमीडे पुरोहितं०) इस गायत्री के पढ़ने पढ़ाने बोलने जपने का अधिकार है उस को वैसा ही अधिकार (तत्सवितु०) मन्त्र का भी है पुराने बिगड़े ढर्रे के अनुसार जो लोग (तत्सवितु०) मन्त्र को प्रसिद्ध बोलने में संकोच करते हैं यह भी भूल है मैं सब गायत्रीमन्त्रों का एकसा ही प्रसिद्ध व्यवहार करना अच्छा समझता हूं । अब हमे अनुमान है कि हमारे पाठक लोग इस पूर्वोक्त लेख से यह अवश्य समझ गये होंगे कि अन्य पौराणिक पण्डितों के समान ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये हम गुरुमन्त्र भिन्न २ नहीं मानते किन्तु हम यह मानते हैं कि जिस को वेद पढ़ने का अधिकार है वह वेद के सभी मन्त्रों को पढ़े पढ़ावे जप होम करे उस के लिये कुछ रुकावट नहीं न कोई बुराई है । पौराणिक लोग जो मन्त्र को भिन्न २ बताते वा मानते और अनेकोंने क्षत्रियादि के लिये मनमाने श्लोक बना रक्खे हैं गुरुमन्त्र के उपदेश के समय उस का ही उपदेश क्षत्रियादि को दे देते हैं यह वास्तव में उन लोगों का बड़ा दोष वा अपराध है । यदि गुण कर्म स्वभावों के बिगड़ जाने से क्षत्रिय वैश्यों को वेदमन्त्रों के उपदेश का अधिकार नहीं ऐसा कोई माने तो ब्राह्मण कहाने वालों को भी वेद का अधिकार न होना चाहिये क्योंकि उन के गुण कर्म स्वभाव और भी अधिक बिगड़ गये हैं । और पौराणिकों में जो लोग क्षत्रिय वैश्यों को वेदमन्त्रों का उपदेश देना स्वीकार भी करते हैं वे त्रिष्टुप् जगती से भिन्न (तत्सवितु०) गायत्रीमन्त्र का एक अक्षर भी क्षत्रियादि को बताना बुरा वा पाप समझते हैं । हमारा विचार ऐसा नहीं हम सब मन्त्रों को एक ही समान प्रसिद्ध बिना संकोच पढ़ाना बताना अच्छा मानते हैं इस कारण हमारा मन्तव्य उन लोगों से सर्वथा विरुद्ध है ।

अब हम संक्षेप से यह लिखना उचित समझते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के मन्त्र भिन्न २ होने किस लिये आवश्यक हैं और किस २ अंश वा प्रसंग में मन्त्रादि का भेद माना जाय तथा कहां २ सब की एकता रहे । हम आर्यसमाज वा वेदमतानुयायिमात्र का तथा उसी में अपना परमकर्त्तव्य वा परमसिद्धान्त यह मानते हैं कि—

शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ॥

यद्यपि यह व्याकरण महाभाष्य का लेख है तथापि सब आस्तिक विद्वानों का इस में एक मत होने से सर्वतन्त्र सिद्धान्त के अनुसार यह मन्तव्य है कि हम सब वेद मतानुयायी शब्द प्रमाण को सब प्रमाणों की अपेक्षा शिरोमणि मानने वाले हैं हम वेद के पिछलगा हैं वेद के शब्द जो कुछ कहते हैं वेद के शब्दों तथा वाक्यों का पूर्वापर संगति मिलाकर जो कुछ आशय निकलता है वही हमारा मन्तव्य वा सिद्धान्त है। तभी को हम सब वेद मतानुयायी आस्तिक लोग निर्भ्रम मानें इस के अनुसार वेद मन्त्रों में प्रायः तीन और कहीं २ चार पांच कक्षा तक स्पष्ट दिखायी हैं। जब वेद में है तो इसी लिये वह हमारा मन्तव्य है। वेद में जो विषय वा मन्तव्य हैं उन को युक्ति वा तर्क से पुष्ट करना उन को महाप्रयोजनीय ठहराने का उद्योग करना यह हमारा काम है और होना भी यही चाहिये किन्तु वेद के अनेक स्थलों की ध्वनि से वा जिस का वेद में साक्षात् प्रतिपादन नहीं ऐसे किसी मनुष्य कल्पित सिद्धान्त को पुष्ट करने का उद्योग करना हमारा काम नहीं है। अब हम मन्त्रभेद विषय में वेद के थोड़े से उदाहरण प्रमाणार्थ देकर सारांश लिखें।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि॥ यजुर्वेद वाजसनेयि संहितायां अ० १। मन्त्र २७॥

यहां गायत्री आदि शब्दों से स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है तभी छन्द के विशेषण गायत्रादि शब्द हो सकते हैं। अथवा गायत्री से सम्बन्ध रखने वाला गायत्र नाम ब्राह्मण का है तब शैषिक अण् प्रत्यय होगा। इस दशा में छन्द विशेषण और गायत्र विशेष्य होगा। ताप वा कष्टों से बचाने वाले गायत्री सम्बन्धी ब्राह्मणपन के साथ तुझ को मैं ग्रहण करता हूं। इसी प्रकार त्रैष्टुभेन छन्दसा और जागतेन छन्दसा का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। यहां कौन किस का किस लिये ग्रहण करता है ऐसा विशेषार्थ वा भावार्थ लिखने से बहुत व्याख्यान बढ़े इस लिये केवल अक्षरार्थ लिखेंगे। और हमारा प्रयोजन भी छन्द जातिवाचक नामों की तीन कक्षा और उन का क्रम दिखाने से है॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन छन्दसा। अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा। पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा। ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि० यजु० अ० २।२५

यहां नीची तृतीय कक्षा की ओर से प्रथम ऊंची कक्षा की ओर परिगणन है। जैसे भूर्लोक प्रथम भुवर् नाम अन्तरिक्ष लोक द्वितीय तथा स्वर्नाम द्यु लोक तीसरी कक्षा है वैसे गायत्री प्रथम त्रिष्टुप् द्वितीय और जगती तृतीय ब्राह्मण प्रथम क्षत्रिय द्वितीय वैश्य तृतीय कक्षा वर्णों की है।

एष ते गायत्रो भागः। एष ते त्रैष्टुभो भागः। एष ते जागतो भागः। यजु० अ० ४।२४॥

सोम नाम तृतीय कक्षा के उत्तम देवतापन से युक्त वैश्य में गायत्र नाम ब्राह्मण सम्बन्धी भाग त्रैष्टुभ क्षत्रिय सम्बन्धी और जागत वैश्य सम्बन्धी होना चाहिये अर्थात् जिस में ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन भी मिश्रित हों जो ब्राह्मणपन क्षत्रियपन के भी गुण कर्म स्वभाव धारण करता हो और वैश्यपन के गुण कर्म जिस में प्रधान हों वह उत्तम कक्षा का वैश्य होगा। जिस में ब्राह्मणपन क्षत्रियपन कुछ न दीखता हो केवल वैश्यपन ही हो वह वैसा उत्तम वैश्य नहीं हो सकता॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि। जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥ यजु० अ० ५।२॥

अनेक विपत्तिरूप दुःखों से बचाने और सुखों की निर्विघ्न रक्षा करने वाले गायत्री छन्द सम्बन्धी ब्राह्मणपन, से त्रिष्टुप् छन्द सम्बन्धी क्षत्रियपन से तथा जगती छन्दसम्बन्धी वैश्यपन से अग्नि का मन्थन होना चाहिये अर्थात् तीनों ब्राह्मणादि वर्ण अपने २ गुण कर्म स्वभावों से युक्त वा तीनों के मिश्रित गुण

कर्म स्वभावों से युक्त एक २ ब्राह्मणादि वर्ण अग्निहोत्रादि नित्य नैमित्तिक यज्ञ करने के लिये अग्नि को प्रकट करें किसी सत्त्वगुणयुक्त लकड़ी आदि को मथन कर निकालें किन्तु शूद्रपन के गुण कर्म स्वभावों वाला पुरुष ऐसा न करे वा अपने स्वभावानुसार ही वह यज्ञ करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता यदि होगा भी तो उस से ठीक २ यज्ञ हो सकना दुस्तर है इसी से उस को अधिकार नहीं यह अर्थापत्ति से निकलता है ॥

बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् । इन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषम् । विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयंस्तामुज्जेषम् ॥ यजु०—अ० ९ । ३२ । ३३ ॥

वेद के अनेक प्रमाणों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि वेद में आने वाले बृहस्पति वशिष्ठ इन्द्र सोम विश्वेदेवादि देवता वाचक शब्द प्रायः तीन ही कोटियों में बांटे जायंगे । उन को चाहे प्रथम द्वितीय तृतीय कक्षा कहो चाहे उत्तम मध्यम निकृष्ट कहो वा उन्हीं को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहो यह सभी संघटित है । वे ही तीन देवता हैं जिन के नाम क्रम से अग्नि, वायु, आदित्य वा अग्नि, इन्द्र, सोम हैं । इसी लिये निरुक्त में स्पष्ट ही लिखा है कि—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो वायुरन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति । दैवतकाण्ड अ० १ ॥

तीन ही प्रधान देवता वा तीन ही कोटि में वेदोक्त सब देवता हैं और उन के क्रम से तीन लोक ही प्रधान स्थान हैं ॥ देवता नाम उत्तम कोटि का है ब्राह्मणपन की उत्तम कोटि में अग्नि देवता प्रधान है । क्षत्रियपन की उत्तम कोटि में वायु वा इन्द्र देवता प्रधान है तथा वैश्यपन की उत्तम कोटि में विश्वेदेव वा सोम देवता की प्रधानता है । पिङ्गलसूत्र नामक छन्दःशास्त्र वेदाङ्ग में गायत्री आदि सात छन्दों के सात देवता सामान्य कर गिनाये हैं जिन में

गायत्री का अग्नि त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती छन्द के विश्वेदेव देवता हैं। और शतपथब्राह्मण के अनेक स्थलों में लिखा है कि अग्नि नाम ब्रह्म का वा ब्रह्मनाम अग्नि का तथा ब्राह्मण आग्नेय है "गायत्रो वै ब्राह्मणस्त्रैष्टुभो राजन्यो जागतो वैश्यः" अर्थात् वेद में कहीं २ गायत्रशब्द ब्राह्मण का त्रैष्टुभ क्षत्रिय का और जागत वैश्य का नाम है क्योंकि गायत्री छन्दजाति ब्राह्मण से त्रिष्टुप् छन्दजाति क्षत्रिय से और जगती वैश्यवर्ण से सम्बन्ध रखती है। अर्थात् तीन २ वर्ण, छन्द, लोक, वेद आदि का जहां २ वर्णन है वहां २ उन २ का यथासंख्य क्रम से सम्बन्ध भी दिखाया है। ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द एकार्थ वा एक ही कोटि के साथ सम्बन्ध रखते हैं। बृहस्पति ब्राह्मण और इन्द्र क्षत्रिय वाचक है। अथर्ववेद में स्पष्ट भी लिखा है-

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥५॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥६॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्माऽसावादित्यः क्षत्रम् ॥७॥ एनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥८॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥९॥ एनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥१०॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥११॥ अथर्व० काण्ड १५। सूक्त १० ॥

इस का अर्थ बहुत स्पष्ट है कि बृहती नाम वाणी वा सरस्वती विद्या का है। बृहती नाम सब से उत्कृष्ट अतिपवित्र वेद वाणी की यथोचित विधिपूर्वक पठन पाठनादि द्वारा रक्षा करने वाला पुरुष बृहस्पति है उस में ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन प्रविष्ट होता है इसी से वह बृहस्पति होता वा कहाता है। और जब वह बृहस्पति होता वा होना चाहता है तभी उस में ब्राह्मणपन आता है। चाहे यों कहो कि जो बृहस्पति है वह ब्राह्मण और जो ब्राह्मण है वही बृह-

स्पति हो सकता है। तथा इन्द्र का नाम क्षत्र वा क्षत्रिय है इन्द्र में क्षत्रियपन प्रवेश करता अर्थात् जिस में इन्द्रपन है वहां क्षत्रियपन आता तथा जिस में क्षत्रियपन आता है वही इन्द्र है॥ पृथिवी लोक प्रथम कक्षा का है उस के साथ बृहस्पति का और द्युलोक के साथ इन्द्र का सम्बन्ध है। क्योंकि लोकों में भी ब्राह्मणत्वादि भिन्न २ गुण प्रधान है। द्युलोकस्थ सब तत्त्वों में क्षत्रियपन प्रधान है॥ यह प्रत्यक्ष अग्नि ब्रह्म नाम ब्राह्मण पृथिवी लोक निवासी और यह आदित्य नाम सूर्य क्षत् नाम बड़े २ दुःखों से प्रजा का त्राण पालन करने वाला होने से क्षत्र नाम क्षत्रिय है। जो पृथिवी को बृहस्पति और अग्नि को ब्रह्म जानता ठीक २ समझता है कि पृथिवी से बृहस्पति का और अग्नि से ब्राह्मणपन का कितना गहरा सम्बन्ध है वा इन चारों के सूक्ष्म सम्बन्ध को जो ठीक २ जानता है उस में ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन आता है इसी से वह ब्राह्मवर्चसी नाम ब्रह्मणपन के तेज से युक्त होता है॥ और आदित्य से क्षत्रियपन तथा द्युलोक से इन्द्र का वा परस्पर इन सब का कितना सूक्ष्म सम्बन्ध है यह जो जानता है उस में अच्छी इन्द्रियशक्ति आती इसी से वह प्रबल इन्द्रियों का धारक जितेन्द्रिय होता है और जितेन्द्रिय होने से ही वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय राजा होता है॥

अब आशा है कि हमारे पाठक महाशय इस लेख से बृहस्पति से ब्राह्मण और इन्द्र से क्षत्रिय समझ जायेंगे। तथा विश्वेदेव से वैश्य के ग्रहण में भी वेद का प्रमाण अवश्य मिल सकेगा। इस के अनुसार यजु० के अ० ९। ३२। ३३ पूर्वलिखित मन्त्रों का यह अर्थ होगा कि बृहस्पति नाम ब्राह्मणपन की ऊंची कक्षा का पुरुष आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन कर के अष्टाक्षर पाद से युक्त गायत्री छन्द के जप तपादि से उन्नत होता है वैसे मैं भी उन्नति करूं। इन्द्रनाम ऊंची कक्षा का क्षत्रिय ग्यारह अक्षर के पाद से युक्त त्रिष्टुप् छन्दद्वारा ग्यारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीतसंस्कार समय से ही जप तप आदि करके उन्नति को प्राप्त होता तथा विश्वेदेव नाम वैश्य बारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत धारण कर बारह अक्षर के पाद से युक्त जगती छन्दद्वारा जप उपासनादि करके उन्नतिशाली होता है वैसे मैं भी उन्नत होऊं॥

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरᳪं साम त्रिवृतस्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥१०॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥ प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपथं साम सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥ यजु० अ० १० । १०–१२ ॥

यहां पूर्वदिशा, गायत्रीछन्द, सामरथन्तर, त्रिवृत्स्तोम वसन्त ऋतु और ब्राह्मण शरीर ये एक कोटि में गिनाये हैं इन का परस्पर विशेष सम्बन्ध है। "प्राचीदिगग्निरधिपतिः०" इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्रों में पूर्वदिशा के साथ अग्नि का सम्बन्ध है और अग्नि ब्राह्मणपन है। इन मन्त्रों में प्राची आदि शब्द दिशादि अमूर्त्तनाम सूक्ष्म पदार्थों के वाचक हैं अथवा एक प्रकार के आधार वा गुण हैं इसी लिये ब्रह्म, क्षत्र और विट् नाम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वाचक शब्दों के साथ द्रविण शब्द स्थूल शरीर के बोधनार्थ पढ़ा है। वसन्त ऋतु का ब्राह्मण के साथ सम्बन्ध ग्रीष्म का क्षत्रिय के साथ और वर्षा का वैश्य के साथ सम्बन्ध है इसी मूल के आश्रय से गृह्यसूत्रकारों ने लिखा है कि "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम् ।" यद्यपि यहां वर्षा के साथ वैश्य का सम्बन्ध दिखाया है तथापि सूत्रकार के लिखने से प्रतीत होता है कि मूलवेद में भी कहीं शरद् के साथ सम्बन्ध होगा। क्योंकि कहीं २ एक २ विषय में दो २ प्रकार का विकल्पित कथन वेद में है और वह दोनों प्रामाणिक मान्य हैं इसी लिये मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय में लिखा है कि "श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ" जिस एक अंश में दो प्रकार का कथन श्रुति में हो वहां दोनो धर्मानुकूल हैं दो में से जिस को जो अच्छा लगे वैसे समय में कार्य करे इस के अनुसार वैश्य का संस्कार वर्षा वा शरद् ऋतु में से किसीमें होना–उचित है। जैसे ब्राह्मणादि के संस्कारों के समयविभाग के ये ही वा ऐसे ही अन्य मन्त्र मूल हैं वैसे मन्त्रभेद के भी वेद के ये मन्त्र वा ऐसे ही अन्यमन्त्र मूल हैं। मन्त्रों के सब पदों का व्याख्यान इसलिये नहीं करते कि लेख बहुत बढ़ जावेगा।

गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्०० त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्०० । जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ यजु० अ० ११ । ९ । १० ॥

यहां भी गायत्री आदि तीन ही छन्दों का क्रम से उपयोग स्पष्ट ही दिखाया है । यद्यपि इन प्रमाणों में से कई में चौथी कक्षा में अनुष्टुप्छन्द का भी ग्रहण किया गया है तथापि चौथी कक्षा के विषय इस प्रसंग में हमे कुछ वक्तव्य नहीं क्योंकि यहां ब्राह्मणादि तीन वर्णों के छन्द भेद पर लिखना अभीष्ट है। चौथी कक्षा के विषय में यथावसर कभी फिर लिखेंगे ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि । रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि । आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि ॥ यजु० ११ । ५८ ॥

यहां भी वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का ग्रहण है । सब जगत् को धर्म के विशेष प्रचार द्वारा अच्छी दशा में बसाने वाले होने से ब्राह्मण वसु, डाकू चोरादि दुष्टों को ताड़ना देकर रुलाने वाले रुद्र नामक क्षत्रिय, व्यापार द्वारा धनादि का विशेष आदान वा ग्रहण करने वाले आदित्य नाम वैश्य का है । इस के लिये वेद में भी प्रमाण मिल सकते हैं कि वसु आदि शब्दों से ब्राह्मणादि का ग्रहण हो सकता है । इस का सामान्यार्थ यह होगा कि वसु आदि तुझ को अङ्गिरस् के तुल्य गायत्री आदि छन्द से यथोचित यथा क्रम युक्त करें जिस से उस २ तुझ में भी वसु आदिपन वा ब्राह्मणादिपन आवे ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् । रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छ-

न्दसाङ्गिरस्वत् । आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ यजु० अ० ११।६०

यहां भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन कक्षाओं का विचार है ।

वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा० । रुद्रास्त्वा च्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा० । आदित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा० ।

यजु० अ० ११ । ६५ ॥

यहां भी वैसा ही तीन कक्षा का क्रम वर्णन किया है ॥

गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनुविक्रमस्व । त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनुविक्रमस्व । जागतं छन्द आरोह दिवमनुविक्रमस्व ॥ यजु० अ० १२ । ५ ॥

यहां गायत्री छन्द के साथ पृथिवी का क्रम है पृथिवी से अग्नि को मुख्य सम्बन्ध और अग्नि ब्रह्म वा ब्राह्मण है । इसी प्रकार त्रिष्टुप् छन्द के साथ अन्तरिक्ष स्थान देवताओं में प्रधान वायु का मेल है उसी के भेद एकादश रुद्र हैं यही क्षत्रिय कोटि है । जगती छन्द के साथ दिव् लोक का सम्बन्ध क्रम है और आदित्य स्थान देवता हैं यही वैश्य कोटि है ।

गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि । त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ य० १२ । ५३ ॥

गायत्री छन्द के साथ तुझ ब्राह्मण को त्रिष्टुप् छन्द के साथ तुझ क्षत्रिय को और जगती छन्द के साथ तुझ वैश्य को स्थापित करता हूं। वा इसी को यों कहो कि गायत्रीछन्द के साथ तुझ को प्रथम कक्षा में स्थित करता हूं जिस से तू प्रथम कक्षा के योग्य है और हो। चाहे यों कहो कि जो प्रथम कक्षा के योग्य हो उस को गायत्री छन्द से युक्त करना चाहिये। तथा पाठक महाशय यह भी ध्यान रक्खें कि वेद के शब्द रूढि नहीं किन्तु यौगिक वा योगरूढ हैं। इस के अनुसार गायत्री शब्द, शब्द अर्थ वाले गै धातु से बना है और गाना वाणी का काम है। प्रथम कक्षा के ब्राह्मण का मुख्य काम वाणी का है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, वेदोक्त यज्ञ करना कराना तथा वेदोक्त धर्म का उपदेश प्रचार करना यह सब वाणी का ही प्रधान काम है। तथा सब छन्दों की अपेक्षा गायत्री छन्द का उच्चारण गान भी अच्छा होता और अच्छा लगता है। इस प्रकार शब्दार्थ प्रधान होने से गायत्री प्रथम कक्षा है और उस का प्रथम कक्षा के साथ मुख्य सम्बन्ध है। वा इसी बात को यों कहो कि जो मनुष्य अपनी स्वाभाविक रुचि वा प्रवृत्ति के अनुसार वेद पढ़ने पढ़ाने वा वैदिकधर्मोपदेश करने में ही सब कामों की अपेक्षा अधिक तत्पर रहता वा रहना स्वीकार करता प्रसन्न करता है वह वाचिकधर्मप्रधान मनुष्य किसी जाति वा किसी देश में क्यों न हो वही ब्राह्मण है। वहां गायत्री शब्द के अर्थ वाचिक धर्म से विशेष सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिये। हमारे पाठक लोग इस उक्त लेख को ध्यान देकर ठीक २ समझलेंगे तो इस विषय के सब सन्देह सहस्रों कोश भाग जांयगें ऐसी पूर्ण आशा है। अर्थात् वेद की शैली के अनुसार गायत्री शब्द का सामान्य व्याप्तार्थ यह हुआ कि वाचिक मानस और कायिक तीन प्रकार के कर्त्तव्य धर्म कर्म में से वाचिक वाणी सम्बन्धी वेद के पठन पाठन तथा वेदोक्त धर्म के उपदेश के साथ ब्राह्मणपन का अधिक सम्बन्ध है। भिन्न २ मन्त्रों में प्रकरणानुसार वाचिकधर्म के अवान्तर भेदों का वर्णन जानो।

इसी प्रकार द्वितीय त्रिष्टुप् छन्द वाचक शब्द है यह भी यौगिक वा योगरूढ मानना चाहिये। व्याकरण में स्तुभ धातु स्तम्भ अर्थ का वाचक है। स्तम्भ शब्द का अपभ्रंश लोक में थांभना वा थंभना हुआ है। त्रिष्टुप्छन्द चार पाद का होता है उस का उच्चारण करते समय बीच २ में तीन जगह थंभने पड़ता है वा थंभना चाहिये अर्थात् पहिले दूसरे तीसरे पादों के अन्त में थंभ २ कर अगले पाद

का उच्चारण करना उचित है। यद्यपि ऐसे चतुष्पाद् छन्द वेद में अन्य भी हैं जिन के उच्चारण में तीनवार बीच २ में थंभना पड़े पर उन में अन्य किसी प्रकार की विलक्षणता मन्तव्य होगी जो त्रिष्टुप् में न हो। त्रिष्टुप् छन्द का पाद ग्यारह अक्षर का होता ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय बालक का यज्ञोपवीत कहा है। ग्यारह रुद्र हैं रुद्र शब्द का अर्थ क्षत्रिय प्रधान है जैसे कोई बलवान् प्राणी निर्बल को दुःख देने के लिये भागा जाता है तो उस को थांभ लेना पकड़ लेना क्षत्रिय का काम है वा जो निर्बल को कष्ट देने वाले बलिष्ठ को थांभता वा थांभ सकता है वह क्षत्रिय है। वैसे जो सब को अपने २ कर्त्तव्य में लगा के सब की रक्षा करता हुआ भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों कालों में वा उत्तम मध्यम निकृष्ट तीनों दशा में सब प्राणियों को ठीक मर्यादा में थांभे हुए संसार को ठीक २ स्थित दशा में रखता है वह त्रिष्टुभ् शब्द के अर्थ से पूरा सम्बन्ध रखने वाला क्षत्रिय है। इसी प्रकार गम धातु से जगत् शब्द बनता और जगत् से स्त्रीलिङ्ग में जगती होता है। विश धातु से विट् वा वैश्य शब्द बनते हैं जिन का अर्थ प्रवेश करने वाला है विना गमन किये प्रवेश होता नहीं। प्रवेश नाम किसी वस्तु वा किसी स्थानादि वा देश नगर ग्रामादि में घुसना इस के साथ में गमन अवश्य लगा है। जो व्यापारादि कार्यों में प्रवेश के लिये गमन करता है वह जगती शब्द के अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला वैश्य है।

अयं पुरोभुवस्तस्य प्राणो भौवायनः। वसन्तः प्राणायनः। गायत्री वासन्ती०००० वसिष्ठ ऋषिः। ०० ॥ ५४ ॥ अयं दक्षिणा विश्वकर्मा। तस्य मनो वैश्वकर्मणम्। ग्रीष्मो मानसः। त्रिष्टुब् ग्रैष्मी। ०००० जमदग्निर्ऋषिः। ० ॥ ५५ ॥ अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम्। वर्षाश्चाक्षुष्यः। जगती वार्षी। ०००० जमदग्निर्ऋषिः ॥५६॥ यजु० अ०१३।५४—५६ ॥

अर्थः—यह पूर्वदिशा में विशेष प्रकट होने वाला [अग्नि का मुख्य लक्षण प्रकाश तथा दाह गुण है वह सदा ही सूर्योदय के साथ प्रकाश और दाह पूर्व-दिशा में आरम्भ होता तथा अग्नि के सम्बन्ध से ही आग्नेयी दिशा अग्निकोण कहाता है] जिस से सब कुछ उत्पन्न होता ऐसा अग्नि है । उस अग्नि से उत्पन्न हुआ, तथा भुवनामक अग्नि का अपत्य कार्यरूप प्राण भौवायन कहाता है [प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि " प्राणाग्नय एवास्मिन् पुरे जाग्रति " जब इस शरीररूप नगर में सब इन्द्रियादि प्रजा सोजाते अर्थात् निद्रारूप तमोगुण समुद्र में डूब जाते हैं तब केवल प्राणरूप अग्नि ही जागते रहते हैं और पहरेदार के तुल्य चालते हुए प्राणाग्नि चोर वा भक्षक वृकादि को जताते हैं कि यह जीवित है प्राणाग्नि के चलते रहने की स्वप्नदशा में भी उसी की रक्षा होती है । तात्पर्य यह है कि सत्वगुण की अधिकता में जागना और तमोगुण की अधिकता में निद्रा आलस्यादि हैं । अग्नि सत्वगुण प्रधान है इसी से उस का कार्य प्राण मनुष्य की स्वप्नदशा में भी जगा करता है । ऋग्वेद में भी लिखा है कि "अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते । " अग्नि ही सर्वत्र जागता है जिस को निद्रालस्य प्रमादादि अधिक नहीं दबाते वहां अग्नितत्त्व प्रधान है इसी कारण वह मनुष्य सत्वगुणी होने से प्रथम कक्षा में गणना के योग्य ब्राह्मण होता है] शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अग्निर्वै पुरस्तात्० अग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदं सर्वं भवति प्राणो हाग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ०" तथा—"वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत-गायत्रीं छन्दो वसन्तान्निरमिमीत (८ । १ । १ । ५) " वसन्त ऋतु को प्राण से बनाया क्योंकि उत्तरायण के बीच में प्राणशक्ति की प्रबलता स्वभाव से ही सृष्टि में होती और प्राणशक्ति के प्रबल होने का समय ही वसन्त ऋतु है इसी से प्राणायन नाम प्राण का अपत्य वसन्त है । और वसन्त ऋतु का अपत्य गायत्रीछन्द है । क्योंकि वसन्त ऋतु में ब्राह्मण ब्रह्मचारी को गायत्रीछन्द का उपदेश होता यज्ञोपवीत संस्कार वसन्त में ब्राह्मण का होना इसी कारण माना गया है कि अग्नि प्राण वसन्त और गायत्री ये सब प्रथम कक्षा के हैं और ब्राह्मण के साथ इन का मुख्य सम्बन्ध है । तथा—"प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनोएव वसिष्ठइति " प्राण का नाम वसिष्ठ ऋषि है क्योंकि जिस कारण वह सब इन्द्रियों में अति श्रेष्ठ है [देखो प्रश्नोपनिषद् का प्राणस्तुतिप्रकरण] अथवा सब शरीर में व्याप्त हो कर बसता है जब तक प्राण

शरीर में बसता है तब तक मनुष्य संसार में बसता है इस से प्राण को वसिष्ठ कहते हैं (अयं दक्षिणा विश्वकर्मा) यह दक्षिणदिशा के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाला संसारभर में होने वाले सब कर्म जिस से होते ऐसा वायु है । सब प्रकार की क्रिया चेष्टा सब शरीरादि में वायु से होती है (मनो वैश्वकर्मणम्) विश्वकर्मा वायु से उत्पन्न होने वाला मन है इसी कारण मन की अति शीघ्र गति है । मन से ग्रीष्म होता और वैसे ही ग्रीष्म के साथ त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध है ।

"अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते । एष हीदं सर्वं करोति । ०० मनो वै भरद्वाजऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति ॥ शतपथ० (८ । १ । १)"

सब कर्म करता वा कराता है इस से यह प्रत्यक्ष चलने वाला वायु ही विश्वकर्मा है । तथा भरद्वाज ऋषि मन वा कराता है । क्योंकि अन्न का नाम वाज है जो मन को धारण करता वह अन्न नाम वाज को भरता इस से भरद्वाज कहाता है । यहां दक्षिणदिशा, वायु, मन ग्रीष्म ऋतु और भरद्वाज ऋषि यह सब द्वितीय कक्षा के क्षत्रियपन की सामग्री है । छाती की अधिक पुष्टता होने से क्षत्रिय का मन अधिक पुष्ट होता है इसी से वह संग्रामादि में पूर्ण साहस वा निर्भयता रखता है । वाज नाम अन्न से प्रजा का विशेष भरण पोषण करना भी क्षत्रिय का काम है इस कारण भरद्वाज पद का क्षत्रियपन के साथ विशेष सम्बन्ध है । तथा (अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम्०) यह पूर्व में उदित हो कर पश्चिम में अस्त होने वाला आदित्य सूर्य विश्व नाम सब जगत् को प्रकाश पहुंचा कर निद्रादि से वञ्चित करता है । और सूर्य से उत्पन्न होने के कारण चक्षु सूर्य का सन्तान है । चक्षु का वर्षा ऋतु से और वर्षा का जगती छन्द से विशेष सम्बन्ध है । चक्षु का नाम जमदग्नि ऋषि है क्योंकि इस चक्षु से ही सब कोई देखता और जानता है इसी से चक्षु का नाम जमदग्नि है । शतपथ का प्रमाण यहां भी पूर्ववत् जानो । यहां पश्चिमदिशा, आदित्य सूर्य, चक्षु, वर्षा ऋतु और जगती छन्द इस सब तृतीय कक्षा की सामग्री का तृतीय कक्षास्थ वैश्य वर्ण के साथ प्रधान वा मुख्य सम्बन्ध है ।

ये सब प्रमाण दिग्दर्शन उदाहरण मात्र लिखे हैं वेदों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण हैं जिन का परिगणन करते जावें तो लेख का अन्त होना कठिन है इस लिये प्रमाणों का लेख समाप्त करके संक्षेप से एक और आशय लिखते हैं ।

ऊपर लिखे प्रमाणों का अर्थ यद्यपि वेद के पूर्वापर आशय को यथासम्भव समझ कर लिखा गया है इस कारण अर्थ में किसी प्रकार की भूल निकलने की सम्भावना नहीं है तथापि मनुष्य के अल्पज्ञ होने से कहीं कभी किसी अंश में भेद भी निकले तो भी जिस अंश को लेकर प्रमाण लिखे हैं कि वेद में सब वर्णों और उन ब्राह्मणादि वर्णों के धर्मों को मुख्य कर तीन कक्षा [दरजा] नियत की हैं और उन का यथासंख्य सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष ही मूल में दिखाया है । इस में किसी प्रकार का सन्देह त्रिकाल में भी नहीं उठ सकता और इस व्याख्यान में यही हमारा साध्य पक्ष था सो प्रमाण तथा युक्ति दोनों से सिद्ध है ।

अब एक प्रश्न यह और उपस्थित होता है कि जब मूल वेद से तथा युक्ति से दोनों प्रकार ब्राह्मणादि वर्णों के गायत्र्यादि छन्द भिन्न २ हैं तो मनु जैसे वेद के तत्वज्ञानी पुरुषने अपने धर्मशास्त्र में अन्य चिह्नों के भेद के साथ मन्त्रों का भेद क्यों नहीं रक्खा ? तीनों वर्णों के लिये एक ही सावित्री मन्त्र मनु ने क्यों लिखा ? । क्या तुम मनुजी से भी अधिक विद्वान् हो ? मनु जैसे धर्मशास्त्र ने नहीं लिखा इस से अनुमान होता है कि तीनों वर्ण के लिये एक ही मन्त्र होना चाहिये । इत्यादि ।

इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति भी लौकिक पुस्तक है किन्तु साक्षात् वेद नहीं है किन्तु अधिकांश विचार वेद का आशय लेकर लिखा गया है । कहीं २ लौकिक परिपाटी को देखकर भी लोकव्यवहार की व्यवस्था बांधने के लिये अनेक प्रकार का विषय लिखा गया है। और यह भी कोई विशेष प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकता कि मनुजी ने मन्त्रभेद अवश्य ही नहीं लिखा क्योंकि मनुजी ने कभी बहुत प्राचीन समय में मानवधर्म सूत्र नामक ग्रन्थ बनाया था कि जो कालचक्र के परिवर्त्तन से लुप्त हो गया जिस का शेष नाममात्र कहीं २ सुन पड़ता है कदाचित् उस में मन्त्रभेद लिखा हो और भृगुजी ने इस विद्यमान मनुस्मृति पुस्तक को बनाते समय विशेष उपयोगी न समझ कर इस पुस्तक में न रक्खा हो । और कदाचित् मनुजी ने भी न लिखा हो तो भी कोई दोष नहीं क्योंकि वेद में लिखे किसी विषय को न लिखने वा अधिक लिखने से वेद के

साथ कोई विरोध नहीं आता । वेद विरुद्ध उस का नाम है जो वेद में लिखे से सर्वथा उलटा लिखे वा वेद में लिखे अंश का खण्डन कर देना इन दो दशा में वेद के साथ विरोध कहा वा माना जा सकता है । अनुमान यह होता है कि भृगुजी ने जिस काल में मनुस्मृति पुस्तक बनाया तब भी लौकिक प्रवाह के अनुसार ब्राह्मणादि जातियों के समुदाय जन्म से ही माने जाते थे परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहाने वाली जातियों में अपने २ धर्म कर्मों के करने का बहुत अधिक प्रचार था क्योंकि वेदोक्त धर्म के अनुयायी राजा सब को अपने २ वर्ण के कर्म करने में प्रबल शासन करते थे इस से गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था माननी चाहिये इस विषय के आन्दोलन की विशेष आवश्यकता भी उस समय नहीं थी और उस समय ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों को (तत्सवितु०) इसी एक सावित्री मन्त्र का उपदेश संस्कार के समय होता था सब तीनों वर्ण इसी एक मन्त्र का जप करते थे सो वह प्रचार कुछ बुरा वा वेदविरुद्ध भी नहीं था और न अब कोई दोष है अर्थात् (तत्सवितुर्वरेण्यं०) मन्त्र का तीनों वर्णों को उपदेश हो तीनों इसी का यदि जप करें तो कभी किसी काल में कोई भी दोष नहीं है क्योंकि वेद में भी सब मन्त्र सब के लिये भी आते हैं क्योंकि तीनों वा चारो वर्णों के मनुष्यों में तीनों वा चारो वर्ण मिले रहते हैं चारो वर्ण के अङ्ग मिला कर प्रत्येक मनुष्यादि का शरीर बना है । प्रत्येक शरीर में शिर भाग ब्राह्मण, मध्य क्षत्रिय, नाभि से नीचे घोंटू तक का भाग वैश्य और घोंटू से नीचे पगों तक शूद्र का भाग है । जब सृष्टिभर के प्रत्येक प्राणी में चारो वर्ण मिश्रित हैं तो जिस में शिर वा मुख सम्बन्धी वेद का पठन पाठन वा धर्मोपदेशादि प्रधान हो और अङ्गों के काम गौण हों वह ब्राह्मण, जिस में बाहु वा छाती सम्बन्धी बल पराक्रम साहस शूरवीरतादि अधिक प्रबल हों तथा वैसे ही काम करने में अधिक तत्पर रहे अन्य ब्राह्मणादि के काम जिस में गौण हों वह क्षत्रिय, ऐसे ही जिस में वैश्यपन तथा शूद्रपन के कामों में जिस २ की स्वाभाविक विशेष तत्परता हो तथा अन्य वर्ण सम्बन्धी काम जिस में गौण हों वह २ वैश्य तथा शूद्र कहा जाय वा मानना उचित है यह वेद का सिद्धान्त है । जैसे इस सिद्धान्त के अनुसार सब में सब वर्ण व्याप्त रहते हैं वैसे ही सब मन्त्र सब छन्द सब के लिये हैं सब के पढ़ने पाठ करने जपने का सब को अधिकार है यह सामान्य वा उत्सर्गरूप सिद्धान्त है उस में यह विशेष वा अप-

वादरूप है कि गायत्री शब्द का अर्थ वाणी कर्म प्रधान होने तथा प्रथम कक्षा में गिनाने के कारण प्रथम कक्षा वाले ब्राह्मण के साथ गायत्री का विशेष सम्बन्ध है। ऐसे ही त्रिष्टुप् और जगती छन्दों का क्षत्रिय वैश्यों के साथ विशेष सम्बन्ध है। वा यों कहो कि ब्राह्मणपन के साथ गायत्री का क्षत्रियपन के साथ त्रिष्टुप् छन्द का और वैश्यपन के साथ जगती छन्द का विशेष सम्बन्ध है। जैसे सर्वत्र ही उत्सर्ग का सर्वांश में बाधक अपवाद नहीं होता किन्तु सामान्यांश में उत्सर्ग सदा ही चरितार्थ रहता है वैसे गायत्री आदि सब छन्दों का अधिकार भी सामान्य दशा में वैश्यादि को अवश्य ही मन्तव्य है। और वेद में यह स्पष्ट दीखता है कि गायत्री छन्द का सामान्य कर अग्नि देवता पिङ्गल सूत्र में लिखा है पर विशेष कर सैकड़ों गायत्रियों के सविता, इन्द्र, सोम आदि देवता लिखे हैं। ऋग्वेद के पावमानी सूक्तों में सैकड़ों गायत्रियों का सोम देवता है। अग्नि प्रथम कक्षा, इन्द्र द्वितीय कक्षा, और सोम तृतीय कक्षा का देवता है। यदि सामान्य नियम न होता तो सोम देवता गायत्री का न होता केवल अग्नि ही देवता होता इस से सिद्ध हो गया कि सामान्य दशा में सब छन्दों का सब को अधिकार है परन्तु यह भी ध्यान रहे कि विशेष दशा में जो प्रथम द्वितीय तृतीय कक्षाओं के साथ गायत्री आदि का विशेष सम्बन्ध है उस का खण्डन भी न हो हो सकता प्रयोजन यह कि हमारा पहिले से भी यह अभिप्राय कभी स्वप्न में भी न था न है कि गायत्री का अधिकार क्षत्रिय वैश्यों को पौराणिक लोगों के मन्तव्यानुसार नहीं है किन्तु हम शूद्र तक को पूर्व लेखानुसार अधिकार मानते हैं परन्तु ब्राह्मणादि कक्षाओं के लिये छन्द भी भिन्न,२ अवश्य हैं सो भी पूर्व यथावत् लिख दिया।

अब उपसंहार में सब लेख का सारांश यह निकला कि—हम अन्य पौराणिक लोगों के समान क्षत्रिय वैश्यों के लिये (तत्सवितुर्वरेण्य०) इस गायत्री का अनधिकार नहीं मानते किन्तु सब क्षत्रिय वैश्यादि मनुष्यमात्र के लिये सामान्य कर वेद के सब मन्त्रों को पढ़ने समझने जप पाठादि करने का जैसे अधिकार है वैसे ही इस मन्त्र के भी जपने आदि का अधिकार है। परन्तु विशेष कर अधिकार अनधिकार का यह अभिप्राय है कि जो जिस काम को ठीक २ साङ्गोपाङ्ग कर सकता उस के मर्म को जानता उस में स्वाभाविक रुचि रखता है उस कर्त्तव्य का उस को अधिकार है और जिस काम का जिस को अधिकार है वही उस को

ठीक २ कर भी सकता है अब इसी को यों कहो कि ब्राह्मण ही यौगिक अर्थ वाले गायत्री शब्द के वाच्यार्थ वाचिक धर्म को ठीक २ कर सकता है इस से उसी को अधिकार है अथवा जो वाचिक धर्म का मर्मज्ञ है तथा स्वाभाविक रुचि से वाणी सम्बन्धी वैदिकधर्म के अनुष्ठान में तत्पर है वही ब्राह्मण है। हमारे पाठक महाशय ध्यान देकर सोचें इस लेख में लेशमात्र भी किसी का पक्ष नहीं है और वास्तव में जो वेदानुकूल विचार वा लेख होगा वह सदा ही निष्पक्ष रहेगा वा जो सर्वथा पक्षपात रहित होगा वही वेदानुकूल होगा। हमारे इस लेख के अनुसार ब्राह्मणादि किसी जाति में उत्पन्न हो जिस में जैसी शक्ति वा योग्यता हो वह वैसे काम कर सकता है उन कामों का वह अधिकारी है और कर्मानुसार उस का वर्ण माना जायगा यही वेद का सिद्धान्त है। और जो जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उस को उसी वर्ण के नाम से वैसे गुण कर्म स्वभाव न होने पर भी पुकारना यह लोक परम्परा है।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रभेद का विचार मनुभाष्यादि किसी पुस्तक में हम लिखा वा लिखें सर्वत्र यही अभिप्राय था, है और रहेगा कि वेद में सब विषयों की तीन कक्षा और उन का यथासंख्य सम्बन्ध भी स्पष्ट दिखाया है तदनुसार ब्राह्मणादिपन के साथ गायत्री आदि छन्दों की भी कक्षा हैं और गायत्री आदि शब्द जातिवाचक हैं जिस को जिस अंश में जिस कारण (विश्वानि देव सवितर०) आदि गायत्री मन्त्रों का जैसा न्यायानुकूल अधिकार है उस को उस अंश में उसी कारण (तत्सवितुर०) इस गायत्री का भी वैसा ही अधिकार है। जैसे अन्य मन्त्र हैं वैसे यह भी है। वेद में लिखा होने के कारण उस का तत्त्वार्थ खोलने के लिये हम ने मन्त्र भेद पहिले और अब लिखा है किन्तु क्षत्रिय वैश्यादि को अनधिकार जताने के लिये नहीं। अब हम इस लेख को समाप्त करते हैं क्योंकि बढ़ाने का अन्त नहीं दीखता किन्हीं महाशयों को अब भी सन्देह रहे तो मुझ को कृपया पत्र द्वारा लिखें। इति—

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य भाग ७। अंक ११। १२। से आगे

भी उचित ही हो सकता है। प्रयोजन यह है कि वेद ईश्वर वाक्य है इसी कारण उस से अधिक पावन मनुष्य के लिये और कुछ नहीं। जब वेद के पठन पाठन से मनुष्य को धर्मादि सभी फल प्राप्त हो सकते हैं तो बड़ी भारी इष्टसिद्धि को छोड़ इधर उधर भागना हमारी मूर्खता नहीं तो और क्या है?। जब हम पर कोई संकट वा विपत्ति आकर पड़ती है तो हम इधर उधर को भागते अनेक अल्पज्ञ मनुष्यों की विन्ती करते हैं सैकड़ों रुपये डाकूर आदि को भेंट कर देते हैं पर यह कभी नहीं होता कि शुद्ध एकान्त में बैठ स्वयं शुद्ध हो कर वेदमन्त्रों द्वारा भक्ति के साथ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् से अपने दुःख का निवेदन करें वेद का जप पाठ होम करें करावें तो उस परमात्मा की साधारण कृपादृष्टि हमारे लिये पूरा कार्य सिद्ध कर सकती है जैसे किसी लक्षाधीश को एक कौड़ी किसी भिक्षुक को देना कुछ दिये के समान प्रतीत नहीं होती वैसे सर्व ब्रह्माण्ड के स्वामी के लिये हमारे बड़े २ कार्यों की सिद्धि भी एक तृण के समान भी नहीं है। तब हम अनन्तसर्वस्वधीश अपने स्वामी को भूल कर यदि साधारण अल्पज्ञ मनुष्यों के पास जा २ कर अपने दुःखों की निवृत्ति के लिये खुशामद करें तो क्या यह मूर्खता नहीं है? विचार कर देखें तो यही ज्ञात होता है कि हम को विश्वास नहीं है।

इस पर कोई सन्देह कर सकता है कि यदि कोई दृढ़ निश्चय करा देवे कि तुम्हारी विपत्ति अवश्य दूर हो जायगी तो हम वेद के जप पाठ होमादि द्वारा ईश्वर का ही आराधन करें अन्य ओषध्यादि उपाय न करें। तो इस का उत्तर यह है कि क्या ओषध्यादि उपाय से रोगादि विपत्तियों के दूर हो जाने का दृढ़ निश्चय तुम को हो गया है? क्या तुम किसी को निश्चय करा सकते हो कि अमुक ओषध्यादि उपाय से रोगादि आपत्ति अवश्य दूर हो जायगी। क्या तुम प्रतिज्ञा के साथ किसी उपाय से कोई आपत्ति अवश्य हटा सकते हो? यदि ऐसा हो तो किसी का अतिप्रिय इष्ट मित्रादि क्यों मरे? और ईश्वराराधन से तो ओषध्यादि उपाय का कुछ विरोध भी नहीं कोई ओषधि आदि करता रहे तो और भी अच्छा ही है। रहा यह कि कहीं अच्छा काम करने पर भी रोगादि विपत्ति दूर नहीं होती ईश्वर भक्ति जप पाठ होमादि द्वारा करते २

भी मनुष्यों का मृत्यु हो जाता वा महाकष्ट से वे नहीं बचते वहां जैसे रोग के अधिक प्रबल होने पर ओषधि का थोड़ा बल रोग को नहीं दबा सकता वह स्वयं रोग के बल से दबजाता है और कहीं वैद्य के अज्ञान से ओषधि ही उलटी हो जाती है अर्थात् वैद्यने जो रोग समझा वह रोग ही नहीं तो उस की ओषधि वहां काम ही नहीं देती वा रोग को और भी अधिक बढ़ा देती है वैसे ही जहां पूर्वजन्म वा इस जन्म के वा दोनों के प्रबल बहुत बड़े २ पाप संचित होते हैं जिन का फलरूप बड़ी विपत्ति मनुष्य पर आती हैं उन को हटाने के लिये इतना प्रबल वा अधिक लगातार जप तप पाठ होमादि द्वारा ईश्वराराधन किया जाय कि जिस का बल इतना अधिक बढ़ जाय जो उस संचित दुष्कृत को दबा सके तो विपत्ति वा दुःख अवश्य दूर हो सकता है। इस विषय में न्यायशास्त्र वालों का सामान्य कर यह सिद्धान्त है।

कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥

यह गौतम ऋषि के न्यायदर्शन का सूत्र है इस पर वात्स्यायन ऋषि ने बहुत सा विचार लिखा है उस का आशय यही है कि वेद में पुत्रेष्टि आदि अनेक यज्ञादि ऐसे लिखे हैं जिन का प्रत्यक्ष फल माना जाता है जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ करने से किसी निर्वंश पुरुष के घर में सन्तान उत्पन्न हो तो उस को वेद के परोक्ष में होने वाले बड़े २ फलों पर भी विश्वास हो सकता है कि वेद में लिखा सब विषय सत्य है यही "स्थालीपुलाक" न्याय कहाता है कि बटलोई में रंधते हुए चावलों में से एक दो चावल टोने से गल गये प्रतीत होने पर शेष बटलोई भर चावल का गल जाना निश्चित सिद्ध हो जाता है उस मनुष्य को ठीक २ विश्वास हो जाता, लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता तथा यदि एक दो न गले निकलें तो यह भी निश्चय हो जाता है कि अभी सब ही नहीं गले इसी के अनुसार यदि वेद का पुत्रेष्टि आदि विषय कोई मिथ्या निकले अर्थात् पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी किसी के पुत्र न हो तो क्या वेद को मिथ्या मान लेना चाहिये? इसी सन्देह के उत्तर में पूर्वोक्त (कर्मकर्तृ०) यह सूत्र लिखा है कि यज्ञ करने वा गर्भाधान क्रिया में कर्म कर्ता वा साधनों के दोष से जो काम नहीं होता उस का दोष मनुष्य अपनी मूर्खता से वेद पर लगाता है वेद का दोष नहीं वेद का एक २ अक्षर सत्य है। कर्म नाम क्रिया जिस प्रयोजन के लिये की गयी वह

विपरीत हो वा इतनी कम हो जिस से फलसिद्ध न हो सके यह क्रिया नाम कर्म का दोष, अज्ञानी मूर्ख दुराचारी अधर्मनिष्ठ पुरुष पुत्रेष्टि आदि यज्ञ कराने वाला हो यह कर्त्ता सम्बन्धी दोष तथा होम की सामग्री शुद्ध न की गयी हो मन्त्रों का ठीक उच्चारण न हो लकड़ी समिधादि ठीक न हों इत्यादि साधनगत दोष होते हैं। इन तीनों के वा दो के अथवा तीनों में से किसी एक के दोष जिस कार्य में प्रबल पड़ जाते हैं वह सफल नहीं होता वा इतना कम सफल होता है जो सफल हुआ नहीं माना जाता इस में मनुष्य की एक यह भी मूर्खता है कि अपने दोषों से जब कोई काम नहीं होता तो वह अपने दोष को वेदादि शास्त्र पर झोंकता है। क्योंकि साधन वा क्रिया में भी जो कुछ दोष होते हैं वे भी वास्तव में कर्त्ता के ही दोष हैं क्रिया तथा साधनों को चेतन कर्त्ता स्वतन्त्र होने से सम्हाल सकता-निर्दोष कर सकता है। पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्रोत्पत्ति हो सकती है इस का अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री पुरुषों में कोई एक वा दोनों असाध्य रोगी हों तो भी पुत्रोत्पत्ति हो जाय वा दोनों का संयोग हुए विना हो जाय किन्तु कुछ ऐसे कारण रुकावट के होते हैं जिन की निवृत्ति हो सकती है और वास्तव में असाध्यरोग कोई नहीं है किन्तु दो आना रोज की नौकरी करने वाले को जैसे लाख रुपये का काम कर लेना असाध्य है पर यदि वह किसी बड़े धनी वा राजा को अपने किये किसी प्रबल काम से इतना संतुष्ट करले जिस से शीघ्र उस को लक्ष रुपया मिल जाय तो वही काम उसी मनुष्य के लिये साध्य हो जाता है इस दशा में जो काम जिस से न बन सके जिस को जो न कर पावे वही उस के लिये असाध्य है। अर्थात् कहीं असाध्यरोग होने पर भी यजमान और यज्ञ कराने वाला आचार्य दोनों धर्मनिष्ठ हों और पुत्रेष्टि यज्ञादि ऐसा प्रबल उपाय लगातार तन मन धन लगा कर निरन्तर करें तो वहां क्रियमाण कर्म इतना प्रबल हो सकता है जो असाध्य रोगादि को दबा दे और शीघ्र ही अपना फल दिखा देवे। कर्त्ता कर्म और साधन तीनों में अधिकांश वा मुख्यांश के सुधार से कार्य की सफलता होती और वैसे ही तीनों के अधिकांश वा मुख्यांश के विगाड़ से कार्य बिगड़ता-निष्फल हो जाता है। जैसे लोक में तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि जिस काम को कोई शीघ्र सिद्ध करना चाहता है उस के लिये अत्यन्तवेग से दिन रात विशेष लाग के साथ लगातार उपाय करता है तो वहां पूर्व कृत कर्मों से

होने वाला प्रारब्ध भी एक कोने में अलग धरा रहता है और शीघ्र ही उस को शुभ कर्मों का फल मिल जाता है। परन्तु प्रारब्ध के प्रबल पक्ष में यह कह सकते हैं कि उस की बुद्धि पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार होती है और जैसी बुद्धि होती है वैसे ही कार्यों का आरम्भ भी उस से हो सकता है। जिन की बुद्धि प्रारब्धानुसार दूसरी ओर झुकी है जिस से वे गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं तो कैसा ही तंत्रध्वन के साथ चिल्ला २ के अतिपावन वैदिकधर्म उन को सुनावें वेद के पठन पाठनार्थ हम कितने ही बड़े २ लेख लिखें पर उन लोगों का जागना कठिन है। परन्तु हमारा चिल्लाना भी निष्फल नहीं है क्योंकि कोई २ कुछ २ तो अवश्य ही जागेगा तथा जो न जागेगा उस की निद्रा में विघ्न तो भी होगा और यदि हमारा चिल्लाना असीम [बेहद्द] बढ़ जाय तो अनेकों का जाग उठना भी सम्भव है इस से निरर्थक नहीं इस लिये महाशयो! ध्यान दीजिये कि यदि हमारा प्रारब्ध अधिक भी बिगड़ा हो तो भी हम पुण्यस्वरूप वेद कल्पवृक्ष की सघन छाया का आश्रय लेवें और वेदद्वारा परमात्मा का आराधन करें तो हमारा कल्याण अवश्य निस्सन्देह हो सकता है। योगभाष्य में व्यासदेव ने लिखा है कि—

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति। एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्। तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिव मपवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वः सुसूक्ष्मविषयोऽप्यापवर्गाच्छ्रद्धीयते ॥ ३५ ॥

अभिप्राय यह है कि यद्यपि उन २ वेदादि शास्त्र, शुद्ध हृदय के लोगों के अनुमान तथा आचार्य लोगों के उपदेश से जाना वह २ विषय सत्य ही होता है क्योंकि वेदादि शास्त्र अनुमान तथा आचार्योपदेशों में यथार्थ सत्य २ कहने का सामर्थ्य है। इस से ठीक निश्चित सिद्धान्त में कुछ भी सन्देह नहीं अर्थात्

जैसे सब वैदमतानुयायी वेद को यद्यपि सत्य निर्भ्रान्त मानते हैं तथापि जब तक उस शास्त्र में कहे किसी एक अंश को भी प्रत्यक्ष करके अपने इन्द्रियों से न देख लिया जाय कि जिस कर्त्तव्य का फल हम थोड़े काल में देख सकते हैं तब तक आगे को चलने के लिये अर्थात् मुक्ति आदि सूक्ष्म विषयों में बुद्धि को दृढ विश्वास नहीं होता कि यह ऐसा ही होगा इसी से मनुष्य अपने सुख की उन्नति और दुःखों की निवृत्ति ठीक २ नहीं कर पाता इस लिये वेदादि शास्त्र वा गुरु के उपदेशों पर विश्वास रखने वाले आर्य लोगों को अत्यन्त उचित है कि वेद-शास्त्रादि में कहे विषयों में से किन्हीं प्रत्यक्ष फल देने वाले कर्त्तव्यों का यथोचित मन वचन शरीर से विधिपूर्वक अनुष्ठान कर २ के प्रत्यक्ष फल प्राप्त करें जिस से आगे को श्रद्धा विश्वास बढ़ें दुःखों से हम बचें इष्ट की सिद्धि हो। इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि यद्यपि हम सब लोग मानते हैं कि वेद में जो कुछ लिखा वा कहा है वह सब सत्य निर्भ्रान्त है परन्तु शोच कर देखें तो इतने मात्र मानने से हमारा कुछ कल्याण नहीं होता यह केवल वेद का सामान्य मानना है और वेद का विशेष मानना यह है कि वेद में किन २ विषयों का किस २ प्रकार से वर्णन है हम अपनी आवश्यकताओं को वेद से किस २ प्रकार पूरा कर सकते हैं। हम किन २ अनिष्ट दुःखों से बचने के लिये सहस्रों उपाय करते रहते हैं तो भी विपत्तियों से छूटते नहीं, हम किन २ इष्ट सिद्धियों के लिये उपाय करते २ मरजाते हैं और प्राप्त नहीं कर पाते उन २ कर्त्तव्याकर्त्तव्यों की सिद्धि वेद से किस प्रकार हो सकती है। हम को निश्चय है कि जो काम सहस्रों वर्ष में भी किसी से सफल नहीं हो सकते वे सब वेद का आश्रय लेने वेदाकूल अनुष्ठान करने से सहज में हो सकते हैं यही वेद की ओर विशेष झुकना है। सो इस लिये वेद को पठन पाठनादि द्वारा जानना उस में कुछ अपना प्रवेश करना यह प्रथम कर्त्तव्य है इसी लिये हमारे नियमों में वेद के पढ़ने पढ़ाने को परमधर्म माना है।

यदि कोई कहे कि वेदोक्त कोई यज्ञ हम करें जिस का प्रत्यक्ष फल दीख पड़े तो वह अवश्य सफल हो कदापि निष्फल न हो इस के लिये क्या उपाय है? इस का उत्तर यह है कि जिस कर्त्तव्य को कोई करना चाहे उस को प्रथम दो विभागों में बांटे एक अनुकूल द्वितीय प्रतिकूल। अनुकूल की प्राप्ति में सर्वत्र

तथा सदा ही कुछ रुकावटें विरुद्ध रहती हैं उन की निवृत्ति की जाय। प्रत्येक विषय के कोई न कोई विरोधी होते ही हैं। कुछ उपाय इष्ट की प्राप्ति के लिये और कुछ इष्टविरोधियों को हटाने के लिये ऐसी लाग से हर बार उसी में चित्त लगा कर लगातार निरन्तर किये जावें और जब तक कर्त्तव्य का प्रत्यक्ष फल न हो तब तक कर्त्ता ही जावे। तो निश्चय है कि वह कार्य अवश्य ही सिद्ध हो जायगा। संसार में सर्वत्र यही नियम है कि जिस का जैसा शीघ्र प्रत्यक्ष फल देखना चाहो उस को वैही ही अधिक लाग से करो। इस के सैकड़ों दृष्टान्त लोक में मिल सकते हैं कहीं सौ कोश चलने के मार्ग को कोई अत्यन्त कम चलने और बीच २ में विशेष ठहरने वाला कदाचित् तीन वा छः महिने में पहुंचे, कोई दश दिन में तथा कोई पांच दिन में जा सकता और कोई रेल की डाकमें जाने वाला पांच छः घण्टों में जा सकता तथा इस से भी शीघ्र पहुंचने का साधन हो तो तीन चार घण्टे में भी कोई जा सकता है और कोई पहुंचने के साधन उद्योग वा इच्छा न करे तो जन्म भर में भी नहीं पहुंच सकता। इसी के अनुसार हम जैसे साध्यों का सञ्चय कर सकें जैसी हमारी लाग वा योग्यता हो वैसा ही शीघ्र वा देर में वह कार्य सफल हो सकता है यदि साधन लाग और योग्यता अति निर्बल हो तो सफलता नहीं भी हो सकती। इस अंश पर योग भाष्य में लिखा है कि--

तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षि महानुभावानामाराधनाद्वा यःपरिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशयः। १२ ।१२।

अर्थः---अन्य कामों से अत्यन्त विरक्त हो कर प्रतिक्षण उसी काम में ध्यान लगाकर अत्यन्त वेग से लगातार किये मन्त्रों के जप पाठ, तप और समाधि से सिद्ध हुआ अथवा ईश्वर देवता महर्षि तथा महानुभाव पुरुषों की आराधना वा विशेष भक्ति से जो सिद्ध हुआ वह पुण्य कर्म का वासना रूप संचय शीघ्र ही फल देने वाला हो जाता है। ऐसे प्रबल कर्म का शीघ्र ही प्रत्यक्ष फल देखने में आजाता है। इसी योग भाष्य के सिद्धान्तानुसार संस्कृत में एक श्लोक भी प्रचरित है-

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥

जिन पुण्य पापों को धीरे २ करने से सैकड़ों वर्ष में उनका फल प्राप्त हो सकता है उनको तेज़ी के साथ सेवन करने से तीन वर्ष में तीन महिने में तीन पाखों में वा तीनदिनों में अथवा इस से भी शीघ्र जैसा छोटा बड़ा काम हो तथा उस में जैसी लाग हो वैसा ही शीघ्र प्रत्यक्ष फल प्राप्त होसकता है । यह सब युक्तिप्रमाण दोनों से सिद्ध है । इसलिये हम को वेदोक्त कर्मों का प्रत्यक्ष फल देखने के लिये विशेष उद्योग अवश्य करना चाहिये जिस से आगे २ हमारी श्रद्धा बढ़ती जाय और हम मुक्ति पर्यन्त कल्याण के भागी हों । इस पञ्चम कर्त्तव्य का मुख्य सिद्धान्त यह हुआ कि भिन्न २ उद्देशों से हम यथोचित वेद के अनुष्ठान करें नाना प्रकार के यज्ञ करें उन सब को वेद के पठन पाठन के साथ में लगा के अपना परम धर्म मानें । वास्तव में विचार पूर्वक शोचने से प्रतीत होता है कि जो जिसका परम धर्म है अर्थात् विशेष कर अवश्य धारण करने योग्य है उसी से उसका परम कल्याण होसकता है और जिस कर्त्तव्य से जिसका सर्वोपरि कल्याण हो सक्ता है वही उसका परम धर्म है इसलिये वेद से अधिक हमारा कल्याणकारी कोई नहीं इसी से वेद का धारण करना हमारा परम धर्म है ।

वेद विषय में हम सब आर्यों का एक यह भी कर्त्तव्य है कि हम उसको साधारण दृष्टि से कदापि न देखें यह कदापि न मानें कि जैसे अन्य पुस्तक हैं वैसे वेद के भी पुस्तक हैं । वास्तव में वेद साक्षात् परमेश्वर की वाणी है इस में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रखना चाहिये । हम लोगों में अभीतक यह बड़ी न्यूनता है कि हम वेद को ज्यों का त्यों नहीं समझते इसी से हमारी अधोगति बनी है । हमारे पूर्वज ब्रह्मर्षि राजर्षि लोग तो वास्तव में वेद को यथोचित मानते समझते थे यह ठीक ही है परन्तु इस घोर आपत्काल में जब कि वेदों का लोप सा ही हो चुकाथा श्रीमत्परमहंस स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी वेद का तत्त्व अवश्य समझा तभी उन्होंने वेद के पढ़ने पढ़ाने आदि की ओर पूर्ण बल दिया । इस प्रसङ्ग में मनु जी के कई श्लोक हम लिखते हैं—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥१॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२॥

एकाग्र चित्त हो शुद्धि कर शुद्ध एकान्त स्थान में जाके अपनी शक्ति के अनुसार नियत किये समय तक प्रतिदिन जो पुरुष धर्म बुद्धि से श्रद्धा विश्वास के साथ वेद का अभ्यास करता पञ्चमहायज्ञों का नित्य सेवन तथा क्षमा शान्ति को धारण करता है उस के सब बड़े २ पातकों को भी उक्त काम शीघ्र नष्ट कर देते हैं। परन्तु वेदपाठी वेद का आशय वेदपाठ करते समय समझने की शक्ति रखता हो यह भी अत्यावश्यक है। क्योंकि बुरे नीच कर्मों के सेवन से जो हृदय में कुसंस्काररूप निकृष्ट वासना उत्पन्न होती हैं उन्हीं का नाम संचित पाप है उन का दूर होना ही पापों का नाश है। जिस घर में दीपक जलाया जायगा वहीं का अन्धकार दूर होगा। अतिपवित्र स्वरूप वेद के आशयों का जिस के हृदय में प्रचार होता है उस के भीतरी कपाट खुल जाते हैं हृदय के कुसंस्कार अन्धकाररूप पाप वेद का दीपक हृदय में जलते ही दूर हो जाते हैं। तथा जैसे तेज से प्रज्वलित हुआ अग्नि अपने समीप प्राप्त हुए इंधन को बहुत थोड़े काल में भस्म कर डालता है वैसे ही वेद को जानने वाला वेद के ज्ञानरूप अग्नि से हृदय के अज्ञानरूप सब पाप को भस्म कर देता है ॥२॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वन्तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥३॥

जगत् में जिस के पार पहुंचना दुस्तर है जिस अगाध समुद्र के पार किसी अन्य उपाय से नहीं पहुंच सकते जिस को किसी उपाय से प्राप्त नहीं कर सकते जिस स्थान में अन्य किसी मार्ग से नहीं पहुंच सकते अन्य मार्ग से चलें तो हिंसक जन्तु बीच में ही मारडालें तथा जिस दुष्ट कर्म को अन्य किसी प्रकार पूर्ण उपयोगी सिद्ध नहीं कर सकते वह सभी काम वा अभीष्ट तप से सिद्ध हो सकता है क्योंकि तप से होने वाले प्रबल फल में कोई विघ्न नहीं चल सकता सब विघ्न दब जाते हैं। सूर्य के प्रबल तेज के फैलते ही अन्धकार को भागने ही पड़ता है फिर अन्धकार को सूर्य के रोकने वा दबाने का सामर्थ्य नहीं रहता। यहां मनु जी ने तप की सर्वोपरि सत्य २ प्रशंसा की है और पूर्व द्वितीयाध्याय

में लिखा है कि " वेदाभ्यासोऽहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते । " ब्राह्मण के लिये नियम पूर्वक वेद का अभ्यास करना ही सर्वोत्तम तप है । तो इस से सिद्ध हुआ कि यह सब तप की प्रशंसा भी वेद के अभ्यास की ही प्रशंसा है तो वेद के अभ्यास का मनु जी ने कितना बड़ा गौरव माना है जिस से बड़ा अन्य कोई कर्त्तव्य प्रशस्त माना ही नहीं । वास्तव में वेद की यह प्रशंसा अत्युक्ति में कदापि नहीं माननी चाहिये । क्योंकि जब वेद ईश्वर का वाक्य है तो उस की प्रशंसा इस से भी कितनी ही अधिक कीजाय वह सभी सत्य होगी । सारांश यह है कि किसी वस्तु का समीप होनामात्र उस के लिये विशेष उपकारी नहीं होता क्योंकि यह नियम है कि—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

जिस का जिस के साथ अर्थ सम्बन्ध लगा है वह दूर देश में रहने पर भी उसी का होता वा रहता और जिस का जिस के साथ अर्थ सम्बन्ध नहीं वह समीप रहने पर भी सुख वा दुःख का कारण नहीं होता । जिस स्त्री पुत्र धन ऐश्वर्य मित्र बन्धु आदि के साथ प्राणियों का अनुराग सम्बन्ध लगा है उन के स्मरण मात्र से सुख उपजता और पत्रादि द्वारा उन का दुःख जान कर दुःख होता है । तथा मेला हाट बाज़ार आदि में सैकड़ों मनुष्य शरीर से शरीर मिलाते हुए भी निकलते रहते हैं पर किसी से किसी को कुछ भी दुःख वा सुख नहीं होता । इसी प्रकार वेद पुस्तक हमारे पास रहते हों वा नाम कहनेमात्र हम वेद को मानते हों तो इतने से हमारा विशेष कोई उपकार नहीं हो सकता वेद विषय में अर्थ सम्बन्ध यही है कि हम उस के वास्तविक सिद्धान्त वा आशय को जानते हों तो उस से हमारा यथायोग्य उपकार हो सकता है । इस लिये हम को अत्यन्त उचित है कि वेद के पठन पाठन के लिये हम सब आर्य लोग कटिबद्ध हो कर एक बुद्धि एक सम्मति से उद्योग करें तो कुछ काल में वेदोक्त धर्म का अच्छा उदय होने की सम्भावना है ।

इसी प्रसंग में हम सब महाशयों को यह भी जतादेना उचित समझते हैं कि वेद पर हमारा विश्वास ऐसा कदापि न है न होना चाहिये कि परमेश्वर के कर्त्तव्य वा उस की विद्या में मनुष्य अपनी बुद्धि से तर्क वितर्क कुछ नहीं

कर सकता अर्थात् आन्दोलन के साथ निर्णय करने का काम मनुष्य का नहीं कि वह ईश्वरीय विद्या में तर्क वितर्क करके कुछ सार निकाले । ऐसा आज कल के अनेक मतवादियों का विश्वास है कि जिस को हम ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं उस में जो कुछ लिखा हो उस को हम निर्विवाद् मानलें हम को अयुक्त भी प्रतीत हो तो भी हम विश्वास करलें कि यह आसमानी किताब है इस में तर्क करना हमारा काम नहीं । महाशयो ! यह हमारा मन्तव्य नहीं इस सिद्धान्त को हम कदापि ठीक न समझें । ऐसा सिद्धान्त मानना इस कारण प्रचरित हुआ है कि जिन लोगों ने इस सिद्धान्त को पहिले २ प्रचरित किया उन का माना पुस्तक वास्तव में ईश्वरीय धर्म पुस्तक नहीं एक साधारण जानकार मनुष्य ने बना लिया और उन सब को अपनी इच्छानुसार चलाने के लिये ईश्वरीय पुस्तक होने का बहाना कर दिया । वास्तव में प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा युक्ति से उन पुस्तकों को सत्य ठहराना वा समझना चाहें तो तीन काल में भी वे सत्य नहीं ठहरा सकते क्योंकि वस्तुतः वे पुस्तक ईश्वरीय नहीं हैं । उन्हीं से सीख कर वेदमतानुयायी भी अनेक लोग वेद को वैसा मानने लगे परन्तु ऐसा मानने वालों ने वास्तव में वेद के तत्त्व अभिप्राय को नहीं समझा यही प्रतीत होता है । क्योंकि संस्कृत का पठन पाठन रहते भी बहुत प्राचीन समय से लोगों को वेद में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी ऐसा अनुमान है तभी से वेद में लोगों के इतिहास भी समझने लगे । तथा जिन लोगों ने वेद को कुछ समझा जाना उन के वचन वा विचार भी वेद के लिये पुष्टि दिखाने वाले मिलते हैं जैसे कणादसूत्र—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक निश्चित निर्विकल्प विचार पूर्वक सत्य २ की गयी है तथा वेदान्त सूत्र—

शास्त्रयोनित्वात् ॥

सर्वविद्याओं के भण्डार महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का योनि नाम कारण होने से ब्रह्मपरमात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है । इत्यादि प्रकार जिन लोगों ने वेदों का कुछ तत्त्व जाना वे ऐसे अनेक वचन लिख गये हैं जिन से अब तक भी वेद का गौरव चला जाता है । हमारा प्रयोजन इस लेख से यह है कि हम अपने पाठकों को वेद की ओर झुकाना चाहते वेद की ओर उन का ध्यान क-

राना चाहते हैं वेद का विश्वास कराने के लिये हम बल देते हैं कि आप लोग अवश्य विश्वास करें कि वेद से अधिक हमारा कल्याणकारी अन्य कोई नहीं है। बड़ी २ महाघोर विपत्तियों से बचाने वाला वेद से भिन्न कोई नहीं यदि बड़े २ दुःसह क्लेशों से बचना चाहते हो यदि अनेक प्रकार के अभीष्टों की सिद्धि बड़े २ दुर्लभ सुखों का भोग चाहते हो तो वेद की ओर मुख फेरो हमारे कथन पर कुछ विश्वास करो प्रत्येक आनेवाली वा विद्यमान विपत्ति को दूर करने वा छेदन करने के लिये बड़ा भारी तीक्ष्ण शस्त्र वेद को मानो, जिन २ सुखों को प्राप्त होना तुम दुर्लभ समझते हो उन की प्राप्ति के लिये भी वेद का शरण लो वास्तव में ऐसा मानने पर हम कह सकते हैं कि वेद का पढ़ना पढ़ाना हमारा परमधर्म है क्योंकि जो जिस का परमधर्म है उसी को वह सर्वोपरि मानता उस से उस के अभीष्टों की सिद्धि होती अथवा यों कहो कि जिस कर्त्तव्य से जिस के मुख्य अभीष्टों की सिद्धि होती तथा जो जिस को सर्वोपरि मानता है वही उस का परमधर्म है जब तक हम वेद के पठन पाठन को सर्वोपरि अपना इष्टसाधक मान के वेदाध्ययन का विशेष उद्योग से आरम्भ नहीं करते तब तक वेदाध्ययन हम आर्य लोगों का परमधर्म नहीं है इत्यादि लेख से हमारे पाठक महाशय यह न समझें कि हम महुम्मदी वा ईसाई लोगों के समान आप को वेद पर विश्वास दिलाना चाहते हों क्योंकि वेद को हम स्वयं भी वैसा अन्य साधारण लौकिक लोगों के समान नहीं मानते किन्तु हमारा विश्वास तथा ठीक निश्चय है कि वेद सर्वथा युक्तियुक्त है वेद में कोई भी बात ऐसी निर्बल वा पोच नहीं जिस को सुन कर कोई चूं भी कर सके किन्हीं असंख्य तर्क वितर्कों से भी वेद का किञ्चित् भी खण्डन नहीं हो सकता। यद्यपि समस्त वेद को हमने अभी यथावत् नहीं जान लिया इसी कारण यदि वेद विषयक हमारे किसी लेख में आप लोगों को अयुक्त सी वा पक्षपात लिये कोई बात प्रतीत हो तो वहां आप लोग वेद का किञ्चित् भी दोष न मान लें किन्तु उस में हमारी अल्पज्ञता ही कारण समझें तथापि हम को स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल को टोकर सब के गल जाने का निश्चय हो जाने के समान) से हम को ठीक निश्चय तथा विश्वास हो गया है कि वास्तव में वेद सत्य है और निःसन्देह ईश्वर की वाणी है। जगत् में यह प्रसिद्ध है कि जैसे ऊंचे दर्जे का मनुष्य होता उस का कथन वा लेख भी वैसा ही गौरवयुक्त अतर्कणीय होता जिस में किसी को तर्क

[भाग ७ अङ्क ७ । ८ पृ० १६० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर]

एः त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् दिवः परि दिवः अधि द्युलोकात् । मुहूर्त्तं मुहूर्त्तकालं प्रति यत् यः त्रिः आगात् आगच्छति स्वैर्मन्त्रैः हूयमानो वा स्तूयमानो वा युगपद्यजमानानां यज्ञेषु अनृतुपाः अनियतसोमपानकालः सर्वदा यागोत्पत्तेः ऋतावा ऋतवान् यज्ञवान् येनासावेवमात्मानं विकरोत्येवं च दिवो मुहूर्त्तं त्रिरागच्छति तेनासावचिन्त्यप्रभावत्वाच्छक्नोति तत्तद्रूपमावेष्टुम् ।

भावार्थ—निरुक्त तथा तिस के भाष्यकार कहते हैं देवता जिस २ रूप के धारण करने की इच्छा करता है सो सो होता है । और इस में । ऋ० मं० । ३ अ ४ । सू ५३ । मं० ८ । मन्त्र भी प्रमाण है इन्द्र देवता जिस २ रूप की कामना करता है तिस २ रूप को प्रतिबन्धरहित धारण करता है । और पुनः रूपको प्रादुर्भाव करता है । क्योंकि माया नाम अपने संकल्प को करता हुआ अपने तनु नाम शरीराकृति को अनेक प्रकार से प्रगट करता है और देखना चाहिये तिस इन्द्रदेवता का प्रभाव एक मुहूर्त्त काल परिमाण में तीन वार स्वर्ग से अपने मन्त्रों करके हूयमान तथा स्तूयमान हुआ आता है और यजमानो के यज्ञों में सर्वदा काल नियम विना हो सोमपान करता है ऋतावा नाम ऋतवान् अर्थात यज्ञवान् है जब ऐसे अचिन्त्य प्रभाव युक्त है इस से तिस २ रूप के धारण करने में समर्थ है इस स्थान में यह वार्त्ता निश्चित होगयी जो कि मन्त्रों करके स्तूयमान देवता अपने भक्तजन के समीप पूजा के आधार यज्ञकुण्ड वा मृण्मयादि मूर्त्ति में अवश्य आते हैं ॥ इसी वास्ते महाभाष्यकार पतंजलि ऋषिने पूजा का वाचक " नमस्यति देवान् " ऐसा कहकर द्वितीयादि विभक्ति होने वास्ते विचार करा है । क्योंकि भाष्यकार जानते हैं जो मन्त्रों से आवाहन करके देव पूजा होती है इस से नमस्यति देवान् यह शब्द प्रयोग करते हैं ।

यहां यह प्रकरण पूर्व था जो परमात्मा के अंश ब्रह्मादि हैं उस में रुद्रविभूति निर्णय में दयानन्द की शंका निरास वास्ते नमः शब्द का विचार प्रसंग प्राप्त होगया ॥ और जगत् की पूर्व अवस्था परमेश्वर के आधीन है यह निर्णय करा । यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा की उपनिषद् से और परमेश्वर के आश्रित विचित्र शक्ति तमःशब्दप्रतिपाद्य जगत् रचना कराने में हेतुरूप का भी स्वतन्त्र जड़ प्रकृति कारण वाद के निरास वास्ते निर्णय करा क्योंकि परमेश्वर में अंश

अंशी भाव का निर्वाहक विचित्रशक्ति ही है और वास्तव तो अद्वैत है अर्थात् जीव परमात्मा का अभेद है और औपाधिक द्वैत है व्यावहारिक कर्म उपासना में उपयोगी यह भी निर्णय होगया श्रुतिसूत्र से ।

उत्तर—ऊपर लिखे निरुक्त का यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर स्वयं भिन्न २ रूपों को धारण करता है और न यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा वा इन्द्र देवता उस के अंश हैं यदि ऐसा हो तो परमात्मा एक रस भी न रहा तथा उस को एक रस, निर्विकार, निराकार प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों और उपनिषदों का क्या अर्थ करोगे ? यथार्थ निरुक्त के उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ यह है । यथा—

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मघवा बोभवीति इत्यपि निगमो भवति । निरु० अ० १० पा० २ ख० ॥४॥

अर्थ—जिस २ रूप की परमात्मा बनाने की इच्छा करते हैं वह वह देवता होता है अर्थात् परमात्मा जिस २ देवता को जिस २ रूप में बनाना चाहते हैं बनाते हैं उन की कामनामात्र से यह विचित्र सृष्टि सूर्य्यादि ३३ देवतों से युक्त बनी है। इस विषय में निरुक्तकार नीचे लिखे ऋग्वेद के मन्त्र का प्रमाण देते हैं । यथा—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् । त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ऋ० मं० ३ अ० ४ सू० ५३ मं० ८ ॥

पदानि—रूपम् । रूपम् । मघवा । बोभवीति । मायाः । कृण्वानः । तन्वम् । परि । स्वाम् । त्रिः । यत् । दिवः । परि । मुहूर्त्तम् । आ । अगात् । स्वैः । मन्त्रैः । अनृतुपाः । ऋतावा ॥

अन्वयः—यत् अनृतुपा ऋतावा स्वां तन्वं परि मायाः कृण्वानः सन् मघवा स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्त्तं दिवस्त्रिः पर्य्यागात् रूपंरूपं बोभवीति ॥

(यत्) जो कि (अनृतुपाः) किसी विशेष ऋतु में ही नहीं किन्तु सदा सोमादि ओषधिरसों का पीने वाला (ऋतावा) ऋत नाम उदक वा जल वाला [सोमादि ओषधियों का रस रूप जल जिस के किरणों में पृथिवी से उड़ कर आता है । ऋतम्=उदकम् निघं० १ । १२] (स्वां तन्वं परि) अपने पिण्ड देह के चारों ओर को (मायाः कृण्वानः) बुद्धियों को करता हुआ [प्रकाश से तमः

निवृत्त हो कर बोध बुद्धि का जागरण होता है, रात्रि में अन्धकाररूप-तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है, निद्रा में बुद्धि तिरोभूत हो जाती है, सूर्य्य अपने उदय से फिर बुद्धियों को प्रादुर्भूत करता है। माया=प्रज्ञा, (बुद्धिः) निघं० ३। १०] (मघवा) इन्द्र=सूर्य्य (स्वैर्मन्त्रैः) इन्द्रदेवता वाले मन्त्रों से (दिवः) सूर्य्य लोक और जहां तक उस का प्रकाश जाता है वहां से (मुहूर्त्तम्) क्षण मात्र में (त्रिः) प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन और सायंसवन यज्ञ के तीनों सवनों में तीनों बार (परि आ अगात्) व्याप्त होता है (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप को (बोभवीति) अतिशयता से हुवाता है अर्थात् बनाता है [सूर्य्य आग्नेय है अग्नि की तन्मात्रा रूप है इसलिये प्रत्येक रूप सूर्य से उद्भूत होता सूर्य्य के विना रूपोत्पत्ति नहीं हो सक्ती, आंख से रूप देखते हैं आंख का भी इन्द्र देवता है तथा इन्द्र की सहायता से ही आंख देख सक्ती हैं इन्द्र उस देवता का नाम है जो सूर्य अग्नि दीपकादि समस्त चमक वाले पदार्थों में चमक है] आशय यह है कि परमात्मा अपनी इच्छा से इन्द्र देवता अर्थात् चमक को बनाते हैं वह चमक मुख्य कर अधिकता से सूर्य्य में रहती है अतः सूर्य्य को भी विशेष कर इन्द्र कहते हैं वही इन्द्र हर एक रूपवान् पदार्थ में रूप का कारण है उस के विना कोई रूप नहीं हो सक्ता इसलिये वही सब रूपों को बनाता है यह कहा गया। अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इस से किसी देवता का सुवर्णमयादि मूर्त्ति में ही आना सिद्ध नहीं होता किन्तु मूर्त्ति ही क्या सभी रूपवान् पदार्थों में इन्द्र देवता जिस का नाम चमक है विराजमान है परन्तु ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेदभाष्यभूमिका में इन्द्रादि ३३ देवता अवश्य माने हैं परन्तु वे परमात्मा के तुल्य वा कुछ न्यून भी उपास्यदेव नहीं हो सकते क्योंकि जड़ हैं। कोई साधुसिंह जी से पूंछे कि महात्मा जी! इस से शुद्ध अद्वैत और व्यावहारिक द्वैत क्या सिद्ध हुआ कुछ भी नहीं ॥

फिर पृष्ठ ७६ से ८० पर्य्यन्त साधुसिंह लिखते हैं कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ब्रह्म जीव प्रकृति को अनादि मानते हैं सो ठीक नहीं। क्योंकि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य

शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० १

इस मन्त्र से सिद्ध है कि जब सत्त्व रजः तमः ये तीनों गुण न थे तौ प्रकृति का अनादित्व नहीं रहा, " कस्य शर्मन् " का तात्पर्य यह है कि किस का सुख था किसी का नहीं अर्थात् सुखादि का भोक्ता जीव भी नहीं था किन्तु केवल ब्रह्म ही जगत् की पूर्वावस्था में था अन्य कुछ नहीं इस लिये तीन पदार्थ अनादि नहीं ॥

उत्तर—यद्यपि साधुसिंह जी के किये अर्थ में रजः शब्द से तीनों गुणों का अभाव मानना आदि प्रमाणशून्यता भी है परन्तु थोड़ी देर के लिये हम उन के अर्थ को अक्षरशः स्वीकार भी कर लें तब भी उन का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता क्योंकि सत्त्व रजः तमः इन तीनों को अनादि नित्य न तौ स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने लिखा न आर्य्यसमाज मानता है किन्तु इन तीनों गुणों की साम्यावस्था जिस में कि ये तीनों गुण लय को प्राप्त हो जाते हैं जिस का नाम अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति वा उपादानकारण है उस प्रकृति को हम अनादि मानते हैं । तीनों गुण उस प्रकृति का कार्य्य हैं कार्य जब अपने कारण में लीन हो जावे तब कौन कह सकता है कि यह नित्य है इस लिये कारण ही नित्य माना जाता है और स्वामी जी ने भी माना है तथा आप भी स्वयं पृष्ठ ७८ पं० १२ में मानते हैं कि " कोई अव्यक्त अवस्था होती भयी " ठीक है, भूत वही जो सिरचढ बोले, इस कहावत के अनुसार साधुसिंह जी स्वयं बकार उठे । महात्मन् ! अव्यक्त को तौ आप लिखते ही हैं, अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति एकार्थ हैं तब तौ आप ही ने प्रकृति की नित्यता लिखदी, रही यह बात कि रजः शब्द से आप आप के किये अर्थ के अनुसार " तीनों गुण न थे „ इस से प्रकृति न थी यह तो ऐसी ही बात है जैसे कोई कहे कि घड़ा न था तौ मिट्टी का भी अभाव ही था !!! देखिये वैशेषिकदर्शन में कणाद ऋषि क्या लिखते हैं—

कारणाभावात्कार्य्याभावः ॥ न तु कार्य्याभावात्कारणाभावः ॥

कारण के अभाव से कार्य का अभाव है न कि कार्य के अभाव से कारण का अभाव । जैसे मृत्तिका के अभाव से घट का भाव नहीं हो सकता परन्तु घट के अभाव से भी मृत्तिका का भाव हो सकता है । साङ्ख्याचार्य कपिल जी स्पष्ट जगत् की प्रथमावस्था प्रकृति को नित्य मानते हुवे लिखते हैं कि—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्. महतो हङ्कार० इत्यादि ॥

यदि प्रकृति नित्य नहीं तो क्या साधुसिंह जी बता सकते हैं कि कपिलदेव जी ने प्रकृति का भी कोई अन्य कारण क्यों नहीं लिखा अथवा आप सांख्य-शास्त्र को नहीं मानते जैसा कि अद्वैतवादी प्रायः नहीं माना करते और पांचों दर्शनों का खण्डन करते हैं और अपने कल्पित अर्थों के अनुसार केवल वेदान्त दर्शन को ही मानते हैं !!

दूसरी बात आप यह लिखते हैं कि महाप्रलय में भोक्तृत्व भी नहीं था इस से जीवात्मा की नित्यता नहीं है। इस का उत्तर यह है कि—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ न्यायसूत्र ११

चेष्टा इन्द्रिय अर्थ इन का आश्रय शरीर कहाता है महाप्रलय में इन्द्रियां न थीं अतएव शरीर न थे जब शरीर न थे तो भोग भी न था क्योंकि—

भोगायतनं शरीरम् ॥

भोग का स्थान शरीर है। जब भोग न था तो यह ठीक है कि भोक्तृत्व नहीं था परन्तु इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि जीवात्मा की सत्ता ही न थी। फिर वही बात आती है कि जीवात्मा एक द्रव्य है देहसंग से भोग उस का काम है। जैसे देवदत्त भोजन करता है तो क्या जिस काल में भोजन नहीं करता उस कालमें देवदत्त भी नहीं रहता ? यथार्थ में दर्शन शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग हैं उन का सिद्धान्त विना जाने वेद का सिद्धान्त जानना साधुसिंह जी को दुःसाध्य ही है। तात्पर्य्य यह है कि महाप्रलय काल में भोगायतन शरीरों के अभाव से जीवात्मा कर्मफलभोग नहीं करते परन्तु जीवात्मसत्ता अवश्य रहती है। जीवात्मसत्ता भी नहीं थी यह बात आप के किये अर्थ से भी नहीं निकलती अतएव श्रीस्वामी दया० जी का सिद्धान्त ब्रह्म जीव प्रकृति इन तीनों को नित्य मानना वेद शास्त्रों के अनुकूल ठीक है।

पृष्ठ ८० में साधु सिंह जी लिखते हैं कि " जो कहीं प्रकृति को अनादि कहा है सो ब्रह्म आश्रित प्रकृति को अनादित्व कहा है "

उत्तर—क्या श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी वा आर्य्यसमाजें प्रकृति को ब्रह्मा-श्रित नहीं मानते ? अवश्य मानते हैं क्योंकि ब्रह्म चेतन सर्वशक्तियुक्त है और

प्रकृति जड़ तथा जीवात्मा अल्पशक्तियुक्त हैं, इस दशा में जड़ चेतनाश्रित होता है तथा अल्पशक्तियुक्त जीवात्मा भी सर्वशक्तियुक्त परमात्मा के आधार वा आश्रय में ही रहते हैं। तब तौ आप साधुसिंह जी मानो स्वयं सत्य सिद्धान्त को अपने मुख से ही पुष्ट करते हैं क्योंकि नवीन वेदान्ती तौ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता को प्रलय काल में ही क्या वर्त्तमान सृष्टि काल में भी नहीं मानते सब को अपनी मिथ्याबुद्धि से मिथ्या समझते हैं ॥

फिर ८० पृष्ठ की पङ्क्ति ५ से आगे-

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० २ ॥

इस मन्त्र से सिद्ध करते हैं कि उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न था अर्थात् जीव प्रकृति अनादि नहीं हैं ॥

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ यह है कि-(तर्हि न मृत्युरासीत् न अमृतम्) तब न मौत होती न जिन्दगी, अर्थात् न तौ संसार के प्राणिवर्ग मृत अवस्था में रहते न अमृत अवस्था में किन्तु सर्वतःसुप्त सी विलक्षण दशा में रहते हैं (न रात्र्याः अह्नः प्रकेत आसीत्) न रात्रि वा दिन का चिह्न, रात्रि के चिह्न चन्द्र तारादि कुछ नहीं रहते तथा दिन के चिह्न सूर्यादि कुछ नहीं रहते, किन्तु (तत् एकम् अवातं स्वधया [सहितम्] आनीत्) वह एक निश्चल स्वधासहित जीवित रहता है। स्वधा शब्द का हम भी वही अर्थ स्वीकार करते हैं जो साधुसिंह जी ने पृष्ठ ८१ पं० २ में किया है कि-स्वमात्मानं परमेश्वरे धारयतीति स्वधा अर्थात् अपने आप को परमेश्वर के आधार में रखने वाले प्रकृति और जीवात्मा स्वधा हैं। तत्सहित एक ब्रह्म रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि अपने आधार आप तौ एक ब्रह्म ही है किन्तु ब्रह्म के आधार में (अपने आधार में नहीं) जीवात्मा और प्रकृति भी रहते हैं (तस्मात् ह परः अन्यत् किञ्चन न आस) उस पूर्वोक्त स्वधासहित ब्रह्म से परे अन्य कुछ नहीं रहता। इस से अगला मन्त्र इस बात को और भी स्पष्ट करता है। यथा-

तमआसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् । तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तमसस्तन्महिनाऽजायतैकम् । ऋ० मं० १० अ० ११ सू १२९ मं० ३ ॥

(अग्रे तमः आसीत्) प्रलयकाल में अंधियारा रहता और (इदं सर्वमप्रकेतं सलिलम् आ तमसा गूढम्) यह सब, चिह्नरहित अदृश्य जल सा अंधियारे से आच्छादित रहता है । जैसे जल वाष्परूप हो कर फिर आकाश में अदृश्य अप्रकेत हो जाता है वैसे जगत् भी अव्यक्त भाव में होता है (यत् आभू तुच्छेन अपिहितमासीत्) जो जगत् तुच्छ अर्थात् सूक्ष्म अव्यक्तभावापन्न तम से आच्छादित होता है (तत् एकम् तमसः महिना अजायत) वह एक अन्धकारावृत अवस्था के पश्चात् महत्तत्त्वरूप से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति सब से प्रथम हुवा करती है जैसा कि ऊपर सांख्य सूत्र से हम सिद्ध कर आये हैं । इस मन्त्र में यह कहा है कि प्रथम प्रकृति रहती है उस से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । अब इस से अगले मन्त्र में यह कहा जाता है कि महत्तत्त्व से काम अर्थात् अहङ्कार की उत्पत्ति होती है । यथा-

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा । सू० १२९ मं० ४

(तदग्रे कामः समवर्त्तत) उस महत्तत्त्व के पश्चात् काम अहङ्कार उत्पन्न होता है उसी को मन भी कहते हैं (मनसोरेतः प्रथमम् यत् आसीत्) उस मन का बीज पूर्व था । (पूर्व कल्प में किये प्राणियों के कर्मों से अभिप्राय है) अर्थात् जगदुत्पत्ति का बीज कारण पूर्व कल्प के कर्म होते हैं उन्हीं के भोगवाने के लिये परमात्मा सृष्टि रचते हैं । उत्तरार्द्ध मन्त्र में यही स्पष्ट करते हैं (कवयो मनीषा मनीषया हृदि प्रतीष्य असति सतो बन्धुं निरविन्दन्) विद्वान् लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके असत्=अप्रतीयमान अवस्था में, सत्=प्रतीयमान जगत्

के बन्धु=सहायक कर्म को जानते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्वकल्पकृत कर्म सहायक वा कारण बनते हैं निष्प्रयोजन जगद्रचना नहीं होती है। इस सब से यह सिद्ध हुवा कि ब्रह्म, प्रकृति, जीव और जीवों के कर्मों का प्रवाह अनादि है ॥

हम आज अपने पाठकों के अवलोकनार्थ यहां एक शास्त्रार्थ लिखते हैं। प्रश्न यह है कि यदि बुद्धि वा ज्ञान जीवात्मा का गुण है और जीवात्मा प्रकृतिजन्य पदार्थ नहीं तो बुद्धि भी प्रकृतिजन्य पदार्थ नहीं परन्तु उपरोक्त मन्त्रों और सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त से यह प्रतीत होता है कि प्रकृति से महत् और महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है अहङ्कार की [(मन्वानो मनो भवति) १–मानता हुआ मन (बोधयन्बुद्धिः) २–बोध वा समझता हुआ बुद्धि (चेतयंश्चित्तम्) ३–सोचता हुआ चित्त और (अहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारः) ४–मै मेरा आदि प्रतीत करता हुआ अहङ्कार] ये चार अवस्था हैं तो बुद्धि भी अहङ्कार की अवस्थाविशेष होने से एक ही है तो यह संशय होता है कि यथार्थ बात क्या है अर्थात् बुद्धि प्रकृतिजन्य है वा आत्मा का गुण है।

उत्तर–यद्यपि आत्मा में मानना समझना सोचना और मैं मेरा आदि प्रतीति का सामर्थ्य है इस कारण ये सब आत्मा के गुण हैं तथापि महत् अहङ्कारादि प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थों की सहायता विना संसार में वे गुण अभिव्यक्त वा प्रकट नहीं होते। जैसे आत्मा में देखने का सामर्थ्य है परन्तु आंख जो प्रकृति से बनी है उस की सहायता विना कोई जीव किसी प्राकृत द्रव्य को नहीं देख सकता और यद्यपि आत्मा में श्रवण शक्ति है क्योंकि जब आत्मा का देह से वियोग हो जाता है तब "कारणाभावात् कार्य्याभावः" के अनुसार सुनना आदि व्यवहारों का अभाव हो जाता है तथापि कोई जीव किसी शब्द को श्रवणेन्द्रिय की सहायता विना जो प्रकृति से बनी है नहीं सुनसक्ता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों पर समझो।

जैसे यद्यपि आत्मा में देखने सुनने सूंघने चखने छूने का ज्ञान है तब भी वह प्राकृत पदार्थों के अनुभव करने में प्राकृत इन्द्रियों की सहायता विना असमर्थ है, वैसे ही बुद्धि आदि निज गुणों के रहते भी आत्मा को प्राकृत पदार्थों के मानने समझने सोचने ममता करने में प्राकृत अहङ्कार की सहायता भी आवश्यक है।

(शेष आगे–ह० तुलसीराम स्वामी)

२०४ पं० सीताराम जी मुम्बई १।)
११६६ बा० राजाराम जी अगसौली १।)
८८१ बा० घनश्यामदास जी कानपुर १।)
४४३ पं० महावीरप्रसाद जी दुबे धर्मपुर २॥)
६४५ पं० जेठमल शर्मा हैदराबाद २॥)
८२५ श्री० मूलचन्द फतहचन्द हैदराबाद–सिंध २॥)
३२९ पं० रघुबरदयालु जी गुसिरापुर २॥)
४७८ बा० छेदालाल जी नगलिया उदयभान २॥)
४३८ ला० नन्दकिशोर जी भूपाल २॥)
४९४ बा० रामजीमल भार्गी मुजफ्फरपुर २॥)
१०२६ श्री० भगवानदास जी टांडा २॥)
१०२१ बा० रंगूराम जी सीबी २॥)
८४९ ला० हीरानन्द जी भेरा २॥)
४९५ पं० कालीचरण जी शाहाबाद २॥)
१०३७ पं० जगन्नाथ जी सीबी २॥)
९२६ बा० रामलाल जी झंग २॥)
८८४ श्री० महाराजसिंह सराय प्रयाग २॥)
९८६ बा० लक्ष्मणस्वरूप जी मैनपुरी २॥)
७९९ ला० देशराज जी शाहपुर २॥)
८६२ श्री० निवासराय जी धाराशिव २॥)
१००३ श्री० कन्हैयालाल बिलहा २॥)
८३० पं० मेवाराम शर्मा क़िला बिहार २॥)
३१३ पं० मक्खनलाल पचरावां ३।॥)
८३५ पं० भगवन्त शर्म्मा नवाबगञ्ज २॥)
७७६ ला० रामप्रसाद जी बान्दा २॥)
८७९ पं० हरिशंकर जी नगीना २॥)
३८२ बेनीप्रसाद शिवरीनारायण २॥)
१७८ प्रतापसिंह राणा काठगोदाम २॥)
१०७४ बा० बसन्तलाल जी पटना १।)
९६९ बा० भद्रसेन वर्म्मा मुढ़ी २॥)
६३३ कृष्णसिंह नौबतराय २॥)
८८९ श्री० लालचन्द्र जी विष्णुपुर २॥)
८८६ कामताप्रसाद हैदराबाद सिंध २॥)

धन्यवाद ॥

बा० चण्डीप्रसाद जी इटावा ४) पं० दक्षीलाल जी इटावा ४) मास्टर गुन्दीलाल जी इटावा १।) पं० जगन्नाथ जी सुकुल इटावा वर्ष भर के ३) श्री जंगसिंह जी जमींदार गढिया छिजकौरा दो बार में ३) मुं० माधवराम जी कानूनगो बदायूं २) जीरामजी सुनार सौजणी २) ला० लक्ष्मीनारायण जी सेक्रेटरी कायस्थ सभा बदायूं पुत्र के विवाहोत्सव में दान २) चौधरी साहब पद्मसिंह जी सुन्दरपुर इटावा ९॥) कुंवर तुकमानसिंह जी डिपटी कलेक्टर इटावा ४) बा० हीरालाल जी इटावा ५) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा २) पं० तुलसीराम जी स्वामी इटावा १।) पं० बनवारीलाल जी तहसील इटावा ॥) भीमसेन शर्मा इटावा ९॥।=) डाक्टर प्रभुलाल जी इटावा ४) श्री फूलासिंह जी छावनी मियामीर १=) छेदालाल जी बजाज इटावा १) कन्हैयालाल जी इटावा १) पं० रामजीमल जी इटावा २) बा० शिवचरणलाल जी वकील इटावा १॥) पं० ख्याली-

राम जी चतुर्वेदी इटावा १) श्री गणेशीलाल जी वैश्य इटावा ४) बा० कालिकाप्रसाद सिंह जी मुंसिफ इटावा १) मुंशी गंगासहाय जी इटावा ३) बा० बलदेवप्रसाद जी सुपरवाईजर बांदा मई जून जुलाई के ६) नन्दकिशोर जी घड़ीसाज इटावा १) पं० रामनारायण शर्मा अजमेर १०) पं० मातादीन जी वकील इटावा १) श्री नन्दकिशोर विद्यार्थी जमुई १०) श्रीयुत घनश्याम दास जी कलकत्ता १०) पं० शिवराव मंगीश शर्मा मजेश्वर १॥=)॥ पं० छालचन्द जी मिश्र दालागंज १) बा० हनुमान्प्रसाद जी लखनऊ १) पं० लेखराज जी ओवरसियर इटावा ३) बा० घनश्यामदास जी कानपुर ४।) श्री दुर्गाप्रसाद जी अहार १०) बा० रामप्रसाद जी मुंसरम इटावा =)। बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा २) श्री सत्यनारायणदास जी पटना ।) बा० बसन्तराय जी वैश्य पटना ।) चौ० गदाधर सिंह जी भारौल ३) टीकाराम विद्यार्थी नदौली १) मुं० गयाप्रसाद, केदारनाथ तथा रेवतीराम जी आदि ने श्रद्धा से चन्दा कर भेजे १८॥) स्वा० सुन्दरानन्द स्वर्गवासी मरते समय कलकत्ते में दे गये थे १॥) पं० रामकिशोर जी कलकत्ता १) रामप्रताप वंशीधर जी फर्रुखाबाद ५) बा० गणेशप्रसाद जी मुहर्रिर उन्नाव २) बा० पूर्णसिंह जी इटावा ॥) यह सब १६७)॥। जून जुलाई अगस्त सितंबर इन ४ मास में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुआ परमात्मा सहायता करने वालों को अभ्युदय और श्रद्धा देवें । उक्त ४ मास में १८२॥।)॥। इस प्रकार व्यय हुआ—८६।=)॥। पं० श्यामलाल शर्मा अध्यापक को ४ मास और १० दिन मई का वेतन २॥) सुन्दरलाल द्वि० को हिसाब पढ़ाई का प्रतिमास १) दिया जाता है तन्मध्ये. कहार को प्रतिमास एक १) दिया जाता है तन्मध्ये ४) चिट्ठी पत्र कागज तैलादि फुटकर मध्ये ३॥-)॥। शेष ७०॥।)। पांच विद्यार्थियों के भोजनादि में व्यय हुआ परन्तु सितंबर मास में २ विद्यार्थी कुछ दिन ५ के अतिरिक्त रहे उन का व्यय अनुमान ५॥) भी इसी में है ॥

सूचना ॥

सब पाठक महाशयों को विदित हो कि आर्यसिद्धान्त में जो आर्यसमाज का भावीकर्त्तव्य के नाम से लेख छापा जाता है उस का अभिप्राय किन्हीं स्वार्थी लोगों ने यह प्रकट करना चाहा है कि प० भी० श० भी आर्यसमाज के सिद्धान्त को अनिश्चित मानते हैं सो यह मिथ्या है मेरा विचार यह कदापि नहीं कि मांसभक्षणादि विषय विचारसाध्य हैं किन्तु मैं वेद के सिद्धान्त को जो स्वा० द० जी ने माने हैं उन को निर्विकल्प मानता हूं लेख का आशय विशेष कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलानामात्र है ।

भीमसेन शर्मा

सरस्वतीप्रेस—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ३ । ४

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ
४ जनवरी सन् १८९७ ई०

वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित १।)

मूल्यप्राप्तिस्वीकार ॥

(१ सितम्बर से ४ नवम्बर ९६ तक)

८७७ बालगोबिन्दसिंह खचरियाबास २॥)
८७२ पं० जगन्नाथशर्म्मा-चौघान २॥)
९४० प्रभुलाल जी जयपुर २॥)
५५ श्री सालेतुरवेंकटराव मंजेश्वर २॥)
९४७ श्री सिद्धेश्वरप्रसाद उमरिया २॥)
५६७ श्री रावराजातेजसिंह जोधपुर ३॥)
१०८६ लैमनायकसाहिबा जालन्धर १)
९६२ शिवबकसशर्म्मा कानपुर ॥)
९७४ विष्णुचरणलाल जी भर्थना २)
१०१५ बा० भगवानदासरावत बरेली १)
२२९ मन्त्रीआर्य्यसमाज नरसिंहपुर २॥)
३१८ बा० सीतारामजी लखनऊ १)
६७३ बा० पैंडालाल जी लाहौर २॥)
१०११ राजीवलोचनजी भगवन्तनगर १)
४२५ बा० नीलाम्बरप्रसादजी मुरादपुर २॥)
८१८ श्री रामचन्द्र जी औरइया १)
६५४ मुं० शिवप्रसाद रैसलपुर ३॥)
१०३६ उमरावसिंह जी लुधियाना २॥)
१५६ त्रिभुवनदासभूलाभाई जी गड्डा १)
५५६ रामभरोसे सूबेदार बिरौली १)
७४१ बैजनाथ जी नजीबाबाद १)
१०२९ पं० अयोध्याप्रसाद शकरौली ॥=)
२२६ अवधविहारीलाल गाजीपुर १)
८७३ बा० हुकुमसिंह जी आंगई २॥)
७३९ श्री बलभद्रसिंह झालाबाड़ १)
७२० बा० अयोध्याप्रसादजी हर्दोई १)
३६४ बा० रमय्यालाल जी अजमेर १)
१९९ श्री महाराजाधिराज शाहपुरा ५)

६८८ बा० अयोध्याप्रसाद अम्बाला १)
५९९ श्री मेलारामजी जम्बू १॥=)
११७० मन्नूलालदुर्गाचरण कालपी १)
११५३ पं० रामगोपालशर्म्मा सिलहट १)
१०५ सुकुलसरयूप्रसादजी मिर्जापुर १॥≡)
६७१ बा० मनीरामजी देहरादून २॥)
३०७ बा० प्रभुदयालजी चम्बा १)
१०४ पं० बद्रीदीन जी अकबरपुर २॥)
१११२ पं० शिवमंगलजी जौनपुर १॥)
४२ ला० बद्रीदासबांकेलाल आगरा १)
१०७५ पं काशीरामजी सुहागपुर २॥)
९५५ बा० ज्वालाप्रसाद जी जबलपुर २॥)
८१३ पं० रमादत्तजी नयनीताल १)
७८६ मुं० प्रभुदयाल जी मांट २॥)
२४१ बा० गोबर्द्धनसिंहजी चीरपुरा २॥)
२०८ मन्त्रीआ०समाज झांसी २॥)
४०६ ला० नियादरमल नजीबाबाद २॥)
९२७ बा० चतुर्बिहारीलाल उज्जैन २॥)
५६९ पं० नारायणप्रसाद ठठिया २॥)
७४९ मन्त्रीआर्य्यसमाज शाहपुरा २॥)
६६८ ला० रूड़ामलचेनामल जालन्धर २॥)
७४ मुं० रामशरणदासजी बुलन्दशहर २॥)
८२७ बा० हीरालालजी धुलिया १)
११८२ पं० राजपतिशर्म्मा कानपुर १)
८७ मा० दुनीचन्दजी मेरठ २॥)
११८० देसाईगुलाबराय दलेबाड़ा १)
७७ पं० शुकदेवप्रसाद मुरादाबाद २॥)
६८६ मुं० राजारामजी फतेगढ़ १)
११८३ ब्रजलालवर्म्मा मुलतान ॥)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क३.४

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥

आर्यसमाज का भावीकर्तव्य भाग ८ अं० १।२ पृ० ३२ से आगे

करने का प्रायः अवसर नहीं मिलता वा यों मानो कि उस पुरुष का लेख वा कथन वा विचार ऐसा गौरव युक्त होता है इसी से वह वैसी उच्चकक्षा का मनुष्य माना जाता है । ये दोनों ही प्रकार प्रायः सभी सज्जन महाशयों को ज्ञात हैं । यही दृष्टान्त ठीक २ वेद विषय में घट जाता है कि जिस के एक २ अक्षर वा मात्रा में सत्य और धर्म व्याप्त है जिस में एक बिन्दु मात्र भी निष्प्रयोजन नहीं जिस से अधिक सत्य और कोई नहीं होसकता जिस में कभी किसी को किसी प्रकार कैसा भी तर्क करने का अवसर नहीं मिल सकता जिस में अज्ञान वा भ्रान्ति कहीं लेश मात्र भी नहीं ऐसा वेद रूप जिस का ज्ञान वा कथन है वह ऐसे वेद का उत्पादक होने से ही परमेश्वर कहाता वा माना जाता है ईश्वरों का भी परमईश्वर परमेश्वर है । वा परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है इस से उस का बनाया वेद सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त है ये दोनों बातें एकहीं हैं । तात्पर्य यह हुआ कि वेद सर्वथा निरपेक्ष सत्य है इसी लिये वह परमेश्वर का बनाया है क्योंकि मनुष्यों के सब कामसापेक्ष सत्य रहते हैं तो अनन्तशक्ति वाले निरपेक्ष निरतिशय ज्ञानी का ही ज्ञान निरपेक्ष सत्य होसकता है । इस लिये वेद के विषय में जो कुछ लिखा गया तथा जो कुछ आगे लिखें उस में कोई भूल वा

पक्षपात प्रतीत हो वा तुच्छता जान पड़े तो वह वेद को कदापि न मानना । और यह भी न मानना कि सम्पादक आर्यसिद्धान्त ने वेद पर केवल विश्वास ही कर लिया है वैसा ही सर्व साधारण को विश्वास दिलाना चाहते हैं किन्तु कहीं युक्ति ठीक २ न लिखी गयी हो तो लेखकी न्यूनता हो सकती है । तथा यह भी हो सकता है कि वह लेख सर्वथा निष्पक्षपात भी हो युक्ति युक्त भी हो सर्वथा ग्राह्य भी हो पर कोई अल्पाशय अपनी अज्ञानता के कारण उस के अभिप्राय को ठीक न समझपावें और वे सम्पादक आर्यसिद्धान्त का दोष ठहरावें तो इस में हमारा क्या अपराध है ।। सब दशा में हमारा दोष हो वा पाठकों का हो वा दोनें का हो वा दोनों का न हो पर वेद सर्वथा शुद्ध निष्कलङ्क है ।

हमारे पाठक लोग ध्यान रक्खें कि वेद विषय में आगे २ हम बहुत कुछ लिखना चाहते हैं वा यें कही कि वेद के गूढ़ाशयें को प्रकाशित करने के लिये ही आर्यसिद्धान्त का जन्म हुआ है सो अभी तक तो कम लिखा जाताथा अब आगे २ वेद विषय के ही प्रायः विचार लिखने का संकल्प रहेगा इस लिये यह लिख दिया कि जिस से पाठक महाशयें को स्मरण रहे । और यह भी आवश्यक है कि जो किन्हीं महाशयें को सन्देह उत्पन्न हो तो प्रथम तो स्वयमेव उस विषय को लौट पौट शोचविचार कर देखें यदि इतने से सन्देह दूर न हो तो अपने किसी विचार शील मित्रादि से पूछें यदि पूछने से भी सन्देह दूर न हो तो पत्र द्वारा मुझ को सूचित करें सम्भव है कि मेरे उत्तर से सन्देह अवश्य निवृत्त हो जायगा । किन्तु कोई महाशय मेरे लेख में पक्षपातादि होने का शीघ्र ही अनुमान न कर बैठें क्योंकि यह अति क्षुद्र पुरुषों का काम है कि धर्मानुकूल विचार वा लेख के लिये उद्यत हो कर भी अपनी जाति वा कुलादि का पक्ष करना यद्यपि यह असम्भव नहीं कि मुझ में पक्षपातादि कोई दोष किसी अंश में भी न निकलें पर यह कदापि सम्भव भी नहीं कि मैं जान बूझ कर किसी विषय को पक्षपात से सिद्ध करूं । क्योंकि मेरा हृदय अब ऐसा संकुचित नहीं है किन्तु अज्ञान से मनुष्य की स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारण मेरे लेख में कोई २ भूल वा दोष निकलें तो यह सम्भव है । पर उस में यह भी सम्भव है कि दोष मानने वाले की समझ का दोष हो इस लिये किन्हीं महाशयें को ऐसा न चाहिये कि दोष प्रतीत होते ही यह हल्ला करने लगें कि अमुक पुरुष का विचार तो बदलगया । यह मैंने इस लिये भी लिखा है कि मन्त्रभेदविचार में कई मनुष्यों

ने अधिक सन्देह बढ़ाया उस विषय पर इन अङ्कों में पुनर्वार भी लेख लिखा गया है उस को विचार पूर्वक देखिये ।

भेदाभेदविचार ॥

हे परम कृपालो करुणानिधान परमात्मन् ! आप अग्नि वायु आदि के समान संसार के सब स्थूल सूक्ष्म पदार्थों में व्याप्त हैं जगत् में कोई वस्तु ऐसा नहीं जिस के साथ आप न हों वा जो वस्तु आप में न हो इस कारण एक तृण भी आप से भिन्न कभी नहीं हो सकता आपका सब पदार्थों के साथ सनातन काल से अभेद चला आता है । और हे सर्वरक्षक सर्वधारक ! ईश्वर आप सब में व्याप्त रहने पर भी सदा सब से भिन्न रहते हो आप सब पदार्थ नहीं हो जाते इस कारण सब के साथ आप का भेद भी सनातन है । हे भगवन् ! यद्यपि भेद अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि भिन्न २ अंशों वा अभिप्रायों से आप में दोनों चरितार्थ होते हैं । और आप का दोनों के साथ विरोध नहीं आता । जगत् के पदार्थ अशुद्ध अपवित्र हैं आप नित्य पवित्र हैं । मनुष्यादि प्राणि बद्ध आप सदा मुक्त, हम सब अल्पज्ञ अज्ञानी हैं आप अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ हैं इस से हमारे साथ आप का बड़ा भेद है । हे दयासागर हम लोगों को भी आप ऐसी बुद्धि देवें कि हम भी आप को तथा आप की वेद विद्या को भिन्न अभिन्न यथावत् यथोचित देखें सुनें मानें विचारें शोचें । आप समुद्रादि अथाहों से भी अधिक गम्भीर हैं हम को भी कृपाकटाक्ष से मनुष्यों में गम्भीर होने की मति आप दीजिये जिस से छोटी २ बातों से हमे क्लेश न व्यापे हम दुःखी न हों हम स्वार्थी न बनें धर्म की ओर हमारी सदा निष्ठा बनी रहे । आप सदा सब को समदृष्टि से देखते सदा ही पक्षपात शून्य हैं हम को भी पक्षपात से सदा बचाइये, आप सदा शान्तशील हैं हमे भी शान्ति दीजिये । हम अपनी मूर्खता के कारण किसी की बात वा लेखादि का तत्त्व न समझ कर क्रोधित न हों तत्त्व शोचने की ओर हमारी बुद्धि झुके । तथा हे निर्विकार करुणागार हमारे साथ कोई अज्ञान से ईर्ष्याद्वेष क्रोधादि करे उस पर हम क्रोध न करें सदा चित्त में शान्ति रहे क्योंकि शान्ति भी धर्म का प्रधानरूप है । इस से हमे शान्ति दीजिये यही प्रार्थना विशेष है ॥

हम सर्वशक्तिमान् परमात्मा से प्रार्थना करते पश्चात् अपने पाठकों से निवेदन करते हैं कि यह "भेदाभेदविचार" कोई नया लेख नहीं किन्तु आर्यसमाज

के भावी कर्त्तव्य के अन्तर्गत यह भी लेख है। हम इस लेख में प्रथम प्रश्नोत्तर रूप से कुछ विचार लिखेंगे और पीछे से सब का सारांश सिद्धान्त भी लिख देंगे। आशा है कि विचारशील महाशय निष्पक्ष हो कर इस लेख का सत्य २ आशय समझ कर कृतकृत्य करेंगे।

प्रश्न—भेद और अभेद क्या है ?

उत्तर—भेद यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटपतङ्गादि जाति, मनुष्यों में स्त्री पुरुष बालक, युवा, वृद्ध, गुरु, शिष्य, पिता पुत्रादि तथा प्रत्येक देहधारी का विचार, शक्ति बल पराक्रम कर्म, तथा सुख दुःखादि भिन्न ही भिन्न दीखता है। और पर सामान्य जिस को सत्तासामान्य कहते हैं वह सर्वोपरि सब का अभेद है। जड़ चेतन सब है, ईश्वर है इत्यादि प्रकार (है) इस क्रिया का सब के साथ अन्वय होता यही सत्तासामान्य है और यही बड़ा अभेद है। तथा मनुष्य पशु पक्षी आदि सब का प्राणधारी होना मृत्यु से सब का डरना इत्यादि चर प्राणियों में अभेद है। मनुष्यों में ब्राह्मण क्षत्रियादि के भिन्न २ होने पर वेदाध्ययनादि अनेक कामों वा गुणों में उन का अभेद है इसी को अभेद कहते वा कहना चाहिये।

प्रश्न—हमारा यह प्रयोजन नहीं था कि आप संसार भर के भेद और अभेद कहो। हम केवल मनुष्य जाति के भेदाभेद जानना चाहते हैं।

उत्तर—मनुष्य जाति में भी भेद अभेद दोनों ही विद्यमान हैं।

प्रश्न—हमारा प्रयोजन यह है कि ब्राह्मणादि वर्णों वा जातियों का भेद आज कल जैसा अच्छे २ समझदार तथा श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज के लेखानुसार आर्यसमाजस्थ लोग मानते हैं वैसा विचार आप का नहीं मालूम होता आप जन्म से भी ब्राह्मणादि वर्ण मानते हो न ?।

उ०—यह तो हम नहीं कह सकते कि आज कल जैसा सब लोग जातिभेद मानते हैं उस से हमारा मन्तव्य सर्वांश में मिल जायगा और हमारा ही नहीं किन्तु किन्हीं दो मनुष्यों का मन्तव्य सर्वांशों में नहीं मिल सकता क्योंकि कर्म भेद के साथ प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि भेद स्वाभाविक है तथापि अधिकांश विचार मिलने से वा प्रधानांशों के मेल से वे दोनों वा बहुत लोग एक माने जाते हैं उन का आपस में भेद नहीं माना जाता वैसे हमारे विचार से भी अधिकांश में अनेक लोग सहमत अवश्य होंगे। परन्तु यह अवश्य ध्यान रहे कि शास्त्रीय सिद्धान्तों के बुद्धि पूर्वक मन्तव्यों में यदि निष्पक्ष बुद्धिमानों में से अधिक लोग

हमारे विचार वा लेख को अधिकांश में अच्छा समझें तो वास्तव में वह विचार अच्छा और बुद्धिमान् धर्मिष्ठ निष्पक्ष लोगों में से बहुत थोड़े जिस विचार को अच्छा, समझें और अज्ञ लोग सहस्रों भी जिस को अच्छा समझें वह वैसा अच्छा नहीं हो सकता। द्वितीय श्रीस्वामी जी महाराज के प्रत्येक लेख से हमारा लेख वा विचार मिलता ही रहे यह जैसे हमारे लिये सम्भव नहीं वैसे सर्वांश में किसी का भी लेख वा विचार स्वामी जी के सब लेखों से मिल नहीं सकता। हम स्वामी जी महाराज के स्वमन्तव्यामन्तव्यादि नामक मूलसिद्धान्त को ही प्रधान मन्तव्य समझते हैं उस से विरुद्ध हमारा कोई लेख वा विचार स्वप्न में भी नहीं है यदि हो तो उस को हम अपनी भूल मानेंगे। और वह स्वामी जी का सिद्धान्त वेद के सर्वथा अनुकूल है इस से उस को निर्भ्रान्त मानते हैं। यदि स्वामी जी महाराज के लेखानुसार आर्यसमाजस्थ लोग जातिभेद मानते हैं तो वैसा ही हम भी मानते हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म होने से ही ब्राह्मण हो जाता है यह हम भी नहीं मानते किन्तु बुद्धि विद्या धर्मादि विषय में जो सब से चढ़ा बढ़ा हो वह ब्राह्मण है ऐसी उच्चश्रेणी का मनुष्य एक साथ कोई नहीं हो सकता किन्तु पूर्व जन्मकृत कर्मों के शुद्ध संस्कार वा प्रबल प्रारब्ध से ऐसे लोगों का पहिले जन्म में जब मरण होता है तब अपने कर्मों के अनुसार गर्भ से ही उन की चेष्टा आकृति बुद्धि अच्छी होती है इसी से वे शीघ्र अच्छे तीव्र बुद्धि के विद्वान् हो जाते हैं और उन से भी अधिक परिश्रमी कोई लोग वैसे शिक्षित नहीं हो पाते। तथा अच्छे संस्कारियों को माता पिता भी अपने कर्मानुसार अच्छे ही मिलते हैं। इस से वर्त्तमान जन्म में जो कोई लोग विद्या धर्म परोपकारादि की अधिकता से शास्त्र की आज्ञानुसार ब्राह्मण कहाने योग्य हैं उन का पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुसार पूर्व से ही उन में कुछ २ ब्राह्मणपन होता है। यदि कोई क्षत्रिय वैश्य, शूद्र कुलों में अच्छा शुद्ध संस्कारी प्रतापी पुरुष ब्राह्मणपन की योग्यता का उत्पन्न हो तो उस को भी पूर्व के कर्मानुसार जन्म और जन्म से सम्बन्ध रखने वाला उस का ब्राह्मणपन माना जायगा। ऐसे ही क्षत्रियादि में भी जानो। जिस में पूर्व जन्मों के अच्छे शुद्ध संस्कार नहीं होते वह एक साथ उच्च कोटि का मनुष्य एक जन्म में नहीं बन सकता। यदि कोई शूद्रादि निकृष्ट वा धर्म कर्म हीन मूर्ख समुदाय में उत्पन्न हो और जन्म से उस में कुछ चमत्कारी न हो और बड़ा होने पर कई प्रकार की ऐसी उन्नति करे

जिस से वह उच्च कक्षा का मनुष्य समझा जावे तौ भी यह मानना चाहिये कि पूर्व जन्म के प्रारब्ध का पीछे काल पा कर उदय हुआ। पर उस का संचित सूक्ष्म संस्कार प्रथम से मानना वहां भी होगा। अब कहो क्या स्वामी जी महाराज पूर्व जन्म के कर्मानुसार बुद्धि विद्या चमत्कार भोग नहीं मानते थे वा आर्यसमाजस्थ लोग नहीं मानते ? मेरी समझ में स्वामी जी तथा आर्य लोग सभी कर्मानुसार फल मानते हैं। जब जातिभेद कर्मानुसार सनातन काल से नियत होता चला आता है वैसा ही सब शास्त्रकार मानते हैं वैसा ही मेरा विचार है मेरा कुछ भी विरुद्ध विचार नहीं। जैसे स्वामी जी महाराज का लेख है कि गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था माननी चाहिये। उसी को मैं भी पुष्ट करता वा मानता हूं तथा इतना उस में विशेष आशय निकालता हूं कि वे गुण कर्म स्वभाव तत्काल में भी हों और पूर्वजन्म से भी आये हों वा यों कहो कि तत्काल में ठीक२ परीक्षा करने से गुण कर्म जिस वर्ण की योग्यता के जिस प्रकार के उस मनुष्य में दृढ़ प्रतीत हों वेही उस में जन्म से वा जन्मान्तर के कर्मों से भी आये मानने चाहिये। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि वर्त्तमान समय में अत्यन्त अच्छी वा निकृष्ट योग्यता के मनुष्य दीखते हैं उन को वैसी दशा बुद्धि विद्यादि पूर्वजन्म के कर्मानुसार प्राप्त हुई है। तो इस में प्रायः पुनर्जन्म के मानने वाले कोई भी सन्देह न करें परन्तु यदि इसी पूर्वोक्त वाक्य के स्थान में कोई यह कहे कि "ब्राह्मणादि पन की अच्छी योग्यता पूर्वजन्मानुसार प्राप्त होती है क्योंकि मनुष्य के भीतर स्वभाव वा प्राकृत गुण उस के गर्भ से ही उस में आता है तो ब्राह्मणादि शब्दों का नाम आते ही जो सन्देह अनेक लोगों को होने लगता है। उस का कारण यही प्रतीत होता है कि समय बिगड़ा है वर्णव्यवस्था सब नष्ट भ्रष्ट हो रही है। शास्त्रीयसिद्धान्तों का ज्ञान नहीं रहा इस से जो सन्देह उत्पन्न हों सो ही थोड़े हैं। यदि हम यह मानते कि क्षत्रिय वैश्य शूद्र नामधारियों में उत्पन्न हुआ कोई भी ब्राह्मण नहीं हो सकता वा ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ कोई क्षत्रिय वैश्य शूद्र नहीं हो सकता तो वास्तव में हमारा लेख स्वामी जी और आर्यसजमाजों के विरुद्ध होता पर हम ऐसा नहीं मानते किन्तु हम दृढतापूर्वक कहते हैं कि किसी चर्मकार और चाण्डाल तक को हम ब्राह्मण मान सकते हैं यदि उस में ब्राह्मणपन के वेदाध्ययनादि गुण कर्म यथोचित हों और ब्राह्मणादि वर्णों का नीच हो जाना तो कर्मानुसार सभी मानते हैं। जैसे कोई ब्राह्मण चर्मकारों

का काम करने लगे और उन्हीं में मिल जावे तो उस को लौकिक वा पौराणिक तथा आर्य लोग सभी वर्मकार कहें मानें गे उस में कोई प्रकार का विचार भेद है ही नहीं । इस से सिद्ध हो गया कि हमारा जाति भेद मानना सब शास्त्र और विचारशीलों के अनुकूल है विरोध कुछ नहीं । साधारण मनुष्यों की समझ का ही केवल भेद है ।

प्रश्न—आप के लिखने से को अधिक शोचने से प्रतीत तो यही होता है कि विरोध नहीं है स्वामी जी के अनुकूल ही आप का लेख है । परन्तु आप का लेख ऐसा कुछ गोलमाल वा लपेट का होता है जिस से सन्देह उठ सकता है किन्तु साफ २ लेख नहीं होता इस लिये थोड़े शब्दों में स्पष्ट ही क्यों न लिखा करो ?।

उत्तर—हम अपने विचार से स्पष्ट भी यथासम्भव लिखते हैं परन्तु उस २ विषय में शास्त्र के गूढ़ वा सूक्ष्म अभिप्रायों को खोलने का विचार जो सदा हमारे चित्त में रहता है इस लिये उस विषय से मेल रखने वाले अनेक अंशों का व्याख्यान भी आता है तथा जो २ दोष उस विषय में आसकते हैं उन २ की निवृत्ति करना भी उसी लेख वा व्याख्यान में करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं । इत्यादि कारणों से हमारा लेख अनेक लोगों को लपेटदार प्रतीत होता है सो यह दोष हमारी समझ में नहीं है इसी से छूट भी नहीं सकेगा । और अधिक स्पष्ट यह है कि ब्राह्मणादि के कुलों में उत्पन्न होने से हम ब्राह्मणादि नहीं मानते किन्तु जिस में ब्राह्मणादि पन के गुण कर्म स्वभाव हैं उसी को हम भी ब्राह्मणादि मानते हैं केवल इतना और कहते हैं कि स्वभाव उस का नाम है जो पूर्वजन्म के कर्मानुसार गर्भाधान समय में उस २ के शरीर में बनता है बीच में स्वभाव नहीं बनता । सो यह भी शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है

प्रश्न—अस्तु—इस को तो रहने दो पर मन्त्र भेद विषय पर [तुम्हारा क्या विचार है ? ।

उ०—मन्त्र भेद के स्थान में छन्दोभेद कहना चाहिये । क्योंकि वेद से छन्द भेद मात्र दिखलाया गया है मन्त्र भेद नहीं ।

प्रश्न—मन्त्र और छन्द में क्या भेद है ? ।

उ०—छन्द जातिवाचक शब्द है गायत्री आदि एक २ छन्दोजाति में मन्त्र बहुत हैं । गायत्री आदि छन्दजाति में जाति एक है व्यक्ति अनेक भिन्न २ हैं ।

प्रश्न—क्या क्षत्रिय वैश्य शूद्रों को गायत्री के जपने का अधिकार नहीं है ?।

उ०—शूद्रों से नीचे अतिशूद्र वा अन्त्यजों तक को गायत्री के जपने का अधिकार जब हम मानते हैं तो फिर क्षत्रिय वैश्यों को न हो यह कैसा ?

प्रश्न—फिर यह क्यों लिखा कि गायत्री ब्राह्मण को त्रिष्टुप् क्षत्रिय को और जगती वैश्य के लिये है ।

उ०—यह इसलिये लिखा है कि ब्राह्मणपन क्षत्रियपन वैश्यपन और शूद्रपन सब प्राणियों में व्याप्त है तो गायत्री का सम्बन्ध उन २ क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि में भी ब्राह्मणपन के साथ है और ऐसे ही ब्राह्मणादि सब में त्रिष्टुप् का सम्बन्ध क्षत्रियपन के साथ तथा ब्राह्मणादि नामक सब व्यक्तियों में जो वैश्यपन है उस के साथ जगती का सम्बन्ध है । यह वेद का आशय लिखा है । मेरा नहीं है ।

प्रश्न—यह बताओ कि ब्राह्मणादि लोगों की प्रार्थनोपासना भिन्न २ मन्त्रों से होनी चाहिये वा एक ही मन्त्र से ।

उ०—जिस २ प्रकार की चाहना जो २ रखता हो वह २ उस २ प्रकार की प्रार्थनोपासना जिन २ मन्त्रों में हो उन २ से प्रार्थनोपासना करे यदि सब लोग एक ही प्रकार की चाहना रखते हों तो एक ही मन्त्र से करें ।

प्रश्न—यदि (तत्सवितुर्वरेण्यम्) इस गायत्री मन्त्र को सब क्षत्रिय वैश्य जपें तो कोई दोष है क्या ? ।

उ०—कोई दोष नहीं जो चाहे सो जपे तथा हम इतना और अधिक कहते वा मानते हैं कि अन्त्यज चाण्डालादि तक भी जपें तो कुछ दोष नहीं ।

प्रश्न—फिर मनुस्मृति में जहां गुरुमन्त्र का भेद भी नहीं दिखाया गया एक ही मन्त्र तीनों वर्णों के लिये लिखा है वहां तुमने इतनी खेंचाखेंची करके हल्ला क्यों मचवाया ।

उ०—मनु के भाष्य में हमने कहीं नहीं लिखा कि क्षत्रियादि को (तत्सवितु०) गायत्री के जपने में कोई पाप लगता है । किन्तु छन्दभेद जो अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मिलता है उस से मनु का लेख विरुद्ध न हो वा मनु जी की राय किसी कारण उस विषय में एक ही मन्त्र की हो इस लिये हम ने उस विषय का प्रसङ्ग वहां लिख दिया है ।

प्रश्न—मनु में जब छन्दभेद का नाम ही न था तथा अन्य कोई विशेष प्रयोजन न था तो यह झगड़ा छेड़ा ही क्यों गया ! ।

उ०—वेदादि शास्त्रों में जिन २ विषयों का वर्णन है और यदि उन विषयों को प्रक्षिप्त भी हम नहीं मानते तथा उन में कुछ खेंचा खेंची का अर्थ भी करना बुरा

समझते हैं तो उन विषयों का यथावसर वर्णन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। और उस का विशेष अभिप्राय ऐसा निकालने का सदा उद्योग करते हैं कि जो निष्पक्ष युक्तियुक्त तथा शास्त्र के गौरव का कारण हो बस यही हमारा प्रयोजन छन्दभेद दिखाने से है॥

प्रश्न-किन २ ग्रन्थों में छन्द भेद का वर्णन है?॥

उ०-वेदों और ब्राह्मणों में, जिन मन्त्रों में वेद में छन्दों की तीन वा चार कक्षा दिखायी हैं उन्हीं के व्याख्यानों के प्रकरण में शतपथब्राह्मण में "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्त्रिष्टुभाराजन्यं जगत्या वैश्यम्" इत्यादि लेख मिलता है।

प्रश्न-तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि वेद और ब्राह्मण का यही आशय है कि ब्राह्मणादि के गायत्री छन्द भिन्न २ हैं।

उ०-मनु में छन्द भेद नहीं इसका प्रमाण यही है कि वहां त्रिष्टुभादि छन्द क्षत्रियादि के सम्बन्ध में नहीं लिखे वैसे ब्राह्मणादि में लिखा होना क्या प्रमाण नहीं है। अक्षरार्थ सीधा है केवल उस का भावार्थ निकालने में कुछ भेद हो तो हम भी भावार्थ की इयत्ता नहीं करते हम केवल इतना स्थिर वेद का सिद्धान्त मानते हैं कि जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्णों की चार कक्षा वा मनुष्य मात्र के चार प्रधान भेद यौगिकार्थ प्रधान वेदमें हैं वैसे छन्दों की चार कक्षा वेद के अनेक मन्त्रों में हैं जैसे-गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् तथा कहीं २ जगती पर्यन्त तीन ही कक्षा हैं। और जैसे प्राची आदि दिशा तथा वसन्तादि ऋतुओं का यथासंख्य सम्बन्ध ब्राह्मणादि के साथ लगाना उचित समझा जाता है वैसे ही गायत्री आदि का सम्बन्ध ब्राह्मणादि के साथ है। अब रहा यह कि यह सम्बन्ध किसी विचार से हो इस का कुछ अभिप्राय हो इस पर हमारा कोई भी हठ नहीं है। हम ने अब तक जो समझा है उस से विपरीत कोई आन्दोलन पूर्वक अच्छा वेद के सिद्धान्तानुकूल वेद के गौरव का रक्षक अभिप्राय निकाल देवे वा हमें स्वयं कोई अच्छा अभिप्राय इस से विपरीत प्रतीत हो तो हम अवश्य उसी को ठीक मानेंगे।

प्रश्न—जब तीन वर्णों के लिये छन्द भेद दिखाया गया तो क्या शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं मानते?।

उ०-थोड़ा शोचो तो सही हम अभी कह चुके हैं कि शूद्र से भी नीचे अन्त्यज तक को वेद पढ़ने का अधिकार है। परन्तु यह अवश्य है कि योग्यको अधिकार

माना जाता है । जो पुरुष लोकचाल से शूद्र कहाता पर वेद के पढ़ने समझने की शक्ति रखता है तो वह लौकिक रूढ़ि से भले ही शूद्र कहावे पर शास्त्रीय विचार के अनुसार वह अवश्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में यथायोग्य कोई माना जायगा । और वेद में भी अनेकत्र चार कक्षाओं का वर्णन आता है । चौथी कक्षा में अनुष्टुप् छन्द स्पष्ट लिखा है इस से स्पष्ट सिद्ध है कि शूद्र कहाने वाले के लिये भी वेद का पूर्ण अधिकार अवश्य है ।

प्रश्न—जब तुम गायत्री आदि का अधिकार सब मनुष्य मात्र के लिये समान ही कहते हो फिर इस छन्द भेद के झगड़े से क्या प्रयोजन निकला ? ।

उ०—हम मनुष्य मात्र नहीं किन्तु प्राणिमात्र के साथ ब्राह्मणादिपन की व्याप्ति भी मानते हैं चाहे यों कहो कि जिस २ प्राणी में जिस २ कक्षा तक का ब्राह्मणादिपन विद्यमान है उतने २ अंश में सब को ही हम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र मानते अर्थात् ब्राह्मण को भी शूद्र और शूद्र को भी ब्राह्मण मानते हैं और यही गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मणादि भेद मानने का अभिप्राय है । लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये केवल इतना और मानते हैं कि जिस २ स्थावर वा जङ्गम देह धारी में क्षत्रियादिपन की अपेक्षा से ब्राह्मणादिपन प्रधान है वह लोक वा शास्त्र में व्यवहार व्यवस्था के लिये ब्राह्मणादि माना जावे । और तुम लोग ब्राह्मणादि शब्दों के लोक प्रसिद्ध रूढ़ि अर्थ बुद्धि में रख कर शास्त्र के सिद्धान्त गर्भित लेखों को देख कर भ्रम में पड़ जाते हो । जैसे मनुष्यादि के शरीरों में पृथिव्यादि पांचो तत्त्व हैं और इसी कारण बाहिरी पांचों तत्त्वों की सहायता इस के लिये प्रतिक्षण आवश्यक है । इस से अन्नादि जो २ पदार्थ शरीर रक्षा के लिये खाता उस में भी पञ्चतत्त्व रहते हैं । अन्न के साथ बाहिरी तत्त्वों का स्वाभाविक आकर्षण रहता है इस से अन्न के उस २ तत्त्वांश से शरीर का वही २ अंश पुष्ट होता वा यों कहो कि उस २ अंश के साथ उस २ शरीर तत्त्व का सम्बन्ध है वा यों कहो कि शरीर के उस २ भाग का अपने २ सम्बन्धी अन्नांश को ग्रहण करने का अधिकार है वैसे ही प्रत्येक शरीरों में ब्राह्मणांश के साथ गायत्री के वाच्यार्थ का आकर्षण सम्बन्ध है । वेद के आशय से यह भी प्रकट होता है कि गायत्री आदि शब्दों से केवल छन्दोरचना ही अर्थ नहीं लिया जायगा किन्तु उन २ शब्दों का सामान्य यौगिकार्थ ऐसा लिया जायगा कि जिस

में गायत्री आदि छन्द भी अन्तर्गत होजावें । जैसे अष्टाक्षर पाद वाला गायत्री छन्द आठवें वर्ष में ब्राह्मणत्व प्रधान बालक का उपनयन, ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुप् का पाद ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय प्रधान बालक का उपनयन, द्वादशाक्षर जगती का पाद बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन कहा गया है । चौवीस अक्षर की गायत्री चौवीश संख्या का ब्राह्मणपन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध हो । इत्यादि विशेष विचारसाध्य है ।

प्रश्न–तुम्हारे इस लेख से एक प्रकार का विद्या सम्बन्धी व्याख्यान प्रतीत होता है किन्तु गायत्री का उपदेश किसी खास मनुष्य को किया जाय किसी को नहीं यह नहीं निकलता तो तुमने यह क्यों लिखा था कि जैसे अन्य दण्ड मेखलादि चिन्हों के भेद ब्राह्मणादि के लिये हैं वैसे ही मन्त्र भेद भी है ।

उत्तर–चिन्हों का भेद छन्द का भेद तथा संस्कार और ब्राह्मणादि वर्ण भेद इत्यादि सभी को हम विद्या सम्बन्धी वर्णन मानते हैं किन्तु विद्या से भिन्न वा ऊट पटांग वेद का कोई भी विषय नहीं है । और ब्राह्मणादि भेद भी वास्तव में विद्या और धर्म दोनों ही से पूरा २ सम्बन्ध रखने वाले हैं गायत्री आदि शब्दों का वाच्यार्थ भी वैसा ही व्याप्त होने से सब के साथ सम्बन्ध रखता है जैसे कि ब्राह्मणादिपन सब के साथ सम्बन्ध रखता है मनुष्यादि व्यक्तियों में जैसे गौण प्रधान का केवल भेद है कहीं ब्राह्मणपन प्रधान है किसी व्यक्ति में क्षत्रियपन किसी में वैश्यपन किसी में शूद्रपन वा किसी व्यक्ति में अतिशूद्रत्व वा किसी में वर्णसंकरता प्रधान है इसी प्रकार वसन्त में ब्राह्मणपन के सहायक गुणों की प्रधानता ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रियपन के सहायक गुणों की प्रधानता तथा वर्षा वा शरद् ऋतु में वैश्यपन के सहायक गुणों की प्रधानता स्वाभाविक ईश्वरीय सृष्टि नियमों के अनुसार होती है। जिस २ व्यक्ति से विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुणों की प्रधानता होती है तब २ किये यज्ञोपवीतादि कर्म उस २ व्यक्ति के ब्राह्मणादिपन के शोधक वर्धक प्रसाधक होते हैं । इसी अभिप्राय से ब्राह्मण का वसन्त में क्षत्रिय का ग्रीष्म में वैश्य का प्रधान संस्कार वर्षा वा शरद् में वेद का आशय लेकर ऋषि मुनियों ने कहा है । तथा दण्ड मेखलादि का धारण भी विद्या और धर्म ही के अनुसार है । जैसे विल्व और पलाश नामक ढांक में ब्राह्मणपन का सहायक गुण प्रधान है, वट और खदिर में क्षत्रिपन का सहायक तथा पिप्पल—पीपल और गूलर में वैश्यपन का सहायक गुण प्रधान है इस

कारण उस २ वृक्ष का दण्ड धारण उस २ वर्ण के ब्रह्मचारी के लिये धर्मशास्त्र में लिखा गया है जैसे यह सब चिह्नों का भेद विद्या के अनुकूल है वैसे ही गायत्री शब्द के वाच्यार्थ के साथ ब्राह्मणपन का विशेष सम्बन्ध है तथा त्रिष्टुप् शब्द वाच्य के साथ क्षत्रियपन का और जगती शब्द के वाच्यार्थ के साथ वैश्यपन का विशेष सम्बन्ध है। इस प्रकार यह सभी विचार विद्यानुकूल है। वेद का सिद्धान्त यही है कि जिस का जिस के साथ स्वाभाविक प्राकृत सम्बन्ध है वा प्राकृत नियमों के अनुसार जिस को जिस काम का करना विशेष लाभ दायक है वही उस का धर्म है वैसा ही सम्बन्ध वा वही काम उस को करना चाहिये [यही आशय यमयमीसूक्त में वर्णन किया गया है] इसी के अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण भेद और उन के चिन्हादि का भेद शास्त्रों में कहा गया है इस से सर्वथा ही यह सब विषय वा कथन पदार्थ विद्या (साइंस) के अनुकूल है।

प्रश्न—जब मन्त्रादि चिन्हों का भेद ऐसा विद्यानुकूल था तो मनु जैसे प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र में क्यों नहीं लिखा गया ?।

उ०—मनु धर्मशास्त्र में संसार भर का सब विषय नहीं लिखा है उस समय लिखने वाले के विचार में जो २ विचार लिखने योग्य प्रतीत हुआ सो लिखा गया। यदि यह नियम कहो कि मनुस्मृति में जो नहीं लिखा वह सब त्याज्य है तो यह ठीक नहीं क्योंकि वसन्तादि ऋतुओं का भेद ही मनुजीने नहीं लिखा पर गृह्यसूत्रादि के लेखानुसार हम सब आर्य लोग मानते ही हैं। ऐसे अन्य भी विशेष उपयोगी अनेक विषय हम को शोचने से ज्ञात होंगे कि जो मानवधर्मशास्त्र में न लिखे गये हों तथा अन्य शास्त्रों से हम उनको जानें मानें। तथा मनु धर्मशास्त्र में अपने ग्रन्थ से भी सहस्रों गुणी प्रशंसा वेद की इसी लिये अधिक लिखी गयी है कि वेद सब विद्याओं का समुद्र है समुद्र के सब जल को कोई कितने ही बड़े पात्र में भी नहीं भर सकता। मानवधर्मशास्त्र की प्रशंसा अन्य लौकिक ग्रन्थों की अपेक्षा से अधिक धर्म विषय में है किन्तु वेद के सामने मनुस्मृति की प्रशंसा नहीं है। इस से जो मनुस्मृतिमें न लिखा हो उस को हम न मानें यह कोई नियम नहीं है।

प्रश्न—सावित्री शब्द का क्या अर्थ है ?

उ०—सविता देवता वाली ऋचा का नाम सामान्य सावित्री है किसी विशेष मन्त्र का नहीं।

प्रश्न—सावित्री गायत्री शब्दों से प्रायः पण्डित लोग भी (तत्सवितुर्व०) इसी मन्त्र को समझते मानते हैं सब को नहीं सो क्यों ? ।

उ०—सामान्यार्थ वाचक शब्द से भी ग्रन्थों में कहीं २ विशेष [खास] अर्थ लेने की लौकिक ग्रन्थों में चाल चल गयी है। जैसे द्विज शब्द सामान्य कर तीनों वर्णों का वाचक है पर मनुस्मृत्यादि में कहीं २ उन २ ग्रन्थकारों ने ही विशेषार्थ में प्रयोग किया है सो उस २ ग्रन्थ के प्रकरणानुसार वहां २ वैसा ही सामान्य वा विशेष अर्थ लेना करना चाहिये ।

प्रश्न—(तत्सवितुर्वरेण्यं०) यह गायत्री मन्त्र अन्य (समिधाग्निं दुवस्यत०) आदि गायत्रियों के समान है वा इस में कुछ विशेषता है । यदि विशेषता नहीं तो इसी मन्त्र की सब से अधिक प्रतिष्ठा क्यों मानी गयी ? ।

उ०—जैसे मनुष्यपन में सब मनुष्य एकसे हैं परन्तु गुण कर्मों के अनुसार उन में ब्राह्मणादि भेद उत्तम मध्यम माने जाते हैं और फिर प्रत्येक व्यक्ति में सुख दुःख विचार बुद्धि आदि के भेद हैं इस प्रकार मनुष्य जाति में अभेद ब्राह्मणादि वर्णों का सामान्य जाति में भेद और ब्राह्मणादि सामान्य अभेद में प्रतिव्यक्ति का भेद और प्रतिव्यक्ति के सामान्य अभेद में शिर आदि अङ्गों का भेद तथा शिर आदि में भी फिर चक्षुः श्रोत्रादि का भेद विद्यमान है । जैसे सामान्य विशेष वा भेदाभेद दोनों एक ही में सदा रहते हैं वैसे ही छन्दस्त्व जाति सामान्य में वेद के सब मन्त्र एकसे हैं उन में गायत्री आदि अवान्तर जाति भेद हैं । फिर उन में प्रत्येक गायत्री मन्त्र में भेद है सब से सब विलक्षण हैं (तत्सवितु०) यह गायत्री मन्त्र वास्तव में अन्य गायत्री मन्त्रों की अपेक्षा उत्तम इस लिये माना गया है कि यह मूल मन्त्र है और भाष्य की अपेक्षा मूल की प्रशंसा सदा ही अधिक होती और मानी जाती है । इस मन्त्र के तीन पादों में तीनों वेद का प्रधान विषय कहा गया है इस से यह अन्य गायत्री मन्त्रों की अपेक्षा वास्तव में श्रेष्ठ है । परन्तु इस से भी अधिक (भूः भुवः, स्वः) इन तीन व्याहृतियों की अधिक प्रशंसा इस लिये है कि त्रयीविद्यारूप सब वेदों के वाच्यार्थ तीन ही प्रधान देवता हैं । वेदों में कहे अन्य सब देवता इन्हीं तीन देवताओं के अन्तर्गत भेद माने जाते हैं । तैत्तिरीय में लिखा है कि (भूरित्यग्निः, भुवरिति वायुः, स्वरित्यादित्यः) इसी के अनुसार दैवतकाण्ड के आरम्भ में निरु-

क्तकार ने लिखा है कि—“ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुरन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानइति ॥

इस कारण तीन व्याहृति (तत्सवितु०) इस मन्त्र से भी श्रेष्ठ कोटि में हैं क्योंकि यहां चार ही अक्षरों में वेद का पूर्ण विषय कहा गया है । और व्याहृतियों से भी अधिक श्रेष्ठ दैवी गायत्री एक अक्षर वाली है क्योंकि दैवी गायत्री के एक ही अक्षर में सब वेदों का विषय और मूल कहा गया है । वह दैवी एकाक्षर गायत्री (ओ३म्) है । इसीलिये मनु जी ने “अकारं चाप्युकारं च०” इत्यादि कथन से सब वेदों का मूल प्रथम ओ३म् को कहा द्वितीय कक्षा में तीन व्याहृतियों तथा तृतीय कक्षा में (तत्सवितु०) इस आर्षी गायत्री को कहा है । इसी के अनुसार सम्प्रति सब का मूल (ओ३म्) प्रथम बोला जाता तदनन्तर व्याहृति और तदनन्तर आर्षी गायत्री (तत्सवितु०) यह बोली वा जपी जाती है । इस से सिद्ध हो गया कि सब का मूल होने से ओ३म् प्रथम कक्षा में उत्तमोत्तम तदनन्तर द्वितीय कक्षा में तीन व्याहृति उत्तम में मध्यम और तृतीय कक्षा में (तत्सवितु०) मन्त्र उत्तमों में निकृष्ट है परन्तु अन्य वेद मन्त्रों की अपेक्षा अवश्य उत्तम है ।

प्रश्न—जब अन्य मन्त्रों से उत्तम है तो तुम ने प्रथम आर्यसिद्धान्त में अन्य गायत्रियों के समान क्यों लिखा था ? ।

उ०—हमने गायत्रीपन में अभेद वा सामान्यता दिखायी थी सो अब भी कहते हैं कि गायत्रीपन में सब गायत्री एकसी हैं व्यक्ति भेद का हम ने खण्डन नहीं किया था ।

प्रश्न—जब (तत्सवितु०) यह मन्त्र सब अन्य वेद मन्त्रों से श्रेष्ठ है तो श्रेष्ठ का ग्रहण क्या किसी को निषिद्ध हो सकता है ! क्या मिश्री भी किसी को कडुई लगती है ।

उ० यह ठीक है कि श्रेष्ठ सब के लिये समान हितकारी हो सकता है धर्म सब के लिये उपकारी हो सकता है पर जो नहीं कर सकता वा धर्म से उलटा परिणाम निकाल कर अपनी वा जगत् की हानि करले उस का वह अधिकारी नहीं हो सकता । इसी विचार से यह कहा गया है कि—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥

मूर्ख जो स्वयं समझने की शक्ति नहीं रखता अन्य के बताये मार्ग को अपने दुरभिमान से मानता नहीं वास्तव में उसी को अधिकार नहीं वह चाहे ब्राह्मण ही कहाता हो भले ही सामान्य बुद्धि वाले लोगों को अपने भाषणपन के साथ कथन वा लेखादि से प्रसन्न भी कर सकता हो। हम इसी के अनुसार सर्वथा शठ मूर्ख दुरभिमानी को शूद्र कहते हैं वह चाहें किसी जाति में अपने को मानता हो वा वेद के उच्च सिद्धान्तोंकी ओर न पहुंचे मनुष्य उसको किसी श्रेष्ठ जातिके नाम से भले ही कहते हों ऐसे ही को शूद्र मान कर वेद का अनधिकार अनेक ग्रन्थकारों ने कहा है। और स्वामी जी महाराज ने शूद्र को भी वेदाधिकार लिखा है उस का अभिप्राय यह है कि लोक परम्परा से वा जाति के नाम से कोई शूद्र भी कहाता हो पर वह अच्छा संस्कारी शुद्धाचारी विद्याधर्मानुरागी तीव्र बुद्धि हो तो अवश्य उस को वेद पढ़ाया जाय। यदि वह श्रेष्ठ वस्तु से ठीक उपयोग ले सकता है तो वह उस का अनधिकारी नहीं। बालक हाथ में चक्कू लगाले इस कारण चक्कू से लेखनी बनाने का अधिकारी वह बालक नहीं इसी के अनुसार मनुष्योंमें अधिकारानधिकार भेद अवश्य रहेगा यही वेद शास्त्रों का सिद्धान्त है।

प्रश्न—कोई वैश्य मनुष्य है और वह समझने की योग्यता भी रखता है तो क्या उस को गायत्री के जपने का अधिकार नहीं ?।

उ०—यदि वेद को समझने की योग्यता रखता है विद्या धर्मादि में अधिक रत है व्यापारादि को प्रधान नहीं मानता वही तो ब्राह्मण है हम उस को वैश्य मानते हो नहीं। और ब्राह्मण जाति में प्रसिद्ध होने पर भी जिस से धन लेना अभीष्ट समझा उसी के गीत गा दिये वा जिस की नौकरी की उस की इच्छानुसार लेख लिख दिया उस के मत में (टकाधर्मष्टकाकर्म) है वह वैश्य वा शूद्र है उस को पूरा अधिकार नहीं किन्तु योग्यता के अनुसार ही अधिकार माना जायगा ॥

प्रश्न—स्वामी जी महाराज तो सब मनुष्यों को सब अंशों में एक सा ही अधिकार मानते थे और वैसा ही आर्यसमाज मानता है तुम भेदवाद पर बल देते हो यह आर्यसमाज के सिद्धान्त से विरुद्ध है। ऐसा करोगे तो हम तुम्हारा खण्डन छपा देंगे वा अनेक मनुष्यों को प्रकट कर देंगे कि भीमसेन शर्मा स्वामी जी से वा आर्यसमाज के सिद्धान्त से विरुद्ध हैं तो तुम्हारी निन्दा वा बड़ी

हानि होगी । इस लिये सीधा २ लिखा करो अभिमानी मत बनो कि हमी पण्डित हैं ।

उ० स्वामी जी महाराज वा आर्य समाज सभी मनुष्य भेद वाद को मानते थे और मानते हैं जगत् भर में कभी कोई ऐसा मनुष्य न हुआ और न हो सकता है जो अग्नि और जल में भेद न माने किन्तु ईश्वरीय सृष्टि का भेद वा वेद के सिद्धान्त से सिद्ध होने वाला भेद सब देशों सब कालों और सब प्राणियों में विद्यमान सदा ही रहता है उस को कोई न माने तो उस का मानना ऐसा ही होगा कि देखना सुनना आदि काम भिन्न २ इन्द्रियों से करता हुआ भी कहे वा माने कि मैं तो एक ही इन्द्रिय से सब करता हूं अन्न खाता जल पीता हुआ भी कहे कि मैं तो दोनों को ही पीता वा खाता हूं । इसी प्रकार मनुष्यों में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट वा अति निकृष्ट भेद अवश्य ही सब को मानने पड़ते हैं और उत्तम के साथ उत्तम कामों का मध्यम के साथ मध्यमों का तथा निकृष्टों के साथ निकृष्ट कर्मों का योग सभी ठीक मानते हैं । वा उत्तम मध्यम नीच कर्मों से ही सब तीनों प्रकार के मनुष्यादि भिन्न २ माने जाते हैं वा इसी बात को यों कहो कि जिस २ में उत्तम कर्म कर सकने की योग्यता प्रतीत हो वा परीक्षा द्वारा निश्चित की जाय उस को ही उत्तम कक्षा के कर्त्तव्य सौंपने चाहिये वा स्वयमेव अपने स्वभावानुसार वह उत्तम कर्म करने की ओर झुकता है इसी प्रकार मध्यम निकृष्ट के विषय में जानो । क्या आर्यसमाज वा पृथिवी भर पर कोई थोड़ी बुद्धि रखने वाला भी यह कह सकता है कि उत्तम मध्यम निकृष्ट कुछ नहीं है सब को सब सब काम करना चाहिये । क्या तुम जिन कामों को अति निकृष्ट समझते हो उन को भी कर सकते हो ? । राजा महाराजा सब मनुष्य क्यों नहीं बन जाते ? । इस से सिद्ध हुआ कि भेदवाद को सब मानते सब को यथोचित भेद अवश्य ही मानने पड़ता है इसी के अनुसार स्वामी जी महाराज मानते तथा आर्यसमाज भी मानता था और मानता है । जिन से तुमने वा एतद्देशीय अनेक लोगों ने भेदवाद का खण्डन सीखा है जिन को तुम परमर्षि वा परम गुरु मानते हो वा जिन से सीखे हो उन के साथ कृतघ्न होकर उन से भी द्वेष करते और उन्हीं की शिक्षानुसार चलते हुए भी उन को नहीं मानते पर सब दशाओं में जिन से तुम ने सीखा है वे ही लोग सर्वांश में पूरा २ भेदवाद मानते हैं और उसी भेदवाद के अनुसार सब काम करते हैं इसी से उन

की उन्नति है । यथोचित भेद के अनुसार न चलने से ही हमारी अवनति है । यथोचित भेद का नाम ही वैदिकधर्म वा वेद का सिद्धान्त है ।

प्रश्न—इस प्रकार का भेदवाद तो सभी मानते और हम भी मानते हैं । पर तुम तो जाति से ही ब्राह्मणादि का भेद उन को मन्त्र का भेद आदि मानते हो ब्राह्मणों को सब से उत्तम ठहराने का उद्योग किया करते हो ।

उ०—वास्तव में समय के हेर फेर से कुछ ऐसी दशा हो गयी वा वायु में सर्वत्र भ्रम फैल गया है कि यदि ब्राह्मणादि नाम लेकर भेद दिखाया जाय और उन के साथ कर्मों का भेद कहा जाय तो तुम्हीं क्या प्रायः सभी लोग चौंक उठते हैं । और यदि केवल इतना ही कहा जाय कि उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन प्रकार के मनुष्यादि होते वा हो सकते हैं उन २ को वैसे २ ही उत्तम मध्यम निकृष्ट काम उन २ की योग्यतानुसार सौंपने चाहिये । और इसी आशय का विदुर का कहा यह श्लोक है कि—

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥

तथा इसी आशय का आर्य समाज का नियम कह देवे कि—“सब के साथ यथायोग्य धर्मानुसार वर्त्तना चाहिये” तो किसी को कुछ भी सन्देह वा उद्वेग न होगा । पर शोध कर देखा जाय तो दोनों का अभिप्राय एक ही है । वेद की शैली में जिन को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहते हैं उन्हीं का लोक में उत्तमादि शब्दों से व्यवहार होता है तो यह आया कि अन्य शब्दों से वा अन्य प्रकार से उसी बात को अच्छा मानें और ब्राह्मणादि शब्दों से भेद देखकर चौंक पड़ें इस का यही कारण है कि ब्राह्मणादि नामों से और उन के कर्मों से रखने वाले भेदवाद को हम बुरा समझने लगे वा यों कहो कि वेद का नाम तो हम में से अनेक लोग किसी कारण अच्छी दृष्टि से लेने लगे वा सुनने लगे पर वेद के मुख्य सिद्धान्त वर्णाश्रम धर्म के साथ हमारी प्रीति अभीतक अज्ञान की प्रबलता से नहीं हुई । हमारे विचार में स्वामी जी महाराज का यह अभिप्राय था कि ब्राह्मणादि वर्ण सब बिगड़ गये वा अधिकांश वर्णसंकर हो गये केवल नाममात्र से प्रसिद्ध जातियों में जन्म होने मात्र से ब्राह्मणादि कहाने लगे वेद शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार गुण कर्म स्वभावों के ठीक होने पर ब्राह्मणादि वर्णों का भेद मानना लुप्तप्राय हो गया ।

इस के लिये आर्यसमाज एक सभा उन्हों ने नियत की कि इस सभा के द्वारा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होगा। फिर से शास्त्र के सिद्धान्तानुसार वर्णव्यवस्था चलेगी। जो २ जिस २ वर्ण में कहाते हैं वे प्रथम अपने २ गुण कर्म स्वभावों का संशोधन करेंगे पीछे अन्यों को सुधार सकेंगे। परन्तु महात्मा का वह उद्योग अभी तक तो इस कक्षा तक आर्यों ने नहीं सुधारा कि जिस को सुधरा कहा जाय जो कुछ सुधार हुआ है वह इस प्रकार का है जिस को कुछ न होने की अपेक्षा से कुछ कह सकते हैं। पर ठीक सुधार की ओर ध्यान दिया जाय तो समुद्र में बिन्दु के समान भी नहीं हुआ। और आर्यसमाज की वर्त्तमान दशा भी यह प्रतीत नहीं कराती कि इस प्रवाह से शीघ्र वा अच्छा स्थायी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा।

प्रश्न–तुम ने तो दूसरा ही व्याख्यान चला दिया तुम्हारे इन अनेक दृष्टान्तों से जाति भेद वा मन्त्र भेद का क्या उत्तर आया।

उ०—जाति भेद का यह उत्तर आया कि सुपरीक्षित उत्तम कोटि के मनुष्य जो धर्म में प्रधान हैं वह ब्राह्मण जाति है। जाति, कोटि, समुदाय आदि एकार्थ हैं। अच्छे उत्तम २ धर्म कर्म करने वाले वा उत्तम २ कर्मों की योग्यता रखने वाले एक जाति के हैं इसी से कर्म जाति है। उन को वाचिक मानस कायिक कर्म भी योग्यतानुसार सौंपने चाहिये। वाचिक कर्मों के भेद में मन्त्रभेद प्रधान है। वे २ मनुष्य अपनी २ अभिलाषाओं के अनुसार प्रार्थनोपासना करें।

प्रश्न—यदि वैश्यपन की योग्यता का मनुष्य जो धन व्यापार की सर्वोपरि वृद्धि चाहता हो वह सायं प्रातःकाल ईश्वर भक्ति के लिये तथा धीनात्मक धारणावती बुद्धि की प्राप्ति के लिये (तत्सवितु०) मन्त्र का जप करे तो कोई पाप दोष वा अनुचित है ?।

उ०–पाप दोष वा अनुचित कुछ नहीं तीनों वर्णों को ईश्वर की भक्ति तथा बुद्धि की वृद्धि के लिये जप तप आदि अवश्य करना चाहिये। पर तुम ध्यान देकर शोचो तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक प्राणी में एक प्रकार की कोई अभिलाषा प्रधान होती है। शेष अभिलाषायें उसी एक की पिछलगी अवयव रूप हो जाती हैं। और मुख्य अभिलाषा वा मुख्य गुण कर्मों से ही वर्ण व्यवस्था बनती है वैसे तो सब वर्णों के गुण कर्म सब शरीरों में हैं और मुख्य अभिलाषा के अनुसार प्रायः वह चलता और काम करता है इस के अनुसार मान लो कि

कोई ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ भी वैश्यपन में प्रधान है जो धन के लाभ को ही सर्वोपरि समझता है और वह मानस वाचिक कायिक कर्म भी प्रायः धन-लाभार्थ करता है और वह सायं प्रातः (तत्सवितु०) मन्त्र का जप वा पाठ ईश्वर भक्त्यर्थ करे तो केवल दिखाने के लिये लोक लज्जा से करेगा वा दम्भ से करेगा वा केवल लीक पीटता हुआ करेगा किन्तु जो संसार के धनैश्वर्यादि भोगों को सर्वोपरि मानता है वह यथोचित ईश्वरभक्त हो जाय वा उस को विद्याधर्म सम्बन्धिनी धीनामक उच्चकक्षा की बुद्धि हो जाय यह असम्भव है इस कारण उस का जपादि व्यर्थ होगा यही केवल दोष है। सो प्रायः हम सभी लोग जपादि को व्यर्थ दिखावे का सा ही कर रहे हैं। यदि हम अपनी योग्यता और अभिलाषा के अनुसार जपादि भी करें तो कुछ सफलता दीखे तभी वेद पर श्रद्धा भी होवे। जब हम मन से कुछ चाहते और वाणी से कुछ कहते वा मांगते हैं तो सर्वव्याप्त परमात्मा भी हमें झूठा वा पागल जानता है। यदि धी का अर्थ भी ठीक समझें और धी के लिये ही वस्तुतः प्रार्थना वा उद्योग भी करने लगें तो हमारी प्रार्थना भी सिद्ध हो सकती है। सो धी के तत्त्व को जानने वाले और वैसी उच्च कक्षा की आत्मोन्नति प्रधान बुद्धि के चाहने वाले हम में प्रायः मनुष्य सम्प्रति नहीं हैं इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहाने वाले प्रायः सभी अनधिकारी हैं किन्तु क्षत्रिय वैश्य कहाने वाले ही अनधिकारी हैं यह मेरा सिद्धान्त वा कहना नहीं है किन्तु मैं यह कहता हूं कि मनु के द्वितीयाध्याय में कहे अनुसार (तत्सवितु०) नामक सावित्री का विधिपूर्वक तत्त्व जानकर जो कोई क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि जप परायण होगा वह ब्राह्मण ही माना जायगा वा होगा। मेरी समझ में मन्त्रभेद वा जाति भेद विषयक तुम्हारे सन्देह पूरे होगये होंगे।

प्रश्न—जी हां पूरे होगये और सन्तोष भी होगया।

उ०—अस्तु ईश्वर की कृपा है जो सन्तोष होगया। पर इस बात का उत्तर और सुन लो जो तुमने कहा था कि "हम प्रकट करदेंगे वा छपादेंगे कि भी०श०आर्यसमाज के विरोधी हैं तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी इत्यादि" इस का उत्तर यह है कि जिस का धर्म पर वेद पर वा ईश्वर पर कुछ भी विश्वास नहीं वह तुम्हारे ऐसे वाक्यों से डर सकता है। मेरा तो यह विचार वा विश्वास दृढ़ दृढ़तर वा दृढ़तम है कि यदि मेरा विचार धर्मानुकूल निष्पक्ष वेदानुकूल ईश्वर की आज्ञा से अविरुद्ध है तो तुम जैसे सहस्रों लाखों भी मेरी रोममात्र

हानि वा मुझे दुःख नहीं पहुंचा सकते किन्तु धर्मविरुद्ध चल के तुम स्वयं अपनी हानि भले ही करो वा दुःख उठाओ । और यदि मेरा लेख वा विचार अज्ञान पक्षपातग्रस्त तथा ईश्वर वेद की आज्ञा से विरुद्ध हो तो तुम्हारे जैसे क्रोड़ों मनुष्य भी मित्र बन कर मुझे नहीं बचासकेंगे मेरी अधोगति स्वतः सिद्ध होगी । और रहा अभिमानी बनना सो वास्तव में अनुचित मिथ्याभिमान त्याज्य कोटि में माना जाता है । यदि कोई अपनी योग्यतानुसार मानता हो कि मैं अमुक प्रकार का हूं तो मिथ्या नहीं । कोई कहे वा माने कि मैं मनुष्य हूं पशु नहीं तो मनुष्य का ऐसा मानना दुरभिमान नहीं । जो सर्वथा अभिमान को छोड़ता है वह मनुष्य संसार में कुछ नहीं कर सकता केवल ज्ञानी परमार्थी हो जाता है यदि मुझ में दुरभिमान हो तो वास्तव में बुरा है ।

प्रश्न—अब इतना और पूछना है कि—इस छन्दोभेद के वा मन्त्रभेद के लेख से पौराणिक लोग जो पहिले से मानते थे और स्वामी जी महाराजने नहीं माना था इस कारण पौराणिक लोगों को आर्यों पर आक्षेप करने का अवसर मिल गया इस का प्रतीकार क्या करें । सो बताओ ।

उ०—पौराणिक लोगों ने क्षत्रियादि के लिये वेद से भिन्न श्लोक बना रक्खे हैं वेद मन्त्रों का वे उपदेश भी नहीं करना चाहते । और त्रिष्टुप्पद वाच्य का क्षत्रिय से वा जगती पद वाच्य का वैश्यपन से स्वतःसिद्ध वा स्वाभाविक सम्बन्ध है ऐसा सिद्धान्त न कोई पौराणिक मानता न प्रचार करता है । वही उन के मन्तव्य का खण्डन स्वामीजीने किया है और हम भी उस का खण्डन करना ठीक ही समझते मानते हैं । तथा त्रिष्टुभादि के भेद को स्वामी जी महाराज ने बुरा भला दोनों ही नहीं कहा । और हम यह कहते वा मानते और न लिखते हैं कि लोक व्यवहारानुसार क्षत्रिय वैश्य कहाने वालों को यज्ञोपवीत के समय त्रिष्टुप् जगती मन्त्रों का ही उपदेश किया जाय गायत्री का न किया जाय । किन्तु हम तो यह मानते हैं कि गायत्री का उपदेश करने और जपने में भी कोई दोष नहीं । हां गायत्री पद के वाच्यार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध क्षत्रियादि में रहने वाले ब्राह्मणपन के साथ होगा । इस कारण पौराणिकों को आक्षेप करना और आर्यों को आक्षेप मानना दोनों ही अनुचित हैं ।

प्रश्न—लेख तो आप का अच्छा गम्भीर उच्च कक्षा का मालूम होता है प-

रन्तु आर्य समाज की अभी ऐसी दशा नहीं सुधरी जो ऐसे लेखों का तत्त्व जान सके । इस कारण अभी ऐसे लेख न लिखने चाहिये ।

उ०—क्या कोई कह सकता है कि—आर्यसमाज की दशा इतने दिनों में सुधर जायगी तब ऐसे लेख सह सकेगा वर्त्तमान दशा को देखने से बहुत न्यून आशा आर्यसमाज के शीघ्र सुधरने की होती है । और यदि शीघ्र सुधरना ही मानलें तथापि क्या यह उचित है कि कोई मनुष्य विद्या धर्म सम्बन्धी विचारों को इस विचार से छिपाता रहे कि इस के समझने वाले न्यून हैं लोग हंसा करेंगे । सब विचारशील जान सकते हैं कि किसी का जीवन जगत् में नित्य नहीं है । यदि कोई अपने लोकोपकारी वा विद्यासम्बन्धी विचारों को प्रकट करने का समय देखता २ मर जावे तो वे विचार उस के साथ ही समाप्त हो जायेंगे । और अच्छे विचार प्रकट हो जाय तो थोड़े समझने वाले भी होने पर उन से अच्छा ही परिणाम होगा । कदाचित् समझने वालों का तत्काल में अभाव भी होतो भविष्यत् के लिये उस के विचार अवश्य उपकारी होंगे । तथा परीक्षक दशा की ओर चलने वालों का यह सिद्धान्त जब से चल गया कि जिस से साधारण लोग हमारी निन्दा करें जो मन्तव्य वा विचार उन के विरुद्ध हो उस को हम प्रकट न करें । वैसा न लिखें वा न कहें इसी विचार के अनुसार अनेक बातों को ऊटपटांग समझने वाले और वैदिक सिद्धान्त की अनेक बातों को सत्य धर्म मानने वाले मनुष्यों के होते भी किसी मनुष्य का साहस लोक वा जिन २ समुदायों में रहते प्रतिष्ठा पाये हुए थे उन से विरुद्ध कहने का नहीं हुआ इसी से वेदमत वा वेद का सत्यसिद्धान्त धीरे २ लुप्त होता गया, पौराणिक मिथ्या विचार फैल गये । इस के लिये केवल एक महावीर पुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती जीने कमर बांधी लोकापवाद के भय को दूर फैंक दिया विद्वानों का यही काम है मनु जी ने यही तो लिखा है कि— •

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिये कि शास्त्र वा धर्म से विरुद्ध साधारण लोगों के पीछे जीविका वा प्रतिष्ठा की इच्छा से न चले । मुख देखी बातों वा वर्त्तावों की अधिकता संसार में सदा ही चला करती है । ऐसे मनुष्य सदा ही न्यून होते हैं जो लोकापवाद का सर्वथा भय छोड़ कर धर्म को वा वेद को सब से बड़ा मान के उसी के पीछे चलना अपना परम कर्त्तव्य दृढ़ कर लेते हैं। वास्तव में

ध्यान देकर शोचो विचारो तो इस आर्यावर्त्त की अधोगति का प्रधान कारण भेड़ियाधसान वा लिकपिटाई है जो मनुष्य जिस समुदाय में कुछ प्रतिष्ठा वा जीविका प्राप्त करता है वह जब उन अपने समुदाय को प्रसन्न रखना वा उसी समुदाय के पीछे सर्वथा हो लेना अपना परम कर्त्तव्य समझ लेता है तो उस समुदाय को प्रसन्न रखने का जो २ उपाय धर्मानुकूल वा धर्म विरुद्ध देखता है सभी करता है धर्म की प्रधानता पर उस की दृष्टि नहीं जमती जैसे कोई स्त्री पुत्रादि से परम स्नेह रखने वाला उन के पालन पोषणार्थ धर्म से विरुद्ध उपायों को भी कर्त्तव्य ही मानता करता है। वैसे यहां भी जानो तथा एक काल में दो कर्त्तव्यों को कोई भी मुख्य नहीं मान सकता इस लिये धर्म को ही सर्वोपरि प्रधान माने अन्य सब विचारों को धर्म के पीछे गौण रक्खें यही परम कूटस्थ अत्यन्त दृढ़ सिद्धान्त अच्छे लोगों का है इसी सिद्धान्त को श्रीस्वामी दयानन्द जी महाराज ने भी सर्वोपरि प्रबल ठहराया है—

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

अन्त में हम यह भी कहते हैं कि किसी मनुष्य का किसी विषय में अज्ञान भी हो जिस को वह न जानता हो और वह अपने भीतरी विचार से शुद्ध सत्य कहता बोलता लिखता हो तो भी मन में आये विचार के अनुसार उस का कहना धर्मानुकूल ही माना जायगा। इस के अनुसार मेरे छन्दोभेदविषयक विचार में वा अन्य किसी विचार में कुछ भ्रान्ति भी निकले तो भी यह ऊपर लिखा सिद्धान्त दृढ़ ही रहेगा। यह सब लेख विचारशीलों के शोचने को लिखा है किसी पर आक्षेप करने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।

प्रश्न—यह तो सब ठीक मालूम होता है पर अब यह बताइये कि आर्यसमाज में आप सब से अधिक न्यूनता वा इस के उद्देशों की पूर्त्ति में बाधक क्या समझते हो?।

उ०—आर्यसमाजों में साङ्ग वेद के पठन पाठन का कहीं भी प्रचार नहीं जैसा कि श्री स्वामी जी महाराज का अभीष्ट था जो उन का सङ्ग करने वाले जानते हैं और उन के लेखों से भी स्पष्ट है।

२—ईश्वरभक्ति वेद के द्वारा उस प्रकार की नहीं जैसी होनी चाहिये। जैसे अभी महाराणी विक्टोरिया को कोई पुरुष अपनी अनन्यभक्ति और आराधना से

सन्तुष्ट करले तो महाराणी वा उन के प्रतिनिधि गवर्नरजनरल (वायसराय) उस पुरुष के अभीष्ट ऐसे २ काम वा कार्य थोड़ी ही कृपादृष्टि से सिद्ध करदे सकते हैं जिन को वह अपने परिश्रम से आयु भर में भी नहीं कर सकता । इसी प्रकार परमेश्वर बड़ा अनन्तशक्ति वा ऐश्वर्य वाला है महाराणी क्या बड़े २ चक्रवर्ती राजा महाराजा जो अब तक होगये वा होंगे वे सब उस के सामने तृणमात्र भी शक्ति नहीं रखते जिस के सामने संसार भर को भस्म कर देने की शक्ति वाला अग्नि एक तृण को भी नहीं जला सकता, जिस के भय से अग्नि सूर्यादि सब अपना २ काम नियम से दे रहे हैं क्या उस अनन्तशक्ति परमात्मा की हम को कुछ भी हृदय से भक्ति हो उस की हम पर थोड़ी भी कृपादृष्टि हो तो हमारा ऐसा बड़ा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है जिस को हम सहस्रों जन्मों में भी अपने उपायों द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते । स्वामी जी महाराज में अवश्य ईश्वरभक्ति थी उन एकने ही जितना सुधार किया उतना अब सैकड़ों उपदेशकों तथा आर्यसमाज के नायकों से नहीं होता प्रायः मनुष्यों को अपने अनिष्टों से बच जाने वा इष्टों की सिद्धि का ईश्वरभक्ति से बड़ा विश्वास नहीं है । धर्म के उपदेशक लोग यदि अपने को स्वामी जी के स्थानापन्न समझ कर अपना २ ईश्वरभक्ति आदि धर्मांशों द्वारा जितना २ अधिक सुधार करें उतना ही अधिक उन के उपदेश का प्रभाव जगत् में फैल सकता है । सो उपदेशक जब स्वयं नहीं सुधरे तो दूसरे को क्या सुधारेंगे ? ।

नहि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥

यह मनु जी का कथन बहुत ही सत्य है कि लोहू में सने वा लिसे हाथ लोहू से ही धोये जांय तो शुद्ध नहीं हो सकते । जिस के पास स्वयं ही धन नहीं है वह अन्य भिक्षार्थी को कहां से देगा ? । इसी प्रकार जिन उपदेशकों वा अध्यापकों के भीतर धर्मने स्थान ही नहीं पाया धर्म का मर्म जिन्हों ने कभी स्वप्न में भी नहीं जाना केवल कुछ बोलना सीख लिया वे दूसरों को धर्म का उपदेश कहां से करेंगे ? ।

सम्प्रति इस भारत देश में जितनी जाति वा समुदाय माने जाते हैं उन सब से अधिक मानस दोष ब्राह्मण कहाने वाले मनुष्यों में शोचने से निस्सन्देह अधिक मालूम होते हैं फूट सब से अधिक इसी जाति में है दुरभिमान इसी जाति में सर्वोपरि प्रधान है । लोभ क्रोध भी इन में अधिक है विश्वासघातता कृतघ्नता दोष की भी इस जातिने अच्छी उन्नति की है । यदि इन में से कोई वा कई दोष भारतवर्ष की अन्य जातियों वा समुदायों में अधिक भी हों तो

वे इतने अधिक बिगड़े नहीं माने जावेंगे क्योंकि वे जातीय वा स्वाभाविक ही निकृष्ट थे। जैसे एक जो दश सीढ़ियों पर चढ़ चुका था वह पांचवीं चौथी वा तीसरी सीढ़ी तक उतर आवे वा गिर जावे तो उस की अपेक्षा अधिक गिरा माना जायगा जो तीसरी वा चौथी से प्रथम वा दूसरी सीढ़ी पर आगया हो। क्योंकि यद्यपि दशवीं से तीसरी पर आया दूसरी वाले से कुछ ऊपर रहा तो भी चौथी से दूसरी पर आया दो कक्षा वा दो अंश पतित हुआ तो दश वाला आठगुणा उस से अधिक पतित अवश्य होगया। इसी प्रकार ब्राह्मण जाति अधिक पतित अवश्य होगयी है। इसी कारण पोप आदि नामों से स्वामी जी महाराज ने भी इसी जाति का अधिक खण्डन किया सो ठीक ही था। प्रायः सब वेदविरुद्ध मतों की प्रवृत्ति में अग्रगन्ता ब्राह्मण जाति के ही मनुष्य हुए और हैं। अब आर्यसमाज में भी अधिकांश उपदेशक अध्यापक और सम्पादक इसी जाति वालों में से हैं। और वे प्रायः सुधरे नहीं हैं यदि इन में से एक भी हृदय से सच्चा देशहितैषी सच्चा धर्मनिष्ठ हो तो वह छिप नहीं सकता यह भी कदापि सम्भव नहीं कि धर्म और विद्या सम्बन्धी प्रताप वा प्रकाश को कोई रोक वा छिपा सके। सूर्य के उदय होते ही बद्दल आदि के होने पर भी रात्रि तो अवश्य ही दूर हो जाती है। वसिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषि लोग कोई राजा वा श्रीमान् नहीं थे तथा वे लोग रजोगुणी भी नहीं थे जो अपनी प्रतिष्ठा प्रशंसा को बढ़ाने और किसी से लिखाकर छपाने आदि द्वारा फैलाने का उद्योग करते रहे हों किन्तु वे अपने अच्छे कर्त्तव्यों को सर्वथा ही प्रकाशित भी नहीं करते वा करना चाहते थे तो भी लाखों वर्ष से आज तक कैसी प्रतिष्ठा और गौरव के साथ उन लोगों का नाम लिया जाता है यह केवल धर्म रूप सूर्य का प्रताप है जो कदापि छिपाया नहीं जा सकता। अब उन्हीं वसिष्ठादि महर्षियों के वंशों में हम भी एक कुलपांसन उत्पन्न होते और अपनी प्रशंसा प्रतिष्ठा बढ़ाने का अपने गौरव की रक्षा का प्रतिक्षण ध्यान ही लगाये रहते हैं प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ाने के लिये शक्तिभर उद्योग भी करते हैं जब किन्हीं की अपेक्षा से अपनी प्रतिष्ठा अधिक सुनते हैं तब बड़ा हर्ष मानते हैं और अपने से किसी का गौरव अधिक देखते हैं तो शोक होता है। पर हम जैसे धर्मलेशहीन मनुष्यों का मरण होने पश्चात् कहीं नाम वा चिह्न भी नहीं रहता किन्हीं कथा वा इतिहासों में नाम भी नहीं लिया जाता जल बुद्बुदों के समान हमारे विचार हमारे लेख

[भाग ८ अङ्क ३ । ४ पृ० ४० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर]

तात्पर्य्य यह हुआ कि चेतन आत्मा में बुद्धि आदि गुण हैं परन्तु प्रकृतिजन्य दृश्यों के अनुभवार्थ आत्मा के गुणों के सहायक बुद्धि आदि जड़ तत्व पृथक् प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। दूसरा दृष्टान्त बहुत स्थूल यह है कि यद्यपि हमारी आंख में देखने का सामर्थ्य है परन्तु दूरवीक्षण शीशे के बिना उतने दूर के पदार्थों को आंख नहीं देख सकती अर्थात् आत्मा देखता है मन अन्तःकरण दिखाता है मन देखता है आंख दिखाती है आंख देखती है दूरवीक्षण शीशा दिखाता है उत्तरोत्तर पदार्थ पूर्व पूर्व के सहायक हैं और उन २ से भिन्न हैं इसी प्रकार प्रकृतिजन्य मन बुद्धि चित्त अहङ्कार, आत्मा के इन्हीं गुणों के सहायक हैं इन्हीं की उत्पत्ति उक्त मन्त्रों और सांख्यशास्त्र में कही है आत्मा के तत्तद् गुणों की नहीं ॥ ह० तु० रा०

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त में कुछ काल से सत्यार्थविवेक (साधुसिंह लिखित) का उत्तर पं० तुलसीराम स्वामी की ओर से लिखा जाता था। अब उक्त स्वामी किन्हीं कारणों से मेरे समीप नहीं रहे इस से मैं (भी०श०) फिर से लिखना आरम्भ करता हूं।

अब पहिले से आरम्भ किये सब कामों की शीघ्र समाप्ति करने के उद्देश के साथ सत्यार्थ विवेकादि का उत्तर भी शीघ्र समाप्त करने का दृढ़ संकल्प हो गया है। आशा है कि परमात्मा पूर्ण करेगा। आर्यसिद्धान्त में स्वामी दया० जी महाराज के कहे वेदोक्त सिद्धान्तों के प्रतिपक्षियों का खण्डन करना कुछ दिनों से इस कारण शिथिल किया था कि प्रथम से अब तक बहुत खण्डन छप चुका अब लोग शान्त हो जांयगे तथा अन्य विद्यासम्बन्धी विचारों के करने में कुछ बाधा पड़ती है परन्तु विपक्षी शान्त नहीं हुए और बड़े २ पुस्तक प्रतिपक्ष में बनाने लगे इस लिये तथा कई मित्रों के अनुरोध से हम ने फिर संकल्प किया है कि हम कुछ २ लिखते रहा करेंगे जो वैदिक सिद्धान्त के शत्रुओं को ध्वस्त करने के लिये एक शस्त्र सिद्ध होता जायगा।

सत्यार्थ विवेक का उत्तर—

साधुसिंह पृष्ठ ८६ में लिखते हैं कि (सत्यार्थ प्रकाश समु० ११ पृ० ३९० में देखो) दयानन्द का जीव ब्रह्म की एकता जगत् मिथ्यात्व में प्रलाप है। सोकर

यह शंकराचार्य का मत अपना है तो इच्छा नहीं और जैन मत खण्डन वास्ते स्वीकृत है तो कुछ इच्छा है। तो दयानन्द से यह प्रष्टव्य है-जो शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और गोविन्दाचार्य के गुरु गौडपादाचार्य की माण्डूक्य कारिकाओं में किस मत के वास्ते अद्वैत मत का प्रतिपादन करा है। और व्यास भगवान् ने अपने सूत्रों में परमेश्वर की लीला सृष्टि कही है और दयानन्द को तो जैसा मिथ्यात्व अद्वैत में विवक्षित है तिस का बोध ही नहीं तो खण्डन करना केवल अज्ञान है।

उत्तर—स्वामीदयानन्द जी का प्रलाप है तो आप का विलाप होगा। जब साधुसिंह दूसरे के अनुवाद की भाषा को भी अशुद्ध कर देते हैं तो अपनी भाषा-शुद्ध लिख सकें यह कैसे सम्भव है फिर ऐसे लोग वेद के मन्त्रों पर व्यवस्था देना चाहते हैं क्या यह आश्चर्य नहीं है?। शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और उन के गुरु गौडपादाचार्य और उन के भी किसी गुरु अवश्य ही कोई होंगे उन्हों ने भी भले ही अद्वैत प्रतिपादन किया हो इस से हमारे सिद्धान्त की कोई हानि नहीं। जब स्वामी जी ने यह नहीं लिखा कि शंकराचार्य से पहिले किसी ने भी अद्वैत का प्रस्ताव नहीं किया तो साधुसिंह का यह आक्षेप कब संघटित होता है? यदि कहें कि स्वामी जी के कहने का अभिप्राय यही है कि शङ्कराचार्य ही इस नवीन वेदान्तरूप अद्वैत मत के प्रवर्त्तक हैं तो यह सत्य है कि शंकर-स्वामी का वेदान्त विषय में जितना नाम है जैसे उन्होंने अनेक ग्रन्थ बनाये शास्त्रार्थ उपदेश जैसा किया वैसा उन के गुरुओं ने नहीं किया इसी से उन का नाम भी वैसा नहीं हुआ। विशेष प्रवर्त्तक का ही नाम प्रधानता के कारण प्रवर्त्तक माना जाता है। आर्यसमाज के सिद्धान्त के मूल विषय वेद के साथ होने से यद्यपि सनातन हैं और स्वामी द० जी के गुरु विरजानन्द स्वामी ने भी आर्ष प्राचीन प्रणाली का प्रचार करना प्रारम्भ किया था पर वह इस दशा का वा इतना न्यून था जिस से उन का नाम न चला और स्वामीदयानन्दस० जी ही प्रधान होने से आर्यसमाज के प्रवर्त्तक माने जाते हैं वैसे अद्वैत वेदान्त के प्रधान प्रवर्त्तक वास्तव में शंकराचार्य हुए यही स्वामी जी का विचार वा आशय था गौणप्रवर्त्तक उन से पहिले कोई नहीं हुआ इस बात का खण्डन वा निषेध भी स्वामी जी ने नहीं किया। तथा जैसे एक ही पीढ़ी के तीन चार पुरुष (पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र) तक एक काल में ही विद्यमान कार्यकर्त्ता भी हो

प्रकृति वा होते हैं वैसे यदि गौड़पादाचार्य ने भी उसी काल में माण्डूक्य पर कारिका बनाई हों जब शंकराचार्य जी भी विद्यमान थे तो क्या यह असम्भव हो सकता है ? । इत्यादि विचार के अनुसार साधुसिंह का आक्षेप निर्मूल ठहर जाता है । रहा व्यास सूत्रों का प्रमाण देना सो जहां अद्वैत सिद्धि के लिये कोई सूत्र ये लिखेंगे वहां हम उत्तर देंगे । आगे पृ० ८६ में (तिरश्चीनोविततो० ऋ० १०। १२९ । ५) मन्त्र लिख कर सिद्धान्त किया है कि परमेश्वर ही इस सृष्टि का उपादानकारण है और प्रकृति को सृष्टि का उपादान कहना मानना दयानन्द का मन्त्रार्थानभिज्ञता का बोधक है ॥

उ०—हमने साधुसिंह का पूरा अनुवाद इसलिये नहीं लिखा कि अर्थ वा आशय बहुत लम्बा है लेख बहुत बढ़ता और लिखने की शक्ति न होने से अर्थ वा अभिप्राय ऐसा गोलमाल भी लिखा गया है कि सब की समझ में नहीं आता । मन्त्रार्थ लिखने से पहिले हम पूछते हैं कि—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

अर्थ—पृथिव्यादि विकारों और इन्द्रियादि गुणकार्यों को हे अर्जुन ! तुम प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो । प्रकृति जगत् का उपादान है ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वेताश्वतरोपनि० अ० ४ मं० ५ ।

अर्थः—लाल काले श्वेतरूपादि गुणों वाली अजा नाम अनादि एक जड़ प्रकृति अपने जैसे गुणों वाले स्थावर जङ्गम नाना प्रकार के संसार को उपादान कारणरूप से रचती है [यहां सरूप कहने से कार्यकारणयोः सारूप्यम् । कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः । कारण नाम उपादान के समानरूप गुणों वाला कार्य होता है । जो गुण कारण में होते वे ही कार्य में आते हैं । इसी कारण लोहे से सुवर्ण का आभूषण बनजाना सर्वथा असम्भव है] कोई जीवात्मा इस प्रकृति जन्य

संसारी भोगों को सेवन करता हुआ इसी प्राकृत जगत् में लिप्त वा बद्ध रहता और कोई इस प्रकृति को भोग कर छोड़ देता है अर्थात् मुक्त हो जाता है । क्या इन प्रमाणों के अर्थ में लेशमात्र भी कोई पक्ष है ? किन्तु इन का जो सर्वसम्मत अर्थ अक्षरों से प्रकट होता है वही हमने लिख दिया है तो क्या इन से प्रकृति का उपादान होना स्पष्ट सिद्ध नहीं है ? ऐसे सहस्रों प्रमाण श्रेष्ठ प्राचीन पुस्तकों में भरे पड़े हैं जिन के अर्थ करने में अद्वैतवादी नवीन वेदान्तियों को खैंच खांच करनी पड़ती है । तब प्रकृति को उपादान कहने में यदि स्वा० दया० जी की भूल कहोगे तो गीता वा श्वेताश्वतर उपनिषदादि ग्रन्थकारों को भी क्या वेद से अनभिज्ञ मानोगे ? ।

अब हम वेद के उस मन्त्र का अर्थ अपने पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्। रेतोधा आसन्महिमान आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ १ ॥ ऋ० १० । १२९ । ५ ॥

अर्थः—(एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिः) यहां आसीत् क्रिया की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लानी चाहिये । तब यह अर्थ होगा कि इन पूर्वोक्त कवि ज्ञानी योगी लोगों के भीतर तिरोभूत शुद्ध पूजित फैला हुआ विस्तृत परमेश्वर का शुद्ध प्रकाश विद्यमान रहता है । अर्थात् परमात्मा ज्ञानी योगी विद्वानों के शुद्ध अन्तःकरण में सुलभ है और (अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्) इस जगत् में परमात्मा हम से कहीं नीचे वा ऊपर दूर है ? हमारे समीप होता तो उपलब्ध क्यों न होता ? यह साधारण लोगों के लिये विचारणीय है । यहां (उपरिस्विदासीदिति च) इस पाणिनीय सूत्र से विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत होना जताया गया है सृष्टि के आरम्भ में (रेतोधा आसन् महिमान आसन्) बीज शक्तिप्रधान पुरुष जीवात्मा रहते और क्षेत्रशक्ति प्रधान [इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहे गहन गभीर अम्भम् पद वाच्य] सर्वत्र भरी हुई सर्वाच्छादिका महती स्त्रीरूप प्रकृति भी विद्यमान होती है इन्हीं दोनों के संयोग से परमेश्वर

संसार को बनाता है (स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्) इन दोनों में स्वधा अ-न्नादि नामक भोग्य प्रकृति स्त्री को अवस्तात्–पुरुषापेक्षा निकृष्ट मानना और प्रयत्न उद्योग करने में विशेष समर्थ होने से पुरुष नाम भोक्तृशक्ति को पर नाम उत्कृष्ट मानना चाहिये वा सदा ही दोनों ऊंच नीच माने जाते हैं ॥

भा०–इस मन्त्र में जो तिरश्चीन पद है उस में दो शब्द हैं एक तिरस् अन्तर्हित भीतर गुप्तार्थ बोधक द्वितीय चीन अञ्चु धातु का प्रयोग जिस का अर्थ स-र्वोपरि पूजित शुद्ध श्रेष्ठतम है। यद्यपि सब जड़ चेतन में ईश्वर व्याप्त है तथापि शुद्ध दर्पण में अपना ठीक रूप दीख पड़ने के समान योगी ज्ञानी लोगों के शुद्ध हृदय में ही उपलब्ध हो सकता है मलिनान्तःकरणों में प्राप्त नहीं होता। और मन्त्र का गूढ़ाशय यह है कि सब पदार्थ प्रकाश रहित अन्धकार वा अज्ञान से छिपे रहते वा दीख नहीं पड़ते वा जाने नहीं जाते यह प्रत्यक्ष सिद्ध है प्रकाश में सब दृश्य दीखता वा यों कहो कि ज्ञानी कवि लोगों को सब ज्ञात होजाता है। तिरोभूत कुछ नहीं रहता। इस प्रकार यहां तिरस् पद से छिपने के आश्रय आ-धार जड़ प्रकृति और एषां पद से शुद्ध चेतन जीवात्मा दिखाये हैं। और प्रकृति में अधिक लिप्त होने से ही साधारण प्राणियों को अज्ञानान्धकार बढ़ जाता है इसी से परमेश्वर नहीं दीखता। परन्तु परमेश्वर जड़ में तिरोहित रहता भी वह अपने स्वरूप से शुद्ध पूजित ही बना रहता वह निर्लिप्त है यह तिरस् के अनन्तर पढ़े चीन शब्द से जताया है। इसी कारण अज्ञानी लोगों को सदा सन्देह ही बना रहता है कि वह कहीं नीचे पृथिव्यादि में घुसा है वा कहीं ऊपर दूर है जो हम को नहीं मिलता वा दीखता। इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ईश्वर जीव प्रकृति तीनों को सृष्टि के सम्बन्ध में अनादि दिखा कर उत्तरार्द्ध में भोग्य भोक्ता वा प्रकृति पुरुष की सकारण उत्तमता निकृष्टता वा प्रबलता निर्बलता सनातन दिखायी है। वास्तव में मन्त्र के उत्तरार्द्ध में परमेश्वर ने दो बातें स्पष्ट सर्वसन्देह निवृत्ति के लिये दिखायी हैं। एक तो जीवात्मरूप पुरुष और प्रकृति की विद्यमानता वा इन दोनों का अनादि होना कि रेतस् नाम बीज को धारण करने वाले जीवात्मा थे, हैं और रहेंगे तथा महदादि नामक प्रकृति के भी सब प्रकार भेद थे, हैं और रहेंगे क्योंकि वेद में लङ्लकार का प्रयोग पा-णिनीयव्याकरण के (छन्दसि लुङ्लङ्लिटः) सूत्र से तीनों काल में होना स्पष्ट

दिखाया है । इसी अर्थ से वेद सार्वकालिक और ईश्वरीय वाक्य ठहरता है । जो कोई आसीत् वा आसन् क्रियाओं का भूतकालमात्र का अर्थ करे वह वास्तव में बड़ा अज्ञानी वेदसम्प्रदाय के ज्ञान से शून्य माना जायगा । और द्वितीय यह जताया है कि निघण्टु में स्वधा नाम अन्न और जलों का है विचारदृष्टि से देखें तो अन्न जलादि तत्त्व भोग्य हैं अग्नि भोक्ता है । हमारे पेटों में भी खाये हुए अन्न जलादि को जाठराग्नि ही पकाता है । सर्वत्र शोध कर देखो तो भोग्य होने से ही वह २ पदार्थ निकृष्ट वा निर्बल माना जाता है । राजा भोक्ता होने से प्रबल वा प्रबल होने से भोक्ता है और प्रजा निर्बल होने से भोग्य है । स्वधा अन्नादि नामक प्रकृति भोग्य होने से अवस्तात् नीच वा नीचे रहती प्रयति नाम प्रयत्न उद्योग परिश्रम करने वाला होने से पुरुष उत्तम वा ऊपर माना जाता है । यह बात लोक में भी वेद से ही प्रचरित हुई ज्ञात होती है कि पुरुष धनादि के उपार्जन में प्रधान वा प्रबल होने से बड़ा वा प्रथम माना जाता है और स्त्री-जाति में मन्त्रोक्त प्रयतिपन की विशेषता न होने तथा स्वधा नाम भोग्यरूप से पु-रुषाधीन होने से स्त्रीजाति अबला निर्बल मानी जाती है । इस प्रकार जब इस मन्त्र के निर्विकल्प अक्षरार्थ से तथा अभिप्राय से ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों का अनादि होना तथा (रेतोधा आसन् महिमान आसन्) इस कथनसे बलपूर्वक कह दिया गया कि जीवात्मा और प्रकृति तीनों काल में विद्यमान रहते हैं तो साधुसिंहादि कोई भी भेडियाधसान में चलता लीक पीटता हुआ पुरुष कहे कि एक ईश्वर ही था वही जगत् का उपादानकारण था जीव और प्रकृति प्रथम कोई नहीं था यह कैसे माना जायगा । वेद वास्तव में सब से बड़ा प्रामाणिक इसी लिये है कि वेद की सब बातें निर्भ्रान्त सत्य हैं । इस से सिद्ध हुआ कि स्वामीजी महाराज का विचार सर्वथा वेदानुकूल है और साधु० का अज्ञान है ॥

इस से आगे साधुसिंह ने इसी पूर्वोक्त ऋग्वेद सूक्त के दो मन्त्र लिखकर सिद्ध किया है कि यह सृष्टि किस से किस प्रकार उत्पन्न हुई इस का उपादान कौन है यह कोई नहीं जानता वा जान सकता । यदि परमेश्वर जानता है वा नहीं जानता इस से सृष्टि विचित्र मायामय है इत्यादि ।

उ०—हम पूछते हैं कि सृष्टि को मायिकत्व वा मायामय आदि विशेषण लगाने से इन लोगों का क्या अभिप्राय है ? । यदि वेदान्त के प्रामाणिक ग्रन्थों में जो माया शब्द का अर्थ लिया गया है वही इन का अभिप्राय हो कि—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ श्वेताश्व० उ० ।

माया नाम प्रकृति का है जो इस जगत् का जड़ उपादान कारण है और प्रकृति के अधिष्ठाता स्वामी महेश्वर परमात्मा का नाम मायी है क्योंकि वह प्रकृति नामक माया उसी के अधिकार में स्वामी का स्व होकर सदा रहती है। यदि सृष्टि को मायामय कहने से यही अभिप्राय है तो हमारा पक्ष साधुसिंह ने भी मान लिया और उन के कपोल कल्पित मत का खण्डन हो गया। यदि यह अर्थ उन को अभीष्ट नहीं तो और क्या है? वास्तव में इन लोगों का मत सर्वथा कल्पित है। ये लोग माया शब्द का ऐसा विलक्षण अर्थ करते हैं जिस के लिये न किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रमाण मिला न मिल सकता है जहां कुछ न हो और कुछ दीख पड़े इस में बाजीगर के तमाशे का दृष्टान्त देते हैं। सो यह इन का विचार महा मिथ्या है जहां कुछ वास्तव में नहीं वहां दीख भी नहीं सकता। बाजीगरों के निकट वास्तव में वे सब पदार्थ रहते वा होते हैं जिन को वे चालाकी से दिखा देते हैं। अब तक क्या ये वेदान्त पढने मानने वाले ऐसे अज्ञानी रहे जिन ने यह भी न जान पाया कि बाजीगरों के पास सब पदार्थ रहते हैं और जो पदार्थ उन के पास न हों उन को कोई देखना चाहे तो तीन काल में भी नहीं दिखा सकते यह सब हमने निश्चय भी कर लिया है इस से बाजीगर का दृष्टान्त सर्वथा निरर्थक है। मृगतृष्णादि भी जो २ दीख पड़ते हैं वे भी कुछ अवश्य हैं और को और देख लेना वा जान लेना यह मनुष्य का अज्ञान है। इस से सिद्ध है कि माया शब्दार्थ इन लोगों का सर्वथा प्रमाण शून्य कल्पित है यदि ये लोग किन्हीं श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थों का कोई स्पष्ट प्रमाण देवें कि माया शब्द का जो अर्थ हम करते हैं वह इस २ प्रमाण के अनुकूल है तो हम उस का भी यथोचित उत्तर देंगे। निघण्टु जो वेद का कोष है उस में माया नाम प्रज्ञा बुद्धि का है। यदि कहें कि अमरकोष में माया नाम इन्द्रजाल का है तो उत्तर यह है कि प्रथम निघण्टु और उपनिषदों जैसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ प्रमाणों के सामने अमरकोश का प्रमाण ही क्या? द्वितीय तुम लोगों ने माया शब्द का जो अर्थ चलाया उसी को देखकर अमरसिंह ने भी लिखा तो तुम्हारे तुल्य अमरकोश का लेख भी साध्य कोटि में है। अब हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ उक्त दो मन्त्रों का अर्थ लिखते हैं—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा वेद यत आबभूव ॥६॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग! वेद यदि वा न वेद ॥७॥ ऋ० १० । १२९ । ६ । ७॥

अ०-(कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः) कस्मादुपादानान्निमित्ताद्वेयं विविधा सृष्टिराजाता कीदृशं तत्कारणं (को अद्धा वेद) अद्धा सम्यक्तया प्रत्यक्षीकृतं विषयमिव को वेद कोहि ज्ञातुमर्हति (कइह प्रवोचत्) इह जगति देहधारिषु सम्यगज्ञातविषयं को वा विशेषेण प्रवक्तुं व्याख्यातुमर्हति । यदि कोऽपि ब्रूयाज्जगत्युच्चकक्षास्था ऋषिदेवादिपदवाच्याः प्राणिनो विद्याधर्मादिजन्यसंस्कारप्राबल्यात्सर्वं वक्तुमर्हन्ति तदर्थमुत्तरम् (अस्य विसर्जनेन देवा अर्वाक्) अस्य दृश्यस्य जगतो विसर्जनेन विविधाकाशादिसर्गानन्तरमुत्पन्ना देवा नहि ते स्वोत्पत्तितःपूर्वं जातां सृष्टिं सकारणां साक्षाज् ज्ञातुमर्हन्ति नहि कोऽपि पुत्रः पितुर्जन्मकालीनं वृत्तं साक्षाज् ज्ञातुमर्हति । यतो निमित्तकारणादुपादानाच्चेयं विविधा सृष्टिराबभूव सएव यदि दधदिमां धारयति यदि वा न धारयति नान्यस्तदतिरिक्तो धारयिता सम्भवति । नहि कस्यापि सामर्थ्यं विद्यते योऽनन्तपरिमाणं जगद्धारयेत् । यः परमानन्ताकाशवद्व्याप्तोऽस्याध्यक्षोऽस्ति हे अङ्ग स इदं वेद यदि वा न वेद नान्यस्ततो वेत्ता धर्त्ता वा तत्तुल्यस्ततोऽधिको वा कश्चनास्तीति ॥

भा०—विकल्पदर्शनान्नेदमर्थादापत्तव्यं यत्स ईश्वरोऽपि नैव धरति नवा जानाति। स दाधार पृथिवीमुत द्यामित्यन्यत्रोक्तत्वात् स तु सर्वं धरति सर्वं च याथात्म्येन जानाति । एवं मन्त्रद्वयेनात्र तत्समस्य ततोऽधिकस्य च धर्तृत्वज्ञातृत्ववारणेन सर्वांशे परमात्मनो निरतिशयत्वमेव द्योत्यते । कोऽपि देही न किमपि सर्गविषये ज्ञातुमर्हति नच केनापि ज्ञानायोद्योगः कार्य इत्यपि मन्त्राशयो नावसेयः । यदि मनुष्यैः सम्यक्सर्गो ज्ञातुमशक्योऽतस्तैर्न ज्ञातव्यइति मन्त्रकारस्य भगवत इष्टं चेत्स्यात्तदा नासदासीन्नोसदासीदित्याद्यपि न ब्रूयात् । अपितु सृष्टिविषये एतन्मन्त्रद्वयमेवोपदिशेत् । कोऽपि वेदपारगोऽलौकिको योगी सृष्टिवृत्तं सम्यग्जानीयाच्चेत्तदा तेन विशेषेण सामान्यकथनमिदं न व्याहन्यते ब्रह्मापेक्षया तस्य ज्ञानमप्यज्ञानवदेव । योहि मन्त्रद्वयेन सृष्टेर्दुर्विज्ञेयत्वमूरीकृत्य सृष्टेर्मायामयत्वं जीवब्रह्मणोरैक्यं च वदति। स तावत्प्रष्टव्यो विपश्चिद्भिः कथमयमाशयो निस्सारयितुं शक्यते त्वया ? नहि क्वापि मथ्यमानोदकादाज्यमुद्भवति। यदा चेश्वरस्य ज्ञातृत्वधर्तृत्वनिषेधस्त्वयापि नाङ्गीक्रियते तदा त्वन्नयेऽपि मनुष्यैः सम्यगज्ञेयत्वमागतमेव पुनः शङ्करस्वामिना त्वया त्वादृशैस्तवानुगैर्वा कथमेतज्ज्ञातुं वक्तुं वा शक्यते ? यद् ब्रह्मैवास्य सर्गस्योपादानमिति यै र्देवादिपदवाच्यैः सृष्टिर्ज्ञातुं न शक्यते ते ब्रह्मतः सर्वं ज्ञातुं शक्ताद् भिन्ना मन्त्राशयेनैव स्पष्टीभवन्ति त्वयाप्येतन्मन्तव्यमेव भविष्यति पुनः कथमुच्यते जीवब्रह्मणोरैक्यमिति । पश्यन्तु चक्षुष्मन्तएषामाधुनिकवेदान्तिनामनभिज्ञतां वदतोव्याघातं चेति ॥

भावार्थः—(कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः) किस उपादान वा किस निमित्त कारण से यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई (को अद्धा वेद) यह प्रत्यक्ष किये विषय के समान कौन जान सकता है ? (क इह प्रवोचत्) इस जगत् के देहधारियों में से कौन अज्ञात विषय का विशेष कर व्याख्यान कर सकता है । जब कि मनुष्य अपनी अल्पज्ञता के कारण देखे सुने विषयों को ही ठीक २ नहीं जान पाता और इसी से उस विषय को पूर्णरीति से किसी को नहीं समझा सकता तो बिना देखे सुने को कौन जाने और कहे ? यदि कोई कहे कि जगत् में उच्चकक्षा के ऋषि देवादि नामक प्राणी [जो ईश्वरापेक्षा अल्पज्ञ रहने पर भी इन साधारणों की अपेक्षा सर्वज्ञ कहाते हैं] विद्या और धर्मसम्बन्धी संस्कारों की प्रबलता से सब कुछ जान सकते हैं तो उत्तर यह है कि (अस्य विसर्जनेन देवा अर्वाक्) इस पृथिव्यादि पाञ्चभौतिक सृष्टि के उत्पन्न होने पश्चात् इधर मनुष्यादिनामक सब प्राणी उत्पन्न होते हैं [उन में पूर्वकल्प के उत्तम संचित पुण्य संस्कारों से जन्म से ही विद्या धर्मादि में प्रबल होते वे सिद्ध देव और जो वर्त्तमान जन्म में शुभकर्मानुष्ठान से सिद्धि को प्राप्त होते वे साध्य देवता हैं] इस कारण वे अपनी उत्पत्ति से पहिले हुई सृष्टि का कैसे साक्षात् अनुभव कर सकते हैं ? कि सृष्टि का उपादान ऐसा था वा निमित्तकारण ऐसा था इस २ क्रम से रचना हुई । कोई पुत्र अपने पिता के जन्म का हाल ठीक २ नहीं जान सकता (अथ को वेद यत आबभूव) और जिस से यह सब उत्पन्न हुआ है वह स्रष्टा अवश्य जानता है । (इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न) जिस निमित्त वा उपादान कारण से यह विविध रचना हुई वही कारणद्वय इस का धारण करता है वा नहीं अर्थात् जब धारण करने की आवश्यकता होती वा रहती है तब वही कारण इस को धारण करता और प्रलय के समय वही इस को धारण नहीं करता तभी सब का लय हो जाता है । धारण और प्रलय दोनों में ही उसका कोई सहायक वा साथी नहीं होता । उस एक निमित्त से भिन्न किसी की शक्ति नहीं जो धारण कर सके किसी का सामर्थ्य नहीं है जो इस पृथिव्यादि के अनन्तभार को धारण करे [धारण दो प्रकार का होता है एक तो उस २ पदार्थ को उस २ नियत अवकाश वा देश में अवस्थित रखना और उस से नियत कार्य वा प्रयोजन सिद्ध करना द्वितीय उस पदार्थ का अपने स्वरूप से च्युत न होना । इस में पहिला धारण निमित्त का-

रण परमेश्वर से और द्वितीय धारण उपादान से सम्बन्ध रखता है। जिस उपादान से जो बनता है उस के विना कभी कार्य की स्थिति नहीं रहती परन्तु धारण कहने से पृथिव्यादिलोकों का अपनी २ नियत कक्षा में ठहरना ही विवक्षित है और यह भी निमित्तकारण ईश्वर के आधीन है जब वह धारण करना चाहता है उसी का नाम स्थिति दशा और जब धारण करना नहीं चाहता उसी का नाम प्रलयदशा है उस के धारण करने वा न करने संसाररूप बाजार के लगाने समेटने म कोई प्रेरक वा साक्षी नहीं है (यः परमे व्योमन्नस्याध्यक्षः स हे अङ्ग! वेद यदि वा न वेद) जो परम अनन्ताकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त है हे मित्र ! वह इस जगत् की उत्पत्ति की दशा ठीक जानता है वा नहीं जानता। अर्थात् जानता है तो वही जानता है किन्तु उससे भिन्न कोई मनुष्यादि उस के समान जानने वा धारण करने वाला नहीं है ॥

भा०-विकल्प दोख पड़ने से यह अर्थापत्ति नहीं निकालनी चाहिये कि जो वह ईश्वर भी धारण नहीं करता वा नहीं जानता। क्योंकि (स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्०) इत्यादि मन्त्रों में वही सब पृथिव्यादि का धर्त्ता वा ज्ञाता माना गया है। इस प्रकार इन दो मन्त्रों से उस के तुल्य वा उससे अधिक सब किसी के धारण करने वा जानने का निषेध करके सर्वांश में परमेश्वर की ज्ञान धारणादि शक्ति की असीमता दिखायी गयी है। और कोई शरीरधारी सृष्टि विषय में कुछ नहीं जानता वा जान सकता या न किसी को जानने का उद्योग करना चाहिये यह भी मन्त्र का अभिप्राय नहीं मानना चाहिये। यदि मनुष्य लोग सृष्टि को ठीक २ नहीं जान सकते इस कारण उन को कुछ जानने की आवश्यकता नहीं यह अभिप्राय यदि मन्त्रकार ईश्वर का हो वा माना जाय तो (नासदासीत्०) इत्यादि मन्त्रों को भी न कहना जब सृष्टि का हाल कोई कुछ जान ही नहीं सकता मनुष्यों के लिये सृष्टिविषयक मन्त्र कहना व्यर्थ होता है तो सृष्टि विषय में केवल इन्हीं दो मन्त्रों का उपदेश कर देता [यदि कोई वेदपारग अलौकिक योगी पुरुष सृष्टि के वृत्तान्त को यथार्थ भी जान सके तो भी इस अपवादरूप विशेष से सामान्य उत्सर्ग नियम की बाधा नहीं होती और परमेश्वर की अपेक्षा उस का जानना भी न जानने के ही समान माना जायगा] जो [माधुसिंहादि] पुरुष इन दो मन्त्रों में कहे अनुसार सृष्टि के उपादानादि का जानना दुर्घट मान कर सृष्टि का मायामय होना और जीव ब्रह्म की एकता कहते हैं

उनपुरुषों को प्रथम तो विचारशील यही पूछें कि तुम यह अभिप्राय किस रीति वा युक्ति से निकाल सकते हो ? । यह कहीं होते नहीं दीखता कि जल के मथने से कहीं घी निकलता हो। जब कि ईश्वर के धर्त्ता और ज्ञाता होने का निषेध तुम भी स्वीकार नहीं करते तब तुम्हारे मत में भी मनुष्यों का ठीक न जान सकना सिद्ध हो गया फिर शङ्कर स्वामी तुम तथा तुम्हारे अनुयायियों ने यह कैसे जान लिया वा कैसे जान सकते और कह सकते हो ? कि ब्रह्महो इस का उपादान है । क्या तुम लोग मनुष्य नहीं हो ? । यदि कहो कि हम ब्रह्म ही हैं इस से जानते हैं तब तुम्हारे मत में ब्रह्म से भिन्न जानने वाला जीव कोई न होने से (को अद्धा वेद०) इत्यादि कहना ही व्यर्थ है ।

कहीं तुम्हारे वा शङ्कर स्वामी के पास ईश्वरने कोई रजिष्टरी पत्र तो नहीं भेजा कि मैं ही इस जगत् का उपादान कारण हूं । जब वेद का प्रमाण देकर इधर कहते हैं कि कोई न जानता न जान सकता है कि किस कारण से सृष्टि रची गयी किन्तु वह संसार भर का स्वामी परमेश्वर ही यथार्थ जानता है फिर कहते हैं कि परमेश्वर संसार का उपादान है यह हम जानते हैं क्या यह उन्माद रोगवाला प्रलाप नहीं है ? कि तत्काल ही परस्पर विरुद्ध दो बातें कहते हो । जो देवादिपद वाच्य पीछे होने वाले सृष्टि को ठीक २ नहीं जान सकते वे सर्वज्ञ परमेश्वर से भिन्न हैं यह तुम को भी अवश्य ही मानने पड़ेगा फिर तुम्हारे कथनानुसार भी जीव ब्रह्म की एकता कहां रही ? तब एकता क्यों कहते हो ? इन आधुनिक वेदान्तियों का अज्ञान और अपने कहे को आपही काटनारूप विरोध विचारशीलों को शोचने योग्य है ॥

आगे साधुसिंह ने अद्वैतमत की सिद्धि के लिये (हंसःशुचिसद्०) मन्त्र और उस के अर्थ की पुष्टि में छान्दोग्य तथा यजु० अ० ४० का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि इस मन्त्र से स्पष्टही अद्वैतमत सिद्ध होता है । और सब के अन्त में लिखा है कि इस मन्त्र से तो "अद्रिजा" परमात्मा को कहने से यावत् पर्वत से जन्य शालग्राम शिलामूर्त्ति नर्मदेश्वर आदि परमात्मा का रूप हैं तथा गंगा यमुनादि नदी भी परमात्मा रूप हैं यथेष्ट शालग्राम आदि मूर्त्तिपूजा परमात्मा की पूजा है । तथा अतिथिरूप परमात्मा का बोधन कर ने से अतिथि पूजन भी परमात्मा का पूजन है। इस से शालग्राम नर्मदेश्वर तथा राम कृष्णादि मूर्त्तिपूजननिन्दक पन्थ वालों की वेदार्थानभिज्ञता सिद्ध होगयी ॥

उ०—यहां मन्त्रार्थ लिखने से पहिले हम मन्त्रार्थ में लिखे दो प्रमाणों की थोड़ी व्यवस्था लिखेंगे-पहिला छान्दोग्य का पाठ (प्र० १ खं०६) में है—

यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम सएष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः॥

साधुसिंहकृत अर्थ—"आदित्य मण्डल के अन्तर जो यह हिरण्मय पुरुष उपासक जनों को प्रतीत होता है हिरण्य वर्ण तुल्य श्मश्रु वाला तथा हिरण्य वर्ण केश वाला नख से लेकर शिखा तक सर्व ही सुवर्णवत् प्रकाशमान है तिस देव के अत्यन्त तेजस्वी कमलवत् नेत्र हैं और तिस देव का उद् यह नाम है और यह देव सर्व पापों से रहित है" इस साधुसिंह के अर्थ को सब पाठक लोग देख समझ ही लेंगे। अब हम छान्दोग्य के प्रमाण पर अपनी सम्मति लिखते हैं—

भा०—अस्य छान्दोग्योपनिषद आरम्भे प्रथमप्रपाठक उद्गीथपदवाच्यओमिति पदवाच्यस्योपासनमुपक्रान्तमोमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्यादिना। साधुसिंहार्थेन प्रत्येष्यन्ति विज्ञा यत्सूर्यमण्डलमध्ये पुरुषः कोऽपि तादृशो दृश्यत उपासकेन स च केवलसुवर्णधातुनिर्मितसर्वदेहइति। न चायमर्थः शंकरस्वामिनाप्यभिमतोऽपित्वेतद्भाष्य उक्तं तेन "नहि सौवर्णेऽचेतने पाप्मादिप्राप्तिरस्ति येन प्रतिषिध्येत चाक्षुषे चाग्रहणात्। अतो लुप्तोपमएव हिरण्मयशब्दो ज्योतिर्मयइत्यर्थः" तेन निमीलितचक्षुषा पुरुषेण समाधिस्थदशायां स्वात्मस्वरूपं ज्ञानप्रकाशमयं ज्ञानप्रकाशस्य वैशद्ये वा ब्रह्मज्ञानपूर्वरूपं कल्पनामात्रं हृदि दृश्यतइत्येतदत्र वर्णनं प्रत्येतव्यम्। तथाचायमर्थो बोध्यः—अथ—दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः समाधिर्यदा दृढस्थितिकः सम्पद्यते तदनन्तरमन्तरन्तःकरण आदित्ये सर्वविषयसंस्काराणामादानशीले आप्रणखादानखाग्रात्सर्वः सुवर्णः सुष्ठु दर्शनीयान-

न्दप्रदवर्णः सर्वथैव मालिन्यरहितः तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी वानरस्य गुदभागस्थवर्णइव कमलाकारे चक्षुषी हिरण्यश्मश्रुज्योतिर्मयमुखस्थरोमा हिरण्यकेशो ज्योतिर्मयशिरस्थ केश एवं हिरण्मयो ज्योतिर्मयः पुरुषः पुंस्त्वशक्तिप्रधानो ज्ञान प्रकाशो [तैजसस्य पुंस्त्वं भोक्तृत्वं च सौम्यस्य च स्त्रीत्वं भोग्यत्वमप्रकाशमयत्वं च वेदाशयेन प्रश्नोपनिषदादिषु स्पष्टमुक्तमेव] दृश्यते साक्षात् क्रियत एवोपासकेन सएषपुंस्त्वशक्तिप्रधानो ज्ञानप्रकाशः सर्वपाप्मभ्य उदितः पृथग्भूतः सर्वथैव तमोगुणादि जन्यमालिन्याद्दूरंगतोऽस्ति तस्मादेव तस्योदिति नामास्ति । सौर्यश्च भौतिकः प्रकाशः स तु चक्षुर्भ्यामेव दृश्यतेऽत्र त्वात्मिकाभौतिकः प्रकाशोऽपेक्षितः । एतदेव च "नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनामित्यादिप्रकारेण श्वेताश्वतरउक्तम्- एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे । तेनेदमुक्तं भवति-उपासकः पुरुषो यदा चिरकालावधि सर्वेन्द्रियाणि वशीकृत्य योगाभ्यासरीत्योपासनां करोति तदा तस्य हृदि परमहर्षप्रद उत्साहवर्धकः प्रत्यक्षफलदर्शकः परोक्षविषयेषु विश्वासव्यवस्थापकः सत्त्वप्रकाशो ब्रह्मज्ञानपूर्वरूपः साक्षात्स्वात्मन्यवभासते तेन च स कृतकृत्यमात्मानं मन्यते तस्मिन्नेव च कर्त्तव्ये दृढतया प्रवर्त्तते। एवमीश्वरोपासनस्य प्रत्यक्षफलदर्शने उक्तप्रमाणस्याशयो नतु साधुसिंहाद्युक्ताद्वैतसिद्ध्यर्थं तत् ॥

भाषार्थः-इस छान्दोग्य उपनिषद् के आरम्भ से प्रथम प्रपाठक में उद्गीथ नामक ओम्-कार की उपासना कही गयी है (ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत०) इत्यादि प्रकार से । और साधुसिंह के पूर्व लिखे छान्दोग्य के प्रमाणार्थ से "सूर्य मण्डल के बीच कोई वैसा पुरुष जो ठीक सर्वांश में सुवर्ण के तुल्य शरीर वाला

हो उपासक को दीखता है” यह आशय विचारशीलों को स्पष्ट प्रतीत होगा। परन्तु उस प्रमाण का यह अभिप्राय साधुसिंह के परम गुरु शंकरस्वामी ने भी नहीं माना इसी लिये स्वामी शंकराचार्य जी ने अपने भाष्य में लिखा है कि “सुवर्ण धातु से बने जड़ शरीर मूर्त्ति आदि में पापादि की जब प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो सब पापों से उस का पृथक् कहना भी नहीं बन सकता फिर पाप रहित होना रूप निषेध व्यर्थ हो जावे और यदि वास्तव में सूर्य के भीतर कोई सुवर्ण के शरीर वाला पुरुष होता तो आंखों से सब को दीखता इस से यह मानना चाहिये कि सुवर्ण के तुल्य शुद्ध स्वच्छ ज्योतिःस्वरूप प्रकाश पुरुष रूप योगी को ध्यानावस्था में दीखता है” इस से सिद्ध हुआ कि आंखें बन्द करके बैठे पुरुष को समाधि दशा में ज्ञान प्रकाशमय अपने आत्मा का स्वरूप अथवा ज्ञानप्रकाश की ठीक स्वच्छता होने पर अपने हृदय में ब्रह्मज्ञान का पूर्वरूप पुरुषाकार प्रकाश कल्पनामात्र दीखता है इसी अभिप्राय का वर्णन छान्दोग्य के उक्त प्रमाण में किया गया है। तब यह अर्थ होगा कि—(अथ) बहुत काल तक निरन्तर श्रद्धा पूर्वक सेवन किया समाधि जब दृढता से स्थिर अचल होजाता तदनन्तर (अन्तरादित्ये) सब विषयों की छाया—प्रतिबिम्ब का आदान करने वाले अन्तःकरण में (आप्रणखात्सर्वएवसुवर्णः) पग के नख से लेकर शिखा चोटी पर्यन्त जिस का वर्ण दर्शनीय अच्छा आनन्द देने वाला सर्वथा ही मलिनता रहित (तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी) बन्दर के गुद भाग के समीपस्थ वर्ण के तुल्य जिस के रक्त नेत्र (हिरण्यश्मश्रुः) जिस के किरणज्योति के तुल्य मुखस्थ रोम (हिरण्यकेशः) जिस के शिर के केश भी ज्योतिः प्रकाश रूप हों ऐसा (य एष हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते) जो यह ज्योतिः प्रकाशमय पुंस्त्व शक्ति प्रधान प्रकाश उपासक को साक्षात् प्रतीत होता है [तैजस प्रकाश ही वास्तव में स्वाधीन प्रबल है तथा सौम्य प्रकाश पराधीन रहता सूर्य के प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है। सूर्य का तैजस प्रकाश पुरुष प्रधान और चन्द्रमा का सौम्य प्रकाश गौण पराधीन है इस प्रकार तैजस पुरुष भोक्ता और सौम्य स्त्री भोग्य वा अप्रकाश रूप है यह वेदानुकूल आशय प्रश्नोपनिषदादि में स्पष्ट कहा गया है] (सएष सर्वपाप्मभ्यउदितः) सो यह पुंस्त्व शक्ति प्रधान ज्ञान प्रकाश सब प्रकार के पापों से पृथक् है अर्थात् सर्वथा ही तमोगुणादि अन्य मलिनता से रहित है इसी लिये (तस्योदिति नाम) उस प्रकाश का नाम उद् है

क्योंकि ध्यान समाधि में उस का उदय होता यही उद्गीथ शब्द के प्रथम अवयव उद् का अभिप्राय है । जैसे ओम् शब्द का अ, उ, म्. रूप तीन अवयवों से व्याख्यान होता है वैसे ही यहां छान्दोग्य में त्रयी विद्या के मूल उद्गीथ शब्द के उद्, गी, और थ इन तीन भागों में बड़े विस्तार से व्याख्यान किया है जिस का विशेष व्याख्यान छान्दोग्य के भावीभाष्य में मिलेगा । सूर्य का प्रकाश वास्तव में भौतिक होने से नेत्रों से ही दीखता आंख मीच लेने पर दिन में भी कुछ नहीं दीखता इसी लिये यहां अभौतिक ज्ञान प्रकाश लेना अपेक्षित है । यही विषय (नीहारधूमा०) इत्यादि प्रमाण से श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सूर्य अग्नि विद्युत् आदि कासा प्रकाश जिस योगी पुरुष को ध्यानावस्था में साक्षात् दीखने लगे तो जानो कि उस को ब्रह्मज्ञान होने वाला है । इस से यह अभिप्राय निकलता है कि उपासक पुरुष जब मन इन्द्रियों को वशीभूत करके बहुत काल पर्यन्त योगाभ्यास रीति से निरन्तर उपासना करता है तब उस के हृदय में परमहर्ष दायक उत्साह वर्धक प्रत्यक्ष फल दर्शक परोक्ष विषयों में विश्वास स्थापक सत्वगुणी प्रकाश ब्रह्मज्ञान का पूर्वरूप साक्षात् प्रतीत होने लगता है उस के होने से वह अपने को कृतकृत्य मानने लगता और उसी कर्त्तव्य योगाभ्यासादि में आगे को दृढ़ता से प्रवृत्ति बढ़ाता है । इस प्रकार ईश्वरोपासना का प्रत्यक्ष फल दिखाने में उक्त छान्दोग्य के प्रमाण का अभिप्राय है किन्तु साधुसिंह के कहे अद्वैत प्रतिपादन से उस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं । न उस में कोई ऐसा शब्द है जिस से अद्वैत का कुछ भी वर्णन हो । पर उपासना उपास्य तथा उपासकादि भेद के स्पष्ट होने से द्वैत सिद्धान्त तो स्पष्ट ही प्रकट है जिस से अद्वैत का खण्डन भी सिद्ध हो ही जाता है ॥

द्वितीय " योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् " इस यजु अ० ४० के प्रमाण को साधुसिंह ने इस विचार से लिखा है कि "जो यह आदित्य मण्डल में वर्त्तमान पुरुष नाम पूर्व वर्णित पुरुषाकार देव है सो देव अहमस्मि मैं हूं ऐसे अहंग्रहरूप से उपास्य है वो देव ॥ "

उत्तर०—यह कौन कहता है कि जो सूर्यमण्डल में पुरुष है वह मैं हूं । यदि कहो कि जो उपासना करे वही ऐसा माने तो प्रश्न होगा कि वास्तव में यह सत्य है क्या ? कि वह उपासक से भिन्न उपास्य नहीं वा उपास्य से भिन्न उपासक नहीं

धन्यवाद ॥

९॥)॥। पाठशाला सम्बन्धी विवाहव्यवस्थादि पु० विक्रय से १) हीरलाल जी धुलिया ५) बा० हीरालाल जी इटावा ४) पं० दंगीलाल जी इटावा ५) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर १) चौ० इन्द्रजित् इटावा २) भक्त रामस्वरूप जी इटावा ॥।) बा० गुन्दीलाल जी इटावा ५०) गुप्तदान दाता स्वयं प्रकाशित होना नहीं चाहता ४) पं० बुद्धसेन जी इटावा १॥) छेदीलाल जी बजाज इटावा ≡)॥। मुं० रामप्रसाद जी इटावा ४।≈) पं० ब्रजनन्दन जी घरसुहिया जि० बस्ती ६) बा० गङ्गासहाय जी ओवरसियर इटावा २) पं० रामगोपाल जी सिलहट ४) डा० प्रभुलाल जी इटावा १) पं० रामजीमल जी इटावा १॥) शिवमङ्गल वाजपेयी जी जोनपुर १) बद्रीदास वांकेलाला जी आगरा २) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा १।) बा० नन्दकिशोर जी घड़ीसाज इटावा २) पं० मातादीन जी वकील इटावा २) जंगसिंह जी जमीदार गढ़िया १॥) पं० बनवारीलाल जी इटावा ५) सेठ जयकृष्णदास जी इटावा २) खमानसिंह जी औरंगाबाद १०) पं० ख्यालीराम जी नैनीताल १) बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा ॥) बा० पूर्णसिंह जी मनेजर सरस्वती प्रेस इटावा ।-) पं० भैरवदत्त जी वृन्दावनी १) कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण इटावा ४) ठा० तुकमानसिंह जी डिप्टीकलक्टर इटावा ४) ला० गणेशीलाल जी इटावा १) चौबे ख्यालीराम जी इटावा २।) पं० भीमसेन जी शर्म्मा इटावा २) लल्लू जी मिस्त्री इटावा १) भगवानदास जी बरेली ४) पं० लेखराज जी ओवसियर इटावा यह सब १४९॥≡)॥ अक्टूबर नवम्बर दिसम्बर इन ३ मास में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुआ जगदीश्वर दाताओं को कल्याण युक्त और अधिकतर धर्म में श्रद्धालु करे । उक्त ३ मास में ११५।)॥ इस प्रकार व्यय हुआ ६०) पं० श्यामलाल शर्म्मा अध्यापक को ३ मास का वेतन २॥) सुन्दरलाल द्वि० को हिसाब पढ़ाई का प्रतिमास १) दिया जाता है तन्मध्ये । कहार को १) प्रतिमास चौका बर्त्तन तथा नवम्बर से १) मासिक चन्दा उघाने में दिया जाता है तन्मध्ये ४) पत्र पत्रोत्तर तैल वस्त्र रस्सी आदि फुट कर में ६।) शेष ३८॥)॥ विद्यार्थियों के भोजन में व्यय हुआ चन्द्रदत्त विद्यार्थी को घर जाने के लिये ४) दिये गये । अक्टूबर मास के आरम्भ में थोड़े दिन ५ छात्र पाठशाला से भोजन पाते थे पश्चात् उसी मास में ३ रह गये ॥

ह०—श्यामलाल शर्मा—कोषाध्यक्ष पाठशाला प्रबन्धकर्तृसभा इटावा—

सूचना

हम अपने ग्राहकों की सेवा में निवेदन करते हैं कि आर्य्यसिद्धान्त के निकलने का कोई समय वा तिथि बहुतकाल से नियत नहीं रही है यह सब महाशयों को अच्छे प्रकार विदित है। और आगे भी इस के समय को नियत करने की कुछ आवश्यकता हम को प्रतीत नहीं होती। जब कि इस के निकलने का कोई समय नियत नहीं तो भी इस पत्र का गौरव और प्रतिष्ठा तथा ग्राहक संख्या सदा बढ़ती ही रहती है इस से भी सिद्ध है कि यह पत्र अपने उद्देश को पूरा करने के लिये आगे २ पग बढ़ा रहा है। इसलिये १२ अङ्कों की पूर्त्ति होने पर इस के भाग वा वर्ष की पूर्त्ति सब ग्राहक महाशय मानते रहें इस पत्र से आशा है कि आगे २ वेदमत की और भी अधिक पुष्टि तथा लोकहित वा ग्राहकों को प्रसन्नता होगी। यह एक पुस्तक बहुत बड़े २ गम्भीर विषयों के आन्दोलन का भण्डार होजायगा। प्रयोजन यह कि इस के निकलने में देर होते देख इस की शिथिलदशा वा वृद्धावस्था का स्वप्न में भी कभी कोई महाशय अनुमान न करें देर होने के अनेक कारण हैं।

(नये पुस्तक)

मांसभोजन विचार प्रथम तथा द्वितीय भाग के खण्डन बड़े प्रबलयुक्ति प्रमाणों से पुष्ट अलग २ छप गये जिन का यथार्थ उत्तर मांसभक्षण को अच्छा मानने वाले जन्मान्तर में भी नहीं दे सकते। प्रथम का मूल्य -)॥ और द्वितीय का =)॥ है। तृतीय भाग जिस में अथर्ववेद के मन्त्रों की ठीक २ वेद के गौरवानुसार व्यवस्था रहेगी एक मास में पुस्तकाकार छप जायगा। भर्तृहरि का वैराग्यशतक जिस पर मैंने विशेषार्थ बड़े विचार से लिखा है शीघ्र तयार होगा मूल्य ।) रहेगा आगामी फरवरी मास में भगवद्गीता पूर्ण तयार होजायगा जो महाशय ३ अध्याय ले चुके हैं उन को शेष अध्याय टाटिल सहित दिये जावेंगे। तथा अन्य लोगों के बनाये पुस्तक—वेश्यालीला)॥ सञ्जीवनबूटी आलखण्ड)॥ प्रश्नोत्तर रत्नमाला =) आर्य चर्पटपञ्जरिका)। चाणक्यनीति भाषानुवाद -)। जगद्वशीकरण =)

तीसरी सूचना यह है कि अनेक महाशय ओषधियों के विषय में पूछा करते हैं सो अन्य दूकान्दारों की अपेक्षा मैं "पं० हीरालाल शर्म्मा वैद्य डाक बबियाल जि०—अम्बला " में अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी ओषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे। दीन दुःखियों को विना दाम भी ओषधियां देंगे। इन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है।

ह० भीमसेन शर्मा—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८]   मासिकपत्र   [अङ्क ५ । ६ सन

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध मे मुद्रित हुआ
४ मार्च सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

११८४ श्री खेलाराम मुलतान ॥।)
११३८ श्री मूलचन्द जी सागर १॥)
२७६ श्री राधेकृष्ण ठेकेदार कुलहार ३॥।)
५५ श्री साल्हेतुर वेङ्कटराव मंजेश्वर २॥)
११७७ बिन्देश्वरीप्रसाद जी काशिमाबाद १।)
६३१ श्री ज्वालादत्त जोषी नयनीताल २॥)
९०६ श्री जयकिशुन पाल्हूमल अमृतसर २॥)
८४४ पं० गूजरमल जी दिहली २॥)
११८५ आर० पी० वाजपेई भिलसा १।)
७०८ बा० नारायणदत्त झांसी २॥)
८४ श्री झुन्नालाल अफजलगढ़ १।)
११८७ श्री गणपतिसिंह जी खोड़ी १।)
११८८ श्री विश्वम्भरसहाय जी मेरठ १।)
३३० श्री मदारीलाल जी जसवन्तनगर १।)
१००८ बा० रसिकविहारीलाल जागूली १।)
३८९ ला० सूर्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद ॥।=)
३१ मुं० ज्योतिः स्वरूप जी देहरादून २॥)
२३७ बा० चुल्हनराम जी लोहरदगा २॥)
७ मुं० बालमुकुन्दसहाय जी प्रयाग ३)
११९२ बा० व्यङ्कटराव जी मुरवाड़ा १।)
७९८ बा० कुंवरप्रसाद जी लखनऊ १।)
८६३ श्री गैन्दसिंह जी (पं० मन्नालाल के हिसाब मध्ये दिये) २॥)
८२७ बा० कुवेरनाथ जी गाजीपुर २।)
११९४ श्री साहबसिंह जी नगीना १।)
६५ श्री मं० आर्यसमाज भोलेपुर १।)
७३१ बा० गिरधारीलाल देहरादून १।)
९३२ प० मुन्नीलाल जलालाबाद १।)

७६० बा० ठाकुरदास जी होश्यारपुर १॥)॥
१७५ श्री ठाकुरदास जी धनारी १।)
२०५ बा० दुर्गाप्रसाद जी फर्रुखाबाद १।)
११८६ बा० प्रतापनारायण जी लखनऊ १।)
८३८ बा० जगमोहनलालसिंह बस्ती २।)
११९३ कुं० खानसिंह जी तरगवा १।)
१११७ सेठ गंगासागर जी लोहिया कलकत्ता २॥)
२७ पं ब्यालीराम जी शर्म्मा दिहली २॥)
५७२ पं० घनश्याम गोस्वामी मुलतान १।)
१५५ बा० गुलाबचन्द जी दानापुर १।)
११८१ श्री तुलसीदास जी दलेयाड़ा १।)
११९५ श्री कुंचनाऐया पो० हिवरखेड़ा-रूपराव १।)
११९७ श्री० ताराचन्द जी गुजरात १।)
९५४ पं० चिन्तामणि शर्म्मा रूपधनी १)
११९९ श्री० जंगसिंह जी गढ़िया २॥)
१२०२ पं० उर्विदत्त ब्रह्मचारी बसई १।)
८९८ डा० मक्खनलाल जी मिघौना ४)
१७४ पं० कृपाराम जी देहरादून १।)
२९६ बा० काशीराम जी मुलतान २।)
१०१३ श्री० भोलाराव जी झलमला १।)
४१ बा० मेवालाल जी प्रयाग १=)
५६१ पं० गोपालसहाय जी लश्कर १।)
९२० श्री० राधिकाप्रसाद जी राजशाही १)
१२०३ प्राणजीवनदास जी बवीन १।)
१२०४ चुन्नीलाल जी गूजरखां १।)
३७ बा० रामजीवन तोषणीवाल जी २॥।)
और मनुभाष्य नं० १५५ २)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ५.६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य भाग ८ अं० ३।४ पृ० ६४ से आगे

हमारे काम और हमारे शरीर उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होते चले जाते हैं। जैसे विना नींव की भीत गिरजाती विना जड़ के वृक्षादि खड़े नहीं रह सकते वैसे सब का मूल वेद और वेदोक्त धर्म है उस का आश्रय जो नहीं लेता वा लेना नहीं जानता वह कदापि अपने चिरस्थायी विचार नहीं कर सकता। उस के लेख वा विचार कदापि चिरकाल तक ठहरने वाले नहीं होते यही बात मनु जी ने वेद की प्रशंसा करते समय अ० १२ में कही है कि—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

ईश्वरीय वेद विद्या का मूल न लेकर जो कुछ नवीन कपोलकल्पित बातें लिखी वा कही जाती हैं वे निर्मूल होने से शीघ्र २ उत्पन्न विनष्ट होती रहती हैं। इस सब लेख का अभिप्राय ब्राह्मण जाति वा आर्य धर्मोपदेशकों पर आक्षेप करना नहीं है किन्तु अपने सुधारको सम्मति देना हमारा अभीष्ट है कि वेद को अपने नेत्र मान कर ब्राह्मणत्वप्रधान लोग कार्य करें तो ठीक हो ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः, पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥

यह महाभारत के उद्योग पर्व का वचन है कि गौ आदि पशु गन्धद्वारा विशेष कर विषयों को जानते और ब्राह्मण लोग वेद द्वारा विशेष कर सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानते राजा लोग दूतों द्वारा प्रजा का वृत्त जानते तथा साधारण लोग नेत्रों द्वारा देखकर ही थोड़ासा निश्चय करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो ब्राह्मण हैं वे वेद जो ईश्वर की सर्वथा निर्भ्रान्त सत्यसनातन विद्या है उसी द्वारा सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानते निर्णय करते हैं अथवा इसी बात को यों कहो कि जो वेद को ही सर्वोपरि परम प्रमाण मान कर अर्थात् जो कुछ वेद में लिखा है उसी को सब प्रकार पुष्ट करते अपने सब कर्त्तव्यों को वेद से ही निश्चित करते जानते और मानते हैं किन्तु केवल तर्क द्वारा वा प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा देखे जाने विषयों को केवल वेद से जानने की अपेक्षा प्रधान नहीं मानते वा वेद को अपने पीछे नहीं चलाते किन्तु वेद के पीछे सदा स्वयं चलना उत्तम मानते हैं अपने विचारों को जो अल्पज्ञ होने से सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं मानते किन्तु वेद के विचारों को जो सर्वथा निर्भ्रान्त मानते हैं वे लोग किसी समाज किसी जाति और किसी देश के रहने वाले क्यों न हों वेही ब्राह्मण हैं अर्थात् जो ब्राह्मण हैं वे वेद से देखते जानते और जो वेदसे देखते जानते हैं वे ब्राह्मण हैं। जैसे कोई कहे कि सुनार (स्वर्णकार) ही सोने की चीजें बनाता वा बनावे वा इसी को यों कहो कि जो सुवर्ण की चीजें बनावे वह सुवर्णकार है। इस प्रकार ब्राह्मण भी एक कर्म जाति है कि जो ब्रह्म नाम वेद को सर्वोपरि जाने माने तदनुकूल चले वह ब्राह्मण है। आर्य्यसमाज का प्रधान कर्त्तव्य वेद का मानना जानना तदनुकूल चलना है। ज्यों २ वा जितना २ अधिक वेद की ओर झुके झुकावेगा उतना ही आर्यसमाज का अभीष्ट शीघ्र सिद्ध होगा। आर्यसमाज में जो नायक वा प्रधान तथा धर्मोपदेशक हैं उन का वेद की ओर अधिक मुख फिरना सर्वोपरि आवश्यक है। और वेद की ओर जितनी वा जैसी झुकावट होनी चाहिये उतनी वा वैसी अभी तक नहीं है यह भी आर्यसमाज में सर्वोपरि न्यूनता है ॥

इस भेदाभेद नाम से पूर्वाङ्क में लिखे लेख का सारांश यहां संक्षेपसे फिर लिखे देते हैं कि जैसे प्रत्येक शरीर में शिर वा मुख, बाहु, ऊरु और पग चारो अङ्ग मिले हैं चारो के मेल से एक ही शरीर कहाता शरीर के साथ सब का अभेद है

वा शरीर से सब अङ्ग अभिन्न हैं और अवान्तर रूप से मुखादि सब अङ्ग का भाग भिन्न २ भी माने ही जाते वा मानने पड़ते ही हैं । वैसे ही ब्राह्मणादिपन की भी प्रत्येक देहधारी को आवश्यकता है प्रत्येक शरीरों में ब्राह्मणादि चारो वा पांचो वर्ण रहते हैं जो जिस शरीर में प्रधान हो जाता वह एक २ ब्राह्मणादि कहाने योग्य होता है वैसे गायत्री आदि छन्दों का भी सब के साथ सम्बन्ध है । जैसे कोई शास्त्रार्थ में वा व्याख्यान देने में जिस को प्रधान समझते हैं उसी को वहां बुलाने का विशेष उद्योग करते हैं वा यों कहो कि उसी प्रधान व्याख्याता को उपदेशरूप वाचिक कर्म का प्रधान अधिकारी मानते हैं और जिस को कहने की शक्ति नहीं होती वा भट्टेपन का व्याख्यान देता है उस को व्याख्यान के लिये खड़ा भी नहीं होने देना चाहते वा यों कहो कि उसको वाचिक कर्म व्याख्यान का अधिकारी नहीं मानते ये दोनों एक ही बातें हैं । इसी के अनुसार गायत्री शब्द का मुख्यार्थ वाचिक कर्म है, त्रिष्टुप् का अर्थ बन्धन वा पकड़ना बाहुसम्बन्धी और जगती का अर्थ गमनागमन प्रवेशादि है जो कि वर्णव्यवस्था के साथ यौगिक रूप से सम्बन्ध रखता है इसी लिये वर्ण भेद के साथ वेद में छन्दों का भी भेद कहा गया है । वा यों कहो कि सभी वसन्त ऋतु वा दिशादि का भेद वर्णव्यवस्था का व्याख्यान करने वाला है । यह वेद का अभिप्राय प्रतीत होता है । प्रयोजन यह कि हमने जो छन्दोभेद लिखा था उस का स्वप्न में भी कभी यह अभिप्राय नहीं था न है कि क्षत्रिय वैश्य कहाने वालों को गायत्री का अधिकार नहीं है किन्तु वेद में लिखे छन्दोभेद का व्याख्यान वा प्रयोजन दिखाना हमारा प्रयोजन था और है और रहेगा । यदि अब भी किसी को सन्देह रहे तो हमारे समझा सकने में त्रुटि हो वा अन्य कुछ हो हम अपनी शक्ति भर सब प्रकार खोल २ लिख चुके । यदि कोई महाशय इस विषय में कोई ऐसे प्रश्न करें जिन का उत्तर अभी तक न लिखा गया हो तो हम बड़े हर्ष के साथ ठीक शास्त्रानुकूल यथोचित निष्पक्षता से फिर भी उत्तर लिखेंगे ।

३—आर्यसमाज का सिद्धान्त तो यह है कि गुण कर्मानुसार वर्ण वा जाति भेद माना जावे और वास्तव में यह वेद के सिद्धान्तानुसार सनातन अटल सिद्धान्त है । परन्तु आर्यसमाज में जिन २ जातियों वा वर्णों के मनुष्य सम्मिलित हुए हैं उन में प्रायः वा अधिकांश अपनी जाति भर के सब मनुष्यों को किसी न किसी उत्तम वर्ण में ठहराना चाहते हैं कि अपनी २ जातिभर में गुण क-

र्मों के अच्छे न होने पर भी हमारी जातिभर किसी उत्तम नाम से विख्यात हो जावे। यह बात सत्य भी है कि खत्री क्षत्रिय का अपभ्रंश हो तथापि यदि हम इस को इस विचार से प्रकट करते हैं कि खत्री कहाने वाले सब मनुष्य क्षत्रिय कहाने लगें तो यह तो स्पष्ट ही है कि वर्त्तमान में ब्राह्मण कहाने वाले सब मनुष्य वेदोक्त गुण कर्मों के अनुसार ब्राह्मण नहीं ठहर सकते वैसे ही कोई भी एक जाति किसी एक वर्ण में शास्त्रानुसार सम्मिलित नहीं हो सकती। तो इस दशा में अपनी २ जातिभर का पक्ष रखने वा करने से गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था के मन्तव्य को अवश्य धक्का दिया जाता है। आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार किसी आर्य को अपनी २ रूढ़ि जाति का पक्ष कदापि नहीं लेना चाहिये और यदि पक्ष लेते हैं तो वे लोग अवश्य वेदोक्त वर्ण व्यवस्था के मन्तव्य को धक्का देने वाले हैं। सब आर्यसमाजस्थमात्र का सिद्धान्त यह होना चाहिये वा वैदिकधर्म के अग्रगन्ताओं को विशेष कर अपने २ हृदय में अचल कूटस्थ विचार रखने चाहिये कि—

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ,,

श्रेष्ठ वा सज्जनों का स्वभावही होता है कि वे संसार भर को अपना कुटुम्ब मानते हैं श्रेष्ठ सज्जन वा आर्य इन का एक ही अर्थ है तो आर्यसमाजों में जो २ अपनी २ जाति के पक्षपाती हैं अपनी जाति के निकृष्ट मनुष्यों को भी अन्य जाति के निकृष्टों से वा मध्यमों से अच्छा मानते वा अच्छा ठहराना चाहते हैं वे वास्तव में आर्य कहाने योग्य नहीं हैं। वा यों कहो कि ठीक उत्तम कक्षा के सच्चे आर्य बहुत न्यून हैं इसी से जैसे नाममात्र का दीपक होने पर भी ठीक प्रकाश नहीं होता वा अन्धकार नहीं मिटता वैसे नाममात्र के अनेक आर्य होने पर भी अधोगति वा अवनति विद्यमान है। यह बड़ी न्यूनता है इस न्यूनता को दूर करने के लिये सर्वान्तर्यामी परमात्मा का ही शरण लेना चाहिये। गुण कर्मों से वर्णव्यवस्था मानने के लिये वेद वा शास्त्रों के अनुसार कुछ नियम निर्धारित करने चाहिये कि अमुक २ गुण कर्मों में जो २ परीक्षोत्तीर्ण हो जावें उन २ को ब्राह्मणादि होने का प्रशंसा पत्र दिया किसी प्रकार की विशेष योग्यता के कारण कोई पद वा उपाधि भी उन को दी जावे और तदनुसार ही उन २ की मान प्रतिष्ठा भी सर्वत्र हुआ करे तो

प्रायः आर्यों में अनेक प्रकार के मनुष्य अपने गुण कर्मों के सुधारने के लिये कटिबद्ध होने सम्भव हैं इस से आर्यसमाज के सिद्धान्त का ठीक प्रचार होगा वैदिक धर्म कर्मों का शुद्ध प्रचार बढ़ेगा इस से सुखोन्नति होगी ।

वास्तव में आर्यसमाज की दशा अभी बहुत निर्बल है इस के अनेक कारणों में से एक बड़ा हेतु यह भी है कि जिन २ अंशों में जैसी २ एकता होनी चाहिये वैसी अभी नहीं हुई वा नहीं है किन्तु अनेक अंशों में भेद वा फूट ऐसी विद्यमान है जो अच्छी दशा हो जाने की विशेष बाधक है इस लिये हमारी सम्मति में आर्यसमाज का प्रधान कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि १—पंजाब २—राजपुताना ३—पश्चिमोत्तरप्रदेश ४—विहार बंगाल ५—मध्यप्रदेश ६—और दक्षिण मुम्बई प्रान्त इन सब प्रदेशों में से एक२ वा दो२ नायक प्रधान उच्चकक्षा के मनुष्यों को वहां २ के समाज अपने प्रदेश भर का प्रतिनिधि नियत करें वा उन २ प्रान्तों में जो २ मनुष्य धर्मानुकूल शुद्ध विचारों में चढ़े बढ़े हों धर्मविषय में आगे पग रखने का सदा साहस रखते हों वे स्वयमेव इस काम के लिये कटिबद्ध हों और अनुमान दश वा बारह मनुष्यों की यह सार्वदेशिक सभा हो जावे । वे सब लोग मिल कर प्रथम अपने प्रधान वा मूल कर्त्तव्यों में जो २ भेद हो उस को मेंटने का उद्योग करें अर्थात् ऐसा उपाय शोचें और करें कि जिस से सर्व सम्मत्यनुसार भविष्यत् में होने वाले भी विरोध सदा दूर होते रहें और जो २ हानिकारक विरोध विद्यमान हों उन को हटाने का भी प्रबल उद्योग करें । जबतक आर्यसमाजों में कोई नायक सभा सार्वदेशिक न होगी तावत् सर्वथा हिलचल मिटना दुर्लभ है । और सर्वोपरि झगड़ा वा विरोध इस समय कालिज और वेदप्रचार के नाम से जो खड़ा हो गया है इस का मिटना आवश्यक है । शोच कर देखा जाय तो मनुष्यों की सुखोन्नति वा सुधार के लिये बहुत साधनों की आवश्यकता है । जो सुधार बहुत साधनों से सम्बन्ध रखता है वह एक दो साधनों के होने पर वैसा नहीं हो सकता । इस समय अंगरेजी राज्य है वास्तव में अंगरेजी भाषा के पढ़ने जानने की प्रजा के सब मनुष्यों को अधिक आवश्यकता इस लिये है कि लोकव्यवहार में चतुरता हुए विना केवल धर्मसम्बन्धी विचार रखने वाले मनुष्य जब स्वयं संसार को नहीं छोड़ पाते वा उन के निज काम ही व्यवहारज्ञान हुए विना ठीक नहीं चलते तो उन से देश के सुधार की क्या आशा होगी । इस लिये जिन किन्हीं लोगों का यह विचार वा प्रचार हो कि अंगरेजी पढ़े

भाषा पढ़ना ही व्यर्थ है आर्य लोगों को पढ़ना ही न चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि वास्तव में अंगरेजी पढ़े हुए ही अधिकांश मनुष्यों ने आर्यसमाज के सिद्धान्त को अच्छा माना स्वीकार किया उन्नति की और अब भी यथाशक्ति कर रहे हैं। स्वामी जी महाराजने प्रथम संस्कृत की पाठशाला की और चाहा कि आधुनिक ग्रन्थों की परिपाटी का पठन पाठन छूटे प्राचीन वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने का प्रचार चल जाय तो आधुनिक ग्रन्थों से प्रचरित हुए वेद विरुद्धमत भी लोगों को ठीक ज्ञात हो जायं वेदमत के गौरव को भी अनेक ब्राह्मण लोग समझ जावें तो फिर ये लोग देश भर में फैल कर शीघ्र ही देश का सुधार कर लेंगे परन्तु ब्राह्मणों की बुद्धि में जो अधिकांश तुच्छता वा कुसंस्कार प्रविष्ट हो गये हैं इस कारण उन्हों ने पाठशालाओं में अनेक विघ्न किये जिस से स्वामी जी महाराज का विचार बदल गया कि इन लोगों से देश का सुधार न होगा। इसी लिये अंगरेजी पढ़े लिखे अधिकांश लोगों को एकत्र किया आर्यसमाज के नियम स्थिर किये और ये लोग कार्य करने में चतुर थे इस से आर्यसमाज को ले उड़े अर्थात् आर्यसमाज की जो कुछ दशा दीखती है उस के अधिकांश धारण करने वाले नेता अंगरेजी पढ़े लिखे लोग हैं यदि पुराने बिगड़े मार्ग वा प्रवाह के अनुसार संस्कृत पढ़े हुए इस आर्यसमाज को उठाते तो दृढ़ अनुमान है कि स्वामी जी महाराज का परिश्रम जितना अब तक सफल हुआसा प्रतीत होता है उस में शतांश भी होना कठिन था। इन सब विचारों के अनुसार और समय की ओर ध्यान देकर सोचा जाय तो संस्कृत वा अन्यभाषाओं की अपेक्षा आर्यसमाजस्थ प्रजा को भी अंगरेजी भाषा पढ़ने की शतगुणी आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। यदि आधुनिक ग्रन्थों की बिगड़ी परम्परा को छोड़कर केवल प्राचीन वेदादि शास्त्रों सम्बन्धी संस्कृत भाषा में किन्हीं लोगों को परिश्रम कराया जाय और धर्मानुकूल शुद्ध वेद के सिद्धान्तों की शिक्षा से भूषित कुछ विद्यार्थी सुयोग्य बनाये जावें तो उन में अधिकांश मनुष्य, अंगरेजी पढ़े लिखे अधिकांशों की अपेक्षा धर्मविषय के दृढ़ विश्वासी वा धर्म का मर्म जानने वाले में शतांश चढ़ बढ़ के निकलें यह सम्भव है तथापि अच्छे व्यवहारज्ञान होने से संसार में धर्मप्रचारादि कर्त्तव्यों को देश कालादि के अनुकूल ठीक२ नहीं कर सकते अर्थात् वेदादि शास्त्रों के सिद्धान्त का मर्म जानने और वेदोक्त धर्म में दृढ़ विश्वासी मनुष्य बनाने की अपेक्षा उच्चकक्षा के अंगरेजी पढ़े लिखे

अधिक मनुष्यों की आवश्यकता इस वर्त्तमान समय में वैदिक धर्म को सुरक्षित रखने के लिये अवश्य है इस लिये अंगरेजी पढ़ने का सर्वथा खण्डन यदि कोई महाशय करते हैं वा कालिजों का होना बुरा समझते और कहते हैं तो वास्तव में वे बड़ी भूल में अवश्य हैं ॥

हमारे इस पूर्व के लेख से पाठक महाशय यह न समझ लेवें कि सम्पादक आ० सि० भी कालिज के पक्ष में ही हो गये क्योंकि हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि संस्कृत पढ़ने वालों से कुछ हो ही नहीं सकता वा संस्कृत पढ़ना ही नहीं चाहिये किन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि यद्यपि बनारस आदि नगरों में जैसी आधुनिक ग्रन्थों के अधिकांश पढ़ने की चाल वा प्रवाह चल गया है वह सर्वथा मूर्ख रहने की अपेक्षा तो अच्छा है परन्तु अंगरेजी की उच्चशिक्षा के सामने अवश्य वह निकृष्ट है क्योंकि उस प्रवाहानुसार जो मनुष्य संस्कृत भाषा के विद्वान् होते हैं उन की बुद्धि विद्या तथा प्रतिष्ठा अंगरेजी के उच्च विद्वानों की अपेक्षा अधिकांश हीन दशा में अवश्य दीखती है । और इसी कारण हमारी गवर्नमेण्ट के हृदय में संस्कृत भाषा का गौरव नहीं आया किन्तु संस्कृत के लाघव को तो बहुत अवकाश मिल गया है इस लिये बिगड़े प्रवाह से संस्कृत पढ़ने की अपेक्षा तो वास्तव में हम भी अंगरेजी की शिक्षा को अच्छी इस लिये मानते हैं कि हमारे पौराणिक संस्कृतज्ञों में भी जब वैदिक धर्म का गौरव अवकाश नहीं पाता और लोक में भी प्रतिष्ठा विशेष नहीं होती उन की अपेक्षा कीर्त्ति प्रतिष्ठा अंगरेजी के उच्च विद्वानों की अधिक होती है तथापि धर्मांश में अंगरेजीपाठियों की अपेक्षा विश्वस्त पौराणिक ही अधिक होते हैं । अस्तु किसी अंश में पौराणिकों के अच्छे होने पर भी नवीन शिक्षित अंगरेजी वाले कई अंश में आगे बढ़ जाते हैं । इस कारण कार्य चलाने के लिये अंगरेजी पढ़े हुओं की अधिक अपेक्षा होने पर भी प्राचीन रीति से [सत्यार्थप्रकाश के पठन पाठन प्रकरण में लिखे अनुसार] अङ्ग और उपाङ्गों सहित वेद पढ़ेहुओं की आर्यसमाज के लिये मल्लाह के समान आवश्यकता अवश्य है । वेदोक्त धर्म की केवल शुद्ध शिक्षा से भूषित धर्म का मर्म जानने वाले मनुष्य ही आर्यसमाज को पार लगा सकते हैं । श्री स्वामीदयानन्द सरस्वती जी संस्कारी पुरुष थे केवल वेदशास्त्रों के विद्वान् थे संस्कृत की आधुनिक शिक्षा प्रणाली को उन्हों ने वि-

चार पूर्वक ही बुरा समझा था । इस लिये हमारी समझ में अधिकांश मनुष्यों को अंगरेजी पढ़ने की जैसी आवश्यकता है वैसा ही उस के पढ़ने जानने का मार्ग भी खुला है नाना प्रकार की पाठशाला भी अंगरेजी पढ़ने के लिये सभी प्रान्तों में गवर्नमेण्ट ने खोल रक्खी हैं । यदि हम कोई निज का कालिज खोलें तो वहां होने वाले किन्हीं कष्टों को हटाने पर भी हम को अधिकांश नये कष्ट वा विघ्न होंगे जिन की सरकारी पाठशालाओं में सुगमता हो सकती है । और द्वितीय आर्यसमाज के वेद मत को स्थायी सुरक्षित रखने के लिये हम को वेद शास्त्रों के पढ़ने जानने वालों की भी वा वेदों का गौरव बढ़ाने के लिये अत्यन्त आवश्यकता है और तृतीय वैदिक धर्म के उपदेशकों की आर्यसमाज को विशेष आवश्यकता है परन्तु शोचने का स्थान यह है कि जब जिस काम का प्रवाह संसार के गतानुगतिक होने अर्थात् एक के पीछे दूसरे के चलने से स्वयमेव बढ़ जाता है तब उस को सहायता न देकर यदि अनेक मनुष्य मिलकर भी रोकना चाहें तो भी वह जब नदी के प्रबल प्रवाह के समान नहीं रुक सकता तो सहायता देने पर तो वह प्रवाह इतना तेज हो सकता है जिस में फिर सब के सभी बहे चले जावें अन्य सब कर्त्तव्यों को गाढ़ निद्रा में सोते हुओं के समान भूल जावें । जैसे परमेश्वर की स्वाभाविक इच्छा मात्र से संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि काम नियमानुसार विना रोक टोक प्रवाह से सदा हो रहे हैं । वैसे आज अति प्रतापी अंगरेज गवर्नमेण्ट की इच्छामात्र से ही जब अंगरेजी शिक्षा का प्रबल प्रवाह बह रहा है जिस को रोकने के लिये किसी की शक्ति नहीं है तब फिर हम पूछते हैं कि आर्यसमाज जो वेदोक्त धर्म की उन्नति वा सुरक्षा के लिये एक सभा वा समुदाय नियत हुआ है उस को अंगरेजी शिक्षा को बढ़ाने के लिये कालिज खोलने का परिश्रम क्या ऐसा नहीं है ? कि जैसे कोई प्रबल प्रवाह से बहती हुई नदी में दो चार बिन्दु जल छोड़ कर वा दश बीश घड़ा जल छोड़ कर बढ़ाना चाहे । इसी के साथ यह भी शोचनीय अवश्य है कि "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस के अनुसार अच्छे उपकारी कामों का भी अत्यन्त बढ़ना संसार के लिये हानिकारक ही होता है । यद्यपि ज्ञान वैराग्य मनुष्य के लिये साक्षात् स्वर्गद्वार होने से बड़ा ही उपकारी है इस में कुछ भी सन्देह नहीं क्योंकि इस में सब शास्त्रों की एक ही सम्मति है तथापि जब भारतवर्ष में ज्ञान वैराग्य पहिले समय में इस कक्षा तक बढ़ा कि राजा लोग राज्य के प्रबन्धों

को छोड़ २ वन को चलने लगे । राज्यादि के प्रबन्ध बिगड़ने लगे, युवा पुरुष भी विवाह करने पश्चात् वैराग्य हुआ तो स्त्रियों को छोड़ २ भागने लगे स्त्रियां विलाप कर २ दुःखित होने लगीं प्रजा की संख्या [मर्दुम शुमारी] जैसे आज कल बीज अधिक बोया जाने से बीमारी आदि के द्वारा पूरा खर्च होने पर भी प्रत्येक दश वर्ष में चार २ पांच २ क्रोड़ बढ़जाती है वैसे विषयासक्ति की अति न्यूनता से जनसंख्या प्रतिदिन घटने लगी प्रलयका सा समय आता दीखने लगा देश में हाहाकार मचने लगा वनों में विरक्तों की उन्नति होने लगी और ग्राम नगर शून्य से दीखनें लगे तब उस समय के विद्वान् लोगों को इस ज्ञान वैराग्य की अति को दबाने के लिये यह उपाय सूझा कि रसीले काव्य बनाना आरम्भ करो जिस से विषयभोग की ओर लोगों की रुचि बढ़े तो ज्ञान वैराग्य सब भूल जांयगे । इसी विचार के अनुसार जब लोगों ने काव्य पुस्तक बनानें आरम्भ किये तो वह प्रवाह ऐसा प्रबल बहा कि काव्य के असंख्य पुस्तक बन गये अब तक शान्ति नहीं वेद शास्त्र पढ़ना लिखना प्रायः लोग भूल गये काव्य कुछ न पढ़े वह पण्डित ही न माना जाय । आज कोई जन्म भर भी काव्य पुस्तकों को पढ़ता रहे तो भी पूरे होने दुस्तर हैं । वेदों में अग्नि के तुल्य काव्यों का प्रतिपाद्य देवता रूप विषय स्त्री रक्खा गया उसी के अङ्ग प्रत्यङ्ग रूप अवान्तर भेदों का प्रतिपादन करते २ ब्राह्मणादि विद्वान् अपने सब धर्म कर्मों को भूल गये । अब इस की अधिकता यहां तक बढ़गयी कि कपड़े रंग शिर मुंडाय साधु विरक्त हुए पुरुषों में भी जितना स्वार्थपरता चालाकी चतुराई तथा रसीलापन दीख पड़ता है उतना शुद्ध ज्ञान वैराग्य नहीं दीखता । जब ज्ञान वैराग्य तप करने का प्रवाह चला तब उसी भेड़ियाधसान में सब चले उस की अति से जब अत्यन्त हानि हुई तब विषयासक्ति की ओर काव्यों द्वारा पूरा प्रवाह चला जिस में आज सब कर्त्तव्यों से भुला दिया दिन २ निकम्मी जनसंख्या अन्धाधुन्ध बढ़ रही है जो पृथिवी नगर ग्रामादि को दुर्गन्धरूप करती चली जाती है । एक से एक ग्यारह के समान सहस्रों लाखों मनुष्यों की विष्ठा इकट्ठी हो २ कर आकाश पृथिवी दुर्गन्ध से पूरित होते जाते हैं । पूर्वकाल में यज्ञों की सुगन्धि से जो आकाश पृथिवी व्याप्त किये जाते थे वे अब वैसे ही असंख्य गुण दुर्गन्ध से व्याप्त हो रहे हैं । पहिले जो भिन्न २ स्थलों में मल त्यागना अच्छा वा सभ्यता मानी जाती थी वह सब आज असभ्यता हो गयी । प-

लिखे [हलसूकरयोः पुवः ३।२।१८३] इस पाणिनिसूत्र के अनुसार हल और सूकर सुअर का मुख मल के दुर्गन्ध को नष्ट कर देने और पृथिवी को शुद्ध रखने वाले म्यूनीसिपेलटी के स्थानापन्न थे अब म्यूनीसिपेलटी उस दुर्गन्ध को इकट्ठा कर२ दबाती मोरी आदि को पटवाती है जिस का अभिप्राय यह होता है कि दुर्गन्ध को छिपाकर रखना चाहिये जैसे प्रत्येक प्राणी के पेट में मल रहता है वैसे प्रत्येक घर में भी मलस्थान रहे और प्रत्येक नगर में मलसंग्रह का प्रधानस्थान [हेड आफिस रहे] जिस का परिणाम बड़े २ भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति दिन २ बढ़ती है । आज मुम्बई पर जो आपत्ति है वह कल अन्य किसी नगर पर आवे तो आश्चर्य कुछ नहीं समझना जिस में सर्वोपरि जनसंख्या की अधिकता हो उस पर पहिले वा विशेष कर ऐसी आपत्ति आना सृष्टि नियमानुसार सम्भव ही था और है । और ऐसी आपत्तियों की ओषधि प्रथम यही हो सकती है कि वेद में " घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम् " लिखे अनुसार घी आदि सुगन्धित पदार्थों के होम से आकाश पृथिवी पूर्ण कर दिये जावें ऐसा घर २ में लगातार सुगन्धित पदार्थों का होम किया जाय जिस में लाखों रुपयों का घी, लौंग, कपूर, केशर, कस्तूरी, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ घर २ में जलाया जाय जो व्याप्त दुर्गन्ध का शीघ्र छेदन कर नष्ट करने में समर्थ हो जावे तो थोड़े ही काल में ऐसी आपत्ति निवृत्त हो सकती है परन्तु जब खोटा प्रारब्ध उदित होता है तो सुझाने पर भी किसी को नहीं सूझता अपनी जिस २ भेड़ियाधसान में जो २ पड़ जाता है वह उसी वेग में बहा भागा चला जाता है किसी की नहीं सुनता यह प्रसंग आजाने से लिख दिया हमारा प्रस्ताव यही था कि जैसे पूर्वकाल में कभी ज्ञान वैराग्य जैसा उपकारी विषय भी अत्यन्त असीम बढ़ जाने से दुःख का हेतु होगया था उस से भी अत्यन्त अधिक दुर्दशा वा अधोगति का हेतु वर्त्तमान काल में विषयासक्ति का अत्यन्त बढ़ जाना है जिस विषयवासना ने आज अच्छे २ नामी विरक्तों तक को अपना पूर्ण आज्ञाकारी शिष्य बना रक्खा है उसी की अधिकता से जन संख्यादि की अधिकता द्वारा घोर आपत्ति बढ़ती जाती हैं । इसी के अनुसार बादशाही समय में फारसी उर्दू की अधिकता बढ़ी उस को उग्र अत्याचारों ने समाप्त कराया । अब अंग्रेजीरूप नदी का प्रवाह उस से भी अत्यन्त प्रबल वेग से बह रहा है जिस में आर्यसमाज भी बहा जाता है जिस ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं वेदोक्त धर्म को

उन्नति के लिये खड़ा होता हूं। सुनो भाई!!! हमारा मत वेद है और वह ईश्वर वाक्य है इत्यादि प्रकार से मानता हुआ भी इस आर्यसमाज का अधिकांश भाग वा उस के अग्रगन्ताओं का प्रधान वा प्रबल भाग अंगरेजीशिक्षा प्रणालीरूप नदी में वह रहा है। जैसे कोई पूर्व को चलने के लिये बड़ी तयारी करे बहुत कुछ कहे सुने कूदे फांदे कि हम ऐसे २ पूर्व को जायंगे अवश्य जायंगे अन्यत्र कहीं न जायंगे पूर्व को जाना ही हमारा सर्वोपरि इष्ट है और सब मिथ्या है इत्यादि सब कुछ कहता सुनता देखता हुआ भी झट पट पश्चिम को भागने लगे क्या ठीक यही दशा अंगरेजी की शिक्षाप्रणाली बढ़ाने के लिये कूदा फांदी करने वाले आर्यसमाजस्थों की नहीं है?। क्या वेदमत से दूसरी ओर झुका कर ले जाने वाला अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव नहीं है?। वास्तव में यह सत्य है कि "गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः" प्रायः मनुष्य जो प्रवाह बलपूर्वक चलता देखता है उसी पर झुक जाता है तत्त्व वा असलियत शोचने वाले प्रायः सांसारिक लोग नहीं होते। प्रारब्ध, गतानुगतिकता, जातिधर्म, स्वभाव और समय का प्रबल प्रवाह इन सब का एक ही अभिप्राय है। आर्यसमाज में लौकिक चित्त २ न हो किन्तु इस में परमार्थी परमतत्त्व के शोचने वाले कुछ मनुष्य ऐसे खड़े हों जो आर्यसमाज की नौका को ढकेल कर पार लगाना अपना परम कर्त्तव्य समझ लेवें तो इस का नाम सार्थक हो सकता है। इस हमारे लेख का मुख्य सारांश यह है कि आर्यसमाज में भी कई प्रकार की ऐसी भेड़ियाधसान वा गतानुगतिकता विद्यमान है जो इस के उद्देश्यों के सुफल होने में पूरा विघ्न होना सम्भव है जिन में से एक अंगरेजी शिक्षा के प्रवाह में वहना भी उदाहरण है। इस लिये आर्यसमाज यदि अपना कल्याण चाहता और उद्देश को ठीक सुफल करना अच्छा समझता है तो प्रवाह के पीछे चलना छोड़े क्योंकि यह इस में बड़ी न्यूनता है॥

कर्णवेधसंस्कार

हमारे पास कर्णवेध संस्कार के विषय में एक आर्य महाशय ने शङ्का कर के भेजी है उस का समाधान हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ यहां संक्षेप से छपाना उचित समझ कर लिखते हैं—

प्रश्नकर्त्ता–मैंने १ पत्र आर्यावर्त्त को पूर्व में प्रेरित किया था कि सम्पादक जी यदि उस को प्रकाशित करदें तो पाठकवर्ग में से कोई उस का उत्तर प्रदान करदें परन्तु न जाने किस कारण से उन्होंने प्रकाशित न किया अत एव अब आप को लिखना पड़ा कि आप अपने आर्यसिद्धान्त में इस को प्रकाशित करें। मुझ को कर्णछेदन संस्कार में कुछ शङ्का उपस्थित हो गयी है और वह यह है कि स्वामी जी ने जो संस्कार विधि में १६ संस्कार लिखे हैं तो भूमिका में लिखा है कि प्रत्येक संस्कार का प्रयोजन लिखा जावेगा परन्तु जहां इस संस्कार की विधि लिखी है कुछ प्रयोजन नहीं लिखा केवल इतना ही लिखा है कि सुश्रुत और चरक जानने वाले वैद्य से कर्णवेध करावे। चरक और सुश्रुत देखे तो उस में भी कुछ नहीं लिखा कि कर्णवेध से क्या लाभ है। उस में केवल कर्णाभरण धारण करने के निमित्त इस क्रिया को रक्खा है सो आवश्यकीय नहीं क्योंकि इस का विशेष प्रयोजन नहीं यदि है तो केवल पुत्रीवर्गमात्र के लिये शिशुवर्ग को वह भी नहीं कि यह संस्कार शिशुवर्ग का क्यों कराया जावे मेरा पुत्र ६ वर्ष का होगया है उस का कर्णवेधसंस्कार अभीष्ट है यदि शङ्का का समाधान होगया तो कराया जावेगा नहीं तो नहीं। इत्यादि–

सन्नूलालगुप्त कानूनगो–अनूपशहर

उत्तर–हमारी इच्छा और विचार है कि गर्भाधानादि सभी संस्कारों पर हम कुछ लेख लिखें और प्रत्येक संस्कार का फल प्रयोजन वा आवश्यकता आर्यसिद्धान्त में यथाशक्ति अपने पाठकों को दिखलावें सो आशा है कि सर्वान्तर्यामी पूरी करेगा। अब कर्णवेधसंस्कार का प्रयोजन शोचने के लिये यह भी विचारणीय है कि संस्कार शब्द का शाब्दिक वा लाक्षणिक क्या अर्थ है ?। सम् नाम अच्छे प्रकार सम्भाल के जो किया जाय वह क्रिया वा कर्म संस्कार कहाता है यह इस का शब्दार्थ है और इस का लाक्षणिक अर्थ यही है कि सामान्य कर शुद्धि के हेतु सभी कामों का नाम संस्कार हो सकने पर भी उन में विशेष वा अत्यावश्यक शुद्धि के लिये होने से गर्भाधानादि क्रियाओं का नाम मुख्य कर संस्कार है। जैसे मनुष्य शब्द सामान्य वाचक है और ब्राह्मणादि कर्मजाति उस के अवान्तर भेद हैं औरप्रत्येक ब्राह्मणादि भेद के साथ सामान्य मनुष्य शब्द की व्याप्ति रहती है जैसे ब्राह्मण मनुष्य, शूद्र मनुष्य, चर्मकार मनुष्य इत्यादि में ब्राह्मणादिपन का भेद होने पर भी सामान्य मनुष्यपन में कोई भेद नहीं है। मनुष्यपन में जैसा

मनुष्य ब्राह्मण जैसा ही शूद्र है वैसे ही सामान्य संस्कारपन में उपनयन, गर्भाधान कर्णवेध सब एक से ही हैं संस्कारपन सब में है। जैसे संस्कृत अन्न कहने से यह समझा जाता है कि स्वादिष्ट, भोजन करने योग्य अन्न हो गया गुणकारी हो गया वा उपकारी उपयोगी हो गया वा सुगमता से खाने पचने योग्य हो गया वा अभीष्टकार्यसाधक हो गया इत्यादि। वैसे संस्कारों से ठीक संस्कृत हो गया नाम शुद्ध अच्छा मनुष्यों में आदरणीय कार्यसाधक अपना तथा अन्यों का उपकार करने में योग्य समर्थ हो गया वा विद्या धर्म सम्बन्धी शिक्षा से शिक्षित हो गया सम्भल गया वा गुणी हो गया इत्यादि मनुष्य के संस्कृत हो जाने का तात्पर्य है। और सम्भल जाना वा सुधर जाना अनेक भागों में बंटा हुआ है। जैसे भोजन बनाने के अनेक भेद हैं लकड़ी चूल्हे में धरना, अग्नि जलाना पानी धरना उस में चावल वा दाल छोड़ना, करछी चलाना लवण मसाला पीसना, मिलाना छौंक देना आटा लाना, गूंदना, पाना तवे पर रोटी डालना उतारना सेकना धरना इत्यादि का नाम एक पकाना वा रसोई बनाना है। इसी प्रकार गर्भाधान से लेकर किसी बालक के सब संस्कार समावर्त्तन पर्यन्त विचारपूर्वक सावधानी से यथोचित रीति वा विधि से किये जावें और ठीक सुफल भी हों तो वह यौवनावस्था के समय मनुष्यपन में वा मनुष्यों की उत्तम कक्षा में पूरा संस्कृत हो जायगा वा ठीक२ सम्भल जायगा गुणी शिक्षित हो जायगा। विद्या तथा धर्म के द्वारा अपना अन्यों का कल्याण कर सकेगा। यदि उस के कोई संस्कार हों कोई न हों तो वह उतने अंश में ही सुधरेगा यदि संस्कार नाम मात्र हुए भी उन का मर्म करने कराने वालों ने कुछ न समझा तो न होने के समान व्यर्थ से हो जायगे। तथापि सर्वथा न होने की अपेक्षा नाम मात्र होना भी अच्छा है। जिस का संस्कार नाम संशोधन किया जाता है उस में दो प्रकार का परिणाम वा फल होना सर्वत्र अभीष्ट माना जाता है एक तो शारीरिक वा आत्मिक मलिनता कुसंस्कार वा पाप रोग दोषों की निवृत्ति और द्वितीय शरीर वा आत्मा में अभीष्ट शान्ति सुचेष्टा वा विद्या धर्मादि गुणों का संचय करना सो अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट गुणों का शरीर तथा आत्मा दोनों में ही सब संस्कारों से कुछ २ संचय अवश्य होता है। और सब संस्कार ठीक होने से पूरी अनिष्ट मलिनता रोग दोषों की निवृत्ति तथा इष्ट धर्म शान्त्यादि गुणों का पूरा संचय भी हो जाता है जिस से वह म-

नुष्य अपने संसार परमार्थ को सहज में बना लेता है यह कुछ संस्कारों का छोटा फल नहीं है। शरीर में दो प्रकार की मलिनता प्रथम मनु जीने मानी और उस के निवारणार्थ लिखा है कि—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ १ ॥ अ २

गर्भाधान पुंसवन और सीमन्तोन्नयन इन गर्भ समय के होमों से तथा जातकर्मादि क्रियाओं से रजवीर्य सम्बन्धी वा गर्भस्थान में रहने की मलिनता सम्बन्धी दोष ब्राह्मणादि द्विजों के छूट जाते हैं। वास्तव में अन्य संस्कारों से बच्चों का अधिकांश शारीरिक सुधार होता है आत्मिक सुधार होता भी है तो वह शारीरिक सुधार के द्वारा परम्परा से थोड़ा होता है। जैसे स्नानादि द्वारा शरीर की शुद्धि होने पर मन आत्मा भी प्रसन्न शुद्ध होता है। इसी प्रधानांश को लेकर (अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति) मनु जी ने जल से शरीर की शुद्धि होना कहा और गौण होने से आत्मिक शुद्धि नहीं कही परन्तु यज्ञोपवीत वेदारम्भ संस्कार के ठीक २ पूर्ण हो जाने अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण निर्विघ्न समाप्त कर लेने पर मानस आत्मिक संस्कार भी अच्छा होता है विद्या और धर्म की शिक्षा से मन आत्मा भूषित निर्दोष हो जाते हैं इस लिये इसी संस्कार से द्विजपदवी प्राप्त हो सकती है॥

सब संस्कारों में शरीर तथा आत्मा का संशोधन रूप फललाभ न्यूनाधिक तो है ही पर उन में उपनयन संस्कार का सर्वोपरि फल है और कर्णवेध, निष्क्रमण, सीमन्तोन्नयन इत्यादि कई संस्करों का थोड़ा २ फल वा प्रयोजन अवश्य है जिस को उपनयन की अपेक्षा कुछ नहीं के समान कोई कहे तो अनुचित नहीं तथापि जैसे कोट्यधीश की अपेक्षा शताधीश कुछ भी न गिनाजाय तो भी जिस के निकट एक पैसा भी नहीं उस की अपेक्षा तो शताधीश भी बड़ा ही है इसी के अनुसार न करने की अपेक्षा तो कर्णवेधादि संस्कार भी बड़े उत्तम फल देने वाले अवश्य हैं॥

कर्णवेध संस्कार के मुख्य कर तीन प्रयोजन वा फल हैं। १—बालक को आभूषण पहना कर शोभित करना। २-सुवर्ण के औषधि रूप होने से रोगनाश करके आयु की वृद्धि होना। और ३-छेदन से रोगदोषों की निवृत्ति हो कर अच्छा आरोग्य रहना। इन से भिन्न चौथाव ही प्रयोजन सभी संस्कारों में समान ही

यह है कि प्रेम से गद्गद् वाणी से होने वाला अति पवित्र वेद का उच्चारण सुनते २ मन और आत्मा में पावनतम वेद का शुद्ध संस्कार जमना वेद की ओर प्रवृत्ति बढ़ना । जैसे कामासक्ति के उत्तेजक राग जहां ठीक २ साजबाज मिला कर गाये जाते हैं तब कामी लोगों के मन और आत्मा में एक प्रकार की अच्छी लहरें उठती हैं उन के आत्मा में कामोत्तेजक आह्लाद बढ़ता है वैसे ही वेद की ओर जिन की प्रवृत्ति वा प्रीति होती है वेद का आशय जिन को समझ पड़ता है उन का आत्मा वेद को पढ़ते समय वा सुनते समय अवश्य संस्कृत होता है । यदि कोई कहे कि बच्चे जैसे नाच तमाशे राग आदि का मर्म नहीं जानते वैसे वेद का भी नहीं जानते फिर संस्कारों में वेद के सुनने से बच्चों को क्या लाभ होगा तो उत्तर यह है कि यद्यपि नाच आदि को बच्चे नहीं जानते तथापि अपने पितादि की जिस काम में अधिक प्रीति देखते जिस में पितादि को अधिकांश मग्न वा लिप्त देखते हैं उस को वे अच्छा अवश्य मानने लगते और धीरे २ उन्हीं कामों में झुकते जाते हैं इस से पितादि का संस्कारादि करने, वेद के सुनने में अतिप्रेम वा तत्परता बालकों के भावीसुधार का हेतु अवश्य होगी तथा अग्नि में शुद्ध सुगन्धित घृतादि का होम भी वायु के शोधन द्वारा शारीर और मानस शुद्धि का हेतु अवश्य है । सर्वोपरि जीवन का हेतु वायु है उस का बिगड़ना वा प्रतिकूल होना मरण का हेतु वा महा विपत्ति का कारण है वैसे ही वायु का सुधार वा अनुकूलता महा सुख का हेतु है । यह भी सब संस्कारों में सामान्य प्रयोजन है ।

१–जैसे शोभा और शीतोष्ण से रक्षा दोनों प्रयोजन से वस्त्र धारण किया जाता है वैसे आभूषणों का धारण भी शोभा और अनेक रोगों से रक्षा होने के लिये करना चाहिये–

वचाघृतं सुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम् ।
मेध्यमायुष्यमारोग्यं पुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥ १ ॥

सुश्रुत में यह लिखा है कि वचासाधित घी सुवर्ण का चूर्ण वा सोने के वरक तथा बेल के पके फल का चूर्ण ये तीनों पदार्थ बुद्धि अवस्था नीरोगता और पुष्टि बल आदि को बढ़ाने वाले हैं । इसी लिये जातकर्मसंस्कार में मेधायुष्करणीय मान कर घी मधु और सुवर्ण बच्चे को चटाना कहा है । जिस का खाना विशेष

गुणकारी है उस का धारण करना भी अवश्य गुणकारी होगा क्योंकि पेट में प-हुंच कर भी कुछ गुण ही प्रकट करेगा। वैसे कान आदि में पहिना हुआ भी अपना गुण शरीर में अवश्य पहुंचावेगा। इसी लिये मनु जी ने लिखा है (शुभे रौक्मे च कुण्डले) कि सुवर्ण के शुद्ध कुण्डल दोनों कानों में धारण करे और ऋग्वेद १। १२२। १४ मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि—

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णास्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः। इत्यादि।

इस का अर्थ भी स्पष्ट है कि हिरण्य नाम सुवर्णके विकार कुण्डलादि ना-मक आभूषण जिस के कानों में हों, मणि रत्न युक्त आभूषण जिस की ग्रीवा गर्दी में हों ऐसे मेरी रक्षा सब देवता करें अर्थात् सुवर्णादि आभूषण भी रक्षा के हेतु हैं उन्हीं के द्वारा यहां रक्षा दिखाना अभीष्ट है। और यजु तथा अथर्व वेद में और भी स्पष्ट ही सुवर्ण धारण के गुण वा आवश्यकता दिखायी गयी है।

यो बिभर्त्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। य० ३४। ५१।

दक्ष शब्द वेद के कोष में बल का नाम है अग्नि के बल से उत्पन्न होने से दाक्षायण नाम सुवर्ण का है। अर्थात् सुवर्ण आग्नेय पदार्थ है इसी लिये बुद्धि आयु और बलवर्द्धक है। चिकित्साशास्त्र में अधिकांश ज्योतिष्मत्यादि अग्निशक्ति प्रधान पदार्थ ही बल पुष्टि आयु और बुद्धिवर्द्धक माने जाते हैं। इसीलिये जो पुरुष बल सम्बन्धी सुवर्ण को आभूषण द्वारा सदा धारण करता वा औषधिरूप मान कर खाता है उस की उत्तम वा मध्यम कक्षा में रहते हुए अन्य भी उपयोगी साधनों के तारतम्य वा अपनी २ दशा के अनुसार आयु बढ़ जाती है। चाहे यों मानो कि इन्हीं वेद मन्त्रों का मूल लेकर सुश्रुतादि ग्रन्थों में सुवर्ण को बल पुष्टि बुद्धि और आयु का वर्द्धक माना गया है। यदि कोई कहे कि सुवर्ण के कुण्डलादि धारण करने पर भी यदि कोई निर्बल निर्बुद्धि वा अल्पायु हो तो यह सत्य कैसे होगा? तो उत्तर यह है कि बल आदि की वृद्धि के अनेक साधन हैं उन में

एक सुवर्ण भी है यदि वे सब साधन यथोचित पूरे २ हों तो वह २ बलादि ठीक वा यथोचित दशा का अवश्य होगा । यदि केवल सुवर्ण का सेवन धारण हो तो भी न धारण करने पर जैसा बल आयु आदि होता उस से कुछ अवश्य अधिक होगा । सुवर्ण ही आयु वर्द्धक है अन्य कोई उपाय नहीं वा अन्य आयुष्य नाशक प्रबल विघ्न विद्यमान हों जो सुवर्ण से होने वाले उपकार को मेट देवें तो इस से वेद में कोई दोष नहीं आ सकता सर्वत्र विचार पूर्वक काम लेना यह मनुष्य की योग्यता पर निर्भर है । इस से सिद्ध हुआ कि सुवर्ण का आभूषण पहिनना वेद प्रमाण और युक्ति पूर्वक लाभ दायक है आग्नेय होने से सुवर्ण संशोधक है । शोभा का हेतु हो कर मन की प्रसन्नता रूप संस्कार का भी कारण होता है । मनुष्य संसार में अनेक काम शोभा बढ़ाने के लिये भी करता है देखने में अच्छा लगने से चित्त की प्रसन्नता होती और प्रसन्नता का नाम भी शुद्धि व संस्कार अवश्य है । इस प्रकार शोभा बल पुष्टि आयु बुद्धि का वर्द्धक होने पर भी अब चोरी का भय तथा बच्चे के शरीर का भय रहने से तथा द्वीपान्तरीय लोगों में सुवर्णाभूषण की चाल न होने से सम्प्रति पुत्रों को आभूषण पहनाना बुरा समझा जाता है । क्योंकि आज कल अंगरेज लोगों का आचरण हमारे देश में सदाचाररूप धर्म का लक्षण माना जाता है जो उन के चाल चलन व्यवहार हैं वह सभ्यता मानी जाती है पुरानी चालें सब असभ्यता होती जाती हैं हम लोगों के ऐसे विचार भी हमारी अधोगति के कारण अवश्य हैं । द्वितीय रहा लड़कों को मार डालने का भय वा चोरी का भय उस का उत्तर यह है कि लोक में जिन २ कामों को हम उपकारी समझ कर करते हैं उन सभी में कुछ २ विघ्न वा कष्ट प्रतीत होते ही हैं जैसे वहां विघ्नों के भय से उपकारी काम करने रोके नहीं जाते किन्तु विघ्ननिवारण के उपाय सदा शोचे और किये जाते हैं वैसे यहां भी चोरी आदि विघ्न हटाने के अनेक उपाय शोचने और करने से प्रायः विघ्न होने सम्भव नहीं हैं । जैसे पुरुष स्त्री को भूषित वा शोभित देख के प्रसन्न होता वा सुख मानता वैसे माता वा पत्नी भी अपने पुत्र को वा पति को भूषित करना वा रखना चाहती है इस से दोनों को ही भूषित करना आवश्यक है केवल पुत्र वा पुरुष की अपेक्षा कन्या वा स्त्री को अधिक आभूषित करना ठीक है परन्तु पुत्र वा पुरुष आभूषण धारण ही न करें यह ठीक नहीं यह द्वीपान्तरीय लोगों से सीखा आचार विचार आर्य वेद म-

तानुयाइयों को छोड़ना चाहिये । इस के छोड़ते ही आभूषणार्थ कर्णवेध संस्कार पूर्वलेखानुसार अवश्यसार्थक प्रतीत होने लगेगा तथा एक तीसरी बात यह भी है कि जैसे आज कल शीतला [विस्फोटक] रोग की निवृत्ति के लिये बांह में टीका देने की चाल वैद्यक शास्त्र के अनुसार मानी जाती है वैसे कान और नासिका के छेदन से किन्हीं ऐसे प्रबल रोगों की निवृत्ति भी होती है जो कर्ण तथा नासिका के वेधन से स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं । क्योंकि लोक में यह प्रसिद्ध चाल चलगयी है कि जिन के पुत्र प्रायः जीवित नहीं रहते हो २ कर बीमारी से मर जाते हैं उन के यहां किन्हीं बच्चों की नासिका वा कर्ण उत्पन्न होते ही छेदन करते हैं और वे प्रायः जीवित रहते दीख पड़ते हैं इसी लिये उन सैकड़ों के नाम नकछेदी वा छेदीलाल रक्खे जाते हैं । इस को वर्त्तमान में किसी अभिप्राय से स्त्रियां मानती हों परन्तु जीवित रहने की आशा से जो नाक कान उत्पन्न होते ही छेद देने की चाल प्रथम ही प्रथम कभी चली वह इसी अभिप्राय से चली प्रतीत होती है कि जिस से सन्तानों के नाशक किन्हीं रोगों की निवृत्ति हो जावे । इस के साथ ही यह भी ख्याल रहे कि चांदी आदि के आभूषण धारण की आज्ञा वा प्रशंसा वेदादि शास्त्रों में नहीं लिखी इस लिये रजतादि के आभूषण अवश्य ही विशेष उपयोगी नहीं केवल शोभार्थ हो सकते हैं । सुवर्ण के समान रजत आग्नेय वस्तु भी नहीं तथा अन्य भी आग्नेय पदार्थ सुवर्ण के समान पवित्र नहीं हैं इस से सुवर्ण के स्थानापन्न नहीं हो सकते ॥

यद्यपि इस विषय में कुछ और शोचा जाय तो अन्य भी फल वा प्रयोजन कर्णवेध संस्कार के हो सकते हैं पर अभी जो कुछ विचार में आया सो यथा शक्ति लिख दिया है बुद्धिमान् लोग जिन की समझ में जो आवे उन २ प्रयोजनों को भी इन के साथ लगा लेवें अर्थात् मैं कर्णवेध संस्कार के प्रयोजन लिखने की इयत्ता (हद्द) नहीं करे देता हूं कि यही वा इतने हीं प्रयोन हैं । यदि किन्हीं महाशयों को अब भी कर्णवेध में सन्देह रहे तो मुझे कृपया सूचित करें यथोचित उत्तर दिया जायगा ॥ इति ॥

(भा० ७ अंक ११ । १२ से आगे मांसभोजनविचार भा० ३ का उत्तर)

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम् । अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ अथर्व ४ । १४ । ७ । ८ ॥

अर्थः—“एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः । अथर्व० ९ । ५ । २१ ” इत्यत्र मन्त्रेऽवधारणार्थवैशब्दपाठादवसेयमेव विपश्चिद्भिर्यदपरिमितो व्याप्त एव कश्चिद्यज्ञः पूज्यः प्रशंसार्होऽजपञ्चौदनपदयोर्वाच्योऽर्थो मन्त्रकारस्याभिप्रेतइति स च तत्रैव प्रकरणे सप्तदशमन्त्रेऽग्निः स्पष्टमुक्तएवास्ति । तथा च यजुष्यप्युक्तमेव “अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त० । वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त० । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त० । अ० २३ । १७ । ” एतेन स्पष्टमेवाग्न्यादीनां पशुत्वेन कल्पनं तस्य चाग्न्यादेरवयवकल्पनं च मन्त्रेषु सुगमतया बोधार्थमिति वेदप्रमाणेनैव स्पष्टीभवति । एवं च सत्यग्निरत्र मन्त्रेषु पश्वाकारेणोच्यते । तद्यथा—हे परमात्मन् पञ्चधा पञ्चप्रकारेण विभक्तमेतं प्रत्यक्षं पञ्चतत्त्वात्मकमोदनं क्लिन्नं भक्ष्यत्वमापन्नं पञ्चौदनं पञ्चीकरणेमेतरेतरं संसृष्टम् । पञ्चभिः पञ्चीकृताभीरश्मिभिः सह वर्त्तमानया तैजसनिदारणशक्त्या निदाघर्त्तुरूपया दुर्व्योद्धरोपरिष्टादूर्ध्वं नय । एतत्कार्यसिद्धये च—प्राच्यां दिश्यजस्यान्धकारस्य प्रक्षेप्तुः सूर्याग्नेः शिरो धेहि । यत्र प्रकाशकस्याग्नेः प्रधानाङ्गं शिरः सा प्राची दिग्भवतु । दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वमजस्य धेहि । यथापूर्वाभिमुखस्य

तिष्ठतः पशोर्दक्षिणं पार्श्वं दक्षिणदिश्येव भवति । प्रतीच्यां दिश्यस्याजस्य भसदमन्धकारभर्त्सनसामर्थ्यं धेहि सति पूर्वस्यामुदये पश्चात्पश्चादेवान्धकारो भर्त्स्यते प्रक्षिप्यते । उत्तरस्यां दिश्युत्तरपार्श्वरक्षणं च न्यायसिद्धमेव धृतं भवति । ऊर्ध्वायां दिशि चाजस्याग्नेरनूकः समवायिकारणमीश्वरेण निहितम् । तस्मादेवाग्निरूर्ध्वज्वलनः प्रसिद्धः अनूकइत्यस्य–"उच" समवायइति धातोर्व्युत्पादात् । ध्रुवायामधः स्थायां दिश्यस्य पाजस्यं पाजसेऽन्नाय भक्ष्याय हितमन्ने पाजसि साधु वाङ्गं पृथिव्यामोषध्यादिषु धेहि, गर्भोअस्योषधीनामित्युक्तत्वात् । पृथिव्यां मनुष्यादिशरीरे व्याप्तएवाग्निः सर्वं भक्षयति । अस्याजस्य सूर्याग्नेर्मध्यभागो ब्रह्माण्डस्य मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि ॥

भा०–यथा च सूत्रेषु लिङ्गवचनमतन्त्रमेवं पुरुषवचनादिव्यत्ययं दर्शयता वेदेऽपि वचनपुरुषकालादिकथनमतन्त्रमेव सूचितम् । तेनोद्धर धेहीत्यादिक्रियापदं न मध्यमे निबद्धमिति । परमेश्वरेण सर्गारम्भएव सर्वव्याप्तोऽग्निः सृष्टस्तस्य प्रधानाङ्गं शिरः पूर्वस्यां दिशि रक्षितम् । यथा मनुष्यादिप्राणिनां शिरोदेशे यादृशो ज्ञानप्रकाशो न तादृशोऽन्यदेहावयवेष्वस्ति तथैवात्राग्नेः शिरोदेशरूपसूर्यस्य पूर्वस्यामेव प्रधानः प्रकाशः । एवं च प्राधान्यमाश्रित्यैव प्राचीदिगग्निरधिपतिरिति मन्त्रेऽग्नेरधिपतित्वमुक्तम् । दक्षिणस्यां दिशि चाग्नेर्द्वितीयकक्षास्थं प्राबल्यमर्थात्पश्चिमोत्तरापेक्षया दक्षिणदिक्प्रान्तेष्वग्नेरूष्माधिक्यं तेन लङ्कादिप्रान्ते मनुष्यादिषु कार्ष्ण्याधिक्यस्य प्रत्यक्षदर्शनात् । यत्र यत्र यादृशं शीताधिक्यं तत्र तत्र तादृशमेवाग्नेरूष्मणो न्यूनत्वं सर्वा-

पेक्षयोत्तरकुरुषु शीताधिक्यमुष्मणश्च ह्रासस्तस्मादेव तत्रत्या मनुष्याः सर्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन गौराः । तदपेक्षया कम्बोजकापिशीगन्धारादिपश्चिमप्रान्तेषु शीतह्रास उष्माधिक्यं चातएव पिशाकायनादयो द्वितीयकक्षायां गौरास्तदपेक्षयापि दक्षिणप्रान्तेषु शीतह्रास उष्माधिक्यं चातएव तत्रत्या दाक्षिणात्यास्तृतीयकक्षायां गौरास्तदपेक्षयाऽप्याधिक्येन पूर्वप्रान्तेषु शीतह्रासोऽग्नेरुष्मणश्चात्यन्तमेवाधिक्यमतएव प्रायेण वाङ्गा ब्राह्मा वा कृष्णा दृश्यन्ते कृष्णाश्च स्वतुल्यां कालीमेव प्रायेण पूजयन्ति । एतेन प्रत्यक्षेणाऽपि जगति चतुर्दिक्षु चतुर्विधाऽग्नेर्व्याप्तिः स्फुटैव दृश्यते । दक्षिणस्यां दिशि द्वितीयाऽग्नेः कक्षा तस्यैवेन्द्रइति नामास्ति अतएव "दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिरिति" मन्त्रान्तरउक्तम् । प्रतीच्यां च दिशि तृतीयकक्षास्थोऽग्निस्तस्मादेव तत्र वरुणस्य प्राधान्यमतएव पश्चिमतः पूर्वाभिमुखाः प्रायेण नद्यो वहन्ति यत्र वरुणस्याधिक्यं ततएवागमनसम्भवादतएव मन्त्रान्तरउक्तम् "प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिरिति" उदीच्यां तु दिशि चतुर्थकक्षास्थोऽग्निरतएव दक्षिणायने सूर्ये षण्मासावधि कस्मिंश्चिदुत्तरप्रदेशे तमःप्रधाना रात्रिरेव तिष्ठति तत्र चाग्नेरप्राधान्यादेव सोमस्य प्राधान्यं तस्मादेव प्रायेण तत्रत्याश्चन्द्रमुखा जायन्तेऽतएव च मन्त्रान्तरउक्तम्—"उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः" अनेनैव च क्रमेण विवाहादिमङ्गलकार्येषु परिक्रमाः कर्त्तुं वेदाशयादेव प्रचरिताः । दिवादिलोके चाग्नेः समवायिकारणमीश्वरेण रचितं तदेवानूकषद्वाच्यम् । एतदभिप्रेत्यैव महाभाष्यकारेणोक्तम् " तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्य्यग्गच्छति ना-

र्वागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः । ,,
स्थानेन्तरतम इत्यस्योपरिकथनमिदम् । अधोदेशे पृथिव्यां चाग्नेर-
न्ननिष्पादिका शक्तिरीश्वरेण धृताऽतएव पृथिव्यां सर्वं मनुष्यादीना
भक्ष्यमुत्पद्यते । ब्रह्माण्डस्य मध्यस्थेऽन्तरिक्षे चास्याग्नेर्मध्यमा
शक्ती रचिता तस्मादेव मध्यमे ब्रह्मावर्त्तादिप्रदेशे शीतोष्णादीनां
प्रायेण साम्यान्मध्यवर्णा मनुष्या दृश्यन्ते शीतोष्णादितारतम्य-
व्यवस्थापनाय प्राच्यादिदिशां कल्पनमुष्णशीतयोर्यत्र सर्वापे-
क्षयाऽऽधिक्येन समाना प्रवृत्तिर्दृश्येत ततएव न्याय्या दिक्कल्पना
तच्चैतत्कथयता "अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य,, सूचितम् । ब्र-
ह्मावर्त्ते च सर्वापेक्षया शीतोष्णसाम्यं प्रतीयते। स्वभावेन सर्गारम्भा-
देव यथा जगत्यग्निर्व्याप्तस्तथैवात्रावयवकल्पनया स्वाभाविकी
व्याप्तिर्मन्त्रद्वयेन प्रदर्शिता बोध्या । अनेन चायमप्याशयो नि-
स्सार्यएवास्ति यथेश्वरेण पञ्चतत्त्वात्मकं सर्वं समस्तं व्यस्तं च
निर्मितं तस्मिन्नेवैकोऽग्निर्भक्षकः कृतस्तत्र स्वभावेनैवाग्नौ सर्वं हू-
यते । व्याप्तेनाग्निनैव च सर्वं प्रकारान्तरापन्नं दृश्यते । भुक्तं प-
क्वमन्नं जाठराग्निना पुनः पच्यमानं दृश्यते, ओषधिफलानि चो-
ष्मणैव पच्यन्ते । सूपौदनशाकादींश्च मनुष्या अग्निनैव पक्त्वा
भुञ्जते पृथिव्यां पतितं च तृणादिकं पार्थिवाग्निनैव प्रकारान्त-
रमापद्यते । एवं सर्वत्रैव पञ्चतत्त्वात्मके जगत्यग्निर्भक्षकोऽन्यच्च
सर्वं भक्ष्यं भक्षणस्य च प्रकारान्तरापत्तिप्रयोजनप्राधान्याद्वग-
न्तव्यमिदमित्थमिति । तथा स्वभावेनैवाग्निर्भोक्ताऽन्यच्च भोज्यं
सर्वं निर्मितं यथा सति पित्तप्राबल्ये भोजनकामादिकाः सर्वाः
शरीरस्था भोक्तृशक्तय आविर्भूता दृश्यन्ते मान्द्ये च पित्तस्य न

किमपि भोक्तुं शक्नोत्येवं सर्वत्रैवाग्निर्भोक्ताऽस्ति सूर्याग्निः स्वकिरणरूपहस्तैः पृथिवीस्थमुदकादिकं प्रत्यहं भुङ्क्ते तेन सर्वं शुध्यति। तस्मादेव पाञ्चभौतिकं घृतमिष्टादिपञ्चविधं हव्यद्रव्यं पञ्चीकृताभिः सूर्यरश्मिभिरिव पञ्चभिः स्वहस्ताङ्गुलिभिर्दर्वीमादाय स्थाल्यां पक्तव्यं पक्वं च तथैव निस्सार्य च स पञ्चविध ओदनोऽग्नेर्भक्ष्योऽग्नौ होतव्यएतच्च ध्येयं यथायथा पूर्वादिदिक्षु परमेश्वरेण याद्दश्यग्न्यादिदेवतानां स्थितीरक्षिता तथैव ममापि हव्यं तारतम्येन तस्यैतस्यै देवतायै यथास्वं प्राप्नोतु तेन च पूर्वादिस्थाग्निना तथैव मम सुखं वर्द्धतामित्याशयेन स्वभावप्राप्तो होमः कार्यएव ये च स्वाभाविकभोक्तृभोग्यादिविचारं वेदसिद्धान्तं तिरस्कृत्य स्वस्य जाठराग्निमेव भोक्तारं मत्वा भुञ्जते यज्ञांश्च त्यजन्ति तेषां प्राणानेव कुपिता अग्नयोऽत्तुमिच्छन्ति । यथा दुर्गन्धादिना कुपितो वायुः प्रबलरोगादिशस्त्रैर्हन्तुं प्रवर्त्तते तच्च महदनिष्टम् । तस्मादनिष्टं जिहासुभिरिष्टमीप्सुभिश्च मनुष्यैर्वेदोक्तो यज्ञः कार्यइत्यतिसमासेन मन्त्रद्वयस्य तात्पर्यं बोध्यम् ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व (एष वा०) यह मन्त्र लिख चुके हैं जिस का स्पष्ट अक्षरार्थ यह है कि " यही अपरिमित—असीम व्याप्त यज्ञ है जो अज नामक पञ्चौदन है " इस मन्त्र में निश्चयार्थ वैशब्द के पढ़ने से विचारशीलों को यह ठीक सत्य मान लेना चाहिये कि अज और पञ्चौदन का व्याप्त अपरिमित यज्ञ नाम पूजनीय प्रशंसा के योग्य कोई वाच्यार्थ वस्तु लेना मन्त्रकर्त्ता ईश्वर को भी अवश्य इष्ट है । और वह अजपञ्चौदन शब्द का वाच्यार्थ उसी (अथर्व० ९। ५। १७) में स्पष्ट ही अग्नि कहा है । क्योंकि वहां १६ और १८ दोनों पूर्व पर मन्त्रों में अजका वर्णन है केवल १७ वें मन्त्र में अग्नि शब्द से वर्णन किया है। तथा अथर्ववेद काण्ड ९ के पांचवें अनुवाक के आरम्भ से अन्त तक केवल प्रकरणबद्ध अज का वर्णन ३८ अड़तीशों मन्त्रों में बराबर चला गया है इस कारण इसी

अथर्व के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि अज पञ्चौदन का वाच्यार्थ सर्वव्याप्त अग्नि है। तथा यजु० अ० २३ मं० १७ में और भी स्पष्ट लिखा है कि (अग्निः पशु०) अग्नि पशु है उस से यज्ञ करते वायु पशु है उस से यज्ञ करते और सूर्य पशु है उस से यज्ञ करते हैं अर्थात् अग्नि आदि तीन देवता वेद में प्रधान हैं जहां २ वेद में अज वा अश्व आदि पशु वाचक शब्दों से यज्ञ करना कहा है वहां २ अग्नि आदि को पशु रूप मानना चाहिये और उन्हीं के अङ्गों की कल्पना ब्रह्माण्ड भर में कर लेनी चाहिये जिस से ब्रह्माण्डभर में अग्नि आदि पशु व्याप्त होकर किस २ अंश से क्या २ काम कर रहे हैं ऐसी पशुरूप कल्पना से सब ब्रह्माण्ड का हाल विद्या सम्बन्धी शीघ्र समझ में आ सकता है। इत्यादि विचार के अनुसार पूर्वोक्त दो मन्त्रों में पशु रूप से अग्नि का वर्णन कहा है—जैसे—

हे परमात्मन् ! (पञ्चधैनमोदनम्) पृथिव्यादि पांच नाम वा प्रकारों से भिन्न २ विभक्त इस प्रत्यक्ष पंचतत्त्वरूप ओदन नाम जल के सम्बन्ध वा व्याप्ति से गीले भक्ष्य दशा को प्राप्त वस्तुमात्र कि जो (पञ्चौदनम्) सब का सब में प्रवेश होने से प्रत्येक पञ्चीकरण को प्राप्त [अर्थात् पञ्चीकरण उस को कहते हैं जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म भृगुभरद्वाजसंवाद प्रकरण में लिखा है—

त्वक् च मांसं तथाऽस्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् । इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥ १ ॥ तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च । अग्निर्जरयते यच्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥२॥ श्रोत्रं घ्राणं तथाऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च । आकाशात्प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥३॥ श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च । इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥४॥ प्राणात्प्राणयते प्राणी व्यानाद्व्यायच्छते तथा । गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ ५ ॥ उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते । इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मनुष्य का शरीर पृथिवी तत्त्व प्रधान होने से पार्थिव माना जाता है तथापि पांचों तत्त्व पांच २ प्रकार से शरीर में रह कर सब काम दे रहे हैं।

त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और नसें ये पांचों पृथिवीप्रधान पांच अंश प्रत्येक शरीर में हैं । तथा शरीर में जो कान्ति चमक प्रतीत होती, क्रोध उठता, चक्षु की ज्योति, गर्मी जो छूने से ज्ञात होती और उदर में खाया पिया जिस के द्वारा पचता है यह पांच प्रकार से अग्नि प्रत्येक शरीर में व्याप्त होकर काम दे रहा है । कान, नासिका, मुख, हृदय, और आमाशय पक्वाशय आदि जो कोठा के समान बने हुए हैं इन सब में भीतर अवकाश पोल होने और बाहर को छिद्र होने से ही वे पांचो आकाशरूप से शरीर का काम दे रहे हैं । तथा श्लेष्मा नाम कफ, पित्त जो पीला २ पानी कभी वमन द्वारा निकलता है, स्वेद—प-सीना, वसा, और लोहू ये जल पांच प्रकार से शरीर का धारण करते हैं । तथा जिस से ऊपर को चेष्टा करते जीवित रहते हैं वह प्राण, तथा व्यान से हाथ पांव आदि को फैला सकते, नीचे को क्रिया वा मूत्र प्रस्राव आदि जिस से होता वह अपान, और जिस से ठहरता वा उठ जाता गिरने आदि से गिरते २ बच जाता है बीच में ठहर सकता वा कुम्भक प्राणायाम कर सकता है वह समान और जिस से ऊपर को श्वास लेता तथा बोल सकता है वह उदान कहाता है इन पांच रूपों से वायु शरीर में चेष्टा कराता है । ये पांचो तत्त्व शरीरादि प्रत्येक पदार्थ में पांच २ प्रकार से व्याप्त होकर सब संसार को २५ पच्चीस प्रकारों से चलाते वा स्वयं सब पचंपचीस हो जाते हैं । चाहे यों कहो कि पार्थिव आकाश पार्थिव वायु पार्थिव अग्नि, पार्थिव जल और स्वयं पृथिवी जैसे यह पांच प्रकार की पृथिवी है वैसे ही शुद्ध आकाश में पार्थिव आप्य, तैजस परमाणु रहते वायु तो मुख्य कर आकाश में रहता ही है इस से आकाश भी पांच प्रकार का होता ऐसे ही अन्य वायु आदि भी पांच २ प्रकार के हो जाते हैं यही पञ्चीकरण कहाता है] पच्चीस प्रकार के परस्पर मिले हुए पञ्च तत्त्वरूप पञ्चौदन को (पञ्चभिरङ्गुलीभिः) उन २ पार्थिवादि पदार्थ में, पञ्चीकरण को प्राप्त पांच प्रकार की अग्नि की तेजरूप किरणों के साथ में वर्त्तमान (दर्व्या) विदीर्ण करने वाली तैजस शक्ति जो ग्रीष्म ऋतु विशेष वा सामान्य मध्याह्न की उष्णता है उस से (उद्धर) ऊपर को जलादि पहुंचा तथा वर्षा कराके उद्धार कर । इस कार्य की यथोचित सिद्धि के लिये (प्राच्यां दिशि शिरोऽजस्य धेहि) अन्धकार को फेंकने वा हटाने वाले अज नामक सूर्याग्नि का शिर नाम प्रधानांश प्रधान

शक्ति पूर्व दिशा में धारण कर अर्थात् जहां प्रकाशक सूर्याग्नि की शक्ति प्रधानता से रहती वह पूर्व दिशा हो वा है और (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं धेहि) दक्षिणदिशा में उस अग्नि का दक्षिण पार्श्व अर्थात् द्वितीय कक्षा की शक्ति धारण कर जैसे पूर्व की मुख करके खड़े हुए पशु आदि का दहिना पार्श्व दक्षिण दिशा में होता ही है (प्रतीच्यां दिश्यस्य भसदं धेहि) पश्चिम दिशा में इस अग्नि के अन्धकार को फेंकने के सामार्थ्य को धारण कीजिये जैसे पूर्वाभिमुख पशु पूंछ द्वारा पश्चिम में अपने प्रतिकूल को झाड़ता फेंकता वा गोबर आदि अनिष्ट मल को पश्चिम में निकालता वैसे अग्नि का मुखरूप सूर्य पूर्व में उदित हुआ अपने किरणरूप पूंछसे अन्धकारको पश्चिम २ की ओर बराबर फैंकता जाता है [स्मरण रहे कि यह भसद् शब्द लोक में गुदा इन्द्रिय का वाचक माना जाता है और मांसभोजनविचाराचार्य ने लिखा है कि " (भसदम्) जघनमांस सिद्धमाल को " भस भर्त्सने धातु से यह शब्द बनता है जिस का सामान्यार्थ यही है कि जिस के द्वारा अनिष्टमल अन्धकारादि को निकाला दूर किया जाय फेंक दिया जाय । इस वेदानुकूल सामान्य यौगिकार्थ से गुदा का नाम भी बन सकता है क्योंकि उस इन्द्रिय के द्वारा अनिष्ट मल निकाल दिया जाता है और शोचने से यह भी प्रतीत होता है कि ऐसे ही वेद में कहे भसद् शब्द के अर्थ को समझ कर पाणिनिआचार्यने भस भर्त्सने धातु की कल्पना की होगी इस को पाठक लोग शोचलें कि कौन अर्थ अच्छा है] (उत्तरस्यां दिश्युत्तरं पार्श्वं धेहि) तथा उत्तर दिशा में अज नामक अग्नि का वाम भाग वा चौथी कक्षा का सामर्थ्य रखिये । और न्यायानुकूल भी पूर्वाभिमुख मनुष्यादि का उत्तर में वाम भाग रहता ही है [इस का विचार प्रत्येक मनुष्य के शरीर में किया जाय तो मनुष्य अपने सम्मुख भाग को प्रथमकक्षा में दहिने भाग को द्वितीयकक्षा में तथा पीठ के भाग को तृतीय कक्षा में और वाम भाग को चतुर्थकक्षा में मानता ही है अर्थात् जब ऊपर से नीचे को चलें तो मुख को सर्वोत्तम और पगों को सब से निकृष्ट शरीर का भाग प्रत्येक मानता है पर यदि वैसी परिक्रमा दशा को विचार के देखें तो पूर्वोक्त प्रकार उत्तम मध्यम निकृष्ट माना जाता है। प्रत्येक मनुष्य बांये हाथ से मल मूत्रादि धोता है इस से वाम हाथ शरीर के मध्य भाग में सब से निकृष्ट माना जाता है इसी लिये मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि अग्निहोत्रादि यज्ञों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा पूज्य गुरु आदि के सामने और

राजसभादि में दहिने हाथ से काम लेवे बायें हाथ से कोई संकेत करने से भी श्रेष्ठ काम वा मान्य पुरुषों का अनादर होता है इस से सिद्ध है कि बैंडी दशा में प्रत्येक वस्तु का वाम भाग चौथी कक्षा में है (ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि) ऊपर की दिशा में अजनामक अग्नि का अनूक नाम उपादान [समवायि] कारण को धारण कीजिये अर्थात् ऊपर द्युलोक में परमेश्वर ने अग्नि का उपादान कारण रक्खा है इसी से अग्नि की ज्योति ऊपर को ही जलती और अग्नि ऊर्ध्वज्वलन कहाता है। और "उच समवाये" धातु से अनूक शब्द बनता है वा यों कहो कि अनूकादि वेद के शब्दार्थों को समझ कर ही पाणिनिने उच समवाये धातु की कल्पना की है (ध्रुवायां दिशि पाजस्यं धेहि) ध्रुव नाम नीचे पृथिवी सम्बन्धिनी दिशा में अग्नि की पाजस् नाम अन्न को उत्पन्न करने की शक्ति को धारण करिये वा ईश्वर ने पृथिवीस्थ ओषध्यादि में अन्नोत्पत्ति के लिये अग्नि को स्थापित किया है। सो वेद के मन्त्र में अन्यत्र स्पष्ट लिखा भी है कि (गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्०) अग्नि ओषधि वनस्पत्यादि का गर्भ नाम उन में व्याप्त है। पृथिवी और मनुष्यादि के शरीरों में व्याप्त हुआ ही अग्नि अन्न का भक्षण करता और पकाता है (अस्य मध्यं मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि) इस अन्धकार को दूर करने वाले सूर्याग्नि का मध्यभाग ब्रह्माण्ड के मध्य अन्तरिक्ष में धारण कीजिये ॥

भा०-जैसे व्याकरण के सूत्रों में लिङ्ग वचन जो पढ़े हैं वे ठीक नियत नहीं माने जाते किन्तु प्रकरण तथा ग्रन्थ की ठीक संगति लगाने के लिये यथोचित लिङ्गवचनादि का परिवर्त्तन कर लिया जाता है वैसे ही (व्यत्ययो बहुलम्) सूत्र से पुरुष तथा वचनादि का व्यत्यय दिखाते हुए पाणिनि ने वेद में भी पुरुषादि का व्यत्यय स्पष्ट सूचित किया है। तदनुसार यहां " धेहि " इस क्रियापद को मध्यम पुरुष में बद्ध मत समझो किन्तु परमेश्वर ने अग्नि का प्रधानाङ्ग पूर्व दिशा में सृष्टि के आरम्भ से ही धारण किया धारण करता है वा धारण करेगा इत्यादि सभी अर्थ ठीक संघटित हो सकता है । परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्याप्त अग्नि रचा और उस का प्रधानांश पूर्व दिशा में रक्खा । जैसे मनुष्यादि प्राणियों के शिर में जितना वा जैसा ज्ञान का प्रकाश होता है वैसा शरीर के अन्य अवयवों में नहीं इसी से शिर के किसी चक्षुआदि भाग में पीड़ा वा चोट अधिक आवती उतनी पीड़ा वा चोट अन्य गोड़े आदि में लगे तो वैसा

वा उतना कष्ट नहीं होता और सुख प्रतीत होने के लिये भी शिर में ही सब से अधिक सामान प्रत्यक्ष विद्यमान है। वैसे ही इस जगत् भर में अग्नि के शिर रूप सूर्य का प्रधान प्रकाश पूर्व दिशा में सदा स्थित रहता है। इसी प्रधानता को मान कर (प्राची दिगग्निरधिपतिः०) इस अथर्व के अन्य मन्त्र में पूर्वदिशा का अधिपति अग्नि को कहा है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा की प्रबलता ईश्वर ने रक्खी है इसी कारण पश्चिम और उत्तर दिशाओं की अपेक्षा दक्षिण प्रान्तों में अग्नि की ऊष्मा अधिक है। इसी से लङ्कादि देशों में मनुष्यादि अधिक काले होते प्रत्यक्ष दीखते हैं। जहां २ जितनी शीत की अधिकता होती वहां २ वैसी ही न्यून २ गर्मी होती है। सब की अपेक्षा उत्तरकुरु नाम यूरोप वा रूस आदि के किन्हीं भागों में जो भारतवर्ष से उत्तर में पड़ते हैं उन में शीत की अधिकता और सर्वोपरि गर्मी की न्यूनता है इसी से वहां के निवासी सब की अपेक्षा अत्यन्त गोरे होते हैं। और काबुल कन्धारादि पश्चिम प्रान्तों में उत्तर की अपेक्षा शीत कम होता और गर्मी अधिक होती इसी से काबिली आदि मनुष्य द्वितीय कक्षा में गोर होते हैं। वा इस विचार को जब हम केवल आर्यावर्त्त में फैला कर देखें तो उत्तर के पहाड़ी सब से अधिक गोरे उन से नीचे द्वितीय कक्षा में पञ्जाबी और तृतीय कक्षा में मुम्बई प्रान्त के दक्षिणी गोरे और बंगाली सब से अधिक काले होते हैं क्योंकि पश्चिम दक्षिण प्रान्तों में शीत न्यून और उष्णता अधिक है और उस से भी पूर्व प्रान्तों में शीत की न्यूनता और गर्मी की अधिकता है इसी से बंगाले के मनुष्यों में कालापन अधिक है और वहां के निवासी अधिकांश काले होने से ही अपने तुल्य काली की उपासना करते और काला वर्ण उत्पन्न करने वाले शाकभाजी आदि को स्वभाव से ही अधिक खाते हैं। इत्यादि प्रत्यक्ष विचार के देखने से भी वेद में कहे अनुसार चारों दिशा में अग्नि की चार प्रकार की व्याप्ति स्पष्ट दीखती है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा है उसी का नाम इन्द्र है जो साक्षात् प्रसिद्ध अग्नि की अपेक्षा सूक्ष्म विद्युत् नाम से सर्वत्र व्याप्त अग्नि है। दक्षिण में उस की प्रधानता होने से ही अथर्व के (दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) इस मन्त्र में दक्षिण का अधिपति इन्द्र कहा गया है। तथा पश्चिम दिशा में तीसरी कक्षा का अग्नि है और दो अंशों में जल की अधिकता वा प्रधानता है इसी कारण पश्चिम से पूर्व को अ-

धिकांश नदियां निकल २ कर बहती हैं क्योंकि पश्चिम में जल की खानें हैं । वहीं से निरन्तर जल निकलने पर भी चुकता नहीं जल की खानों का ही नाम वरुण वा वरुणलोक है इसी लिये इस अथर्व के (प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः) इस अथर्वमन्त्र में पश्चिम दिशा का अधिपति वरुण कहा गया है । तथा उत्तर दिशा में चौथी कक्षा का अग्नि है इसी से सूर्य के दक्षिणायन होने पर उत्तर के किसी २ प्रदेश में छः महिनों तक रात्रि ही रहती है और उत्तरायण में छः महिनों तक दिन रहता है इसी को दैव अहोरात्र कहते हैं । और वहां अग्नि की अप्रधानता होने से ही सोमशक्ति की तिगुणी अधिक प्रधानता रहती वा होती है इसी से वहां के स्त्री पुरुषादि प्रायः चन्द्रमुख होते हैं इसी लिये अथर्व के इस (उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः) मन्त्र में उत्तर दिशा का अधिपति सोम को कहा है । और विवाहादि मङ्गल कार्यों में इसी क्रम से परिक्रमा करने का प्रचार लोक में वेद का आशय लेकर प्रचरित हुआ है । इस से अग्नि की परिक्रमा करते समय यह अभिप्राय रक्खा जाता वा रखना चाहिये कि हम उन २ दिशाओं से अग्नि आदि देवताओं के उन २ वा वैसे २ शुद्ध अंशों द्वारा वैसी २ अपनी शुभोन्नति चाहते हैं । वेदोक्त सब देवताओं में अग्नि प्रधान है इस कारण पूर्व दक्षिणादिक्रम से परिक्रमा की जाती है । और दिव् लोक में परमेश्वर ने अग्नि का समवायिकारण वा उपादान कारण नियत वा स्थापित किया है उसी उपादान का नाम अनूक है । इसी अभिप्राय को लेकर व्याकरण महाभाष्यकार ने (स्थानेऽन्तरतमः) सूत्र पर लिखा है कि "द्युलोकस्य ज्योति नाम तेज का विकार पार्थिव अग्नि की ज्वाला है, जहां वायु न चलता हो ऐसे अवकाश में जलते हुए उस अग्नि की ज्वाला तिर्छी वा नीचे को नहीं चलती किन्तु द्युलोकस्य अग्निज्योति का विकार नाम कार्य होने से ऊपर को ही उठती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही अपने उपादान कारण की ओर आकर्षित होता है । उपादान उपादेय का सदा आन्तर्य सम्बन्ध रहता है [हमारे पाठकों को ध्यान होगा कि मांसोपदेशक जीने इसी अनूक शब्द का अर्थ "अंकी वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को " किया है जिस में कोई प्रमाण नहीं] और नीचे पृथिवीरूप अधोदिशा में अग्नि की अन्नोत्पादिका शक्ति नियत की है इसी लिये पृथिवी में सब मनुष्य पश्वादि प्राणियों का भक्ष्य उत्पन्न होता है । इसी अन्नोत्पादक अग्नि के सामर्थ्य का नाम मन्त्र में पाकस्थ

है। तथा ब्रह्माण्ड के मध्यस्थ अन्तरिक्ष में अग्नि का मध्यस्थ सामर्थ्य रक्खा है चाहे यों कहो वा मानो कि ब्रह्माण्ड के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की समता है वही मध्य अन्तरिक्ष है। और इसी प्रकार पृथिवी के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की अधिक समता हो वह पृथिवी का भी प्रदेश अग्नि का मध्यस्थान माना जायगा इस लिये वहीं से पूर्वादि दिशाओं की कल्पना का आरम्भ किया जायगा वैसे तो सापेक्ष होने से सर्वत्र ही सब पूर्वादि दिशा हो सकती हैं। और भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त्त नामक प्रदेश में शीतोष्ण की अधिकांश समता दीखती है क्योंकि यहां की अपेक्षा पृथिवी के अन्य सब प्रान्तों में कहीं शीत कहीं उष्णता अधिक है इसी से ब्रह्मावर्त्त के निवासी मनुष्यादि प्रायः मध्यम वर्ण वाले होते हैं इस लिये पृथिवी पर पूर्वादि दिशाओं की कल्पना सदा ब्रह्मावर्त्त से करनी चाहिये यह अभिप्राय (अन्तरिक्षे मध्यतो०) इत्यादि कथन से जताया गया है। सृष्टि के आरम्भ से ही स्वभाव के साथ जगत् में जिस प्रकार अग्नि व्याप्त हुआ है वैसी ही यहां अवयवकल्पना के साथ स्वाभाविक अग्नि की व्याप्ति दो मन्त्रों से सब दिशाओं में दिखायी है॥

और इन मन्त्रों में किये गये व्याख्यान से यह भी आशय निकालना मानना और स्वीकार करना अवश्य ही चाहिये कि जैसे पञ्चतत्त्वात्मक सब वस्तु परमेश्वर ने परस्पर मिला हुआ तथा भिन्न २ बनाया है उस सब में एक अग्नि सर्वत्र भक्षक किया है। उस अग्नि में स्वभाव से ही सब कुछ भस्म होता है। सर्वत्र व्याप्त अग्नि से ही सब पदार्थों का रूपान्तर होता दीखता है। जैसे ओषधियों का दाना रूप अन्न सूर्य वा पार्थिव अग्नि से ही पकता, पश्चात् दाल भात शाक आटादि को भी प्रत्यक्ष अग्नि से ही मनुष्य पकाते नाना प्रकारान्तर का बनाते और पकाया अन्न खाने पर भी फिर पेट के जाठराग्नि से ही पकता है पृथिवी में गिरे मनुष्यादि के शरीरादि वा घास तृणादि सब पार्थिव अग्नि से ही रूपान्तर को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि रूपान्तर बनना ही खाना है होम यज्ञ द्वारा भी अग्नि ही सब घृतादि पदार्थों का रूपान्तर शीघ्र कर देता वा खाजाता है इस प्रकार सब पञ्च तत्त्व से बने संसार में एक अग्नि ही सर्वत्र भक्षक और अन्य सब भक्ष्य है। क्योंकि खाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि उसका रूपान्तर बना हुआ रुधिरादि हमारी शरीरयात्रा का हेतु हो और रूपान्तर हुआ मल निकल जाया करे। तथा स्वभाव से अग्नि ही भोक्ता और अन्य सब वस्तु भोग्य बनाया गया है। क्योंकि

शरीर में पित्त के प्रबल होने पर ही भोजन और कामासक्तिरूप भोगने की शक्तियां प्रकट होतीं दीखती हैं इसी लिये शरीरस्थ पित्ताग्नि के मन्द होने पर कुछ भी भोग नहीं कर सकता इस से अग्नि ही सर्वत्र भोक्ता है । सूर्याग्नि अपने किरणरूप हाथों से पृथिवीस्थ जलादि वस्तुओं को प्रतिदिन खाता वा भोगता है इसी से सब वस्तु शुष्क होते रहते हैं । इस कारण अग्नि के सर्वत्र भोक्ता होने से ही घी, मीठा, पुष्टिकारक तिलादि सुगन्धि प्रधान लवङ्गादि और रोगनाशक सोम ओषध्यादि इन पांच प्रकार के पाञ्चभौतिक होमने योग्य वस्तुओं को पञ्चीकरण को प्राप्त सूर्य की किरणों के समान एक दूसरी से मिली हुई अपने हाथ की पांचों अङ्गुलियों से कर्छी लेकर बटलोई में पकाना वा इकट्ठे कर कूट कतर छील बनाकर थाली में पांच अंगुलियों सहित हाथ से मिलाकर अग्नि में आहुति करनी चाहिये । इस दशा में पञ्चौदनादि का अर्थ यह होगा कि पांच प्रकार का पाञ्चभौतिक ओदन नाम अग्नि का भक्ष्य पदार्थ पांचों अङ्गुलियों को मिलाकर पकाना बटलोई से निकालना और पांचों ही अङ्गुलियों को एकत्र मिलाकर आहुति करनी चाहिये । और होम करते समय वेद के गूढाशय को सोचते ध्यान रखते हुए परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि परमेश्वर ने पूर्वादि दिशाओं में अग्न्यादि देवताओं की जिस २ प्रकार जैसी २ स्थिति नियत की है वैसे ही मेरा भी हविष्य पदार्थ उस २ दिशा के उस २ देवता को न्यूनाधिक भाव से यथायोग्य अपना २ भाग प्राप्त हो और उस होम द्वारा पूर्वादि दिशास्थ अग्नि आदि देवता से वैसी ही मेरे लिये सुख की वृद्धि हो इस अभिप्राय को लेकर स्वभाव सिद्ध यज्ञ अवश्य करना चाहिये [यहां पञ्चाङ्गुलि शब्द का यह प्रयोजन रहेगा कि पांचो अङ्गुलियों को मिलाकर पकाना बनाना वा आहुति करना आदि जैसा ठीक अच्छा हो सकता है वैसा थोड़ी अङ्गुलियों से पकड़ना आदि अच्छा नहीं हो सकता इस लिये पांचों अङ्गुलियां मिलाकर काम करना चाहिये] जो लोग स्वाभाविक भोक्ता भोग्यादि के विचारयुक्त वेद के सिद्धान्त का अनादर कर के अपने पेट के जाठराग्नि को ही भोक्ता मान कर भोजन करते और यज्ञ कर्म का त्याग करते हैं उन के प्राणों को ही कुपित हुए अग्नि खाना चाहते हैं । जैसे दुर्गन्धादि के अधिक फैलने से कुपित हुआ वायु प्रबल रोगादि रूप शस्त्रों से मनुष्यों का नाश करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है वैसे दुर्गन्धादि के बढ़ने से अग्नि का भी कोप होता है चाहे इसी

को वातपित्त कफ का कोप कहो तो भी ठीक है । जो अग्नि वायु आदि का कुपित होना प्राणियों के लिये बड़ा अनिष्ट है इस से अनिष्ट को छोड़ने और इष्ट को प्राप्त होने की इच्छा वाले मनुष्यों को वेदोक्त यज्ञ उक्त अभिप्राय से अवश्य करना चाहिये यह दो मन्त्रों का संक्षेप से आशय लिखा गया है ॥

इस से आगे मांसभोजन भा० ३ के पृ० १०० में (शृतमजं०) इत्यादि एक मन्त्र लिखा है जिस का अर्थ मांसोपदेशक ने यह किया है कि—

"उतारे, वा उत्पाटन किये, खाल से, सब अवयवों से, भली भांति धारण किये हुए, विचित्र रूप वाले पकाये हुए, बकरा को खिलावो वा खावो, वह तू कल्याण युक्त सर्वोत्कृष्ट सुख के और ऊठ, चार ज्ञान साधनों से सब दिशाओं में विराजमान हो" यह ज्यों का त्यों अक्षरार्थ पाठकों के अवलोकनार्थ हमने लिख दिया है । संस्कृत पढ़े हुए सब जानते हैं कि श्रा पके, धातु से शृत शब्द बनता है जिस का अर्थ पकाया हुआ होना चाहिये । इसी शृतशब्द का अर्थ मांसोपदेशक जीने" उतारे वा उत्पाटन किये" किया है । तथा खाल से और सब अवयवों से कौन किस को भली भांति धारण करे ? । क्या यह अभिप्राय तो नहीं है कि मारे हुए बकरा की खाल उतार कर मारने वाला वा मांसाहारी ओढ़ लेवे और उस के गोड़े आदि सब उठाकर शिर पर धर लेवे ? । खिलाओ वा खावो यह किस का अर्थ है ? क्या "प्रोर्णुहि" क्रिया का खाना अर्थ कहीं होता है ? तथा मांसोपदेशक जी उठाते किस को हैं क्या मरे बकरे को वा मारने वाले को ? क्या मरा बकरा फिर से उठ सकता है ? यदि मारने वाले को उठाते हो तो क्या विना उठाये वह न उठेगा वहीं बैठा रहेगा ? और किस प्रयोजन से उठाते हो ? इत्यादि अनेक सन्देहों से इन का अर्थ पूरित हो रहा है और ध्यान देने से ठीक २ ऊटपटांग असंबद्ध प्रतीत हो जायगा । और मन्त्रस्थ पदों से कुछ भी संघटित नहीं होता ऐसे ही लोगों ने वेद को तुच्छ ठहरवा दिया पर ध्यान रहे कि यह वेद का दोष नहीं है किन्तु इन्हीं क्षुद्राशय लोगों का दोष है । अब हम उस मन्त्र का अर्थ पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं—

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम् । स उत्तिष्ठेतोऽभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु ॥ १ ॥ अथर्ववेदे ४ । १४ । ९ ॥

अ० -हे मनुष्य ! त्वं शृतया पक्वया त्वचा संवरणेन शृतं पक्वमजं तमसः क्षेप्तारमग्निं प्रोर्णुह्याच्छादय किं भूतमजं सर्वैरङ्गैर्होमसाधनैः संभृतं विश्वरूपं सर्ववस्तुषु तत्तद्रूपेण व्याप्तम् । सोऽग्निरुत्तमं नाकं द्युलोकमभिलक्ष्येत उत्तिष्ठोत्तिष्ठेत्, चतुर्भिः पद्भिर्भागैश्च चतसृषु पूर्वादिदिक्षु यथाभागं प्रधानाप्रधानावयवैः प्रतितिष्ठ प्रतिष्ठितो भवतु ॥

भा०मनुष्येण पक्वः शुद्धो दीप्तोऽग्निर्होमाय कुण्डे वेद्यां वाऽऽधातव्यो न तु धूमभस्मादियुतः स शुद्धैः पक्वैरेव काष्ठैः स्वयं शुष्कैराच्छाद्यो नत्वार्द्रैश्छिन्नैरिति । काष्ठान्यपि स्वयं शुष्काणि वृक्षेभ्यो यज्ञायाहर्त्तव्यानि नत्वार्द्राणि तान्येव सर्वतो धृत्वाऽग्निराच्छाद्यस्तानि चाग्नेरावरणार्थात्त्वक्पदवाच्यानि भवन्ति । सम्यक् परिणतं सर्वं वस्तु पक्वमुच्यते । पक्वदशैव सर्वस्योत्तमा परिगण्यतएवमग्नेः काष्ठानामप्युत्तमा दशाऽत्र शृतपदवाच्या प्रेत्येतव्या । त्वक्पदस्य च सामान्यो यौगिकार्थः संवरणमेवास्ति शृतं शृतया प्रोर्णुहीति पठता यादृशेन तादृशस्यसर्वत्रैव सम्बन्धः साधुरिति सूचितम् । सर्वैरेव चाङ्गैर्यज्ञसाधनैः कृतेन सर्वव्याप्तस्य तत्तद्वस्तुनि तत्तद्रूपेणावस्थितस्याग्नेर्यज्ञेन संभरणं सम्यक्त्वेन सुखहेतुत्वसम्पादनं कार्यम् । देहादिस्थोऽग्निर्यज्ञेनैव सुखहेतुः सम्पद्यतइति यावत् । तथा च सति प्रधानजीवनहेतुनोत्तमकक्षास्थेन प्राणाद्यग्निना यजमानोऽपि सुखं जीवति ॥

भाषार्थः—हे मनुष्य ! तू (शृतया त्वचा शृतमजं प्रोर्णुहि) पकेशुद्ध अग्नि का आच्छादन करने वाली समिधाओं से शुद्ध धूम रहित अन्धकार के नाशक अग्नि को आच्छादित कर । वह अग्नि कैसा हो कि (सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्)

यज्ञ के सब ठीक २ साधनों से सम्यक् धारण वा ठीक किया गया हो [वास्तव में सब अङ्गों के ठीक होने पर ही प्रत्येक वस्तु वा कार्य अपनी ठीक उत्तम दशा में पुष्ट कहाता है अर्थात् संभरण नाम पोषण का यही अर्थ है कि वह साङ्गोपाङ्ग हो] और वह अग्नि प्रत्येक पदार्थ में उसी २ के रूप से व्याप्त है (स उत्तमं नाकमभ्युत्तिष्ठ) वह ऐसा अग्नि अन्धकार वा अज्ञान दुःख रहित उत्तम द्युलोक की ओर को उठे वा उठता है अर्थात् उस की ज्वाला ऊपर द्युलोक की ओर को सीधी उठती है और (चतुर्भिः पङ्क्तिर्दिक्षु प्रतितिष्ठ) चार भागों में भिन्न२ प्रकार से विभक्त हुआ वह अग्नि पूर्वादि चार दिशाओं में [प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि] इत्यादि पूर्व कथनानुसार स्थित होता वा रहता है। अर्थात् यज्ञ द्वारा प्रबलता को प्राप्त हुआ साक्षात् अग्नि अपने संबन्धी सर्वदिग्व्याप्त अग्नि को ठीक मनुष्यादि के अनुकूल बनाता है ॥

भा०—मनुष्य को चाहिये कि कुण्ड वा वेदि में होम के लिये शुद्ध प्रदीप्त अग्नि का स्थापन करे किन्तु राख वा धूमादि से युक्त अग्नि का आधान न करे। और उस अग्नि के ऊपर नीचे इधर उधर पके शुद्ध स्वयं सूखे वृक्षों से तोड़े हुए काष्ठ लगाकर अग्नि का आच्छादन करे किन्तु गीली काटी हुई लकड़ियों से नहीं। स्वयं सूखी ही समिधा ठीक पकी होती हैं। इस लिये समिधा भी वृक्षों से स्वयं सूखी ही तोड़ तुड़ाके लानी चाहिये किन्तु गीली तोड़कर सुखाई न होवें समिधा अग्नि को ढांपने आच्छादित करने वाली होने से अग्नि की त्वच् कहाती क्योंकि आच्छादन करने वाले सामान्य वस्तु का वेद में त्वच् नाम है। और ठीक अच्छी दशा में आजाना ही उस २ वस्तु का सम्यक् हो जाना माना जाता है इस से सब की परिपक्व दशा ही उत्तम गिनी जाती है वैसे अग्नि और समिधाओं की उत्तम दशा ही यहां शृत पद का अर्थ लेना जानो। "पके को पकी से आच्छादित करो" इस कहने से ईश्वर ने जैसे के साथ तैसे का ही सम्बन्ध करना उत्तम है यह सूचित किया है। उस २ वस्तु में उसी २ के रूप से व्याप्त अग्नि को यज्ञ के सब अच्छे साधनाङ्गों से किये यज्ञ से अच्छे प्रकार सुख का हेतु बनाना चाहिये अर्थात् शरीर घर आदि में रहने वाला अग्नि यज्ञ द्वारा ही मनुष्य के सुख का हेतु होता है ऐसा होने पर मुख्य जीवन के हेतु उत्तम कक्षास्थ प्राणनामक अग्नि को धारण करता हुआ यजमान भी सुखपूर्वक जीवन विताता है ॥

• इस से आगे मांसभो० पृ० ११३–११८ तक में (अनुछ्य०) इत्यादि एक मन्त्र लिख कर अक्षरार्थ किया है कि "हे मार कर टुकड़े २ करने वाले तीक्ष्णशस्त्र से इस खाल को अङ्ग २ से मारने के पीछे काट कर उतार और मांस को अपरिमित अन्न अर्थात् खाना मानो, मत किसी से द्रोह करो कि औरों को न दूं आप ही खाऊं इस प्रकार द्रोह न करो, इस बकरा का अङ्ग २ पाक क्रिया से सिद्ध करो, इस यजमान को सर्वोत्तम सुख के ऊपर विशेष करके आश्रित कर" । मुझे अनुमान है कि मांसोपदेशक जी पुरोहित को यह सब आज्ञा देते हैं हम इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप से लिखते हैं–

अनुछ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व? सिना माभिमंस्थाः । माभिद्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधिविश्रयैनम् ॥ अथर्व ९ । ५ । ४ ॥

अ०–हे अजाग्ने ! तमोविशस्तस्त्वमेतां त्वचमन्धकारावरणं श्यामेन प्राप्तेनासिनान्धकारक्षेपकेण प्रकाशेन यथापरु सर्वं प्रियं तमोऽनुछ्य माऽभिमंस्था माचाभिद्रुहः । एनमजप्रकाशंपरुशः कल्पय स्वप्रियंप्रियमेव कुरु । यज्ञैश्चैनमजमग्निं तृतीये नाकेऽधिविश्रय स्थापय प्रापय वा ॥

भा०–अग्नितत्त्वप्रधानः सात्त्विको ज्ञान्यपि हार्दतमोनिवारकत्वादजपदवाच्यः । तेनापि हार्दतमस आवरणं छेत्तव्यमभिमानद्रोहौ च त्याज्यौ सत्त्वप्रकाशेन ज्ञानेनैव प्रेम कार्यं यज्ञानुष्ठानेन चाग्नितेजः सूर्यलोकं नेयमिति । भौतिकाग्निपक्षे च पुरुषव्यत्ययः । सोपि मनुष्यादीनां प्रियमपि सर्वमावरकं निद्रादि तमो दूरं गामिना प्रातःप्रकाशेन छिनत्त्येव । जडत्वाच्चाभिमानद्रोहौ तमसा न करोति स्वसमवेतं प्रियं प्रकाशं च कल्पयति

समर्थयति। यज्ञादिषु प्राबल्येन प्रज्वलितश्चाग्निः स्वः सूर्यं स्वतेजो· गमयत्येव। छोछेदनइत्यस्य छ्यइति क्रियापदम्। असुक्षेपणे-ऽस्मादेवासिपदं व्युत्पद्यते। पृप्रीतावित्यस्माच्च परुपदं सिध्यति। यौगिकश्च सामान्यो वेदस्यार्थः कार्यइति सर्वमीमांसकादिविपश्चिदभिमतमेव ॥

भाषार्थः–हे (अजाग्ने!) अपने वा अन्यों के हृदयान्धकार के (विशस्तः) नाशक तुम (एतां त्वचम्) इस अज्ञानान्धकार रूप आवरण का (श्यामेनासिना) प्राप्त हुए अन्धकारनाशक प्रकाश वा ज्ञान से (यथापर्वनुछ्य) सुख को प्रतीत कराने वाले भी निद्रालस्यादि तमोगुण रूप सब अन्धकार को ज्ञानोदय होने पर छेदन कर (माभिमंस्था माभिद्रुहः) किसी से अभिमान और ईर्ष्या द्वेषादि मत कर (एनं परुशः कल्पय) और इस अजसम्बन्धी सात्विक प्रकाश को सर्वथा अपना प्रिय कर अर्थात् उस की ओर तत्पर रह और यज्ञों के द्वारा (एनं तृतीये नाकेऽधिविश्रय) इस तैजस प्रकाश को दुःख रहित उत्तम स्वर्गलोक में स्थापित वा प्राप्त कर ॥

भा०–अग्नि तत्वप्रधान सत्वगुणी ज्ञानी पुरुष भी हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला होने से अज कहाता है उस को भी अन्तःकरण के आच्छादक तमोगुण का छेदन करना ही चाहिये आवरण करने वाला होने से अन्धकार वा तमोगुण ही त्वच् पद का वाच्य है तथा ज्ञानी को अभिमान और द्रोह भी त्याज्य हैं और उस को सात्विक ज्ञान प्रकाश से ही प्रीति भी करनी तथा यज्ञ का अनुष्ठान कर के अग्नि का तेज सूर्य लोक को पहुंचाना चाहिये। और इस मन्त्र का भौतिकाग्नि पक्ष में पुरुष व्यत्यय मान कर यह अर्थ होगा कि वह अग्नि मनुष्यादि के ज्ञान का आवरण करने वाले सब निद्रादि रूप प्रिय अन्धकार को प्रातःकाल होने वाले सूर्य प्रकाश से छेदन करता ही है और आग्नेय प्रकाश जड़ होने से तमोगुण के साथ अभिमान तथा द्रोह नहीं करता और वह अग्नि अपने नित्यसम्बन्धी प्रकाश को प्रिय वस्तु के तुल्य सदा साथ रखता है प्रबल समर्थ करता है तथा यज्ञादि में प्रबलता से प्रज्वलित हुआ अग्नि अपने तेज को सुगन्धित धूम वा भाफ के साथ सूर्य लोक में पहुंचाता है। इस मन्त्र में छोछेदने धातु का छ्य यह क्रियापद असु क्षेपणे धातु से सिद्ध हुआ असि शब्द और पृ

प्रीती धातु से बना परु शब्द है और वेद का सामान्य यौगिकार्थ करना चाहिये यह सब मीमांसाकारादि विद्वानों के अनुकूल ही है ॥

मांसोपदेशक जीने मन्त्र के [यथापर्वसिनामाभिमंस्थाः] इस भाग का पदच्छेद ऐसा किया है कि (यथापर्व । सिना । अमा । अभिमंस्थाः) सो वास्तव में अशुद्ध है । पद पाठ ठीक यह है कि (यथापरु । असिना । मा । अभिमंस्थाः) बुद्धि से देखने वालों को यह ठीक ही ज्ञात हो जायगा । पाठको ! शोचिये तो जिन लोगों को वेद का पदच्छेद तक समझने की योग्यता नहीं वे कैसा अर्थ कर सकते हैं ? वास्तव में ऐसे ही लोगों ने वैदिक धर्म की अधोगति की यह सत्य ही है॥

इस से आगे भाग ३ पृ० १५० में एक मन्त्र (अजोह्यग्नेरजनिष्टशोकात्०) इत्यादि लिखा है इस में यह सन्देह हो सकता है कि जब वेद के सिद्धान्तानुसार अज नाम अग्नि का है तो अग्नि के शोक से कौन अज उत्पन्न हुआ ? । इस का उत्तर यह है कि यहां कार्याग्नि का नाम अज और कारण का नाम अग्नि माना है । इस बात की सिद्धि वेद के प्रमाण से ही हो सकती है कि अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ अर्थात् कारणरूप से कार्यरूप अग्नि की उत्पत्ति वेद में स्पष्ट मिल सकती है यथा (ऋ० १ । १२ । ६ अग्निनाग्निः समिध्यते०) यहां कारण रूप अग्नि से प्रत्यक्ष कार्याग्नि का प्रज्वलित होना स्पष्ट दिखाया है । अरणि वांस दियासलाई पत्थर आदि में कारण रूप अग्नि है तभी तो संघर्ष होने से प्रकट हो जाता है । अब इस के आगे मांसभोजनवि० भा० ३ के पृ० १७८ में यह मन्त्र लिखा है कि (नास्यास्थीनि०) इत्यादि इस मन्त्र का अर्थ हम और संक्षेप से लिख देते हैं ॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ अथर्व० ९ । ५ । २३ ॥

अ०—अस्याजस्याग्नेरस्थीनि तमःक्षेपकाण्यङ्गान्यग्न्याधानकाले न भिन्द्यादङ्गारं न त्रोटयेन्न चास्य मज्ज्ञः शुद्धानि दाहकशक्तिरूपाणि शीतातुरो निर्धयेन्मुखेन न पिबेन्नापि मुखेन

धमेदपि तु सर्वमेनमङ्गारादिरूपं समादायेदमिदमग्निस्वरूपं प्रवेशयामीति तन्मना भूत्वा कुण्डवेद्यादौ प्रवेशयेत् ॥

भा०—मानसोऽग्निः शरीरेषुजीव इत्यभिधीयत इतिमहाभारते कथयता दर्शितमाग्नेय एव प्राकृतोंशः शरीरे जीवनरूपोऽस्ति। तस्य च बाह्योऽग्निः सहायोऽतएव च शीताधिक्ये मरणं सन्निहितं दृश्यते तस्माद् बाह्याग्निं तुदता भिदता नाशयता जनेन प्राणाग्निरपि तोद्यते भेद्यत इति मत्वैव "नाग्निं मुखेनोपधमेत्०-न प्राणाबाधमाचरेत्,, इत्यादिचतुर्थेऽध्याये मनुनोक्तं संगच्छते। इदमिदमिति कथयता तत्परता प्रदर्शिता तस्माद्बाह्यमप्यग्निं स्वस्य जीवनोपकरणं मत्वा सम्यगुपचरेदित्याशयः ॥

भाषार्थः—(अस्यास्थीनि न भिन्द्यात्) इस अज नामक अग्नि के अस्थिनाम अन्धकार को दूर करने वाले चिनगारे भिन्न २ न करे क्योंकि भिन्न २ होने से शीघ्र बुत जाना सम्भव है अर्थात् अग्न्याधान करते समय अङ्गार रूप अग्नि को न तोड़डाले और (न मज्ज्ञो निर्धयेत्) न शीत लगने से घबराया पुरुष दाहकशक्तिरूप अग्नि में से उठती हुई शुद्ध उष्णताओं को मुख से न पीवे तथा न मुख से बुते हुए अग्नि को फूंके क्योंकि बलवान् सजातीय अपने निर्बल सजातीय को सदा ही दबाता वा नष्ट करता है इसी कारण सूर्य के प्रबल प्रताप से दिन में उल्कापात वा नक्षत्रादि दब जाने से नहीं दीख पड़ते तद्वत् बाह्याग्नि की उष्णता साक्षात् पीहुई प्राणाग्नि को धक्का देकर निकाल दे तो असम्भव नहीं है। इस लिये (सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत्) सब अङ्गार रूप अग्नि को ग्रहण कर इसे ऐसे अग्नि को कुण्ड वा वेदि में प्रविष्ट करे अर्थात् मैं यह काम करता हूं इस प्रकार उसी में मन लगा कर काम करे ॥

भा०—महाभारत में लिखा है कि शरीरों में मन सम्बन्धी अग्नि तत्त्व ही मनुष्यादि के जीवन का मूल है इस कथन से यह स्पष्ट दिखाया है कि प्रकृति का आग्नेयांश ही प्राणियों में जीवन है। आग्नेयांश शरीर से निकलते ही ठंढा पड़ जाता है। इस भीतरी जीवन हेतु अग्नितत्त्व का बाह्य अग्नि स-

हायक है । इसी कारण बाह्य अग्नि की उचित सहायता न मिलने पर शरदी के अधिक बढ़ते ही मरने का समय समीप आगया दीखता है । इस से बाहरी अग्नि का छेदन भेदन नाश वा अनादर करते हुए मनुष्य के प्राणाग्नि को भी वही वैसा ही कुछ न कुछ धक्का लगता है । ऐसा मान कर ही (नाग्निं मुखेनोप०) इत्यादि चतुर्थाध्याय में कहा मनु जी का आशय ठीक संगत होजाता है (इदमिदम्) कहने से उसी काम में मनुष्य की तत्परता दिखाती है । इसलिये बाह्य अग्नि को अपने जीवन का उपकारी मानकर यथोचित उपकार लेता रहे। हमें आशा है कि हमारे पाठक लोग हमारे इस सब लेख से वेद के गौरव को अवश्य समझ जायंगे । और उपसंहार में सारांश यह है कि-१ अजो अग्निरजमुज्योतिराहुः । वेद के इस साक्षात् निर्भ्रान्त प्रमाण, २ अजस्तनांस्यपहन्ति दूरं०-इस में क्षेपणार्थ अज धातु का ठीक अर्थ घटा हुआ दीखने, ३-अग्निः पशुरासीत्-इत्यादि यजुर्वेद के स्पष्ट प्रमाण से, ४-"अजाः पूषवाहाः" इस निघण्टु की साक्षिता में सूर्य के किरणों का अज नाम होने, ५-निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा का यही परामर्श मिलने, ६-तस्यौर इयमभवत० इत्यादि मन्त्रों में ब्रह्माण्डभर को अज का अवयव कहने, ७-अथर्व० ९ । ५ । २१ में अज पञ्चौदन को व्याप्त विभु अपरिमित स्पष्ट कहने, और ८ पूर्वमीमांसा के (परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्) इस कथन के अनुसार अज आदि वेद के शब्दों का ठीक सामान्यार्थ घट जाने से अर्थात् इन अत्यन्त पुष्ट आठ प्रमाणों से अज शब्द का अग्नि अर्थ निश्चित हो जाने पर वेद के मन्त्रों का ठीक अर्थ हमारे पाठकों के मन में अवश्य बैठ जायगा । ऐसी हम को पूर्ण आशा है । अज, त्वच्, छेदन, असि, अस्थि मज्जा आदि शब्दों को देख कर बकरा मारने चढ़ाने काटने का विकल्प जो प्रत्येक मनुष्य के मन में सन्देह डालता है उस का कारण यह है कि लौकिकरीत्यनुसार समझे शब्दार्थों से हम वेदार्थ को लगाना चाहते हैं उस में शोचना यह है कि जब वेद सर्गारम्भ से है तो वेद से लौकिक विचार निकले हम को मानने चाहिये । जब लौकिक विचार से वेद बना ही नहीं तो हमारा लोक में समझे विचारानुसार वेदार्थ समझने का उद्योग करना क्या सर्वथा उलटा नहीं है ? क्या पिता के जन्म समय का समाचार साक्षात् देखे हुए के समान पुत्र कभी जान सकता और कह सकता है ? कदापि नहीं तो लौकिक बुद्धि से वेदार्थ समझने का उद्योग सर्वथा व्यर्थ है यह ध्यान देकर शोचने वालों को अवश्य ही हमारे लेख से भासित हो जायगा ॥

हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि (अथर्व० ९ । ५ । ४) मन्त्र को मांसोपदेशक ने भाग ३ पृ० ११३ में लिख कर स्पष्ट लिखा है कि बकरे को मारो उस की खाल उतारो उस के शरीर के टुकड़े २ करो इत्यादि । फिर पृष्ठ १७९ में लिखे मन्त्र से यह कैसे बनेगा कि बकरे को ज्यों का त्यों उठाकर वेदि में झोंकदो हड्डी मज्जादि कुछ मत निकालो । और इस दशा में मांसाचार्य जी कहां से मांस खावें खिलावेंगे ? यदि टुकड़े २ करना सत्य हो तो बकरे को समूचा डाल देना खण्डित होगा और यह सत्य है तो टुकड़े करना मिथ्या होगा । वास्तव में परस्पर विरुद्ध होने ऊटपटांग असम्बद्ध तथा प्रमाण शून्य होने से इन का किया सभी मन्त्रार्थ जब अज्ञानान्धकार से ठसाठस भरा है तो अब और समालोचना करना व्यर्थ है । हमारे पाठकों को ध्यान रहे कि यद्यपि हम ने मांसभोजन विचार में लिखे सब मन्त्रों का उत्तर वा अर्थ नहीं लिखा तथापि जिन मन्त्रों में कुछ शङ्का जीवहिंसा करने वा खाने कीसी हो सकती है ऐसे प्रायः मन्त्र खोज २ कर हम ने समाधान लिख दिया है । और अज तथा पञ्चौदन सम्बन्धी मन्त्रों का जो अर्थ हम ने लिख दिया है वैसी ही व्यवस्था से अजपञ्चौदन प्रकरण के सब मन्त्रों का अर्थ हो सकेगा । अर्थात् जितनी जैसी व्यवस्था अथर्ववेद के मन्त्रों पर इस विषय में होनी आवश्यक थी वह सब ठीक होगयी । जब तक मांसाशी उपदेशकों में से वा अन्य कोई भी मनुष्य अज आदि शब्दों का हमारे समान वा इस से भी अधिक पुष्ट प्रमाणों से बकराआदि अर्थ लेना सिद्ध न करे तब तक हम को इस विषय पर और कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं होगी । इसलिये सब विचारशील गुणग्राहियों से प्रार्थना है कि गुणग्रहण करें दोषों को त्यागें भूलचूक क्षमा करें ॥ इति ॥

धन्यवाद

॥) मुं० रामस्वरूप जी इटावा ॥) बा० नन्दकिशोर जी इटावा १) डा० प्रभुलाल जी इटावा १) ला० छेदीलाल जी इटावा २) पं० दंगीलाल जी इटावा २) ला० गणेशीलाल जी इटावा २) बा० सुखीलाल जी वकील इटावा १) बा० शिवचरणलाल जी वकील इटावा ॥) ला० गुन्दीलाल जी इटावा =)॥ बा० रामप्रसाद जी इटावा १) बा० मथुराप्रसाद जी वकील इटावा १) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर ५) डा० मक्खनलाल जी अपरब्रह्मा १) चौ० ख्यालीराम जी १॥।-)॥ पं० ख्यालीराम जी नैनीताल ४॥) डिप्टीसम्पतराय जी इटावा ५) बा० रघुनाथ जी मार्फत पं० रमादत्त जी नैनीताल १) पं० जगदम्बाप्रसाद जी मांगीपुर ।) बा० पूर्णसिंह जी ॥) पं० बोधीलाल जी बांदा ६॥।) पं० भीमसेन शर्म्मा इटावा १०॥) पं० दुर्गाप्रसादादि अहार ॥) ला० कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण इटावा १) बा० हीरालाल जी पेचघर इटावा १) पं० बुद्धसेन जी इटावा ॥) ला० कन्हैयालाल जी इटावा ५) ठा० गजाधर सिंह जी रांची २) लल्लूमिस्त्री इटावा १०) बा० बलदेवप्रसाद जी इञ्जिनियर आगरा १) पं० रामजीमल जी इटावा २) उर्वीदत्त ब्रह्मचारी बसई १) पं० मातादीन जी वकील इटावा ॥।) पं० बनवारीलाल जी इटावा २) श्री दुर्गाप्रसाद जी गैंदोली । यह सब ७५॥।) जनवरी और फर्वरी इन दो मासों में मासिक चन्दा और बाहर की धर्मार्थ सहायता से प्राप्त हुआ परमेश्वर दाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे उक्त दो मासों में ७६॥=)॥ इस प्रकार से व्यय हुआ ४०) श्यामलाल शर्म्मा अध्यापक का २ मास का वेतन। २) सुन्दरलाल द्वि० को दो मास का हिसाब पढ़ाई मध्ये । ४) कहार को दो मास का वेतन २) चन्दा उघाने के बाबत और २) चौका वर्त्तन कराई मध्ये १॥-)॥। पत्र पत्रोत्तर तैल रसीद आदि फुटकर में । ४॥) पाठशाला के मकान का किराया तीनमास का । शेष २४॥-)॥। छात्रों के भोजन में व्यय हुआ इन उक्त दो मासों में तीन विद्यार्थी पाठशाला से भोजन पाते रहे । अब का शेष १२॥-)। रहे और १५०) रुपये ॥) महिने सूद पर पहिले से जमा हैं ॥

ह० श्यामलालशर्म्मा कोषाध्यक्ष पाठशाला प्रबन्धकर्तृसभा

इटावा

सूचना

१—ग्राहक महाशयों को विदित हो कि हम आर्यसिद्धान्त को कुछ समय से दो २ अङ्क निकालने लगे थे सो अब यह विचार स्थिर हुआ है कि फिर भी एक २ अङ्क प्रतिमास किसी नियत तिथि को निकाला करें। यदि हो सका तो अगले महिने से आ०सि० प्रतिमास निकलने लगेगा। हम को निश्चय है कि ग्राहक महाशय इस विचार को सुन कर प्रसन्न होंगे॥

समालोचना॥

"वेदान्तार्यभाष्य" द्वैतार्थपरक जिस को पं० आर्यमुनि जी संस्कृत और नागरी में सम्पादित करते और बाबू बालकृष्णसहाय जी वकील रांची (बंगाल) छपाकर निज अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित करते हैं उस को हम वर्त्तमान दशा में अच्छा अवश्य कह सकते हैं। इससे और अच्छा हो सकता है यह तो अन्यबात है तथापि आर्यसिद्धान्तानुकूल इस से अच्छी व्यवस्था वेदान्त पर अन्य किसी ने अब तक नहीं लिखी है। दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार होने से साधारण मनुष्यों के समक्ष में कम आना इस के अच्छेपन का बाधक नहीं। मगाने वाले बाबू बालकृष्णसहाय जी वकील रांची को लिखें॥

नये पुस्तक

"भगवद्गीता भाष्य" यह पुस्तक छप कर तयार हो गया बहुत दिनों से अनेक ग्राहक महाशय इस की चाहना कर रहे थे वेद विरुद्ध श्लोक छोड़ कर इस का भाष्य संस्कृत और नागरी भाषा में अच्छा किया गया है जिस की उत्तमता ग्राहकों को देखने पर ही ज्ञात होगी मूल्य भी थोड़ा अर्थात् २।) पूरे का तथा जो लोग पहिले छपे ३ अध्याय ले चुके हैं उन को अ० ४ से १।) में मिलेगा। इस में ५ अध्याय बीच २ के छूट जाने से अब केवल १३ अध्याय का भाष्य हुआ है॥

मांसभोजन विचार तीनों भाग का खण्डन अच्छे पुष्ट युक्ति प्रमाणों के साथ भिन्न २ पुस्तकाकार छप गया। प्रथम -)॥ द्वितीय =)॥ तृतीय ≡) इन में भाग ३ का अथर्ववेद सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ विशेष कर देखने योग्य है॥

"वैराग्यशतक" भर्त्तृहरिकृत मूल पर श्लोकार्थ और मनुष्यों को सचेत करने वाला भावार्थ भाषा में छपा है मू० ।) "पुत्रकामेष्टि" पद्धति यह पुस्तक बड़े परिश्रम से संग्रह कर के छपाया है जो उत्तम श्रेष्ठ पुत्र चाहते हों वा जिन के यहां केवल कन्या होती हैं। उन के पुत्र होने के लिये उपयोगी होगा पुस्तक दर्शनीय है मूल्य =)

सब महाशयों को यह भी विदित रहे कि मानवधर्ममीमांसाभाष्य अब शीघ्र पूरा किया जायगा इसी मार्च महिने की समाप्ति में तीन अध्याय की एक जिल्द पूरी कर देने का संकल्प है आशा है कि ग्राहक महाशय सहायता देते जावेंगे। आगे भी तीन २ अध्याय की एक २ जिल्द बनाने का संकल्प है चार भागों में सब पुस्तक पूरा होगा। सब पुस्तक का मूल्य १२) रु० होगा। यदि कोई नये ग्राहक पर्व (पेशगी) १०) जमा करेंगे तो उन को पूरा पुस्तक १०) में ही दिया जायगा॥

भवन्मित्रो—भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ७

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा-द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में बा० पूर्णसिंह वर्म्मा के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आषाढ कृष्ण १ जुलाई सन् १८९७ ई०

पृ० १२१ त्रयीविद्या (ओम्)

१२९ आर्यतत्त्वप्रकाश भा० ४ का उत्तर—

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(१ फर्वरी से ६ मई तक सन् ९७ ई०)

१२१२ देवी प्रसाद जी बदायूं १)
३४४ देवी प्रसाद जी शहदादपुर १॥)
२८३ अम्बिका प्रसाद जी पुखरायां १॥-)
३१२ मोतीराम सांवलराम जी हर्दा १)
५८५ राम दासाचार्य जी कामठी २॥)
६१५ पं० जंगबहादुर जी मुजफ्फरपुर २॥)
७०१ गोकुल चन्द्र जी करनाल १)
७०२ कृष्णसिंह जी भोगपुर २॥)
१२०७ टोडरमल जी गुंगेरा १)
८१९ महादेव प्रसाद जी भिंगा २।)
१२१४ राम लाल जी रांची १)
८१४ जानकी शरणजी राय बरेली २)
७७१ गंगाधर मुकर्जी बांदा ।॥=)
७७३ दत्तशर्मा लालणी १)
१२०५ बा० रामसहाय जी तारावड़ी १)
८११ पं० भागवत रामानुज जी पुरी १)
७०३ राम बाबा साधु रामनगर २॥)
११०० बा० दुर्गा प्रसाद जी आगरा १)
१२१५ मु० रामलाल जी सिवास १)
३४५ मगन बिहारीलाल जी फिरोजाबाद १)
१२१८ म० आ० स० देहरादून १)
२६६ बाबा गोपालपुरी जी कानपुर १)
१०८५ भैरव प्रसाद जी नीमच १)
१२१७ गजराजप्रसाद जी भीखर १)
७९३ विश्वेश्वरदयाल जी बैहर २॥)
१२१६ लक्ष्मी नारायण जी रायबरेली १)
६७८ अम्बा लाल जी सागवाड़ा १)
१२१३ राम कुमार जी ब्रह्मा १)
१२१९ खजूराम जी कलकत्ता १)
६९२ शङ्करराव देवराव जी डूंगरा ३॥)
१२२० बिशाखी राम जी बैरोवाल १)
८०२ देवीसिंह जी धर्मशाला २॥)
७८८ हनुमान प्रसाद जी बिजयराघवगढ़ १)
७८० राम स्वरूपसिंह जी रकसहा १)
३९९ केवलप्रसाद जी सिवनी छपारा १)
१२२१ भीम जी गदाधर सूरत १)
३२४ शिव रतनसिंह जी पातूर २॥)
१०५३ रामप्रकाशलालजी मुजफ्फरपुर १)
३९६ रत्नचन्द्र जी गुरुमाणी २॥)
७१७ गंगाचरण शर्मा जी कानपुर २॥≡)
४६० गुरुदयालु जी तिवारी चंदिया १)
३६७ अनयराजसिंह जी गुसांई गंज १)
३८९ सूर्यप्रसाद जी फर्रुखाबाद ।=)
११५७ सेठ घनश्याम दास जी कलकत्ता १)
१२२४ प्रभुदयाल जी दमोह १)
९५८ मुन्नालाल जी आगरा १॥=)
१४३ रामजी भगवान सोनी मुम्बई १॥)
१२२२ तम्माजी श्रीनिवास बीजापुर १)
१०६० गोपाल दास जी नूरमहल १)
११५ पं० कमल नयन जी अजमेर १)
१३५ महता चिमनसिंह जी ब्यावर १)
५१० लक्ष्याराम जी शाहपुर १)
६८८ अयोध्या प्रसाद जी अम्बाला १)
५११ भगवन्तसिंह जी सिहोर १)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ७

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

त्रयीविद्या (ओम्) पद का व्याख्यान

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥

अ, उ, म्, इन तीन अक्षरों को ऋगादि तीन वेदों से सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने वेदों का सार वा मूल अथवा बीजरूप सिद्धान्त मान कर पृथक् निकाला। और तदनन्तर भूः, भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों को भी यथासंख्य तीनों वेद से निकाला ॥

ब्राह्मणादि स्मार्त्त ग्रन्थों में दोनों प्रकार का लेख मिलता है एक तो अ, उ, म्, इन तीनों वर्णों से ऋग् यजुः साम तीनों वेद यथासंख्य बने-उत्पन्न हुए वा प्रादुर्भूत हुए। और द्वितीय तीनों वेद से ओम् पद के तीन अक्षर बीज रूप वा साररूप निकले वा निकाले गये वा माने गये सो जैसे संसार में बीज से वृक्ष बनता और वृक्ष से वही सारांश रूप बीज फिर २ निकलता है तथा जैसे बीज वृक्ष का अनादि सम्बन्ध प्रवाह से चला आता है और बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज सदा व्याप्त रहता है अर्थात् दोनों भिन्न २ होने पर भी दोनों में दोनों अप्रकटरूप से रहते हैं। जैसे दूध में घी अप्रकटरूप से व्याप्त है तभी तो विलोने

पर निकलता प्रकट हो जाता है। वैसे ही वेदों में ओम्-वा ओंकार में तीनों वेद व्याप्त हैं। दुहने का अभिप्रायार्थ केवल बहुत में से थोड़ा सार निकालना है यही अर्थ गौ आदि के दुहने में भी घट जाता है। और निकालना शब्द का यह भी अर्थ है कि ठीक तत्व बात को जान लेना लोक में जहां कुछ शोच विचार के दृढ़ निश्चय करने के लिये आन्दोलन किया जाता है तब विचारकर्त्ताओं से अन्य लोग पूछते हैं कि "कहो क्या बात निकली" अर्थात् ठीक तत्व वा सार सिद्धान्त क्या ठहरा वा निश्चय हुआ? यहां भी बहुत से विचार में से उस का ठीक तत्व सिद्धान्त का निश्चय होना दुहना ही माना जायगा। इसी प्रकार यहां भी सम्पूर्ण वेद का तत्व सिद्धान्त सार वा बीज ओम् पद है। जो इस मूल को जानता है वह वेद को जान सकता है तथा जो वेद को जानता है वह इस ओम् रूप वेद के तत्व को भी जान लेता है। न्यायालय [कचहरी] आदि में भी वकील बैरिष्टरादि की अधिक बहस होकर जो फैसला होता है वही तत्व वा सारांश होता और वहां भी बहुत में से सारांश दुहा ही जाता है। इस लेख से यह सिद्ध हो गया कि दही में से घी निकाल लेने से मट्ठा असार रह जाने के समान यहां वेद से ओम् के निकाल लेने पर वेद असार नहीं हो जाता क्योंकि शब्द कोई स्थूल वस्तु नहीं है किन्तु बहुत से शब्द समुदाय रूप वेद से थोड़े अक्षरों में सारांश निकालना केवल तत्व सिद्धान्त मान लेना वा कह लेना मात्र है। स्थूल पदार्थों के समान निकालना पैठाना यहां नहीं बन सकता इस कारण उक्त दोष वेद विषय में नहीं आता इस से वेद सर्वथा निर्दोष है॥

जैसे तिलों में से तेल ही निकल सकता है किन्तु घी नहीं क्योंकि जो वस्तु जिस में सार रूप है वही उस में से निकल सकता अन्य नहीं। जल के बिलोने से घी नहीं निकलता वैसे वेद में भी ओ३म् पद ही सिद्धान्त रूप है वही उस में से सार निकल सकता है। और एक संख्या में तीन आदि संख्या तिरोभूत रहती हैं इसी कारण एक से अन्य संख्या बनती जाती हैं यदि एक कुछ न हो तो तीन आदि भी कुछ नहीं हो सकते क्योंकि तीन संख्या में एक २ कर तीन इकाई मिश्रित हैं इस से एक में तीन और तीन में एक दोनों में दोनों सदा रहते हैं इस में एक व्यापक और तीन व्याप्य हैं। सूक्ष्म व्यापक सर्वगत होने

से सदा प्रधान और व्याप्य सदा गौण रहता है । इसी प्रकार ओ३म् पद एक और उस में अ, उ, म्, ये तीन अवयव हैं इन तीनों अवयवों का समुदाय ओम् पद के साथ वा ओम् का अवयवों के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि एक और तीन संख्या का परस्पर सम्बन्ध है चाहे यों कहो कि लोक में जितने पदार्थों का अवयवावयवी वा व्याप्य व्यापक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है उन सब का मूल वेद और वेद का भी मूल ओम् पद है। एक ओम् के तीन ही अवयव मुख्य हो सकते हैं । वेद का तीन होना ओम् के तीन अवयवों से सम्बन्ध रखता है । जो वेद का सार सिद्धान्त है जो परमेश्वर का सर्वोपरि उत्तम नाम है उस ओम् के तीन भाग हो सकने से ही जगत् भर में तीन संख्या की प्रधानता का मूल कारण हुआ है । संख्याओं की वृद्धि होती जाना प्रवृत्तिमार्ग और अधिक २ संख्याओं का छोटी २ संख्याओं में लय होना और करना निवृत्ति मार्ग माना जाता है संख्याओं का वृद्धिह्रास उपाश्रय वस्तुओं की न्यूनाधिकता होने पर होता है । उत्तम पदार्थों की संख्या सदा कम होती और निकृष्ट सदा अधिक होते हैं। एक जिले वा नगर की भूमि में जितनी चींटी होंगी उतने मनुष्य पृथिवी भर में भी होने सम्भव नहीं । अधिक की सीमा असंख्य असीम है और कम की सीमा एक है इस के भीतर अधिक २ संख्या वाले पदार्थ निकृष्ट और उस अधिक २ संख्या की अपेक्षा कम २ संख्या वाले उत्तम निर्दोष ठहरते हैं क्योंकि जो थोड़ा है वही सार और जो सार है वही थोड़ा वा सूक्ष्म होता है यह नियम घी मट्ठा आदि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में दीखता है। परमेश्वर तीनों काल सब देशों और सब वस्तुओं में एक ही रहता है बदलता नहीं इसी कारण उस को दिशा काल और आकाशादि सब से अपरिच्छिन्न कहते और मानते हैं। तो सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक होने से सर्वोपरि अनतिशय असीम अनपेक्ष उत्तम है-वा यों कहो कि जो कुछ वस्तु असीम अनतिशय अनपेक्ष उत्तम है होता वा हो सकता है उसी वस्तु का नाम ओम् है। यद्यपि एक संख्या वाले जगत् में अन्य भी पदार्थ होते वा हो सकते हैं तथापि ओम् पद वाच्य ईश्वर की अपेक्षा अधिक वा उस के तुल्य अखण्ड एकत्व उन किन्हीं में नहीं है किन्तु अन्य प्रकट संख्या वाले घट-पटादि की अपेक्षा से आकाशादि में एकत्व है और ईश्वर की अपेक्षा सब कालाकाशादि का एकत्व सावयव है इस से सिद्ध हुआ कि अनपेक्ष एक एक ही है और वही ओम् पदवाच्य है।

यदि यह सन्देह हो कि जैसे वाचक ओम् पद में तीन अवयव हैं वैसे उस के वाच्यार्थ ईश्वर में भी तीन भाग होने चाहिये तो उत्तर यह है कि ओम् पद में तीन अवयव प्रवृत्ति दशा में तीन संख्या वाले कार्यों की सिद्धि के लिये हैं। उत्पत्ति स्थिति,लय जगत् में तीन काम प्रधान हैं।नैत्यिक उत्पत्ति स्थिति लय मनुष्यादि प्राणियों के आधीन हैं। अनपेक्ष उत्पत्ति आदि कामों को अनपेक्ष शक्ति वाला ही कर सकता है यद्यपि वह इतने बड़े ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि करने में भिन्न२ रूपधारी नहीं होता उस के स्वरूप में कोई भेद खड़ा नहीं होता क्योंकि उस की क्रिया स्वाभाविक है तथापि कर्मभेद वा गुणभेद से उस के नाम भेद माने जाते हैं। जैसे एक ही मनुष्य अवस्था भेद से बाल युवा और वृद्ध कहाता वा सम्बन्ध भेद से एक ही काल में किसी का पुत्र किसी का पिता और किसी का पति कहाता है इसी के अनुसार ओम्पद के वाच्य ईश्वर के ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि नाम कर्म भेद से माने जाते हैं। तथा ब्राह्मणपन के असीम अनपेक्ष ज्ञानादि गुणों से ब्रह्म पद वाच्य ब्राह्मण, क्षत्रियपन के अनपेक्ष सर्वधारकत्व सर्व पालकत्वादि गुणों से इन्द्रादि पदवाच्य क्षत्रिय और वैश्यपन के अनपेक्ष असीम धनादि ऐश्वर्य का स्वामी होने से ईश्वर परमेश्वरादि पदवाच्य वैश्य कहाता है इत्यादि प्रकार एकत्व होने पर भी वाच्य परमात्मा के साथ तीन २ संख्याओं का सम्बन्ध कहा वा माना जाता है इसी त्रित्व की सिद्धि के लिये वाचक ओम् पद के भी तीन अवयव मानना सार्थक हो जाता है। जैसे ओम् पदबुद्धि से वा अक्षरबुद्धि से एक अपरिच्छिन्न भी माना जाता है तथा जब निवृत्ति मार्ग के अनुसार ईश्वर में कोई गुणकर्मों का भेद नहीं कहा जाता तब वाचक ओम्पद का वाच्य भी निरवयव अपरिच्छिन्न अखण्ड माना जायगा॥

यद्यपि एक की अपेक्षा दो और दो की अपेक्षा तीन संख्या निकृष्ट मानी जायगी क्योंकि बहुत में थोड़ा सार ठहरता है [इसी के अनुसार ओम् सब से उत्तम उस से नीचे तीन महाव्याहृति उस से भी नीचे तीसरी कक्षा में (तत्सवितुर्वरेण्यं०) यह सावित्री मन्त्र उत्तम माना जायगा। इसी कारण ओम् के पश्चात महाव्याहृति तदनन्तर सावित्री मन्त्र को जप आदि में बोलने की चाल चली है परन्तु सब पुस्तक वा ग्रन्थ मात्र में वेद सर्वोत्तम स्मृति मध्यम तथा इतिहासादि निकृष्टतीसरी कोटि में हैं इस कारण स्मृत्यादि ग्रन्थों की अपेक्षा

वेद और वेदके अन्यमन्त्रों की अपेक्षा सावित्री मन्त्र अवश्य सर्वोत्तम है] तथापि चार से असंख्य तक संख्याओं की अपेक्षा तीन संख्या की प्रधानता अवश्य मानी जायगी। जैसे सौ संख्या का मध्यस्थान पचास है उस से नीचे २ की सब संख्या यथाक्रम उत्तम २ ठहरती जावेंगी और असीम संख्या की अपेक्षा असंख्य प्रकार की उत्तमता तीन संख्या में न्यायानुकूल अवश्य ही माननी चाहिये।

को धातुराप्त्यर्थानुरवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः। कृदन्तमर्थवत्प्रातिपदिकमदर्शनं प्रत्ययस्य नाम सम्पद्यते निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
गोपथ १ प्र० २६ खं०

गोपथब्राह्मण में इस प्रकार ओम् पद का व्याख्यान विशेष विस्तर के साथ लिखा है। इस संस्कृत का अर्थ यह है कि आप्लृ वा अव धातु से ओम् शब्द बना है इन दोनों धातुओं का अर्थ एकसा ही हो जाता है क्योंकि अव धातु के अनेक अर्थ होने पर भी प्राप्ति वा व्याप्ति अर्थ भी उस के हैं। इस से जो सब को प्राप्त वा सब में व्याप्त हो उस का नाम ओम् है। सो यह अर्थ वाचक में भी वाच्य के समान ही घट जाता है अर्थात् ओम् शब्द का वाच्यार्थ ईश्वर सर्वपदार्थों में उन्हीं २ के रूप से व्याप्त है और व्याप्त होने ही से उन २ सब पदार्थों को प्राप्त है सब उस से मिल रहे और सब से वह मिल रहा है जैसे यहां व्याप्ति प्राप्ति दोनों अर्थ संघटित हैं वैसे ओम् शब्द के अ, उ, म्, ये तीन अक्षर भी वर्णमाला के सब अक्षरों से सर्वोपरि प्रधान हैं। स्वरों में अ, उ, तथा व्यञ्जनों में म् अधिक प्रधान है। जिस का अधिक प्रयोग आता है वही प्रधान है। लोक में भी जिस का नाम अधिक लिया जाता जिस से अधिक काम

निकलता उस की प्रतिष्ठा का भी प्रचार अधिक होता इसी से वह जगत् में प्रधान माना जाता है । इसी प्रकार अक्षर समाम्नाय (वर्णमाला) के अक्षरों के भिन्न २ समुदाय से बने शब्द पद वाक्यावलीरूप वेदादि सब शास्त्रों में ओम् के तीन अक्षर अधिकांश ओत प्रोत हो रहे हैं । जिस को प्रत्यक्ष करना हो वह किसी ग्रन्थ वा किसी लेख की दो चार पङ्क्तियों के अक्षर देखे तो प्रायः सब से अधिक अकार का प्रयोग सब भाषाओं में मिलेगा तथा अ से कम अन्यों से अधिक उ मिलेगा और इन दोनों से कम तथा अन्यवर्णों व्यञ्जनों से अधिक मकार का प्रयोग मिलेगा । हम यहां पाठकों को दृष्टान्तरूप उदाहरण दिखाने के लिये वेद के एक मन्त्र का उदाहरण दिखाते हैं

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

इस गायत्री मन्त्र में वर्णमाला के १९ वर्ण हैं जिन का प्रयोग ६२ संख्या में गिना जायगा । जैसे १–अ २० । २–ग १ । ३–न २ । ४–म ७ । ५–इ ७ । ६–ड १ । ७–प १ । ८–उ ३ । ९–र ३ । १०—ह २ । ११–त ५ । १२–य २ । १३–ज २ । १४–स १ । १५–व १ । १६–द १ । १७—ऋ १ । १८–ऋ १ । १९–ध १ । इस प्रकार १९ अक्षर ६२ बार इस मन्त्र में आये और अ २० उ ३ म् ७ ये तीन ओम् सम्बन्धी अक्षर तीस बार आये तो शोचिये कि तीन के साथ ३० संख्या और १६ के साथ ३२ बचे तो ओम् सम्बन्धी अक्षरों में प्रत्येक की दश २ आवृत्ति हुई तथा अन्य अक्षरों में प्रत्येक के साथ दो २ संख्या पड़ी इतने से ओम् के अक्षरों की अधिक व्याप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है । हमने यहां दीर्घ ईकार को दो इकार गिना तथा ओकारों में एक अ एक उ दो अक्षर गिना और एकारों में एक अ एक इ दो गिने हैं और अनुस्वारों को मकार इस लिये गिना है कि म् को ही अनुस्वार हो जाता है । हमने वेद का उदाहरण इस लिये दिया है कि सब प्रकार की देश भाषा संस्कृत से बिगड़ २ कर बनी हैं और संस्कृत भाषा भी प्रथम वेद से निकली है इस कारण वेद का उदाहरण देना सभी का उदाहरण जानो । यद्यपि स्वरों में उकार की अपेक्षा इकार का प्रयोग ग्रन्थों में अधिक आता है तथापि ध्यान देकर शोचने से ज्ञात होता है कि उ

कार की अपेक्षा अकार के साथ इकार का निकट सम्बन्ध है अर्थात् अकार का प्रथम परिणाम जो बदलता है उसी का नाम इकार होता है। संस्कृत व्याकरण में गुण वृद्धि इक् के स्थान में होते हैं। अ, ए, ओ तीनों गुण कहाते तथा आ, ऐ, औ, तीनों वृद्धि कहाते हैं। इ, उ, ऋ, ऌ, ये चार इक् हैं। जैसे मट्टी से घटादि पदार्थ बनते और उन का अन्त परिणाम बदलने पर जब कि उन का नाश वा मरण माना जाता है। वैसे ही अकार सब अक्षरों का मूल कारण है उसी से निकल २ कर इकारादि वर्ण बने हैं उन का नाशरूप परिणाम बदलने पर फिर वही अकार हो जाता है। गुण वृद्धि संज्ञक छः अक्षरों में सात अंश अकार और पांच अंश इ, उ के हैं। वे पांच अंश भी अकार के परिणाम रूप ही हैं। अकार को इ, उ होना वा इ उ के स्थान में अकार होना दोनों दशा अकार को मूल और अन्यों को परिणाम जताती हैं। ऋ, ऌ अक्षर भी अकार के ही परिणाम हैं इसी कारण ऋ ऌ के स्थान में अर् अल् क्रम से गुण कहा है साथ में र् ल् चिन्ह इस लिये लगाये गये हैं कि जिस से ऋ ऌ में र् श्रुति ल् श्रुति ही प्रधान है उस का लगा रहना पूर्व दशारूप स्थानी का स्मारक होगा। ऋ ऌ का परिणाम रूप गुण अकार होना अकार का परिणाम ऋ ऌ को जतलाता है। संसार भर में यह स्वाभाविक नियम है कि जो कोई वस्तु जिस मूल से बनता है वह जब अपनी दशा को छोड़ अवस्थान्तर को प्राप्त होता है तब उसी अपनी मूल दशा में स्थिति पाता है मनुष्य के शरीरादि पार्थिव अन्न से बनते हैं जिन को हृष्ट पुष्ट चिकना बना ठना देख२ हम लोग मन २ में आनन्द मानते हैं उन का अन्तिम परिणाम मरण समय में उसी मूल कारण पृथिवी में लय होजाता है। यह भी नियम है कि कारण वस्तु के गुण प्रायः सर्वत्र दीखते हैं जैसे घट पटादि सब पार्थिव पदार्थों में कठोरतादि पार्थिव गुण व्याप्त रहते हैं अर्थात् सब पार्थिव वस्तुओं में पृथिवीपन व्याप्त रहता है। वैसे कारण रूप अकार सर्वत्र लेख में व्याप्त दीख पड़ता है। यवनानी लिपि में इकार उकार कोई स्वर नहीं माने गये। केवल अलिफ् नामक अकार में ज़ेर पेश नामक चिन्हों के संयोग करके "अलिफ ज़ेर इ अलिफ् पेश उ" इस नियम से अकार के अवस्थान्तर रूप परिणाम को इ उ मान लिया है। सो उन की भाषा में इ उ नामक परिणामों की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं थी जिस के लिये इ उ वर्णान्तर मानने अवश्य होते। संस्कृत वेदादि में इ उ वर्णों का पृथक् प्रयोग

अनादि काल से ही विद्यमान था उस को देख कर वर्ण माला के परिगणन में इ उ आदि अक्षर भिन्न मानने पड़े। अकार का परिणाम इकार और इकार का परिणाम य् है। अकार का परिणाम उकार और उकार का परिणाम व् कार है तथा अकार के परिणाम ऋ ऌ और उन के परिणाम र् ल् हैं। अकार के परिणाम कवर्ग हकार और विसर्जनीय हैं। इ का परिणाम चवर्ग यकार शकार हैं। ऋ का परिणाम टवर्ग रेफ षकार हैं ऌ का परिणाम तवर्ग लकार सकार हैं। और उ का परिणाम पवर्ग वकार हैं। इन में कवर्ग हकार तो साक्षात् अकार के परिणाम हैं तथा अन्य चवर्गादि परिणाम रूप इकारादि के परिणाम हैं। जैसे अव्यक्त वा प्रधान नामक प्रकृति सब जगत् का मूल कारण एक ही है। प्रकृति के द्वितीय परिणाम का नाम महतत्त्व तथा तृतीय परिणाम का नाम अहङ्कार है। यद्यपि महत्तत्त्वादि सब प्रकृति के विकार माने जाते हैं तथापि प्रत्यक्ष दीखते स्थूल जगत् की अपेक्षा महदादि पञ्चतन्मात्र पर्यन्त मूल कारण हैं इसी प्रकार यद्यपि सब वर्णमाला का कारण एक अकार है तथापि अन्य वर्णों की अपेक्षा मूल ओम् पद के तीन अक्षर हैं। अर्थात् अकार का स्थानापन्न वा प्रथम परिणाम इ, उ, ऋ, ऌ हैं फिर उन के परिणाम अन्य कवर्गादि हैं। तदनन्तर उन के भी परिणामरूप व्याख्यान सब वेदादि शास्त्र हैं। इस सब लेख से ओम् पद सब वेदों का भी मूल ठहराया गया है। ओम् के तीन अक्षरों की विशेष व्याप्ति भी इस लेख से सिद्ध ही है। यह सब लेख गोपथ ब्राह्मण के व्याप्तिरूप शब्दार्थ को स्पष्ट दिखाने के लिये लिखा गया है कि सब पदार्थों के अत्यन्त समीप ओम् पद वाच्य है तथा ओम् शब्द भी सब वर्णमय शब्द मात्र में व्याप्त वा प्राप्त हो रहा है। ओम्-यह कृदन्त प्रातिपदिक है प्रत्यय का स्वरूप यहां लुप्त हो जाता है वैयाकरण लोग इस ओम् को उदात्त निपात मानते हैं और वह शब्द सब शब्दों में तथा इस का वाच्य वाच्यों में अन्वयीभूत रहता है। वह यौगिक शब्द कभी अपने स्वरूप से विकारी नहीं होता (पद्दशा०) स्त्री पुन्नपुंसक तीनों लिङ्ग में तथा सब विभक्तियों और सब वचनों में इस ओम् शब्द का कुछ भी स्वरूप नहीं बदलता एकसा बना रहता है। वैसे इस पद का वाच्य परमात्मा भी सब लिङ्गों विभक्तियों और वचनों में एकहीसा रहता है उस को स्त्री पुरुष नपुंसक कुछ नहीं कह सकते सर्वथा अविनाशी अविकारी है इसी लिये वाच्य वाचक दोनों को अविनाशी कह सकते हैं ॥

. आर्यतत्त्वप्रकाश ४ भाग का उत्तर ॥

हम अपने पाठकों को स्मरण दिलाते हैं कि सन् १८८८ ईसवी में एक पुस्तक ईसाई लोगों की ओर से आर्य्यतत्त्व प्रकाश नाम से छपाया गया था जिन के कई अंशों का अच्छा पुष्ट उत्तर स्वर्गवासी पं० लेखराम शर्मा आर्यपथिक ने दिया था तथा अन्य भी किसी २ महाशय ने कुछ उत्तर दिया होगा यह सम्भव है। परन्तु जहां तक जाना गया है "आर्यतत्त्व प्रकाश" के चतुर्थ भाग में जिन का पता दिया है उन मन्त्रों का अर्थ अब तक किसी आर्य पण्डित ने नहीं लिखा यद्यपि मुझ को भी कई महाशयों ने ध्यान दिलाया तथापि मैं इन का व्यर्थ कुतर्कवाद समझ कर उपेक्षा करता रहा। परन्तु अब कई आर्यसामाजिक महाशयों के विशेष अनुरोध से उक्त पुस्तक के चतुर्थ भाग का उत्तर देना आवश्यक समझ संक्षेप से लिखना चाहता हूं—

१—प्रश्न—वेद ईश्वरोक्त और अनादि हैं वा नहीं।

२—प्रश्न—वेदों में ईश्वर के ज्ञान के लक्षण हैं वा नहीं ? ॥

ये दोनों प्रश्न ईसाई लोगों ने स्वयं करके आगे २ बहुत व्याख्यान प्रश्नोत्तरादि रूप से लिखा है। हम यहां थोड़े से प्रश्नोत्तर लिखते हैं तदनन्तर मन्त्रों के अर्थ पर विचार लिखेंगे ॥

ईसाई—वेदों की साक्षी अपने ही विषय में क्यों कर मानने योग्य हो सकती है ?।

आर्य—इस लेख से इन का प्रयोजन यह है कि आर्य लोग वेद को सूर्यवत् स्वतःप्रमाण मानते हैं सो कैसे ठीक है ?। इस का उत्तर हम यह देते हैं कि ईसाई लोगों को भी दीपक वा सूर्य का तो स्वतःप्रमाण मानना ही पड़ेगा क्योंकि यदि वे दीपक को देखने के लिये कि दीपक जलता है वा नहीं अन्य दीपक जला कर नहीं देखते यदि एक दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक जलावें तो संसार में विक्षिप्त कहावेंगे। और यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध भी है कि दीपक वा सूर्य को देखने के लिये कोई भी अन्य दीपक वा सूर्य की अपेक्षा नहीं रखता तो सिद्ध हुआ कि सूर्य वा दीपक जिन का दृष्टान्त वेद की स्वतः सिद्धि में आर्य लोग देते हैं ईसाई लोगों को भी उनका स्वतः प्रमाण मानना ही पड़ता है इस मन्तव्य से सृष्टि भर का कोई भी मनुष्य नकार नहीं कर सकता। ये

दीपकादि रूपवान् पदार्थ हैं । अब अन्य इन्द्रियों वा मानस व्यापार में भी अनेक बातें स्वतः सिद्ध हैं । जैसे एक और एक मिलकर दो तथा दोदो मिल कर चार होते हैं, आंख से देखना, कान से सुनना, जिह्वा से स्वाद लेना, अग्नि से शीत की निवृत्ति, जल से प्यास वा उष्णता की निवृत्ति इत्यादि सहस्रों बातें ऐसी ही सब जगत् में मानी जाती हैं जो स्वतः सिद्ध हैं अर्थात् ऐसी बातों को ठीक मानने के लिये किसी अन्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा कोई भी नहीं करता और ईसाई लोगों को भी ऐसी सभी बातें स्वतः सिद्ध माननी अवश्य ही पड़ेंगीं । वेद में भी लिखा है कि—

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥

यजु० अ० २३ । १० ।

अग्नि शीत का औषध है और पृथिवी सब से बड़ा खेत है जिस में सभी कुछ उत्पन्न होता है हम मनुष्यादि के शरीर भी पार्थिव ही हैं पृथिवी रूप खेत से ही उत्पन्न होते अर्थात् पार्थिव अन्न से ही शरीर बनते बढ़ते हैं उसी खेत में रहते चलते फिरते हैं फिर अन्त में उसी खेत में अस्मदादि के शरीर मिल जाते हैं । वृक्ष वनस्पत्यादि सभी कुछ पृथिवी में उगते हैं इस से भूमि ही सब से बड़ा खेत है । और अग्नि ही शीत का औषध है इस का अभिप्राय यह भी है कि जहां कहीं जब कभी जिस किसी का शीत जितना निवृत्त होता है हुआ था वा होगा वह सब अग्नि से ही तीनों काल में होगा । इस में यह तो प्रसिद्ध है कि अधिक शीत में प्रायः लोग अग्नि समीप रखते और उस से शीत निवृत्त करते हैं कोई जला कर सिलगा कर तापता और कोई अपने निवासस्थान में कोठों में अग्नि रखते अपने २ स्थानों बङ्गलोंमें अङ्गीठी बनवाते हैं इत्यादि । और कहीं कभी गर्म वस्त्रों को पहन ओढ़ के तथा कहीं कोई किसी प्रकार के शीत को गर्म कस्तूरी आदि औषध खा कर निवृत्ति करते हैं । आयुर्वेदीय ग्रन्थों द्वारा वैद्य डाक्टरादि लोग सब प्रकार के शीत रोगों की आग्नेय गर्म औषधि करते हैं । वेद शास्त्र के नियमानुसार सूक्ष्म स्थूल सब प्रकार की उष्णता को अग्नि कहेंगे लोक में भी जाठराग्नि, मन्दाग्नि आदि शब्दों का व्यवहार अप्रसिद्ध अग्नि परक होता ही है । इस प्रकार जब अग्नि

शीत का औषध और पृथिवी सब से बड़ा खेत है" इन वाक्यों का सब देश-काल और वस्तुओं से सबन्ध है ये बातें सब को ऐसी ही मानने पड़ती हैं। उन २ अवसरों शीत आदि के समयों में साक्षात् अग्नि वा आग्नेय पदार्थों से ही शीत की निवृत्ति सब को करने पड़ती है तो हमारे ईसाई भाई क्या इस को न मानेंगे ? क्या वे लोग शीतल जल को शीत की ओषधि कहें वा मानेंगे ? और क्या यह सूर्यवत् स्वतः सिद्ध प्रमाण नहीं है ?। अग्नि से शीत की निवृत्ति के लिये कोई प्रमाणान्तर क्या ये अंगरेजादि ईसाई लोग मानेंगे ?। यदि हां कहैं तो किसी बात को भी स्वतः सिद्ध नहीं मान सकते इस दशा में इन का व्यवहार ही न चलेगा ॥

इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ यजु० अ० २३ । ४८ ।

इन्द्र नाम सूर्य पृथिवी से अत्यन्त बड़ा है परन्तु गोनामक प्रकृतिरूप स्थूल सूक्ष्म ब्रह्माण्ड मण्डली की मात्रा सीमा नहीं संसार अनन्त है । "इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । अथर्व० १३ । ३ । १३ " यहां इन्द्रनाम सूर्य का स्पष्ट ही है । तथा " वशा द्यौर्वशा पृथिवी० वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति । अथर्व० १० । १० । ३०-३४ । यहां वशा नाम से सब ब्रह्माण्ड भरकी प्रकृति स्पष्ट दिखाई है कि पृथिवी सूर्यादिरूप में बनी हुई वशा सर्वरूप है । और वशा शब्द गौका नाम लोक में भी प्रसिद्ध ही है । इन प्रमाणों से यह तो सिद्ध है कि वेद के उक्त उदाहरणों से वेद स्वतःसिद्ध सूर्यादिवत् प्रमाण करने योग्य है । इस पर सन्देह यह हो सकता है कि हम मान भी लेवें कि वेद में अनेक बातें ऐसी हों जो सर्वमान्य कहीं जांय तो ऐसी सर्वमान्य बातें प्रत्येक पुस्तक में हो सकती हैं तब वेद ही सर्वोपरि स्वतः सिद्ध प्रमाण है यह कैसे बनेगा ? जब वेद में अग्नि आदि तत्वों की पूजा स्पष्ट ही है अर्थात् तुम सब वेद को स्वतः सिद्ध प्रमाण योग्य सत्य नहीं ठहरासकोगे देखो ऋग्वेद के आरम्भ से ही अग्नि की स्तुति है। अग्निशब्द का अन्य अर्थ करोगे तो कौन मानेगा ? और यह भी विचारणीय है कि जैसे " अग्नि शीत का औषध है " ऐसी बातें सर्व साधारण विना पढ़े ग्रामीण लोग भी जानते हैं यदि ऐसी ही बातों के बताने

के लिये वेद है तो जो बातें हम स्वयं ही विना किसी के बतायें जानते हैं उन के लिये वेद को मानना व्यर्थ है ॥

उत्तर—हम प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं कि वेद का एक २ अक्षर तक जब स्वतःप्रमाण के योग्य है तो किसी प्रकरण वा मन्त्र को कौन व्यर्थ ठहरा सकता है। हम अपने अन्तःकरण से दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई अल्पाशय वेद के किसी मन्त्र को व्यर्थ समझते वा अधिक दोष युक्त समझते हैं। उस को हमारे पास दोष सहित लिख भेजें हम उस को निर्दोष सिद्ध करदेंगे। इसी के अनुसार ऋग्वेद के आरम्भस्थ प्रथममन्त्र पर समाधान सुनिये ॥

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥

यहां अग्नि का पुरोहित विशेषण है। जो पुरस् नाम आगे पूर्व से ही हितनाम धरा गया जो आगे धरा जाता जो आगे धरा हुआ प्रत्येक प्राणी के साथ विद्यमान है इसी से जिस को आगे धरना चाहिये जो भविष्यत् में भी आगे धरा जायगा वा सब को परवश हो आगे धरने पड़ेगा वह पुरोहित है "डुधाञ्धारणपोषणयोः" धातु से हित शब्द बनता है। प्रत्येक शरीर में जीवन शक्ति आगे छाती के भीतर धरी गयी है "मानसोऽग्निः शरीरेषु जीवइत्यभिधीयते" यह महाभारत में लिखा है कि मानस विचारशक्ति जिस का नाम जीवन वा जीव है वह गर्मी रूप अग्नि शक्ति नाभि पेट हृदय छाती आदि में अधिक कर रहती है इसी कारण पीठ की अपेक्षा आगे उदरादि में प्रत्यक्ष भी गर्मी अधिक दीखती है उसी पुरोहित अग्निरूप जीवन की रक्षा के लिये प्रायः लोग आगे छाती को वस्त्रादि से अधिक ढांपते गर्म रखना चाहते मोटा वा ऊनी वस्त्र पहन कर गर्म रखना अच्छा मानते हैं। और प्रत्येक पदार्थ का सजातीय अनुकूलांश पोषक वा रक्षक होता यह भी संसार में एक नियम है। जैसे बाह्य अन्नादि नामक पार्थिव अंश हमारे पार्थिव शरीरांश का रक्षक पोषक है वैसे बाह्य अग्नि हमारे पुरोहित अग्नि का रक्षक पोषक अवश्य है इसी लिये बाह्य अग्नि से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये अग्नि आगे धरा जाता है अग्नि से तापने, रोटी पकाने, रेल का अञ्जन चलाने तथा लोहा सुवर्ण आदि तपाने वाले सभी लोग अग्नि को सामने रखते हैं इसी के अनुसार अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाले भी अग्नि को सामने रखते हैं। यदि अग्नि की ओर

पीठ करें तो अग्नि से कोई काम ठीक नहीं हो सकता किन्तु अपनी हानि होने जल जाने का भय तो अवश्य होगा। और हमारे शरीर में आग्नेय चक्षु तथा जाठराग्निरूप शक्ति जिस के द्वारा हम बाह्य अग्नि से ठीक काम ले सकते हैं वह भी हमारे आगे सामने धरा है इसी लिये सामने रखकर बाह्य अग्नि से काम ले सकते किन्तु पीठ पीछे रक्खें तो हम को वहां का ज्ञान ही नहीं हमारे आगे धरे आग्नेय चक्षु बाह्य अग्नि से काम लेने में उपयोगी और आगे धरा बाह्य अग्नि चक्षु से होने वाले काम का सहायक उपकारी है। सृष्टि क्रम के नियमानुसार सर्गारम्भ से ही ईश्वरने अग्नि को पुरोहित किया अर्थात् हमारे आगे धरा और हम को परमदयालु परमात्मा ने सर्वोत्तम ज्ञान के अगाधभण्डार वेद द्वारा उपदेश किया कि तुम लोग मेरे नियमानुसार बाह्याग्नि को भी पुरोहित करो आगे धरो जिस से इसी के अनुसार तुम्हारे अन्तराग्निरूप जीवन की पुष्टि होती रहे।

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे॥

इत्यादि मन्त्रों में "पुरोदधे" अग्नि को आगे धरता हूं आगे धरा था और सामने रखता हूं मुझ को सामने रखना चाहिये इत्यादि सब पुरोहित शब्दका व्याख्यान है। इसी को चाहें यों कहो कि "पुरो दधे। पुरोहितम्" का धारण एकार्थ देख कर ही पाणिनि आचार्य ने धारणार्थ धाञ् धातु की कल्पना की और तकारादि कित् प्रत्यय के परे धाञ् धातु को हि आदेश कहा। अर्थात् व्याकरण के सब अंश वा अधिकांश वेद को मूल मान कर बनाये। तथा अग्नि यज्ञ का देव है यज्ञ को प्रकाशित प्रसिद्ध करने वाला यज्ञ का साधक है। ब्रह्म यज्ञ स्वाध्याय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनादिरूप ऋषियज्ञ का साधक प्रकाशक वाणी रूप अग्नि है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य वा प्राणिमात्र में शब्द द्वारा होने वाले कार्यों का प्रकाशक वाक् अग्नि है। होमरूप देवयज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध बाह्य अग्नि है। पुष्पादि के सुगन्ध को उड़ाकर फैलाने वाला पुष्प में रहने वाला गुप्ताग्नि है। पितृयज्ञरूप मनुष्यों में योग्य के सत्कार आदर पूजन का हेतु वा साधक मानस अग्नि है। इस प्रकार नाना प्रकारों से नाना प्रकार के नामों से नाना यज्ञों का देव नाना प्रकार का अग्नि है अर्थात् कोई भी उत्तम काम अग्नि के बिना सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अग्नि ऋत्विज् है—जैसे वस-

न्त ऋतु में ढाक आदि को फुला गेहूं आदि को पका कर मनुष्यादि का यजन पूजन करता, वैसे ग्रीष्मादि भिन्न २ ऋतुओं में भिन्न २ प्रकार के अन्न फल फूल कन्दमूल वृक्ष वनस्पति आदि को फलित पुष्पित करके जगत् के सब प्राणियों का पूजन करता सब को सुख पहुंचाता है। स्त्रियों के ऋतुकाल में अग्नि ही गर्भ स्थिति का कारण होता "अग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य" इस सुश्रुत के प्रमाणानुसार अग्नि सोम वा पुरुष शक्ति स्त्री शक्ति ये दोनों गर्भस्थिति में प्रधान कारण हैं। परन्तु इन में भी पुरुषशक्ति सम्बन्धी अग्नि प्रधान है इस कारण गर्भ स्थिति करके तथा सन्तानोत्पत्ति का मूल कारण बनकर ऋतुकालों अर्थात् उन २ इष्ट सिद्धियों के अनुकूल समयों में सन्तानोत्पत्ति आदि द्वारा मनुष्यादि प्राणियों का यजन पूजन करने वाला अग्नि होता है इसी लिये हम को प्रत्येक ऋतु में उत्तम२ यज्ञ करके बाह्य प्रसिद्ध वा सर्व व्याप्त अग्नि का यजन पूजन करना चाहिये अर्थात् भौतिक शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सुखों की प्राप्ति के लिये हम बाह्य अग्नि की शुद्धि के उपाय सदा करते रहें तभी हम को सुख हो सकता है। अग्न्यादि तत्वों से बने अपने शरीर के अग्नि आदि को ठीक अनुकूल शुद्ध रखने के लिये होमादि द्वारा बाह्य सहायक अग्नि आदि को पूजितनाम शुद्ध करते रहें। इस प्रकार ऋत्विज् शब्द का अर्थ भी सर्व व्याप्त है। पूजा शब्द का व्यवहार पहिले कुछ और था अर्थात् जड़ पदार्थों को अच्छा करना बनाना वा रखना पूजा कहाती थी किन्तु जड़ का पूजन चेतन के स्थान में नहीं किया जाता था। सो इस प्रकार की भूत पूजा से वेद में कोई दोष नहीं आता किन्तु वेद में लिखे अनुसार अग्नि वायु आदि देवताओं की शुद्धि वा पूजन किये विना हम लोग दूषित वा दुःखित रहते हैं इस कारण वैसा न करने से हमारी ही हानि है। जैसे कि किसी घर का वायु बिगड़ा रोग कारी प्राणघातक हो गया हो तो उस वायु की कुछ हानि नहीं और न शुद्ध हो जाने से वायु को कोई सुख मिलता किन्तु उस घर के निवासी को वायु के पूजित नाम अच्छे होने से सुख और बिगड़े अपूजित रहने से दुःख होगा इस प्रकार वायु आदि द्वारा अपने को सुख होने के लिये वेद में कही होमादि द्वारा देवपूजा है। इसी प्रकार का निर्दोष सर्वव्याप्त सृष्टि क्रम के अनुसार वेद के सब मन्त्रों का त्रिकालाबाध्य सत्यार्थ घट सकता वा हो सकता है जिस से सभी वेद एक २ मात्रा तक निर्दोष ठहरता है इस से पहिले प्रश्न का उत्तर आगया। अब हम ईसाई महा-

र्थियों से पूछते हैं कि क्या आप लोग अग्नि को पुरोहित नहीं मानोगे ? क्या आप पुरोहित मानने से बच सकते हो ? क्या आप के भीतर सामने हृदय में रुधिर बनने का स्थान अग्नि का कलाघर नहीं है ? क्या आप के उदर के सामने जाठराग्नि नहीं है ? क्या आप के शिर में मुख से ऊपर सामने आंखेंरूप आग्नेय शक्ति नहीं है ? क्या ईसाई लोग रोटी पकाते समय अग्नि को पीठ पीछे कर लेते हैं ? क्या अंजन चलाने वाले अग्नि को सामने न रक्खें ऐसा हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं । किन्तु ईसाई मुसलमान आदि सभी लोगों को पराधीन हो कर अग्नि को पुरोहित मानने पड़ेगा और स्वतःसिद्ध सभी वस्तु वा विषय सभी को मानने पड़ते ही हैं । " आग्नेयो वै ब्राह्मणः " यह ब्राह्मण ग्रन्थों का लेख वा प्रमाण है । इस से अग्नि सम्बन्धी सत्त्वगुण वाला धर्मनिष्ठ होने से ब्राह्मण भी पुरोहित होता वा माना जाता है । अर्थात् जो पुरुष जिस कक्षा तक मान्य होता उस को लोग वैसा ही अधिक सामने बैठाते हैं सामने होकर आदर सत्कार पूजन करते हैं इस से पुरोहित शब्द का अग्नि और ब्राह्मण दोनों में एकही अर्थ है ॥

और द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे आयुर्वेद—डाक्टरी पढ़े विना कोई नहीं जान सकता कि किस शीत रोग का कौन आग्नेय वस्तु औषध है। इसी के अनुसार "अग्नि शीत का औषध है" इस का स्थूल आशय सर्वसाधारण को ज्ञात भी किसी प्रकार हो जाय परन्तु सर्वव्याप्त सूक्ष्मार्थ किसी को वेद का पूर्ण बोध हुए विना ज्ञात नहीं हो सकता और सृष्टि के आरम्भ में वह स्थूलार्थ बोध भी प्रथम मनुष्यों को वेद से हुआ पश्चात् जो सीधीबात थी उस का लोक में शीघ्र प्रचार होगया विना पढ़े ग्रामीण तक भी जान गये पर उसी विषय का जो २ अंश विद्वत्ता से सम्बन्ध रखता था उस को सब किसी ने नहीं जान पाया न जान सकते हैं इस से वेद को पढ़ने और सम्यक् जानने के लिये आवश्यकता सिद्ध होगयी किन्तु वेद का कुछ भी अंश व्यर्थ नहीं है ॥

ईसाई—हम इस वचन का प्रमाण मांगते हैं कि वेद सत्य हैं वा नहीं ॥ ?

आर्य—वेद सत्य हैं इस का प्रमाण हम पूर्व लेख में दे चुके कि, प्रदीप प्रकाशवत् वेद स्वयं प्रमाणभूत हैं तो तुम्हारे प्रश्न का आशय यह होगा कि हम प्रमाण का प्रमाण मांगते हैं । और प्रमाण का प्रमाण होता नहीं जो प्रमाण से सिद्ध होने योग्य होता वह प्रमेय कहाता है । वेद के स्वतःसिद्ध होने के विषय में कई

उदाहरण पूर्व लिख चुके हैं। जब कि वेद शब्द रूढ़ि नहीं किन्तु यौगिक विद्या वाचक है तो जो विद्या वा ज्ञान है वह असत्य नहीं होता और जो असत्य हो उस को वेद या विद्या नहीं कह सकते किन्तु उस का नाम अविद्या अवेद अज्ञान मिथ्याज्ञान आदि होगा। तो तुम्हारा प्रश्न ऐसा ही हुआ कि " अज्ञान मिथ्या है इस का प्रमाण हम मांगते हैं" जैसे यह प्रश्न प्राज्ञ लोगों में हंसी कराने वाला है वैसे ही तुम्हारा प्रश्न-" वेद सत्य हैं वा नहीं " हो गया ॥

आर्यावर्त्तवासियों में से जैन बौद्धादि वेद के विरोधी अनेक मत खड़े हो गये तथा अब जो सामान्य पण्डित वा पौराणिकादि अनेक मतवादी विद्यमान हैं उन में अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो वेद को ठीक सत्य नहीं मानते। श्रीमद्भागवत के सामने वैष्णवलोग शतांश भी वेद को अच्छा नहीं कहते मानते इस से और आगे चलो तो जो लोग वेद को अच्छा कहते मानते हैं उन में भी कोई २ ही वेद का कुछ २ महत्त्व जानता है। और जो जिस का महत्त्व नहीं जानता उस का मानना भी न मानने के समान इस लिये है कि वह विना नींव की भित्ति के समान छिग जाने वाला है। सदा ही सब वस्तु वा प्राणी अच्छे कम होते निकृष्ट अधिक होते हैं। वेद का ठीक जानना तत्त्वज्ञानी वा ज्ञानी होना एक ही बात है। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से भी आधे तिहाई वा चतुर्थांश भी मनुष्य वेद का ठीक तत्त्व जानने वाले कभी एक काल में होने सम्भव नहीं तथापि प्रति सैकड़ा एक दो तत्त्वज्ञानी अवश्य होते आये। धीरे २ काल के परिवर्त्तन से वेदपारग कम होते गये। बौद्ध मत का प्रबल प्रचार होने से बहुत पहिले ही लोगों को अज्ञान मोहान्धकार की प्रबलता से वेद में भ्रान्ति होना बीजरूप से आरम्भ हुई। वह भ्रान्ति बौद्धमत के समय वृक्षरूप हो गयी तिस पीछे वह भ्रान्ति का वृक्ष आगे २ पुष्ट होता आया। यद्यपि सम्प्रति अङ्गरेज़ ईसाइयों के राज्य में विद्या सम्बन्धी विषयों का वा मतों का आन्दोलन अधिक है तथापि वेद के महत्त्व को जानने से सभी वञ्चित हैं। इसी कारण अब क्रोड़ों में एक दो मनुष्य भी ठीक वेद का तत्त्व जानने वाला प्रतीत नहीं होता। यदि सृष्टि भर में दोचार भी ठीक वेदपारग हों तो कुछ अन्धकार मिट सकता है इस लिये बौद्धादि के न मानने से वेद अमान्य है यह युक्ति अति निर्बल है। यदि वास्तव में ईसाई लोग हठ दुराग्रह और अपने मत की ममता छोड़कर

वेद की ठीक जांच करना चाहेंगे तो स्थालीपुलाक न्याय से वेद की सत्यता समझाने के लिये हम भी यथाशक्ति यथावकाश अवश्य परिश्रम करेंगे। और यदि प्रायः मतवादियों का सा इन का भी अभिप्राय है कि अपने को दबाने वाले मतों को बुरा कह लिख कर अपने मत का महत्व बढाना चाहते हैं तो इन का श्रम सुफल होने की अब आशा नहीं रही क्योंकि वेद दैवी सम्पत्ति और अन्य सभी मत वा पुस्तक आसुरी सम्प्रदाय के हैं यद्यपि वेद की ओर चलने वाले वा वेद का महत्व खोलने के लिये बने पुस्तक अन्यों की अपेक्षा दैवी सम्पत्ति में रहैं तथापि वेद की अपेक्षा वे स्मृत्यादि भी आसुरी हैं। अस्तु-हमारा यह काम है कि हम वेद के महत्व को प्रकट करें।

वेद किस के बनाये हैं इस विवाद से किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं किन्तु विचार यह होना चाहिये कि वेद सत्य हैं वा नहीं। यदि कोई यह ठहरा भी दे कि वेद किसी देहधारी ऋष्यादि के बनाये नहीं तथा किन्हीं युक्ति प्रमाणों से यह भी मानने पड़े कि वेद ईश्वर की विद्या है वा ईश्वरकृत है तो भी विद्यमान वेदों के पुस्तकों से यावत् उन की सत्यता ठीक सिद्ध न हो जाय तब तक किसी को वेद के मान्य होने का पक्का विश्वास नहीं हो सकता। जिन मनुष्यों में जिस समय पूर्ण आप्तभाव जिन विषयों में जो लोग मानते हैं उन के विचारों वा उपदेशों को वे सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त मानने लगते हैं यही शब्द प्रमाण का मुख्य विषय है और शब्द प्रमाण का ऐसा व्यवहार सब देशों सब कालों तथा सब जातियों में सृष्टि के आरम्भ से अन्त समय तक न्यूनाधिक भाव से रहा करता है संसार का व्यवहार अधिक कर शब्द प्रमाण पर चला करता है। किसी विषय में यदि किसी की किसी बात को कोई प्रामाणिक सत्य न माने तो लोक व्यवहार नहीं चल सकता। परन्तु ईश्वरीय विद्या जीव ईश्वर प्रकृति मुक्ति आदि अतिसूक्ष्म विषयों में किसी सर्वोत्तम परीक्षक का ही प्रमाण माना जाता है। साधारण मनुष्य जो लौकिक कोटि में ठीक प्रविष्ट हैं वे लोग विवाद द्वारा ऐसे सूक्ष्म विषयों को ठीक नहीं समझ पाते पर यदि जिज्ञासु होकर विवाद भी करते रहें तो मर्म तक उनकी बुद्धि न पहुंचने पर यदि उस को आप्त समझने लगें तो सन्देह अवश्य मिट सकते हैं। इत्यादि विचार के अनुसार यह तो आशा कम है कि ईसाई लोग हमारे इस लेख पर पूरा ध्यान दे-

कर वेद की ओर झुक के अपने जन्म को सुफल करें तथापि हमारा काम है कि समझाने का उद्योग करें कुछ तो फल हो होगा ॥

पूर्व लिखे उदाहरणों के अनुसार हम ने वेद को सर्वथा ठीक सत्य माना है। ऐसा सत्य जगत् में कोई अन्य लेख न है न हो सकता है इसी लिये वह सर्वोपरि प्रामाणिक है किन्तु वेद ईश्वरीय विद्या होने से सर्वमान्य है वा होना चाहिये यह हमारा पक्ष वा आग्रह नहीं है किन्तु हम यह कहते हैं कि वेद सर्वथा सत्य निर्भ्रान्त होने से हम को ईश्वरीय वाक्य इस कारण मानने पड़ता वा मानना चाहिये कि मनुष्य अल्पज्ञ है मनुष्य का बनाया कोई काम सर्वज्ञ के बनाये से तुलना करने योग्य नहीं होता जिस में जिस कक्षा तक ज्ञान वा बोध होता वह उतना ही कह वा लिख सकता है अधिक नहीं। तथा मनुष्य सभी देश काल परिच्छिन्न होते अर्थात् किसी निज देश और काल में उत्पन्न होकर नियत समय तक रह कर मर जाते उन सबका लेख वा विचार भी उसी देश काल के साथ परिच्छिन्न रहता है मनुष्य के विचार सार्वदेशिक सार्वकालिक नहीं हो सकते वेद को छोड़ अन्य कोई भी ऐसा पुस्तक जगत् में नहीं है जिस में देश काल और वर्णन करने का विषय परिच्छिन्न न हो। इस कारण वेद सत्य है जो सार्वदेशिक सार्वकालिक नियम वा उद्देश हैं उन्हीं का नाम वेद है यदि ऐसे नियम अन्य देशों वा भाषाओं में भी प्रचरित हैं जिन को सब कोई निर्भ्रान्त सत्य मानते हैं तो वे सब वेद से ही निकले हैं जब ऐसे सार्वदेशिक सार्वकालिक सर्वोपयोगी उद्देशों को ईसाई आदि लोग भी स्वयं निर्भ्रान्त सत्य प्रमाण मानते और उन को मानने पड़ता है जैसा कि पूर्व हमने उदाहरण दिये कि "अग्नि शीत का औषध, पुरोहित, यज्ञ का देव और ऋत्विज् है" तो इन लोगों से पूछना चाहिये कि जिस को हम वेद ठहराते हैं उस को तुम स्वयमेव सत्य मानते हो और मानने से तुम क्या कोई भी नहीं बच सकता तब किस मुख से हम पर प्रश्न करते वा कर सकते हो कि "हम वेद के सत्य होने में प्रमाण मांगते हैं ?" अब हम ईसाई आदि लोगों को विशेष सम्बोधन के साथ सचेत करते हैं कि अब निद्रा हठ दुराग्रह छोड़ो जागो अपने आपे में आओ, स्मरण रक्खो कि अब तुम लोगों को वेद की सत्यता माननी पड़ेगी बचोगे नहीं। यदि ऊपर से अपने हठ को नहीं भी त्यागोगे तो भी तुम्हारा अन्तरात्मा अवश्य मानेगा। इस लिये विचार पूर्वक चलो।

ऋग्वेद के आरम्भ से अग्नि की स्तुति है सो ठीक है यह कोई साधारण

बात नहीं जो पदार्थ जैसा है उस के वास्तविक अच्छेपन का वर्णन करना स्तुति कहाती है सो थोड़े दो तीन पदों का वर्णन पूर्व हम ने किया वह अग्नि की स्तुति का उदाहरण मात्र है ऐसी अग्नि की स्तुति वेद में बहुत भरी पड़ी है "अग्नि की स्तुति करता हूं इस से वेद में कही सब स्तुति की प्रतिज्ञा दिखाई इस कारण (अग्निमीळे) कहने से ग्रन्थ भर का विषय कहा गया "ईड स्तुतौ ऋच स्तुतौ" ये दोनों एक ही अर्थ वाले धातु हैं । ऋच से ऋग्वेद और ईड से उसका विषय स्तुति दिखा दियागया । क्या अग्नि में जो अच्छे गुण हैं उनको ईसाई लोग न मानेंगे ? क्या उन गुणों के कारण ईसाई लोग अग्निकी स्तुति नहीं करते ? क्या ये लोग अग्नि को अच्छा कहे माने बिना अपना कोई व्यवहार सिद्ध कर सकते हैं ? कदापि नहीं इस कारण ईसाई आदि लोगों को भी जब अग्नि की स्तुति करनी पड़ती है तो वेद पर दोष लगानेकी चेष्टा क्या अपने आप को दोषी बनाने का उद्योग नहीं है ? । यदि कोई कहे कि ऋग्वेद में अग्नि की ही स्तुति है ? इन्द्रादि की नहीं ? तो उत्तर यह है कि वेद में अग्नि मूल देवता वा प्रधान है उसके साथ में अन्य शाखा वा गौण देवता आसकते हैं जैसे वर्ण-माला में अकार सब वर्णों का मूल बीज रूप है अन्य वर्ण उसी अकार के परिणाम अवस्थान्तर हैं ऐसे यहां भी अग्नि के अवस्थान्तर वा ग्रवान्तर भेद इन्द्रादि देवता हैं इस कारण अग्नि की स्तुति कहने से वेदोक्त सब देवताओं की स्तुति आजाती है ॥

हमारे इतने लेख से हमारे पाठक महाशय तथा ईसाई लोग आशा है कि समझ सकेंगे कि ईसाइयों की अन्य साधारण बातों का उत्तर भी ये दे सकते हैं इस से हम अधिक उत्तर देने में लेख बढ़ाना अच्छा उपयोगी नहीं समझते । इसलिये अब केवल मन्त्रों पर हम अपना परामर्श लिखेंगे आशा है कि ईसाई लोग तथा हमारे पाठक महाशय विशेष ध्यान देकर शोचेंगे ॥

ईसाई—ऋषियों ने तीन प्रकार से अर्थात् बनाने और रचने और उत्पन्न करने से उन मन्त्रों के आचार्य होने की ममता को दृढ़ किया है । इन में से प्रथम—बनाने के विषय में—ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ६१ मन्त्र १६ । "एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्" अर्थात् हे इन्द्र उच्चैःश्रवा नामक घोड़े की सवारी करने वाले गौतम मुनि के पुत्रों ने तेरे लिये सुन्दर सूक्त बनाये हैं ॥

आर्य—यह बात बहुत दिनों से कहते लिखते सिद्ध हो चुकी है कि "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" पूर्व मीमांसादि ग्रन्थों के इत्यादि प्रमाणों के अनुसार तथा वेद में ही वेदका यौगिकार्थ दीख पड़ने से वेदके शब्दों का सामान्य यौगिकार्थ होना चाहिये। रूढ़ि अर्थ लेना वेद के सिद्धान्त से विरुद्ध है अर्थात् यौगिकार्थ को लेकर ही ईश्वर ने वेद का प्रकाश किया तो हमारा रूढ़ि अर्थ मानना वेद विरुद्ध है। इस मन्त्र का अर्थ इन ईसाई लोगों ने सायण भाष्य से लेकर लिखा है और (उच्चैःश्रवा नामक घोड़े) इतना अपनी ओर से जोड़ा है। यह मन्त्र पूरा नहीं लिखा किन्तु आधा लिखा है पूरा मन्त्र—

एवा ते हरियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्। ऐषु विश्वपेशसं धियन्धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥

इस प्रकरण में ५८ से ६४ तक सात सूक्तों का नोधा गौतम ऋषि उपक्रमणिका के अनुसार है। आर्यसिद्धान्त भा० ६ के संस्कार विषयक लेखों में ऋषि शब्दपर कुछ लेख हम कर चुके हैं जिस में सिद्धान्त यह है कि—

यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता ॥

उस २ मन्त्र वा सूक्त का कहने वाला ऋषि है अर्थात् जिस प्रकार की योग्यता वाला जैसी चाहना वाला मन्त्र में कहे विषय की आवश्यकता रखता हुआ तथा उस वस्तु वा विषय को प्राप्त होने योग्य उस का कहने वाला सामान्य पुरुष ऋषि कहाता है और मन्त्र वा सूक्त में जिस विषय वा वस्तु का वर्णन है वह देवता कहाता है। जैसे देवता किसी निज का वाचक नहीं वैसे ऋषि भी कोई निज उस नाम का देहधारी नहीं है। इसी विचार के अनुसार मन्त्र का अर्थः—

अ०—हे हारियोजन—"हरी इन्द्रस्य निघण्टौ १। १५" हरी हरणशीलौ पार्थिववस्तुभ्यो जलं सद्यो हरत इति हरी इन्द्रस्य मध्यान्हस्थसूर्यस्य द्विविधौ किरणौ भवतस्तयोर्योजनं सम्बन्धो येन सूर्यमण्डलेन लोकस्थानीयेनास्ति स हरियोजनः सूर्यलो-

सूचना

यद्यपि प्रथम लिखी सूचना से विरुद्ध आ० मि० के निकलने में अब की बार भी अतिकाल हो गया इसी लिये अब यह प्रबन्ध किया है कि प्रतिमास एक नियत तिथि को एक २ ही अङ्क निकला करे पूर्ण आशा है कि अब यह प्रबन्ध चला जायगा ॥

२-पाठशाला का प्रबन्ध अब अच्छा है। आज कल १८। २० विद्यार्थी पढ़ते हैं अध्यापक अच्छे योग्य हैं। ७ विद्यार्थी ब्रह्मचारी बन के रहते यथासम्भव मुख्य२ ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन भी सम्यक् कराया जाता है। भोजन बनाने के लिये रसोइया नियत हो गया है विशेष हाल पीछे लिखेंगे। जमा खर्च आगामी अंक में छपेगा। सहायक लोग पाठशाला का स्मरण रक्खें।

३-मनुभाष्य ३ अ० की १ जिल्द पूरी हो कर बिकने लगी मूल्य ३) है पुस्तक ७४४ पृष्ठ का पुष्ट कागज पर छपा है। ग्राहक लोग इस को पूरा पढ़ नहीं पावेंगे तभी तक ६ अ० तक की द्वितीय जिल्द छप जायगी। पुनर्जन्म विषय का एक नया पुस्तक छपाया गया है नाम भी "पुनर्जन्म" ही है इस से अधिक पुनर्जन्म की पुष्टि कदाचित् ही होसके आस्तिकों के लिये सर्वोपयोगी पुस्तक है मूल्य ≡)॥

भगवद्गीता भाष्य" यह पुस्तक छप कर तयार हो गया बहुत दिनों से अनेक ग्राहक महाशय इस की चाहना कर रहे थे वेद विरुद्ध श्लोक छोड़ कर इस का भाष्य संस्कृत और नागरी भाषा में अच्छा किया गया है जिस की उत्तमता ग्राहकों को देखने पर ही ज्ञात होगी मूल्य भी थोड़ा अर्थात् २।) पूरे का तथा जो लोग पहिले छपे ३ अध्याय ले चुके हैं उन को अ० ४ से १।) में मिलेगा। इस में ५ अध्याय बीच २ के छूट जाने से अब केवल १३ अध्याय का भाष्य हुआ है ॥

मांसभोजन विचार तीनों भाग का खण्डन अच्छे पुष्ट युक्ति प्रमाणों के साथ भिन्न२ पुस्तकाकार छप गया। प्रथम -)॥ द्वितीय =)॥ तृतीय ≡)। इन में भाग ३ का अथर्ववेद सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ विशेष कर देखने योग्य है ॥

"वैराग्यशतक" भर्तृहरिकृत मूल पर श्लोकार्थ और मनुष्यों को सचेत करने वाला भावार्थ भाषा में छपा है मू० ।) "पुत्रकामेष्टि" पद्धति यह पुस्तक बड़े परिश्रम से संग्रह कर के छपाया है जो उत्तम श्रेष्ठ पुत्र चाहते हों वा जिन के यहां केवल कन्या होती हों उन के पुत्र होने के लिये उपयोगी होगा पुस्तक दर्शनीय है मूल्य =)

४—चौथी सूचना यह है कि अनेक महाशय ओषधियों के विषय में पूछा करते हैं सो अन्य टिकिटदारों की अपेक्षा मैं "पं० हीरालाल शर्मा वैद्य डाक बविडाल जि०—अम्बाला" को अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी ओषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे। दीन दुःखियों को विना दाम भी ओषधियां देंगे। इन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है। "अमृताञ्जन" नामक औषध जो नेत्र रोगों के लिये इन्हों ने बनाई है ग्राहकों को मंगाकर परीक्षा करनी चाहिये॥

भवन्मित्रो-भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ८

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ श्रावण शुक्ल १ अगस्त सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(ता० ७ मई से जून ९७ तक ॥)

११४८ पं० चिरञ्जीवलाल शर्मा शिकोहाबाद १।)
१२२५ बा० पहलीलालजी निमाच १।)
२३१ पं० कृष्णलालजी नागर मथुरा १।)
१२३० ला० दामोदर जी भड़ोच १।)
१८५ पं० चन्द्रदत्त शास्त्री अलवर १।)
८६५ ला० मुकुन्दीलाल जी काज़िमाबाद १।)
९२३ पं० भगवानसहाय जी कासगंज ॥=)
७२८ श्री बा० निहालसिंह जी कर्णाल १।)
६८५ बा० रघुनन्दनप्रसाद सोनपुर १।)
१११३ पं० छेदीप्रसाद जी बलौदा बाजार १।)
९९७ ला० भिखारीलाल जी रायपुर २॥)
५६६ बा० माधवराव जी भण्डारा १।)
८२१ बा० गेन्दसिंह जी दुरग २॥)
८८६ पं० कामताप्रसाद जी हैदराबाद १।)
१२३१ पं० गदाधरप्रसाद जी बिलासपुर १।)
४६५ पं० सालिग्राम जी रायगढ १।)
१३६ बा० सेवकलाल जी मुम्बई १।)
१११९ बा० श्यामसुन्दरलाल उज्जैनि १।)
१०९५ बा० मनमोहनलाल जी भगवानपुर १।)
१६९ बा० रामभरोसलाल जी गाजीपुर १।)
१२२९ बा० कस्तूरीनारायण कानपुर १।)
१९३ ला० मन्नूलाल जी अनूपशहर १।)
१२२८ बा रामकृष्णलाल जी मुज़फ्फरपुर १।)
७५३ मास्टर दीवानचन्दजी नाहन १।)
५७४ हकीम रेवतीवल्लभ अनूपशहर १।)
७३५ ला० दमड़ीलाल जी पिनहट १।)
१०१ पं० मूलचन्दराव खैरागढ़ ॥)
२३१ मन्त्री आर्य्यसमाज-हर्दोई १।)
२१३ बा० रुस्तमसिंह जी कानपुर १।)
९०८ श्रीजयमंगल शर्मा सावरपुर १।)
७०४ ला० चिम्मनलाल जी सिलहट १।)
८०८ पं० कर्त्तोराम शर्मा जगरांव १।)
१२० भवानीदीन जी बहरायच १।)
५१९ बा० रामशरणलाल शिमला १।)
४०८ कुं० मथुरासिंह जी मैनपुरी १।)
१६६ पं० बेंचेलाल घुसेन १।)
३६८ पं० पुत्तूलाल जी मैनपुरी ।=)
११९६ श्री. मोहन प्राणजीवन त्रिवेदी रायपुर १।)
४८२ श्री रामगोपाल जी हथीन २॥)
५४८ श्री रामप्रसाद जगाधरी १।)
१०६५ बा० गंगाराम जी बिलासपुर २॥)
१२३२ गणेशदास जी पसरूर १।)
१०६७ बा० गंगाराम तालग्राम ॥=)
१२३५ पं० रामेश्वर बाजपेयी कलकत्ता १।)
४१० पं० रामजीमलशर्मा मक्कौलिया ५)
१२३७ महाराज सिंह वर्मा नगला रामसुन्दर १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(भा० ८ अं० ७ पृ० १४० से आगे आर्यतत्त्वप्रकाशकाउत्तर)

कस्तस्य रथस्थानीयस्यार्थं स्वाम्यधिष्ठाता हारियोजनस्तत्संबुद्धौ हे हारियोजन प्रकृष्टतेज इन्द्र ["स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । अथर्व १३ । ३ । १३" इति कथनान्मध्याह्नकालिकं सौर्यं तेज इन्द्रपदवाच्यम् ।] गोतमासो बहुषु गोषु स्तोतृष्वतिशयेन स्तोतारोऽस्मदादयो मनुष्याः [गौरिति स्तोतृनाम । निघण्टौ ३ । १६ । ततो गोशब्दादतिशायने तमप् प्रत्ययः] सुवृक्ति सम्यगनिष्टरजस्तमोवर्जकानि ते तव ब्रह्माणि वर्धकानि स्तोत्राणि स्तुतिवाक्यरूपाणि तव गुणोत्कर्षजनकमन्त्रानक्रन्नेव कुर्वन्त्येव कर्त्तव्यान्येव तादृशानि स्वहितसाधकानि स्तोत्राण्यस्माभिरिति । एषु गोतमेषु स्तोतृषु विश्वपेशसं सर्वप्रकारां धियमाधाः । प्रातःकाले प्रतिदिनं धिया कर्मणा प्रज्ञया वा

सहितं वसुः सुखेन वासहेतुकं धनादिकमस्मभ्यं मन्तु क्षिप्रमाः जगम्यादागच्छेत् ॥

भा०—सृष्टिक्रमानुकूलं यत्कल्यं वस्तु वा यतः सम्भवति यस्मात्कारणात्सर्वदा कालत्रयेऽपि भवति तस्मादेव कारणात्तस्य सम्भवो वेदेऽपि प्रदर्शितः। सर्वत्र वेदे प्रत्यक्षवस्तुनि मध्यमपुरुष योगोऽपि निरुक्तकाराभिमतएव तत्र सम्बोधनस्य स्वभावेनैव सम्बन्धः। शैलीयं वेदस्य नतु जडपदार्था अपि चेतनवन्मध्यमपुरुषयोगेन स्तुत्यर्हाइति भ्रमितव्यम्। यदि चेतनत्वेन तेषां पूज्यत्वमभिमतं स्यात्तदा प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषयोगाभिधानमनर्थकं स्यात्। परोक्षविवक्षया वर्णनेऽप्यग्न्यादिषु मध्यमपुरुषयोगः संबोधनं च वेदे क्वापि दृश्येत न च तथा दृश्यते तस्मात्प्रत्यक्षेण वर्णनापेक्षायामग्न्यादिषु मध्यमपुरुषप्रयोगः सम्बोधनं च न दोषावहम्। तेन यत्रयत्र वेदे मध्यमपुरुषेण संबोध्य वर्णनमुपलभ्यते तत्रतत्राग्न्यादिदेवतानां प्रत्यक्षेण व्याख्यानं बोध्यमिति वेदस्यान्तराशयः। तदनुकूलं चात्र—इन्द्रपदे तद्विशेषणे च मध्यमेन योगः सम्बोधनं च प्रत्येतव्यम्। यथा लोके कोऽपि वाक्यं वदेत् " वायुरयमायाति " तत्स्थाने वेदे " वायवायाहि " अत्र चाक्षरद्वयस्य लाघवं च प्रधानं प्रयोजनं नात्र कश्चिद्भेदो लौकिकवैदिकवाक्ययोरस्ति। यावच्च संसारे मणिरत्नसुवर्णादिकं धनं यच्च बुद्धितत्त्वं सर्वं तत्स्थूलसूक्ष्मस्य तेजसो विद्युदाख्यस्येन्द्रपदवाच्यस्य कार्यमस्ति। सर्वं च रश्मिमच्चक्षुरादिकं तैजसं सौर्यं वैद्युतमैन्द्रमिति वा कथ्यते सुवर्णं स्थूलधनेषु प्रधानं स्फुटमेव तैजसं लोके प्रचुरप्रचारम्। एवं गुणान्वेषणतत्परा गुणज्ञा अ-

तिशयेन गुणवर्णनशीला एव जना गोतमास्तएव च वेदवाक्यानि तत्रतत्र यथावसरं कुर्वन्ति कृतवन्तः करिष्यन्ति सर्वदा प्रयुञ्जते। अर्थाद् वाग्व्यापारमर्मज्ञ एव समयानुकूलं सम्यक् सत्यश्च कार्यसाधकं वचो वदति । ये सुवृक्ति ब्रह्माणि यथाकालं सम्यक् प्रयुञ्जते तएव गोतमा ये च गोतमास्तएव तादृग्वेदवाक्यानि कार्यकाले प्रयुञ्जते । हारियोजनेन्द्रदेवताकान्येन वेदवाक्यानि सुवृक्ति तमोगुणाज्ञानादिवारकाणि भवन्ति। यथा मध्याह्नस्थः सूर्यएवाखिलं गृहाद्यभ्यन्तरस्थमपि तमो वारयति। तेन च कर्मणा तेषु गोतमेषु सर्वविधा–ऐन्द्री धी धृता स्थिरा भवति तथा च बुद्धिपूर्वकं शुभकर्माविरोधि धर्मादनपकर्षकं धनं च लोकयात्रासिद्ध्यर्थं ते गोतमाः प्रतिदिनमाप्नुवन्ति । ये चैवं भूता जगति भवितुमिच्छेयुस्तैः पूर्वं वेदाध्ययनशीलैर्गोतमैर्भाव्यमनन्तरं च हारियोजनेन्द्रदेवताकानि वेदवाक्यानि यथावसरं प्रयोज्यानि तेष्वपि धीर्धीयते बुद्धिपूर्वकं धनं च तत्सन्निधौ प्रतिदिनमागच्छति तेन ते सुखेन जीवितुमर्हा जायन्ते ॥

भावार्थः–हे (हारियोजन—इन्द्र) पृथिवीस्थ पदार्थों से शीघ्रही जलादि को हरने वाले किरण जिस मध्याह्नस्थ सूर्य मण्डल के होते उस के सम्बन्धी प्रकृष्ट तेज (ते) तेरे अर्थात् प्रकृष्ट तेजोरूप विद्युत् शक्तिनामक इन्द्र का यथोचित वर्णन करने वाले तथा(सुवृक्ति, ब्रह्माणि गोतमासोऽक्रन्नेव) अच्छे प्रकार से रजोगुण वा तमोगुणरूप नाना प्रकार के पाप दोषरूप अनिष्ट को हृदय से निवृत्त करने वाले तथा सूर्य वा विद्युत् सम्बन्धी ज्ञान शक्ति को हृदय में बढ़ाने वाले स्तुति वाक्यरूप वेद मन्त्रों की स्तुति वा प्रशंसा का ठीक मर्म जानने वाले गोतम पुरुष अर्थात् वेदाध्ययनशील ऋषि लोग प्रयोगकरते ही हैं वा उन को करना उचित ही है अर्थात् अपने हितसाधक वैसे वेदस्तोत्रों का पाठ जप वा अभ्यास हम को अवश्य करना चाहिये । (एषु विश्वपेशसं धियमाधाः) ऐसा करने से इन

गोतम स्तोता लोगोंमें वह इन्द्र सब प्रकार की उत्तम सात्त्विक बुद्धिको स्थापित करता है (प्रातर्धियावसुर्मक्षु जगम्यात्) प्रतिदिन प्रातःकाल स्तुति करनेसे सुकर्म वा बुद्धि के सहित सुख से बसने का हेतु धनादि पदार्थ शीघ्र ही उन के निकट आता है उससे वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं ॥

भा०—सृष्टिक्रम के अनुकूल जो काम वा वस्तु जिस कारण से होना सम्भव है अर्थात् तीनों काल में जिस कारण से जो हो सकता उसी कारण से उस का सम्भव वेद में भी दिखाया है। वेद में सर्वत्र प्रत्यक्ष वस्तु में मध्यम पुरुष की क्रिया के साथ सम्बन्ध निरुक्तकारों के अभिमत ही है इसी से उस मध्यम पुरुष के साथ स्वभाव से ही सम्बद्ध संबोधन की परम्परा चली आती है सो यह वेद की शैली मात्र है किन्तु मध्यम पुरुष के सम्बन्ध से जड़ पदार्थ भी चेतन के तुल्य स्तुति के योग्य मान लिये हों ऐसा भ्रम नहीं करना। यदि चेतन भाव से उन का पूज्य होना अभीष्ट होता तो प्रत्यक्ष में मध्यम पुरुष का सम्बन्ध वेद में होता है यह कहना व्यर्थ हो जावे। और परोक्ष विवक्षा से वर्णन करने में भी अग्न्यादि में मध्यम पुरुष का प्रयोग और सम्बोधन वेद में कहीं दीख पड़ता पर वैसा नहीं दीखता इस से सिद्ध हुआ कि वेद में जहां अग्नि का प्रत्यक्ष वर्णन करना अभीष्ट है वहीं उन इन्द्र वा अग्नि आदि में मध्यम पुरुष का प्रयोग और सम्बोधन निर्दोष हैं। इस से जहां २ वेद में मध्यम पुरुष के साथ सम्बोधन करके वर्णन उपलब्ध होता है वहां २ अग्नि आदि देवताओं का प्रत्यक्ष से व्याख्यान जानो यह वेद का भीतरी आशय है। उस के अनुकूल ही यहां इन्द्रपद और उसके विशेषण हारियोजन शब्द में मध्यम पुरुष के साथ योग और सम्बोधन दिखाया जानो। जैसे लोकचाल में कोई वाक्य बोले कि " यह वायु चलता वा आता है " उसी के स्थान में वेद में " हे वायु आ" यहां अक्षरों का लाघव प्रसिद्ध वा प्रधान प्रयोजन है और इन लौकिक वैदिक वाक्यों में अन्य कोई भेद नहीं है। संसार में जितना मणि रत्न सुवर्णादि मुख्य धन है वा जो बुद्धिरूप तत्त्व है वह सब स्थूल सूक्ष्म अंश तेज नाम विद्युत् रूप इन्द्र का कार्य है अर्थात् इन्द्र कारण के होने से सर्वदा कार्य की सिद्धि होती है। वस्तु सुवर्ण आदि चमक वाले सभी पदार्थ तेज सूर्य वा विद्युत् नाम इन्द्र से उत्पन्न होने वाले कहे हैं। स्थूलधनों में सुवर्ण प्रधान है यह स्पष्ट ही

तैजस प्रसिद्ध है । इस प्रकार गुणों का खोज करने में तत्पर गुणज्ञ अतिशय कर गुण वर्णनशील ही पुरुष गोतम कहाते और वेही वेद वाक्यों को वहां २ यथावसर प्रयुक्त करते थे करते हैं वा करेंगे अर्थात् बोलने का मर्म जानने वाला (कि कहां कैसा वा कितना बोलना उचित वा अनुचित है) समयानुकूल सम्यक् और शीघ्र कार्य साधक वचन बोलता वा बोल सकता है । जो लोग अच्छे अनिष्ट से बचाने वाले वेद मन्त्रों का समयानुसार सम्यक् प्रयोग करते हैं वेही गोतम और जो गोतम हैं वेही वैसे वेद वाक्यों का कार्य के समय प्रयोग करते हैं । तथा पूर्वोक्त हारियोजन हरने वाले किरणों से युक्त सूर्य सम्बन्धी इन्द्र नामक विद्युत् का जिन में प्रतिपादन है ऐसे ही वेदवाक्य तमोगुणरूप हृदय के अज्ञानादि अन्धकार का निवारण करने वाले होते हैं । जैसे मध्याह्न समय का सूर्य ही घरों के भीतर तक के अन्धकार को हटाता है । और उस नियमानुसार श्रद्धा के साथ किये उस वेदाध्ययन कर्म से गोतम नामक वेदानुष्ठायियों में सब प्रकार की धारणावती उत्तम बुद्धि स्थिर होती और उस से शुभ कर्म तथा परमार्थ की ओर से न डिगाने वाला वा धर्म से डिगा कर अधर्म में न गिराने वाला अभ्युदय सुख का हेतु सब प्रकार का धन लोक व्यवहार सिद्धि के लिये उन गोतमों को प्रतिदिन प्राप्त होता है । जो लोग जगत् में ऐसी बुद्धि वा धन वाले होना चाहैं वे पहिले वेदाध्ययनशील गोतम बनें और तदनन्तर हारियोजन इन्द्र देवता वाले वेद वाक्यों का यथावसर यथोचित प्रयोग किया करें तो उन के भीतर भी धारणावती उत्तम बुद्धि ठहरसकती और उन के समीप हारियोजन सम्बन्धी धन भी प्रतिदिन आता है ॥

अब हम पूछते हैं कि ईसाई लोगों ने उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा इस मन्त्र के किस पद से लिया ? क्या वे लोग इस का कोई प्रमाण अपने पास रखते हैं ? हमारे पाठकों को इस का प्रमाण उन ईसाइयों से मांगना चाहिये । द्वितीय इस मन्त्र में " गोतमासः " पद आया है जो इस का अर्थ गौतम के पुत्र किया है । संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार गोतम के पुत्रों को गौतम कहते हैं। और गौतम के पुत्र गोतमासः कहावें यह ईसाइयों का मन माना घड़ू मिथ्या अर्थ है । कैसा आश्चर्य तथा शोचने का स्थान है कि ईसाई लोगों की ऐसी अन्धपरम्परा का कोई देखने वाला नहीं । इन लोगों का ऐसा वाग्जाल वा उद्योग

साधारण भोलेभाले वेदानुयायियों को केवल धोखा देने के लिये ही हो सकता है। हम प्रतिज्ञा पूर्वक बड़ी दृढ़ता से पुकार कर कहते हैं कि यदि ईसाई लोग प्रमाण पूर्वक अपने लेख को सत्य सिद्ध कर सकेंगे तो हम उन की अन्य बातों को समूल समझेंगे हमें ठीक सत्य निश्चय और विश्वास है कि ईसाइयों में संस्कृतज्ञ होने का अभिमान रखने वाला भी कोई पुरुष जन्मान्तर में भी अपने इस लेख को सत्य नहीं ठहरा सकता। लोक के अनुसार स्थालीपुलाक न्याय से (बटलोई का एक चावल टोने से सब का गलजाना सिद्ध हो जाने के समान) ईसाइयों का वेद विषय में किया सब प्रलाप सिद्ध हो गया अर्थात् इनका लेख मिथ्या ठहर जाने में हमारे पाठकों को अब कुछ भी सन्देह न रहेगा यह आशा है।

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त ३९ मन्त्र ८।

एतानि वामश्विना वर्द्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन् ॥

अर्थात् हे अश्विनी कुमार ये बड़ी प्रार्थनायें और सूक्त गृत्समदों ने तेरे लिये बनाये हैं ॥

आर्य—बहुत दिनों से विचार होते २ यह विषय ठीक निश्चित हो चुका कि अश्वि आदि शब्दों का अर्थ पौराणिक इतिहासों का आश्रय लेकर वेद में करना महा अज्ञान है। इस विषय में निरुक्तकारों को प्रथम ही भ्रम होने की सम्भावना हुई थी इसी लिये निरुक्तकार ने स्पष्ट लिख दिया है कि—

तत्कावश्विना द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके-इति नैरुक्ताः।

द्युलोक भूलोक, दिनरात, सूर्य चन्द्रमा, प्रकाश अन्धकार, देव असुर इत्यादि साथ२ बोले जाने वाले दो२ पदार्थ अश्वी पद के वाच्यार्थ वेद में लिये जाते हैं यह वेद के व्याख्याता वेदज्ञ निरुक्तकार लोगों का मत है। यदि कोई कहे कि जैसे तुम आर्यसमाजी लोग वेदके दोष हटाने के लिये अपनी इच्छा से अर्थ कर लेते हो वैसे निरुक्त बनाने वाले को भी पूर्वकाल में आवश्यकता पड़ी होगी वेद का खण्डन करने वाले कोई प्रतिपक्षी खड़े हुए होंगे निरुक्तकार भी तुम आर्यों के साथी हैं। तो इस का उत्तर यह है कि हमारे साथी तो निरुक्त-

कार्य अवश्य हैं परन्तु निरुक्त का लेख वेद का ठीक अभिप्राय खोलने के लिये है इस दशा में आकाश पृथिवी [जमीन आसमान] आदि अर्थ अश्विन पद का लेना वेद में ही स्पष्ट मिलता है उसी बात को निरुक्त में कहा तो सिद्ध है कि वेद कर्त्ता का अभिप्राय ही था कि अश्विनौ पद से द्यावापृथिवी [जमीन आसमान] आदि अर्थ लिया जाय देखो—

ईडे द्यावापृथिवी पूर्वचित्तयेऽग्निं घर्मं सुरुचं याम॑न्निष्टये । याभिर्भरे कारमंशाय जिन्वथस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम् ॥ ऋ० १ । ११२ ॥

इस सूक्त के २५ मन्त्रों में द्यावापृथिवी नामक अश्विनौ का वर्णन है इसी लिये प्रारम्भ में द्यावापृथिवी शब्द कह कर पीछे प्रत्येक मन्त्र में अश्विनौ पद आया है । इसी बात को दिखाने के लिये पहिले मन्त्र में द्यावापृथिवी शब्द पढ़ा है । इस कारण अश्विनौ पद से द्यावापृथिवीआदि अर्थ लेना वेद से ही सिद्ध हो गया । और रहा गृत्समद का विचार सो हम पहिले अङ्क में ही लिख चुके हैं कि वेद में लिखे सभी ऋषि और देवता किसी निज देहधारी के नाम नहीं हैं किन्तु सामान्य यौगिक अर्थ से जिस २ में वह अर्थ घटे उन २ सब काल में हुए मनुष्यादि के नाम हैं। सो " परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् „ इस मीमांसा सूत्र के अनुसार वेद के मन्त्रों में ही वेद के पदों का सामान्यार्थ मिलेगा उस का आशय लेकर ही मीमांसाकार ने वेद को सामान्यार्थ परक माना है । इस के भी हम वेद से अनेक प्रमाण दे सकते हैं पर यहां लेख बढ़ने के भय से नहीं लिखते इसी के अनुसार गृत्समद शब्द का अर्थ यह है कि—

गृत्सो गर्द्धोऽभिलाषो जगति सुखहेतुपदार्थप्राप्तये औत्कण्ठ्यं तेन गृत्सेन प्राप्त्यभिलाषेण माद्यतीति गृत्समदः । गृधु धातोरौणादिकः सः प्रत्ययः । अर्थाद् गृत्सपदं वेदेऽभिकाङ्क्षार्थपरं दृष्ट्वा पाणिनिना गृधुअभिकाङ्क्षायाम् । अयं धातुस्ततश्च—गृधिपण्योर्दकौ चेति सूत्रं प्रकल्पितमित्यध्यवसेयं विपश्चिद्भिः ।

काङ्क्षा अभिलाषा सुख के हेतु उत्तम पदार्थों की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठा का नाम गृत्स है उस गृत्स नाम प्राप्ति की अभिलाषा से जो प्रसन्न हो कि इस २ प्रकार के वेद पाठ ईश्वर प्रार्थनादि से मेरे ऐसे २ काम सिद्ध होंगे ऐसा २ धर्म करूंगा उस से ऐसा २ सुखफल होगा इत्यादि विचार से हर्ष मानने वाला पुरुष सब कोई गृत्समद कहाता है। इस विचार के अनुसार ऋग्वेद मण्डल २ सू० ३९ में उक्त प्रकार का गृत्समद पुरुष सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विपद वाच्यों की स्तुति करता है की थी वा करेगा वा कर सकता और करनी चाहिये। अर्थात् गृत्समद का अभीष्ट सिद्ध होना और अनिष्ट से बचना जितना सूर्य चन्द्रमा से सम्बन्ध रखता है उतना अन्य से नहीं इस कारण उस को अति आवश्यक है कि उन दोनों के गुणों का कीर्त्तन करे यही ऋग्वेद क्योंकि "वागेव ऋग्वेदः" तथा उन के तत्त्व का मनन करे यही यजुर्वेद क्योंकि "मनो यजुर्वेदः" और प्राणक्रिया के द्वारा उन से होने वाले सुख का अनुभव करे यही सामवेद है क्योंकि "प्राणः सामवेदः" ये शतपथ ब्राह्मण के वचन हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में वा प्रत्येक कार्य की सिद्धि में तीनों वेद का अर्थात् वेद की तीनों कक्षा वा सीढी से काम लेवे तो प्रत्येक कर्त्तव्य ठीक सिद्ध होता है। अश्विपद वाच्य सूर्य चन्द्रमा यहां एकदेशी नहीं लेने चाहिये किन्तु ये दोनों सर्वत्र व्याप्त दो तत्त्व हैं जो कि गृत्समद नाम किसी प्रकार सुख की चाहना रखने वाले प्रत्येक मनुष्य के शरीर में तथा सब संसार में व्याप्त हैं जिन का विशेष वर्णन मेरे बनाये प्रश्नोपनिषद् भाष्य में मिलेगा। इन्हीं सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विनों का नाम स्त्री पुरुष वा भोग्य भोक्ता भी है। आकाश में घूमते दीखने से जिन दोनों को इस ३९ सूक्त के १ मन्त्र में "गृध्रेव" दो गृध्र पक्षियों की उपमा दी है तथा ६ मन्त्र में " स्तनाविव " दो थनों की उपमा दी है। कि संसार में सब प्रकार का रस सूर्य चन्द्रमा से ही ओषध्यादि में आता और पीने के लिये जल इन्हीं दोनों से पृथिवी पर आता है। माता के दो थनों को पीकर जैसे बच्चे का पालन होता वैसे हम सब प्राणीमात्र की रक्षा इन्हीं दो तत्त्वों के द्वारा होती है। सूर्य चन्द्रमा नामक अश्विनौ का ही इस से अगले ४० सूक्त में सोमापूषणौ शब्दों से वर्णन किया है। यह विषय वा वेद का सिद्धान्त निर्विकल्प ऐसा ही ठीक है। इस में लेशमात्र भी सन्देह वा विकल्प तथा दोष

(भा० ८ अं० ७ पृ० १२८ से आगे ओम् का व्याख्यान त्रयीविद्या)

तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दस्त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तमृतुं वाचमध्यात्मं जिह्वां रसमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥

उस ओम् पद की प्रथम स्वर मात्रा अ, से पृथिवी, अग्नि, ओषधिवनस्पति, ऋग्वेद, भूर्नामक व्याहृति, गायत्रीछन्द, त्रिवृत्स्तोम, पूर्वदिशा, वसन्त, वाणी सम्बन्धी अध्यात्मविषय, जिह्वानाम स्वाद लेने वाला इन्द्रिय रसनाम रसना का विषय इन सब का अनुभव किया। अर्थात् पञ्चतत्त्वों में पृथिवी, ज्योतियों में अग्नि, स्थावरों में ओषधि वनस्पति, वेदों में ऋग्वेद, व्याहृतियों में भूर्, छन्दों में गायत्री, चतुष्टोमादि में त्रिवृत्स्तोम, दिशाओं में पूर्वदिशा, ऋतुओं में वसन्त, कर्मेन्द्रियों में वाणीनाम शास्त्र द्वारा हुआ अध्यात्म बोध कर्मेन्द्रियों में जिह्वा नाम रसग्राहिका इन्द्रिय शक्ति स्वरूप विषय ये सब उन २ में प्रधान प्रथम कक्षा [अव्वलनम्बर] गिने वा माने जाते हैं और यहां ओम् में अ, यह पहिली स्वरमात्रा प्रथमकक्षा है। और सोचने से यह भी स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि उन २ तत्वादि में उस २ पृथिवी आदि से ही मनुष्यादि प्राणियों का मुख्य वा अधिक काम निकलता इसीसे वह २ प्रधान है। हमारे शरीरों में अन्यतत्त्वों की अपेक्षा पृथिवीतत्त्व का भाग अधिक है इसी से न्याय शास्त्र में तथा वेद में मनुष्यादि के शरीरों को पार्थिव माना है। तथा पृथिवी से ही सब का भक्ष्य अन्न उत्पन्न होता पृथिवी ही हमारा आधार है वा पृथिवी ही अन्न है अन्न से ही प्राण की स्थिति है इस कारण तत्त्वों में पृथिवी प्रधान है। देवताओं में अग्नि मुख्य इस लिये है कि उस के दाह गुण से अन्न पकाना जाठराग्नि द्वारा अन्न पचने से जीवन रहना रात्रि तथा अन्धेरे घर आदि में दिन को भी दीपक जलने से काम चलना इत्यादि। ओषधिवनस्पतियों के फल पकने में अग्नि की

व्याप्ति प्रधान कारण है तथा उन फलों का ही नाम अन्न है जिस के भोजनद्वारा मनुष्यादि का मुख्य कर जीवन चलता और उन ओषध्यादि के शेषभाग भूसा आदि से पश्वादि का जीवन चलता है इस कारण स्थावरों में ओषधिवनस्पति प्रधान हैं। वाणी का धर्म पढ़ना पढ़ाना यज्ञ करना धर्मोपदेश जप पाठ स्तुति वेदाभ्यास शब्दोच्चारण द्वारा व्यवहार सिद्धि आदि की प्रधानता के कारण वेदों में ऋग्वेद प्रथम कक्षा वा मुख्य है। भूः पद के वाच्य प्राणादि अर्थों की प्रधानता से व्याहृतियों में भूः प्रधान है। सात वा चौदह छन्दों में गायत्री छन्द जिस में २४ अक्षर और तीन पाद होते वह गान के लिये तथा अर्थांश विषय में प्रधान होने से अर्थात् गायत्री छन्द का अधिकांश अग्नि देवता होने से प्रधान है। गायत्री शब्द से गान का अर्थ वेद में ही स्पष्ट लिखा है।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो ! ॥१॥

यह भी गायत्री छन्द ही है कि हे ईश्वर ! गायत्र छन्द जिन का है ऐसे ब्राह्मण लोग उस गायत्र छन्द से तुम को गाते वा स्तुति करते हैं। जो गाते हैं वे गायत्र वाले हैं जो गायत्र छन्द वाले हैं वेही गाते हैं। अर्थात् गाने के अच्छे प्रकार वाले छन्द गायत्र कहाते हैं। इत्यादि कारण गायत्र छन्द सब छन्दों में प्रथम कक्षा का है। तथा स्तोम नामक पञ्चदश सप्तदश आदि अनेक संख्याओं से वेद में स्तुति कही गयी हैं वा यों कहो कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञेय का व्याख्यान करने के लिये अनेक संख्याओं से उन २ विषयों वा सामान्य विषय का वर्णन वेद में किया गया है उन में त्रिवृत् नाम तीन आवृत्तियों भूर्भुवः स्वः, अग्नि वायु आदित्य आदि तीन २ नामों से वर्णन स्तुति वा स्तोम प्रधान है। चाहें यों कहो कि अन्तराल वर्णसङ्करादि भेद से मनुष्य वर्ग का अनेक संख्याओं द्वारा वर्णन करने की अपेक्षा द्विज नामक तीन वर्ण का व्याख्यान वा स्तोम प्रधान है। पूर्व दिशा में ही सदा सूर्य का उदय होता वा जिस दिशा में सूर्य का सदा उदय होता वह प्राची दिशा कहाती है उसी से अन्य दिशाओं का नियम वा उन के नाम बनते हैं इस कारण सब दिशाओं में पूर्व दिशा मुख्य है। ऋतुओं में वसन्त ऋतु सब से उत्तम शास्त्रानुसार लोक में भी माना जाता है। इसीलिये

वसन्त के आरम्भ में सब से बड़ा उत्सव होली नाम नवान्नेष्टि रक्खा गया है अन्न की सर्वोपरि उत्पत्ति वसन्त नाम चैत्र वैशाख में ही होती है इस से वैसा ही बड़ा वेदोक्त नवान्नेष्टि यज्ञ उस समय करने की रीति चलाई गयी थी। अविद्या की प्रबलता से वह यज्ञ की पृथा बिगड़ कर दुर्दशा रूप होली होने लगी। इस कारण सब ऋतुओं में वसन्त ऋतु प्रधान वा मुख्य है। अध्यात्मादि तीन प्रकार के विषयों में अध्यात्म विषय सर्वोपरि श्रेष्ठ इस लिये है कि—अध्यात्म विद्या का अन्त ही तत्त्वज्ञान कहाता वही मुक्ति का कारण है मुक्ति से ऊपर अन्य कोई कक्षा नहीं "विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठम्। ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्" इत्यादि वाक्यों से ज्ञान की प्रशंसा भी अध्यात्म विषय की उत्तमता दिखाने के लिये है। जिह्वा कहने से यहां रसनेन्द्रिय का ग्रहण जानो और उस का विषय रस ये दोनों इन्द्रियों और विषयों में वस्तुतः प्रधान वा अत्युत्तम हैं। इसी बात की सिद्धि के लिये भगवद्गीता में लिखा है कि—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

जब मनुष्य का परमार्थ ज्ञानकाण्ड वा योगाभ्यास की ओर जैसा २ विचार झुकने लगता है तब एक आहार-भोजन को छोड़ कर अन्य सब विषयों के भोग की इच्छा वा तृष्णा स्वयमेव निवृत्त होती जाती है विषय भोग में राग नहीं रहता उदासीनता बढ़ती जाती है। जैसे कि बाल्यावस्था में छोटे बच्चों की सब विषयवासना प्रसुप्त नाम दबी रहती हैं परन्तु आहार करने माता का दुग्धादि खाने पीने की एक इच्छा उन की भी प्रकट जागती रहती है। इसी प्रकार योगी यति संन्यासी महाविरक्तों की भी अन्य विषयों की इच्छा छूट जाने पर भी आहार बना रहता है। भोजन किये विना वे भी नहीं रह सकते परन्तु परमात्मा का ठीक २ बोध होने पर उनका भोजन भी छूट जाता है फिर भोजन छूटने पर वे लोग अधिक काल तक शरीर धारण नहीं कर सकते किन्तु शीघ्र ही उनका शरीर छूट जाता है। और उन ऐसे लोगों को शरीरान्त के पश्चात् विदेह मुक्ति भी अवश्य होही जाती है। इस से सिद्ध हुआ कि अन्य विषयों की अपेक्षा भोजन बड़ा विषय है जो उत्पत्ति के समय से ले कर मरण समय तक बीच में किसी प्राणी से वा योगी ज्ञानी से भी नहीं छूटता। इस प्रकार

ओम् की प्रथम मात्रा के साथ गिनाये पृथिवी आदि सब अपने २ वर्ग में उत्तम कक्षा में गिने वा माने गये हैं। जैसे प्रत्येक सभा वा समाज के सभापतियों की वा सब सभाओं के मन्त्रियों की एक सभा कीजाय वैसे यहां भी प्रत्येक वर्ग के उत्तम २ पदार्थों का संग्रह वा संयोग दिखाया गया है। जैसे उत्तम बुद्धि से उत्तम विद्या धर्मादि विषय का ही विचार अच्छा और उचित हो सकता है वैसे यहां सर्वोत्तम ओम् में भी उत्तम प्रथम मात्रा अ के साथ पृथिव्यादि उत्तम २ का मेल जानो वा उत्तम से उत्तम का अनुभव होना भी ठीक ही है। उत्तम तथा व्याप्त वाचक शब्द का उत्तम व्याप्त ही वाच्य होना न्यायानुकूल ठीक होता है। जिस के पास धन सम्पत्ति अधिक हो उसी का नाम धनपाल वा लक्ष्मीचन्द होना उचित न्यायानुकूल है। इसी के अनुसार ओम् जैसा उत्तम है वैसा ही उत्तम और सर्वत्र व्याप्त सर्वस्वामी उस का वाच्यार्थ परमेश्वर भी सबसे उत्कृष्ट है इसी बात को चाहे यों कहो कि उत्तम २ पृथिव्यादि सर्वोत्तम ओम् की प्रथम स्वर मात्रारूप अकार के व्याख्यान शाखा वा कार्य हैं। जब ओम् को सब का मूल मानना ठीक युक्त है तब उसी के अनुसार अकार की प्रथम मात्रा से ही पृथिव्यादि शब्द निकले यह भी कहना मानना अयुक्त नहीं है। इस विषय का व्याख्यान मूल वेदों में भी अनेक मन्त्रों में स्पष्ट विद्यमान है जहां प्रथम कक्षा वालों का प्रथम के साथ द्वितीय कक्षा वालों का द्वितीय के साथ स्पष्ट ही सम्बन्ध दिखाया है। जैसे—« प्राची दिगग्निरधिपतिः» इस अथर्वमन्त्र में अग्नि और प्राची पूर्व दिशा का सम्बन्ध। तथा यजुर्वेद अ० १५ मं० १० में प्राची दिक्, वसु, अग्नि, त्रिवृत्स्तोम, पृथिवी इन का सम्बन्ध तथा यजुर्वेद अ० १० मं० १० में प्राचीदिक्, गायत्री, रथन्तरसाम, त्रिवृत्स्तोम, वसन्त ऋतु, ब्रह्म द्रविण इन का एक साथ योग दिखाया है। इस को वास्तव में यों मानना चाहिये कि मूलवेद से लेकर ही ब्राह्मण ग्रन्थों में ओम् की प्रथम मात्रा के साथ पृथिवी आदि का सम्बन्ध दिखाया गया है सो यह विद्या सम्बन्धी विचार की प्रथम कक्षा है वा अर्थविद्या में पहिली विद्या यही है ॥

तस्य द्वितीयया स्वरमात्रया वायुं यजुर्वेदं भुवइति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः पञ्चदशं स्तो-

यं प्रतीचीं दिशं ग्रीष्ममृतुं प्राणमध्यात्मं नासिके गन्धं घ्राणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥

ओ३म्-की द्वितीय उ नामक स्वर मात्रा से तत्त्वों में वायु वेदों में यजुर्वेद व्याहृतियों में भुवर् छन्दों में त्रिष्टुभ् स्तोमों में पञ्चदशस्तोम दिशाओं में प्रतीची-नाम पश्चिम दिशा ऋतुओं में ग्रीष्म, अध्यात्म विषयकप्राण, इन्द्रिय शक्तियों में सूंघने की शक्ति घ्राण और विषयों में उसी इन्द्रिय का विषय गन्ध इन सब का अनुभव किया, करते हैं, करना चाहिये, वा उसी से इन का अनुभव हो सकता है अर्थात् जैसे के साथ वैसे का ही मेल न्यायानुकूल है। जब वायु शब्द का ऐसा विग्रह करें कि उ, आयु-वायु तो इस के आदि अन्त दोनों ओर में उकार माना जायगा। यजुर्वेद के आरम्भ के प्रथम मन्त्र में " इषेत्वा० " पढ़ा है। सो हमारे पूर्व लेखानुसार अ की द्वितीय दशा वा हालत रूप परिणाम का नाम इकार है इसी अंश को लेकर ईश्वरने इ अक्षर यजुर्वेद के आरम्भ में पढ़ा है और ऋग्वेद में (अग्निमीळे०) में अकार स्पष्ट ही है। जैसे अकार का परिणाम बदल कर ऋ अक्षर बनता है जिस को फिर से गुण करने लगते हैं तो अर् गुण हो कर अकार ही बन जाता है वैसे ही यजुः शब्द में जो य् प्रथमाक्षर है वह भी इकार का परिणाम है क्योंकि व्याकरण के नियमानुसार इ के स्थान में ही य् होता है वा यों कहो कि वेद के ऐसे गूढाशय को लेकर ही इ को य् करने का नियम व्याकरण में बनाया गया है। वायु शब्द भी यजु के प्रथम मन्त्र में ही पढ़ा है (वायवस्थ०) द्वितीय परिणाम वा द्वितीय कक्षा जताने के लिये ही यजु के आरम्भ में इ पढ़ा गया किन्तु इसी कारण उ अक्षर यजु के आरम्भ में नहीं पढ़ा परन्तु इ के साथ ही उ को द्वितीय कक्षा में लेना था इसीसे (इषेत्वोर्जेत्वा०) ऊर्जे शब्द में ऊ पढ़ा गया और इष् अन्न खाने के पीछे सदा सब को ऊर्ज नाम जल पीने की आवश्यकता होती है इसी कारण अन्न जल कहने में अन्न के पश्चात् ही जल शब्द का उच्चारण होता इस विद्यांश को दिखाने के लिये ही युक्ति युक्त सच्चे विचार से वेद का एक २ शब्द ठीक स-मझ के आगे पीछे रक्खा गया है। जैसे कि जाठराग्नि के उत्तेजित होने से भूख लगे तो अन्न चाहिये और तदनन्तर जल चाहिये। सो वाणीरूप अग्नि

के कार्य से अग्नि प्रदीप्त होता है अर्थात् ऋच् नाम स्तुतिरूप वाणी से अग्नि बढ़ना वा उत्तेजित होता है सो वेद में स्पष्ट भी लिखा है कि " अग्निाग्निः समिध्यते " वाणीरूप अग्नि से शरीर मुखादि में व्याप्त अग्नि उत्तेजित होता है । इस कारण ऋग्वेद के पश्चात् यजु की संख्या शब्द तथा वाच्यार्थ दोनों प्रकार के विचार से ठीक २ युक्त घटती है । वेद के इस गूढाशय को समझने के लिये जो महाशय पवित्र शुद्ध हो एकान्त बैठ एकाग्र चित्त से ध्यान लगा कर सोचेंगे तो उन को ईश्वर के अनन्त ज्ञान स्वरूप वेद का महत्त्व बड़े आनन्द का हेतु प्रतीत होगा । यद्यपि अ की द्वितीय दशा वा परिणाम इ है तथापि जैसे अन्न में जल और जल में अन्न दोनों दोनों में मिले रहते वा दोनों को साथ ही खाने पीने से एक काम चल रहा है दोनोंके मेल से एकही फल होता । परन्तु अन्त में जलकी प्रधानता रहती है क्योंकि मनुष्यादि प्राणी जितनी देर अन्न मिलने पर केवल जल से जीवित रह सकता है उस से आधे समय तक भी जल न मिलने पर केवल अन्न से जीवित नहीं रह सकता इसकारण दोनों में जल प्रधान है जो कि यजुर्वेद के आरम्भ में ऊर्ज्ज पद का अर्थ है । इसी के अनुसार अपनेर काम में इ उ दोनोंके मुख्य होने पर भी संयोगी सृष्टि आदि काम में उ प्रधान है और प्रधानके साथ अप्रधान गौण सदा ही तिरोभूत होकर न होने के समान रहता है । सो यहां ओम् की द्वितीयमात्रा उ में वाच्यार्थ की प्रधानता के साथ प्रधानता मानकर इ का तिरोभाव मानना युक्त ही है किन्तु इ दशा का अभाव नहीं है । यही जताने के लिये यजु के आरम्भ में इ अक्षर रक्खा गया । प्रथम कक्षा लोकों में पृथिवी द्वितीय अन्तरिक्ष, तथा अग्नि का रक्षक वायु द्वितीय कक्षा का है । जिसकी रक्षा करनी आवश्यक समझी जाती है वहां रक्ष्य वस्तु उत्तम कक्षा में तथा रक्षक उससे निकृष्ट रहता है जैसे स्वामी रक्ष्य और भृत्य रक्षक होता धर्म की प्रधानता से ब्राह्मण अधिकांश रक्ष्य और क्षत्रिय रक्षक होता जैसे वायुके न पहुंचने के स्थान में अग्नि दीपक आदि बुत जाते हैं इसी प्रकार शरीर में वायुरूप प्राण की धोंकनी चले विना जीवनरूप गर्मी क्षण भर भी नहीं ठहर सकती इस कारण रक्षक होने से वायु द्वितीय कक्षा में है। इसी के अनुसार यजुर्वेद आदि द्वितीय कक्षा में युक्ति युक्त ठहर जाते हैं । पूर्व लिखे वेद के मन्त्रों से अगले २ मन्त्रों में द्वितीय कक्षा के कई २ का सम्बन्ध

भिन्न २ स्थलों में दिखाया है । हमारे पाठक इस लेखको केवल उदाहरण मात्र मानें । जिन का सम्बन्ध युक्ति युक्त हम ने व्याख्यान द्वारा न दिखाया है उन का भी अभिप्राय शोचने पर ऐसा ही ठीक सत्य जान जायगा । वा हम को अपनी अविद्यासे कभी समझने में न आवे तोभी वेदमें कोई दोष न लगावें ॥

तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्यं सामवेदं स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सप्तदशं स्तोममुदीचीं दिशं वर्षा ऋतुं ज्योतिरध्यात्मं चक्षुषी दर्शनमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥

उस ओम् की तीसरी स्वरमात्रा नाम द्वितीय उकार से द्युलोक आदित्य साम वेद स्वः यह व्याहृति जगती छन्द सप्तदश सत्रहवां स्तोम नाम स्तुति उत्तर दिशा वर्षा ऋतु ज्योतिःस्वरूप अध्यात्म, चक्षु और रूप देखना विषय इन सब का अनुभव किया, करता और कर सकता है । लोकों में द्यौः देवों में आदित्य वेदों में सामवेद व्याहृतियों में स्वर् छन्दों में जगती स्तुतियों में सत्रहवीं स्तुति दिशाओं में उत्तर ऋतुओं में वर्षा अध्यात्म ज्योति इन्द्रियों में चक्षु और विषयों में रूप ये सब ओ३म् की तृतीय स्वर मात्रा के साथ तृतीय कक्षा में हैं । इन का भी सम्बन्ध पूर्व के समान जानो । प्रथम उकार के साथ इ वर्ण का संसर्ग पूरा माना जायगा और इस द्वितीय उकार को केवल तृतीय परिणाम मानना चाहिये । अकार का परिणाम लृ और उस लृ का परिणाम स है इस प्रकार अ का तीसरा परिणाम सामवेद का आद्यक्षर सकार और उकार तो स्पष्ट ही अ का तृतीय परिणाम है । ऐसे तृतीयपन में उ, स, दोनों का एक सम्बन्ध है । ओम् शब्द में दो उकार इस लिये माने गये कि प्लुत माने जाने की दशा में तीन मात्रा का ओकार बोला जाता है तो एक मात्रा अ की और दो मात्रा उकार की इस प्रकार तीन मात्राओं को जताने के लिये ही ओ३म् में तीन का अक्षर लिखा जाता है। ओकार में पहिले एक मात्रा अकार की और अन्त में दो मात्रा उकार की मानी जाती हैं ॥

तस्य वकारमात्रयाऽपश्चन्द्रमसमथर्ववेद-

नक्षत्राण्योमिति स्वमात्मानं जनदित्यङ्गिर-सामानुष्टुभं छन्दः, एकविंशं स्तोमं दक्षिणां दिशं शरदमृतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमि-तीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥ २० ॥

ओम् के त्रिमात्र ओंकार के अन्त में और म् से पूर्व एक हल् वकार कोई लोग मानते हैं। यह व् उ का ही परिणाम अवस्थान्तर है। जैसे अ से द्वितीय उ तृतीय तथा उ का परिणाम चौथा व् है क्योंकि यणादेश कहने में उ को ही व् होता है। अ का चौथा दर्जा व् है इसी चौथे दर्जे के साथ अप् आदि का सम्बन्ध है। जैसे उ को यणादेश होने पर व् बनता वैसे दिव् वा सूर्य से गर्मी का परिणाम अप् नाम जल बनते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा आदि सभी चौथे नम्बर में घट जाते हैं ॥

तस्य मकारश्रुत्येतिहासपुराणं वाकोवाक्यं गाथा नाराशंसीरुपनिषदोऽनुशासनानामिति बृधत् करद् हन् महत्तच्छमोमिति व्याहृतीः स्वरशम्यनानातन्त्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्राण्य-न्वभवत्। चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं छन्दस्तृणवत् त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ ध्रुवामूर्ध्वां दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्रमध्यात्मं शब्द श्रवणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥ २१ ॥

यह गोपथ ब्राह्मण १ प्रपाठक के १७ खण्ड से २१ तक पाठ लिखा गया है।

ओ३म् ॥

अथ शान्तिविचारः ॥

ओ३म् । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ यजु० अ० ४० मं० १ -

(दोहा—छन्दः)

जोकुछप्रभु! याजगतमें, दर्शतजगतअनूप । सोसर्वावृतआपसों, सर्वकालसुस्वरूप ॥
कर्त्ताधर्त्ताविभुस्वयं, हर्त्ताकारणकाज । प्रकृतिआत्मप्रतिईशतुम्, ब्रह्मसत्यस्वराज ॥
याविधिसबकेभोगसब, बसतनाथ! तवसाथ। तदपिनभोगततजतहो, कर्मनफलशुभक्वाय॥
धन्य २ त्यागीपरम्, न्यासीधन्यविशाल । परकाजीसाजीक्रिया, परिव्राजीत्रैकाल ॥
याहीकारणनीतिनिज, वेदकियेउपदेश । भोगतत्यागीभोगजन, बहुहोउनहिंलेश ॥
तवशिक्षायहउरबसै, अहंकारबिनुदम्भ। सहिनमामिप्रभुकरतअब, शान्तिविचारारम्भ

अथ प्रथम शतकम् ॥

(दोहा—छन्दः)

अवर्णसुवर्णांतरढक्यो, रह्योआपघमकाय। जोसुवर्णपरपगधरततिनहिंअवर्णलखाय ॥
कालन्यूनकर्त्तव्यबहु, रहेयहांक्योंसोय । योंसोवतजोरहेचित!, तोकससोवनहोय॥
रहितआशफलकर्मकर, जबलोंजगमेंजीव । योंमृत्युतरअमृतहिं, शान्तिचित्तहुपीव ॥
जेद्वैजानैसोमनिधि, वसैतृतीयकेबीच। शान्तिभवनजिहछन्दकहि, नहिंतहँजन्मनमीच॥
जगमत अन्तरपटसमक्ष, प्रभुदर्शनकेहेतु । दूरीपगउनपरमधर, लखोवेदसतसेतु ॥
एकादशगोगहिनशक्ति, जाहिशान्तिसुखकेत। सत्वतरबद्वारामिलै, जबहोचितनचिकेत॥
मनरुकिरहिसंसारसों, यामेंजोकछुसार।सोसबस्वामीपासतब, फिरक्योंफिरतउदार॥
बन्धनजगधनधनीहैं, निर्बन्धनधनहीन । यासोंचितधनसंगतज, शान्तिहोयशमलीन॥
निरमिषहूनिरपेक्षहू, कीजैआत्मविचार । मनुजजन्मकोफलयही, शिक्षाचारउचार॥
रागनहोवैरागसों, तबहूँसतवैराग । द्वेषनहोटुकद्वेषसों, शान्तिग्रहणात्याग ॥
नामरूपसोंप्रीतितज, करइन्द्रिनस्वाधीन। बुधयाविधिहोमनस्वी, चितहूँशान्त्यासीन॥
छलियायासंसारमें, सारअसारमिलान । पृथककरतहुँशान्ती, उदयहोयविज्ञान ॥
जगतचलतजाचालपर, दुक्खहिदुक्खलखाय। तूताकेप्रतिकूलचल, शान्तिचित्तमतपाय॥

मुक्तिशान्तिनालीनमें, अर्थसंघटितज्ञान। यासोंतृष्णामुक्तिलय, तजस्वामीनिजमान ॥
दृकदर्शनयेशक्तिदो, अबलोंहोतनभिन्न । तबलौंनाहोशान्ती, जाभवबन्धनछिन्न ॥
यासोंनित्यउपायकर, योगिकक्रियानुसार । जैसोमुनिवरपतञ्जल, भाष्योसूत्रविस्तार॥
विषसमानसबविषयतज, यमनियमनअभिसेव। सप्तद्वारसोंशान्तियों, प्राप्तहोयस्वरदेव॥
लाभसंगसोंहर्षना, नादुकखेदअलाभ । लाभालाभसमानता, होतशान्तिउरभाव ॥
धीरसारथिहयरोकिगो, मनप्रग्रहकरलेय । शान्तिमार्गहूँ चलारथ, रथिकोंजोहितदेय॥
हेप्रभु?ऐसीकृपाकर, जोमुहिकोमतमन्द । समुझैंगगसमुझोंनहीं, योंहुहोंनिर्द्वन्द ॥
मित्रशान्तहोंउदितरिपु, साधैंनिजरकाम। प्राप्तहोयनिष्कामता, याविधिचित्तविराम॥
नीरनवर्षैंक्षेत्रमें, उगैंनअन्नअनेक । भोग शान्तिजबहोंभवी, तबमिलिहोंप्रभुएक ॥
प्रेयप्रीतित्यागैंसकल, चित्तशून्यचितिहोय। याविधिभवसागरतरौं, ईशतरावोसोय ॥
वियोगहोजबयोगको, सिद्धहोयतबयोग । ताप्रतिदृढ़अभ्याससों, मिलतआत्माभोग ॥
दुक्खदुक्खप्रत्यक्षहैं, सुखहेतूदुखजान । सबविधिदुखरूपीजगत, सुखकहंहैंपहचान ॥
ममत्वकारणपांचजो, त्रिगुणयुक्तभववेद । होयशून्यगुणशान्तिजब, रहैशेषनाखेद॥
गुणकारणबन्धनगुणी, करतजगतसबकोहु। गुणविहीनश्रेयसविचर, आत्मशान्तिसोंहोय॥
मेरामेराक्याकहै, तेरानाहिंशरीर । ज्ञान चक्षुपट खोलकर, भाषत योंमतिधीर ॥
गृहवित्तचिन्ताक्याकरै, यहगृहबन्धनहेतु। गृहसोंसतगृहपहुंचजा, जानसिंधुभवसेतु ॥
क्योंभोगनभाग्योफिरै, भोगभागिरहितोहु। भोगनबलशमभोगहि, पुनिनाभागनहोहु॥
ज्ञानअग्निकोरोकिमन, सप्तस्रोतकरबन्द। यापीयुषबलस्वामिलव, पावहिंशान्तिअनन्द॥
प्रणवमार्गद्वारागमन, करोआत्माआप। निश्चयस्वामिमिलापहूँ, श्वासश्वासप्रतिजाय॥
जोमिलनासोहीमिलै, अनमिलनानमिलात। तृष्णा?क्योंकूदीफिरै, उतउतआवतजात॥
प्रवृत्तिसाधननिवृत्तिकौं, धीरकर्मकरनित्ययों। विपाकत्यागैसकल, होयशान्तिचितसत्य॥
तबस्वामीअबनबनत, रहतस्वामिनिजपास । महाकल्पपर्य्यन्तलौं, विचरैंज्ञानउजास॥
हृदयरूपहूँक्योंढकत, ममस्वामीमतिहीन। यहद्रष्टानारुकिसकै, लियोसत्यप्रियचीन॥
एकादशद्वारेछिकैं, बसतहंसजहिकोट । सत्यमार्गपहचानले, ऊर्ध्वगतीकीओट ॥
निर्मानीनिर्द्वन्द्वहो, निर्मोहीजितसंग । पाणिपात्रीदिगम्बर, विचरशान्तितटगंग ॥
जन्ममृत्युयेनित्यहैं, अहर्निशासमजान । शोचनकरइनकोचतुर!, मोक्षमार्गपहचान ॥
यावतस्वस्थशरीरहै, यावतमृत्यूदूर । तावतहितकरआत्मा, भाषतयोंबुधपूर ॥
अमृतसमअपमानगहि, विषवततजसन्मान। दशलक्षणयुतधर्ममेंयों, सेवोचतुरसुजान॥
अनिकेतीअनपेक्षी, शुचिदक्षसंतुष्ट । अनिकेतोयोगीयती, लहैंशान्तिशमइष्ट ॥
अर्कअग्निचन्द्रादिदिव, नाहिंप्रकाशैताहि। दिव्यहोतसबदेवता, जाहिदिव्यतापाहि॥

शान्तिविचारः ॥

सोमअकउर्योंपानकर, वर्षैपरहितनीर। तिमिसद्गुणअमितृप्तिहू, वर्षजगतयतिधीर॥
आनदमोदप्रमोदमुद, सकलकामनाअन्त। चखिचखिअमृतपानजिह, अमलपूर्णमनसन्त॥
प्राप्तसच्चिदानन्दजब, स्वामीप्राणविशाल। त्रिभुवनपतित्वारसविरस, होयशान्तताकाल॥
सबजगसोंवैरागलव, पश्य आत्मगोजीत। मृततरअमृतशान्तिलय, अमबुधकहतअतीत॥
तूजासोंअतिदूरहै, वहतेरेहीपास। तूतहँहोयप्रत्यक्षजब, करैजगतसंन्यास॥
देवरहितवहदेवता, प्रगटैदेवअनेक। ताहिप्राप्तहूदेवसब, गहैंशान्तिअभिषेक॥
करोमित्रमाताहिसों, विश्वमात्रजोमित्र। याविधिसबहोंमित्रजब, संशयरखोनचित्र॥
जाकेपासनविश्वहै, विश्वहोयजाहिपास। ताविश्वम्भरपासअब, चलचितकरैंनिवास॥
जोदेवन आधीनना, देवजाहि आधीन। यासों देवनद्वारहू, आत्मदेवपति चीन
यहकायाभोगादिप्रिय, तजतआत्मदुखबीच। इनकेनेहीहोवना, चाहोशान्तिअमीच॥
परअर्थनसाधकप्रकृति, कहीपतञ्जलयोग। अर्पणपरउपकारकर, देहऔरसबभोग॥
जोबलदाताआत्मसब, जाहिउपासतदेव। अमृतमृत्यूछायस्वर, ताहिशान्तिचितसेव
जोप्रसिद्धसोसिद्धना, सत्यसिद्धअप्रसिद्ध। ताहिसिद्धिकरयोगिजन, होतशान्तिसंऋद्ध॥
अभिलाषीआनन्दसत, सबजगआनदत्याग। अष्टअंगविधियोगसों, करोअनन्नीयाग॥
दैनलैनसद्गुण करो, जबलोंत्रयगुणसंग। यागुणगहिगुणपृथकसब, होतआत्मबिनरंग॥
ऋतहितसतश्रद्धासहित, वदोवेदउपदेश। सत्यसेतुवारीशतर, भवरहिशेषनक्लेश॥
जहांवस्तुसोंद्वेषना, नहींमुक्तिसोंराग। ताहिशान्त्यागारबस, धरचितसतवैराग॥
लखतअसतमेंसतसदा, भोगनमेंअपवर्ग। बुधजनयोंभवभारकों, करतचित्तउत्सर्ग॥
कौनसहायकजगतमें, देखोनयनपसार। यासोंचितहू शान्ती, करनितआत्मविचार॥
यहजगतोकोंतजैगो, एकदिवसलेशोच। यासों तू तजपूर्वही, देख अचेतनलोच॥
चित्तक्षेत्रजितहितकरैं, युद्धज्ञानअज्ञान। तूचितइनसोंपृथकरहि, दोऊकरैंपयान॥
भोगऔरअपवर्गके, मिलेप्रेमयुतमूल। तिनमेंवसपापीभयो, गयोजीवपतिभूल॥
जोपुनितरनीनाचढ़ो, तोकरनीकरलेउ। योंदुखपूरितसिन्धुभव, तरतरनी तजदेउ॥
ब्रह्मजीवनाहूसकै, जीवब्रह्मनाहोय। मंत्रसुपर्णाऋक्कहे, आत्मसनातनदोय॥
जीवनकर्त्ताभोक्ता, कहिनाकरोकुकर्म। याविधिनात्रैकालमें, मिलैशान्तिस्वरशर्म॥
भूतभविष्यतिस्थिती, वर्त्तमानमेंजान। सतकारणहैकार्य्यजग, मिथ्याकभीनमान॥
होयरज्जुमेंसर्पभ्रम, सोभ्रमकारणसत्य। भ्रमगतहूद्वौसर्परजु, लखिनचिकेतानित्य॥
स्वप्नमूलजाग्रतसमुझ, जोगतहोप्रत्यक्ष। ताहिवृत्तिप्रतिबिम्बकों, क्योंजगकहैअनक्ष॥
यासोंमोक्षस्वरूपप्रिय, ईश्वरअनुचरजान। उपमासनजबप्राप्तहो, करगुणकर्मसमान॥
ईशभिलाषा ईशकी, जोतृष्णाहैतोय। तोभवबन्धन सोंपृथक, तूकदापि नाहोय॥

असम्भूतिसंभूतिद्वौ, श्रद्धासहितउपास । अमृतहोमृतसोंतरै, पावैशान्तिसुवास ॥
बुद्धिआदिसम्भूतिजग, असम्भूतिप्रभुतोर। साधनसहसुसाधकरहै, गहिसतसिद्धिअछोर॥
सेवजुकेवलएकया, कल्पिअन्य में अन्य, । सोमृत्यूकाहूविधी, तरैनप्रकृतीजन्य ॥
विद्याविद्याअर्चविनु, अर्च्यनहोसतप्राप्त । यासोंदोउनसेवसंग, जोभाषीविधिआप्त ॥
मूलअविद्याक्लेशहै, विद्यामूलअक्लेश । क्लेशाक्लेशीअर्चमृत, तजगहिअर्च्यअशेष ॥
जेसेवेतूएककों, सेवनसकिहैएक । पुनिदोउनमिलजन्ममृत, तवमतिहोयअनेक ॥
तवजगजेप्रियमित्रअलि, सोसतविद्वअमित्र । प्राप्तहोनवेदेतमा, निःश्रेयससुखमित्र॥
ज्ञानीज्ञाननजानसकि, अज्ञानीसोजान । अनन्तज्ञानीज्ञानको, कहिश्रुतियहपहचान॥
सतकोहोयअभावनहिं, असतहोयनहिंभाव । तत्वदर्शियेभाषते, सद्सतभावाभाव ।
सतगुरुविनुगरुजगतमें, सतगुरुनाहिंमिलात। यासोंसतगुरुसंगकर, होसतगुरुकोंप्राप्त॥
सुतुल्यस्याधीतश्रुति, यज्ञउऋणविनुतात । मोक्षेच्छुकसहयातना, पुनिरयमपुरजात ॥
भूतलोकसबदिशाप्रति, आत्मस्थिपरमात्म। लखिपरीरयगहिशान्तितू, यहीतत्वअध्यात्म।
जिहअक्षरऋवव्योमअज, स्थितिहैतत्रिकाल, । सोअवर्णहैसवर्णकों, जपताकोंस्वरचाल॥
गुरुसोतेंशिक्षालई, शिष्यनशिषलइदेत । यासोंगुरुलखिविप्रवकों, होअचेतचितचेत ॥
जिनगेसाधनमुक्तिके, कियेसिद्धसतबुद्धि । तिन्हेंमुमुक्षुनदानदे, मुक्तिहोयतप्रसिद्धि ॥
भूर्भुवःस्वःवित्तसुत, त्यागप्रतिष्ठालोक । अभयदानसबप्राणिदे, ब्रह्मलोकअवलोक ॥
अनन्तज्ञानीबुद्धिविनु, बुद्धीदेतप्रबोध । वमविवेकअद्भुतगती, ताहिउपासुसुबोध ॥
अपारगामीमनरहित, मनहिंकरैगतिदान। होअनुगामीशान्तिचित, ताउपासपवमान॥
श्रोत्रशून्यअतिश्रोत्री, श्रोत्रशक्तिदातार। शब्दश्रावणीयुक्तसत, तबउपास्यचितधार ॥
त्वचनभस्पर्शीमहा, त्वक्स्पर्शबलवीर्य्य । ताहिआत्मकरिस्थिती, स्वउपासस्वरधीर्य्य॥
असीमपश्यतिचक्षुखं'काशीचक्षुप्रकाश। पश्यआत्मप्रतिपश्यपुनि, करउपासतहिआश॥
अनन्तवादीवाकविनु, वाकवाककारूप। वाकपासकर"ओ३म्"से, जोअकायअनरूप॥
अनन्तप्राणीप्राणविनु प्राणकप्राणसुदेव। तासनउपआमनरहो, शान्तिलेउसुखसेव ॥
षटदर्शनसम्पन्नहै, वेदपारगहितत्व । प्राप्तहोयफलयाविधी, निश्चयास्तिकासत्व ॥
तीनतीनआराध्यकर, वोधआत्माएक । सतदृष्टीमुनिभावसों, विचरोलोकअनेक ॥
दोषनिप्राणायामदहि, सर्वइन्द्रियनतात । करशुद्धीअन्तःकरण, सत्यधारणाप्राप्त ॥
ओं ३म् ओं३म्आहारकर, तरत्रआत्माभोग । वेदयुग्मगुणदेहतज, होयनपुनिसंयोग ॥

इति शान्ति विचारे प्रथमशतकं समाप्तम्

वर्णवाणनन्दार्कगणि, सम्वत्विक्रमराज । श्रावणकृष्णापंचमी, अहरसोमसुविराज ॥
वासष्टावाकरनगर, प्रथमशतकउच्चार। बुधजनप्रतिसन्मुखधरों, जसचितशान्तिविचार
भूलचूकअज्ञानताक्षमा, करोसबकोइ। शुद्धशब्दविद्वनूकरो, जहंअशुद्धिकछुहोइ ॥ इति

सूचना

सब महाशयों को विदित होकि ऐतरेयोपनिषद् का भाष्य छप गया। मूल्य भी केवल ।≈)॥ मात्र है मनुष्य को कर्त्तव्य का ध्यान दिलाने चिताने जगाने के लिये यह उपनिषद् भाष्य अतिही उपयोगी है।

अन्य नये छपे पुस्तक—

मनुस्मृति का सर्वोत्तम सृष्टि, सामान्य धर्म, संस्कारों का वर्णन, ब्रह्मचर्याश्रम और पञ्चमहायज्ञों के पूर्ण व्याख्यान सहित भाष्य प्रथम जिल्द ३ अ० तक मूल्य ३) भगवद्गीताभाष्य क्षिप्त श्लोक वा प्रकरणों को छोड़कर सर्वोपयोगी योग सांख्य-वेदान्त धर्म कर्मादि का वर्णन मूल्य २।) मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा किया गया है कि जिसको देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं। प्रथम का मू०-)॥ द्वितीय =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिख गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारतोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई "पुत्रकामेष्टि" पद्धति इसका मूल्य अत्यन्त कम =) है स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाणसहित -)॥ भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सजीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सब्जेक्टकमेटी -)॥ अबला विनय ≡)॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे यदि कोई महाशय गणरत्नमहोदधि १००० विक्रयार्थ लेवें तो उन को छपाई के खर्च मात्र में भी पुस्तक मिल सकेंगे। सो पत्र द्वारा निर्णय करें।

भीमसेन शर्मा

श्रीमद्दयानन्दविश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय ता० १ मार्च से ३० जून सन् ९७ तक

११९८-)—चन्दा इस प्रकार इटावास्थ महाशयों का ५) डा० प्रभूलाल जी ४) बा० हीरालाल जी पेनधर ४॥) श्रीमान् पं० भीमसेन जी शर्मा ४) पं० दंगीलाल जी ३) लाला गणेशीलाल जी ४) बा० सुखीलाल जी वकील ।-) रामप्रसाद जी मुंसरिम ॥।) बा० पूर्णसिंह जी २॥) मुंशी रामस्वरूप जी भक्त १) मा० गुन्दीलाल जी ३) पं० रामजीमल जी २) छेदीलाल जी बजाज १।) ला० कन्हैयालाल जी दूकानदार २) बा० शिवचरणलाल जी वकील ३) बा० मथुराप्रसाद जी वकील ५) पं० केदारनाथ जी ॥।) पं० बनवारीलाल जी ३) बा० गंगासहाय जी ओ० सि० २) पं० मातादीन जी वकील ।) पं० भैरवदत्त २) लल्लू मिस्त्री १।) कन्हैयालाल लक्ष्मीनारायण जी ॥) बा० नन्दकिशोर जी ३) पं० बुद्धसेन जी यह इटावा नगर का चन्दा है ॥ २०) बा० घनश्यामदास जी कलकत्ता २०) सेठ जयकृष्णदास अमृतसर ५) बा० उमाकान्त जी कलकत्ता ५) पं० सत्याचरण जी कलकत्ता ४) चौ० पद्मसिंह जी सुन्दरपुर ॥

२३॥।=)—सहायतार्थबाहिर से ५॥।=) श्री भवानीसिंह जी मन्त्री आर्यसमाज मुरादाबाद ३) बा० कालीचरण जी ने पं० बद्रीप्रसाद जी के संन्यस्त संस्कार में दिये २=) पं० प्रयागदत्त जी चौबे जलालाबाद पुत्र विवाहोत्सव में १॥।=) माधोराम नायब तहसीलदार बदाऊं ७) केदारनाथ जी अम्ला १) बच्चीलाल जी अहरवा १) पं० तुलाराम जी उपदेशक आ० प्र० स० राजस्थान १) निरंजनसिंह जी सौरी गढ़िया। इस के अतिरिक्त १।≡)॥ फुटकर ९=)॥ पाठशालीय १५०) रु० का व्याज ३१ । ३ । ९७ ई० तक का ३२) पुस्तकों की बिक्री के १२॥-)। गतशेष ३०) केवलराम विद्यार्थी ने स्वभोजनार्थ जमा किये सर्वयोग २२७=)।

परमेश्वर दाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे। उक्त चार मासों में २२४-)॥ इस प्रकार व्यय हुआ ८०) रु० पं० श्यामलाल जी अध्यापक ४ मास का वेतन ५) सुन्दरलाल द्वि० को पांच मास का हिसाब पढ़ाई मध्ये ८) कहार को चार मास का वेतन ४) चन्दा उघाने की बाबत ४) चौकाबर्तन कराई मध्ये ५॥≡)॥ रसोइया का दो मास का वेतन १॥) पाठशाला के मकान का किराया १ मास का ५॥।≡)॥। पात्र पाठशालार्थ ५।)॥ वस्त्र १७) पुस्तक शिक्षाध्याय की छपाई ११॥।=)॥ फुटकर १) जीवाराम विद्यार्थी को शेष ८२॥≡)। छात्रों के भोजन में व्यय इन मासों में ७ विद्यार्थी पाठशाला से भोजन पाते रहे। अब का शेष ३)॥। रहे ॥ ह० मि० द० कोशाध्यक्ष पाठशाला कमेटी—इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ९

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ भाद्रपद शुक्ल ४ सितंबर सन् १८९७ ई० ता० १

« १६१ आर्यतत्त्वप्रकाश भा० ४ का उत्तर—
पृ० १६९ सत्यार्थविवेक का उत्तर

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(मास जौलाई ९७)

१६३ हरगोविन्दप्रसाद जी फैजाबाद १)

१०३ पं० ज्वालादत्तजी शर्मा झालावाड़ १।)

७५५ श्री नारायण प्रसाद जी पांड़े चरखारी १।)

६४९ श्रीलक्ष्मीनारायण दीक्षित भिण्ड ॥।)

१२३६ रामसिंह गेटमेन आसारवा १।)

९८८ उमरावसिंह जी मन्त्री आर्य्यसमाज पीलीभीत २॥)

३१८ बा० सीताराम जी क्लर्क लखनऊ १।)

७५६ बा० गंगाप्रसाद जी मुक्तसर १।)

११० बा० मुन्शी राम जी जालन्धर २॥)

८६१ बा० लक्ष्मणदास मुजफ्फराबाद १।)

१०७८ डा० रामलगन जी सिहोरा १।)

२५६ पं० परमात्मा दीन जी रंगीत पुरवा १।)

१२४० महेशीलाल जी तिवारी मन्त्री आर्य्यसमाज सीतापुर १।)

४०७ पं० रामाधीन जी मिश्र मुगेली १॥।=)

१२३८ दामोदर चतुर्वेदी जी अम्बाला १।)

१२४१ पं० भायसिंह जी तहसीली स्कूल बरेली १।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ९

यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे ॥

(भा० ८ अं० ८ पृ० १४८ से आगे आर्यतत्त्वप्रकाश का उत्तर)

नहीं । गृत्समद् लोग ईसाइयों में तथा अन्य यवनादि में भी किसी न किसी कक्षा के होते तथा हो सकते हैं और वे अश्विनी नामक सहयोगी दो २ तत्वों की स्तुति वा गुणकीर्त्तन भी करते हैं वा उन को करने पड़ता ही है चाहें यों कहो कि अन्न जल रूप सूर्य चन्द्रमा को वा इन अश्विनी कुमारों को सभी प्राणी सदा चाहते हैं इन में अन्न, प्राण, सूर्य, एक कोटि तथा मन चन्द्रमा जल सोमादि द्वितीय कोटि है दोनों के संयोग से संसार भर का जीवन चल रहा है । इस प्रकार के व्याप्त वेदाशय के अनुसार वर्त्ताव करने से ईसाई मूसाई वया संसार भर का कोई प्राणी कभी बच सकता है? फिर वह यदि वेद का खण्डन करता वा उस को बुरा समझता है तो पाठक महाशय शोचिये वह अपने इष्ट वा मन्तव्य का ही खण्डन करता है । अब आशा है कि इतने लेख से हमारे पाठकों को ईसाई कृत द्वितीय आक्षेप का समाधान ठीक ज्ञात हो जायगा ॥

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त १६ मन्त्र २०-२१ ।

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णो ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम् । अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥

अर्थात् हमने उत्पन्न करने वाले और वरदान देने वाले इन्द्र के लिये एक प्रार्थना बनाई है जैसा कि भृगु ने एक रथ बनाया है । फिर हे घोड़ों के स्वामी तेरे लिये हमने एक नई प्रार्थना बनाई है ऐसा हो कि हम अपनी इस प्रार्थना के द्वारा रथों और अक्षय ऐश्वर्य के स्वामी हो जायें ॥

आर्य—ईसाई लोगो ! अब सचेत हो जाओ अन्धाधुन्ध मन मानी धांगने का अब समय नहीं रहा । इस में सन्देह नहीं कि वेद के विषय में अज्ञान बहुत पूर्व काल से संचित होता आया है । वही बिगड़ा सामान तुम लोगों के हाथ पड़ा है और जो लोग पक्षपात को अपने पास ठहराते हैं उन को ऐसा ही सामान मिल सकता है । सो स्मरण रक्खो कि तुम्हारी धींगा धींगी अब नहीं चलेगी । अब वेद सूर्य का पुनः उदय होने की पूर्ण आशा होती जाती है । ऐसा अन्धेर अब नहीं चलेगा कि गौतम के पुत्रों को तुम लोग गौतम कहा करो । तुम लोग क्या यह सत्य मान लोगे कि “स भोजनं करोति” कोई कहे कि वह भोजन करता है तो तुम मानोगे कि वह भोजन बनाता है कोई कहे कि “स गमनं करोति” तो तुम अर्थ करोगे कि वह गमन नाम चलने को बनाता है । क्योंकि तुम्हारे मत में करोति धातु का अर्थ बनाना ही है । पर तुम में कोई संस्कृत का लेश भी जानता हो सो यही बता देवे कि संस्कृत में करने को क्या कहते हैं अर्थात् भाषा में कोई कहे कि “ मैं ईश्वर की स्तुति वा प्रार्थना करता हूं ” इस भाषा वाक्य का संस्कृत में अनुवाद कहें तो सीधा २ यही होगा कि “अहमीश्वरस्य स्तुतिं प्रार्थनां वा करोमि ” तो क्या तुम लोग भाषा वा संस्कृत का यही अर्थ करोगे कि “ईश्वर की स्तुति प्रार्थना को बनाता हूं ” ऐसे यहां सर्वथा ही दृष्टान्त से विरुद्ध इन लोगों का वेद विषय में कहना है । जब करोति धातु के अनेक अर्थ लोक में भी सिद्ध हैं तब वैसे ही वेद में भी मानेंगे अर्थात् कृ धातु की कल्पना और करने के अनेक अर्थ वेद से ही लोकव्यवहार में भी

आये हैं। ईसाइयों के पास कौनसा प्रमाण है? उस को उपस्थित क्यों नहीं करते? कि इस प्रमाण से वेद के उस २ प्रकरण में करने का अर्थ बनाना ही है अन्य नहीं। जब इन लोगों को ऐसा प्रमाण जन्मान्तर में भी नहीं मिल सकता इस कारण इन का अर्थ प्रमाण शून्य मिथ्या है। अब हम उस मन्त्र का अर्थ लिखते हैं॥

अ०—भृगवोऽन्तरिक्षस्थानदेवताः किरणा रथं रमणहेतुं प्रकाशं यथा कुर्वन्ति तथैव वृषभाय वर्षकाय वृष्णे बलवीर्यहेतवे इन्द्राय विद्युदाख्याय ब्रह्म वेदस्तोत्रमकर्म कुर्याम कुर्मः कृतवन्तो वा वयम्। भृगवइत्यन्तरिक्षस्थानदेवतासु निघण्टौ पठितम्। रथशब्दस्य यौगिकः सामान्योऽर्थः। अथमाशयः—यथा रश्मयएव पृथिव्यां प्रकाशं कुर्वन्ति प्रकाशएव च सर्वे प्राणिनो रमन्ते चेष्टन्ते सुखं वा लभन्ते रात्रौ चातएव स्वपन्ति। एवं वेदस्तोत्रैर्यथार्थगुणप्रकाशनेन स्वस्वदेहस्थेन्द्रगुणप्रकाशनेन सुखमाप्तव्यं मनुष्यैः। नहि कोऽप्येकदेशीन्द्रोऽस्यापितु व्यापकएव तस्येन्द्रतत्त्वस्योद्बोधनेन शरीरात्मबलं सर्वैर्जनैर्वर्धयितव्यमिति॥

हे हरिवो हरणशीलरश्मिवन् इन्द्र! ते तुभ्यं नव्यं शुद्धं सदैव नूतनवस्तुवद्यथार्थबोधेन मनोहरमेव ब्रह्म वेदस्तोत्रं मयाऽकारि क्रियते प्रयुज्यते। नव्यमिति क्रियाविशेषणं वाऽस्ति तथा च मया तुभ्यं ब्रह्म नव्यमादावेव क्रियते। यत्नयेन तस्मिन् जन्मन्यादौ वेदाभ्यासः कर्त्तुमारभ्यते तेनतेनैवं शक्यते वक्तुम्। तेन नव्यब्रह्मप्रयोगेण धिया रथ्यः प्रकाशवन्तः सदासाः ससेनानास्तव प्रकाशरूपं भजमानास्त्वदीयाङ्गना शची प्रज्ञा सैवेन्द्राणी तस्याः शच्या बुद्धेः सत्त्वगुणात्मिकाया दासत्वेन सह वर्त्तमानाः प्रत्यगात्मविचारतत्पराः सदा भवेम॥

अयमाशयः—विद्युच्छक्तिरेव सदा वृष्टिहेतुर्मनुष्यादिशरीरेषु यः पराक्रमो वीर्यमोजो वा लक्ष्यते स सर्वएव तैजसस्तैजसप्रधानो वास्ति । तेजसः सूक्ष्मतत्त्वस्य द्वितीयः परिणामश्चेन्द्रपदवाच्यस्तस्यैवेन्द्रपदवाच्यस्य स्त्रीत्वसहचारिणी बुद्धिरतएव शचीति प्रज्ञानामसु निघण्टौ पठितम् । प्रकृतेर्महानित्यत्रापि द्वितीयः परिणामो महत्तत्त्वं सैव बुद्धिरिति लोकाश्च शचीपदेनेन्द्रपत्नीं मन्यन्तएव तच्चेदं वेदादेव सर्वं निस्सृत्य लोकेऽपि प्रवृत्तम् । यथाऽग्निसंगेन शीतं निवर्त्तते तथाऽत्रापि प्रकाशरूपेन्द्रस्य गुणकीर्त्तनेन प्रज्ञा विवर्धते तेनेष्टाभीप्साऽनिष्टजिहासा च सुकरा जायते । अतएव मन्त्रे धियेति तृतीयान्तं पदमुच्चारितं धिया सार्द्धं सदासा ससेवना वयं स्याम । लोके यदा कोऽप्यादावेव यत्करोति तदा वदति नव्यं मयेदं कृतमिति स चायं व्यपदेशो वेदादेव लोकआगतोऽस्ति । तथा च यन्न जीर्णं समलं वा भवत्यपितु निर्मलं शुद्धमजीर्णं मनोहरं च यद्दृश्यते तन्नूतनमित्युच्यते । तच्च यथा सद्योनिर्मितवन्नवं भाति तद्वद् यन्न कदापि जीर्यति मलिनी भवति वा सदैव त्रिकालाबाध्यं शुद्धं लक्ष्यते तदपि नवमिदमिति व्यपदिश्यते । अयं च नवपदस्यार्थो वेदवल्लोकेऽपि सम्भवति । तस्मान्नव्यपदेन वेदस्य कृत्रिमत्वान्वेषणमाकाशे निष्ठीवनवदेवानुमीयते । एवं च नास्त्यनयोर्मन्त्रयोः कश्चिदपि दोषः ॥

भाषार्थः—(भृगवो रथं न वृषभाय वृष्णा इन्द्राय ब्रह्माकर्म) भृगु नाम अन्तरिक्ष में रहने वाले किरण रथ नाम सुख पूर्वक चलने फिरने आदि के हेतु प्रकाश को जैसे करते अर्थात् किरणों से जैसे प्रकाश ठीक २ होता है वैसे वर्षा

होने के हेतु तथा बल पराक्रम शरीरों में बढ़ाने वाले इन्द्र नाम विद्युत् शक्ति के लिये हम लोग वेद के मन्त्रों को प्रयुक्त करें वा करते हैं करते थे वा करेंगे। भृगुवद् अन्तरिक्षस्थान देवता का नाम निघण्टु में पढ़ा है तथा रथ शब्द का सामान्य यौगिकधात्वर्थ लिया गया है ॥

आशय यह है कि जैसे किरण ही पृथिवी पर प्रकाश पहुंचाते और प्रकाश में ही सब प्राणी रमण करते वा सुख को प्राप्त कर सकते हैं अन्धकार में कुछ नहीं होता इसी से रात्रि को सब सो जाते हैं। इस प्रकार वेद के स्तोत्रों द्वारा सब पदार्थों के यथार्थ गुणों का प्रकाश करने के साथ अर्थात् अपने २ शरीर में स्थित इन्द्र तत्त्व के गुणों के प्रकाश से मनुष्यों को सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। इन्द्र कोई एकदेशी वस्तु नहीं है किन्तु सर्वत्र व्याप्त है उस इन्द्र तत्त्व के उद्बोधन द्वारा शरीर और आत्मा का बल बढ़ाना चाहिये ॥

तथा हे (हरिवः ! ते नव्यं ब्रह्माकारि) हरणशील किरणों वाले इन्द्र ! तेरे लिये नये वस्तु के तुल्य यथार्थ बोध से मनोहर शुद्ध निर्दोष वेद के स्तोत्र का मैं प्रयोग करता हूं। नव्यपद यहां क्रिया का विशेषण भी हो सकता है तब यह अर्थ होगा कि मैं तेरे लिये वेद का आज नया प्रयोग करता हूं। उस जन्म में जो २ पुरुष पहिले २ वेद के अभ्यास का आरम्भ करता वह २ ऐसा कह सकता है। इस नवीन वेदाभ्यास से हम लोग (धिया रथ्यः सदासाः स्याम) बुद्धि द्वारा रमण के हेतु सात्विक प्रकाश के सेवन करने वाले होवें। इन्द्र की स्त्री इन्द्राणी को शची कहते हैं वह इन्द्राणी वा शची निघण्टु में लिखे अनुसार बुद्धि का नाम है उस सत्त्वगुणस्वरूप बुद्धि का सेवन करने वाले हम सदा हों॥ अभिप्राय यह है कि बिजुली की शक्ति ही सदा वर्षा का हेतु तथा मनुष्यादि के शरीरों में पराक्रम वीर्य वा ओज दीखता है वह सभी रुधिर की स्वच्छता अधिकता वा निर्दोषता से होने के कारण तैजस वा तैजसतत्त्व की प्रधानता से होता है। सूक्ष्म तैजसतत्त्व का द्वितीय परिणाम इन्द्र कहाता है। इसी कारण ऋग्वेद में प्रायः अग्नि सूक्तों के आगे इन्द्र सूक्तों का पाठ स्पष्ट दीख पड़ता है सो अग्नि देवता प्रथम मुख्य तत्त्व है उस के वर्णन के पश्चात् क्रमागत उस के अगले परिणाम इन्द्र का वर्णन न्यायानुकूल ही है। उस इन्द्र पद वाच्य के साथ रहने वाली स्त्रीलिङ्ग बुद्धि इन्द्र की स्त्री है। इसी लिये शची नाम इन्द्र

की स्त्री इन्द्राणी निघण्टु में बुद्धि के नामों में पढ़ी है । तथा प्रकृति से द्वितीय परिणाम महत् होता है उसी महत्तत्त्व का नाम बुद्धि है । संसारी लोग शची पद से इन्द्र की पत्नी को स्पष्ट ही समझते हैं । सो यह सब मानना वेद से ही निकल के लोक में फैला है अर्थात् इन्द्र और इन्द्राणी एक ही कोटि में हैं एक ही के अङ्ग हैं इसी लिये (प्राची दिगग्निरधिपति० । दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपति०) इन मन्त्रों में प्रथम कक्षा में अग्नि और द्वितीय कक्षा में इन्द्र आया है । प्रत्येक वस्तु की स्त्री शक्ति उस २ के साथ रहती है । जैसे अग्नि के समीप बैठने से शीत की निवृत्ति होती है वैसे यहां भी प्रकाशरूप इन्द्र के गुणों का कीर्त्तन करने से बुद्धि बढ़ती है तब से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति सहज में सिद्ध हो जाती है । इसी लिये मन्त्र में धिया यह तृतीयान्त पद कहा गया है कि "बुद्धि के साथ हम प्रकाश का सेवन करने वाले होवें" लोक में कोई पहिले ही जिस काम को करता है तब वह कहता है कि मैं ने यह काम नया किया सो यह व्यवहार वेद से ही लोक में भी आया है । और जो जीर्ण वा मलिन नहीं होता किन्तु सदा निर्मल शुद्ध जीर्ण दोष रहित मनोहर दीखता है वह चाहे कभी बना हो वा न बना हो नवीन कहा वा माना जाता है । वह जैसे हाल के बने पदार्थ के तुल्य निर्मल प्रतीत होता है वैसे जो कभी जीर्ण वा मलिन नहीं होता सदैव तीनों काल में एक रस शुद्ध ही दीखता है वह भी यह नया है ऐसा कहा जाता है । यह नव पद का अर्थ वेद के तुल्य लोक में भी दीखता है । इस कारण नव्यपद से वेद के कृत्रिम होने की चेष्टा दिखाना ऊपर को थूकने के समान है । इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों में कोई भी दोष नहीं ॥

अब हम ईसाइयों से पूछते हैं कि "उत्पन्न करने वाले" यह मन्त्र के किस पद का अर्थ है ? ।

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ५४ मन्त्र ६

अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ॥

अर्थात् नयी प्रार्थना के बनाने वाले बृहद्रथ ने इन्द्र के लिये एक उत्तम और अद्भुत सूक्त बनाया है ।

आर्य—यहां भी यदि कोई शब्दार्थ व्यवस्था वेत्ता ईसाइयों से पूछे कि नयी प्रार्थना, या अद्भुत सूक्त किस २ पद का अर्थ है यह बताओ ? तो आकाशकी ओर देखने के बिना और ये क्या कह सकते हैं ? । अर्थात् कुछ भी नहीं क्योंकि ऐसा कोई पद ही नहीं है । पाठक महाशय ! प्रत्येक पद का अर्थ देखिये—अध—अब । प्रिय—पियारा । शूष—बल । इन्द्राय—इन्द्र के लिये । मन्म—मानना । ब्रह्मकृतः—वेद से स्तुति करने वाले । बृहदुक्थात् -बहुत वा अच्छा बोल सकने वाले से । अवाचि—कहा गया ।

अथेत्यनन्तरं प्रियं सर्वहितसाधकं सुखहेतु मन्म शूषं मननबलं ज्ञानबलमात्मिकं बलमिन्द्राय बृहदुक्थाद् महावाक्शक्तेः पुरुषाद् ब्रह्मकृतः कथितं भवति । शूषमिति निघण्टौ बलनामास्ति ब्रह्मकृतइत्यस्य हेतुगर्भविशेषणं बृहदुक्थादिति पदम् । महती कथनशक्तिश्च तस्य तस्य विषयस्य सम्यग् विज्ञाने सति सम्भवति यश्च सम्यग्जानाति सएव सम्यग्वक्तुमर्हति सम्यक्कथनशक्तिकारणाच्च ब्रह्मणो वेदस्य तेन सम्यक्प्रयोगः क्रियते तस्मादेव ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादिन्द्राय सम्यग्गुणाः कथिता भवन्ति । एवं नात्र कोऽपि निजः पुरुषो बृहदुक्थपदवाच्यः केनाप्युपपादयितुं शक्यः प्रमाणाभावात् वैदिकशब्दानां सामान्यार्थपरत्वे प्रमाणबाहुल्याच्च ॥

भा०—(अध प्रियं मन्म शूषमिन्द्राय बृहदुक्थाद् ब्रह्मकृतोऽवाचि) इस के अनन्तर सर्वहितकारी सब को प्रिय ज्ञान बल वा आत्मिक बल इन्द्र के लिये बड़े स्तोता वेद के प्रयोक्ता पुरुष से कहा गया । ब्रह्मकृत शब्द का हेतु गर्भ विशेषण बृहदुक्थपद है कि जो जिस विषय को मर्म सहित ठीक यथार्थ जानता है वही उस विषय को अधिकता के साथ विस्तार पूर्वक कह सकने के कारण बृहदुक्थ कहाता और जो अच्छे प्रकार कह सके वही वेद का व्याख्याता वा यथावसर वेद का प्रयोग करने वाला हो सकता है ऐसा पुरुष इन्द्रसम्बन्धी आत्मिक बल

के विषय में जो कहे वही तत्त्व होगा । क्योंकि ऐसा पुरुष ठीक ही कहेगा वा जो ठीक कह सके वह वृहदुक्थ कहावेगा । इस प्रकार इस वेद मन्त्र का निर्दोष सत्यार्थ ठहर जाता है । तब किसी निज पुरुष को वृहदुक्थ बताना सर्वथा प्रमाण शून्य है तथा सामान्य धात्वर्थ से वेद के अर्थ करने में अनेक प्रमाण हैं ॥

ईसाई—ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र ६

प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥

अर्थात् ऐसा हो कि यह नये भजन जो आप की महिमा के विषय में बनाये गये हैं और यह प्रार्थनायें आप को प्रसन्न करें ॥

आर्य—हम कृत और नव दोनों शब्दों की व्यवस्था तथा सिद्धि पूर्व लिख चुके हैं जिस से वेद के अनित्य होने वा किसी निज के बनाये होने का दोष सर्वथा दूर हो जाता है । द्वितीय यह कि नव शब्द "णु स्तुतौ" धातु से बनता है इस कारण स्तुति के योग्य अच्छे निर्दोष को नव कहते और नव शब्द से स्वार्थ में यत् प्रत्यय हो कर नव्य शब्द बनता है । और इसी अभिप्राय से लोक में भी वह २ वस्तु उत्तम प्रशंसनीय होनेसे नया कहाता है । इस कारण मूल यौगिक अर्थ से भी दोष दूर होजाते हैं । संक्षेप से मन्त्र का अर्थ यह है कि—

मित्र नाम सूर्य तत्त्व जो प्राणरूप से प्रत्येक शरीर में सब चेष्टाओं का प्रेरक तथा सोमनाम वरुण जिस को चन्द्रमा भी कहते हैं जो मनरूप से सब शरीरोंमें व्याप्त है इन दोनों को, मैंने प्रयुक्त किये ये स्वच्छ पवित्र अच्छे वेद स्तोत्र (ऋचसे) नाम स्तुति के लिये (प्रजुजुषन्) विशेष कर प्रसन्न सन्तुष्ट करें । प्राण और मन की प्रसन्नता ही सब इष्ट सुखों का कारण है । और समझ पूर्वक एकान्त बैठ श्रद्धा के साथ वेद द्वारा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करने से मन और प्राण की शुद्धि वा प्रसन्नता अवश्य ही होती है । और जो होता वा हो सकता है वही प्रार्थना द्वारा मांगा जाय यही उचित है । इस प्रकार यहां भी व्यापक निर्दोष वेद का निर्विकल्प अर्थ घट जाता है । अर्थात् उक्त मन्त्र के मित्रावरुण देवता हैं तथा "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" इस ब्राह्मणग्रन्थस्थ के अनुसार प्राण और मन वा अपान आदि अर्थ सप्रमाण सिद्ध है ॥

(भाग ८ अङ्क ३।४ पृ० ८० से आगे सत्यार्थविवेक का उत्तर)

तो उपासना तुम्हारे मत में कदापि नहीं बनेगी । तुम को जगत् भर में ऐसा कोई दृष्टान्त भी न मिलेगा कि एक में उपासना बता सको । उप नाम समीप में आसना नाम स्थित होना वा करना उपासना कहाती है जब एक ही वस्तु है तो कौन किस के समीप में स्थित हो सकता है । यदि कहो कि जो आदित्य में पुरुष है वह मैं हूं यह कल्पनामात्र है तो फिर हमारा द्वैत पक्ष सिद्ध हो गया । हम तो मानते हैं कि जो वास्तव में दो वस्तु शरीरादि जगत् में होते हैं उन में विरोध को सर्वथा हटाना और परस्पर अधिक मेल मित्रता एक दूसरे के सुख दुःख में सर्वथा सहायक रहना जब इष्ट होता है तब वे दोनों मनुष्यादि अपने मेल की अधिकता वा सर्वथा अविरोध दिखाने वा प्रकट करने की इच्छा से कहते मानते हैं कि जो हम हैं सो वे हैं जो वे हैं सो हम हैं हम और वे दो २ नहीं हैं । हम वे तो एक ही हैं यह व्यवहार केवल लोक में ही नहीं किन्तु ग्रन्थकारों ने भी ऐसा व्यवहार किया है जैसे भर्त्तृहरि ने लिखा है कि—

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।

तुम्हारी हमारी पहले ऐसी बुद्धि थी कि जो तुम हो सो हम हैं और हम हैं सो तुम हो हम तुम दो २ नहीं हैं । यह व्यवहार अत्यन्त मेल में किया जाता है । इसी के अनुसार मुक्तदशा प्राप्त करने के लिये जीव उस उपास्य देव के साथ एकता करता उस के साथ मेल बढ़ाता लेशमात्र भी उस से विरुद्ध करना नहीं चाहता तभी उस की कृपा द्वारा इस के अनिष्ट की निवृत्ति होती है । इसी अभिप्राय से ईश्वर के साथ जीव का अभेद नाम अविरोध दिखाया है सो ऐसे विचार को मानने से कुछ दोष नहीं आता ।

साधुसिंह कहते हैं कि—(हंसः शुचिषद्०) इस मन्त्र में अद्रिजा नाम परमेश्वर का आने से शालग्राम आदि मूर्त्ति पूजा, गङ्गा यमुना आदि नदी भी परमात्मा का रूप हैं तथा अतिथि पद के आने से साधु संन्यासी भी ईश्वर के रूप हैं यह सिद्ध हो गया चाहें जिस की पूजा करो ईश्वर की ही पूजा होगी ।

उ०—गङ्गादि नदियों का ईश्वर होना मन्त्र के किस पद से अर्थ लिया गया ? ! । साधुसिंह जी ! इतनी भागा भूगी क्यों करते हो सीधा यही क्यों न मानलो कि सभी रूप ईश्वर से बने तो सभी ईश्वर हैं क्या जिन आर्यशिरोमणि

स्वामि दयानन्द सरस्वती जी को तुम अपना विरोधी मानकर बुरा कहते कपट भिक्षु आदि विशेषण देते हो क्या वे तुम्हारे मतानुसार ब्रह्म नहीं थे ? यदि कहो कि थे तो तुमने ब्रह्म से ही विरोध किया उसी को बुरा कहा, यदि कहो कि नहीं थे तो तुम्हारे विरोधियों के ब्रह्म न होने से भेदवाद सिद्ध हो गया। अद्रि शब्द का अर्थ यद्यपि वेद के कोश में मेघ है और मेघ से होने वाला अद्रिजा जीवधारी इस से माना जायगा कि मेघ से ही अन्नोत्पत्ति हो कर प्रजा के प्राणी जन्मते हैं अर्थात् पृथिवी में वृष्टि होकर गेहूं जौ आदि ओषधि ओषधियों से अन्न अन्न से वीर्य वीर्य से प्राणिदेह बनते हैं इस में मेघ प्रधान है। "वृष्टेरन्नन्ततः प्रजाः" इस मनुवाक्य से भी यही प्रयोजन है। तथापि अद्रि पहाड़ का भी नाम है और उस से होने वाले छोटे २ पत्थर अद्रिजा कहे जावें यह सम्भव है परयह तो बताइये कि पहाड़ किस से उत्पन्न हुए ?। जब कि सब जगत् का उपादान तुम ब्रह्म को मानते हो तो पहाड़ भी उस से हुए मानोगे फिर उस विकाररूप कार्य पहाड़ से पत्थर का टुकड़ा रूप ब्रह्म उत्पन्न हुआ तो जब कार्य्य से मूर्त्ति बनी तब वह कार्य का कार्य कहाता परमात्मा क्यों वा कैसे हो गया ?। जैसे कोई कहे कि पृथिवी से घड़ा बना और घड़ा से फिर पृथिवी उत्पन्न हुई क्या ऐसे लेखों से तुम लोगों को लज्जा भी नहीं आती कहते लिखते समय यह तो शोच लेते कि हम क्या कहते हैं। वा यही सिद्धान्त मान बैठे हो कि "मुखमस्तीति वक्तव्यम्" ॥

इस से आगे साधु० ने (द्वा सुपर्णा सयुजा०) इस मन्त्र के द्वारा स्पष्ट सिद्ध होने वाले जीवात्मा परमात्मा तथा प्रकृति तीन पदार्थों के सनातन भेद सिद्धान्त को पूर्वपक्ष में रखकर यह लिखा है कि "तिन दोनों का प्राण बुद्धि उपाधि भेद कर भेद हमारे सिद्धान्त में स्वीकृत है।" प्रयोजन यह कि प्राण और बुद्धि दो प्रकार की भिन्न २ दो उपाधियों के कारण दो सुपर्ण मन्त्र में कहे गये हैं वस्तुतः दो आत्मा अलग २ नहीं हैं किन्तु एक ही है। उस मन्त्र में कहे दो सुपर्णों में से एक प्राणोपाधि ईश्वर अभोक्ता प्रकाशक साक्षीरूप है जिस का वर्णन इस निम्न लिखित मन्त्र में बतलाते हैं:-

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्ति-

तस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम् ॥४॥ ऋग्वेद म० १० । ११४ । ४ ॥

एक सुपर्ण नाम प्राण वायु समुद्र नाम अन्तरिक्ष को प्रवेश करता है । सोई प्राणोपाधिक परमात्मा इस विश्व भुवन नाम सर्वलोक को विचष्टे नाम पश्यति प्रकाश करता है । तिस प्राणदेव को अध्ययनकाल में माता जो वाक है सो रेढि नाम अपने आप में लीन कर लेती है । और तूष्णीभाव काल में वा स्वाप काल में वो प्राण देव मातरं नाम वाक् को अपने आप में लीन कर लेता है । तिस प्राण देव को पाक नाम परिपक्व मन करके मैं उपासक अन्तिम नाम अपने हृदय कमल में अपश्यं नाम देखता भया इत्यादि—

उ०—यह पूर्वोक्त सब लेख साधुसिंह का है । (द्वा सुपर्णा०) मन्त्र में एक यही सुपर्ण है जो इस मन्त्र में वर्णन किया गया है इस के लिये साधुसिंहने कोई प्रमाण नहीं दिया केवल इन की मनमानी बात है । और प्रमाण देते ही कहां से इस के लिये कोई प्रमाण वेद से मिल ही नहीं सकता । कल्पित निर्मूल विचार प्रमाण शून्य होने से ही त्याज्य कहाते हैं । और प्राणोपाधिक अर्थ करना भी ठीक नहीं है । इस लिये इस मन्त्र का अर्थ हम लिखते हैं:—

अ०—एकः सुपर्णः शोभनपतनशीलः सूर्यः समुद्रमन्तरिक्षमाविवेशाविशति । सम्यगूर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यापोऽस्मिंस्तदन्तरिक्षं समुद्रपदवाच्यम् । अनेनैवार्थाशयेन निघण्टौ समुद्रमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । एवं च समुद्रपदस्य विस्तृतार्थपरत्वकथनं साधुसिंहस्य निर्मूलमेव विज्ञेयम् । स चेदं विश्वं सर्वं भुवनं पृथिव्यादिकमुत्पत्तिधर्मकं विचष्टे विशेषेण दर्शयति चक्षूरूपेण पश्यति वा दर्शनसाधने सूर्यस्य प्रधानत्वाच्चक्षुष्ट्वम् । सूर्यादेव चक्षुरपि द्रष्टुं शक्नोति । अतएवोक्तं वेदे—"चक्षुः सूर्यो दधातु मे" सूर्य एव चक्षुषी दधाति कारणत्वात् । तं सर्वत्र व्याप्तं प्रकाशसमवेतं

प्रकाशमयं सूर्यतत्त्वं पाकेन प्रशस्येन सोमकार्येण शुद्धेन मनसाऽहंमन्तितोऽपश्यं समीपादेव पश्यामि। योहि मनसा सूर्यतत्त्वं पश्यति स प्रत्यगात्मविचारे रममाणः प्रकाशप्राबल्यात्सत्त्वगुणप्रधानो जायते बुद्धेः सत्त्वगुणात्मकत्वात् तथा च सत्येव स उपासक इष्टमादत्तेऽनिष्टं च जहाति पाकपदं निघण्टौ प्रशस्यनामसु पठितमेव दृश्यते। तं सुपर्णं शोभनपतनं सूर्यं माता पृथिवी रेढि याचते स उ सोऽपि मातरं पृथिवीं रेढि याचते। "द्यौष्पिता पृथिवी माता" इति वेदएव स्पष्टतया दर्शनान्मातृपदवाच्या पृथिवी तस्या एव मनुष्यादयः सर्वे प्राणिन उत्पद्यन्ते जीवन्ति च तस्मात्तस्या मातृत्वम्। रिरिढ्ढि रिरीहीति च याचनाकर्माणौ निघण्टौ पठितौ। यस्य कार्यं स्वाभाविकं यदाश्रयेण सिध्यति स ततएव स्वकार्यसिद्धिं याचते। पृथिवी सूर्याज्जलवृष्टिं याचते तदेवोदकप्रधानं सोमतत्त्वं पातुमिन्द्रो भूत्वा सूर्यः पृथिवीतो याचते। एवमुपर्यधः सोमस्य गमनागमनैः सर्वे प्राणिनः सुखं जीवन्ति व्यवहरन्ति च। एवमस्मिन्मन्त्रे विद्याविषयएवोक्तो नात्र कश्चिदप्युपाधिनियोगो दृश्यते। तस्मात्सायणसिंहकृतार्थो हेयः ॥

भा०-(एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश) एक सुपर्ण नाम ठीक अपनी नियत चालपर चलने वाला ठीक समय पर उदय वा अस्त होने वाला नियम से विरुद्ध एक क्षण भी न चलने वाला सूर्य समुद्र नाम अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है। निघण्टु में समुद्र नाम अन्तरिक्ष का इस लिये है कि पृथिवी से सूक्ष्म होर कर जिस में ऊपर को जल चले जाते जो नीलवर्ण जलों का अनन्त (कोष) खजाना आकाश में दीखता जिस में से अतुल जल की वर्षा होजाने पर भी चुक नहीं जाता वही मुख्य कर समुद्र है पृथिवी का समुद्र उस से बहुत छोटा गौण

है। जब ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न समय के प्रचण्डताप से युक्त सूर्य नामक इन्द्र अपने किरणरूप तीक्ष्ण शस्त्रों को लिये मेघ की सेनारूप अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है तब आकाश के समुद्र को अत्यन्त क्षुब्ध संचलित करके पार्थिव प्राणियों के जीवनार्थ उस समुद्र से जल बर्षाता है। समुद्र शब्द का व्याकरण के अनुकूल यही अर्थ ठीक है इसी कारण साधुसिंह ने जो विस्तृत अर्थ किया वह ठीक नहीं किन्तु वह सर्वथा प्रमाण शून्य निर्मूल है। (स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) वह सूर्य नामक सुपर्ण उत्पन्न होने वाले इस पृथिव्यादि सब जगत् को विशेष कर दिखाता है वा चक्षुरूप से सब को देखता है। देखने के साधन का नाम चक्षु है और देखने के साधनों में प्रधान सूर्य है इसी से विराट् पुरुष का चक्षु सूर्य माना जाता उसी चक्षु से हम मनुष्यादि के चक्षु बनते हैं। सूर्य से ही चक्षु भी देख सकते हैं इसी लिये बाह्य प्रकाश के विना अन्धेरे में कुछ नहीं दीखता, चन्द्रमा दीपक आदि के प्रकाश का भी सूर्य ही प्रधान कारण है चाहें यों कहो कि कारण का नाम ही सूर्यतत्त्व है। इसी लिये वेद में कहा है कि "मेरे लिये वा मेरे शरीर में सूर्य चक्षु को धारण करे" क्योंकि सूर्य ही चक्षु नाम देखने की शक्ति को धारण करता है सूर्य के विना चक्षु की स्थिति नहीं है। (तं पाकेन मनसाऽन्तितोऽपश्यम्) उस सर्वत्र व्याप्त प्रकाश के साथ नित्य सम्बन्ध रखने वाले प्रकाशस्वरूप सूर्य तत्त्व को प्रशंसायुक्त शुद्ध मन से मैं समीप से ही देखता हूं। जो पुरुष शुद्ध मन से सूर्यतत्त्व को देखता है। वह भीतरी विचार में अधिकतर रमता हुआ प्रकाश की प्रबलता से सत्त्वगुणी हो जाता क्योंकि सत्त्वगुण की विशेष प्रधानता का नाम ही बुद्धि है ऐसा होने पर ही वह अनिष्ट को छोड़ सकता वा अनिष्ट उस से छूट जाता और इष्ट को प्राप्त कर लेता है (तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्) उस सुपर्णनामक सूर्य को माता नाम पृथिवी चाहती और वह सूर्य पृथिवी नाम हम लोगों की मुख्य माता को चाहता है "द्यौ पिता और पृथिवी माता है" ऐसा वेद में ही स्पष्ट लिखा है इस लिये पृथिवी को माता कहते हैं क्योंकि इसी पृथिवी से हम सब मनुष्यादि उत्पन्न होते हमारे शरीर मुख्य कर पृथिवी तत्त्व से बनते हैं इसी कारण मरणानन्तर पृथिवी में ही फिर मिल जाते हैं और पृथिवी के आश्रय से ही ठहरते वा उसी को खा कर हम सब जीवित रहते हैं। यह नियम है कि जो जिस से उत्पन्न

होता वह उसी में ठहरता और उसी को खाकर अच्छा जीवित रहता है जैसे मनुष्य का बच्चा जिस माता से जन्मता उसी की गोद में अच्छा रहता उस के छूटने पर दुःखी होता और उसी माता के दूध को पीकर जीता है। इसी नियम के अनुसार हम सब की माता पृथिवी है। जिस के स्वाभाविक कार्य की सिद्धि जिस के आश्रय से होती वह उसी से अपने कार्य की सिद्धि को चाहता है। पृथिवी सूर्य से जल की वर्षा चाहती है क्योंकि जल वर्षा हुए विना पृथिवी का काम ठीक नहीं चलता किन्तु दुर्भिक्ष द्वारा पृथिवी पर हलचल मच जाती है और इन्द्र बन कर नाम तेजधारी भूखा बन के इन्द्रनाम सूर्य उसी जलप्रधान सोमतत्त्व को पीने के लिये पृथिवी से मांगता है। इसी लिये सूर्य पृथिवीरूप माता को जल देता और पृथिवी इन्द्र को सोम पिलाती है। इस प्रकार सोम के ऊपर नीचे जाने आने द्वारा सब प्राणी सुख से जीवित रहते और उनके सब व्यवहार ठीक चलते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में विद्या सम्बन्धी विषय कहा गया है किन्तु यहां किसी प्रकार की उपाधि के लगने लगाने के लिये कोई संकेत मात्र भी नहीं जताया गया इस से साधुसिंह कृत अर्थ त्याज्य है ॥

इस से आगे बुद्ध्युपाधि जीव को द्वितीय सुपर्ण ठहराने के लिये बृहदारण्य का (तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे०) इत्यादि प्रमाण लिखा है। सो इस प्रमाण में जीव का वर्णन तो अवश्य है परन्तु बुद्धि उपाधि का नाम जीव है यह इसके किसी पद से अर्थ नहीं निकलता। जब कि बुद्धिरूप उपाधि मात्र से जीव बना वा कहाया तो सर्वव्याप्त ईश्वर में जहां २ बुद्धिरूप उपाधि लगी वहां२ जीव हो गया फिर यह तो बताइये कि (पुरुषएतस्माअन्ताय धावति) यहां व्यापक पुरुष में दौड़ना भागना कैसे घटाओगे ?। भागने का अर्थ यह है कि जो २ अपने लिये जिस २ घर आदि को सुख भोग का स्थान आदि समझता है वह २ उस २ घर में निवास के लिये राग के साथ सृष्टि भर में भागा करता वा भाग रहा है इसी के अनुसार मृत शरीर छोड़े हुए जीव उन २ मनुष्यादि के शरीरों में सुख भोग के लिये भाग २ कर घूमते हैं। सो जब कोई परिच्छिन्न जीव वा पुरुष तुम्हारे मत में है ही नहीं तो भागता कौन है ? इस का उत्तर साधुसिंह जन्मान्तर में भी नहीं दे सकते इस कारण इन का सोपाधिक को जीव मानना भी सर्वथा निर्मूल है। जब तुम ने ब्रह्म को जीव बनाने के लिये उस से भिन्न उपाधि को वस्त्वन्तर माना तो तुम्हारा अद्वैतपक्ष स्वयं ही कट गया। और उपाधि को कोई

सद्वस्तु न मानो तो उस के कारण से भेद सिद्ध कर सकना असम्भव है । इस लिये (द्वा सुपर्णा०) आदि मन्त्रों के अर्थ में कुछ बाधा मत डालो वेद ईश्वर वाक्य है ईश्वर तुम पर कोप करेगा । और फिर भी "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" यही दशा रहेगी इस कारण गतानुगतिकता को त्यागो शोचो समझो । द्वितीय यह भी विचारणीय है कि बुद्धि एक सत्त्वगुणात्मिक शुद्ध निर्मल तत्त्व है उस की उपाधि जीव को और प्राण जो बुद्धि की अपेक्षा रजोगुणी है उस को उपाधि ईश्वर में साधुसिंह ने लगाई तो ईश्वर को छोटा और जीव को बड़ा ठहराया । कोई पूछे कि प्राणोपाधि और बुद्ध्युपाधि ये शब्द कहां से गढ़े कोई प्रमाण तो दो तो वैयाकरणखसूची के साथी बनने होगा ।

इस से आगे साधुसिंह ने यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ४ (अनेजदेकं मनसो ज-वीयो०) इत्यादि लिखा और मनोरूप उपाधि से गमन करतावत् है इत्यादि अर्थ किया है ॥

उ०—इस मन्त्र के अर्थ में साधुसिंह ने महा अज्ञान अपना सिद्ध कर दिया जब कि मन किसी चेतन की सहायता के विना स्वयं जड़ होने से गमनागमनादि कुछ नहीं कर सकता तो साधुसिंह एक स्वतन्त्र मन और एक मनोपाधिक ईश्वर दो पदार्थ स्वतन्त्र गमन करने वाले कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं ? । और जब मन की गति जीवात्मा चेतन की सहायता से स्वतन्त्र मानी जाय और ईश्वर को सर्वत्रव्याप्ति रूप सर्वोपरि गति मानें तभी ठीक मन्त्र का अर्थ घट सकता है इस लिये इन का अर्थ मिथ्या अग्राह्य युक्ति प्रमाण शून्य है ॥ आगे साधु०

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं नच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतरोपनि० ३ । १९ ॥

भाव यह है हस्त पाद उपाधि सहित होकर वेगवान् तथा ग्रहण करता है परन्तु स्वरूप से हस्त पाद उपाधि रहित है इसी रीति से वास्तव करके चक्षु कर्ण रहित है परन्तु चक्षु कर्ण उपाधि सहित हो कर देखता तथा सुनता है । इत्यादि—

उ०—मन्त्रार्थ करने की हमे आवश्यकता इसलिये नहीं कि अक्षरार्थ सीधा है । इस साधुसिंहादि के दादा पर दादा गुरु स्वामिशङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है उस से इन का अर्थ सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि उन्होंने उपाधि का नाम भी नहीं लिया केवल सीधा२ अक्षरार्थ लिख दिया है । पाठक महाशय ! आप साधुसिंह से पूछ सकते हैं कि "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इन दो वाक्यों का सीधा २ अर्थ यह है कि "वह विना चक्षु देखता और विना कान सुनता है । " तब जो "वास्तव करके चक्षु कर्ण रहित है परन्तु चक्षु कर्ण उपाधि सहित हो कर देखता तथा सुनता है " साधुसिंहने अर्थ किया वह किस प्रमाण युक्ति वा रीति से वे सत्य ठहरावेंगे ? । स्वार्थ सिद्धि के लिये मनुष्य को बड़े २ अनर्थ करने पड़ते हैं । जब कि वस्तुतः ईश्वर चक्षु कर्णादि साधनों से रहित है और देखने सुनने की आवश्यकता से वह चक्षु आदि की उपाधि अपने में लगाता है तो वास्तव में वह अन्धा और बधिर भी साधुसिंह के मत में हुआ । तथा जब चक्षु आदि के विना देखनादि नहीं कर सकता तो मनुष्यों से विशेषता कुछ न हुई और इन लोगों के मत में वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं ठहरेगा । इत्यादि अनेक दोष आवेंगे । इस से आगे साधुसिंह ने बृहदारण्योपनि० का प्रमाण लिखा है—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरम्—इत्यादि । अधिदैवतमथाधिभूतम् । यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् । यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरम् । यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरम् । यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरम् । तथा नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽस्ति विज्ञाता ॥ बृहदारण्योपनिषदि ५ । ७ ॥

जो पृथिवी में स्थित हो कर पृथिवी के अन्तर है जिस को पृथिवी देवता नहीं जानता जिस का पृथिवी शरीर है । इत्यादि तथा मानने जानने देखने सुनने वाला ईश्वर से भिन्न कोई नहीं है । अर्थात् ईश्वर से भिन्न जीव कोई नहीं है एक ईश्वर ही वा वही जीव है तो उस से भिन्न ईश्वर कोई नहीं है । इस प्रमाण से ईश्वर को साकार वा अद्वैत ठहराने का अभिप्राय इन का है ॥

उ०—इन वाक्यों का ठीक अर्थ यह है कि परमेश्वर पृथिव्यादि सब जगत् में अपनी व्याप्ति से ठहरा हुआ भी पृथिव्यादि से अन्तर नाम अलग भिन्न है [यहां बहिर्योग अर्थ में अन्तर शब्द लिया जायगा] क्योंकि "अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः" जड़ वा अल्पज्ञ होने से जिस को पृथिव्यादि नहीं जानते और जिस के पृथिव्यादि शरीर नाम नाशवान् हैं अर्थात् पृथिव्यादि सब उसी के आधीन हैं उसी के हैं पर तो भी नश्वर हैं । शरीर शब्द को यौगिकार्थ न लेकर यदि कोई भोगायतन लेना चाहे तो उस के मत में (अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति) इस के अनुसार ईश्वर अभोक्ता नहीं ठहरेगा । तथा विना आंख के जो देख सकता और विना कान जो सुन सकता है वह सर्वत्र व्याप्त होने से सर्वोपरि द्रष्टा श्रोता है उस के सामने कोई भी द्रष्टा श्रोता नहीं । कोई सर्वोपरि बड़ा पण्डित हो तो अन्य छोटे प० उस के सामने मूर्ख माने जावें गे । बड़े राजा के सामने छोटे राजा लोग राजा नहीं माने जाते । वैसे सर्वोपरि श्रोतादि के सामने कोई जीव श्रोतादि नहीं ठहरता । अर्थात् जैसे कोई कहे कि इस से अन्य कोई पण्डित नहीं इस से अन्य कोई बली नहीं जैसे यह कथन उस की विशेष कर प्रधानता वा प्रशंसा दिखाने में घटेगा वैसे यहां भी इस से अन्य द्रष्टा नहीं इस से अन्य श्रोता नहीं यह कथन सर्वव्यापक के सर्वत्र देखने सुनने की प्रशंसा के लिये है । इस कारण इस से जीव ब्रह्म की एकता दिखाने के लिये माधसिंह का पंख फटफटाना निरर्थक है । द्वितीय पृथिवी को ईश्वर का शरीर कहते हुए तुम रूढि अर्थ लेने का ही आग्रह करो कि जिस से तुम्हारी मूर्त्ति पूजा सिद्ध हो तो हम यह कहते हैं कि इसीलिये ग्रन्थकार ने पृथिवी से अन्तर कहा कि वह किसी में लिप्त नहीं । जो जिस में लिप्त वा बद्ध नहीं उस के द्वारा नाम उस पृथिव्यादि के पूजने से ईश्वर की पूजा होनी यदि सम्भव है और उस पूजा से वह प्रसन्न हो सकता है तो पृथिवी के खोदने जोतने पीटने कूटने आदि से वा

मल मूत्र करने से क्रुद्ध क्यों नहीं हो सकता? क्या शरीर को रूढि मानने के पक्ष में इस का उत्तर कोई दे सकेगा? प्रयोजन यह हुआ कि पृथिवी को ईश्वर का शरीर मान कर पत्थर की बटियों की पूजा सिद्ध नहीं होती इस लिये उक्त प्रमाण का पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है ॥ इस से आगे बृहदारण्य के अ० ४ का—

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्। इत्यादि—

यह प्रमाण लिख कर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है ॥

उ०—इस प्रमाण से भी तुम्हारी एकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि यहां येन नाम जिस ईश्वर से इस सब संसार को जीव जान सकता है उस को किस साधन से जाने? अर्थात् उस के जानने का साधन वह स्वयं ही हो सकता है अन्य कोई नहीं। यहां येन पद से ईश्वर, इदं सर्वं दो शब्दों से सब संसार तथा विजानाति क्रिया का कर्त्ता जीव इस प्रकार इसी वाक्य के प्रमाण से जब जीव ईश्वर तथा सब जगत् ये तीनों भिन्न २ सिद्ध होजाते हैं तो सोचिये कि जो मुख्य प्रमाण इन लोगों ने अद्वैत सिद्धि के लिये सोचा वा माना था उसी से स्पष्ट द्वैत सिद्ध हो गया तो अद्वैत के लिये इन का गल बढ़ाना व्यर्थ है। और इस बृहदारण्य के वाक्य का अभिप्राय यह है कि ईश्वर को जो मनुष्य जान लेता वह उस के ज्ञान से ही इस जीव और जगत् को भी ठीक जान सकता है क्योंकि ईश्वर का जानना बहुत बड़ा प्रधान है प्रधान के मेल वा ज्ञानसे गौण का ज्ञान वा मेल स्वयमेव हो ही जाता है। इस प्रकार उस सर्वोपरि ईश्वर को उसी से जान सकते हैं उस की बराबर समान कोई वस्तु न होने से उपमानादि द्वारा भी उस को कोई नहीं जान सकता कि अमुक वस्तु के तुल्य वा ऐसा है। सो कठोपनिषद् में लिखा भी है कि—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है इसी प्रकार उस का ज्ञान वा प्राप्ति करनी चाहिये किन्तु अन्य कोई साधन वहां नहीं पहुंचता ॥

अब इस से आगे साधुसिंह के प्रत्येक अंश का उत्तर न लिख कर केवल निज २ किन्हीं २ बातों का उत्तर अतिसंक्षेप से हम लिखेंगे क्योंकि ऐसा लिखने से वर्षों में भी पूरा होना सम्भव नहीं।

सत्यार्थविवेक प्रथम प्रकरण पृ० १०४ से ११८ तक जो गुरुनानक के विषय में साधुसिंह ने लिखा है उस में हमे दो बातें लिखनी हैं—एक तो गुरुनानक जी अच्छे शुद्ध विचार के पुरुष थे किसी प्रकार का छल कपटआदि उन में नहीं था यह स्वामी जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश में थोड़ा लिख कर जता दिया है। परन्तु वे संस्कृत के विद्वान् नहीं थे यह स्वामी जी महाराज का लिखना कई प्रमाणों से ठीक सिद्ध मालूम होता है। एक तो पञ्जाब के लोग जो गुरुनानक जी को बहुत मानते हैं वहां कहीं भी संस्कृत के पण्डित होने के कारण उन के मान्य का कोई लक्षण वा चिह्न नहीं मिलता न उन के इतिहास में कहीं प्रसिद्ध है कि वे संस्कृतज्ञ थे न कोई संस्कृत में उन का बनाया ग्रन्थ ही मिलता है तो उन के संस्कृतज्ञ होने का विचार सत्य कैसे मान लिया जाय ?। और स्वामी जीने सर्व का सब तथा आगार को भण्डार क्यों लिखा इतने उत्तर से नानक जी संस्कृत के विद्वान् ठहर जावें यह कोई बात नहीं है। क्योंकि प्रथम तो यह अज्ञान तुम को हुआ कि आगार की भाषा भण्डार बताते हो सो ठीक नहीं भाण्ड शब्द संस्कृत है वही थोड़ा बिगड़ के भण्डार हो गया है। अन्नादि भरने के वर्त्तनों को भाण्ड कहते हैं उर्मी के तुल्य जिस में सब विद्याभरी हैं ऐसा विद्याओं का भाण्ड नाम पात्र वेद है। और थोड़ा शोचो तो सही कि पढ़ों और बिना पढ़ों की भाषा में बहुत भेद होता है पढ़े हुए लोग अपनी भाषा का स्वयमेव कुछ संस्कार करके बोलते चालते हैं अनपढ़ लोग अपनी भाषा का कुछ भी संस्कार नहीं कर पाते इस लिये स्वामी जी का अभिप्राय उन के एक दो शब्द पर नहीं किन्तु उनकी भाषा पढ़ों कीसी नहीं है यह विचार स्वामी जी का था सो ठीक ही है। यदि तुम दश पांच ऐसे पुष्ट प्रमाण दे सको जो वस्तुतः गुरु नानक जी के संस्कृतज्ञ होने के लिये सत्य यथार्थ हों तो हम मान लेंगे कि वे संस्कृतज्ञ थे जब तुम एक भी प्रमाण न देकर वैसे ही शुष्क विवाद से ठहराना चाहते हो तो तुम्हारी इच्छा है। द्वितीय यह कि नानक जी के कथन से किन्हीं वेदादि ग्रन्थों का आशय मिलता है इतने से उन को वेद का भी अनुभव [इलहाम] हुआ था यह मानना व्यर्थ है। संसार में कोई बालक भी कुछ कहे उसका भी आशय वेद से कुछ मिलेगा। वा ईश्वर धर्मादि उत्तम विषय में बिना पढ़ा भी जो कुछ विचार कहेगा उसका वेद से कुछ मेल अवश्य

मिलेगा । सो इतना ही नहीं किन्तु ईसाई मूसाई जैनी बौद्धादि की भी अनेक बातें वेद से मिलेंगी और जिस का अन्तःकरण जितना अधिक शुद्ध होगा उस के हृदय से वैसे ही अधिकांश निर्दोष विचार निकलेंगे जैसे शुद्ध मिष्ट कूप से खारी अशुद्ध जल नहीं निकल सकता इस कारण उस मौलवी शुद्ध को वेद का अनुभव हुआ वा वेद का विद्वान् वह था ऐसा नहीं मान सकते किन्तु यह मानना चाहिये कि सृष्टि के आरम्भ से ही वेद द्वारा सब उत्तम विचार संसार भर में फैले हैं उन में से जिस का हृदय जैसा शुद्ध अशुद्ध है वैसा ही न्यूनाधिक उस का विचार वेद से मिलेगा । इस से वेद की प्रशंसा हुई कि वेद अनादि धर्म का मूल है उसी से पात्रता के अनुसार मनुष्यों की भी सापेक्ष प्रशंसा बनती जाती है ॥

साधु०—कोई एक तो मन्त्र वा ब्राह्मण भाग का वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादक लिखा होता जिस में अकार वर्ण में विराट अग्नि विश्व नाम आते हैं ॥

उ०—क्या कोई ग्रन्थ का वाक्य न लिखने से यह सिद्ध होगया कि कोई प्रमाण वाक्य नहीं है वा लिखने की प्रेरणा करते हो । तुम ने उपनिषदों से भिन्न ग्रन्थ नहीं देखे यह अपना दोष दूसरों पर क्यों झोंकते हो ? । तैत्तिरीयारण्यक में देखो वहां अकार से विराटादि अर्थ दिखाया है । मुझे अनुमान है कि साधुसिंह ने अब तक तैत्तिरीयारण्यक कभी न देखा होगा । साधुसिंह ने पृ० ११९ से १३६ तक ओम्-प्रणव की व्याख्या विषय में लिखा है । इस में जो २ जहां २ भूलें हों हम खोजें छांटें यह हमारा काम नहीं केवल इतना ही इस में कहना है कि जो वेदानुकूल वा तदनुसारी ब्राह्मण स्मृत्यादि के अनुकूल है वह सब ठीक ही है और जो इन से विरुद्ध है वह इन का लेख विरुद्ध रहेगा ॥

इस के आगे साधुसिंह ने १३७ से १५२ पृ० तक व्याहृति और (तत्सवितुर्व०) मन्त्र की व्याख्या विषय में लिखा है उस का भी उत्तर प्रणव के तुल्य जानो । हम त्रयीविद्या के व्याख्यान में प्रणवादि के व्याख्यान का विशेष विचार लिखेंगे वहां देखना चाहिये । इसी लिये यहां इस विषय को पुनरुक्त होने से नहीं लिखते । मुख्य शोचनीय बात यह है कि प्रत्येक विषय में मनुष्य की योग्यता और उद्देश देखा जाता है । स्वामिदयानन्द सरस्वती जी ने तप किया वे यती पूर्ण ब्रह्मचारी थे उन का उद्देश वा सिद्धान्त वेदोक्त दृढ़ अचल धर्म के द्वारा संसार का उपकार करना था साधुसिंह का वैसा उद्देश नहीं है ॥

श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय–मास जौलाई सन् १८९७ ई०

३)॥।–गत मास का शेष—

२८–)।–चन्दा इस प्रकार इटावास्थ महाशयों का १) पं० दुंगीलाल जी ॥) मुं० रामस्वरूप जी ।) मा० गुन्दीलाल जी १) पं० बुद्धसेन जी १) बा० कुन्दीलाल वकील ८) पं० भीमसेन श० जी १) बा० हीरालाल जी १) पं० रामजीमल जी १) ला० छेदीलाल जी १) पं० जगन्नाथ जी –)। मुं० रामप्रसाद जी २) श्री मा० हि० टुकमानसिंह जी १) बा० मथुराप्रसाद वकील १) शिवचरणलाल वकील ७) पं० लेखराज जी ॥ १२।)–सहायतार्थ बाहर से ७॥) कुंवर–मुकटसिंह जी नौगांव जि० इटावा पूर्वदत्त अन्नमध्ये ४॥।) पं० शिवसहाय पांडे सभापति आ० स० कासगंज जिला एटा सर्वयोग ४५॥–) २≡) फुटकर परमेश्वर धनदाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे–तथा उक्त मास में इस प्रकार व्यय हुआ ॥

३॥।=)॥–वेतन मध्ये (कहार को २) चन्दा उघाने वा चौका वर्तन कराई मध्ये १॥।=)॥ रसोइया को जून का बाकी दिया) ६) पाठशाला का किराया जून तक १॥≡) फुटकर २॥) हवनार्थ विद्यार्थियों को दिया गया १५॥)॥। छात्रों के भोजन और इसके अतिरिक्त मास जून के रक्खे हुए सामान से काम लिया गया ॥

१५॥।=)॥। शेष रहे १५०) सूद पर पूर्ववत् । २९॥=)। सर्वयोग व्यय

सब महाशयों को ज्ञात रहे कि पाठशाला में सम्प्रति कोई अध्यापक नियत नहीं तथापि प्रबन्ध और काम बीच की कक्षा में अच्छा चला जाता है ऊपरी कक्षा के सुबोध विद्यार्थियों को मैं (भी० श०) स्वयं पढ़ा देता हूं और नीचे के विद्यार्थियों को ऊपरी कक्षा वाले पढ़ा लेते हैं । अध्यापक न होने पर भी मध्यम दशा में काम कुछ चला जायगा यदि कोई २ महाशय थोड़ा भी इधर का ध्यान रक्खेंगे । हमारा उद्देश यह है कि यदि वेदादि शास्त्रों के पठनपाठन का पूरा २ उत्तम प्रबन्ध वा उपाय हमारी शक्ति से बाहर है तो जितना हो सके उतना भी न करें यह ठीक नहीं क्योंकि कुछ न होने से थोड़ा होना भी उत्तम ही है ।

यदि प्रत्येक आर्यसमाज यही उपाय करने को उद्यत हो जाय कि अपने२ समाज की ओर से एक २ सुपरीक्षित चलती बुद्धि के सुलक्षण धर्मानुरागी विद्यार्थी को वेदादि संस्कृत विद्या पढ़ाने के लिये भेजे और उस के खर्च का प्रबन्ध स्वयं करे पाठशाला को और कुछ भी न देवे तो भी हम को आशा होकि आर्यसमाज धर्म के मूल वेदादिशास्त्रों की उन्नति हृदय से चाहते हैं ॥

ह० भीमसेन शर्मा

सूचना ॥

सब महाशयों को विदित होकि ऐतरेयोपनिषद् का भाष्य छप गया । मूल्य भी केवल ।≠)॥ मात्र है मनुष्य को कर्त्तव्य का ध्यान दिलाने चिताने जगाने के लिये इस उपनिषद् का भाष्य अतिही उपयोगी है ॥

अन्य नये छपे पुस्तक—

मनुस्मृति का सर्वोत्तम सृष्टि, सामान्य धर्म, संस्कारों का वर्णन, ब्रह्मचर्याश्रम, और पञ्चमहायज्ञों के पूर्ण व्याख्यान सहित भाष्य प्रथम जिल्द ३ अ० तक मूल्य ३) भगवद्गीताभाष्य क्षिप्त श्लोक वा प्रकरणों को छोड़कर सर्वोपयोगी योग सांख्य वेदान्त धर्म कर्मादि का वर्णन मूल्य २।) मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा दिया गया है कि जिसको देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं । प्रथम का मू०-)॥ द्वितीय =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिखा गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारितोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई " पुत्रकामेष्टि " पद्धति इसका मूल्य अत्यन्त कम =) है । स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाणसहित -)॥ भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सञ्जीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजेक्टकमेटी =) अबला विनय ≡)॥ संगीतसुधासागर -) कस्तूरी -)॥ अन्य पुस्तक बड़ा सूचीपत्र मगा कर देखो ॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेंचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे जो लोग चाहें वे पत्र द्वारा निर्णय करें ॥

भीमसेन शर्मा—सरस्वती प्रेस इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समुद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १०

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आश्विनमास शुक्ल ६ ता० १ अक्टूबर सन् १८९७ ई०

मूल्यप्राप्ति स्वीकार ॥

(मूल्य प्राप्ति स्वीकार) अगस्त सितम्बर (९७ ई०)

१२३९ श्री हरिकिशुन दास मोती सूरत १)
१२४२ श्री केवलराम जी सिन्ध १)
५८५ बा० गुलाबराय जी खलीलाबाद २॥=)
११०९ बा० भगवानदास जी बुलन्द शहर १)
५९४ बा० आनन्दस्वरूप वकील कानपुर १)
९६२ पं० शिवबक्स शर्म्मा कानपुर १)
९५१ जा० श्री दीपसिंह जी बांकानेर १)
१२५० बा० रामचरण जी गुप्त कानपुर १)
१६२ पांड़े सूर्यकुमार जी कानपुर २॥)
१२४२ ठा० सूरसिंह जी खरड बीरपुर १)
७४१ दा० बैजनाथ वर्मा नजीबाबाद १)
१२५३ पं० पूरणचन्द शर्मा सोढ़ा १)
१८० बा० गिरधारी लाल झांसी १)
९८१ बा० गोविन्दसहाय जी महमदपुर २॥)
५१ बा० बालकृष्ण सहाय जी वकील रांची १॥।≡)
९८९ बा० लक्ष्मण सिंह जी जयपुर १)
८३६ बा० लालसिंह जी देहरादून २॥)

आगे लिखे पाठशाला के हिसाब को देखने से पाठक महाशयों को सामान्य प्रकार अच्छी ही दशा प्रतीत होगी परन्तु पूर्व नियत अध्यापक पं० श्यामलाल शर्मा पहासू जि० बुलन्दशहर निवासी, यहां की पाठशाला कमेटी और मेरी प्रसन्नता से ही वेतन के अधिक मिलने के कारण जब से चले गये और वे सम्प्रति ऐंग्लोवैदिक स्कूल मेरठ में संस्कृत पढ़ाने पर नियुक्त हैं। उनके जाने पश्चात् यद्यपि काम चला जाता है तथापि अध्यापक की आवश्यकता अवश्य है क्योंकि मुझे ठीक अवकाश न मिलने से पठन पाठन में कुछ २ हानि अवश्य होती है और ऊपर लिखी अनियत आमदनी से अध्यापक के वेतन का निर्वाह चला जाना सम्भव भी नहीं है इस कारण संस्कृत वेदानुयायी ग्रन्थों के प्रचार द्वारा [वस्तुतः जो सत्य ही है] वैदिक धर्म की उन्नति मानने वाले धर्मात्मा आर्य लोग पाठशाला को थोड़ी २ सहायता धर्म की ओर ध्यान और कृपादृष्टि से और देवें तो अध्यापक का नियत होकर कुछ काल दरा चला जाना सम्भव ही है जिस का परिणाम वा फल भी अच्छा ही होगा। और सम्भव है कि आगे अध्यापक भी कुछ कम अर्थात् १५) वेतन तक ही मिलजावे। इस लिये आशा है कि सज्जन लोग अवश्य ध्यान देवेंगे।

आप का मित्र—भीमसेन शर्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १०

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

आर्यसमाज का-भावीकर्त्तव्य

हम इस विषय पर पूर्व भी कई वार लिख चुके हैं और आगे २ भी लिखने की इच्छा है। वस्तुतः शोचा जाय तो सब किसी के लिये यही शीर्षक ठीक ठहरता है कि मनुष्यमात्र वा प्राणिमात्र का भावीकर्त्तव्य क्या है ? क्योंकि योग में लिखा है:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥

आगे आने वाला दुःख ही त्याज्य कोटि में आ सकता है जिस को भोग चुके वह जैसा होना था हो चुका उस में कुछ लौट पैट हो ही नहीं सकता इसी लिये विदुर जी ने कहा है—

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ॥

जो वस्तु प्राप्त होने योग्य नहीं उस को अच्छे विचारशील महाशय नहीं चाहते क्योंकि उस के लिये परिश्रम वा कष्ट उठाना सदा व्यर्थ होगा। और जो

हो चुका समाप्त हो गया उस का शोच भी अच्छे लोग नहीं करते। हां बीती हुई दशा वा काम और प्राप्ति आदि के विषय में केवल इतना ही विचार करना चाहिये कि:-नीति—

अतीते कार्यशेषज्ञ: शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥

जो हो चुका उस में केवल इतना ही शोच ले कि इतना काम बिगड़ चुका और वह कैसा बिगड़ा है? उस में हम क्या सम्हाल सकते हैं?। जिस प्रकार हमारी भूल निद्रा तन्द्रा वा आलस्य में पड़े वा घोर निद्रा में सोते रहने से हमारा इतना वा ऐसा काम बिगड़ गया यदि अब भी भूल में रहें गे तो जो बिगड़ना शेष रहा है वह भी बिगड़ जायगा इस लिये यथाशक्ति हम बिगड़े को भी सम्हालें और शेष रहे को आगे न बिगड़ने देवें। इस रीति से यदि केवल बिगड़ी हुई दशा के शोकसागर में न डूबा रहे तो आगे को भी मनुष्य अपना कुछ सुधार कर सकता है इस लिये उस को भूत का शोच कदापि नहीं करना चाहिये। अब रहा वर्त्तमान काल का विचार सो एक क्षण के भीतर जो कि अखण्ड काल का एक इतना छोटा खण्ड क्षण है जिस से और छोटा काल का विभाग कल्पना में भी नहीं आ सकता, कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हो सकता और वर्त्तमान की अपेक्षा उस से अगला द्वितीय क्षण अनागत वा भावी स्पष्ट ही है तो यही सिद्ध हुआ कि भावी सुधार का उद्योग प्रत्येक प्राणी को करना उचित है ॥

प्र०-जब कि सभी के लिये भावी सुधार का उद्योग करना उचित ठहरता है तो तुम आर्यसमाज का ही भावी कर्त्तव्य लिख कर एकदेशी क्यों बनते हो?।

उ०-आर्य नाम अच्छे सुकर्मी धर्मनिष्ठ धर्मज्ञ पुरुषों का है वे चाहें कहीं किसी देश द्वीप द्वीपान्तर वा किसी जाति में हों वेही आर्य हैं उन के समाज नाम समुदाय का ही भावीकर्त्तव्य लिखना हमारा इष्ट है क्योंकि जो २ लोग सोते से कुछ जागते हैं अपने सुधार की ओर जिन का ध्यान आता, जो दुर्दशा में नहीं रहना चाहते वे ही आर्य हैं वा जो आर्य हैं वेही अपने भावीसुधार का उद्योग कर सकते हैं और जिन का सुधार की ओर ध्यान जाता ही नहीं वे अनार्य हैं उन का हम भावीकर्त्तव्य लिखें तो अप्राप्त की वाञ्छा करने वाले हम भी हो जावें। इस लिये आर्यसमाज का ही भावीकर्त्तव्य ठीक है ॥

पाठक महाशयो! समय का प्रवाह भी एक ऐसा प्रबल पवन है जिस के द्वारा हमारे बुद्धि, विचार, काम वा लेखादि प्रायः सभी परिणाम, काल प्रवाह की

तरङ्गों में बड़े वेग से बहे चले जाते हैं । इसी कारण हम कुछ करने के लिये प्रतिज्ञा करते पर शोचा जाय तो कुछ और ही करने लगते हैं कुछ कहने को खड़े होते तो कुछ और ही कहने लगते हैं । हम कहते हैं कि हिंसा करना बुरा काम महापाप है पर हमी अपने २ स्वार्थ के लिये अनेक प्राणियों को दुःख देते और अपना काम बनाने की हम शक्ति भर पूर्ण चेष्टा करते हैं हमें ध्यान भी नहीं रहता सर्वथा अन्धे बन जाते हैं स्वार्थ की टट्टी हमारे विचार शक्ति रूप नेत्रों के सामने दृढ़ता से खड़ी हो जाती है जिस से हम को कुछ नहीं सूझता कि हमने अपने स्वार्थ के लिये दूसरे की कितनी और कैसी हिंसा की हमारे कामों से किस २ को कितना २ वा कैसा २ कष्ट पहुंचा इत्यादि प्रकार हिंसा हमारे में विद्यमान है पर हम कहते यही हैं कि हिंसा करना पाप है किसी को दुःख नहीं देना चाहिये । योग के व्यास भाष्य में लिखा है कि—

नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति ॥

अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचे विना किसी को संसारी विषय सुखों का भोग नहीं मिलता । क्योंकि जिस वस्तु से हम अपने लिये सुख समझते उसी से अन्यों को भी सुख पहुंचता है हमारे समान वा हम से भी अधिक अन्य भी प्राणी उस को चाहते हैं तो हम यह विचार नहीं करते कि किस २ पदार्थ को हमारे लेने से किस २ को क्या २ कष्ट पहुंचता है यदि ऐसा करें तो भोग का अधिकांश सामान हम को छोड़ने पड़े । तब संसारी सुख हम नहीं भोग सकते । यदि ऐसी बातों का विचार मध्यम कक्षा में भी रक्खें तो भी संसार के कामों को करते हुए मध्यम धर्म का सेवन हम कर सकें परन्तु जब सुख भोग के लिये हम तृष्णारूप अगाध नदी में बहे चले जाते हैं तब अधर्म की ही गठरी अपने साथ के लिये अधिक बांध लेते हैं ॥

प्रयोजन यह है कि वर्त्तमान समय के मनुष्यों में बहुत थोड़े लोग अभी तक कुछ २ जागे हैं शेष सभी भराभर सोरहे हैं इसी कारण सुख वा शान्ति मिलने तथा अपनी उन्नति करने के लिये सहस्रों मनुष्य अनाप सनाप भाग रहे हैं पर उन सब में शतांश को भी सुख शान्ति वा उन्नति का सहस्रांश तक लेशमात्र भी चिह्न नहीं दीखता । जो लोग कुछ जागे भी हैं उन को भी वस्तुतः जैसा जागना चाहिये उस की अपेक्षा न जागना ही कह सकते हैं । जागे वा स-

मके हुओं में भी आज कल यूरोपियन लोग अग्रगन्ता माने जाते हैं। क्योंकि अन्यों की अपेक्षा शान्ति आदि सुख इन्हीं में सम्प्रति अधिक दीखता है इन्हीं लोगों की उन्नति अधिकांश मानी जाती है सो यद्यपि वर्त्तमान समय में अन्य२ मनुष्य जातियों पर दृष्टि डालें तो किसी अंश में किसी प्रकार यह वार्त्ता सत्य भी मानने पड़ती है तथापि जब हम इस देश के पूर्व२ के इतिहासों पर दृष्टि देते हैं कि पूर्वकाल के सहस्रों ब्रह्मर्षि महर्षियों में जैसी २ अद्भुत योग सिद्धि होती थीं जिन के द्वारा वे देशान्तर वा अवस्थान्तर का स्मरण करने के समान पूर्व जन्मों का साक्षात् स्मरण करते थे जिस को योग में पूर्वजाति ज्ञान कहा है। (सर्वभूतरुतज्ञान) सब पशु पक्षि आदि प्राणियों के शब्दों का भी अर्थ जान लेते, अन्तर्धान हो जाते, आकाश गमन, सूक्ष्म अतीन्द्रिय परमाणु आदि का, व्यवहित–छिपे दबे पदार्थों का और विप्रकृष्ट अतिदूरस्थ पदार्थों का साक्षात् ज्ञान करते, (अपरान्तज्ञान) मरण का भी हाल जान लेते थे इत्यादि प्रकार की योगविद्या के द्वारा ऊंची कक्षा के लोग जहां तक चलते थे तथा अनेक चक्रवर्त्ती राजर्षि लोग ऐसे २ होते आये जो सहस्रों और लाखों मनुष्यों को एक २ ही दबा धमका लेता था जिन की कीर्त्ति लाखों वर्ष से बराबर चली जाती अमिट हो रही है क्या आज सृष्टि भर में वा उन्नतिशाली यूरोपियनों में ब्रह्मबल और क्षत्रबल में पूर्व की अपेक्षा शतांश भी कोई शक्तिमान् मिल सकता है ? जो भूत वा भविष्यत् आदि की एक भी बात दृढ़ता से कह सके वा कोई एक साधारण अस्त्र विद्या का भी जानने वाला प्रतापी है ? तो चारो ओर से शून्य ही दीखता है। इस विचार को काम में लावें तो अंगरेज जाति की कुछ भी उन्नति नहीं दीखती। यदि कुछ है तो ऐश्वर्य वा धन की उन्नति अवश्य है जिस को हम वैश्यपन की उन्नति कह सकते हैं। अर्थात् आज भूगोल भर में ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन की अधिक अधोगति है ये दो ऊंची कक्षा थीं इन्हीं में सर्वोत्तम सुख और धर्म की प्रधान स्थिति रह सकती है धर्म की ओर झुका हुआ वैश्यपन भी आज नहीं है कि धनादि पदार्थों का संचय कर धन से धर्म करना प्रधान समझते हों इस से वैश्यपन भी निकृष्ट कक्षा का है उत्तम कक्षा का नहीं क्योंकि संसार का सुख भोगने के लिये ही प्रायः लोग न्याय अन्याय से वा उचित अनुचित सब प्रकारों से सम्प्रति धन खेंचने में लगे हुए हैं। यह धन का कोश जिस के पास अधिक होता उस के लिये जानो विष का खजाना होता जाता है उसी के कारण मनुष्य के ऊपर नाना

प्रकार की विपत्ति चोर डाकू आदि धावा करते उस के प्राणों के भी ग्राहक हो जाते हैं। जब धनी को प्रत्येक समय धन के कारण चिन्ता भय लगा है सुख पूर्वक निद्रा भी नहीं आती तो कैसे मान लें ? कि वह सुखी है।—

श्रियाह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम् ॥

प्रायः अविद्वान् अज्ञानियों के पास ही धन ठहरता है वेही उस को बड़ा समझ के अधिक पकड़ते हैं। संसार में प्रत्यक्ष दृष्टि डालो तो विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों का अधिक भाग आप को प्रत्येक देश काल और समुदाय में अधिक धन रखने वाला मिलेगा। जो २ जैसा २ अधिक विद्वान् होगा वह २ वैसा २ कम धनाढ्य होगा क्योंकि धन का निरन्तर आना मनुष्य को मोहित प्रमादी करदेता एक प्रकार का मद (नशा) उस को हो जाता है इसी नशा के कारण उस को उचित अनुचित वा धर्माधर्म का विवेक करने की शक्ति नहीं रहती तब वह निकृष्ट कर्मों के फल अधोगति को ही प्राप्त होता जाता है। इत्यादि दोषों को विचारते हुए ही पूर्वज आर्य राजर्षि लोग भी तपस्वी होते थे किन्तु अब कैसे धनसंग्रही वा धन के लालची प्रत्येक काम से धनोपार्जन की तृष्णा रखने वाले राजा नहीं होते थे क्योंकि धन का बल जहां बढ़ता है वहां आत्मिकबल विद्या का अंश जो ब्रह्मबल कहाता और शारीरिक बल जो क्षत्रबल कहाता दोनों घट जाते हैं जिस को सन्देह हो वह बड़े २ धनियों में इन दोनों बलों की अवनति प्रत्यक्ष देख लेवे। क्योंकि जिस के पास जैसा अधिक धनादि होगा वह वैसा ही अधिक भोगेगा और— (भोगे रोगभयम्) अधिक भोग के साथ अधिक रोग लगे ही हैं मोटपान भी एक रोग है इसी लिये सुश्रुत में लिखा है कि—

कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥

यद्यपि अधिक मोटा, अधिक पतला होना दोनों ही रोगी हैं तथापि स्थूल से कृश अच्छा होता है। धनी का विचार अधिक अच्छा २ खाने, पहरने, भोगने, धनादि की रक्षा करने तथा किसी प्रकार धन के चले जाने की चिन्ता से हृदय में धकपक मची रहने आदि में दिन रात बना रहता है विद्या सम्बन्धी विचार वा आत्मिक सुधार के लिये उस को कभी क्षण भर भी अवकाश नहीं मिलता इस से वह उच्च कक्षा के दोनों सुधारों से वंचित रह जाता है। यहां धनलिप्त कहने

से जिन का प्रधान उद्देश धन संग्रह नहीं किन्तु आत्मिक और शारीरिक सुधार को सहायतार्थ प्रयोजनमात्र जो धन चाहते हैं वे उस कोटि में नहीं लिये जावेंगे । इत्यादि विचार से वेदमतानुयायी आर्य राजाओं ने लाखों क्रोड़ों वर्ष सृष्टि के आरम्भ से राज्य किया पर धन के जोड़ने का प्रधान उद्देश उन का नहीं था किन्तु वे लोग आत्मिक शारीरिक बल जिस का नाम ब्रह्मबल और क्षत्रबल है उसी का मुख्य आदर करते थे प्रयोजनमात्र धन से भी काम लेते थे इसी कारण इतने दीर्घकाल तक राजर्षि लोगों ने निष्कण्टक पृथिवी भर का राज्य किया कोई विघ्न नहीं हुआ । और महाभारत युद्ध के पश्चात् ज्यों २ क्रमशः ये दोनों आत्मिक बल तथा शारीरिक बल घटते गये साथही साथ विषयासक्ति तथा धनादि पदार्थों का लोभ लालच बढ़ा संग्रह करने लगे शृङ्गार अधिक होने लगा लिफाफा बनना चलना आरम्भ हुआ [शौकीनी में फसने लगे] तभी शारीरिक आत्मिक-बल की हीनता को और धनादि ऐश्वर्य को अधिक देख कर यवन लोगों को इस देश पर आक्रमण करने का अवसर मिला । जब यवन लोग इस देश के राजा हुए तो वे भी उन बिगड़े आर्यों से सहस्रों अंश अधिक विषयासक्त हुए विषयाराम (ऐशआराम) को ही बड़ा माना वैसे ही धनैश्वर्यादि के सामान में फसे तथा आत्मिक और शारीरिक बल को और भी अधिक तिलाञ्जलि यवन लोगों ने देदी थी इस कारण उन को दबाने वाले यूरोपियन लोग खड़े हुए। यद्यपि इन में यवनों की अपेक्षा विषयासक्ति कम है और उन के समान आत्मिक शारीरिक बल को इन लोगों ने अधिक धक्का देके नहीं गिराया पर तथापि पूर्वज राजर्षियों की अपेक्षा धन की ओर अधिक लालच होने से इन लोगों को भी उक्त दोनों बलों की ओर पीठ फेरने ही पड़ी। इस लिये हम शुद्ध हृदय से और मुक्तकण्ठ से वर्त्तमान अंग्रेजी गवर्नमेण्ट को सम्मति देते हैं कि वह धनाकर्षण को प्रधान उद्देश न माने। खर्च भी जितना बढ़ा है उस को शोच समझ के धीरे २ कम करे और ग्रामीण प्रजा जो अति दुःखी है उस की पुकार सुने । खर्च कम करने की दशा में ग्रामीण प्रजा के शिर से बढे हुए कर का महाभार हलका करना अति सुगम होगा । द्वितीय आत्मिक तथा शारीरिक बल को भी धक्का न दिया जाय किन्तु धनादि की अपेक्षा उक्त दोनों बलों को प्रधानता दी जाय। ये दोनों बातें साथ ही होंगी और इस मार्ग पर चलने की वही रीति वा सीढी है जो पूर्वज भारतवर्षीय राजर्षि लोगों ने स्वीकार की थी अर्थात् स्वर्ग तक चढ़ जाने के लिये वह धर्म की निःश्रेणी (निसेनी) है। हमे पूर्णविश्वास

है कि अंग्रेज गवर्नमेण्ट हमारी सम्मति को स्वीकार करके निष्कण्टक धर्ममार्ग के द्वारा राज्य शासन करेगी यदि राजनीति को धर्म से तथा धर्म को राजनीति से भिन्न न माने, तथा मानव धर्मशास्त्रादि के समान राजधर्म पर कटिबद्ध हो जावे तो इस गवर्नमेण्ट का अटल निष्कण्टक चिरस्थायी राज्य हो जाना सम्भव है। हमने यह सम्मति राज्य की शुभचिन्तकता से दी है। यदि हमारी इस सम्मति पर थोड़ा भी ध्यान दिया गया तो हम आगे २ और भी अच्छी २ सम्मति. दिया करेंगे। यद्यपि हमारा पत्र धर्म सम्बन्धी है तथापि इस लेख वा विचार को धर्म से भिन्न कोई महाशय न समझें क्योंकि जिस उपाय से राजा वा प्रजा सब को सुख स्वस्थता तथा शान्ति मिले वह धर्म से अलग कदापि नहीं हो सकता।

इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अंगरेजी राज्य में विशेष विघ्न करने वाला कोई हेतु शीघ्र बलिष्ठ हो सकता है परन्तु यह विचार अवश्य है कि—

ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥

जिस में सर्प रहते हों ऐसे घर में वसना मृत्यु का हेतु अवश्य होता है। इसी के अनुसार अंगरेजी राज्य के अनेक सर्प हैं जो घर के भीतर बाहर सब ओर से डशने का उपाय किया करते हैं अवसर देखा करते, थोड़ा भी अवसर मिलते ही काटने को दौड़ते हैं परन्तु हमारी गवर्नमेण्टने उन सब को अपने अति प्रबल प्रताप से ऐसा दबा रक्खा है कि उन्हों ने कभी थोड़ा भी शिर उठाया तो ऐसे दबा दिये जाते हैं जो न उठाने के समान ही मानेजाते इस कारण यह कोई नहीं कह सकता कि वे सांप कब वा कैसा विघ्न कर सकते हैं इस से हम मानलें कि ऐसा ही बहुत अधिक सहस्रों वर्ष चला जावे तथापि यदि सांप न रहें वा नये प्रकट भी नहों जिस से गवर्नमेण्ट को चिन्ता भय शङ्का भी न हो तब जैसा राजा प्रजा को सुख वा शान्ति हो सकती है उस की अपेक्षा अब शतांश भी सुख वा शान्ति नहीं है। यदि किसी कांटों वाले मार्ग में हमे चलने पड़ता और हम उस मार्ग का शोधन किसी कारण से नहीं कर सकते और पग २ रखते समय कांटों का ध्यान रखते हैं कांटो के लग जाने की हर वार चिन्ता वा शङ्का में रहते हैं तो क्या हम को शान्ति वा सुख मिल जाना कोई कह सकता है? कदापि नहीं द्वितीय वैसे मार्ग में कांटों से सर्वथा बच भी नहीं सकते। इस से उत्तम यही है कि कण्टक न रहें। इन में बहुत से कांटे ऐसे हैं जो ऊपर से देखने में कांटे नहीं दीखते पर शोचने से वे प्रसिद्धों से भी बुरे हैं ॥

सर्पो दशति काले तु दुर्जनस्तु पदेपदे ॥

यदि गवर्नमेण्ट का ऐसा विश्वास हो कि यह असाध्य है सो ठीक नहीं। जो जिस को नहीं कर सकता वही उस को असाध्य हो जाता है। यदि राजा को प्रजा का और प्रजा को राजा का सर्वथा विश्वास हो, दोनों का हित दोनों चाहें भीतर से अनिष्ट चिन्तकता दूर हो जाय तो निष्कण्टक राज्य वा मार्ग हो सकता है। तब इधर उधर के शत्रु कुछ नहीं कर सकेंगे।

इस लेख से हमारा प्रयोजन यह है कि राज्यरूप जड़ से यदि सुधार हो तो शाखाओं के सुधार की अपेक्षा अधिकतर उत्तम है। "यथाराजा तथा प्रजाः" के अनुसार राजा ही मुख्य वा मूल है। सो यदि हमारे लेख को साधारण वा निकृष्ट समझ कर कि यह केवल कुछ संस्कृत पढ़ा मनुष्य, राजनैतिक विषयों का मर्म क्या जाने? राजा उपेक्षा करदे वा कुछ ध्यान न देवे तो हम भारत वर्षीय आर्यों से निवेदन करते हैं कि जिस राज्य का वा राजवर्ग का आत्मिक शारीरिक सुधार की ओर ध्यान वा मुख न होने तथा धन की ओर मुख ठीक फिरा होने से स्वयं ही सुधार नहीं है वा जो कुछ है वह भी हिल चल दशा में है तो तुम उस समुदाय को सुधरा वा उन्नत हुआ मान कर उस के पीछे २ लग के अपना सुधार मानते वा करना चाहते हो यह बड़ी भूल है। तुम भी उन को अग्रगन्ता शिक्षक वा गुरु न मान कर केवल एक ईश्वर जो सब गुरुओं का भी गुरु है उस को अपना इष्ट मानते हुए संसार रूप महा अथाह समुद्र में पार हो जाने के लिये अत्यन्त अटूट दृढ़ अविनाशिनी वेदरूप नौका को अत्यन्त दृढ़ता के साथ पकड़लो तब तुम अवश्य सुख से पार हो जाओगे। अभी अंगरेजों को मालूम होता होगा कि ये लोग हमारे पीछे २ चल के हमारा अधिकार कदाचित् लेना चाहते हैं इस से तुम को अच्छा नहीं समझते जब तुम केवल वेदाध्ययन ब्रह्मचर्याश्रमादि द्वारा धर्म में ही तत्पर रहोगे जिस से आत्मिक शारीरिक दोनों बल बढ़ सकते हैं जब तुम किसी का स्वप्न में भी अनिष्ट न चाहोगे। तब तुम्हारे ऐसे वर्त्ताव से अंग्रेज लोग भी तुम्हारे मित्र हो जायंगे। उन को तुम से लेशमात्र भी सन्देह न रहेगा। वसिष्ठ विश्वामित्रादि महर्षि लोग किसी देश वा द्वीप के राजा नहीं थे पर उन की बराबर कोई राजा सुखी न हुआ न किसी की ऐसी कीर्त्ति हुई तो सुख धर्म के साथ है। सोना चांदी आदि धन पार्थिव जड़ है जिस को अन्न के अभाव में कोई खा भी नहीं सकता जिस के ठीक विद्यमान रहते भी

महा भयङ्कर घोर दुर्भिक्ष होते हैं हाहाकार मच जाता है । यदि उस के द्वारा उन्नति मानो तो बड़ी भूल है । खाना पीना पशु पक्षी कीट पतङ्गादि सब किसी का स्वाभाविक काम है यदि तुमने खाने पीने पहरने ओढने आदि के लिये धनादि संचय में ही अपना जन्म बिता दिया तो तुम्हारी मनुष्ययोनि व्यर्थ है॥

इस लेख के उपसंहार में हमारा प्रयोजन वा भीतरी अभिप्राय यह है कि हमारा लेख अधिकांश इसी देश के लोगों के दृष्टि गोचर होगा और इस देश के राजा इस समय अंगरेज हैं तथा राजा प्रजा के सर्वथा मेल अविरोध एक दूसरे के हित चिन्तक होने में दोनों का कल्याण है । वा चाहें यों कहो कि यदि स्वार्थसाधन की ओर अत्यन्त तत्पर न रह कर राजा प्रजा के साथ धर्मानुकूल वर्त्ताव करे और प्रजा राजा के साथ धर्मानुसार सर्वथा छल छिद्र छोड़ कर वर्त्ताव रक्खे तो दोनों का कल्याण अवश्य हो सकता है । यद्यपि सब की एकसी बुद्धि वा विचार नहीं होता इस कारण राजवर्ग और प्रजावर्ग के सब पुरुषों के विचार सुधर के एक से हो जाना दुस्तर हैं तथापि प्रधान २ पुरुष जिन के पीछे लग कर अन्य साधारण लोग चलते हैं उन के विचार वा काम सुधर जाने पर कुछ निर्बल भाग धर्म से विरुद्ध बना भी रहे तो कुछ विघ्न नहीं कर सकता । इन दोनों में राजा प्रबल वा प्रधान है । राजा के साथ किसी प्रकार विरुद्ध विचार रखने वाली भी प्रजा अपने लिये सुख अवश्य चाहती है और जब राजा की कृपा दृष्टि रहने मात्र से उस को सुख मिल सकता है तो सौ में एक भी ऐसा मिलना कठिन है जो साक्षात् कृपा करने वाले से विरोध रक्खे । तथापि यदि मान लें कि अपने साथ भलाई करने वाले को भी कोई २ शत्रु मानने वाले हो सकते हैं तब यह अवश्य रहा कि वहां एक ही दोषी होगा और एक ही भोगेगा । उलटी और मिथ्या एक ओर की शत्रुता से उस शुद्ध की कुछ हानि वह नहीं कर सकता तथा उस के साथी लोगों में से ही निर्दोष के साथ बुराई करने वाले को दबाने वाले हो जांयगे । इस लिये हमारी सम्मति है कि राजवर्ग के प्रधान २ सज्जन आर्य लोग प्रथम अपनी ओर देखें । अपने घोटू से न्याय करें अपने दोषों को छोड़ें प्रजा की ओर शुभ दृष्टि करें तो उन के सब कण्टक निवृत्त हो सकते हैं । और धर्मनिष्ठ धर्मात्मा कहे जा सकेंगे उन की शुभ कीर्त्ति जगत् में विद्यमान रहेगी । अंगरेज लोग यह भी ध्यान रक्खें कि श्रीमती महाराणी का पुकार २ के जय २ कार मनाने वाले बहुत से लोग जो दीखते हैं उन में अन्तः

करण से राज्य के शुभ चिन्तक बहुत ही कम मिलेंगे । अनेक तो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये और अनेक लोग अपने भीतरी दुर्भावों के कारण होने वाले भय से बचने के लिये जय२कार मनाते और शुभचिन्तकता दिखाते हैं तथा कोई २ शुद्ध हृदय से भी अंगरेज़ी राज्य के शुभन्तिक हो सकते हैं पर ऐसे बहुत कम मिलेंगे इसलिये वे लोग भूल में न रहें । जो लोग मेरे इस लेख को ध्यान देके शोचेंगे उन को मेरा यह आशय प्रतीत हो जायगा कि मुझे किसी का पक्ष नहीं दोनों की ओर समान दृष्टि दोनों का उपकार शोच के मैंने लिखा है । इतना होने पर भी हमें राज पुरुष प्रजा का एक साधारण मनुष्य समझ कर ध्यान न देवें तो आशा है कि भारत वर्षीय प्रजा के सज्जन विचार शील आर्य लोग अवश्य ध्यान देवेंगे । अपने कल्याण के लिये अर्थात् संसार में सुखी रहने के लिये अपने२ अन्तःकरण से राजा के शुभचिन्तक रहते हुए धर्मानुसार अपनी उन्नति चाहें और करें किसी के अशुभ चिन्तक रहते हुए यदि अपना सुधार चाहेंगे तो अशुभ चिन्तकता रूप अधर्म से उन्नति होकर सुख मिले यह सम्भव नहीं है । राजा की अनुकूलता कोई साधारण बात नहीं है किन्तु मनुजीने इस को धर्म मान के पालन करने के लिये आज्ञा दी है—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्यइति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥१॥ अ० ७॥

बालक वा किसी अंश में अज्ञानी राजा का भी प्रजा के लोग अपमान न करें उसको तुच्छ वा साधारण न समझें क्योंकि ऐसा अधिकार ईश्वर की कृपा वा शुभ प्रारब्ध के विना नहीं मिलता । राजा पर ईश्वर की कृपा अवश्य होती है तब जिस का ईश्वर सहायक है जिसका दैव अनुकूल है उसके साथ हम विरोध करें तो जानो ईश्वर और दैव के साथ भी हमने विरोध किया फिर क्या हमारे सुधार वा उन्नति की आशा स्वप्न में भी हो सकती है ? । कदापि नहीं इस लिये अपने देश वा जाति की अधोगति मिटाने और सुधार वा उन्नति करने के लिये तत्पर हुए भारत वर्षीय हम आर्य वा आर्यसमाजस्थ अग्रगन्ता लोगों को विशेष कर उचित है कि वर्त्तमान अंगरेज़ी राज्य के हृदय से शुभचिन्तक बनें इस में लेशमात्र भी आगा पीछा न शोचें । निश्चय रक्खो कि इस का शुभ फल शीघ्र ही तुम को प्रत्यक्ष दीखेगा ॥

हमारा प्रयोजन यह है कि यदि गवर्नमेण्ट के लोग हम को अनुकूल करने का उद्योगारम्भ नहीं करते तो हमी प्रथम अपनी ओर से उन को अनुकूल करने का उद्योग करें। एक पहिले करेगा उस के साथ दूसरे को भी वैसा ही करने पड़ेगा। यदि हम अपने साथ बुराई करने वाले के साथ भी भलाई करें तो उसे बुराई छोड़ देनी पड़ेगी यदि वह नहीं भी छोड़े तो हम को उस के साथ बुरा बनने न पड़ेगा इसी कारण ["मायाचारो मायया वर्त्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः" सीधे के साथ सीधा और खोंटे के साथ खोंटा वर्त्ताव करना चाहिये] इस नीति की अपेक्षा उपरोक्त कर्त्तव्य ही कल्याणकारी उत्तम धर्म है। क्योंकि इस नीति के वचन से आगे स्पष्ट लिखा है कि यह कुटिल वा अधर्म से भरी नीति है स्वार्थ की टट्टी जिन के आगे खड़ी है वे शक्तिभर अपने स्वार्थ को दूसरों की हानि करके भी सिद्ध करना चाहते हैं पर मन समझौती के विना अपना स्वार्थ वा अन्य की हानि कुछ भी नहीं करपाते। इस से जब वेद निष्कलङ्क शुद्ध सर्वोपरि धर्म का मूल है तो आर्यों को भविष्यत् में वेद का ही मुख्य आश्रय ले के अपना तथा संसारभरके सुधार का उद्योग करना उचित है अंगरेजों के पीछे चल के अपना सुधार चाहना कदापि उचित नहीं है और द्वितीय विचार यह है कि "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः" इस न्याय के अनुसार यदि आर्यसमाज कहने से वर्त्तमान समय में प्रसिद्ध समुदाय ही आर्यसमाज समझा जाय तो हमारा अभिप्राय वा प्रयोजन यह है कि—आर्यसमाज एक धर्म सम्बन्धी समुदाय है। इस का मुख्य सिद्धान्त वेदोक्त धर्म का प्रचार करना है। परन्तु अनुमान है कि वर्त्तमान गवर्नमेण्ट को किन्हीं कारणों से अन्यों के तुल्य आर्यसमाज से भी कुछ अपने अनिष्टचिन्तक होने की शङ्का हो गयी है। इस लिये हम स्पष्ट लिखते हैं कि आर्यसमाज की जड़ से ही स्वप्न में भी यह बात नहीं है। किसी के अशुभचिन्तक का उद्देश धर्म कदापि नहीं हो सकता। यदि माना जाय कि आर्यसमाज में नाना प्रकार के मनुष्य सम्मिलित हो गये हैं उन में से अनेकों की इङ्गना चेष्टा से राज्य के साथ विरोध झलकता है तो भी आर्यसमाज का उद्देश यह न ठहरा ऐसे तो आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए भी अधिकांश मनुष्यों में भी मिथ्याभाषण, किसी का अनिष्ट चिन्तन, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध, काम, चालाकी से स्वार्थ सिद्ध करना आदि नाना प्रकार के दोष भरे पड़े हैं। इसी कारण तो सुधार की शीघ्र आशा प्रतीत नहीं होती। अन्यों से अधिक कहते तु-

था स्वयं अपने सुधार की ओर ध्यान देने वाले बहुत कम हैं। दूसरों का सुख छीन के सुखी होने की चेष्टा करने वाले बहुत हैं इसी लिये तो " आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य ". हमारा लेख है। पर इतने से अङ्गरेज लोग भी अपने को कहीं निर्दोष न समझ बैठें ॥

अन्त्य में शुद्ध सच्चे परोपकारी वस्तुतः आर्य कहाने योग्य आर्यों से निवेदन है कि वे नाना प्रकार के कष्ट सहते हुए भी आर्याभास अनार्यों को भी आर्य बनाने की चेष्टा वा श्रम करें। और जिन हेतुओं वा कारणों से वर्त्तमान राजा को आर्यसमाज की ओर तिरछी निगाह से देखने का अवसर मिलता हो वा सन्देह होता हो उन कारणों को आगे २ शोच समझ के निकालते जावें और शुद्ध हृदय से वेदोक्त धर्म का पालन करने द्वारा अपना वा अन्यों का सुधार आगे २ करना आरम्भ करें इति—

(भा० ८ अं० ९ पृ० १६८ से आगे आर्यतत्त्वप्रकाश का उत्तर)

ईसाई—और भी बहुत से मन्त्र हैं जिन में ऋषियों ने अपने को मन्त्र कर्त्ता ठहराया है। ऋ० मं० १ सू० २० मं० १—

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः ॥

आर्य—यहां से आगे जो मन्त्र लिखे हैं उन का अर्थ ईसाई महात्मा ने नहीं लिखा इस लिये हम उचित यथार्थ विचार लिखते हैं। इस मन्त्र में किस ऋषि ने अपने को मन्त्र कर्त्ता ठहराया है? यह ईसाई लोग बतावें यदि न बता सकें तो मान लेवें कि मिथ्या बोलना हमारा धर्म है और मिथ्या को हम लोग मोल ले चुके हैं।

अ०—जन्मने जायमानाय मेधावित्वेन प्रसिद्धाय जगत्स्थाय सदा प्रकटाय देवाय द्योतनशीलायेश्वराय वा विप्रेभिर्मेधाविभिर्धारणावतीबुद्धियुक्तैः सुधर्मनिष्ठैः पुरुषैरयं प्रत्यक्षो रत्नधातमो विद्यादिरत्नवस्तूनामतिशयेन प्रापकः

स्तोमः स्तुतिसमूह आसयाऽऽस्येन मुखेनाकारि क्रियते नतु केवलेन मनसेत्याशयः। अर्थाद्वेदमन्त्रैरीश्वरस्तुतिरूपं कर्म गोपनीयं नास्ति यद्गोपनीयं तद्वाचा न प्रकाश्यते। अर्थात्-वाचा वक्तुं योग्यएवायं स्तोमोऽस्ति। ईश्वरस्य पूर्णभक्त्या यादृशानि यावन्ति च रत्नानि प्राप्तुं शक्यन्ते न तादृशान्यन्यप्रकारेणेति ॥

भा०—अयमित्यष्टर्चसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। ऋभवो देवता ऋभुशब्दश्च निघण्टौ मेधाविनामसु पठितः। तद्बोधनायैव मन्त्रे विप्रशब्दोऽस्ति विप्रपदस्यापि तत्रैव पठितत्वात् कण्वशब्दोऽपि मेधाविनामस्वेवास्ति। मेधैवातिथिवदादरणीया पूज्या यस्य स मेधातिथिः कण्वस्य मेधावित्वकारणस्यापत्यं कार्यं काण्वः कारणगुणपूर्वकस्य कार्यगुणस्य दर्शनात्। यथा चाग्निनाऽग्निः समिध्यतइत्यादिमन्त्रेषु वेदवाक्यानामतीव बुद्धिपूर्वः सर्वज्ञविचारयुक्तः प्रयोगो न कस्मिन्नपि देशे काले पदार्थे वा तादृशवेदवाक्यस्य व्याघातो दृश्यते। येषु येषु वस्तुषु प्राधान्यमग्नेस्तैरेवाग्निपदवाच्यैरश्मवंशारणिदीपशलाकादिभिर्घर्षितैरग्निः समिध्यते नतु मृणालसूत्रादिघर्षणेनाग्निरुत्पद्यते। यदि पयसाऽग्निः समिध्यतइति वेद उच्येत तदाऽग्निना सिञ्चतीति वाक्यवदबुद्धिपूर्वकमनर्थं वैदिकं वाक्यं स्यात्। नच तादृशानि वेदे वाक्यान्युपलभ्यन्ते तस्मात्सर्वदा सर्वथैवाव्याहतानि वेदवाक्यानीति। एवमत्रापि मे-

धाप्रधानो मेधातिथिः काण्वएव ऋभुपदवाच्यस्य मेधाविनो मेधाविस्त्वं वेदितुमर्हति। यथा लोकेऽपि वदन्ति "विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्" अत्र च प्रकरणे द्वादशसूक्तानां काण्वो मेधातिथिर्ऋषिरस्ति। मेधातिथिकाण्वपदद्वयेन मेधावित्त्वेऽपि मेधाविस्त्वस्य प्राधान्यं दार्ढ्यं च विज्ञाप्यते। यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवतेत्युक्तम्। तदत्र मेधातिथिना काण्वेन मेधाप्राधान्याद्गुणज्ञानशक्तिमता सतैव मन्त्रेणोच्यमानर्भुदेवतायाः साधर्म्यात्स्तुतिः कर्त्तुं शक्यते। मेधातिथिना काण्वेनान्येपीन्द्रादयस्तत्रतत्र स्तूयन्ते स्तोतुं वा युज्यन्ते। अन्येन च कुत्सादिपदवाच्येन सूक्तान्तरेषु ऋभवः स्तूयन्ते तथापि तदुभयापेक्षया मेधातिथिकृत ऋभुस्तवः साधर्म्याधिक्यात् प्रधानः। मनुष्यार्थत्वाच्च वेदस्य मेधातिथ्यादिपदैस्तादृशा मनुष्याएव ग्राह्याः। ऋभुपदेन सापेक्षदशायां तदर्था मेधाविनो निरपेक्षऋभुत्वे चेश्वरएव ग्राह्य इति वेदस्य व्याप्तएवार्थो नत्वेकदेशीति ॥

भाषार्थः—(जन्मने देवाय विप्रेभिरयं रत्नधातमः स्तोम आसयाऽकारि) अपनी बुद्धि की तीव्रता वा अधिकता से प्रसिद्ध सामान्य पुरुष के लिये वा नियमानुसार जगत् की व्यवस्था दिखाने द्वारा सदा प्रकट द्योतनशील प्रकाशमय चेतनस्वरूप ईश्वर के लिये धारणावती बुद्धि वाले सुधर्मनिष्ठ शुद्धाचारी पुरुष वेद के द्वारा विद्यादि रत्न पदार्थों को अधिकता से प्राप्त कराने वाली इस प्रत्यक्ष स्तुति को मुख से करते थे करते हैं और करेंगे किन्तु केवल मन से नहीं अर्थात् वेद मन्त्रों द्वारा ईश्वर की स्तुति रूप काम छिपाने योग्य नहीं है जिस में कुछ मिथ्यापन आदि दोष होता है वही विषय छिपाया जाता है। वेद का विषय अत्यन्त

निर्दोष तथा बुद्धिपूर्वक होने से स्पष्ट [खुले मैदान डंका बजा के] कहने योग्य है यह (आसया) पद से जताया है। तथा ईश्वर की भक्ति से जैसे और जितने रत्न पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है वैसी अन्य प्रकार से नहीं ॥

भा०—(अयं देवाय०) इस आठ ऋचा वाले सूक्त का काण्व मेधातिथि ऋषि और ऋभुदेवता हैं। निघण्टु में ऋभुनाम मेधावि का है उसी विशेष बुद्धि वाले को जताने के लिये मन्त्र में विप्र शब्द है क्योंकि विप्रशब्द भी मेधावि नाम में ही पढ़ा है। और कण्व शब्द भी मेधावि नाम में ही पढ़ा है अतिथि के तुल्य मेधा नामक बुद्धि ही जिस की पूज्य सर्वोत्तम है वह मेधातिथि कहाता है। कण्वनाम मेधाविपन के मूल कारण का अपत्यनाम कार्य काण्व कहाता क्योंकि कारण के गुणानुसार कार्य में गुण आते हैं। यह सर्वत्र प्रत्यक्ष है। इस से यह आया कि जड़ से ही विशेष बुद्धिमान् विशेष ज्ञानी को जान सकता वा कह सकता है। यही बात कठोपनिषद् में स्पष्ट कही है कि—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः,,

पैनी सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी लोग ईश्वर को देख सकते हैं अर्थात् अज्ञानी मूर्ख नहीं। जैसे (अग्निनाऽग्निः समिध्यते) अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होता है। इत्यादि वेद के मन्त्रों में अत्यन्त बुद्धि पूर्वक सर्वज्ञ के विचार से युक्त वेद वाक्यों का प्रयोग सर्वथा युक्ति युक्त है क्योंकि किसी देश काल वा वस्तु में उन वैसे वेद वाक्यों का खण्डन वा विरोध नहीं दीखता किसी देश काल वा जाति में वेद के विचार न घटें वा उन से उलटा क्रम कभी कोई चल सके वा कर सके यह कदापि सम्भव नहीं। जिन २ वस्तुओं में अग्नि की प्रधानता वा अधिक व्याप्ति है उन अग्नि नामक पत्थर, वांस, अरणी वा दीवासलाई आदि के घिसने से ही सब कालों वा देशों में अग्नि सम्यक् प्रदीप्त होता है किन्तु जल से उत्पन्न हुए कमल के सूतों आदि के मलने वा घिसने से अग्नि तीनों काल में ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि वेद में कहीं ऐसा कथन हो कि "जल वा दूध से अग्नि प्रदीप्त होता है" तो लोक में प्रसिद्ध "अग्नि से सींचता है" इस वाक्य के समान वेद का वाक्य भी अनर्थक अबुद्धिपूर्वक विना शोचे समझे कहा ऊंटपटांग माना जावे पर ऐसे अविचार से कहे वाक्य वेद में कहीं नहीं दीखते वा मिलते। इस कारण सब काल में सभी प्रकारों से वेद वाक्य अखण्डनीय ठहरते

हैं। इसी प्रकार यहां भी बुद्धि जिस की प्रधान व्यवसायात्मिका है दृढ विचार से ही जो काम करता ऐसा ही सामान्य कोई पुरुष ऋभु पद के वाच्य मेधावि नाम बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता को जान सकता वा कह सकता है इसी से यहां कह सकने वाला मेधातिथि ऋषि और जिस की बुद्धिमत्ता को वह कहता वा जानता है वह ऋभुपद वाच्य मेधावि, मन्त्र का देवता है। लोक में भी यही कहावत् प्रसिद्ध है कि "(विद्वानेवहि०) विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को वा उस के पाण्डित्य को जान सकता है किन्तु मूर्ख पण्डित के पाण्डित्य का मर्म नहीं जान पाता" तथा "खग जाने खग ही की भाषा" इसी प्रकार जैसे के साथ तैसे का ही योग कहना वेदानुकूल युक्ति युक्त दृढ होता है। ऋ० मण्डल १ सूक्त २० के इस प्रकरण में १२–२३ तक १२ सूक्तों का काण्व मेधातिथि ऋषि है। मेधातिथि और काण्व दो पदों से बुद्धिमत्ता में भी अधिक बुद्धिमत्ता की प्रधानता तथा दृढता जतायी है। तथा "कहने वाला ऋषि और कहा जाने वाला विषय देवता कहाता है" यह पूर्व कह चुके हैं। सो बुद्धिमत्ता में प्रधान होने से गुणों के जानने कहने की शक्ति वला होकर ही सधर्मी होने से मन्त्र से कहे जाने वाले ऋभु देवता की स्तुति कर सकता है। तथा मेधातिथि अन्य इन्द्रादि पदवाच्य देवताओं की भी स्तुति करता वा कर सकता है और अन्य कुत्सादि पदवाच्य ऋषि भी सूक्तान्तरों में ऋभुओं की स्तुति करते हैं तथापि उन दोनों की अपेक्षा साधर्म्य की अधिकता से मेधातिथि के द्वारा ही ऋभुदेवताओं की प्रधान स्तुति हो सकती है। अर्थात् मेधातिथि की प्रधानता ऋभुओं की स्तुति द्वारा और ऋभुओं की प्रधानता वा उत्तमता मेधातिथि द्वारा स्तुत्य होने से ठहरती यह दोनों प्रकार का विचार यहीं संघटित होता है अन्यत्र नहीं। वेद मनुष्यों के कल्याणार्थ है इस कारण मेधातिथि आदि पदों से वैसे २ बुद्धिमान् मनुष्यों का भी ग्रहण करना उचित ही है। और ऋभुपद से सापेक्ष दशा में उस अर्थ के वाची मेधावि मनुष्यादि का तथा निरपेक्ष दशा में असीम ज्ञानशक्ति वाले ईश्वर का भी बोध होगा। इस प्रकार वेद का व्याप्त सामान्यार्थ मीमांसादि के सिद्धान्तानुसार यहां भी घट जाता है किन्तु एक देशी वेद का आशय नहीं यही वेद का वेदत्व है॥

अब हम पूछते हैं कि ईसाई मूसाई आदि सृष्टि भर का कोई भी मनुष्य वा प्राणी इस वेद के स्वाभाविक नियम को माने विना एक पग भर भी चल स-

कता है । जब कि घास वृक्ष वनस्पति आदि में भी एक ही से वृक्षादि एकत्र लगाये जाते जिन का जिन से मेल मिलता वेही उन के सहायक होते तथा अच्छे लगते हैं एक प्रकार के अनेकों अविरुद्धों के एकत्रित होने से जैसा अच्छा व्यवहार वा कार्य सिद्ध होता वैसा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों के योग से विरोध वा कार्य की हानि भी अधिक होती है । इसी लिये अंगरेज़ लोग भी एक ही प्रकार के मनुष्यों की एक २ पलटन बनाते हैं । बुद्धिमानों में भी एक २ प्रकार के बुद्धिमानों का मेल होता । ईसाई लोग भी विद्वान् और मूर्ख का मेल अच्छा नहीं समझते तो वेद का नियम उन को भी मानने ही पड़ता है पर कहते यही हैं कि हम वेद को नहीं मानते यही आश्चर्य है ॥

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा। उत प्रणेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ ऋग्वेद १ । ३१ । १८ ॥

यहां ३१—३५ तक पांच सूक्तों का हिरण्यस्तूप ऋषि है । हितकारी और रमणीय पदार्थ को हिरण्य कहते हैं । ये दोनों गुण सुवर्ण में भी अधिकांश हैं इसी से सुवर्ण भी हिरण्य कहा वा माना जाता है। सुवर्ण आग्नेय है इसी कारण नैयायिक आदि सभी लोग सुवर्ण को अग्नितत्त्व का कार्य मानते इसी से अग्नि कासा वर्ण वा रूप उस में होता और इसी अभिप्राय से " ज्योतिर्वै हिरण्यम् " ज्योति का नाम हिरण्य ब्राह्मण ग्रन्थों में लिख कर कार्य कारण की एकता दिखाई है । उस सामान्य हिरण्य वाच्यार्थ ज्योति आदि की स्तुति करने वाला सामान्य पुरुष हिरण्यस्तूप कहाता है । स्तु धातु से स्तूप शब्द बना है । निघण्टु में स्तुप शब्द स्तोतृ नामों में पढ़ा है । ज्योतियों के अन्तर्गत हितकारी रमणीय अग्नि भी हिरण्य है उसी की स्तुति इस ३१ सूक्त में हिरण्यस्तूप ऋषि करता है इस कारण इस सूक्त का अग्नि देवता लिखना ठीक युक्ति युक्त है । इस मन्त्र का उक्त विचारानुसार संक्षिप्त अर्थ यह है कि—

अ०—हे अग्ने ते तव यद् ब्रह्म स्तोत्रं वयं चकृम कुर्मस्त्वमे-तेनाऽस्माभिः प्रयुक्तेन ब्रह्मणा वेदस्तवेन शक्ती शक्त्या वा विदा ज्ञानेन वा साकं वावृधस्व स्वगुणैः सत्त्वप्रधानैस्त-मोगुणवारकैर्मच्छरीरउद्बुद्धो भव। उतापि वा वस्यो वसीयो वासहेतुकमतिशयितं श्रेयोरूपं स्थिरप्रज्ञत्वमस्मानभितउभ-यतः प्रकर्षेण प्रापय। वाजवत्या बलोत्साहवत्या सुमत्या शोभनबुद्ध्या नोऽस्मान् संसृज संयोजय। तादृश्या बलो-त्साहकल्याणसंसाधिकया प्रज्ञयाऽस्माकं दृढो नित्यः संसर्गः सम्बन्धो यथा स्यात् ॥

भा०—वेदाशयानुकूलो बाह्याभ्यन्तरप्रकाशप्रसादानन्दा-दीनामुत्पादकस्तमोवारकोऽग्निपदस्य सामान्योऽर्थः स च सापेक्षदशायां शरीरादिनानावस्तुषु प्रज्ञादिरूपेण नाना-विधो निरपेक्षदशायां चैकएवेश्वरोऽसीमान्धतमसवारकोऽ-सीमप्रकाशहेतुश्च तस्य सर्वस्यैव सामान्येनात्र गुणानुवादः स्वगुणोत्कर्षाय मन्त्रेष्वभीष्टः। निरतिशयपावनस्य सर्वथा सर्वदाऽव्याहतस्य सार्वकालिकस्य सर्वथैव सत्यस्य वेदस्य मुहुर्मुहुर्वाचा प्रयोगो देहेन्द्रियादीनां मालिन्यनिवारणेन परमशुद्धिप्रवर्त्तनद्वारा ज्ञानोत्पादकः सम्पद्यते। अतएवोक्तं मनुना "वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते"—इति। "यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्। तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः"—इति च ॥ यः कोऽपीदृश उ-पायः सएव वेदः सचान्यत्रापि सापेक्ष उपलभ्यमानो वे-दादेव शैलादभि नदी यथा तथा प्रवृत्तइति विज्ञेयम्। स-

वेणैव प्राणिवर्गेणाखिलदेशकालेषु मन्यते मन्तुं वा युज्यते वाचा शुभस्य कीर्त्तनमशुभस्य निवर्त्तकं तस्यैव मनसाऽभिध्यानं दुर्वासनारूपस्य दुःखहेतोरनिष्टकर्मणो दाहकमिति को नकारं कर्त्तुमर्हति ? तेन वेदस्य सार्वकालिकसार्वदेशिकत्वे पुष्यतएव ॥

भाषार्थः-हे (अग्ने) प्रकाशक ! (ते यच्चक्रम) हम लोग जो तुम्हारी विशेष स्तुति करते हैं (एतेन ब्रह्मणा) इस हमने प्रयोग किये वेद के स्तोत्र से अपनी (शक्त्या वा विद्या वा) स्वाभाविक शक्ति वा ज्ञान बढ़ाने के कारण सहित (वावृधस्व) वृद्धि को प्राप्त होओ अर्थात् तमोगुणरूप अज्ञान को दूर करने वाले अपने सत्त्वप्रधान गुणों से मेरे शरीर में प्रकट हो (उत वस्योऽस्मानभिप्रणेषि और भी वस्ने नाम सर्वोत्तम स्थिर निश्चल श्रेयरूपस्थिर बुद्धि शान्ति के हेतु ज्ञानादि हम को दोनों ओर-देवपितृमार्गों से विशेष कर प्राप्त कराओ । और (वाजवत्या सुमत्या नः संसृज) बल और उत्साह बढ़ाने वाली बुद्धि से हम लोगों को संयुक्त करो अर्थात् वैसी बलोत्साह द्वारा कल्याण कारिणी बुद्धि से हमारा सम्बन्ध वा मेल हो यही चाहते हैं ॥

भा०-वेदाशय के अनुकूल भीतरी वा बाहरी प्रकाश प्रसन्नता तथा आनन्द का उत्पादक और तमोगुणरूप अज्ञान वा अन्धकार का निवारक अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ है । वह अग्नि का वाच्यार्थ तत्त्व सापेक्ष दशानुसार शरीरादि नाना प्रकार के पदार्थों में बुद्धि आदि अनेक भिन्न २ रूपों से अवस्थित है तथा निरपेक्ष अग्निपन, असीम अज्ञान तमोगुणादि का नाशक और असीम प्रकाश का हेतु एक ईश्वर में ही है । उस सभी अग्निपन का सामान्य कर मन्त्र से गुणानुवाद अपने कल्याण वा सुधार के लिये करना उचित है । सर्वथा सर्वदा अखण्डनीय निरतिशय पवित्र सार्वकालिक सर्वथा ही सत्य वेद की वाणी से बार २ प्रयोग करना शरीर तथा इन्द्रियादि की मलिनता का निवारण करके परम शुद्धि की प्रवृत्ति करने द्वारा ज्ञान का उत्पादक होता है । इसी लिये मनु जी ने कहा है कि "वेद का अभ्यास करना ब्राह्मण का परम तप वा परम धर्म है" तथा "वन आदि में बल के साथ प्रज्वलित हुआ अग्नि जैसे गीले वृक्षों को भी

शीघ्र जला देता है वैसे ही वेद का जानने वाला वासनारूप से संचित प्रबल कर्मों को भी भस्म कर देता है। जो कोई ऐसा प्रबल शुद्ध ज्ञान का उपाय है वही वेद है। वह अन्यत्र लौकिक ग्रन्थादि द्वारा सापेक्ष उपलब्ध होता हुआ पहाड़ से नदी के समान वेद से ही निकल कर सब देशदेशान्तरों वा मतमतान्तरों में नाना मार्गों द्वारा सापेक्ष फैला है। उस के साथ उस २ देश काल के मनुष्यों का दूषित विचार भी मिल गया है। सभी प्राणीमात्र वा मनुष्यमात्र सब देश कालों में उसी को मानते वा मानने पड़ता है उसी के द्वारा कुछ २ सुख वा शान्ति प्राप्त करते हैं। शुभ विचार का वाणी से कीर्त्तन तथा मन से अभिध्यान करना दुर्वासनारूप से संचित दुःखफल के हेतु कर्म का नाशक है इस में ईसाई आदि कोई भी नकार नहीं कर सकता अर्थात् वाणी वा मन से अन्धकार अज्ञान तथा मिथ्या भाषण चोरी अशुद्धि अन्याय लम्पटता आदि के कहने वा चिन्तन करने को कोई भी अच्छा कल्याणकारी नहीं मानता तब फिर यदि वेद को बुरा कहता वा मानता है तो वह अपने हित को वा मन्तव्य कल्याण को ही धक्का देता है इस से वेद का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक होना पुष्ट हो गया। ईसाई आदि के सभी मत किसी निज देश काल में हुए उसी देश काल कीसी बुद्धि रखने वाले किसी २ निज मनुष्य द्वारा प्रचरित हुए एकदेशी हैं वे कभी सर्वदेशी नहीं ठहर सकते। वे मनु जी के कथनानुसार जल के बलबूलों के समान इस संसार में उत्पन्न हो२ कर नष्ट या करते हैं। जैसे कहा है कि–

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

विकारी निकृष्ट मलिनांश असार जिस में विशेष मिला होता ऐसे शरीरादि पदार्थ जैसे शीघ्र२ उत्पन्न हो२ कर सदा ही नष्ट होते रहते हैं कोई भी ऐसे वस्तु चिरस्थायी नहीं होते पर जिन में सार अधिक है ऐसे हीरादि पदार्थ अधिक चिरस्थायी प्रत्यक्ष दीखते हैं इसी प्रकार जिन मतों वा पुस्तकों में उन २ मत प्रवर्त्तक वा ग्रन्थ कर्त्ताओं के अधूरे मलिन अनुभव सब ओर से ठसाठस भरे हैं ऐसे सहस्रों लाखों मत वा पुस्तक सृष्टि के आरम्भानन्तर प्रलय पर्यन्त कल्प में बीचर प्रकट हो २ कर जलबुद्बुदों के समान शीघ्र २ नष्ट होते आये और होते रहेंगे। अर्बों वर्ष समय के सामने ईसाई मूसाई आदि के मत वा पुस्तक चार छः वा दश

श्रीमद्दयानन्द विश्वविद्यालय पाठशाला का आय व्यय–मास अगस्त–सितम्बर सन् १८९७ ई०

१५॥।=)॥ गत मास का शेष ॥

९७॥।)।–चन्दा इस प्रकार निम्नलिखित महाशयों का आया है अर्थात् ६) बा० बल्देवप्रसाद जी इञ्जिनियर आगरा १०) बा० हरवक्स जी चिरङ्क अजमेर ४) कुं० गजाधरसिंह जी छावनी टुरंडा १०) बा० जयकिशनदास जी अमृतसर १०) सत्यचरणराय जी कलकत्ता ६) बा० बालकृष्ण सहाय जी वकील रांची यह धन बाहर से आया है । और १) चौ० पद्मसिंह जी १) लल्लू मिस्त्री जी २) पं० बुद्धसेन जी ॥) मास्टर गुन्दीलाल जी ४) श्रीमान् डिप्टी तुकमानसिंह जी ≡) पं० भैरवदत्त मास्टर २) पं० दङ्गीलाल जी १) पं० मातादीन जी वकील २) बा० हीरालाल पेचघर १) बा० सुखीलाल जी वकील २।) पं० भीमसेन शर्मा –)। बा० रामप्रसाद जी मुंसरम १) बा० बनबारीलाल जी ॥।) ला० कन्हैयालाल जी १) बा० रामस्वरूप जी १) बा० नन्दकिशोर जी १) बा० शिवचरणलाल वकील यह इटावास्थ महाशयों से प्राप्त हुआ ३०) श्रीयुत सेठ घनश्यामदास जी कलकत्ता ॥

१७) जो सहायतार्थ दाताओं ने दिये अर्थात् ५) पं० रामाधीन मिश्र मुंगेरी ने अपने पिता जी के देवलोक होजाने पर भेजे । ५) सेठ बेल जी लखमसी मुंबई ने धर्मार्थ दुकान से दिये ५) चौधरी जंगसिंह जी गढ़िया छिनकौरा २) चौ० पद्मसिंह जी इटावा ने स्वामी रघुवंशगिरि जी के भोजनादि व्यय निमित्त–और ३।≡) पुस्तकों की बिक्री सरस्वती प्रेस से जमा कियेगये सर्व आय मिलकर १३४–)॥। हुआ व्यय इस प्रकार ॥

४५॥।–)॥। आठ विद्यार्थियों के भोजन मध्ये और ४) हवन सामिग्री ब्रह्मचारियों को दोनों समय अग्निहोत्र के लिये । ३) फुटकर व्यय कागज चिट्ठी तैल हजामत आदि " १॥) किराया मकान १४॥=) वेतन मध्ये अर्थात् ८=) रसोइया को २॥) कहार २) चपरासी चन्दा उगाई २) अध्यापक हिसाब पढ़ाने वाले को यह सर्व व्यय ६८॥।≡)॥। हुआ और ३६॥।=) जो केवलराम विद्यार्थी आदि का जमा था वापिस दिया गया । आगे को २८।) शेष रहा । और १५०) सूद पर पूर्ववत्–

सूचना ॥

जो पुस्तक विक्रेता महाशय मेला आदि में बेंचने के लिये गणरत्नमहोदधि तथा आयुर्वेदशब्दार्णव आदि पुस्तक हम से इकट्ठा लेंगे उन को बहुत सस्ते पुस्तक दिये जावेंगे जो लोग चाहें वे पत्र द्वारा निर्णय करें ॥

ऐतरेयोपनिषद् भाष्य के पूरे होने पश्चात् जुलाई महिने से ही श्वेताश्वतरोपनिषद् का भाष्य बीच २ छपता था अब ता० १५ अक्टूबर तक वह तयार हो जायगा. जिन महाशयों को लेना अभीष्ट हो सूचना भेजें मूल्य ॥।) अनुमान से निश्चित किया गया है। इस के पश्चात् क्रम से छान्दोग्य के भाष्य का आरम्भ किया जायगा। ऐतरेयोपनिषद् भाष्य का मूल्य ।≈)॥ पहिले छपे वाजसनेयादि सात उपनिषद् भाष्यों का मूल्य ३) है। अब नव ९ उपनिषद् भाष्य एक साथ लेने वालों को ४) रु० में मिलेंगे। और अपनी निर्धनता का प्रमाण देने वालों से ३) ही लिया जायगा। मनुस्मृति भाष्य की तीन अध्याय की पहिली जिल्द छप गयी है मूल्य ३) निर्धन के लिये २) चौथे अध्याय से छठे तक द्वितीय जिल्द मनु के भाष्य की छप रही है। अनुमान चार महिने में पूरी हो जायगी। तभी पूरी जिल्द ग्राहकों की सेवा में भेजी जायगी मूल्य अनुमान २॥) होगा जो लोग उस के लिये अगाऊ मूल्य अब से जनवरी के अन्त तक तीन महिने के भीतर भेजना चाहें उन को २) में मिलेगी। भगवद्गीता का सर्वोत्तम कल्याणकारी भाष्य छप गया जिस में एक देशी श्लोक छोड़ दिये हैं मूल्य २।) है निर्धन लोगों को प्रमाण देने पर १॥) में मिलेगा। आर्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क का ४।≈) है प्रमाण देने वाले निर्धनों को ३) में मिलेगा। मांसभोजन विचार के तीनों भागों का उत्तर ऐसे पुष्ट दृढ़ अटूट युक्ति प्रमाणों द्वारा दिया गया है कि जिस को देखने वाले सब मांसाहारियों को परास्त कर सकते हैं। प्रथम का मू० -)॥ द्वितीय का =)॥ और तृतीय का ≡)। पुनर्जन्मविचार—यह पुस्तक अत्यन्त दृढ़ न्यायादितर्कवाद सहित लिखा गया है कि जिस का खण्डन कोई नास्तिक भी नहीं कर सकता मूल्य ≡)॥ भर्तृहरिवैराग्यशतक का श्लोकार्थ और भावार्थ मूल सहित ऐसी उत्तम चितौनी सहित लिखा गया है कि जिस की प्रसन्नता में एक महाशय ने ३) पारितोषिक भेजा इसी से आप उस की उत्तमता समझलें मूल्य ।) जिन के कोई पुत्र न हो वा केवल कन्या हुई हों वा जो निर्वंश हों उन के पुत्र होने के लिये उपाय वा विचार अच्छे प्रकार लिख के छपाई "पुत्रकामेष्टि" पद्धति इस का मूल्य अत्यन्त कम =) है। स्थावर में जीव विचार वेदादिशास्त्रप्रमाण सहित -)॥ भामिनीभूषण बलदेवसिंह का बनाया मूल्य ।) सभाप्रसन्न नवलसिंह कृत मू० ।) यमयमीसूक्त =) भर्तृहरिनीतिशतक सभाष्य ≡) सजीवनबूटी—आल्हा)॥ स्वर्ग में सबजेक्टकमेटी =) अवला विनय ≡)॥ संगीतसुधासागर -) कस्तूरी नाम का पुस्तक पं० रमादत्त त्रिपाठी नयनीताल का बनाया -)॥ अन्य पुस्तक बड़ा सूची मगा कर देखिये॥

भीमसेन शर्मा—सरस्वती प्रेस. इटावा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क ११

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे
नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो
नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन
शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ कार्त्तिक शुक्ल ता० १ नौम्बर सन् १८९७ ई०

पुस्तकों का सूची ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क ११

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

आर्यसमाज का भावी कर्त्तव्य

इस से पूर्व छपे लेखानुसार यद्यपि आर्य पदवाच्य सर्व साधारण के लिये अर्थात् जोकि भिन्न २ देशों वा कालों से संबन्ध रखता है उस सभी अच्छे श्रेष्ठ समुदाय का भावीकर्त्तव्य लिखना हमारा अभीष्ट सदैव सब महाशय जानें और मानें तथापि विशेषकर जिन में अधिकांश वा प्रधानरूप से आर्यपन घट सकता और जो भारत वर्षके लोग अपने को वेद मतानुयायी होने का प्रण करते वा प्रतिज्ञा करते हैं कि हम आर्य हैं वा वेदमतानुयायी हैं उन की ओर हमारा प्रधान लक्ष्य है । हम निःसन्देह दृढ़तापूर्वक अवश्य मानते हैं कि जब कभी जिस किसी को जैसा २ अधिक सुख मिलसकता है वा जैसा जो विपत्तियों से बचसकता है । उस का वैसा ही कोई उत्तम साधन प्रसिद्ध वा गुप्त उसके निकट अवश्य होता है। और उसी उत्तम साधन का नाम वेद है । और जब जो कोई पुरुष उत्तम साधन की उत्तमता को ठीक २ यथार्थ जान पाता है वा जैसा अधिक जान लेता है तब उस से अपने लिये वैसी ही सुख की प्राप्ति और अनिष्ट दुःख वा विपत्तियों की

निवृत्ति कर भी लेता है । पाठक महाशयो ! सचेत होजाओ मन में ध्यान दे-कर शोचो कि दीपक जले और प्रकाश न हो तथा अन्धकार में धरे हुए पदार्थ न दीखपड़ें तो आप को अवश्य मानने पड़ेगा कि यातो दीपक नहीं जला वा ऐसा कम जला जो न जलने के समान है अथवा जलता है और उस जगह कुछ नहीं दीखता तौ देखने वाले अन्धे हैं क्योंकि दीपक जलने पर भी वा सूर्योदय होने पर भी अन्धों ही को कुछ नहीं दीखपड़ता । परन्तु इन दो रीतियों से भिन्न तीसरी यह बात आप कदापि नहीं कह सकते वा मान सकते कि दीपक भी ठीक जलता और हम को देखने की शक्ति नाम आंखें भी हैं पर दीखता कुछ नहीं । यह बात सर्वथा ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध इसी लिये है कि यदि हमें आंखों से दीखता है तो भी सूर्य दीपकादि सहायक प्रकाश के न मिलने पर अन्धकार में कुछ नहीं देख पाते वा बाहरी सहायक प्रकाश है तब जिनको नहीं दीखता वे अन्धेही हो सकते हैं । और यह भी है कि जिन उलूक पक्षी आदि प्राणियों को सूर्योदय होने पर कुछ नहीं दीखता रात्रि के अन्धकार में जितना देख सकते हैं वह भी उन की शक्ति तीव्र सूर्य के तेज से हत-नष्ट होजाती है सो यह ठीक न्यायानुकूल ही है कि जिन का शरीर इन्द्रियां वा आत्मिकशक्ति अनेक जन्मों के संचित नानाप्रकारके कलङ्कों से अत्यन्त आच्छादित है वा जिन के भीतर संचित पापरूप अज्ञानान्धकार ठसाठस भरा है उसका विरोधी प्रकाश वा ज्ञान उन के तमोगुण का बाधक होता है इसी कारण उलूक पक्षी आदि वा अत्यन्त तमोगुणी मनुष्यों को प्रकाश वा वेद का ज्ञान बाधक अवश्य होता है ॥

यहां विचारणीय यह है कि वेद सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान है तब भी हम को उस के ज्ञानप्रकाश से कोई विशेष लाभ नहीं होता इस का यही उक्त कारण है कि उलूक पक्षी के समान हमारी दशा हो रही है हम अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं और हमने सहस्रों वर्ष से वेद को छोड़ दिया दूसरे मार्गों पर चलते २ वेद को पीठ देकर दूर निकल गये हैं संसारी विषयोंरूप रुकावटें बड़े २ वेड़ा पड़ गये और अब हम वेद की ओर मुख फेर के देखना चाहते हैं तो दूर पड़ जाने से वा बड़ी २ रुकावटें बीच में आजाने से हमे ज्ञान प्रकाशमय वेद का कहीं कोई चिह्न तक भी नहीं दीखता इसी कारण वास्तव में वेद अच्छा हमारे कल्याण का हेतु अवश्य है यह विश्वास भी मन में नहीं जमता इसी कारण म-

नुष्यों की रुचि वा श्रद्धा वेद की ओर नहीं होती। पर शोचने से प्रतीत होता है कि वेद के विषय में जो अधिक आन्दोलन सम्प्रति जहां तहां चल रहा है यदि ऐसा ही यह प्रवाह चला जाय तो आशा होती है कि लोगों को कुछ दीखने लगे कुछ होश आवे कोई २ कुछ २ चेतें। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम्।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्ति च॥ १॥

जो मनुष्य सब से निकृष्ट तीसरी मूढदशा [जैसी पश्वादि वा अति छोटे बालकादि की होती कि जिन को अपना हानि लाभ आदि कुछ नहीं दीखता अविद्या की अधिकता में वृक्षादि के जीवों की सुषुप्ति के समान बेहोशी जिन को घेरे है ऐसी अवस्था] से निकल के रजोगुण की चञ्चल अवस्था में आये हैं जिनको करना धरना रागद्वेष लोभादि अधिक सूझने लगे हैं दिन रात इधर उधर को भाग रहे हैं धनादि पदार्थों की प्राप्ति को ही जिन लोगों ने सब सुखों का मूल कारण अधिकता से दृढ़ निश्चय किया है जिन को उन्हीं उद्योगों के द्वारा अनुकूल राग लोभादि की सिद्धि में अधिक असीम हर्ष होता, हहराके हंसने लगते हैं। और जिस प्रतिकूल की निवृत्ति के अर्थ अत्यन्त उद्योग करते उस के आ जाने पर अत्यन्त पीडित दुःखित क्षोभित व्याकुल भी होते हैं परन्तु उन को जो हर्ष वा सुख प्रतीत होता है वह भी—

लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः॥

अपने अंगूठे को चचोरते हुए बच्चों को अपने ही मुख में से छूटी लाला नाम लार पीने में माता के दूध पीने का भ्रम होने के समान सुख वा आनन्द मानने मात्र होता है क्योंकि उन से आगे को बढ़े हुए पुरुषों को उन्हीं कामों में वैसा वा कुछ भी अधिक हर्ष नहीं प्रतीत होता वा किन्हीं को उलटा दुःख वा शोक भी होता है। संसार में सम्प्रति ऐसे ही मनुष्यों की संख्या अधिक है। चाहे यों मानलो कि नीचे की दो कोटि जिन में आसुरी माया प्रबलता दिखा रही है वेही प्राणि बढ़ रहे हैं और मनुजी के सिद्धान्तानुसार कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते॥

जो लोग धनादि पदार्थों और कामादि के भोगों में सक्त नाम बद्ध नहीं हैं उन के लिये ही धर्म को जानने की आज्ञा वा धर्म कर्म करने की प्रेरणा है जिन को

संसारी भोग हो दिन रात सूझते रात में भी उन्हीं बातों वा विचारों के स्वप्न आते हैं उन लोगों का मुख विषयों की ओर ठीक फिरा हुआ है । जब तक वे विषय भोगों की ओर पीठ फेर के धर्म की ओर मुख फेरने की इच्छा भी नहीं करते तो कैसे आशा हो सकती है कि वेद में उन को कभी रुचि होगी, वे वेद का मर्म जानेंगे ? बड़े शोक का स्थान है कि कोई देखने शोचने समझने तथा कान लगा के सुनने वाला भी नहीं दीखता ! ॥

इन बीच के चलायमान मनुष्यों को बुद्धि प्राप्त नहीं होती अर्थात् किसी विषय का भी जिन को दृढ़ निश्चय नहीं होता जो देशान्तर तथा कालान्तर में भी न बदले और कूटस्थ विचार को दृढ़ स्थायी करलें कि यही ठीक मार्ग है । इसी कारण उन को स्थायी सुख भी नहीं मिलता सदा संकल्प विकल्प ही सब विषयों में किया करते हैं । इस का कारण यही है कि वेग से चलने वाली निरन्तर हिलती हुई रेल में बैठा हुआ कोई चाहे कि मेरा शरीर न हिले मैं निश्चल बैठा रहूं जैसे यह होना असम्भव है वैसे ही क्रियाशील रजोगुण के कार्य रागद्वेषादि पर सदा सवार रहने वालों को व्यवसायात्मक निश्चलरूप विचार प्राप्त होजाना असम्भव है। यदि कभी उन की हिल चल दशा मिट सकती है तो उसी समय दैवयोग से धर्म वा वेद की ओर मुख फिरा हुआ अवश्य माना जायगा । इन्हीं बीच के मनुष्यों में आसुरी दल की प्रधानता मानी जायगी । और इन से नीचे को गिरी दशा के लिये राक्षस पिशाचादि नाम हैं । पर राक्षस पिशाचादि की अपेक्षा आसुरीदल में शक्ति अधिक होती इसी से वे राक्षसादि को मारते खाते और अपने आधीन दबा कर रखते हैं । जब आसुरी प्रकृति के कोटियों प्राणि होते और लाखों में एक दो दैवी विचार के होते हैं तब उन एक दो वा चार छः की कुछ भी दाल नहीं गलती और आसुरी इच्छाओं के अनुसारही संसार का प्रवाह चलता है । परन्तु असुरों में नानाप्रकार के भेद होते हैं उन में सब से अधिक हानिकारक वे हैं जो देवाभास बनके विचरते हैं वा सज्जनता का ऐसा दृढ़ लिफाफा बनाते पहनते हैं जिस में भीतर निरन्तर छिपी हुई आसुरी माया काम करती सीधे सच्चों को अधिकांश दुःख पहुंचाती है । मनु०—

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥

आर्य नाम दैवी सम्प्रदाय के रूप में रहते हुए आर्याभास अनार्यों को उन के इङ्गित चेष्टितादि कर्मों से पहचाने। पर दुःख यह होगया कि ऐसों को अब कौन

पहुचाने जब कि सच्चे दैवी आर्यों का अभावसा होगया है । परन्तु केवल आशा इतनी ही शेष है कि जो हम ऐसी बातों को ऐसे समय में भी लिखने को तत्पर होते इच्छा रखते और हमारे पाठक महाशयों में दैवी आर्यपन सर्वथा छिपा हुआ भी कुछ२ बना है इसी से वे ऐसे विचार युक्त लेखोंको देखने सुनने पढ़ने की इच्छा रखते हैं इस से आशा होती है कि वैदिक धर्म रूप अमृत के द्वारा हमारा कल्याण होना अब भी सम्भव है । यदि ऐसे विचारों के कहने सुनने वाले भी न मिलें तो हम निराश होनेका अवसर मानलें । इन बीच की कक्षा के मनुष्यों में ही जो अपने को उच्चकक्षा में मानते अध्यापक वा उपदेशक माने जाते वे अपने को पण्डित वा विद्वान् मानते तथा अन्य लोग भी उन को पण्डित मानते हैं वे अवश्यही आसुरी दल के आचार्य गुरु हैं और ऐसे शुक्राचार्य असुरगुरु के समान लोगों के लिये ही उपनिषद् कारों ने कहा है कि–

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥ तथा च–अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥

बाल बुद्धि अज्ञानी, संसारी भोगों में फसे और सच्चे कल्याण मार्ग को भूले हुओं, आभास माम बनावटी को अच्छा मानने वालों को परमार्थ अच्छा नहीं लगता। वे लोग अपने को पण्डित विचारशील समझदार मानते हुए अन्धे के पीछे अन्धों के समान संसारी भेड़ियाधसान [गतानुगतिकता] में अनाप सनाप भागे चले जा रहे हैं । ऐसे लोग अपने को परीक्षकों की कोटि में मानते तथा अन्य लोग भी उन को ऐसा ही मानते हैं इसी कारण धर्म वा वेद के प्रकाश द्वारा संसार का उद्धार नहीं होता क्योंकि वे लोग ठीक परीक्षक नहीं हैं । जैसे कोई चोरी करके सत्य बोले उस को योगभाष्य में सत्याभास कहा है वैसे वे भी परीक्षकाभास वा नाममात्र के परीक्षक हैं । ऐसे लोगों का यह सिद्धान्त है कि परमार्थ एक भिन्न विषय है संसार की उन्नति से उस का कुछ सम्बन्ध नहीं प्रत्युत संसार के सुधार में परमार्थ का अडङ्गा खड़ा करना पूरा बाधक है। इस लिये जब धर्म का प्रधान भाग भी परमार्थ के लिये ही मार्ग दिखाता है इसी कारण धर्म से भी संसार की उन्नति नहीं हो सकती किन्तु तिजारत पदार्थ विद्या तथा शूरता शारीरिक बल और धनादि पदार्थ वा नीति राजनीति कुटिलनीति आदि के द्वारा संसारी सुख की उन्नति हो सकती है ॥

इस पर हमारा उत्तर यह है कि शान्ति सन्तोष हृदय की शुद्धि निरभिमानता, परोपकारशीलता, दया, जितेन्द्रियता, विद्या—ज्ञान सत्यासत्य के विवेक की शक्ति सदाचार इत्यादि गुण जिन को हम धर्म कहते हैं उनके न होने पर तिजारत व्यापार खेती आदि से वैसा सुख नहीं होता जैसा कि इन के होने पर होता है इस दशा में एक अङ्ग जो कि शोचने से अन्य अङ्गों की अपेक्षा अत्यन्त प्रधान वा प्रबल ठहरता है उसको संसारोन्नति से भिन्न वा विरुद्ध मानना कितना अज्ञान है ? क्या कोई सिद्ध कर सकता है कि जो अन्यों को दुःख पहुंचाना रूप हिंसा करता है उस को उन२ जातियों वा प्राणियों से भय न हो क्या मूर्ख धन से सुख भोग सकता है ? क्या कामादि के भोग सम्बन्धिनी तृष्णा की सीमा कभी कोई ठहरा सकता है ? क्या तृष्णा की तरङ्गों में पड़े हुए को सन्तोष के समान सुख कोई बता सकता है ? क्या धर्म के अनुष्ठान से विरक्त संन्यासी को सुख और उसी से गृहस्थ को दुःख होना न्यायानुकूल है ? अर्थात् कदापि नहीं। तब फिर परमार्थ वा धर्म को संसारोन्नति का विरोधी मानना धर्म से विमुख रह कर अपनी हानि कर लेने के लिये बड़ी भारी अविद्या लोगों को सब ओर से घेरे है। आत्मिक वा मानस सुधार नाम बुद्धि का ठीक शुद्ध निर्विकार रागद्वेष मोह रहित होने में ही धृति आदि सब धर्म आजाता है और बुद्धि के ठीक होने पर धनादि द्वारा जो सुख हो सकता है वह त्रिकाल में भी केवल धनादि भोगों से नहीं हो सकता। जब कि यह सिद्धान्त ठीक है कि " भोगो बुद्धिः " बुद्धि का नाम ही भोग है वैसा ही सुख दुःख व्यापता है जैसी उत्तम मध्यम बुद्धि होती है तो धर्म और शुद्ध विद्या का हृदय में होना सुखोन्नति का मूल कारण सिद्ध हो गया। परन्तु वर्त्तमान समय में प्रायः लोग बनावटी दिखावटी सफाई अच्छे २ भोजन वस्त्रादि के मिलने को ही उन्नति मानते हैं। कामभोग का बड़ा सर्वोपरि सामान वा साधन शृङ्गार है इस के नानारूप हैं इसी को ऊपरी बनावट वा लिफाफा कहते हैं। जब मनुष्यों के शरीर में तत्त्व नहीं रहता, आकृति पर फीकापन आजाता, शरीर में तेज घट जाता, और कामासक्ति के कारण सब तेज वा तत्त्व निकलता रहता है तब लज्जा के मारे शरीर को हरवार वस्त्रों से ढांपे रहते वस्त्रों की बनावटी कृत्रिम रङ्गजन्य शोभा से शरीर को शोभित मानते और इस को सभ्यता मानते हैं। स्मरण रक्खो कि वेद प्राकृत स्वाभाविक नियमों का नाम है प्राकृत नियम को मानने तदनुकूल चलने वाला कभी कृत्रिम बातों को

स्वीकार नहीं कर सकेगा और ऊपरी बनावट वा दिखावट को प्रसन्न करने वालों का ही नामान्तर अर्थसक्त वा कामसक्त माना जायगा क्योंकि थोड़ा ध्यान देकर शोचोगे तो स्पष्ट जान लोगे कि जितने लोग संसार में प्रसिद्ध कामी हैं वा जो बड़े व्यभिचारी वेश्यागामी हैं वेही अन्य साधारणों की अपेक्षा अधिक बने ठने रहते शौकीन होते वस्त्रादि धारण करके पहिले अपने आप को देख ते प्रसन्न होते कि हम अच्छे लगते हैं इस का प्रयोजन यह है कि हम अपना अच्छा बनाया रूप अन्यों को दिखा कर मोहित करना चाहते हैं। इस के अनुसार यह भी सिद्ध हुआ कि मध्यम रूप बनाने वाले मध्यम कामी वा लोभी हैं। तथा यह भी आप को संसार में प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा कि अब तक जो लोग इस जगत् के कामभोग और धनैश्वर्य भोग के लोभ से उदासीन वा विरक्त हुए जिन को वैराग्य हुआ है उन सभी ने बनावट-शृङ्गार वा लिफाफा को त्यागा और स्वाभाविक शुद्ध वर्त्ताव को ही स्वीकार किया है ऐसे मनुष्य संसार में अब भी मिलेंगे कि जिनने काम और धन की फसावट को जितना छोड़ा है उन में उतनी स्वाभाविकता प्रसिद्ध है वे लोग हम देखने में अन्यों को अच्छे लगें ऐसा उद्योग कदापि नहीं करते और अनेक साधु कहाते शिर मुड़ाये वस्त्र गेरू में रंगे फिरते हैं पर शृङ्गार और बनावटी को उस दशा में भी पकड़े हैं यह सब प्रत्येक मनुष्य के आचरणों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होजाता है। परन्तु परीक्षक भी सब नहीं होते वा होसकते ॥

इसी के साथ यह भी विचारणीय है कि समय का प्रवाह बदलते २ काम तथा लोभ अर्थात् कामासक्ति और धनासक्ति इस दशा को पहुंच गयीं हैं कि हम कुछ भी शृङ्गार न करें अपने शरीर को किन्हीं वस्त्रादि से दिखावटी न बनावें किन्तु उलटे और बेहूदापन के देखने में भद्दे रङ्ग के [जो देखने में किसी को सुहावने न लगें] कपड़े पहिनें तथा और थोड़ी धूली वा कीचड़ मुख में लगा लेवें तथा खाने को भी घी दूध भात गेंहूं आदि उत्तम अन्न हम को न मिले वा न खावें किन्तु मोटा बेझर बाजरादि अन्न रूखा सूखा मिले वा जानकर खावें और अवस्था भी चढ़ती न रही हो किन्तु वृद्धावस्था का आरम्भ भी हो गया हो तो भी वर्त्तमान समय में जो वायु में फैली, संसारी पदार्थों वा शरीरों के रग२ में व्याप्त, प्रबलरूप से चढ़ती युवावस्था को प्राप्त ऐसी कामासक्ति मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ती ऐसी दशा में भी मनुष्य स्त्री को देख कामान्ध हो जाते हैं तो शोचिये

कि उस को बढ़ाने का उपाय उसका उत्तेजक शृङ्गार -दिखावटी वाना बनाते हुए मनुष्य कामासक्ति से बचजांय क्या यह सर्वथा ही असम्भव नहीं है ? । जैसे कि शीतकाल में जो छये पटे में रह के वस्त्र धारण किये रहते हैं उन को भी सब ओर से बढ़ा हुआ शीत नहीं छोड़ता उन को भी शीत का बोध अवश्य ही होता है तो शीतकाल होने पर भी जो शीतल जलाशय में घुसे उस को विशेष शीत न लगे यह सर्वथा ही असम्भव होगा ॥

इसी के अनुसार राजा भर्तृहरिने भी कहा है कि—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवास्-
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥

भा--जो विश्वामित्र पराशर आदि महर्षि केवल वायु केवल जल तथा कोई केवल पत्ते खा २ कर रहते थे वे भी शरीर में कामदेव के बढ़ने से कभी २ स्त्री का मुखकमल देख कर मोहित हो २ गये तो जो लोग उत्तम २ अन्न दूध दही घी सहित खाते हैं वे यदि जितेन्द्रिय होने सम्भव हैं तो पत्थर की शिला भी समुद्र में उतराती रहे न डूबे यह भी असम्भव नहीं । अर्थात् वैसे लोग जितेन्द्रिय होने सम्भव हैं तो सभी असम्भव बातें सम्भव हो सकेंगी असम्भव कुछ न रहेगा । जब हम भोगासक्त-कामासक्त लोभासक्त हैं इसी से धर्मज्ञान वेदज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।

इस दशा में आप शोच सकते हैं कि यद्यपि वेद स्वतःप्रकाश संसार का पावन सर्वोद्धारक विद्यमान भी है पर हम जो कामान्ध लोभान्ध हो रहे हैं काम लोभादि रूप प्रबल टट्टी हमारे हृदयों के सामने दृढ़ता से खड़ी है तो हम अन्धों को सूर्य वा दीपक के समान कुछ नहीं दीखपड़ता । वेद पवित्र धर्मस्वरूप है हम अर्थ नाम धन और काम भोग में सक्त नाम लिप्त हैं इस से वेद २ कर के चिल्लाने पर भी वेद का मर्म वा उस का कान पूंछ कुछ भी पता नहीं लगता । इस से भी और अधिक आश्चर्य यह है कि हम बल के साथ चिल्ला २ कर जिन बातों को सभा वा समुदायों में कहते और लिखते हैं उतना भी वैदिक धर्म के अनुसार स्वयं नहीं चलते वा चलना चाहते । क्योंकि कह देना वा लिख देनामात्र हम

अपना काम मान लेते और करना हमारा काम नहीं किन्तु श्रोताओं का होगा। अभिप्राय यह हुआ कि जब पूर्वकाल में वेदोक्त धर्म का प्रकाश वा प्रचार इस जगत् में हुआ था जिस समय को हम निर्विकल्प उन्नति वा संसार के सुखी होने का अवसर मानते और मानने पड़ता है उस समय के हमारे पूर्वजों में अनेक लोग वेदप्रचारक वेदपारदर्शी ब्रह्मर्षि महर्षि राजर्षि, कामी वा लोभी नहीं थे दिखावटी शृङ्गार वा दिखावट के खाने पहरने को अच्छा नहीं मानते थे तपस्वी होते एकान्त में सीधा सच्चा आचार विचार करते थे खाने पहरने को सब प्राणियों का स्वाभाविक काम समझ के कि पशु पक्षी आदि भी खाते पीते उन को भी ओढ़ने के लिये ईश्वर ने अधिक रोम वा पङ्ख आदि दिये हैं यह कोई मनुष्यपन का खास काम नहीं है ऐसे विचारों से अनायास साध्य सामान्य भोजन वस्त्र से निर्वाह करते हुए अतिपवित्र धर्मस्वरूप वेदाशय के ध्यान में मग्न रहते थे॥

अब हम लोगों में वैसा एक भी नहीं किन्तु हम जन्म से मरण पर्यन्त अच्छा २ खाने पहनने धनादि जोड़ने तथा कामसुख भोगने के लिये दिन रात हांउ हांउ करते हुए उन्मत्त के समान भाग रहे हैं दिन रात उन्हीं वासनाओं की चिन्ता में लगे रहते हैं। हमारे धर्म सम्बन्धी काम वा उपदेश वा लेख भी अधिकांश इसी उद्देश को सामने रख के होते हैं कि जिस से अच्छे २ भोगों में वाधा न हो किन्तु उन की प्राप्ति में ही सहायता मिले। तब शोचने का स्थान है कि क्या हम जैसे अत्यन्त मलिन हृदय के मनुष्य भी अत्यन्त पवित्र स्वरूप वेद के गूढ़ाशय को जान सकते हैं? कदापि नहीं। किन्तु सूर्योदय के सामने उलूक पक्षी कीसी हमारी दशा हो जाती है वेद की ओर देखते हैं तो कुछ नहीं दीखता हम अन्धे होजाते हैं। हे ईश्वर सर्वान्तर्यामिन्! आप वेदों के वा वेदोक्त धर्म के द्वारा संसार का तथा अपना सुधार मानने वाले आर्यों को ठीक मार्ग दिखलाइये। और हम, आर्य समाजस्थ लोगों को वार २ सचेत करते और विनय पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वेद ही के द्वारा संसार का सुधार हो सकता है जैसे जल से ही प्यास की शान्ति होती [लोंग खाने से भी मुखमें वा भीतर जल ही छूटता और वही प्रदीप्त जाठराग्नि को कुछ शान्त करता है] यह सिद्धान्त अत्यन्त ही शुद्ध निर्भ्रान्त निर्विकल्प माना है परन्तु जल से प्यास शान्त होती इस प्रकार कहलेने वा जानलेने मात्र से प्यास नहीं जाती किन्तु उद्योग द्वारा जल प्राप्त करके पीने से वह फल हो सकता है। यद्यपि

किसी काम के करने से प्रथम उस का जानना ही प्रथम कर्त्तव्य है तथापि वेद विषय में हमारा अभीतक सामान्य ज्ञान वेद के अच्छे होने का है किन्तु किस २ प्रकार कितना २ किस २ अंश का हमारा कल्याण वेद से हो सकता है इस का व्योरा अभी तक सृष्टिभर में लुप्त सा ही हो रहा है। जैसे कोई कहे कि गुड़ मीठा होता है यह सामान्य ज्ञान है । और गुड़ कहां होता गुड़ किस को कहते हैं उस का वास्तविक स्वरूप वा तत्त्व क्या है कैसे मिलता कहां मिलता और उस में क्या २ गुण हैं इत्यादि विशेष ज्ञान के न होने पर्यन्त उस का सामान्य जानना न जानने के समान ही ठहरता है । इसी के अनुसार वेद का ज्ञान भी अभी तक हम को नहीं हुआ है यह मानना कहना अनुचित नहीं किन्तु ठीक सत्य ही है । और आश्चर्य यह है कि अब तक हमारा उद्योग भी जानने मानने के लिये जो कुछ होता है वह अभी तक ऐसा नहीं होता कि जिस से आगामी काल में हम आर्यों के हृदय में वेदरूप सूर्य के उदय की पूर्ण सम्भावना हो जिस से हमारे भीतरी नेत्र खुलें हमे कुछ सूझने लगे ॥

इस कारण वेद को मानने तथा वेद मत पर चलने के लिये कटिबद्ध हुए हम आर्यसमास्थ लोगों को ध्यान देने का अवसर है भूल में न पड़े रहें । पूर्वज ऋषि महर्षियों का ध्यान करें उनके अनुयायी बनें, आर्य धर्मोपदेशक अपने में ऋषि भावों का धारण पालन और वृद्धि करें । आर्य लोग वेदाध्ययन के लिये संस्कृत विद्या पढ़ाने की पाठशाला करें वहां अच्छे २ सुशील धर्मात्मा प्रबन्धक अध्यापक शिक्षक नायक हों, सुपात्र सुशील अच्छे २ संस्कारी तीव्र बुद्धि वाले, दो, चार, दश, बालकों को सब वर्णों में से छांट २ यज्ञोपवीत करा के ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों और व्रतों का यथोचित ठीक २ पालन कराते हुए ४८ का चतुर्थांश १२ वर्ष तक ही वेद वेदाङ्ग पढ़ाने के लिये धर्मानुकूल ब्रह्मचारी बनावें । इस प्रकार यदि फिर से इस तपोभूमि-पुण्य देश में नये २ ऋषि तयार करने की योग्यता और बुद्धि हम को ईश्वर देवे तो आर्य कुल वा आर्यसमाज का भावीकर्त्तव्य सुधर जाना तथा इष्ट सिद्ध हो जाना सुगम और सम्भव हो सकता है ॥

ब्रह्मचर्य का तत्त्वव्याख्यान-

ब्रह्मचर्य, यह पद वेद में ऐसा ही ज्यों का त्यों आता है जिस के लिये स्पष्ट वेद प्रमाण भी आगे २ लिखें गे। ब्रह्म नाम बड़े का वा उत्तम कक्षा का है ब्रह्म आदि शब्दों को बड़प्पन के वाची वेद में देख कर ही पाणिनि आचार्य ने "बृह बृहि वृद्धौ„ धातु की कल्पना की और „बृंहेर्नलोपश्च„ इस उणादि सूत्र से उसी बृहि धातु से ब्रह्म शब्द की सिद्धि दिखलाई है। और (चर गतिभक्षणयोः) इस भक्षणार्थ धातु से चर्य वा चारी शब्द बनता है। वा चर्य शब्द को वेद में भक्षणार्थ देख कर प्रकृति प्रत्यय के अर्थ विभाग की कल्पना की गयी जो उस समुदाय में यथार्थ अवयव रूप से विद्यमान थी। इस रीति से वेद की शैली के अनुसार ब्रह्मचर्य शब्द का यह अर्थ हुआ कि "बड़े वा बड़प्पन का खाया जाना वा भीतर अपने में लिया जाना अथवा ब्रह्म नाम बड़ा चर्य नाम खालेने वा अपने भीतर रखने योग्य होता है" और ऐसे ही ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ कि „ब्रह्म नाम बड़े को वा बड़प्पन को स्वभाव से ही अपने भीतर लेने वा रखने चरने खाने वाला" इस अर्थ की ओर थोड़ा ध्यान दीजिये तो सब से अत्यन्त बड़ा ब्रह्म परमात्मा उस का ज्ञान वा बोध गुरु आदि के द्वारा अपने भीतर लेना वा रखना, द्वितीय कक्षा में ईश्वरीय वेद का नाम ब्रह्म है उस को पढ़ने द्वारा अपने भीतर हृदय में लेजाना रखना चरना, तृतीय ब्रह्म नाम ब्राह्मणपन जो मनुष्य जाति में सब से ऊंची बड़ी प्रतिष्ठित कक्षा है उस का चरना ब्राह्मणपन के गौरव को अपने भीतर विद्या शिक्षा द्वारा लेजा के जमाना। चौथी कक्षा में ब्रह्म नाम अन्न का है "अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत" इसी के द्वारा सब के जीवन की रक्षा होती है वा जो जीवन का आधार है वही अन्न है और जीवनाधार होने से वह ब्रह्म नाम बड़ा है उस का चरना नाम खाना भीतर लेजा के ऐसा रखना कि जिस के परिणाम रूप फल नाम वीर्य्य—शुक्र को भी भीतर ही रखना निकलने न देना, उस अन्न के फलरूप शुक्र के न निकलने से अन्न भी शरीर से निकल नहीं जाता किन्तु असारमात्र मलादि निकल जाता और अन्न का साररूप वीर्य जो दृढ़ता के साथ शरीर में बैठ जाता है वह जीवनभर सुख देता है। पांचमीं कक्षा में प्राण भी ब्रह्म नाम बड़ा है "प्राणं ब्रह्मेत्युपासीत" शिर के सात छिद्रों

के द्वारा वा अधिकांश नासिका द्वारा प्राणशक्ति निकला करती है । इस लिये तीव्र गन्ध सूंघने द्वारा प्राणशक्ति को कुपित करने से विषय सुखभोगों की वासना उत्तेजित होती जिस से ब्रह्मत्व घटता है इस लिये प्राण की शक्ति को कुपित होने से बचा कर प्राणायामादि द्वारा शान्त करके अपने भीतर रखना यही बल वा जीवन है और प्राण का कुपित हो २ के नष्ट होना ही मृत्यु है । छठी कक्षा में ब्रह्मनाम मन का है " मनो ब्रह्मेत्युपासीत" विषय भोगों का लालची लम्पट मन विषय भोगों की ओर निरन्तर भागा करता है उस ब्रह्मनाम स्थित होने की दशा में बड़े आनन्द के हेतु मन को भागने से रोक कर अपने भीतर लेना और रखना यह भी एक ब्रह्म का चरना है । सातवीं कक्षा में आनन्द का नाम ब्रह्म है "आनन्दं ब्रह्मेत्युपासीत" उस को उपस्थादि सम्बद्ध बाह्य साधनों द्वारा बाहर निकल जाने से थाम्भ के भीतर ही ले जाना वा रोकना तब भीतरी आत्मिक आनन्द बढ़ता है । आठवीं कक्षा में विज्ञान नाम योगाभ्यासादि द्वारा होने वाला विशेष-नाम साक्षात्कार ज्ञान का है "विज्ञानं ब्रह्मेत्युपासीत" यह सर्वोपरि इष्ट साधक और अनिष्टों से बचाने वाला योगादि साधनों द्वारा इस को अपने भीतर लेजाना और रखना सब से उत्तम इस कारण है कि इसी से मुक्ति हो सकती है । इन आठ प्रकार के ब्रह्मों का रचने वाला ही आठ प्रकार के मैथुन से बच के ठीक २ ब्रह्मचारी कहाने योग होता है ॥

इस जगत् में स्वाभाविक वा प्राकृत नियम वे ही माने जाते हैं जो ज्ञान शून्य जड़ पृथिव्यादि कालाकाशादि तथा ओषधि वृक्ष वनस्पत्यादि में भी स्पष्ट ही घट जावें तथा शोचने से स्पष्ट प्रतीत हों । जैसे अन्न जल को मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्गादि सब खाना पीना चाहते हैं वृक्ष वनस्पत्यादि वा पृथिवी भी खाते पीते और खाना पीना चाहते हैं । भूमि में जो खाद घूरा आदि डाला जाता उस को पहिले पृथिवी खाकर पुष्ट होती और पीछे अपने गर्भस्थ पुत्रादि के तुल्य सब वृक्ष वनस्पति बोये हुए गेहूं जौ आदि को खिलाती और वे सब पृथिवी से खेंच २ के खाते और पुष्ट होते हैं । विना खायें पियें जैसे मनुष्यादि दुर्बल होते वैसे वृक्षादि भी सूखते कुम्हलाते हैं जहां की पृथिवी को भी खाद्व वा जल नहीं मिलता वह अच्छी दशा में नहीं रहती ।

इस नियम के अनुसार जगत् में जो २ प्राणि वा अप्राणि जिस २ वस्तु को अपने भीतर लेके वा अपने में मिला के पुष्ट होता अपनी दशा को सुधारता चिरस्था-

यिनी करता है वह २ ब्रह्मचारी ठहरता और सामान्य रीति से किसी बराबर में ठहर कर वा प्रविष्ट हो कर जो २ चरा हुआ वस्तु उस २ को अच्छी उन्नत दशा में जैसा २ अधिक २ पहुंचाता है वह वैसा २ ही छोटा वा बड़ा सापेक्ष ब्रह्म ठहर जाता और उस २ का चरने वाला वैसा ही छोटा वा बड़ा सापेक्ष ब्रह्मचारी सब जड़ चेतन बनता है । ईश्वर वा वेद सर्वोपरि बड़ा होने से निरतिशय ब्रह्म है क्योंकि उस से बड़ा और कोई नहीं है । और उस को सब से अधिक चरने वा अपने हृदय में ठहराने जानने वाला सब से बड़ा, ब्राह्मण नाम मनुष्यों की उत्तम कक्षा में भी उत्तम ब्रह्मचारी और ब्रह्मा है । इस प्रसङ्ग में ब्रह्मचर्य का सत्य २ यथार्थ माहात्म्य दिखाने के लिये अथर्व वेद के कई मन्त्रों का संक्षेप से अर्थ और भीतरी आशय यथाशक्ति खोल कर लिखते हैं । अथर्व काण्ड ११ सू० ५॥

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ १ ॥

पदानि—देवानाम् । एतत् । परिऽसूतम् । अनभिऽआरूढम् । चरति । रोचमानम् । तस्मात् । जातम् । ब्राह्मणम् । ब्रह्म । ज्येष्ठम् । देवाः । च । सर्वे । अमृतेन । साकम् ॥ १ ॥

अ०—देवानामग्निवाय्वादित्यानां संघातात्परिषूतं परितः सर्वतोऽग्न्यादिपदवाच्यतत्त्वाख्यानेन सहैवोत्पन्नमनृतकल्मषाज्ञानासंसर्गात्सर्वथा शुद्धत्वाद्रोचमानं शोभमानमनभ्यारूढममूर्त्तत्वाद् भारवदलग्नं भारत्वेनाप्रतीयमानम् । स्थूलं वस्तु यस्मिन्नभ्यारूढं भवति तेन भारः प्रतीयते । ज्येष्ठमतिप्रशस्यं श्रेष्ठं ब्रह्म वृद्धं महत्पूज्यं च वेदाख्यमेतत्प्रत्यक्षं विद्यातत्त्वं यश्चरति स्वीकरोत्याद्त्ते पठत्यधीते । यस्मिन्सर्वे सान्तर्भेदा अग्न्यादयो देवाश्चाप्यमृ-

तेन शुद्धेन सारांशेन साकं वसन्ति तस्माज्जातं ब्रह्मवर्चस्वित्वेन तेजसा प्रादुर्भूतं लब्धास्पदं ब्राह्मणं ब्रह्मचरणशीलमन्वर्थं ब्रह्मचारिणं जानीतेति शेषः । ज्येष्ठमिति प्रशस्यस्य वृद्धस्य चेष्ठनि ज्यादेशो विधीयते ब्रह्मपदेनात्र वृद्धार्थस्योक्तत्वात्प्रशस्यादेशस्यैवोपादानं साधु ॥

भा०—अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदइति ब्राह्मणादिसर्वग्रन्थानुमतम् । अग्निर्देवता० । अग्निर्ऋषिः-पवमानः । इत्यादिमन्त्रेष्वग्न्यादीनां देवत्वमृषित्वं चोभयं संगच्छते । श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृताविति मनुनोक्तत्वात् । तत्र देवत्वं सामान्यमृषित्वं च विशेषः । एकस्मिन्नेव मनुष्यब्राह्मणादिशब्दव्यवहारवत् । जगति यत्किमपि रोचते शोभते तदग्न्यादिभ्यएवोत्पद्यते तत्रतत्रामभ्यारूढमभास्करं च भवत्येव यथा शुक्लत्वादिका गुणाः । द्रव्यं च भास्करमेवं वेदविद्याऽप्यभास्करी तस्मादेव शोभाकरीति हेतुगर्भविशेषणम् । अमृतेन प्राणबलेन सार्द्धं देवानामग्न्यादीनां वीर्यस्तम्भनेन वासाद्रोचमानस्य ब्रह्मसाम्नश्चाच्च स्फुटमेव ब्रह्मचारिपदस्य निर्वचनं मन्त्राक्षरेभ्यो निस्सरति । ब्रह्मचर्यं, ब्रह्मचारीति च पदद्वयं—ब्रह्म,चरति—इत्येवंरूपादेव पदद्वयान्निष्पद्यते तच्च पदद्वयं स्पष्टमेवात्र मन्त्रे पठ्यते । सर्वत्र लोकेऽपि यथा गुणकर्मादिसम्बद्धलक्षणैरेव सर्वं वस्तु निर्दिश्यते विज्ञायते च । यथा च कोऽग्निर्यो दहति । को वायुर्यः स्पर्शहेतुर्यो वाति गच्छति येनाग्निर्दीप्यत उत्पद्यते । तथैवात्र वेदेऽपि लक्षणैरेव सर्वव-

स्तूनां बोधः कार्यते । एवमत्र ब्रह्मचर्यत्वं ब्रह्मचारित्वं च मन्त्रव्याख्यानेन बोधितं भवति । अग्न्यादिभ्य उत्पन्नं देवसारभूतं शुद्धं शोभनं श्रेष्ठं सामान्यं तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यं तद्यश्चरति स ब्रह्मचार्येवं चराचरसंसारे ब्रह्मचर्यं व्याप्नोति यो यादृशं ब्रह्म चरति स तादृशो ब्रह्मचारीति श्रुतिसामान्यार्थप्रचारकमीमांसकानामाशयः । अग्न्यादिपदैरेवोत्पन्नमुद्भूतं तत्सामान्यार्थान्तर्गतमनतिशयितमग्नित्वादिकं ब्रह्मत्वं परमात्मतत्त्वमित्युच्यते तस्मादत्र सामान्यकथने न किमपि ब्रह्मपदवाच्यमवशिष्यते । यदनुकूलं परिणामे सुखकरं तद् ब्रह्मेतरद्धानिकरं परिणामे दुःखकरं च तदब्रह्म तस्य चरणमब्रह्मचर्यमित्यर्थादापन्नं बोध्यम् । गदमदचरेत्यादिसूत्रेण चर्यपदस्य कर्मणि साधुत्वं ब्रह्म,चर्यमस्मिन्निति व्रतं ब्रह्मचर्यपदेनोच्यते ॥ १ ॥

भाषार्थः—(देवानां परिषूतम्) अग्नि, वायु और सूर्य इन मुख्य तीन देवता पदवाच्यों से उत्पन्न-प्रकट हुए अर्थात् अग्नि आदि पदों के ठीक २ वाच्यार्थ के व्याख्यान सहित सृष्टि के आरम्भ में हुए (रोचमानम्) अज्ञान, मिथ्यापन तथा कलङ्कादि सब दोषों से रहित और सर्वथा शुद्ध होने से शोभित रुचिकारक (अनभ्यारूढम्) स्थूल न होने से भार जिसका नहीं होता [स्थूल वस्तु का ही सब को सर्वत्र भार प्रतीत होता है] (ज्येष्ठमेतद् ब्रह्म) अत्यन्त प्रशंसा के योग्य श्रेष्ठ इस प्रत्यक्ष ब्रह्मनाम बड़े पूज्य वेद नामक विद्या के तत्त्व को जो (चरति) स्वीकार—ग्रहण करता नाम पढ़ता जानता है और जिस के शरीर में (सर्वे देवाश्चामृतेन साकम्) अपने २ अवान्तर भेदों के सहित सब अग्न्यादि देवता अमृत नाम शीघ्र नष्ट न होने वाले शुद्ध सारांश के साथ वीर्यरूप तेज के रोकने से वास करते हैं (तस्माज्जातं ब्राह्मणम्) इस कारण ब्रह्म तेज के साथ प्रसिद्ध प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ब्रह्म नाम वेद को चरने नाम पढ़ने के स-

भाव वाले सार्थक ब्राह्मण को ब्रह्मचारी जानो । प्रशस्य और वृद्ध दोनों शब्दों को ज्य आदेश होके ज्येष्ठ शब्द बनता है पर ब्रह्मशब्द से बड़े का अर्थ आजाने के कारण ज्येष्ठ शब्द का श्रेष्ठार्थ यहां लेना उचित समझा गया ॥

भा०—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद हुआ यह विचार ब्राह्मणादि सब ग्रन्थों के अनुकूल है । " अग्नि देवता है " " अग्नि पवित्र करने वाला ऋषि है" इत्यादि प्रकार वेदों में अग्नि आदि को देवता और ऋषि दोनों माना है । सो " वेद में एक ही विषय में जहां विरुद्धसी दीखने वाली दो बातें कहीं हैं वहां वे दोनों ही ठीक धर्मानुकूल हैं " इस मनुजी के कथनानुसार अग्नि आदि को ऋषि तथा देवता कहना दोनों संगत हैं । उस में देवपन सामान्य और ऋषिपन विशेष है । जैसे एक ही देहधारी का मनुष्य, ब्राह्मण, देवदत्त, पुरुष आदि नामों से व्यवहार किया जाता है । इस कारण अग्न्यादि देवताओं द्वारा वा अग्न्यादि ऋषियों द्वारा वेद उत्पन्न हुए ये दोनों ही व्यवहार ठीक हैं । जगत् में जो शोभा प्रतीत होती है वह अग्न्यादि से ही प्रकट होती और वह गुणरूप शोभा जिस २ में होती है उस पर कोई बोझा उसका नहीं होता जैसे श्वेतादि गुणों का किसी पर भार नहीं होता किन्तु भार द्रव्य में होता है । ऐसे ही वेद विद्या भी सूक्ष्म गुणरूप होने से धारण करने वाले पर बोझा नहीं बढ़ाती इसी से शोभा करने वाली है । अमृत नाम प्राण का और मृत वा मृत्युनाम अपान का है । वीर्य के रोकने से उपस्थेन्द्रिय सम्बन्धी अपानका वीर्यपातरूप बड़ा काम रुकता है इसी से मृत्यु की हानि वा रुकावट और प्राण की शक्तिरूप अमृत की पुष्टि चिरकाल स्थिति होती । इस प्रकार कारणरूप शुद्ध अग्न्यादि तत्त्वों के शरीर में ठहरने और प्रकाशमान विद्यारूप वेद के चरने से ब्रह्मचारी कहाता है यह स्पष्ट ही ब्रह्मचारी शब्दका निर्वचन मन्त्र के अक्षरों से निकलता है । ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी ये दोनों शब्द (ब्रह्म—चरति) इन दो पदों से सिद्ध होते हैं जो कि इस मन्त्र में दोनों पद भिन्न २ स्पष्ट ही पढ़े गये हैं । और चरति क्रिया का ब्रह्म कर्म भी पढ़ा ही है । लोक में भी सर्वत्र गुणकर्म सम्बन्धी लक्षणों से ही सब पदार्थों का निर्देश वा बोध किया जाता है । जैसे अग्नि कौन है ? तो उत्तर होगा कि जो जलाता, दाह गुण वाला, रूप गुण का कारण तथा जल का उत्पादक है । वायु कौन है ? तो उत्तर होगा कि जो स्पर्श गुण का हेतु, जो चलता, चेष्टा कराता तथा जिस से अग्नि प्रकट वा प्रदीप्त होता है ।

धूम, धुआं आदिरूप लक्षणों को छोड़ कर अग्नि आदि का बोध कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहां ब्रह्मचर्यपन और ब्रह्मचारीपन को मन्त्र के व्याख्यान से बोधित कराया गया है। अग्नि आदि पदों के वाच्यों से उत्पन्न प्रकट हुआ देवताओं का सारांशरूप शुद्ध बोधमात्र श्रेष्ठ सामान्य तत्त्व ब्रह्म पदवाच्य है उस को जो २ चरता है वह २ ब्रह्मचारी है-इस प्रकार चराचर संसार में ब्रह्मचर्य व्याप्त है और जो चेतन वा जड़ जैसे ब्रह्म को चरता है-वह वैसा ब्रह्मचारी है यही वेद के सामान्यार्थ प्रचारक मीमांसकों का अभिप्राय जानो। अग्न्यादि पदों से ही प्रकट उन अग्न्यादि के सामान्यार्थ के अन्तर्गत असीम अग्न्यादिपन ही ब्रह्म नाम परमात्मा है। इस कारण यहां सामान्य कथन में ब्रह्मपदवाच्य कुछ भी शेष नहीं रहजाता। जो अनुकूल अन्त्य में सुखकारी है वही ब्रह्म इस से भिन्न प्रतिकूल परिणाम में दुःखकारी हानिकारक अब्रह्म छोटा वा नीच है उस का चरना अब्रह्मचर्य नाम व्यभिचारी होना है। यह अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है। जिस में उपस्थेन्द्रिय तथा मन को वशीभूत रखने पूर्वक ब्रह्म नाम वेद, धर्म ज्ञान के चरने योग्य होता उस व्रत का नाम ब्रह्मचर्य है ॥ १ ॥

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति। तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २ ॥

प०—सर्वे प्राजापत्याः प्रजापतिसम्बन्धिनो रक्ष्यरक्षणकार्यिणः पृथक्स्थित्या प्राणान् बलरूपान् वीर्यस्तम्भनेनात्मसु स्वदेहेषु बिभ्रति धरन्ति तान्सर्वान् प्राजापत्यान् ब्रह्मचारिण्याभृतमवस्थितं स्थापितं वा गुरुणा ब्रह्म वेदो रक्षति दुर्वासनारूपाज्ञानान्धतमःप्रापकत्वाद्दुःखेभ्यः पृथक् सात्त्विकहृदयग्राह्यशान्तिमयसुखे स्थापयति ॥

भा०—ये पृथक्स्तिष्ठन्ति तएव प्राणानात्मसु धर्त्तुमर्हन्ति

नच स्त्र्यादिसन्निहिताः । एवं पृथक्स्थितिः प्राणधारण-हेतुः । वीर्यनिस्सरणेन यादृशं प्राणबलमपहीयते न तादृश-मन्येन कर्मणा, नच प्राणेन्द्रियाणामन्तरेण रक्ष्यरक्षणरूपं प्राजापत्यं क्वापि सम्भवति नहि कामासक्ता रक्ष्यरक्षणे स-मर्था दृश्यन्ते। ये यादृशा वीर्यरक्षकास्ते तादृशा आधिक्येन बलिनः प्राणधारकास्तएव तादृशा रक्ष्यरक्षकास्ते च यदि स्वस्य ब्रह्मचारिणि महत्त्वरक्षणाचरणशीलदेहस्थशुद्धहृदये ब्रह्म वेदमाभरन्ति स्थापयन्ति तदा शारीरबलादन्यद्वैदोद्भ-वमात्मिकमपि विद्याबलं तेषां सुखहेतु सम्पद्यते। एवमत्र पृथक्स्थित्या वीर्यनिरोधेन प्राणबलधारणं वेदविद्याप्र-दानं चेति द्विविधं ब्रह्मचर्यस्वरूपं प्रदर्शितमेतस्यैव विशि-ष्टं व्याख्यानमतः पूर्वलिखितमन्त्रे ज्ञेयं बोध्यम् ॥२॥

भावार्थः—(सर्वे प्राजापत्याः पृथक् प्राणानात्मसु बिभ्रति) रक्षा करने योग्य सुखहेतु चराचर वस्तुओं की रक्षा करने वाले सब लोग स्त्री आदि से अलग रह कर वीर्य को थांभने द्वारा बल नाम इन्द्रियों की शक्तिरूप प्राणों का अपने शरीरों में धारण करते हैं । [चाहें यों कहो कि लगा लिपटी से अलग रह के जो अपने प्राणों का ठीक धारण करते वे ही प्रजारक्षक हो सकते हैं] (तान्सर्वान् ब्रह्म-चारिण्याभृतं ब्रह्म रक्षति) उन सब प्राजापत्यों की ब्रह्मचारी में स्थित हुआ वा गुरु द्वारा स्थापित किया वेद का ज्ञान रक्षा करता है अर्थात् दुर्वासनारूप अज्ञानान्ध-कार जो पाप रूप कहाता उस का हृदय से निवारण करके वेद का ज्ञान दुःखों से बचाता है [शरीर में सब से बड़ा होने से वीर्य ब्रह्म है वह जैसा जिस में ठहरता है उस के प्राणों वा जीवन की वैसी ही न्यूनाधिक रक्षा होती है । किसी में वीर्य सर्वथा न रहे तो क्षण भर भी प्राण नहीं रह सकते विशेष कर वीर्य का धा-रण कर्त्ता ही प्राण धारक ब्रह्मचारी होता और वही वेद के ज्ञान के ठहरने का पात्र होता यह बात (ब्रह्मचारिण्याभृतम्) पद से जतायी है] ॥

पुरुष ही पृथक् रहते वे ही प्राण बल के हेतु वीर्य को अपने में धारण कर सकते किन्तु स्त्रियों के समीप रहने वाले नहीं इस प्रकार पृथक् रहना प्राण धारण का हेतु है। इसी लिये मनुजी ने कहा है कि (पृथक् शयीत सर्वत्र) सब स्थानों वा सब कालों में ब्रह्मचारी सब से पृथक् सोवे अकेला रहे। शरीर से वीर्यक्षीण होने निकलने से जैसा बल घटता है वैसा अन्य किसी कर्म से नहीं। प्राण का धारण नाम जितेन्द्रिय हुए बिना [इन्द्रियों द्वारा विषयभोग करने से प्राणशक्ति का घटना ही अपान कहाता है] रक्षा करनारूप प्रजापतिपन किसी में नहीं घट सकता क्योंकि जो अपने ही तत्त्व की रक्षा न करके व्यभिचार में खोता है वह अन्य की रक्षा कर प्रजापति कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। जो पुरुष जैसे न्यूनाधिक वीर्य के रक्षक होते वे वैसे ही अधिक बली प्राणधारक और वेही रक्षायोग्य के वैसे रक्षक होते हैं और वे यदि महत्त्व को लेने वा रखने के स्वभाव वाले अपने देहस्थ हृदय में ब्रह्म नाम वेद को स्थान देते स्थापित करते हैं तब शरीर के बल से भिन्न वेदाध्ययन द्वारा होने वाला आत्मिक विद्याबल भी उन को सुख देने वाला होता है। इस प्रकार यहां पृथक् स्थिति द्वारा वीर्य के रोकने से प्राण का धारणरूप जीवन और वेद विद्या का ग्रहण यह दो प्रकार से ब्रह्मचर्य का स्वरूप दिखाया गया है इसी का विशेष व्याख्यान इस से अगले मन्त्र में जिस को हम पूर्व लिख चुके हैं किया गया जानो ॥ २ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥३॥

भा०—आचार्यो ब्रह्मचारी भवत्येव विदुषो ब्रह्मचारित्वे प्रत्यगात्मवृत्त्या विचारशीलत्वे सत्येव शिष्यास्तमाचार्यं कुर्वन्ति तदा स आचार्यो भवति न च कामासक्तं कोऽप्याचार्यं करोति वदति वा। यश्च पूर्वं ब्रह्मचारी स चाग्र आचार्यो भवत्येवमनयोः साध्यसाधकभावः। ब्रह्मचारी स्वायत्तमना एव प्रजापतिः प्रजाया रक्षार्हस्य प्राणिवर्गस्य रक्षकः स्वामी भवति नचाजितवाक्कायमानसः क-

स्यापि स्वामी भवति । प्रजापतिः स्वाम्यन्यस्योपरिकृताधिकारएव विराजति लोके दीप्यते नच तथा प्रजा भवति विराजनादेव विराट् प्रकाशविशेषादेवेन्द्रो वशी वशे यस्य सर्वमस्तीति तादृशो भवति। प्रकाशाधीनान्येव सर्वकार्याणि तस्मात्सर्वे कार्यिणः प्रकाशस्वरूपविराडिन्द्रस्य वशे तिष्ठन्तीति तमसि च स्वापवल्लयएव ॥

भा०-यथा भौतिकप्रकाशाधीना सर्वकार्यसिद्धिस्तथा तस्यैव प्रधानाङ्गं चेतनप्रकाशो द्विविधस्यापि प्रकाशस्य यत्रयत्र यादृशो भावस्तस्य तादृशाधिक्येनैवान्ये वशे तिष्ठन्ति प्रकाशश्चान्यकार्यसाधनरूपप्रजापतित्वेन सिध्यति प्रजापतित्वं च ब्रह्मचर्यसाधनात्सम्भवति ब्रह्मचर्यसाधनमेव चाचार्यत्वेन पूज्यत्वगुरुत्वादेर्हेतुर्भवतीति सर्वापेक्षया ब्रह्मचारित्वस्य स्फुटमेव श्रेष्ठत्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थः-(आचार्यो ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी होने पर ही आचार्य हो सकता अर्थात् विद्वान् पुरुष यदि भीतरी विचार में तत्पर मनस्वी नाम अपने आपे में रहने वाला होने से ब्रह्मचारी-विचारशील हो तभी उसको शिष्य लोग गुरु बनाते उसकी शिक्षा में चलना चाहते हैं तभी वह आचार्य वा गुरु हो सकता है किन्तु कामासक्त लम्पट पढ़े हुओं से भी कोई न दबता न उन को बड़ा मानता न वे किसी के गुरु वा आचार्य बन सकते हैं। और जो पहिले ब्रह्मचारी हो चुकते वेही आगे आचार्य होते । जो पहिले किसी सद्गुरु के शिष्य होते वेही आगे अन्यों के लिये सद्गुरु बनते हैं इस प्रकार आचार्यपन और ब्रह्मचारीपन दोनों दोनों के साधक होते हैं (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) और अपने विचार में तत्पर, मन को वश में रख के लम्पट न होके जो ब्रह्मचारी होता वही रक्षा के योग्य निर्बल प्राणियों का अर्थात् स्त्री पुत्र शिष्यादि का रक्षक वा स्वामी अधिपति होता है किन्तु वाणी शरीर और अपना मन जिस के वश में नहीं वह किसी को अपने अधिकार में रखने वाला रक्षक वा स्वामी नहीं हो सकता और

सूचना ॥

हमारे सब ग्राहक महाशयों को विदित होगा कि आर्यसिद्धान्त अब नियत समय पर प्रतिमास निकलने लगा है अब की बार ४। ५ दिन की जो देर कई कारणों से होगयी आशा है कि आगे अब ऐसी न होगी। बराबर निकलता जायगा। द्वितीय आर्यसिद्धान्त के ग्राहकों का हिसाब भेज के जो शेष दाम मागाजाता है उस में लेखक तथा प्रबन्ध कर्त्ताओं के बदलते रहने से कोई भूल हो वा कोई महाशय दे चुके हों और उन से पुनर्वार भूल से मांगा जाय तो कृपया मुझ को लिख कर सूचित कर दिया करें जिस से उन का हिसाब ठीक सम्हाल लिया जाय। और नये वा पुराने सब ग्राहक महाशय नागरी वा अंगरेजी में अपना नाम पता स्पष्ट लिखा करें किन्तु उर्दू फारसी में लिखने से कुछ का कुछ बांचा जाता है इस कारण उन अक्षरों में पत्र न लिखा करें इस से ऐसे पत्रों की ठीक २ कार्यवाही न होने पर हम दोषी नहीं होंगे ॥

२—संन्यास आश्रम जैसा उच्च कक्षा का पूर्व से था उस को वर्त्तमान काल के अनेक मूर्ख लोभी लालची अच्छा २ खाने पहरने में आसक्त गुप्त व्यभिचारी प्रसिद्ध में ब्रह्मचारी वा संन्यासी कहाने वाले लोगों ने विगाड़ दिया। अब इस आश्रम का जगत् में वैसा गौरव नहीं रहा तथापि किसी विषय से पृथिवी कभी निर्बीज नहीं होती। अब भी कोई २ अच्छे संन्यासी हैं और आशा होती है कि अब आगे २ अच्छे २ विचारशील शान्त जितेन्द्रिय योगाभ्यासी नये २ गृहस्थ संन्यासी होंगे जो फिर से इस आश्रम का सर्वोत्तम गौरव बढ़ावेंगे जिन के द्वारा भारत की तपोभूमि फिर से सार्थक होगी। हम सहर्ष प्रकाशित करते हैं कि एक पं० वदरीप्रसाद जी जो आर्यसमाज अतरौली जिला अलीगढ़ के उपदेशक थे जिन के शान्त और शुद्ध विचार उन के बनाये सुमतिसुधाकर तथा अवलाविनयादि पुस्तकों से प्रकट होते होंगे जिन महाशय ने अनुमान छः महिना हुए तब इसी इटावा नगर में संस्कारविधि के लेखानुसार अपने शरीर का संन्यास संस्कार बड़े हर्ष और उत्साह के साथ कराया उन का अब अन्वर्थ नाम शान्त्यानन्द रक्खा गया है ५ महिने तक ठहर के यहां योग सांख्य और उपनिषदों का आशय उक्त महाशय ने सुना पढा अब एक महीने से अपनी शान्ति को सुरक्षित अपने साथ रखते हुए समाजों में विचरने को पश्चिम की ओर पधारे हैं। इन में किसी प्रकार का लोभ लालच लेशमात्र भी अब तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। शान्त्यानन्द

जी ने मुझ (भी० श०) से संन्यास लिया और योगशास्त्रादि पढा इस कारण उक्त महाशय मुझ को आचार्य-गुरु मानते हैं पर शान्त्यादि गुणों के गौरव से मैं भी उन को गुरु ही मानता हूं लघु कदापि नहीं कह सकता ॥ ऐसे शुभ गुणागार मनुष्यों से थोड़ा उपदेश करने पर भी वा मौन बैठे रहने पर भी उन्माद दशा में सोते हुए संसारी पुरुषों का अधिक सुधार अवश्य हो सकता है । शोक इतना ही है कि इन का शरीर रोगरूप घुण के लग जाने से अतिकृश वा लघु हो रहा है तथापि आत्मिक ज्ञान वा विचार अच्छी दशा का नीरोग है । स्वामि दयानन्द सरस्वती जी में भी इन की भक्ति है । परमात्मा से प्रार्थना है कि इन को वह चिरायु करे और इनके शुद्ध निर्लेप आचार विचार और समदर्शिता की उन्नति देवे तो इन के द्वारा संसारी मनुष्यों का सुधार होवे ॥

और तृतीय सूचना यह है कि अनेक महाशय ओषधियों केविषय में पूछा करते हैं सो अन्य दुकान्दारों की अपेक्षा मैं " पं० हीरालाल शर्मा वैद्य डाक बवियाल जि०-अम्बाला " को अधिक धर्मनिष्ठ और सच्चा समझता हूं आशा है कि अनेक रस, रसायन, धातु, उपधातु आदि बड़ी २ नामी ओषधि पं० हीरालाल शर्मा से लेकर अनेक महाशय लाभ उठावेंगे । दीन दुःखियों को विना दाम भी ओषधियां देंगे । इन से व्यवहार करने पर ठगे जाने की सर्वथा ही आशा नहीं है । "अमृताञ्जन" नामक ओषध जो नेत्र रोगों के लिये इन्हों ने बनाई है ग्राहकों को मंगाकर परीक्षा करनी चाहिये ॥

भवन्मित्रो-भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

सनातनं वेदपथं सुमण्डयदर्वाक्तनं तद्विमुखं च खण्डयत् ।
विद्वेषिणो दस्युतरांश्च धर्षयत्समृद्ध्यतां पत्रमिदं प्रगर्जयत् ॥

सनातन आर्य्यमतमण्डन, नवीनपाखण्डमतखण्डन ।
सत्सिद्धान्तप्रवर्त्तक, असत्सिद्धान्तनिवर्त्तक ।
प्राचीनशास्त्रपरिचायक, आर्य्यसमाजसहायक ।

भाग ८] मासिकपत्र [अङ्क १२

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

श्री १०८ स्वामि दयानन्दसरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित हो कर

इटावा

सरस्वतीयन्त्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९५४ आग्रहायण शुक्ल ता० १ दिसम्बर सन् १८९७ ई०

(मूल्यप्राप्ति स्वीकार) मास अकटूवर नवम्बर (९७ ई०)

१२६ श्री बा० होरीलाल जी एटा १।)	८७ बा० दुलीचन्द जी पलवल १।)
१७७ श्री शिवशरणलाल जी पाटन १।)	८०६ सेठ सोभाराम जी चामरपाटा १।)
१२४८ श्री सोहनलाल जी भर्क १।)	१२६२ भाईशंकरतुलसीराम जमालपुर १।)
६८४ मन्त्री आर्य्यसमाज रांची २॥)	११३३ लच्छीराम सिगनेलर दिल्ली १।)
८०५ श्री वासुदेवशर्मा हैदराबाद २॥)	१२६३ सरदार चेतसिंह जी छीना १।)
५१२ बा० भगवन्तसिंह जी सिहोर १।)	१२६४ रा०रा० विनायकराव मलकापुर १।)
११४ श्री बालाजी शिवप्रसाद मुम्बई २॥)	८४७ पं० सहदेवप्रसाद जी पुखरायां २)
७८ मन्त्री आर्यसमाज लखनऊ २॥)	१०८४ बा० शंभुनाथ जी तीतरों १।=)
५४८ लाला रामप्रसाद जी जगाधरी १।)	११२३ बासदेव बाजपेयी पुरावली १।)
६१३ श्री मिट्ठीलाल जी अहिरवा २)	१०३ कुंजविहारीलाल जी मऊ छीमा १।)
११९८ पं० लालमणि शर्मा एटा १।)	९४६ गंगाधरशर्मा बाराबंकी १॥।)
८१५ सेठ टीकमदासभगवा० बुरानपुर २॥)	२५७ कुंवर योधसिंह जी रईस सुरायां २॥)
९३३ बा० महावीर प्रसाद जी मुजफ्फरपुर १।)	१२६६ तोफाराम जी ताजपुर १।)
३९६ मन्त्री आर्यसमाज गुजरांवाला २॥)	१२७० अवधविहारीलाल गोपामऊ १।)
७८३ बा० गदाधरसिंह जी मधुरापुर २॥)	विनापता किन्हीं महाशय के ३) आये हैं
२२७ बा० सीताराम जी किरांची १।)	जिन महाशय के हों पत्र लिखें ॥

ओ३म् समालोचना—

चिकित्सकशङ्करदा जी शास्त्री पदे—आर्यभिषक् कार्यालय—नवानागपाड़ा—मुम्बई—ने एक बृहन्निघण्टु पुस्तक छपाया है जिस में वनौषधि आदि के ९२६ शब्दों की व्याख्या अनेक भाषाओं के नामों से दिखायी है। नागरी और गुजराती भाषा में अकारादि क्रम से सूचीपत्र भी दिया है पुस्तक अच्छा प्रतीत होता है। मूल्य दीड रुपया लिखा है सो अधिक ज्ञात होता है। जिन महाशयों को लेना हो उक्त पते पर पत्र भेज कर मगावें।

१—सत्यामृतप्रवाह। २—श्रद्धाप्रकाश। ३—भाग्यवती ४—धर्मसंवाद। ५—सत्यधर्ममुक्तावली। ६—शतोपदेश। ७—नित्यप्रार्थना। ये सात पुस्तक फुल्लौर जि० जालन्धर से—महताब कौर पं० श्रद्धाराम जी स्वर्गवासी की विधवा धर्मपत्नी ने हमारे समीप भेजे हैं। सारग्राही लोगों को इन से भी सारांश का उपदेश मिल सकता है। जिन महाशयों को लेने हों उक्त पते पर पत्र भेज के मगा लेवें। सत्यामृतप्रवाह का मूल्य अन्य पुस्तकापेक्षा ५) [इस का मूल्य दिशम्बर ९७ तक २) किया है सो भी अधिक है] अत्यन्त अधिक है। इन पुस्तकों में भाग्यवती स्त्रीशिक्षा का पुस्तक अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा है जिस का मू० ॥।) है॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

भाग ८ } उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥ { अङ्क १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अं० ११ पृ० २२० से आगे ब्रह्मचर्य का शेष व्याख्यान ॥

(प्रजापतिर्विराजति) अन्यों के ऊपर अपना अधिकार वा गौरव रखने वाला प्रजापति पुरुष ही जगत् में प्रकाशित प्रतिष्ठित और नामी वा प्रतापी होता है। तथा (विराडिन्द्रोऽभवद्वशी) प्रतापी होने से ही वह विराट् कहाता है इसी से सब को वश मे रखने वाला होने से इन्द्र कहाता है। क्योंकि संसार के सब कार्य प्रकाश के आधीन हैं इसी से कामों द्वारा इष्ट सिद्ध करने वाले सब प्राणी प्रकाशस्वरूप विराट् नामक इन्द्र के वश में रहते और जब तमोरूप अन्धकार में स्वप्न वा सुषुप्ति के समान प्रलय होता तब सब कार्यसिद्धि भी भूल जाती है इसी से वहां वश में रहना नहीं कह सकते ॥

भा०—जैसे भौतिक प्रकाश के आधीन सब कामों की सिद्धि होती वैसे उस भौतिक प्रकाश का प्रधान भाग चेतन प्रकाश है यह दोनों प्रकार का प्रकाश जिस २ वस्तु में जैसा २ विद्यमान है वैसी ही अधिकता से अन्य उस के वश मे रहते हैं। और अन्यों की कार्य साधनरूप रक्षा करनेरूप प्रजापतिपन से प्रका-

श की सिद्धि होती तथा ब्रह्मचर्य के साधन से प्रजापति होना सम्भव होता और आचार्यरूप से पूज्य वा गुरु आदि होने का हेतु ब्रह्मचर्य का साधन ही है। अभिप्राय यह हुआ कि मन से ही कामासक्ति की उत्पत्ति होती इसी से कामदेव मनजिस कहाता इस कारण मन को वश में किये विना कोई ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। इसी से जगत् में जब जो जितना और जैसा मन को वशीभूत करके ब्रह्मचर्य साधन कर लेता वह उतना और वैसा ही लोक में प्रकाशित, प्रतापी, आचार्य वा पूज्य और अन्यों का उपकारी रक्षक हो जाता है ॥३॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥४॥

अ०–राजा मनोनिग्रहपुरस्सरमुपस्थेन्द्रियनिग्रहेण तपोरूपेण ब्रह्मचर्येण राष्ट्रं विरक्षति विशेषेण रक्षां राजस्य कर्त्तुं शक्नोति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण स्त्रीभ्यो मनोनिरोधेन ब्रह्मचारिणं शिष्यमिच्छते शिष्यं शिक्षयितुं मनः कुरुते स्त्रीष्वासक्तमनाश्च तास्वेव रमते नतु ब्रह्मचारिणं शिक्षयितुमिच्छामपि कर्त्तुं शक्नोति। मनसोऽन्यत्र सक्तत्वात्। अत्रेच्छतीति प्राप्ते व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥

भा०–एतन्मन्त्रस्यैवानुवादो मनुना कृतो यथा–"जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः,, प्रजानां वशे स्थापनमेव राष्ट्रस्य रक्षणम्। विदुरेणापि स्पष्टमुक्तमेतदेव–"यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान्। जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ,,ये च ब्रह्मचर्यव्रतमनुमोदन्ते ते स्वयमपि सापेक्षं ब्रह्मचर्यं सेवमाना अन्येऽपि ब्रह्मचारिणः स्युरितीच्छन्ति, विषयासक्ताः कामिनो

विषयिणश्चौराश्च चौरानिच्छन्ति स्वसदृशानेव सर्वइच्छ-न्तीति नियमउपलभ्यते ॥ ४ ॥

भावार्थः-(राजा तपसा ब्रह्मचर्येण राष्ट्रं विरक्षति) मन को वशमें रखने पूर्वक उपस्थेन्द्रिय को मैथुन से रोकने में जो कठिनता होती ऐसे सहन से शरीर को तपाने वाले तपोरूप ब्रह्मचर्य के साधनेसे ही राजा विशेष कर राज्य की रक्षा कर सकता किन्तु जो प्रजा की सुन्दरी स्त्रियों को ताकता उन के साथ विषय भोग चाहता है प्रजा उस के वश में नहीं रहती न वह प्रजा की रक्षाकर सकता है (आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते) और स्त्रियों की ओर से मन को रोकनेरूप ब्रह्मचर्य के साधने से ही आचार्य शिष्य को शिक्षा करने के लिये ब्रह्मचारी बनाना चाहता है किन्तु जिसका मन स्त्रियों के साथ कामभोग में आसक्त है उन्हीं में जो रमण करता है वह कभी स्वप्न में भी किन्हीं को ब्रह्मचारी बना के रखने शिक्षा करने की इच्छा नहीं करसकता । क्योंकि उसका मन अन्यत्र फसा हुआ है ब्रह्मचारी को चाहने की इच्छा का ब्रह्मचर्य कारण वा हेतु है ॥

भा०-राजधर्म प्रकरण में मनुजीने इसी मन्त्र का अनुवाद किया है कि-,,जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रजा को वश में रखसकता है,, और प्रजा को वश में स्वाधीन अनुकूल रखसकना ही राज्य की रक्षा कहाती है । और यही विषय महाभारत उद्योगपर्व में विदुर जी ने भी स्पष्ट कहाहै कि-"जो पुरुष अपने भीतरी शत्रु मन के अवान्तर भेदरूप पांच ज्ञानेन्द्रियों को न जीत के अन्य शत्रुओं को जीतना चाहता है शत्रुलोग उस को दबाकर जीतलेते और वह किसी को जीत के स्वाधीन नहीं करपाता ,, और जो लोग ब्रह्मचर्याश्रमरूप व्रत का अनुमोदन करते हैं वे स्वयं भी ब्रह्मचर्य का सेवन जैसा करते वैसा ही अन्यों को ब्रह्मचारी बनाना चाहते वा चाहसकते हैं । तथा विषयासक्त कामी लोग कामियों को और चोर चोरों को चाहते हैं अर्थात् अपने सदृशों को ही सब चाहते हैं यह एक नियम ही जगत् में होरहा है ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥५॥

अ०—उपस्थनिग्रहरूपेण ब्रह्मचर्येण सह वर्त्तमाना सत्येव कामयमाना कन्या युवानं पतिं विन्दते प्राप्नोति नच पूर्वतो व्यभिचारिण्यन्येन पुंसा संप्रयोगं गच्छन्ती युवानं पतिं स्वीकर्त्तुं प्रयतते। अनड्वान् वृषभो ब्रह्मचर्येण युक्तएव गां गच्छति। नचैकया गवा सद्यःकृतसंप्रयोगो विनष्टब्रह्मचर्य-स्तदानीमन्यां गां गन्तुं शक्नोति। ब्रह्मचर्येण वडवया सं-योगायाकृतमानसएवाश्वो घासं स्वखाद्यं जिगीर्षति प्राप्तु-मिच्छति। नच वडवया संप्रयोगायोत्सुकोऽश्वो घासं खा-दितुं प्रयतते। यद्वा घासं जिगीषतीत्यनेनाश्वानडुहोरुभ-योरपि सम्बन्धः। उभावप्यश्ववृषभौ मनोनिग्रहरूपब्रह्म-चर्येण युक्तावेव स्वखाद्यं घासं जिगीषतो नतु कामोन्म-त्तमनस्काविति योज्यम् ॥

भा०—यद्यपि वेदोक्तप्रकारेण सप्तपद्यवधिकृत्यानन्त-रमेव स्वीकृतभर्त्रा सह कृतेन संप्रयोगेणैव कन्यात्वं नि-वर्त्ततेऽतएव कन्याया अपत्यं कानीनइति संघटते। यदि च पुंसा संयोगमात्रेण कन्यात्वं निवर्त्तेत तर्हि कानीनपदम-साधु स्यात्। तथापि या कृतविवाहा मुहुर्मुहुः निःशङ्कं पुंसा सह विहरति तदपेक्षया कदाचिदेव या केनापि पुंसा संयुज्यते तस्या उपस्थनिग्रहरूपमधिकमेव ब्रह्मचर्यं स्था-स्यति तस्मादेव सा मध्यमकक्षायां कान्तिमत्यन्वर्था कन्या विज्ञेया। उत्तमकक्षायां या सर्वथैवोपस्थनिग्रहरूपब्रह्मचर्येण दीप्तिमती कन्या तदपेक्षया तु कामोत्पादिकाया अपि

कन्यायाः कन्यात्वं व्यापन्नमेव । एवं च ब्रह्मचर्येण कन्येति कथनाद्वेदे ब्रह्मचर्यत्वं कन्यात्वस्थितौ हेतुरिति ध्वनितार्थः । यत्र यादृशं ब्रह्मचर्यं तत्र तादृशं कन्यात्वमिति । कनीदीप्तिऽइति धातुतः कन्यापदं व्युत्पन्नं बोध्यम् । या च वेदशास्त्राध्ययनसन्ध्योपासनादिसुकर्मानुष्ठानेन सहैव सर्वथोपस्थनिग्रहरूपं ब्रह्मचर्यं साधयति तस्यां चोत्तमादप्युत्तमं कन्यात्वं निर्विकल्पं व्यवस्थितं बोध्यम् । नच वेदाध्ययनादौ कन्यानामनधिकारइति शङ्कनीयम् । अशक्तानामेव पुंसामिव तासामप्यनधिकारपक्षस्य चरितार्थत्वात् । ब्रह्मचर्येणाश्वादीनामपि कथंचित्कान्तिमत्त्वमस्तु तन्मानुषीकन्यापेक्षयाऽतिन्यूनमतो योगरूढत्वाच्च कन्यापदस्य नह्यश्वादीनां कन्यात्वापत्तिः शङ्कार्हा । कान्तितेजोवृद्धिरक्षाहेतुकं सर्वमाचरणं ब्रह्मचर्यमाभासवर्जम् । अतएव पर्यायोषितां बाह्यमाभासरूपं कान्तिमत्त्वं ब्रह्मचर्यपक्षान्निराकृतं बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः– (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं पतिं विन्दते) उपस्थ इन्द्रिय को विषय भोग से रोकने रूप ब्रह्मचर्य से युक्त हुई ही शोभाकान्ति युक्त कन्या युवा पुरुष को प्राप्त होती है किन्तु पूर्व से व्यभिचारिणी किसी अन्य पुरुष के साथ फसावट रखती संयोग करती हुई युवा पति को स्वीकार करने की चेष्टा नहीं करती (ब्रह्मचर्येणानड्वान्) ब्रह्मचर्य से युक्त हुआ ही बैल गौ के निकट जाता वा जाना चाहता है जिस से गौ गर्भिणी–गाभिन हो सकती है किन्तु किसी गौ के साथ संयोग करने से जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया वह कदापि उसी समय अन्य गौ की इच्छा नहीं कर सकता (अश्वो घासं जिगीषति) किसी घोड़ी को देख कर विषय भोग के लिये जिस के मन में उफान नहीं उठा अर्थात् मन के द्वारा जिस का मुख्य ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं हुआ जिस का मन ठीक दशा में विद्यमान है वह घोड़ा

ऐसे ब्रह्मचर्य से युक्त रहता हुआ ही घास नाम अपने भक्षणीय वस्तु को प्राप्त करना चाहता है किन्तु घोड़ी के साथ संयोग करने के लिये उत्सुक-तुड़ांता हुआ घोड़ा अपने समीप मुख के पास धरे हुए भी दाना घास को कदापि नहीं खाता न खाना चाहता है। अथवा बैल और घोड़ा दोनों ही विषयासक्ति की ओर मन के न जानेरूप ब्रह्मचर्य के विद्यमान रहते ही घास को प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु काम से उन्मत्त हुए नहीं। इस प्रकार (घासं जिगीषति) के साथ दोनों का सम्बन्ध लगाना भी अनुचित नहीं है॥

भा०-यद्यपि वेद में कहे प्रकार सप्तपदी क्रिया होने पश्चात् अपने विवाहित पति के साथ संयोग होने पर ही स्त्री का कन्यापन नष्ट होता है। इसी से अविवाहित स्त्री का अकस्मात् किसी पुरुष के साथ संयोग होने पर जो सन्तान होता है वह कन्यापुत्र—कानीन कहाता है। यदि पुरुष के साथ संयोग होने मात्र से कन्यापन की निवृत्ति मानें तो कानीन पद की सिद्धि नहीं हो सकती तथापि जो विवाहित पुरुष के साथ निस्सन्देह वार २ विहार करती है उस की अपेक्षा जो कभी अकस्मात् किसी पुरुष से संयोग करले और वैसे मन से शुद्ध हो मन जिस का व्यभिचार में न रमता हो उस का उपस्थेन्द्रिय को रोकना रूप ब्रह्मचर्य अधिक अवश्य होगा। इसी कारण वह मध्यम कक्षा में कान्तियुक्त होने से अन्वर्थ कन्या कहावे गी। और जो सर्वथा ही उपस्थनिग्रह रूप ब्रह्मचर्य से तेजस्विनी कन्या हो जिस के मन से भी विषय भोग का संकल्प न हुआ हो वही सर्वोत्तम कक्षा की ब्रह्मचारिणी होगी उस की अपेक्षा तो विना विवाह किये किसी पुरुष से संयोग करके कानीन पुत्र को उत्पन्न करने वाली कन्या का भी कन्यापन खण्डित हुआ अवश्य माना जायगा। इस के अनुसार वेद में कन्यापन की स्थिति में ब्रह्मचर्य को कारणता प्रकट होती है। अर्थात् जिस में जैसा जिस कक्षा का ब्रह्मचर्य होता उस में वैसा ही कान्ति-तेज सहित कन्यापन होता है। और (कनी दीप्तिकान्ति०) धातु से कन्या पद की सिद्धि होने पर यही अर्थ निकल आता है। और जो कन्या वेद वेदाङ्गों के पढ़ने तथा सन्ध्योपासनादि शुभ कर्मों के सेवन के साथ ही उपस्थेन्द्रिय निग्रहरूप ब्रह्मचर्य का भी साधन करती है उस में उत्तम से भी उत्तम [सोने में सुहागा] तेजस्विनीरूप कन्यापन निस्सन्देह ठहरा माना जायगा। [ऐसी स्त्रियां गार्गी मैत्रेयी आदि अत्यन्त प्र-

शिक्षित ब्रह्मवादिनी हो गयी हैं जिन का नाम अब तक बड़े गौरव से लिखा जाता है। महाभारत में लिखा है कि "अत्र शर्मा शिवा नाम ब्राह्मणी वेदपारगा" यहां एक शिवा शर्मा, नामवाली वेद के पार पहुंची वेद का गुह्याशयरूप मर्म जानने वाली ब्राह्मणी रहती थी। इस से सिद्ध है कि स्त्रियां भी वेदपारदर्शिनी होती थीं और हो सकती हैं] यदि कोई शङ्का करे कि कन्याओं को वेदाध्ययनादि कामों का अधिकार नहीं, तो उत्तर यह होगा कि जैसे जिन २ वेदाध्ययनादि कामों के करने में जो २ असमर्थ हैं, कर ही नहीं सकते ऐसे पुरुषों को भी वेदाध्ययनादि का अधिकार नहीं है वैसे असमर्थ स्त्रियों को भी अधिकार नहीं। इस प्रकार अनधिकार पक्ष असमर्थों में चरितार्थ हो जाने से समर्थों के अधिकार का शास्त्र से कदापि निषेध नहीं आ सकता। ब्रह्मचर्य सेवन से घोड़े आदि में भी कान्तियुक्त होना रूप कन्यापन आ सकता है। तथापि मानुषी कन्याओं की अपेक्षा पुरुषादि सभी में अतिन्यून कान्ति होने और मनुष्य की बालिकाओं में कन्यापद के योगरूढ़ होने से मनुष्य पुरुष तथा गौ घोड़ा आदि का नाम कन्या नहीं माना जाता। कान्ति और तेज की वृद्धि तथा रक्षा का हेतु सभी आचरण आभास नाम दिखावटी बनावटी ऊपरी कान्ति बढ़ाने के उद्योग को छोड़कर ब्रह्मचर्य कहाता वा माना जाता है। इसी कारण वेश्याओं का बनावटी दिखा कर ठगने के लिये किया कान्ति बढ़ाने का उद्योग ब्रह्मचर्य से पृथक् किया जानो ॥५॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सह ऋतुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ ६। ७॥

अ०—ओषधयो यवाद्या भूतं च भव्यं चातीतानागत कालावहोरात्रे प्रसिद्धे तमःप्रकाशप्रधाने वनस्पतिर्वटादिर्व-

सन्तादिभिऋतुभिः सह वर्त्तमानः संवत्सरस्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः स्वीयमहत्त्वरूपस्य ब्रह्मणश्चरणशीला धारकाः स्वतत्त्वात्यागिनो जाता जायन्ते भविष्यन्ति च । पार्थिवाः पृथिव्यां विदिताः पाषाणादयो दिव्या दिवि सूर्यादिलोके भवा फलाश्च ये आरण्या ग्राम्याश्च पशवो ये पश्यन्ति विषयानिन्द्रियैराददते येऽपक्षाः पक्षरहिताः सर्पनकुलादयः पक्षिणश्च पक्षसहिताः शुकवकादयस्ते सर्वेऽपि प्राणभृतः स्वतत्त्वरूपस्य महतो ब्रह्मणश्चरणशीला अत्यागिनो जाता जायन्ते जनिष्यन्ते च ॥

भा०—अत्रौषध्यादिपदान्युपलक्षणार्थानि बोध्यानि तेन ब्रह्मचर्यरक्षणमयेको नियमः प्राकृतएव चराचरसंसारे वेदेन प्रदर्श्यते । नहि किमपि स्थूलं सूक्ष्मं वा वस्तु सर्गेऽस्मिन् विद्यते यत्र ब्रह्मचर्यं स्वतत्त्वरक्षणरूपं नोपलभ्येत । उप्ता यवादयो भूमिगतं सारभूतं ब्रह्मपदवाच्यं महत्त्वमाददते तेन वर्धन्ते पुष्यन्ति च नच स्वस्य वृद्धिपुष्टिकाले समुपादीयमानं सत्त्वं व्ययीकुर्वन्त्यपितु यत्नेन स्वात्मन्येव रक्षयन्ति । यदि च स्वतत्त्वं वृद्धिकाले त्यजेयुस्तर्हि फलभूतानि यवाद्यन्नानि मनुष्यादिजीवनहेतूनि तेषु नैव निष्पद्येरन् निष्पद्यन्ते च तेन स्पष्टमवसेयं यवाद्योषधयो ब्रह्मचारिण्यो भूत्वैव स्वायुः सम्यग्व्यतीत्य परोपकारं स्वफलेनान्नेन विदधतीति । अतीतकालस्य तत्त्वं भूतत्वमेव स्वत्वस्य हानिर्नोपादानं न कदापि हानिकमेव तस्य ब्रह्म-

चर्य्यम् । मद्यतीतः कालः कदापि पुनरायाति यदि भूतकालो-ऽनागतत्वं वर्त्तमानत्वं वाप्नुयात्तदा ब्रह्मचर्य्यं जह्यात् । एव-मनागतकालोऽपि संवत्सरानन्तरं भावी नाद्य भवति । ए-वमहोरात्रयोरपि योज्यम्—नार्द्धरात्रावसरे प्रातर्भवति नच मध्याह्नकाले सूर्योऽस्तमेति । यथा दिवसः स्वावधिकाले न कदापि स्वत्वं जहाति तथैव रात्रिरपि स्वावधिकाले न कदाचिदपि ह्रासमापद्यते । वटादयो वनस्पतयः पुष्पावि-र्भावमन्तरेण फलवन्तो ब्रह्मचर्यमुक्तविधं कृत्वैव महान्तः स्थूलाः सन्तश्छायादिना परोपकारं विदधति । यदि दृढ-तया स्वस्वरक्षणरूपं ब्रह्मचर्यं वनस्पतिषु न स्यान्नहि तदा वटादीनामेवं स्थूलं पुष्टमतिगह्वरं पार्थिवजलमाकृष्य सूर्या-यार्पकं काष्ठादिना जगदुपकारकं च वपुः स्यात् । भवति चैवं तस्माद् ब्रह्मचारित्वमेव तादृशभावस्य कारणम् । एवं संवत्सरेऽपि न कदापि दक्षिणायनमध्य उत्तरायणमाया-ति । यदि द्वादशमासिको वत्सरः स्वत्वं जह्यान्नवमासि-कोऽष्टादशमासिको वा भवेत्तदाऽब्रह्मचारित्वं तस्य सम्भा-व्येत तथा च सति लोकयात्रायां महद् वैपरीत्यं स्यात् । तथर्त्तवोऽपि ब्रह्मचर्यं न कदापि जहति । यदि जह्युस्तर्हि तत्तदृतुसाध्यानि संसारस्थितिहेतूनि वृष्ट्यादिकार्याण्यपि यथाकालं न स्युस्तदा च प्रलयावसरः सद्यआयात् । न-चैवं जायतेऽपितु वसन्तानन्तरमेव ग्रीष्मो ग्रीष्मानन्तर-मेव च वर्षाः क्रमेणैव लोकयात्रासिद्ध्यर्थं भवन्ति तस्मा-

स्तूनामपि सुस्थिरमेव ब्रह्मचारित्वम् । पार्थिवाः पाषाणा दीर्घकालादतिशीतलजले पतिता अपि नह्याग्नेयरूपं स्वत्वं कदापि जहति । नहि कदाप्याप्याः सोमतत्त्वप्रधाना वा भवन्ति । अतएव येष्वश्मस्वितरेतरताडनेनायसा वा ताडनेनाऽग्निः प्रादुर्भूयते तेषु बहुकालाज्जलपतितेषु क्लिन्नेष्वपि ताडनेन तथैवाग्निर्व्यज्यते । पाषाणादाहजन्यं चूर्णं च प्रतिक्षणं क्लिन्नं सदपि दाहकरं छेदकं शोषकं च भवत्येव न कदापि स्वत्वं जहाति । एवं सर्वएव पार्थिवा आप्यास्तैजसा वायवीयाश्च लोकलोकान्तरस्थाः पदार्था न कदापि स्वभावं जहत्यपितु रक्षयन्त्येवेदमेव तेषां ब्रह्मचर्यम् । तत्तद्वस्तूनां स्वभावस्यानपायित्वरूपब्रह्मचर्यसद्भावादेव लोकस्थितिः । यदि जलं सर्वत्र दाहकं सम्पद्येताग्निश्च शैत्यमाप्नुयात्तदा न कस्यापि जीवनादिकं स्थितिं लभेत । एवं तिर्यग्जन्तवोऽपि स्वत्वात्यागरूपं ब्रह्मचर्यं रक्षयन्त्येव पृथिवीतः स्वखाद्यं चरन्ति सारमादायासारं मलं त्यजन्ति सारं च शुक्रादिरूपेण परिणतिमापन्नं स्वात्मनि गोपयन्ति तेनैव सिंहव्याघ्रवराहादयोऽतिबलिनः सर्वस्य दृष्टिपथमागच्छन्त्येव । किं बहुना ये चरा अचरा वा यादृशं स्वस्थितिहेतुकं सारं देहे धारयन्ति तादृश्येव तेषां सुखपूर्विका जीवनस्थितिर्ये च यादृशं सारमधिकं स्वदेहान्निस्सारयन्ति तादृशमेव तज्जीवनं व्याहन्यते रोगादिना दुःखं च भुञ्जतआयुर्व्यतियन्ति च । मनुष्येषु तु विशेषतः स्थावर-

तिर्य्यगपेक्षयाऽधिकज्ञानवता सता ब्रह्मचर्यं धार्यं तद्विपरीतं दृश्यते चरापेक्षयाऽचरेषु ब्रह्मचर्याधिक्यं मानुषापेक्षया पश्वादिषु चाधिकम्। मानवेषु च बुद्धिमच्छिक्षितापेक्षया मूर्खेष्वधिकं शुक्रनिरोधरूपं ब्रह्मचर्यं स्पष्टमेव प्रतीयते। अज्ञानं—मिथ्याज्ञानमविद्या विपरीतो बोधोऽतएव पश्वादिषु पश्वादिवन्मूर्खमनुष्येषु चाज्ञानमिति वक्तुं न शक्यतेऽपितु पश्वादयो मूढाः प्रसुप्ताइव। ये च मनुष्येषु शिक्षितकोटिप्रविष्टास्तेष्वेवाज्ञानं प्राबल्येन व्यवस्थितं तच्च ज्ञानाभासपदेनापि वक्तुं शक्यते। तएव शिक्षिताविपरीतबोधमाश्रित्य विषयभोगाय प्राबल्येन धावन्तस्तत्र सुखं मन्यमानाः स्वजीवनमूलं ब्रह्मचर्यं नाशयन्ति। स्वयेतरया वेश्यादिकया वा सह शरीरतत्त्वं शुक्रमधिकतरं नाशयितुं प्रवृत्ता दृश्यन्ते ॥६॥

भावार्थः—(ओषधयो भूतभव्यम्) जौ आदि ओषधियां, भूतकाल, भविष्यत् आनेवाला समय (अहोरात्रे वनस्पतिः) प्रकाशरूप दिन, अन्धकार प्रधानरात्रि, वट—वरगद आदि वनस्पति नाम के वृक्ष (संवत्सरः सह ऋतुभिः) और वसन्तादि ऋतुओं सहित संवत्सर—वर्ष (ते जाता ब्रह्मचारिणः) वे सब ब्रह्म नाम अपने २ महत्त्व को चरने नाम धारण करने—पकड़े रहनेवाले अर्थात् अपने सत्व को न छोड़ने वाले होते हैं हो चुके हैं और होंगे (पार्थिवा दिव्याः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पत्थर आदि पदार्थ और सूर्यादि लोकों में विद्यमान पदार्थ (आरण्या ग्राम्याश्च ये पशवः) हिरन आदि वन के और गौ घोड़ादि गांव के जो पशु नाम इन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण करने में आसक्त [किन्तु भीतरी मनन—सद्सद्विवेक में जिनकी प्रवृत्ति नहीं ऐसे मनुष्य भी चाहें एकान्त वनादि में रहते हों वा ग्राम नगरों में रहते हों] (अपक्षाः पक्षिणश्च ये) तथा जो पंखों से रहित सांप न्योलादि और पंखोंवाले बगुला सुआ वा सुम्मा आदि (ते जाता ब्रह्मचारिणः) वे सभी प्राणधारी अपने तत्त्वरूप महत्त्व को धारण करने, न त्या-

ाने वाले होने से ब्रह्मचारी होते हैं होते थे और होंगे। अर्थात् जीवी कहा कि प्राणी भी अपने आपे से बाहर नहीं होते ॥

भा०—इन दो मन्त्रों में ओषधि आदि पद उपलक्षणार्थ पढ़े हैं। जिससे संसार के चर वा अचर सब पदार्थों में भी ब्रह्मचर्य रहना एक प्राकृत नियम वेद से दिखाया गया है। इस सृष्टि में स्थूल वा सूक्ष्म कोई भी ऐसा वस्तु नहीं है जिस में सत्त्व की रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्य किसी न किसी रूप से विद्यमान न हो। बोयी हुई जौ आदि ओषधियां, भूमि में विद्यमान सारभूत ब्रह्मनाम महत्त्व को अपने में लेतीं नाम चरतीं उसीसे वे बढ़तीं और पुष्ट होतीं हैं वे अपने बढ़ने तथा पुष्ट होने के समय में ग्रहण किये पार्थिव अंश को फूल फल लगने द्वारा कदापि नष्ट नहीं करतीं किन्तु फूल फल लगने की शक्ति को नियत समय तक अपने में ही प्रयत्न से रखती हैं। यदि वे अपने बढ़ने के समय में अपने तत्त्व को त्यागें बीच में फूल फल लगने लगें तो उन के फलरूप जौ आदि अन्न मनुष्यों के जीवन के हेतु ठीक कदापि न हों परन्तु होते हैं। इससे स्पष्ट ही निश्चय जानो कि जौ आदि ओषधियां ब्रह्मचारिणी हो कर ही अपने आयु को सम्यक् रीति से पूरा करती हुई अपने फलों से परोपकार करती हैं। बीते हुए काल का तत्त्व बीतजाना ही है। अपने तत्त्व का दृढ़ता से ग्रहण करना, कभी न छोड़ना यही उसका ब्रह्मचर्य है। हो चुका समय फिर लौट के नहीं आता यदि भूतकाल भविष्यत् वा वर्त्तमानभाव को प्राप्त करले तो उसका भी ब्रह्मचर्य नष्ट हो ही जावे। इसी प्रकार एक वर्ष पीछे आने वाला भविष्यत् काल आज नहीं आजाता, यदि आजाय तो अपने महत्त्व को छोड़ने वाला होने से व्यभिचारी कहावे ब्रह्मचारी न रहे। इसी प्रकार आधी रात के समय कभी सूर्य का उदय—प्रातःकाल नहीं होता और न दोपहर के समय कभी सूर्य का अस्त—सन्ध्या होती है अर्थात् दिन अपने अवधि के समय कभी अपने स्वत्व को नहीं छोड़ता वैसे रात्रि भी अपने नियत समय तक स्वत्व को कदापि नहीं त्यागती [पर अत्यन्त शोक ! है कि मनुष्य मननशील होने पर भी जड़ कालादि से भी गया बीता बन कर चौबीस वर्ष तक भी अखण्ड ब्रह्मचर्य को दृढ़ पूर्वक धारण नहीं करता, कच्ची दशा में ही अपने स्वत्व महत्त्व को खण्डित कर स्वयं खण्डित, दागी कलङ्कित हो जाता है इसी से जीवन भर उसका सुखी रह सकना असम्भव हो जाता है] जिन में फूल लगे विनाही फल लगते

ऐसे वटादि वनस्पति वृक्ष भी उक्त प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करके ही बड़े २ मोटे हो कर छायादि द्वारा अन्य प्राणियों का उपकार करते हैं। यदि स्वत्व की रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्य वनस्पतियों में दृढ़ता के साथ न हो, तो अत्यन्त गहरे पृथिवी के भीतर से असंख्य जल अपनी जड़ों द्वारा खेंचकर पहुंचाने वाला और लकड़ी वा छायादि से जगत् का उपकारक वटादि का ऐसा पुष्ट और स्थूल शरीर-स्वरूप कदापि नहीं हो सकता। और होता है इस से वैसी दृढ़ता का कारण ब्रह्मचर्य ही है। इसी प्रकार संवत्सर में भी दक्षिणायन के स्थान में उत्तरायण कभी नहीं आता। यदि बारह महीने में पूराहोने वाला संवत्सर अपने स्वत्व को छोड़दे तो कभी नव महीने का और कभी १५ वा १८ महिने का वर्ष होने लगे, तो उसका व्यभिचारी होना कहाजाय पर ऐसा होने पर लोगों के कार्य व्यवहार सभी विगड़ जावें। और वसन्तादि ऋतु भी अपने ब्रह्मचर्य को कदापि नहीं छोड़ते। यदि छोड़ें तो उस २ ऋतु से सिद्ध होने वाले संसारस्थिति के हेतु वर्षादि सम्बन्धी कार्यों का कोई नियत काल न रहने से प्रलय का समय समीप आजावे। जैसे वर्षा के अभाव में महा भयंकर दुर्भिक्ष हो जाता है। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता किन्तु वसन्त के पीछे ग्रीष्म और उस के पीछे वर्षा क्रमसे ही हुआ करती है ऐसे ही ब्रह्मचर्य के प्राकृत नियमों से संसार की स्थिति हो रही है [पर मनुष्यों ने इन प्राकृत नियमों से भी विरुद्ध चल के अपनी स्थिति में स्पष्ट ही बाधा डाल ली है] इस से ऋतुओं का भी ब्रह्मचारिणी होना स्पष्ट ही सिद्ध है। पत्थर बहुत काल से अत्यन्त शीतल जल में पड़ेरहने पर भी अपने अग्नितत्त्व प्रधान होने को कभी नहीं त्यागते न कभी आप्य वा सोम तत्त्वप्रधान हो जाते हैं। इसी कारण जिन पत्थरों में परस्पर ताड़न से वा लोहे के द्वारा खोदने ताड़ने से अग्नि निकलता उन में बहुत काल जल में पड़े रहने से भीगे गीले हुओं में भी वैसे ही अग्नि प्रकट होता है। पत्थर जलाकर जो चूना बनता उस को हरवार भिगोया रखने पर भी खाने पर दाह छेदन तथा शोषणरूप अपने आग्नेय गुणों को कदापि नहीं छोड़ता। इसी प्रकार लोक लोकान्तर के सभी पार्थिव आप्य तैजस और वायवीय पदार्थ अपने २ स्वभाव को कदापि नहीं छोड़ते किन्तु दृढ़ता से पकड़े ही रहते हैं। यही उन का ब्रह्मचर्य है। और उन २ वस्तुओं के स्वभाव के अविनाशी अचल होनेरूप

ब्रह्मचर्य के विद्यमान रहनेसे ही सब लोकों की स्थिति हो रही है। यदि जल सर्वत्र दाह करने वाला और अग्नि शीतल हो जावे तो किसी का क्षणमात्र भी जीवन नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार पश्वादि तिर्यग्जन्तु भी अपने स्वत्व के न छोड़नेरूप ब्रह्मचर्य को रखते ही हैं। पश्वादि पृथिवी से चारा चरते उस का सार अपने भीतर रखलेते और असार मल को त्यागदेते तथा उस वीर्यादिरूप बनेहुए सारांश को अपने में रक्षित रखते हैं। इसी से सिंह व्याघ्र और शूकर आदि अत्यन्त बलवान् सब को दीख पड़ते हैं। अन्त्य में अधिक न दिखाकर केवल यही जताना है कि जो चर वा अचर प्राणि वा अप्राणी अपनी स्थिति के हेतु जैसे उत्तम और अधिक सार को देह में धारण करते हैं वैसी ही उन २ की सुख पूर्वक जीवन वा अच्छी दशा में विद्यमानता रहती है। और जो चर वा अचर जैसा वा जितना अधिक सार अपने में से निकालते रहते हैं वैसी ही बाधा उनके स्थिर रहने में होती जाती है। तथा वे रोगादि से युक्त रहते हुए दुःख भोगते और जैसे तैसे आयु बिताते हैं। और स्थावर वृक्षादि तथा पश्वादि की अपेक्षा मनुष्य अधिक समझ रखता है। इस कारण उस को अपने सार वा तत्त्व की रक्षा अधिक करनी चाहिये पर वह पश्वादि से भी गया बीता दीखता है। सब से अधिक दृढ़ ब्रह्मचर्य स्थावरों में दीखता जिन में नियत समय से पूर्व कदापि फल फूल नहीं लगते, उन से कम पश्वादि तिर्यग्योनियों में ब्रह्मचर्य है पर पश्वादि से भी मनुष्य में अत्यन्त न्यून है। और मनुष्यों में परस्पर भी पढ़े लिखे शिक्षितों की अपेक्षा मूर्ख ग्रामीण अशिक्षितों में स्पष्ट ही ब्रह्मचर्य अधिक होता है। इस का मुख्य कारण यह है कि—मिथ्याज्ञान—अज्ञान—अविद्या—उलटी समझ, शिक्षित मनुष्यों में ही अधिक निवास करती है। यद्यपि इन शिक्षितों में किन्हीं अंशों का ज्ञान भी पश्वादि से अधिक होता है पर ज्ञान से अज्ञान प्रबल अवश्य रहता है और जिन किन्हीं पठितों में ज्ञान प्रबल हो जाता है। वे ही उत्तम ज्ञानियों की कोटि में आजाते हैं पर अज्ञानी सदा अधिक रहते हैं। और नीचे २ पश्वादि में ज्ञान अज्ञान विद्या अविद्या दोनों ही कम होती गयी हैं। इसी से भित्तियों को वा वृक्षादि को तथा पश्वादि को भी अज्ञानी नहीं कहा जाता इसी सिद्धान्त के अनुसार यह कहा गया है कि—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१॥

जो पश्वादि वा अतिमूर्ख मनुष्य, और जो पूरे ज्ञानी वेदतत्त्वदर्शी पुरुष हैं येही दोनों जगत् में सुखी हैं और पश्वादि की अपेक्षा अधिक समझ रखते हुए भी वस्तुतः अज्ञानी कहाने योग्य विषयभोगों में आसक्त लोभी, लालची, धर्म के मर्म को न जानने वाले ज्ञानलवदुर्विदग्ध (लेशमात्र समझने की शक्ति से दूषित) शास्त्रों को वाणीमात्र से पढ़ते पढ़ाते भी बीच धार में पड़े मनुष्य सदा दुःखी ही रहते हैं। इस कारण तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रबल उद्योग करना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। ये शिक्षित लोग ही विपरीतज्ञान से अपने को पण्डित वा विचारशील मानते और विषय भोगों में सुख मानते हुए (विषयसुखं चाविद्ये-ति—योगभाष्ये) अपने जीवन के मूल ब्रह्मचर्य को अधिक नष्ट करते हैं। सोचिये तो सही कि—हम सब से अधिक जीवन को चाहते और सब से अधिक मृत्यु से डरते हैं यह निश्चय अपने २ मन में सब जानलेंगे परन्तु जीवन के नाशक और मृत्यु को शीघ्र बुलाने वाले कामभोग को भी अत्यन्त चाहते हैं। तब क्या ठहरा? कि विष खाना अच्छा मानते हुए भी जीवन को चाहते हैं ये दोनों इष्ट सिद्ध होने असम्भव हैं अर्थात् इस बात की सिद्धि वेदादिशास्त्रों के पुष्ट प्रमाणों और अखण्डनीय युक्तियों से हो जाने में कोई महाशय लेशमात्र भी सन्देह न मानें कि ब्रह्मचर्य जीवित रहने का और कामासक्ति मृत्यु का कारण अवश्य है। ऐतरे-योपनिषद् में स्पष्ट ही लिखा है कि "मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्" मृत्यु अपान का रूप धारण करके नाभिस्थल में प्रविष्ट हुआ। वह मृत्यु अपानसम्बन्धी स्त्रीसम्भोग से पुरुषदेह में और पुरुष का सङ्ग करने से स्त्री के देह में दिन २ अपना बल बढ़ाता शरीर में दखल जमाता जाता है। तब हम को अत्यन्त उचित है कि यदि मृत्यु से डरते हैं तो जितना अधिक सम्भव हो उतना ही विषयभोग की वासना से मन को खींचते रहें ॥ ॥ ६ । ७ ॥

अब हम इस ब्रह्मचर्य के लेखके उपसंहार में पाठक महाशयों से निवेदन करते हैं कि इस वेदाशयरूप ब्रह्मचर्य के व्याख्यान में कहीं २ भद्दापन, तुच्छता, भ्रान्ति, अविद्या वा भूल प्रतीत हो तो निस्सन्देह मानलीजिये कि समझने पढ़ने तथा लिखने वाले सभी मनुष्य अल्पज्ञ हैं भद्दापन तुच्छतादि दोष लिखने वा समझने वालों में से ही किसी का अवश्य होगा किन्तु सर्वज्ञ की विद्या वेद का

आशय सहा सर्वथा ही निर्दोष है। द्वितीय-यदि इस लेख में कोई बड़ा गौरव अतिश्रेष्ठता उत्तमता आप को प्रतीत हो तो निस्सन्देह वह वेद की तथा वेदोपदेशक सर्वज्ञ ईश्वर की प्रशंसा मानिये और उस महत्त्व को धरने का उद्योग कीजिये जिस से ब्रह्मचारी बन के भीष्मादि के समान मृत्यु को पराजित कर सकने का साहस प्रकट हो।

सब लेख का सारांश यह है कि मनुष्यादि प्राणियों को मृत्यु के विकराल भय से बचने के लिये यदि कोई सर्वोपरि प्रबल उपाय ठहर सकता है [जो कदाचित् लेखक की अल्पज्ञता के कारण इस पूर्व लेख से ठीक सिद्ध न हुआ हो] जिस से और बड़ा जीवन का रक्षक तथा मृत्यु से बचाने वाला उपाय कोई कभी सिद्ध न करसके निस्सन्देह मान लीजिये कि उसी उपाय का नाम वेद ने ब्रह्मचर्य रक्खा है। जो वायु के समान वेगवाले मन को जैसा अधिक रोकसकता है वह वैसाही अधिक मृत्यु को रोकसकता है, क्योंकि शरीर से बाहर मानस शक्ति का निकल जाना वा पराक्रमरूप चलने फिरने आदि की शक्ति का न रहना ही मरण कहाता है। मन, वाणी और शरीर तीनों का रोकना ब्रह्मचर्य है परन्तु इन उक्त तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्यों में विषयों की वासना से मन का रुकना ही अति कठिन और यही मुख्य ब्रह्मचर्य है क्योंकि मन के रुकते ही वाणी और शरीर भी विषयभोग से स्वयं रुक जाते हैं । "कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः" इस का भी आशय यही है कि मन को वशीभूत करना कठिन होने से ही अच्छे २ विद्वान् भी कामदेव को वश में नहीं कर पाते । हमारे पाठकों में से कदाचित् किन्हीं महाशयों को शङ्का हो कि-मन को वशी करने रूप मुख्य ब्रह्मचर्य का उपाय क्या है ? तो संक्षेप से उत्तर यह है कि सब शास्त्रों सब लेखों वा सब जगत् में उपाय भी व्याप्त हैं इसी से जिस विषय की ओर जिस का अधिक ध्यान होता उस को वह सर्वत्र दीखने लगता है । इसी के अनुसार मेरे इस लेख में भी ध्यान देने पर उपाय सूझ पड़ेंगे। यदि लड़के कम से कम चौवीश वर्ष तक भी ब्रह्मचारी रहने के लिये पूरी प्रतिज्ञा करें और उन के रक्षक माता पिता आचार्यादि भी इस पर अधिक ध्यान देवें तो वे आगे २ अवश्य ही अत्यन्त सुखी रहेंगे यह निस्सन्देह ही है। हम मृत्यु वा यमराज का एक व्याख्यान वेद से लेकर आगे लिखेंगे उस से भी इस ब्रह्मचर्य की पुष्टि होगी । अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५ में २६ मन्त्र हैं उन में से लेख अधिक न बढ़े इस कारण यहां केवल उदाहरणमात्र ७ सात मन्त्रों का अर्थ हमने किया है ॥ इति ॥

राज-भक्ति ॥

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि आर्यसमाज के भावी कर्त्तव्य के अन्तर्गत पीछे इसी भाग ८ के अं० १० में राजा प्रजा दोनों से सम्बन्ध रखने वाला एक लेख लिखा गया था। जिस का अधिक भाग प्रजावर्गस्थ आर्यों से सम्बन्ध रखने वाला होने पर भी राजवर्ग की ओर भी कुछ लिखा ही गया था। पर अब इस लेख का केवल प्रजास्थ आर्यों से ही सम्बन्ध होगा। चाहे यों मान लो कि जहां राजा प्रजा दोनों में दोष हों तो हम शास्त्र के वा धर्म के अनुसार प्रजा का दोष अधिक मानेंगे और सिद्ध करेंगे इस लिये प्रजा के लोगों को सर्वथा ही उचित है कि अपने अभ्युदय नाम संसारी सुखों के लिये तन मन धन से सच्चे राजभक्त राजा के विश्वास पात्र बनने का पूरा उद्योग करें। संसार में मनुष्य का यही परम कर्त्तव्य है जो कोई इस कर्त्तव्य से चूके हैं वा चूकेंगे वे अपने पग में आप ही कुल्हाड़ी मार के स्वयं दुःखी हुए हैं और होंगे। इस लिये आर्यों को अत्यन्त उचित है कि वर्त्तमान गवर्नमेण्ट अंग्रेजी राज्य के साथ जिन २ के हृदय में जितना लेशमात्र भी कल्मष दुर्भाव हो उसको जड़मूल से शीघ्र ही निकाल कर बाहर फेंक देवें इसी के द्वारा आर्यों की उन्नति वा सुख हो सकेगा भीतरी कल्मष-पूर्ण अधर्म है जिस का नाम ईर्ष्या मत्सरतादि रक्खा जायगा। क्या सब से अधिक प्रतिष्ठित मानवधर्मशास्त्र प्रजा के लिये राजा के साथ जैसा वर्त्ताव करने की आज्ञा देता है उस की ओर प्रजा के आर्यों का ध्यान नहीं है ? ॥

अराजकेहिलोकेस्मिन् सर्वतोविद्रुतेभयात् ।
रक्षार्थमस्यसर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणा मग्नेश्चवरुणस्यच ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्यशाश्वतीः ॥
यस्मादेषांसुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितोनृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानितेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषिचमनांसिच ।
नचैनंभुविशक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥

सोऽग्निर्भवतिवायुश्च सोऽर्कःसोमःसधर्मराट् ।
सकुवेरःसवरुणः समहेन्द्रःप्रभावतः ॥
बालोऽपिनावमन्तव्यो मनुष्यइतिभूमिपः ।
महतीदेवताह्येषा नररूपेणतिष्ठति ॥
एकमेवदहत्यग्निर् नरंदुरुपसर्पिणम् ।
कुलंदहतिराजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥
कार्यंसोऽवेक्ष्यशक्तिंच देशकालौचतत्त्वतः ।
कुरुतेधर्मसिध्यर्थं विश्वरूपंपुनःपुनः ॥
यस्यप्रसादेपद्मास्त्रीर् विजयश्चपराक्रमे ।
मृत्युश्चवसतिक्रोधे सर्वतेजोमयोहिसः ॥
तंयस्तुद्वेष्टिसम्मोहात् सविनश्यत्यसंशयम् ।
तस्यह्याशुविनाशाय राजाप्रकुरुतेमनः ॥
तस्माद्धर्मंयमिष्टेषु संव्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टंचाप्यनिष्टेषु तन्धर्मन्नविचालयेत्॥३-१३॥ अ०७

अर्थ-जिस काल में पृथिवी पर वा किसी देश में कोई राजा न हो तो बलवानों से दबाई प्रजा सब ओर से भयभीत हो कर अत्यन्त पीडित होती है, स्वस्थ शान्ति दशा में होने वाला सुख कोशों भाग जाता है इसी लिये परमात्मा ने बलवानों से भी बलवान् सब को ठीक मर्यादा में रखने वाले राजा को रचा-बनाया है। बनाने का प्रयोजन यहां यह नहीं कि उस के शरीर को राजा ने बनाया किन्तु उसके शरीर में ऐसे तत्त्वों का संयोग पूर्व कर्मानुसार किया कि जिससे वह राजा बन जावे सब को वशीभूत करने की योग्यता वाला हो। ऐसी योग्यता वाला पुरुष ही बलवान् दस्यु आदि को दबाकर निर्बल प्रजा की रक्षा कर सकता है॥ इन्द्र-विजुली । अनिल-वायु । यम-मृत्यु । सूर्य । अग्नि । वरुण-जल । चन्द्रमा और कुवेर नाम सोमतत्त्व इन आठ लोक पाल नामक देवताओं के सनातन शुद्धांशों को लेकर राजा बनाया गया है ॥

* जिस कारण इन मुख्य देवताओं के शुद्धांशों से राजा बनाया गया है इसी कारण सब प्राणियों को अपने तेज से दबा सकता है [वेद के सिद्धान्तानुसार यद्यपि मुख्य देवता (तिस्रएव देवताइति नैरुक्ताः) तीन ही हैं १-अग्नि । २-वायु । ३-सूर्य । तथापि तीन के सैकड़ों सहस्रों वा तेंतीश अवान्तर भेद होते हैं उन बहुतों की अपेक्षा उक्त लोकपाल रूप आठ देवता मुख्य माने जाते हैं । यद्यपि इन्द्रादि आठ मुख्य देवताओं के अंश सब पदार्थों, सब प्राणियों और सब मनुष्यों में किसी न किसी नाम रूप से माने जावेंगे क्योंकि अग्नि आदि तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में उसी २ के रूप से व्याप्त हैं "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादि प्रमाणों से भी अग्नि आदि की व्याप्ति सिद्ध है तथापि जैसे सर्वत्र व्याप्त होने पर भी जहां अग्नि आदि की अधिक प्रधानता है वहां२ खास कर अग्नि आदि माने जाते हैं । जल में भी अग्नि और अग्नि में भी जल है तथापि न जल का नाम अग्नि और न अग्नि का नाम जल कहाता है। तथा जैसे मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणियों में किसी न किसी प्रकार की बुद्धि अवश्य है पर सब प्राणी बुद्धिमान् नहीं कहे जाते किन्तु जिन में प्रशस्त प्रबल वा अधिकतर बुद्धि है वेही बुद्धिमान् कहाते हैं । वैसे यहां भी अग्नि आदि सब प्राणियों में हैं पर राजा में अन्यों की अपेक्षा प्रशस्त प्रबल वा अधिकतर अग्नि आदि के शुद्धांश होते हैं इस कारण इन्द्रादि के अंशों से राजा की रचना मानी गयी है । वा यों कहो कि अन्यों की अपेक्षा जिस मनुष्य में जैसे और जितने इन्द्रादि के शुद्धांश अधिक होते वह वैसा ही प्रतापी राजा होसकता और प्रजा को वशीभूत रख सकता है]॥ राजा की ओर देखने वालों के नेत्रों और मनों को सूर्य के समान राजा तपाता है इसी कारण टकी लगाकर चन्द्रमादि के समान राजा को कोई नहीं देख सकता । देखते समय चक्षु के द्वारा ही मनमें भी ताव पहुंचता है [यद्यपि आठ लोकपाल देवताओं के शुद्धांशों से राजा का होना पूर्व दिखाया है तथापि सब से अधिक आदित्य नाम सूर्य का प्रेरणारूप गुण राजा में प्रधान माना जायगा [जिस का नाम राजा में हुकूमत-रक्खा जायगा] इसी का नाम भीतरी बल वा साहस है ।" स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥ अथर्व० १३ । ३ । १३ " वह रोहित द्युलोक के मध्य सूर्यरूप से तपता इसी से इन्द्र है । और "इन्द्रं क्षत्रम् ॥ अथर्व० १५ । २ । १० । ५" क्षत्र नाम क्षत्रियपन इन्द्र में प्रवेश करता है जिस में जैसा और जितना क्षत्रियपन है वह

इसी कक्षा का इन्द्र माना जायगा और क्षत्रियपन का ही नाम राजा होना है। इस से राजा में अन्यों की अपेक्षा क्षत्रियपन की प्रधानता होने से उस इन्द्रपन वा सूर्य का प्रेरणांश गुण सब तत्त्वों से अधिक मानना युक्ति प्रमाणों से सिद्ध अवश्य ही है] जिस कारण राजा में सूर्यांश की प्रधानता अन्य तत्त्वापेक्षा होती है इसी से पृथिवी पर के साधारण लोग उस की ओर ठीक ध्यान लगाकर नहीं देख सकते। यहां देखने का यह भी अभिप्राय है कि उस के तेज वा शक्तियों को देखते विचारते हुए भय वा संकोच होता है इसी कारण राज्यैश्वर्य को चाहता हुआ भी अन्य कोई उस से सहसा छीन नहीं सकता॥ वह राजा जब सब का अग्रणी मान्य होता वा क्रोध से रक्तनेत्र वाला होता तब अग्नि, जब युद्धादि में अपने बल और शीघ्रता को दिखाता तब वायु, जब सर्वोपरि ऐश्वर्य की शोभा दिखाता धारण करता तब अर्क नाम अर्चनीय प्रशंसा का पात्र होता कि बहुत अच्छा प्रकाशित है, जब कोमलता शान्ति को धारण करता तब सोम, जब न्यायासन पर बैठ कर कर्मानुसार अच्छा बुरा फल देता तब धर्मराज, जब संचित धन प्रजा में फैलाता धन द्वारा सब को सुख देता तब कुवेर, जब कुल्या—कृत्रिमनदी नहरों द्वारा शुष्क प्रान्तों में जल फैलाकर सुख पहुंचाता तब वरुण और जब प्रेरणा शक्ति—आज्ञा फैलाता वा क्षत्रियपन के प्रबल साहस को धारण कर सब के तेजों को दबाता है तब इन्द्र होता अर्थात् उस २ तत्त्व के प्रधान २ गुणको जिस २ समय अपने में उभाड़ता तब उस २ अग्नि आदि का रूपही मानाजाता और प्रभुता की प्रबलता से मानने पड़ता है॥ इसी लिये राज्याधिकारी पुरुष बालक—न्यून आयुवाला भी हो तोभी उसका अपमान निरादर कदापि न करे क्योंकि सिंह के बच्चे में भी मनुष्य के तोड़ डालने की शक्ति वा तेज होता है इस कारण सिंह के तुल्य सिंह के बच्चे से भी मनुष्य को अवश्य भय रखना चाहिये। कोई भी तेजस्वी पदार्थ अपमान को नहीं सहारता और उस का न सहारना ही अपमान करनेवाले की हानि का कारण हो जाता है [इसी अभिप्राय से मनु जी ने अ० ४ में कहा है कि—

"क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन॥
एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्॥"

ओ३म्—पाठशालाका आय, व्यय—मास अक्टूबर, नवम्बर ९७ ई०

९८।) शेष मास सितम्बर सन् ९७ से जमा। आय—

२०॥=)। चन्दा जो इटावास्थ महाशयों से आया अर्थात् २) चौ० पद्मसिंह जी ॥) मा० गुंदीलाल जी २॥) पं० दंगीलाल जी १) मुं० रामस्वरूप भक्त -)। बा० रामप्रसाद मुं० २) बा० हीरा लाल पेचघर ०४)कुंवर तुकमानसिंह जी १) पं० मातादीन जी वकील २) बा० सुखी लाल जी वकील।) नकल नवीस गणेशदास।-) पं० भैरवदत्त जी १) पं० जगन्नाथ जी १) बा० छेदी लाल जी १) बा० कन्हैया लाल जी १) पं० बुद्धसेन जी १) बा० शिवचरण लाल जी योग चन्दा २०॥=)।

२६॥।≡)। चन्दा सहायतार्थ धर्मार्थ जो बाहर से अर्थात् ५) बा० बिष्णुचरण लाल भरथना १) मन्त्री आ० हरदोई ८।-)। मुं० रोशन लाल जी बारिष्टर प्रयाग १) पं० सालिग्राम रायगढ़ सी० पी० १) मंत्री धाराजीत आ० हसनपुर मथुरा १॥=) चौ० जंगसिंह गढ़िया छिनकोरा और अत्यन्त सराहनीय शीतनिवारकवस्त्रदान अर्थात् (५) मुं० यमुनादास और ४) संतलाल जी कलकत्ता ने मिलकर ९) के कोट १२ मार्फत करमचन्द के १० कोट इटावा के विद्यार्थियों को और ३ मेरठ के वि०, को पं० तुलसीराम जी द्वारा बांटेजाने को भेजे। योग—२६॥।≡)। और सब आय शेष सहित ७५॥।-)॥ परमेश्वर ऐसे धनदाताओं को अभ्युदय और श्रद्धायुक्त करे॥

व्यय ६७॥।=) दोनों मासों का व्यय अर्थात् २२=)॥। छात्रों के भोजन में ३।-) फुटकर तैल + बाल बनवाई + पोष्टकार्डादि रसीद और ॥।=) पुस्तकें विद्यार्थियों को १।=) रुक्मदत्त वि० को राहखर्च ४) हवनार्थ सामग्री ९॥=)। कपड़ा रजाई कोट सिलाई आदि बनाये गये ९) कोट सादे श्वेत जो कि करमचन्द के द्वारा कलकत्ता से आये उनमें से १० कोट यहां के विद्यार्थियों को दियेगये—शेष ३ कोट मेरठ को पं० तुलसीराम जी के पास भेजेगये और ८) रसोइयाको वेतन ४) अध्यापक वि० लक्ष्मीशंकर और जीवनकिशोर को २) गिरधारी लाल गणितसिखाने के लिये वेतन २) चपरासी को चन्दा उगाही का वेतन १॥) कहारी का वेतन। कुल व्यय ६७॥।=) आगे के आय के लिये शेष ७॥।≡)॥ रहे॥

पाठक महाशयों को ज्ञात होगा कि ता० १ अक्टूबर के अङ्क में २ मास का आय १३४-)॥। छपा था पर इस बार दो मास का सब आय ७५॥।-)॥ मात्र कम है। हम केवल उन महाशयों को ध्यान दिलाते हैं जो वास्तव में मरणदशास्थ संस्कृत भाषा को जिलाना अच्छा मानते और वेदशास्त्रोंसम्बन्धी शुद्ध वैदिक धर्म का उद्धार चाहते हैं। यदि ऐसे लोग कुछ २ भी सहायता देते रहेंगे तो यहां से कोई २ विद्यार्थी लोग उत्तीर्ण हो वैदिक धर्म के प्रचारक होते रहना सम्भव है॥

२।३ संस्कृतज्ञों की आवश्यकता है। जीविकार्थी महाशय मुझ को पत्र लिखें॥